प्रकाशक,

मार्तण्ड उपाध्याय,

मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली ।

पहली बार : ३०००

दिसम्बर, सन् १९३७

मूल्य, दोनों खण्डों का

आठ रुपये

मुद्रक,

हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस

कनाट सर्कस,

नई दिल्ली ।

प्रकाशक की ओर से

हम बडे हर्ष और साथ ही बडी विनय के साथ पण्डित जवाहलाल नेहरू की दूसरी महान् रचना 'विश्व-इतिहास की झलक' हिन्दी-जनता के सामने रख रहे है। अग्रेज़ी मे यह ग्रथ सन् १९३४ में ही प्रकाशित होगया था। उसी समय हम इसे अपने यहाँसे प्रकाशित करना चाहते थे। लेकिन उन दिनो एक तो पण्डितजी जेल में थे, दूसरे लखनऊ से इसके हिन्दी में प्रकाशन का आयोजन पण्डित वेंकटेश नारायण तिवारी की देख-रेख में शुरू भी होगया था, इसलिए हमारा विचार अमल मे न आसका। मगर इसके बाद मण्डल अजमेर से दिल्ली आया और लखनऊ से 'झलक' का प्रकाशन अनियमित होकर सन् १९३५ के अन्त मे लगभग बद ही होगया।

सन् १९३६ में जब पण्डितजी विलायत से लौटे और कांग्रेस-कार्य-समिति के सिलसिले मे दिल्ली आये, तो उस समय उनकी 'आत्म-कहानी' के अग्रेजी में प्रकाशित होने की धूम थी। हमने पण्डितजी से 'आत्म-कहानी' और 'विश्व-इतिहास की झलक' दोनो को मण्डल से प्रकाशित करने की इजाज़त माँगी, और पण्डितजी ने कृपापूर्वक हमे इजाज़त देदी। फलत आज, लगभग १। वर्ष बाद, 'मेरी कहानी' के दो सस्करण प्रकाशित करके 'झलक' को हम हिन्दी-जनता के सामने रख रहे हैं।

'झलक' मे पण्डितजी के भिन्न-भिन्न जेलों से अपनी प्यारी पुत्री इन्दिरा प्रियदर्शिनी के नाम लिखे पत्रो का सग्रह है। इन पत्रो मे पण्डितजी ने दुनिया के इतिहास और साम्राज्यो के उत्थान-पतन की कहानी बड़ी खूबी के साथ लिखी है। असल में पण्डितजी ने बहुत दिन हुए कुछ पत्र इन्दिरा के नाम लिखे थे, जो 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' से सन् १९२९ मे प्रकाशित हुए थे। उसमे पण्डितजी ने सृष्टि के आरम्भ से प्राणि की उत्पत्ति और इतिहास-काल के शुरू तक का हाल बताया है। 'झलक' की कथा उसके बाद से शुरू होती है। लेकिन फिर भी दोनो पुस्तके ऐसी जगह खत्म और शुरू होती है कि दोनो अलग-अलग ही मालूम पडती है।

अभीतक हम पण्डित जवाहरलाल को देश के एक महान् नेता और आन्दोलनकारी के रूप मे देखते आये है। लेकिन 'मेरी कहानी' और 'विश्व-इतिहास की झलक' ने दुनिया को बता दिया है कि पण्डितजी केवल एक सफल नेता ही नही बल्कि एक अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ऊँचे विद्वान भी है। उनकी 'मेरी कहानी' जहाँ साहित्यिक प्रतिभा का नमूना है, वहाँ 'झलक' उनके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा इतिहास के गहरे ज्ञान का सागर है।

अग्रेज़ी मे मूल पुस्तक दो खण्डो मे है और हम भी उसे दो खण्डो मे प्रकाशित

कर रहे हैं। अग्रेजी मे पहला खण्ड एक काल (Period) के समाप्त होने पर खत्म किया गया है और दूसरे काल के शुरू होने पर दूसरा खण्ड शुरू हुआ है। इससे पहला भाग छोटा और दूसरा बहुत बडा होगया है। लेकिन हिन्दी मे हमने पहला खण्ड समाप्त करने और दूसरा शुरू करने में समय का खयाल नही किया है। यह खासकर इस खयाल से भी कि हमारा इरादा दोनो खण्डो को एकसाथ ही प्रकाशित करने का था। इसके अलावा, अग्रेज़ी मे जो १० चार्ट अलग दिये हैं, उन्हे हमने पुस्तक में ही लगा दिया है। मूल पुस्तक सन् १९३३ के मध्य मे खत्म हुई और सन् १९३४ में प्रकाशित हुई। इसलिए इसमे सन् १९३३ के मध्य तक की घटनाओ का ही ज़िक्र है। हमने पण्डितजी से निवेदन किया था कि वह एक-दो अध्याय और लिखकर पुस्तक को अप-टू-डेट बनादेने की कृपा करे। लेकिन राष्ट्रपति के नाते हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के सचालन का जो गुरुतर भार उनके कन्धो पर है उसके कारण वह हमारी इस प्रार्थना को, उनकी इच्छा होते हुए भी, पूरा न कर सके। फिर भी, उनकी सूचना के अनुसार, पुस्तक के अन्त मे, परिशिष्ट-रूप मे, सन् १९३३ के मध्य से अबतक की घटनाओ का देशवार और तारीखवार विवरण हम दे रहे हैं। इसको खुद पण्डितजी ने भी देख लिया है। आशा है, इससे पुस्तक की उपयोगिता कुछ बढ ही जायगी।

इतने महत्वपूर्ण और भारी ग्रन्थ का अनुवाद, सम्पादन और प्रकाशन कोई सरल काम नही है। फिर इसके संपादन और अनुवाद की व्यवस्था की सारी ज़िम्मेदारी इस बार हमीपर आपडी। 'कांग्रेस-इतिहास' और 'मेरी कहानी' के अनुवाद व सम्पादन के लिए पण्डित हरिभाऊ उपाध्याय की सेवाये हमे आसानी से मिल गई थी। लेकिन 'झलक' के समय में श्री हरिभाऊजी के दूसरे महत्पूर्ण कामो मे लगे रहने और अस्वास्थ्य के कारण हम उनकी सेवाओ को प्राप्त नही कर सके। मगर सर्वश्री सीतलासहाय (बी० ए०), शकरलाल वर्मा, रामनाथ 'सुमन,' गोपीकृष्ण विजयवर्गीय, चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय (बी-एस० सी०), मुकुटविहारी वर्मा आदि माननीय मित्रो, साथियो और मण्डल के हितैपियो का पूरा और हार्दिक सहयोग व सहायता न होती तो यह ग्रन्थ इतने कम समय मे और इतनी अच्छी तरह प्रकाशित हो पाता इसमे पूरा सन्देह है। अत हम मण्डल की तरफ से इन सब महानुभावो का हृदय से आभार मानते है।

पुस्तक की भाषा के बारे मे दो शब्द कहना जरूरी मालूम होता है। 'मेरी कहानी' की भाषा को लेकर पिछले दिनो पत्रो में और हिन्दी-साहित्यिको मे भाषा-सम्बन्धी एक विवाद ही उठ खडा हुआ। 'मेरी कहानी' मे उर्दू शब्दो का बहुतायत से प्रयोग हुआ देखकर कुछ साहित्यिक लोग बहुत ही नाराज़ हुए। 'मेरी कहानी' के कुछ अंगो का हवाला देकर उन्होने कुछ लोगो का और हिन्दी-हिन्दुस्तानी का मज़ाक़

भी उडाया। हम मानते हैं कि 'मेरी कहानी' की भापा को हिन्दी-हिन्दुस्तानी का नमूना नही माना जासकता, न आज ही उसका कोई अन्तिम रूप निश्चित किया जा सकता है। वह तो उस दिशा मे एक प्रयत्न-मात्र है। उसकी कमियाँ हमारी निगाह मे है। हिन्दी में इस प्रकार की भापा के, जिसमे न हिन्दी के कठिन शब्द हो और न उर्दू के, हिमायती और लेखक दोनो कम है। हमें 'मेरी कहानी' और 'झलक' के अनुवाद और सम्पादन के प्रबन्ध में इसका कदम-कदम पर अनुभव हुआ। हमने अनुवादकों को अपना आशय बताया और उनको इस प्रकार की भापा मे लिखने और अनुवाद करने के लिए राज़ी तो किया, लेकिन कही-कही तो वे उर्दू-फारसी के प्रवाह में वह गये और कही संस्कृत के। शुरू-शुरू में यह स्वाभाविक भी है। इसमे गलतियाँ भी होगी, और वह भापा आँखो व कानो को खटकेगी भी। लेकिन धीरे-धीरे जब रफ्त पड़ जायगा और हमारे कानो को ऐसी भापा सुनने की आदत पड जायगी, तब यही हमे स्वाभाविक मालूम होने लगेगी। मगर कमियो के होते हुए भी, हमारा ऐसा विश्वास है कि, 'मेरी कहानी' की अपेक्षा हम 'झलक' मे इस प्रकार की भापा का प्रयोग करने में ज्यादा सफल हुए हैं।

फिर भी आलोचक बन्धुओ से हमारा नम्र निवेदन है कि यह अभी प्रयोग मात्र है। हम इसे भी हिन्दी-हिन्दुस्तानी का नमूना नही कहेगे। यह तो उस सरल भाषा की ओर पहुँचने का प्रयत्न भर है जिसमे न उर्दू-फारसी के कठिन शब्द हो और न संस्कृत के। वह तो आम जनता की भापा होगी। लेकिन किसी दिशा की ओर जाने के प्रयत्न को 'पूर्णता' या 'सफलता' मानकर उसपर टीका-टिप्पणी करना और उसका मज़ाक उड़ाना हमारी नम्र राय में न्याय्य नही है और न वह समालोचना ही है। अस्तु।

हमने अपनी ओर से अनुवाद को शुद्ध और सही कराने का भरपूर प्रयत्न किया है। लेकिन मूल अंग्रेज़ी के प्रवाह को हिन्दी मे उतारना, और फिर भापा सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को सामने रखते हुए, एक बहुत कठिन बात है। इसमे भूले और मतभेद रहजाना स्वाभाविक है। अत. पाठको से प्रार्थना है कि अगर कोई भूल उनकी निगाह मे आवे तो उसपर हमारा ध्यान दिलाने की कृपा करे।

—मंत्री
सस्ता साहित्य मण्डल

पण्डित जवाहरलाल नेहरू

श्री गुलाबचन्द जैन के सौजन्य से]

भूमिका

चार बरस हुए मैंने, इस किताब का लिखना देहरादून-जेल में ख़त्म किया था। उसके कुछ दिन बाद यह अँग्रेजी में छपी थी। मेरी इच्छा थी कि यह हिन्दी और उर्दू में भी निकले। उसका कुछ प्रबन्ध किया भी, लेकिन दुर्भाग्य से उसमें उस समय काम-याबी नहीं हुई। मैं फिर जेल चला गया।

अब मुझे खुशी है कि ये मेरे पत्र इन्दिरा के नाम हमारे देश की पोशाक में निकल रहे हैं। कसूर तो मेरा है कि मैंने इनको शुरू में विदेशी लिबास पहनाया। मुझे कुछ आसानी हुई अंग्रेजी में लिखने में; क्योकि उसमें लिखने का अभ्यास अधिक था और विषय भी ऐसा था जिसमें ज्यादातर किताबें योरप की भाषाओ में है और उन्हींको मैंनें पढ़ा था।

दुनिया के इतिहास पर किसीका भी कुछ लिखना हिम्मत का काम है। मेरे लिए यह जुर्रत करना तो एक अजीब बात थी, क्योकि मैं न लेखक हूँ और न इतिहास के जाननेवालो में गिना जाता हूँ। कोई बडी पुस्तक लिखनें का तो मेरा ख़याल भी नहीं था। लेकिन जेल के लम्बे और अकेले दिनो में मैं कुछ करना चाहता था और मेरा ध्यान आज-कल की दुनिया और उसके कठिन सवालो से भटककर पुरानें जमाने में दौड़ता और फिरता था। क्या-क्या सबक यह पुराना इतिहास हमें सिखाता है? क्या रोशनी आजकल के अँधेरे में डालता है? क्या यह सब कोई सिलसिला है, कोई मानें रखता है, या एक यह बेमाने खेल है जिसमें कोई कायदा-कानून नहीं, कोई मतलब नहीं, और सब बातें योही इत्तेफाक से होती है? ये ख़याल मेरे दिमाग़ को परेशान करते थे, और इस परेशानी को दूर करने के लिए इतिहास को मैंने पढ़ा और आजकल की हालत को समझने की कोशिश की। दिमाग में बहते हुए विचारो को पकड़कर कागज पर लिखने से सोचने में भी आसानी होती है और उनके नये-नये पहलू निकलते है। इसलिए मैंने लिखना शुरू किया। फिर इन्दिरा की याद नें मुझे उसकी तरफ़ खींचा और इस लिखने में उसके नाम पत्रों का रूप धारण किया।

महीनें गुजरे—कुछ दिनो के लिए जेल से निकला, फिर वापस गया। सर्दी का मौसम ख़त्म हुआ, वसन्त आया, फिर गर्मी और बरसात। एक साल पूरा हुआ, दूसरा शुरू हुआ और फिर वही सर्दी, वसन्त, गर्मी और चौमासा। लिखनें का सिलसिला जारी रहा और हलके-हलके मेरे लिखे हुए पत्रो का एक पहाड़-सा होगया। उसको देखकर मैं भी हैरान होगया। इस तरह से, करीव-क़रीव इत्तेफाक से, यह मोटी पुस्तक बनी। इसमें हजार ऐब है, हजार कमियाँ; लेकिन फिर भी मै समझता हूँ कि इससे कुछ फ़ायदा भी हो

सक्ता है। जो अंग्रेज़ो नें या यूरप के लोगों नें ऐसी पुस्तकें लिखी है उनमें यूरपीय दुनिया का अधिकतर हाल है, एशिया और पुराने इतिहास की चर्चा कम है। मैंने कोशिश की है कि एशियर का हाल ज्यादा दूँ। दोनों को सामने रखकर ही पूरी तस्वीर सामने आती है। वह तस्वीर चाहे कितनी ही नामुकम्मिल हो और उसमें ऐब और ख़राबियाँ हों, फिर भी वह पूरी तस्वीर है। मुझे इस बात का विश्वास है कि हम किसी एक देश का हाल नहीं समझ सकते, जबतक कि और देशो का हाल नहीं जानते। कोई एक देश औरों से अलग होकर न रहा है और न रह सकता है। आजकल की दुनिया में तो यह बात बिलकुल जाहिर है और हम सब एक-दूसरे के सहारे खडे रहते है या गिरते है।

यूरप की भाषाओ में बहुत सारी पुस्तकें दुनिया के इतिहास पर है, लेकिन हमारे देश की भाषाओं में इनकी बहुत कमी है। इसलिए मै खासतौर से यह चाहता था कि यह मेरी पुस्तक हिन्दी और उर्दू में निकले। गोकि इसमें ऐब और ख़राबियाँ है, और वे बहुत है, फिर भी यह इस कमी को कुछ पूरा करती है। हिन्दी में अब यह निकल रही है और मै आशा करता हूँ कि जल्दी ही उर्दू में भी निकलेगी।

इसको लिखे कोई चार बरस हुए। दुनिया के इतिहास के लिए चार बरस क्या चीज़ है? लेकिन हम एक ऐसे अजीब ज़माने में पैदा हुए जबकि दुनिया की रफ़्तार तेज़ है और हम सब उसकी धारा में बहते जाते है। कोई कह नही सकता कि यह कहाँ पहुँचायगी। इन बरसो में क्रान्ति और इन्किलाब कितनें देशो में होगये! अबिसिनिया की हत्या हुई। स्पेन में बढ़ती हुई आज़ादी को एक भयानक मुकाबिला करना पड़ा और अभीतक यह एक ज़िन्दगी और मौत की कुश्ती जारी है। फ़िलस्तीन में हमारे अरब भाइयो का गला घोटा जा रहा है। चीन के मशहूर शहर, जहाँ लाखो लोग रहते थे, मिट्टी के ढेर होगये और उस मिट्टी में बेशुमार पुरुष और स्त्री, लड़के और लड़कियाँ और बच्चे दबे पडे है। साम्राज्यवाद और फेसिस्टवाद हर जगह हमला कर रहे है और दुनिया की नई उमंगो को कुचलने की कोशिश कर रहे है। उसीके साथ समाजवाद और राष्ट्रीयता के विचार फैलते जाते है और वह इस मुकाबिले से हटते नहीं।

इस पुस्तक के आखिर में मैंने लड़ाई के साये का जिक्र किया है। इस चार बरसो में यह साया सारे में फैल गया है और एक भयानक घटा हमें घेरे हुए है। दिन और रात इस लड़ाई की तैयारी सब देश कर रहे है और एक सवाल हरेक की ज़बान पर और चेहरे पर है। यह तूफान कब दुनिया पर छायगा और क्या-क्या मुसीबतें लावेगा? क्या इसका नतीजा होगा—हमें लाभ या हानि?

मै चाहता था कि इन चार बरसो का कुछ हाल लिखकर इस किताब के अन्त में जोड़ दूं। लेकिन और कामो में इतना फँसा हूँ कि समय नही मिलता।

एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना कठिन काम है। कभी पूरा मतलब इस तरह से अदा नहीं होसकता। फिर भी यह काम तो करना ही होता है। इस अनुवाद में एक और कठिनाई हुई। हम सबकी इच्छा थी कि यह बीच की हिन्दुस्तानी भाषा में हो, जो न कठिन हिन्दी हो न कठिन उर्दू। हमें अपने देश में ऐसी हिन्दुस्तानी भाषा को चालू करना है। शुरू-शुरू में इसमें काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ता है और दोनों तरफ के साहित्यकार नाराज़ होजाते हैं। ऐतराज़ होता है कि यह क्या दोगली चीज़ है—न हिन्दी न उर्दू। साहित्य के प्रेमियों से मैं माफी माँगता हूँ, लेकिन मैं समझता हूँ कि बीच के रास्ते पर चलकर हम एक मज़बूत और जानदार साहित्य बना सकेंगे। इस कोशिश में गलतियाँ होंगी और कभी-कभी आँखों को और कानो को चोट लगेगी। लेकिन जलदी ही समय आयगा जब हम इस नई चीज़ की, जो आम जनता से पैदा हो और उसीकी तरफ देखे, शक्ति पहचानेंगे और उसके बढ़ाने में लगेंगे।

रेल में —
२१–११–३७

जवाहरलाल नेहरू

विषय-सूची

सेण्ट्रल जेल नैनी से—

क्रेकोविया जहाज़ से—

ज़िला जेल वरेली से—

ज़िला जेल देहरादून से—

— पहला खण्ड समाप्त —

विश्व-इतिहास की झलक

इन्दिरा प्रियदर्शिनी

सालगिरह की चिट्ठी

न्दिरा प्रियदर्शिनी के नाम
सके तेरहवे जन्मदिन पर—

सेण्ट्रल जेल, नैनी
२६ अक्तूबर, १९३०[1]

अपनी सालगिरह के दिन तुम बराबर उपहार और शुभ-कामनायें पाती रही ो। शुभ-कामनायें तो तुम्हे अब भी बहुत-सी मिलेगी। लेकिन नैनी-जेल से मै तुम्हारे लए कौन-सा उपहार भेज सकता हूँ ? फिर मेरे उपहार बहुत स्थूल नहीं हो सकते। तो हवा के समान सूक्ष्म ही होंगे, जिनका मन और आत्मा से सम्बन्ध हो—जैसा उपहार नेक परियाँ दिया करती हैं और जिन्हे जेल की ऊँची दीवारे भी नहीं रोक सकतीं।

प्यारी बेटी, तुम जानती हो कि लोगो को उपदेश देना और नेक सलाह बाँटना मुझे कितना नापसन्द है। जब कभी ऐसा करने को मेरा जी ललचाता है तो मुझे हमेशा एक 'बहुत अकलमन्द आदमी' की कहानी याद आ जाती है, जो मैने एक बार पढ़ी थी। कभी शायद तुम खुद उस पुस्तक को पढ़ोगी, जिसमें यह कहानी लिखी है। तेरह सौ बरस हुए, एक मशहूर यात्री ज्ञान और इल्म की खोज में चीन से हिन्दुस्तान आया था। उसका नाम ह्यूएनत्साग[2] था। उसकी ज्ञान की प्यास इतनी तेज थी कि वह अनेक खतरों का सामना करता, अनेक मुसीबतो और बाधाओ को झेलता और जीतता हुआ, उत्तर के रेगिस्तानो और पहाडो को पार करके इस देश में आया था।

१ इन्दिरा का जन्मदिन ईसाई पचाग के हिसाब से १९ नवम्बर को पड़ता है, लेकिन विक्रमी सवत के अनुसार २६ अक्तूबर को मनाया गया था।

२ ह्यूएनत्सांग—यह एक प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुक और चीनी यात्री था। इसका समय सन् ६०५ से ६६४ के लगभग माना जाता है। ६२९ मे यह हिन्दुस्तान के लिए रवाना हुआ। उन दिनो चीन मे शाही हुक्म के अनुसार विदेश-यात्रा मना थी, इसलिए इसकी रवानगी का पता लगने पर इसकी गिरफ्तारी की बडी कोशिश की गई; लेकिन बडी कठिनाइयो से यह वहाँ से निकल भागा और रास्ते मे भी बहुत मुसीबतें झेली, यहाँतक कि चार-पाँच दिन पानी तक को तरसता रहा। मगर यह घबराया नही और हिन्दुस्तान आ पहुँचा। इसने यहाँ से लौटने के बाद चीन, मध्य-एशिया और भारत की तत्कालीन स्थिति का बड़ा ही दिलचस्प वर्णन लिखा है।

यहाँ नालन्द[1] के महान् विश्व-विद्यालय में, जो उस समय के पाटलिपुत्र (जो अब पटना कहलाता है) के नजदीक था, इसनें खुद पढ़ने और दूसरो को पढ़ानें में कई बरस बिताये। ह्यूएनत्सांग पढ़-लिखकर बहुत बडा विद्वान् हो गया और उसे आचार्य (Master of the Law) की उपाधि दी गई। यह शख्स सारे हिन्दुस्तान में फिरा और इस महान् देश के उस जमानें के लोगो का और उनके रस्म-रिवाजों का अध्ययन करता रहा। बाद को इसने अपनी यात्रा के बारे में एक किताब लिखी। इसी किताब में यह 'बहुत अकलमन्द आदमी' वाली कहानी है। कहानी यों है कि दक्षिण हिन्दुस्तान का रहनेंवाला एक आदमी कर्णसुवर्ण नाम के नगर में गया। यह कर्णसुवर्ण शहर उस जमाने में बिहार के आजकल के भागलपुर शहर के आस-पास कहीं बसा हुआ था। इस किताब में लिखा है कि यह आदमी अपने पेट और कमर के चारो ओर ताँबे का पत्तर लपेटे रहता था और अपने सिर पर जलती हुई मशाल बाँधकर चलता था। इस विचित्र भेष और इस अजीब पोशाक में, हाथ मे डंडा लिये, अकड़ के साथ लम्बे-लम्बे डग रखता हुआ यह शख्स इधर-उधर घूमा करता था। जब कोई उससे पूछता कि तुमने यह स्वांग क्यों बना रक्खा है, तो वह जवाब देता कि "मुझमें इतनी ज्यादा अक्ल है कि अगर मै अपनें पेट के चारो तरफ यह ताम्र-पत्र न बाँधे रहूँ तो डर है कि कहीं मेरा पेट फट न जाय। और क्योंकि मुझे अज्ञान आदमियो पर, जो अंधेरे में भटकते रहते हैं, दया आती है, इसलिए मै अपने सिर पर मशाल बाँधकर चलता हूँ।"

मुझे पूरा भरोसा है कि अक्ल की ज्यादती के कारण मेरे पेट के फट जाने का कोई अन्देशा नही है; इसलिए मुझे इस बात की कोई जरूरत नहीं कि मै ताँबे के पतरे या जिरह-बख्तर पहनूं। और बहरहाल, मुझे उम्मीद है कि मुझमें जो-कुछ भी अक्ल है, वह मेरे पेट में नही रहती। मेरी अक्ल चाहे जहाँ रहती हो, वहाँ और ज्यादा के लिए अब भी काफी जगह बाकी है, और इस बात का कोई अन्देशा नही कि अधिक के लिए वहाँ जगह ही न बचे। फिर जब मेरी अक्ल इतनी परिमित और महदूद है तो मैं दूसरों के सामनें अक्लमन्द होनें की शान कैसे गाँठ सकता हूँ और सबको नेक सलाहे कैसे बाँट सकता हूँ? इसलिए मेरा हमेशा से यह विश्वास रहा है कि इस

१. नालन्द—यह मगध, आजकल के बिहार, के अन्तर्गत एक पुराना बौद्ध मठ और मशहूर विद्यापीठ था। ज्ञान और धर्म का उपदेश देने के लिए यहाँ १०० विद्वान् बौद्ध पण्डित रहते थे। उनके अलावा लगभग दस हजार से ज्यादा याजक और शिष्य यहाँ पर रहा करते थे। इसके जोड का विश्व-विद्यालय उस वक्त दुनिया मे दूसरा कोई न था।

बात को जानने के लिए, कि क्या सही है और क्या नहीं, क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए, सबसे अच्छा तरीक़ा यह नहीं है कि उपदेश दिया जाय; बल्कि यह है कि बात-चीत और बहस-मुबाहिसा किया जाय और अक्सर ऐसी चर्चाओं में से थोडी-सी सचाई निकल आती है। मुझे तो तुमसे बातचीत करना ही पसन्द रहा है और हमने आपस में बहुत-सी बातों पर बहसे की भी है। लेकिन दुनिया बहुत लम्बी-चौडी है और हमारी इस दुनिया के परे भी बहुत-सी आश्चर्यजनक और रहस्यपूर्ण या अजीबोगरीब दुनिया पाई जाती है। इसलिए हममें से किसीको भी ह्यूएनत्सांग की कहानी में बताये हुए बेवकूफ और घमण्डी आदमी की तरह इस बात से उकताना नहीं चाहिए और न यह ख़याल ही करना चाहिए कि जितना सीखने लायक़ था वह सब हमने सीख लिया और अब हम बहुत अक्लमन्द हो गये। और शायद इसी बात में अपनी भलाई भी है कि हम बहुत अक्लमन्द नहीं बन जाते, क्योकि 'बहुत ही अक्ल-मन्द लोग' (अगर इस किस्म के लोग कहीं भी पाये जाते हों) जरूर इस बात को सोचकर उदास हो जाते होगे कि अब सीखने को कुछ भी बाकी नहीं रहा। नई चीजों के सीखने और नई बातों के खोज निकालने के आनन्द से—उस महान् साहस-पूर्ण कार्य के आनन्द से जिसे हममें से जो चाहे प्राप्त कर सकता है—महरूम हो जाने के कारण उनका दिल दुखी रहता होगा।

इसलिए उपदेश देना तो मेरा काम नहीं। तब फिर मैं करूँ क्या ? चिट्ठी से बात-चीत का काम तो मुश्किल से ही निकल सकता है। चिट्ठी के जरिये ज्यादा-से-ज्यादा एक तरफ की बात प्रकट की जासकती है। इसलिए अगर मैं कोई ऐसी बात कहूँ जो तुम्हे उपदेश-सी जान पडे, तो तुम उसे कड़वा घूंट न समझना। तुम यही समझना कि मानों हम दोनों सचमुच बातचीत ही कर रहे हैं और इस बातचीत में मैंने तुम्हारे ध्यान देने को तुम्हारे सामने सिर्फ एक तजवीज रक्खी है।

इतिहास की अपनी किताबों में तुमने राष्ट्रों के जीवन में बीतनेवाले बडे-बडे जमानो का हाल पढ़ा होगा। हम उनके बडे-बडे महान् पुरुषो और वीर महिलाओं का हाल और उनके शानदार कारनामो की कहानियाँ पढ़ते ही रहते हैं। कभी-कभी हम उसी पुराने जमाने में पहुँच जाते हैं और अपनी ख़याली दुनिया में उसी वक़्त का सपना देखने लगते हैं, और यह ख़याल करने लगते हैं कि मानो पुराने जमाने के वीर पुरुषों और वीर स्त्रियों के समान हम भी बहादुरी के काम कर रहे हैं। क्या तुम्हें याद है कि जब तुमने पहले पहल 'जीन द आर्क'[1] की कहानी पढ़ी थी, तो तुम किस

[1] जीन द आर्क—इसका जन्म सन १४१२ ई० मे फ्रास देश के एक किसान-जमींदार के घर में हुआ था। कहते हैं कि बचपन से ही इसके हृदय मे 'दैवी सदेश' आया करते

तरह मुग्ध हो गई थीं और किस तरह तुम्हारे दिल में यह हौसला पैदा हुआ था कि तुम भी उसीकी तरह कुछ काम करो? साधारण मर्द और औरतें आमतौर पर साहसी भावना के नही होते। ये लोग अपनी रोजाना की दाल-रोटी की चिन्ता में, अपने बाल-बच्चो की फ़िक्र में, घर-गिरिस्ती की झंझटों में और इसी तरह की चीजों के खयाल में फंसे रहते हैं। लेकिन एक समय आता है जब किसी बडे उद्देश्य के लिए सारी जनता में उत्साह भर जाता है और उस वक़्त मामूली मर्द और औरतें शूरवीर हो जाते है, और इतिहास दिल को थर्रा देनेवाला और इन्किलाब पैदा करनेवाला बन जाता है। बडे नेताओ में कुछ ऐसी बाते होती है जिनसे वे सारी जाति में जान पैदा कर देते है और उससे बडे-बडे काम करवा लेते है।

वह वर्ष, जिसमें तुम पैदा हुई हो, अर्थात् सन् १९१७, इतिहास में बहुत प्रसिद्ध वर्ष है। इसी वर्ष एक महान् नेता ने, जिसके हृदय में गरीबो और दुखियो के लिए बहुत प्रेम और हमदर्दी थी, अपनी कौम के हाथों से ऐसा उच्च और महान् काम करवा लिया जो इतिहास में अमर रहेगा। उसी महीने में, जिसमें तुम पैदा हुई, लेनिन ने उस महान् क्रान्ति को, उस बडे इन्किलाब को शुरू किया था, जिससे रूस और साइबेरिया की काया पलट गई। और आज हिन्दुस्तान में एक दूसरे महान् नेता ने, जिसके हृदय में मुसीबत के मारे और दुखी लोगों के लिए दर्द है और जो उनकी सहायता के लिए बेताब हो रहा है, हमारी कौम में महान् प्रयत्न और उच्च बलिदान करने के लिए नई जान डाल दी है, जिससे हमारी कौम फिर आजाद हो जाय, और भूखे, गरीब और पीड़ित लोग अपने पर लदे हुए बोझ से छुटकारा पा जायें। बापू जी,[1] जेल में पडे है, लेकिन हिन्दुस्तान की करोडों जनता के दिलो में उनके सदेश का जादू पैठ गया है और मर्द और औरतें और छोटे-छोटे

थे और इसे विश्वास हो गया था कि फ्रास का उद्धार इसीके हाथो होगा। उस वक्त फ्रास अंग्रेजो के आधीन था। एक बार जीन फ्रास के बादशाह चार्ल्स के पास जा पहुँची और उसे प्रभावित करके ४-५ हजार सेना के साथ मर्दाने लिवास मे अंग्रेजो से लडने चल पडी। आर्लियंस की लडाई मे इसने अंग्रेजो को मार भगाया और चार्ल्स को फ्रास की गद्दी पर बिठाया। पर चार्ल्स ने इसका साथ न दिया और वर्गण्डी के ड्यूक ने इसे युद्ध मे पकडकर अंग्रेजो के हाथ वेच दिया। अंग्रेजो ने इसे इन्क्वीजिशन (देखो फुटनोट अध्याय ३५) के हवाले कर दिया और इन्क्विजिशन ने इसे काफिर और जादूगरनी करार देकर रून नगर मे जिन्दा जलवा डाला। उस वक्त इसकी उम्र ३० साल की थी। इसके २५ वर्ष बाद पोप ने इसे बेकसूर बतलाया और बाद को यह जादूगरनी के बजाय साध्वी करार दी गई।

१ महात्मा गाँधी

बच्चे भी अपने-अपने छोटे-छोटे और तंग दायरों से निकलकर हिन्दुस्तान की आजादी के सिपाही वन रहे हैं। हिन्दुस्तान में आज हम इतिहास निर्माण कर रहे हैं। हम और तुम आज बडे खुशकिस्मत है कि ये सब बाते हमारी आँखो के सामने हो रही हैं, और इस महान् नाटक में हम भी कुछ हिस्सा ले रहे हैं।

इस महान् आन्दोलन में हमारा रुख क्या रहेगा ? इसमें हम क्या भाग लेगे ? हम नहीं जानते कि हम लोगो के जिम्मे कौन-सा काम आयगा। लेकिन हमारे जिम्मे चाहे जो काम आ पडे, हमें यह याद रखना चाहिए कि हम कोई ऐसी वात नहीं करेगे जिससे हमारे उद्देश्यो पर कलंक लगे और हमारे राष्ट्र की बदनामी हो। अगर हमें हिन्दुस्तान का सिपाही होना है, तो हमको उसके गौरव का, उसकी इज्जत का रक्षक और निगहबान बनना होगा। उसका यह गौरव, यह इज्जत, हमारे पास पवित्र धरोहर होगी।

कभी-कभी हमें यह दुविधा हो सकती है, कि इस समय हमें क्या करना चाहिए ? सही क्या है और गलत क्या है, यह तय करना आसान काम नहीं होता। इसलिए जब कभी तुम्हे शक हो तो ऐसे समय काम में लाने के लिए मै एक छोटी-सी कसौटी तुम्हे बताता हूँ। शायद इससे तुम्हे मदद मिलेगी। वह यह है कि कोई काम खुफिया तौर पर न करो, कोई काम ऐसा न करो जिसे तुम्हे दूसरों से छिपाने की इच्छा हो। क्योंकि छिपाने की इच्छा का मतलब यह होता है कि तुम डरती हो; और डरना बुरी बात है। तुम्हारे अयोग्य है और शान के खिलाफ है। तुम बहादुर बनो और बाकी चीजें तुम्हारे पास आप-ही-आप आती जायेंगी। अगर तुम बहादुर हो तो तुम डरोगी नहीं, और कभी ऐसा काम न करोगी जिसके लिए दूसरो के सामनें तुम्हे शर्म मालूम हो। तुम्हे मालूम है कि हमारी आजादी के आन्दोलन में, जो बापूजी की रहनुमाई और नेतृत्व में चल रहा है, गुप्त तरीकों या लुक-छिपकर काम करने की बात को कोई स्थान नहीं है। हमें तो कोई चीज छिपानी ही नहीं है। जो कुछ हम कहते है या करते है उससे हम डरते नहीं। हम तो उजाले में और दिन-दहाडे काम करते है। इसी तरह अपनी निजी जिन्दगी में भी हमें सूरज को अपना दोस्त बनाना चाहिए और रोशनी और उजाले में काम करना चाहिए। कोई बात छिपाकर या आँख बचाकर न करनी चाहिए। एकान्त तो अलबत्ता हमें चाहिए और वह स्वाभाविक भी है। लेकिन एकान्त और चीज है और गुप्तता या पोशीदगी दूसरी चीज है। इसलिए, प्यारी बेटी, अगर तुम इस कसौटी को सामने रखकर काम करती रहोगी तो एक प्रकाशमान् बालिका बनोगी और चाहे जो वाकयात तुम्हारे सामने आयें तुम निर्भय और शान्त रहोगी और तुम्हारे चेहरे पर शिकन तक न आयगी।

मैंने तुम्हें यह एक बडी लम्बी चिट्ठी लिख डाली और फिर भी बहुत-सी बातें रह गईं, जो मै तुम्हे लिखना चाहता हूँ। एक खत में इतनी सब बाते कहाँ समा सकती है ?

मैंने तुम्हे बताया है कि तुम बडी खुशकिस्मत हो कि आजादी की बडी लड़ाई, जो हमारे देश में इस वक़्त हो रही है, तुम्हारी आँखो के सामने हो रही है। तुम्हारी एक बडी खुशकिस्मती यह भी है कि एक बहुत बहादुर और दिलेर स्त्री 'ममी'[१] के रूप में तुम्हे मिली है। जब कभी तुम्हे कोई शक-शुबह हो, या कोई परेशानी सामनें आये, तो उनसे बेहतर मित्र तुम्हे दूसरा नहीं मिल सकता।

प्यारी नन्हीं, अब मैं तुमसे विदा लेता हूँ, और मेरी यह कामना है कि तुम बडी होकर हिन्दुस्तान की सेवा के लिए एक बहादुर सिपाही बनो।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद तुम्हे पहुँचे।

: १ :

नये साल की सौगात

१ जनवरी, १९३१

क्या तुम्हे उन खतो की याद है, जो दो साल से ज्यादा हुए मैंनें तुम्हे लिखे थे ? तब तुम मसूरी में थी और मै इलाहाबाद में। उस समय तुमने मुझे बताया था कि मेरे वे खत तुम्हे पसन्द आये थे। इसलिए, मै अक्सर यह सोचता रहता हूँ कि खतो के इस सिलसिले को मै क्यों न जारी रक्खूँ और अपनी इस दुनिया के बारे में कुछ और बाते क्यो न बताऊँ ? लेकिन मैं हिचकता रहा। संसार के अतीत और बीते हुए जमाने की कहानी और उसके महापुरुषो और वीरांगनाओ और उनके महान् कार्यो का मनन करना बहुत दिलचस्प चीज है। इतिहास का पढ़ना अच्छा है, लेकिन उससे ज्यादा दिलचस्प और दिल लुभानेवाली चीज इतिहास के निर्माण में मदद देना है। और तुम जानती ही हो कि हमारे देश में आज इतिहास का निर्माण हो रहा है। हिन्दुस्तान का पिछला इतिहास बहुत ही पुराना है और प्राचीनता के कुहरे में खो गया है। इसमें अनेक दुःखद और अप्रिय युग भी पाये जाते है, जिनकी याद करके हमें शर्म आती है और ग्लानि होती है, लेकिन सभी बातो का लिहाज करते हुए हमारा पिछला जमाना बहुत उज्ज्वल है, जिसपर हम सही गर्व कर सकते हैं।

१ इन्दिरा की मा श्रीमती कमला नेहरू

इस प्राचीन युग की याद करके हम आनन्द अनुभव कर सकते है । लेकिन आज हमें इतनी फुरसत नहीं कि हम अतीत की याद करने बैठें । हमारे दिमाग में तो वह भविष्य, जिसका हम निर्माण कर रहे है, भरा पड़ा है, और वह वर्तमान है, जिसमें हमारा पूरा समय लग रहा है।

यहाँ नैनी-जेल में मुझे इस बात का काफी समय मिल गया है कि मै जो कुछ चाहूँ लिख-पढ़ सकूँ। लेकिन मेरा मन भटकता रहता है और मैं उस महान् संघर्ष के बारे में सोचता रहता हूँ, जो बाहर चल रहा है। मै यह सोचता रहता हूँ कि दूसरे लोग क्या कर रहे है, और अगर मै उनके बीच में होता तो क्या करता ? वर्तमान और भविष्य के विचारो में मै इतना डूबा रहता हूँ कि अतीत या बीते हुए जमाने पर ध्यान देने की फुरसत ही नहीं होती । लेकिन, साथ ही साथ, मै यह भी महसूस करता रहा हूँ कि ऐसा सोचना मेरे लिए मुनासिब नहीं है । जब मैं बाहर के कामो में कोई हिस्सा ले नहीं सकता, तो मै उसकी फिक्र क्यों करूँ ?

लेकिन असल वजह तो, जिससे मै तुम्हें खत लिखना टालता रहा हूँ, दूसरी ही है । क्या चुपके से मै तुम्हारे कान में बता दूँ ? तो लो सुनो । मुझे यह शक होने लगा है कि मै इतना जानता भी हूँ या नहीं कि जो तुम्हें पढ़ा सकूँ। तुम इतनी तेजी से बढ़ रही हो और इतनी अक्लमन्द लड़की साबित हो रही हो, कि जो कुछ मैंने स्कूल या कालेज में और उसके बाद पढ़ा-लिखा है, मुमकिन है वह तुम्हारे लिए काफी न हो और तुम्हे नीरस जँचे । यह भी हो सकता है कि कुछ दिन के बाद तुम शिक्षक का स्थान लेलो और मुझे कई नई-नई बातें सिखाओ । जैसा मैंने तुम्हारे पिछले जन्मदिन वाले खत में तुम्हे लिखा था, मैं उस 'बहुत अक्लमन्द आदमी' की तरह बिलकुल नहीं हूँ जो अपने पेट के चारों तरफ़ तांबे के पत्तर बांधे फिरता रहता था, ताकि कहीं अक्ल की ज्यादती से उसका पेट न फट जाय ।

जब तुम मसूरी में थीं, दुनिया की शुरुआत के दिनो के बारे में कुछ लिखना मेरे लिए आसान था । उस जमाने के सम्बन्ध में जो कुछ ज्ञान पाया जाता है वह अनिश्चित और धुंधला-सा है । लेकिन जब हम उस बहुत पुराने जमाने से इस पार निकल आते है, तो इतिहास का धीरे-धीरे पता लगने लगता है और दुनिया के अनेक हिस्सों के मनुष्य-समाज के विचित्र कारनामो का परिचय मिलने लगता है । लेकिन मनुष्य-समाज के इन कारनामो का, जो कभी-कभी तो अक्लमन्दी लिये हुए लेकिन ज्यादातर पागलपन और बेवकूफी से भरे होते थे, सिलसिलेवार परिचय दे सकना आसान काम नहीं है । किताबों की मदद से कोशिश-भर की जा सकती है । लेकिन नैनी-जेल में कोई पुस्तकालय नहीं है । इसलिए, मेरे बहुत चाहने पर भी, मुझे

है कि मै तुम्हे शायद दुनिया के इतिहास का सिलसिलेवार हाल न बता सकूँगा।

मुझे यह बहुत नापसन्द है कि लड़के और लड़कियाँ सिर्फ़ एक देश का हाल पढ़ें और उसमें भी सिर्फ़ कुछ तारीखें और चन्द घटनायें रटलें। इतिहास तो एक सिलसिलेवार मुकम्मिल चीज है, और जबतक तुम्हे यह मालूम न हो कि दुनिया के दूसरे हिस्सो में क्या हुआ तुम किसी देश का इतिहास समझ ही नही सकती। मुझे उम्मीद है कि इस संकीर्णता और तंग-खयाली के साथ तुम इतिहास को एक या दो देशो में ही परिमित करके न पढ़ोगी, बल्कि सारी दुनिया का निरीक्षण करोगी और उसपर व्यापक तौर पर नजर डालोगी। हमेशा याद रक्खो कि भिन्न-भिन्न जातियो या मुख्तलिफ कौमो में इतना ज्यादा अन्तर नही होता जितना लोग समझते है। नकशो और एटलसो में मुल्क अलग-अलग रंगो से रंगकर दिखाये जाते है। इसमें शक नही कि मुख्तलिफ देश के रहनेवालो में कुछ अन्तर जरूर होता है, लेकिन उनमें समानता भी बहुत ज्यादा पाई जाती है। इसलिए अच्छा हो अगर हम ऊपर कही हुई बात याद रक्खें और नकशों के रंग या मुल्को की सरहदी रेखा देखकर बहक न जायँ।

मै तुम्हारे लिए अपनी पसन्द का इतिहास नहीं लिख सकता। इसके लिए तुम्हे दूसरी किताबें पढ़नी पड़ेंगी। लेकिन मै तुम्हे बीते हुए जमाने के बारे में, उस जमाने के लोगो के तथा उन लोगो के सम्बन्ध में कि जिन्होने दुनिया के रंगमंच पर बड़े-बड़े काम किये है, समम-समय पर थोड़ा-बहुत लिखता रहूँगा।

मै नही कह सकता कि मेरी चिट्ठियाँ तुम्हारे लिए मनोरंजक होगी और तुम्हारे दिल में कुतूहल पैदा करेगी या नहीं। सच तो यह है कि मै यह भी नहीं जानता कि ये चिट्ठियाँ तुम्हे कभी मिलेंगी भी या नही। कितनी विचित्र बात है कि हम एक-दूसरे से इतने नजदीक होते हुए भी इतनी दूर है! जब तुम मसूरी में थी, मुझसे कई सौ मील के फासले पर थी; लेकिन तब मै जितनी दफा चाहता था तुम्हे खत लिख सकता था, और जब कभी तुम्हे देखने को बहुत तबीयत चाहती थी तब जाकर मिल लेता था। लेकिन आजकल तुम जमना नदी के उसपार हो, और मै इसपार हूँ; एक-दूसरे से बहुत दूरी पर नहीं। फिर भी नैनी-जेल की ऊँची दीवारो ने हमें एक-दूसरे से एकदम अलग कर रक्खा है। पन्द्रह दिन में मै एक खत लिख सकता हूँ और एक पा सकता हूँ; और १५ दिन में २० मिनट की मुलाकात भी मुझे मिल सकती है। फिर भी मै इन बन्दिशो को अच्छा समझता हूँ। क्योंकि जो चीज हमें सस्ती मिल जाती है हम अक्सर उसकी कदर नहीं करते, और मै यह विश्वास करने लग गया हूँ कि कुछ दिन जेल में बिताना आदमी की शिक्षा का बहुत

मुनासिब और जरूरी हिस्सा है। खुशकिस्मती की बात है कि हमारे देश के बीसों हजार आदमी आज इस तरह की शिक्षा पा रहे है।

मै नहीं जानता कि जब तुम्हे मेरे ये खत मिलेगे तुम इन्हें पसन्द करोगी या नहीं। लेकिन मैने अपनी ही खुशी के लिए इनका लिखना तय कर लिया है। इन खतो से हम-तुम बहुत नजदीक आजाते है, और मै तो यहाँतक महसूस करनें लगता हूँ कि मानो मेरी-तुम्हारी बाते हो गई। वैसे तो मै तुम्हे अक्सर याद करता रहता हूँ, लेकिन आज तो सारे दिन तुम शायद ही मेरे चित से हटी होगी। आज साल का पहला दिन है। आज बडे सवेरे जब मै बिस्तर पर लेटे-लेटे तारो को देख रहा था, तो मेरे दिल में इस बीते हुए पिछले महत्वपूर्ण वर्ष का ख़याल हो आया। मुझे वे सब आशायें, आनन्द और क्लेश याद आगये और वे सारे बडे-बडे बहादुरी के काम आँखो के सामने घूम गये जो इस साल में हुए। मुझे बापू-जी का भी खयाल आया, जिन्होने यरवदा-जेल की कोठरी में बैठे-बैठे अपने जादू से हमारे बूढे देश को जवान और ताकतवर बना दिया। और मुझे दादू[१] की भी याद आई, और दूसरों की भी। मुझे खास तौर से तुम्हारी ममी का साथ ही तुम्हारा खयाल तो आया ही, और इसके बाद सुबह होने पर खबर आई कि तुम्हारी ममी गिरफ्तार करली गई और जेल पहुँचा दी गई। मेरे लिए यह नये साल की एक बेशकीमत सौगात थी। इसकी उम्मीद तो बहुत दिन से की जा रही थी और मुझे पूरा यकीन है कि ममी बिलकुल प्रसन्न और सन्तुष्ट होगी।

लेकिन तुम अकेली रह गई होगी। पन्द्रह दिन में तुम एक दफा मुझसे और एक दफा अपनी ममी से मिल सकोगी और हम दोनो के संदेसे एक-दूसरे को पहुँचाया करोगी। लेकिन मै तो कलम और कागज लेकर बैठ जाया करूँगा और तुम्हारा ख़याल करूँगा। तब तुम चुपके से मेरे पास आ बैठेगी और हम एक-दूसरे से बहुत-सी बातो के बारे में बातचीत करेगे। हम गुजरे हुए जमाने का स्वप्न देखेंगे और भविष्य को बीते हुए जमानें से ज्यादा शानदार बनाने की तरकीब सोचेंगे। इसलिए आओ, आज नये साल के पहले दिन को हम लोग इस बात का पक्का इरादा करे, कि इसके पहले कि यह वर्ष भी बूढ़ा होकर चल बसे, हम भविष्य के सम्बन्ध के अपनें ज्वलन्त स्वप्न को वर्तमान के नजदीक ले आयेंगे, और हिन्दुस्तान के प्राचीन इतिहास में एक और शानदार सफा बढ़ा लेगे।

१ इन्दिरा के बाबा प० मोतीलाल नेहरू

: २ :

इतिहास की शिक्षा

५ जनवरी, १९३१

प्यारी बेटी, मैं तुम्हें क्या लिखूं और किस जगह से शुरू करूँ ? जब मैं पुरानें जमानें का ख़याल करता हूँ तो मेरी आँखों के सामने बहुत-सी तस्वीरे तेजी के साथ घूम जाती है। कुछ तस्वीरें ज्यादा देर तक ठहरती है, तो कुछ थोडी ही देर तक। वे मेरी पसन्द की चीजें है, और उनके बारे में विचार करते-करते मैं उन्हीं में डूब जाता हूँ। बिलकुल अनजान में ही मै पिछली घटनाओ से आजकल की घटनाओं का मुकाबिला करने लगता हूँ, और उनसे अपनी शिक्षा के लिए सबक लेने की कोशिश करता हूँ। लेकिन आदमी का मन भी क्या अजीब खिचडी है, जिसमें ऐसे खयालात भरे रहते है जिनका एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नही होता और ऐसी तस्वीरे मौजूद रहती है जिनमें कोई तरतीब नही पाई जाती---जैसे कोई ऐसी चित्रशाला हो, जहाँ तस्वीरो की सजावट में कोई व्यवस्था न रक्खी गई हो। लेकिन इसमें हमीं लोगों का सारा दोष नहीं है। हममें बहुतसे आदमी अपने दिमाग़ में घटनाओ के क्रम को बेहतर तरीके से तरतीब दे सकते हैं। लेकिन कभी-कभी खुद घटनायें इतनी अजीब होती है कि उन्हे किसी भी योजना के ढाँचे में ठीक तरह बिठा सकना मुश्किल हो जाता है।

मुझे खयाल पड़ता है कि मैंने तुम्हे एक दफा लिखा था कि इतिहास के पढ़ने से हमें यह शिक्षा मिलनी चाहिए कि दुनिया ने कैसे आहिस्ता-आहिस्ता लेकिन निश्चित रूप से तरक्की की है। दुनिया के आरम्भ के सरल जीवो की जगह पर अधिक उन्नत और पेचीदा जीव कैसे आगये और कैसे सबसे अख़ीर में जीवो का सिरताज आदमी पैदा हुआ और अपनी बुद्धि के ज़ोर पर उसनें कैसे दूसरों पर विजय पाई। बर्बरता और जंगलीपन से निकलकर सभ्यता की ओर मनुष्य की प्रगति का हाल बताना इतिहास का विषय माना गया है। मैंने अपने कुछ ख़तो में तुम्हें यह बताने की कोशिश की है कि सहयोग का यानी मिल-जुलकर काम करनें का खयाल कैसे बढ़ा और सबकी भलाई अर्थात् सार्वजनिक हित के लिए मिल-जुलकर काम करना हमारा आदर्श क्यो होना चाहिए ? लेकिन कभी-कभी जब हम इतिहास की व्यापकता पर गौर करते है, तो हमें यह बात बहुत साफ नहीं दिखाई देती कि इस आदर्श ने बहुत ज्यादा तरक़्की की हो, और यह कि हम लोग बहुत सभ्य या उन्नत होगये हो। मनुष्यो में सहयोग का अभाव आज भी बहुत काफ़ी पाया जाता है। एक मुल्क या

एक कौम दूसरे मुल्क और दूसरी कौम पर स्वार्थ और खुदगरजी से आक्रमण करते हैं और उसे सताते हैं। एक आदमी दूसरे आदमी के साथ इसी तरह का व्यवहार करता है। अगर लाखों बरस की तरक्की के बाद भी हम इतने पिछडे और अपूर्ण हैं, तो न जानें समझदार आदमी की तरह व्यवहार कर सकने के लिए हमें और कितने दिन लग जायँगे! जब कभी हम इतिहास के उन पुराने जमानो के बारे में पढ़ते हैं, जो आजकल के जमाने से बेहतर मालूम होते हैं और अधिक सभ्य और संस्कृत भी जान पड़ते है, तो हमें यह शक होने लगता है कि हमारी दुनिया आगे बढ़ रही है या पीछे हट रही है? खुद हमारे अपने देश के पुराने युग वर्तमान युग की बनिस्बत यकीनन हर हालत में कहीं ज्यादा बेहतर और शानदार थे।

यह सच है कि हिन्दुस्तान, मिस्र, चीन, यूनान जैसे अनेक देशों, के पुरानें इतिहास में उज्ज्वल युग हुए है और इन मुल्कों में से बहुत से बाद में पिछड़ गये और गिर गये हैं। लेकिन इसकी वजह से हमें हिम्मत न हारनी चाहिए। दुनिया एक बहुत बडी जगह है, और थोडे वक़्त के लिए किसी मुल्क के ऊपर उठ जाने या नीचे गिर जाने से सारी दुनिया में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

आजकल बहुत-से लोग हमारी महान् सभ्यता की और विज्ञान के चमत्कार की डींग मारते रहते हैं। इसमें शक नहीं कि विज्ञान ने बहुत चमत्कार कर दिया है, और जो बडे-बडे वैज्ञानिक हुए हैं वे हर तरह से इज्जत के क़ाबिल हैं। लेकिन जो डींग मारते हैं वे मुश्किल से ही बडे हुआ करते हैं। दूसरे, हमें यह बात भी याद रखनी चाहिए कि बहुत-सी बातो में आदमी ने दूसरे जीवों की बनिस्बत बहुत ज्यादा उन्नति नहीं की है। यह भी कहा जा सकता है कि कुछ जीव ऐसे भी हैं जो कुछ बातों में आदमी से अब भी श्रेष्ठ हैं। सुननें में यह बात बेवकूफी की मालूम पड़ सकती है, और जो लोग नही जानते, वे इसकी हँसी भी उड़ा सकते है। लेकिन तुमने अभी मैटरलिंक की बनाई हुई 'Life of the Bee, the White Ant and the Ant' (शहद की मक्खी, दीमक और चींटी की जिन्दगी) नाम की किताब पढ़ी ही है। इन जन्तुओ के सामाजिक संगठन का हाल पढ़कर तुम्हें जरूर ताज्जुब हुआ होगा। हम लोग इन जन्तुओं को सबसे हलके दरजे का जीव समझकर हिक़ारत की नजर से देखते हैं। लेकिन इन छोटे-छोटे जन्तुओ ने सहयोग की कला और सार्वजनिक हित के लिए बलिदान का सबक आदमी की अपेक्षा कहीं ज्यादा सीख रक्खा है। जबसे मैंने दीमक का वर्णन देखा और अपने साथी के लिए उसके बलिदान का हाल पढ़ा, मेरे दिल में इस जन्तु के लिए आदर का भाव पैदा हो गई है। अगर आपस के सहयोग को और समाज की भलाई के लिए बलिदान को सभ्यता के परखने की कसौटी मानें,

तो इस लिहाज से चीटियाँ और दीमक आदमी से ऊँचे दरजे की साबित होती है।

संस्कृत की हमारी एक पुरानी पुस्तक में एक श्लोक[1] है, जिसका अर्थ है कि, "कुल के लिए व्यक्ति को, समाज के लिए कुल को, देश के लिए समाज को और आत्मा के लिए सारी दुनिया को छोड़ देना चाहिए।" आत्मा क्या चीज है इसे हममें से कोई नहीं समझता, और हरेक आदमी आत्मा का अर्थ अपने-अपने खयाल के मुताबिक अलग-अलग किया करता है। लेकिन संस्कृत का यह श्लोक जो सबक हमें सिखाता है, वह सबक है सहयोग का और सार्वजनिक हित के लिए बलिदान करने का। हिन्दुस्तान के हम लोग असल महानता के इस राजमार्ग को बहुत दिनों तक भूले रहे, इसीलिए हमारा पतन हुआ। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि अब फिर हमें उसकी हलकी-सी झलक दिखाई देने लगी है और सारे मुल्क में एक तहलका-सा मचा हुआ है। कितनी अद्‌भुत बात है कि मर्द और औरते, लड़के और लड़कियाँ हँसते-हँसते हिन्दुस्तान के हित के लिए आगे बढ़ रहे हैं और तकलीफ या कष्ट की ज़रा भी परवा नही करते! उनका हँसना और खुश होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि एक महान् उद्देश के लिए सेवा करने का आनन्द उनको मिला है, और जो खुशकिस्मत हैं उन्हे बलिदान करने का भी आनन्द प्राप्त हुआ है। आज हम हिन्दुस्तान को आज़ाद करने की कोशिश कर रहे हैं। यह एक बडी बात है। लेकिन मनुष्य मात्र के हित का प्रश्न इससे भी ऊँचा है। और क्योंकि हम यह महसूस करते है कि हमारा संग्राम मनुष्य-मात्र की तकलीफो और मुसीबतो को मिटाने के महान् संग्राम का एक हिस्सा है, हम भी इस बात पर खुशी मना सकते है कि हम दुनिया की प्रगति में मदद करके थोड़ा-बहुत अपना फ़र्ज़ अदा कर रहे हैं।

तुम आनन्द-भवन में बैठी हो, ममी मलाका-जेल में पडी है, और मैं नैनी-जेल में हूँ। यहाँ हमें कभी-कभी एक-दूसरे का खयाल आता है और बहुत जोर के साथ। लेकिन उस दिन की याद करो, जब हम तीनो फिर मिलेगे। मैं उस दिन का उत्सुकता से इन्तजार करूँगा और उसका ख़याल मेरे दिल के बोझ को हलका और हृदय को प्रसन्न कर देगा।

१ त्यजेदेक कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुल त्यजेत्।
ग्राम जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवी त्यजेत्॥—पञ्चतन्त्र

: ३ :

'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद'

७ जनवरी, १९३७

प्रियदर्शिनी, आँखो को प्यारी, लेकिन जब आँखो से ओझल हो तो और भी प्यारी ! आज, जब मै यहाँ तुम्हे खत लिखने बैठा तो दूर के बादल की गरज का-सा कुछ हलका-सा शोर मुझे सुनाई दिया। पहले तो मुझे पता न चला कि यह आवाज कैसी है। लेकिन इसकी गूँज से मेरे कान परिचित थे और इसके स्वागत के लिए मेरे दिल में प्रतिध्वनि उठती थी। धीरे-धीरे यह आवाज़ नजदीक आती हुई मालूम हुई और ज़ोर से सुनाई देने लगी। फिर तो कोई शक बाकी नही रह गया। 'इन्किलाब ज़िन्दाबाद !' 'इकिलाब ज़िन्दाबाद !' इस जोश से भरी हुई ललकार से सारा कैदखाना गूंज उठा; और इसे सुनकर हम सब लोगो के दिल प्रसन्न हो गये। मैं नहीं जानता कि ये कौन लोग थे, जो हमारे इस जंगी नारे को हमसे इतनी नजदीक जेल के बाहर से बुलन्द कर रहे थे—शहर के मर्द और औरते थी या गाँव के किसान लोग ? और न मै यह जानता हूँ कि आज इसका कौन-सा मौका था ? लेकिन ये लोग चाहे जहाँ के रहे हो, इन्होने हमारे दिलों को खुश कर दिया और इनके अभिवादन का हम लोगो ने ख़ामोश जवाब भेज दिया, जिसके साथ-साथ हमारी बहुत-बहुत शुभकामनायें भी थी।

सवाल यह होता है कि हम 'इन्किलाब ज़िन्दाबाद' की आवाज़ क्यो लगाते हैं ? क्रान्ति और परिवर्तन या तब्दीली हम क्यो चाहते है ? इसमें शक नही कि हिन्दुस्तान में आज बहुत परिवर्तन होने की ज़रूरत है। लेकिन वे सारी बड़ी-बड़ी तब्दीलियाँ, जो हम चाहते है, हो भी जायँ, और हिन्दुस्तान को आज़ादी भी मिल जाय, तो भी हम चुपचाप नही बैठ सकते। दुनिया की कोई भी चीज़, जो ज़िन्दा है, बिना परिवर्तन के नही रहती। सारी प्रकृति रोज़-ब-रोज़ और मिनट-मिनट पर बदलती रहती है। केवल मुर्दो की ही बढ़ती और तरक्की रुकी रहती है, और वे शान्त और स्थिर हो जाते हैं। ताज़ा पानी बहता रहता है और अगर कोई उसे रोक दे तो वह स्थिर होकर गन्दला हो जाता है। आदमी की और क़ौम की ज़िन्दगी का भी यही हाल होता है। हम चाहे या न चाहे, हम बूढ़े होते जाते हैं। नन्ही-नन्ही बच्चियाँ छोटी-छोटी लड़कियाँ हो जाती है; छोटी-छोटी लड़कियाँ बड़ी लड़कियाँ हो जाती हैं; वही बाद में स्त्रियाँ और फिर बुढ़िया हो जाती हैं। हमें इन सब तब्दीलियो को बर्दाश्त करना पड़ता है। लेकिन हममे से बहुतसे आदमी इस

बात को मानने के लिए तैयार नहीं कि दुनिया बदलती रहती है। वे लोग अपने दिमाग को बन्द रखते है और उसपर ताला लगा देते है और उसमें किसी नये ख़याल को घुसने की इजाज़त नहीं देते। सोच-विचार करने में उन्हे जितना डर लगता है, उतना शायद किसी दूसरी चीज में नहीं लगता। नतीजा क्या होता है? दुनिया तो इतने पर भी आगे-आगे बढ़ती ही जाती है, और चूंकि वे और उन्हींके किस्म के दूसरे लोग बदलती हुई परिस्थितियों के मुताबिक अपनेंको नही ढालते, इस-लिए समय-समय पर बडे-बडे विस्फोट या भड़ाके होते है; बडी-बडी क्रान्तियाँ हो जाती है—जैसे कि १४० बरस पहले फ्रान्स में और आज से तेरह बरस पहले रूस में हुई थी। इसी तरह अपनें देश में भी आज हम एक क्रान्ति के बीच में से गुजर रहे है। वेशक हम आजादी चाहते है, लेकिन हम इससे कुछ और भी ज्यादा चाहते है। हम तमाम बदबूदार गड्ढो और नालियों को साफ़ कर डालना चाहते है और हरेक जगह पर ताजा और साफ पानी की लहर पहुँचा देना चाहते है। हमारा फर्ज है कि हम अपने देश की गन्दगी, गरीबी और मुसीबतो को निकाल फेंकें और जहाँतक हो सके बहुतसे आदमियो के दिमागो में भरे हुए कूडे को भी साफ कर दें, जिसकी वजह से कि वे लोग सोच-समझ नहीं पाते और उस महान् काम में, जो हमारे सामने है, सहयोग नही करते। हमारे सामने जो काम है वह महान् है और मुमकिन है कि उसके पूरा होने में देर लगे। आओ, कम-से-कम एक धक्का लगाकर इसे आगे तो बढ़ा दें! 'इन्किलाव जिन्दावाद!'

हम क्रान्ति के दरवाजे तक पहुँच गये है और यह नहीं जानते कि आगे भविष्य में क्या होनेवाला है। लेकिन हमारी मेहनतो का फल बहुत काफ़ी मात्रा में वर्तमान नें भी हमारे सामने ला रक्खा है। हिन्दुस्तान की स्त्रियों को देखो कि किस तरह अभि-मान के साथ वे लडाई में सबसे आगे बढ़ती जा रही है! नम्र लेकिन बहादुर और किसीसे न दबनेवाली अपनी प्रगति से कैसे दूसरो को आगे बढ़ने का रास्ता दिखा रही है? और कहाँ गया आज वह परदा, जिसने हमारी बहादुर और खूबसूरत स्त्रियो को अपने में छिपा रक्खा था, और जो उनके और उनपर देश पर एक लानत—एक अभिशाप था? वह अब तेजी के साथ मिट रहा है और अजायबघरों की आलमारियो में, जिनमें पुराने जमाने की चीजो के नमूनें रक्खे रहते है, जाकर अपने लिए जगह ढूँढ रहा है।

बच्चों को, लड़के और लड़कियो को, वानर-सेना और वाल-बालिका-सभाओ को देखो। इनमें बहुतसे बच्चे ऐसे होगे, जिनके माता-पिता सम्भव है पहले डरपोक रहे हो और गुलामों की तरह आचरण करते रहे हो। लेकिन अब किसको

शक हो सकता है कि हमारी पीढ़ी के बच्चे गुलामी या कायरता को कभी भी बरदाश्त करेगे ?

और इस तरह क्रांति का चक्र चल रहा है और जो नीचे थे वे ऊपर आ रहे है और जो ऊपर थे वे नीचे जा रहे हैं। हमारे देश में भी इस चक्र के चलने का समय आगया था। लेकिन इसके पहिये को इस दफा हम लोगो ने ऐसा धक्का दिया है कि अब कोई भी इसे रोक नहीं सकता।

"इन्किलाब जिन्दाबाद !"

: ४ :

एशिया और योरप

८ जनवरी, १९३१

मैंने अपने पिछले खत में बताया था कि हरेक चीज बराबर तब्दील होती रहती है। इन तब्दीलियो की कहानी के सिवा दरअसल इतिहास और है भी क्या ? अगर पुराने जमाने में बहुत कम तब्दीलियाँ हुई होती, तो इतिहास लिखने के लिए कुछ मसाला ही न मिलता।

स्कूल और कॉलेजो में जो इतिहास पढ़ाया जाता है वह साधारणतः बहुत सन्तोषजनक और मतलब का नही होता। दूसरो की बाबत तो मै जानता नही, अपने बारे में यह जरूर कह सकता हूँ कि स्कूल में मै बहुत कम इतिहास सीख पाया था। हिन्दुस्तान के इतिहास के बारे में थोड़ा-बहुत पढ़ा था, और कुछ इंग्लैण्ड का इतिहास पढ़ा था। हिन्दुस्तान का इतिहास जो-कुछ मैंने पढ़ा, वह ज्यादातर गलत या तोड़ा-मरोड़ा हुआ और ऐसे लोगो का लिखा हुआ था जो हमारे देश को नफरत की नजर से देखते थे। और देशो के इतिहास के बारे में तो मेरा ज्ञान बहुत ही अनिश्चित और धुंधला था। कॉलेज छोड़ने के बाद मैंने कुछ वास्तविक इतिहास पढ़ा। खुशकिस्मती से जेल की यात्राओ ने मुझे अपना ज्ञान बढ़ाने का खासा मौका दे दिया।

मैंने तुम्हे अपनी कुछ पुरानी चिट्ठियो में हिन्दुस्तान की प्राचीन सभ्यता के बारे में, द्रविडों के बारे में, और आर्यो के आगमन के सम्बन्ध में लिखा था। मैंने आर्यो के आने के पहले के जमाने का कोई हाल इन खतो में नही लिखा था, क्योकि मुझे उसके बारे में ज्यादा मालूम नही है। लेकिन तुम्हे यह जानकर दिलचस्पी होगी कि हिन्दुस्तान मे इन पिछले बरसो में एक बहुत प्राचीन सभ्यता के चिन्ह मिले हैं। ये चिन्ह उत्तर-पश्चिम भारत मे मोहेन जे दारो नाम की जगह के आस-पास

पाये गये है। करीब पॉच हजार वरस पुराने इन खण्डहरो को लोगों ने खोदा और उसमें प्राचीन मिस्र की-सी मोमियाई—मसाला लगाकर रक्षित रक्खे गये मुर्दे—मिली है। जरा खयाल तो करो। ये सब बाते हजारो बरस पुरानी, आर्यो के आने से बहुत पहले की है। योरप उस समय वीरान रहा होगा।

आज योरप मजबूत और ताकतवर है और वहाँके रहनेवाले अपनेको दुनियाभर में सबसे ज्यादा सभ्य और तहजीबदार समझते है। वे एशिया और उसके निवासियो को तिरस्कार की नजर से देखते है, और एशिया के मुल्कों में आकर जो कुछ यहाँ मिलता है, उसे झपट ले जाते है। जमाना कैसा बदल गया है! आओ, हम एशिया और योरप पर जरा ग़ौर से नजर डालें। एटलस खोलो, देखो, छोटासा योरप एशिया के विशाल महाद्वीप में किस तरह चिपक रहा है। मालूम होता है मानो यह एशिया का ही छोटासा हिस्सा हो। अगर तुम इतिहास पढ़ोगी तो तुम्हे मालूम होगा कि कई युगो तक एशिया उसपर हावी रह चुका है। एशियाई लोगो की बाढ़-की-बाढ़ योरप जाती रही है और उसे फ़तह करती रही है। इन लोगों ने योरप को उजाड़ा भी और उसे सभ्यता या तहजीव भी सिखाई। आर्य, शक, हूण, अरब, मंगोल और तुर्क ये सब एशिया के किसी-न-किसी हिस्से से आये थे, और योरप और एशिया के चारो ओर फैल गये थे। वे एशिया में टिड्डी-दल की तरह बेशुमार तादाद में पैदा होते रहे। सच तो यह है कि योरप बहुत दिनो तक एशिया का उपनिवेश रहा है और उसकी बहुत-सी जातियाँ एशिया से गये हुए हमला करनेवालो की सन्ताने है।

एशिया एक बेडौल दानव की तरह नक्शे में एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला हुआ है। योरप छोटा-सा है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि एशिया इसलिए बड़ा है कि उसकी लम्बाई-चौड़ाई बहुत है, या यह कि अपनी छुटाई के कारण योरप किसी ध्यान दिये जाने के काबिल नहीं है। किसी आदमी या देश की बड़ाई उसकी लम्बाई-चौड़ाई से नही परखी जाती। हम सब अच्छी तरह जानते है कि योरप हालांकि महाद्वीपो में सबसे छोटा है, मगर आज वह महान् बना हुआ है। हम यह भी जानते है कि योरप के अनेक देशो के इतिहास में शानदार युग हुए हैं। इन देशो ने विज्ञान के बडे-बडे पण्डित पैदा किये, जिन्होने अपनी खोज और आविष्कारो से मानवी सभ्यता को बहुत ज्यादा तरक्की दे दी और लाखो आदमियो और औरतो के लिए जिन्दगी आसान बना दी। इन देशो में बडे-बडे लेखक, विचारक, कला-कुशल, सगीतज्ञ और कर्मवीर पैदा हुए हैं। योरप की महानता को स्वीकार न करना बेवकूफी होगी।

लेकिन एशिया की महानता को स्वीकार न करना भी उसी तरह की बेवकूफी होगी। कभी-कभी हम योरप की तड़क-भड़क से धोखे में आ जाते हैं और अपने पुराने जमाने को भूल जाते हैं। हमें यह याद रखना चाहिए कि एशिया ने ही बड़े-बड़े विचारक पैदा किये हैं, जिन्होंने दुनियाभर में इतना प्रभाव डाला कि शायद ही कोई दूसरे आदमी या कोई दूसरी चीज इतना असर डाल पाये हो। खास-खास धर्मों के प्रवर्तक भी यही हुए। हिन्दू धर्म जो मौजूदा बड़े-से-बड़े मजहबो में सबसे पुराना हैं, हिन्दुस्तान की उपज है। इसी तरह उसका भाई बौद्ध धर्म भी एशिया का ही है, जो आज तमाम चीन, जापान, बरमा, तिब्बत और लंका में फैला हुआ है। यहूदियो और ईसाइयो का धर्म भी एशियाई ही हैं, क्योकि यह एशिया के पश्चिम किनारे पर फिलस्तीन[1] मे पैदा हुआ था। जोरास्ट्रियन धर्म, जो पारसियो का मजहब है, ईरान[2] में उत्पन्न हुआ। और तुम यह तो जानती ही हो कि इस्लाम के पैग़म्बर मुहम्मद अरब के मक्का में पैदा हुए थे। कृष्ण, बुद्ध, जरथुस्त,[3] ईसा, मुहम्मद,

१ फिलस्तीन—इसे पेलस्टाइन भी कहते हैं। एशिया का एक प्राचीन देश है। पश्चिम देश के आधीन रहने के बाद ईसा से पहले सन् ११०० मे फिलस्तीन जाति के अधिकार मे आया। ईसा से पहले की नवी सदी से छठी सदी तक असीरिया और बेबिलोनिया के साम्राज्य इसे जीतते और फिर इससे हारते रहे। एक जमाने मे यहूदियो ने यहाँ अपना स्वतन्त्र राज्य कायम किया था और कभी यह मुसलमानो के ताबे मे रहा। सन् १९१७–१८ से यह अंग्रेजो के अधिकार में है और अब वहाँ अरब और यहूदियो मे झगडा चल रहा है। यह ईसाइयो और मुसलमानो दोनो की पवित्र भूमि है।

२ ईरान—एशिया का एक देश है, जो फारस भी कहलाता है। ईसा से पूर्व सन् ५५९ से ३३१ तक ईरानी सभ्यता बहुत उन्नत दशा मे थी और सम्राट् डेरियस या दारा के जमाने से इसका साम्राज्य इतना विस्तृत और शक्तिशाली होगया था कि यूनानियो को इसके डर के मारे नीद नही आती थी और योरप, अफ्रीका और एशिया ईरानी सम्राट् के नाम से कॉपते थे। लेकिन बाद मे धीरे-धीरे इसका पतन होने लगा, और यूनानी विजेता सिकन्दर ने इस साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला।

३ ज़रथुस्त—यह प्राचीन ईरानी मजहब के प्रवर्त्तक या पैगम्बर थे। यह किस जमाने मे हुए, इसका कुछ ठीक-ठीक पता नही लगता, लेकिन कुछ लोगो के खयाल मे इनका समय ईसा से १००० वर्ष पहले का है। ईरानी शाहगाह सीरियस के जमाने मे इनका धर्म ईरान का खास धर्म हो गया था। यह भी एक आर्य-धर्म ही था। हिन्दुस्तान के पारसी अब भी इसी मजहब को मानते हैं। इनके सिवा इस मजहब का माननेवाला दुनिया में अब कोई नही है। इनकी मुख्य धर्म-पुस्तक जेन्दावस्ता है।

कनफ्यूशस[१], लाओ-जे[२] वगैरा, जो चीन के महान् दार्शनिक थे, एशिया के बडे-बडे विचारको के नाम से तुम सफे-के सफे भर सकती हो। इसी तरह एशिया के कर्म-वीरों के नामो से भी पन्ने-के-पन्ने रंगे जा सकते है, । यही नहीं कई और बातो में भी मैं तुम्हे दिखा सकता हूँ कि हमारा यह बूढ़ा महाद्वीप प्राचीनकाल में कितना महान् और सजीव रहा है।

लेकिन देखो, जमाना कैसा बदल गया है, और एक बार फिर हमारी आँखो के सामने भी वह बदलता जारहा है। इतिहास आम तौर पर धीरे-धीरे सदियो में अपना प्रभाव दिखाता है, हालाकि उसमें तूफानी और धड़ाके के भी युग होते हैं। आज तो एशिया में जमाना बहुत तेजी से आगे बढ़ रहा है और यह बूढ़ा महाद्वीप अपनी लम्बी नीद के बाद जाग उठा है। दुनिया की आँखें इसपर लगी है, क्योकि सभी जानते हैं कि भविष्य के विकास में यह बहुत बड़ा हिस्सा लेने जारहा है।

: ५ :

पुरानी सभ्यतायें और हमारा उत्तराधिकार

९ जनवरी, १९३१

हिन्दी अखबार 'भारत' में, जो हमें हफ्ते में दो बार बाहरी दुनिया की कुछ खबरे पहुँचा देता है, कल मैंने पढा कि तुम्हारी ममी के साथ मलाका-जेल में ठीक व्यवहार नही किया जा रहा है और वह लखनऊ जेल भेजी जानेवाली है। यह पढकर मैं कुछ परेशान-सा होगया और चिन्ता करने लगा। फिर सोचा कि शायद 'भारत' में छपी अफवाह सही न हो। लेकिन इस सम्बन्ध में शक भी बनाये रखना ठीक नही। अपनी परेशानियो और मुसीबतो को सहना काफी आसान है। इससे हरेक को फायदा होता है, नही तो बिना इसके हम लोग बहुत नाजुक बन जा सकते हैं। लेकिन जो हमें प्रिय हैं, उनकी मुसीबतो का खयाल, खासकर उस वक्त जबकि हम उनकी कोई

१ कनफ्यूशस—यह मशहूर चीनी दार्शनिक और धर्म-प्रवर्त्तक या पैगम्बर थे। ईसा से ५५१ वर्ष पहले इनका जन्म हुआ था और इन्होने अपना सारा जीवन अपने मुल्क को प्राचीन या पुरानी किताबो के इकट्ठा करने, सम्पादन करने और छपाने मे विताया। ईसा से ४५८ वरस पहले इनकी मृत्यु हुई। चीन मे अब भी इनका मजहब माननेवाले वहुत पाये जाते हैं।

२ लाओ-जे—मशहूर चीनी वेदान्ती और पैगम्बर था। यह कनफ्यूशस के जमाने मे ही हुआ, और उसका विरोधी था।

मदद नहीं कर सकते, कोई आसान या तसल्ली देनेवाली चीज नही है। इसलिए उस सन्देह के कारण, जो 'भारत' ने मेरे मन में पैदा कर दिया था, मैं ममी के बारे में चिन्ता करने लगा। वह बहादुर है और शेरनी का-सा उसका दिल है; लेकिन वह शरीर से कमजोर है, और मैं नही चाहता कि वह और कमजोर होजाय। हम दिल के चाहे कितने ही मजबूत क्यों न हो, अगर हमारे शरीर हमें जवाब दे बैठें तो हम क्या कर सकते हैं? अगर हम कोई काम अच्छी तरह करना चाहते हैं तो तन्दुरुस्ती, ताकत और मजबूत शरीर होना जरूरी है।

शायद यह अच्छा ही है कि ममी लखनऊ भेजी जा रही हैं। सम्भव है वह वहाँ ज्यादा आराम से और खुश रहे। लखनऊ-जेल में उसे कुछ संगी-साथी भी मिल जायँगे। मलाका में वह शायद अकेली ही हो। फिर भी यहाँ इतना इतमीनान जरूर था कि वह दूर नहीं है; हमारी जेल से सिर्फ चार-पाँच मील पर ही है। लेकिन यह सोचना बेवकूफी ही तो है। जब दो जेलो की ऊँची-ऊँची दीवारे एक-दूसरे को जुदा कर रही है, तब क्या पाँच मील और क्या एक सौ पचास मील, दोनों बराबर है।

आज यह जानकर खुशी हुई कि दादू इलाहाबाद वापस आ गये है और पहले से अच्छे है। यह जानकर और भी खुशी हुई कि वह ममी से मिलने मलाका-जेल गये थे। मुमकिन है तकदीर से कल तुम सब लोगो से मुलाकात हो जाय, क्योंकि कल मेरा 'मुलाकात का दिन' है और जेल में मुलाकात का दिन बड़ा दिन माना जाता है। करीब दो महीनें से मैंने दादू को नही देखा है। उम्मीद है कल मुलाकात हो जायगी और मैं इतमीनान कर सकूँगा कि दरअसल वह अब पहले से अच्छे हैं। तुमसे तो मैं एक बड़े लम्बे पखवाडे के बाद मिलूँगा, जब कि तुम मुझे अपना और अपनी ममी का हाल सुनाओगी।

क्या खूब! लिखने तो बैठा था पुराने इतिहास पर, लेकिन लिख रहा हूँ बेवकूफी की बातें। अच्छा, अब थोडी देर के लिए हम वर्त्तमान को भूल जायें और दो-तीन हजार वर्ष पीछे लौट चले।

मिस्र के और क्रीट[1] के पुराने नोसास[2] के बारे में मैंने तुम्हे अपनी पहली चिट्ठियों में लिखा था, और तुम्हे बताया था कि पुरानी सभ्यता ने इन दोनो

१. क्रीट—यह भूमध्यसागर के सबसे बड़े टापुओ मे से एक है। प्राचीन सभ्यता मे इसका स्थान बहुत ऊँचा है। कला-कौशल मे कुशलता पानेवाला यह सबसे पहला यूरोपीय देश है। यहाँका राजा माइनास बड़ा मशहूर शासक था और इतिहास का सबसे पहला राजा था, जिसके पास अपनी जल-सेना थी

२. नोसास—राजा माइनास के वक्त मे भूमध्यसागर के क्रीट नामक टापू

देशो में और उस मुल्क में, जो आज इराक[१] या मैसोपोटामिया कहलाता है तथा चीन, हिन्दुस्तान और यूनान में पहले-पहल जड़ पकडी, यूनान औरो से कुछ देर में सामने आया। इसलिए प्राचीनता के लिहाज से हिन्दुस्तान की सभ्यता मिस्र, चीन और इराक की सभ्यताओ की बराबरी की है। प्राचीन यूनान की सभ्यता भी इनके मुकाबिले कम उम्र की कही जा सकती है। इन पुरानी सभ्यताओ का क्या हाल हुआ ? नोसास[१] खतम होगया। सच तो यह है कि करीब तीन हजार बरस से उसका कोई अस्तित्व नही रहा है। यूनान के नई सभ्यता के लोग आये और उन्होने इसे नष्ट कर दिया। मिस्र की पुरानी सभ्यता कई हजार बरस के शानदार इतिहास के बाद समाप्त होगई, और पिरेमिड[२], स्फिंक्स[३], बडे-बडे मन्दिरो के खंडहरो, मोमियाइयो और इसी तरह की दूसरी चीजो के अलावा वह अपना कोई निशान नहीं छोड़ गई। मिस्र का देश तो अब भी है और नील नदी पहले की तरह अब भी वहाँ बहती है, और दूसरे देशो की तरह वहाँ भी स्त्री और पुरुष, रहते है; लेकिन इन नये आदमियो का इनके देश की पुरानी सभ्यता से कोई ताल्लुक नहीं है।

इराक और ईरान ! इन देशो में कितने साम्राज्य फूले-फले, एक-दूसरे के बाद अस्त होते गये और उनका कोई नाम लेनेवाला नही रह गया। इन साम्राज्यो में से अगर

की राजधानी था। यह वडा सम्पन्न और खुशहाल शहर था। मिट्टी का काम तो यहाँ खास तौर पर सुन्दर होता ही था, सोने-चाँदी का काम भी वहुत अच्छा होता था। यहाँके हथियार भी वहुत मशहूर थे।

१. इराक——यूफ्रेटीज और टाइग्रस नदियो के वीच के पूरे प्रान्त का नाम इराक है। यह देश प्राचीन सभ्यताओ मे से कईयो का क्रीडा-क्षेत्र रहा है।

२. पिरेमिड——मिस्र देश के पत्थर के विशाल स्तूप या मीनार, जिनके नीचे मिस्र के प्राचीन सम्राटो की कब्रे है। सवसे वडा पिरेमिड गिजेह नामक स्थान पर है। इसमे पत्थर की तेईस लाख चट्टाने लगी है, और एक-एक चट्टान का वजन ढाई-ढाई टन है। जिस जमाने मे मशीनो का नाम तक न था, उस जमाने मे लोगो ने कैसे ढाई-ढाई टन के तेईस लाख पत्थर एक-दूसरे पर चुनकर रख दिये, इस वात के समझने मे वुद्धि चकरा जाती है।

३. स्फिक्स——यूनान की कहानियो के अनुसार यह एक दानवी है, जिसका सिर स्त्री का-सा और धड पर लगे हुए शेर का-सा है। गिजेह नामक जगह पर पिरेमिडो के पास इसकी एक वडी भारी मूर्ति है, जिसकी लम्वाई १८७ फीट और ऊँचाई ६६ फीट है। उसका केवल सिर ही ३० फीट लम्वा है, और मुंह की चौडाई १४ फीट है।

सबसे पुराने साम्राज्यो के ही कुछ नाम ले तो वे है—बेबीलोनियन,[१] असीरियन[२] और कैल्डियन[३]। बेबीलन[४] और निनीवे[५] इनके विशाल नगर थे। बाइबिल का पुराना अहदनामा (Old Testament) इन नगरो के लोगो के जिक्र से भरा पड़ा है। इसके बाद भी प्राचीन इतिहास की इस भूमि में दूसरे साम्राज्य फूले-फले और मुरझा गये। अलिफलैला की मायानगरी बगदाद यहीं है। साम्राज्य पैदा होते हैं और खतम हो जाते हैं; बड़े-से-बड़े और अभिमानी-से-अभिमानी बादशाह दुनिया के रंग-मंच पर सिर्फ थोड़े ही अरसे के लिए ऐंठ और अंकड़कर चल पाते है और फिर चल बसते हैं।

१ बैबीलोनियन—इराक के एक प्राचीन साम्राज्य का नाम है। प्रथम बैबोलियन राजवश की स्थापना ईसा से करीब २३०० साल पहले हुई थी। कई बार इसका उत्थान और पतन हुआ। ईसा से करीब ६२५ साल पहले, नाबोपोलासार नाम के केल्डिया के सम्राट होने पर यह फिर आगे बढने लगा, और उसके उत्तराधिकारी दूसरे नेबूचड्नेजर ने ईसा से पूर्व करीब ६०४ और ५६५ साल के बीच इस साम्राज्य को गौरव की सबसे ऊँची चोटी तक पहुँचा दिया था। लेकिन उसके बाद फिर उसका ऐसा पतन हुआ कि आगे कभी न उठा।

२ असीरियन—एशिया के एक प्राचीन साम्राज्य का नाम है। इसका विशाल साम्राज्य उन सबसे पहले साम्राज्यो मे से एक है, जिनके ऐतिहासिक लेख मिलते है। अपने गौरव-काल मे यह मिस्र से ईरान तक फैला हुआ था।

३ केल्डिया—एक अर्थ मे यह बैबीलोनिया का एक प्रान्त था। ईरान की खाड़ी के ऊपर की तरफ अरब के रेगिस्तान से मिला हुआ यूफ्रेटीज़ नदी के निचले हिस्से के किनारो पर आबाद था। यहाँका निवासी नाबोपोलासार मीड जाति की मदद से बैबीलोनिया का सम्राट हुआ और उसीके उत्तराधिकारियो के जमाने मे बैबीलोनियन सम्राट अपने गौरव की सबसे ऊँची चोटी पर पहुँचा। इसलिए वह जमाना केल्डियन-बैबीलोनियन जमाना कहलाता है।

४ बेबीलन—एशिया का बहुत पुराना शहर था। आजकल के बगदाद से करीब ६० मील दक्षिण की तरफ, यूफ्रेटीज नदी के दोनो किनारो पर यह आबाद था। यही पर बैबीलोनियन, असीरियन और ईरानी साम्राज्यो की राजधानियाँ के थी। यहाँ के 'लटकते हुए उद्यान' संसार का एक आश्चर्य माने जाते थे।

५ निनीवे—इसका दूसरा नाम नाइनस भी है। यह पुराने ज़माने का एक मशहूर शहर है और असीरियन साम्राज्य की राजधानी था। सम्राट् सेनकेरिब के जमाने मे इस शहर ने बडी तरक्की की थी और करीब दो सौ साल तक बहुत बड़ा व्यापारिक केन्द्र बना रहा। यहाँका पुस्तकालय अपने जमाने में दुनियाभर मे मशहूर था। ईसा से पहले सन् ६१२ मे मीड़ो और बैबीलोनियनो ने मिलकर हमला किया और इस फलते-फूलते शहर को तहस-नहस कर डाला।

पर सभ्यतायें कायम रह जाती हैं। लेकिन इराक और ईरान की पुरानी सभ्यतायें मिस्र की पुरानी सभ्यता की तरह बिलकुल खत्म होगई।

यूनान पुराने जमाने में सचमुच महान् था और आज भी लोग उसके वैभव, उसकी शान-शौकत का हाल पढ़कर अचरज करते हैं। आज भी हम उसकी संगमर-मर की मूर्तियो की खूबसूरती देखकर चकित हो जाते हैं, और उसके पुरानें साहित्य के उस अंश को, जो बच गया है श्रद्धा और आश्चर्य के साथ पढते हैं। कहा जाता है, और ठीक ही कहा जाता है, कि मौजूदा योरप कई दृष्टि से यूनान का बच्चा है। योरप पर यूनानी विचार और यूनानी तरीकों का गहरा असर पड़ा है; लेकिन वह वैभव और शान जो यूनान की थी, अब कहाँ है? इस पुरानी-सभ्यता को गायब हुए अनेक युग बीत गये। उसकी जगह पर दूसरी तरह के आचार-विचार या तौर-तरीके प्रचलित होगये और यूनान आज योरप के दक्षिण-पूरब में एक छोटा-सा मुल्कभर रह गया है।

मिस्र नोसास, इराक और यूनान ये सब खत्म होगये। इनकी सभ्यता का भी बैबीलन और निनीवे की तरह अस्तित्व मिट गया। ऐसी हालत में इन पुरानी सभ्यताओ की साथी बाकी दो, चीन और हिन्दुस्तान की, सभ्यताओं का क्या हुआ? और देशो या मुल्को की तरह इन दोनो देशो में भी साम्राज्य के बाद साम्राज्य क़ायम होते रहे। यहाँ भी भारी तादाद में हमले हुए, बरबादी और लूटमार हुई। बादशाहो के खानदान सैकडों बरसो तक राज करते रहे और फिर इनकी जगह पर दूसरे आगये। हिन्दुस्तान और चीन में ये सब बाते वैसे ही हुईं, जैसे दूसरे देशो में। लेकिन सिवाय चीन और हिन्दुस्तान के, किसी भी दूसरे देश में सभ्यता का असली सिलसिला कायम नहीं रहा। सारे परिवर्तनो, लड़ाइयो और हमलो के बावजूद इन देशो में पुरानी सभ्यता की धारा अटूट बहती आई है। यह सच है कि ये दोनो अपनी पुरानी हालत से बहुत नीचे गिर गये है और इनकी प्राचीन सभ्यता के ऊपर गर्द व गुबार का ढेर जमा होगया है। कहीं-कही इसे गन्दगी ने ढक लिया है, जो लम्बे अरसे से जमा होती चली आई है। लेकिन यह सभ्यता अभीतक कायम है और आज भी हिन्दुस्तानी जिन्दगी की बुनियाद बनी हुई है। अब दुनिया में नई सभ्यता का दौरदौरा है। भाफ से चलने-वाले जहाज, रेलवे और बडे-बडे कारखानो के बन जाने से दुनिया की सूरत ही बदल गई है। ऐसा हो सकता है, बल्कि यह बहुत सम्भव है, कि वे हिन्दुस्तान की भी काया-पलट करदें, जैसा कि वे कर भी रही है, लेकिन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के, जो इतिहास के उदयकाल से लेकर लम्बे-लम्बे युगो को पार करती हुई वर्त्तमान

युग तक चली आई है, इस विस्तृत विस्तार और सिलसिले का ख़याल तक दिलचस्प और आश्चर्यजनक है। एक अर्थ में हम लोग हिन्दुस्तान के इन हज़ारो बरसो के उत्तराधिकारी है। यह हो सकता है कि हम लोग पुराने जमाने के उन लोगो के ठेठ वंशज हो, जो उत्तर-पश्चिम के पुराने देशो से होकर उस लहलहाते हुए मैदान में आये थे, जो ब्रह्मावर्त, आर्यावर्त, भारतवर्ष और बाद में हिन्दुस्तान कहलाया। क्या तुम्हे अपनी कल्पना में ये लोग पहाड़ी दर्रों से होकर नीचे के अनजान मुल्क में उतरते हुए नहीं दिखाई देते? बहादुरी और साहस की भावना से भरे हुए ये लोग, परिणामों की परवा न करते हुए, आगे बढ़ते चले गये। अगर मौत आई तो उन्होंने उसकी परवा नहीं की। हँसते-हँसते उसे गले लगाया। लेकिन उन्हे जीवन से प्रेम था और वे यह जानते थे कि जिन्दगी का सुख भोगने का एकमात्र तरीका यह है कि आदमी निडर हो जाय। हार और मुसीबतों की फिक्र न करे। क्योंकि हार और मुसीबत में एक बात यह होती है कि वह निडर लोगों के पास नहीं फटकती। अपने उन प्राचीन पूर्वजो का खयाल तो करो, जो आगे बढ़ते-बढ़ते एकदम से शान के साथ समुद्र की ओर बहनेवाली गंगा के किनारे आ पहुँचे। यह दृश्य देखकर उनका हृदय कितना आनन्दित होगया होगा! और इसमें आश्चर्य और ताज्जुब की क्या बात है कि इन लोगो ने इसके सामने आदर से अपना सिर झुका दिया हो और अपनी मीठी और रसीली भाषा में उसकी स्तुति की हो?

और यह सोचकर सचमुच ताज्जुब होता है कि हम इन सब युगों के उत्तराधिकारी है। लेकिन इससे हमें गर्व से फूल न जाना चाहिए। अगर हम युग-युगान्तरों के उत्तराधिकारी है तो उसकी अच्छाई और बुराई दोनो के है, और हिन्दुस्तान को अपनी मौजूदा विरासत में हमें जो कुछ मिला, उसका बहुत-कुछ हिस्सा बुरा है, बहुत-कुछ ऐसा है जिसने हमें दुनिया में दबाये रक्खा और हमारे महान् देश को सख़्त गरीबी के गड्ढे में गिराकर उसे दूसरो के हाथ का खिलौना बना दिया। लेकिन हमने यह निश्चय कर लिया है कि यह हालत अब न रहने देंगे।

: ६ :

यूनानी या हेलन्स

१० जनवरी, १९३१

तुम लोगों में से कोई भी आज हमसे मिलने नहीं आया और 'मुलाक़ात का दिन' कोरा ही रहा। इससे निराशा हुई। मुलाकात टलने की जो वजह बताई गई, वह और भी चिन्ताजनक थी। हमें बताया गया कि दादू की तबीयत अच्छी नहीं है।

बस इतनें से ज्यादा हमें कुछ और पता न चला। खैर, जब मुझे यह मालूम हुआ कि आज मुलाकात न होगी, तो मैं अपना चरखा कातने लगा। मेरा अनुभव है कि चरखा कातने और निवाड़ के बुनने में मजा भी आता है और दिल को तस्कीन और शान्ति मिलती है। इसलिए तुम जब कभी किसी असमंजस में हो, या कोई शक-शुबह हो, तो कातने लगो।

अपने पिछले पत्र में मैंने योरप और एशिया का मुकाबिला किया था और यह देखा था, कि इन दोनो में कितनी बाते एक-दूसरे के खिलाफ़ हैं और कितनी एक-दूसरे से मिलती-जुलती है। आओ, अब हम प्राचीन योरप की उस समय की हालत पर थोडी सी नजर डाले। बहुत दिनो तक भूमध्यसागर के चारो तरफ़ के देश ही योरप समझे जाते थे। हमें उस जमाने के योरप के उत्तरीय देशो का कोई हाल नहीं मिलता। भूमध्यसागर के आस-पास के रहनेवाले लोगो का ख़याल था कि जर्मनी, इंग्लैण्ड और फ्रान्स में वहशी और जंगली जातियाँ रहा करती हैं। यहाँतक कि लोगो का खयाल है कि शुरू जमाने में सभ्यता भूमध्यसागर के पूर्वीय हिस्से तक ही महदूद थी। तुम जानती हो कि मिस्र (जो अफ्रीका में है, योरप में नहीं) और नोसास, ही पहले देश थे, जो आगे बढ़े। धीरे-धीरे आर्य लोग एशिया से पश्चिम की ओर बढ़ने लगे और यूनान तथा आसपास के मुल्को पर हमला किया। यह आर्य वही यूनानी हैं जिन्हे हम प्राचीन यूनानी कहते हैं और जिनकी तारीफ करते हैं। पहली बात तो यह है, और मेरा खयाल है कि ये लोग उन आर्यो से बहुत भिन्न नहीं थे जो शायद इसके पहले हिन्दुस्तान में उतर चुके थे। लेकिन बाद में तब्दीलिया आगई होगी और धीरे-धीरे आर्य-जाति की इन दोनो शाखाओं में दिन-ब-दिन ज्यादा फ़र्क होता गया। भारतीय आर्यो के ऊपर उससे भी पुरानी यानी द्रविड-सभ्यता का और उस सभ्यता के बचे-खुचे हिस्से का बहुत असर पड़ा, जिसके चिन्ह आज हमें मोहेनजेदारो में मिलते हैं। आर्यो और द्रविडो ने एक-दूसरे से बहुत-कुछ लिया और एक-दूसरे को बहुत कुछ दिया भी, और इस तरह इन्होने मिलजुल कर हिन्दुस्तान की एक संयुक्त संस्कृति बनाई।

इसी प्रकार यूनानी आर्यो पर भी नोसास की उस पुरानी सभ्यता का बहुत ज्यादा असर पडा होगा जो कि यूनान की भूमि पर इनके आने के समय खूब जोरो से लहरा रही थी। इनके ऊपर इसका असर जरूर पड़ा, लेकिन इन्होने नोसास को और उसकी सभ्यता के बाहरी रूप को नष्ट कर दिया और उसकी चिता पर अपनी सभ्यता रची। हमें यह हर्गिज न भूलना चाहिए कि यूनानी आर्य और भारतीय आर्य, दोनो उस पुराने जमाने में बड़े जवांमर्द और अनगढ़ योद्धा थे। ये बड़े जीवट

के लोग थे, और जिन नाजुक या अधिक सभ्य लोगों से इनका सामना हुआ उन्हे या तो इन्होने हज़म कर लिया या नष्ट कर डाला।

इसी तरह नोसास ईसा के पैदा होने के क़रीब एक हजार बरस पहले नष्ट हो चुका था, और नये यूनानियों ने यूनान में और आसपास के टापुओं में अपना अधिकार जमा लिया था। ये लोग समुद्र के रास्ते से एशिया माइनर के पश्चिमी किनारे तथा दक्षिण-इटली और सिसली तक और दक्षिण-फ्रांस तक भी जा पहुंचे। फ्रांस में मारसाई या मारसेलीज नाम के शहर को इन्होंने ही बसाया था। लेकिन शायद इनके जाने के पहले ही वहां फ्यूनीशियन लोगो की आबादी थी। तुम्हे याद होगा कि फ्यूनीशियन एशिया माइनर की मशहूर समुद्र-यात्री कौम थी, जो व्यापार की तलाश में दूर-दूर तक धावा मारा करते थे। उस पुराने जमाने में भी ये लोग इंग्लैण्ड तक पहुँच गये थे, जब कि वह बिलकुल वहशी था और जब जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य का जहाजी सफर जरूर खतरनाक रहा होगा।

यूनान के मुख्य प्रदेशों में एथेन्स, स्पारटा, थीब्स और कारिन्थ जैसे मशहूर शहर आबाद हो गये। यूनानियों के या, अगर तुम उन्हे उनके उस वक्त के नाम से पुकारना चाहती हो तो, हेलेन लोगो के, पुराने जमाने का हाल 'ईलियड' और 'ओडेसी' नाम के दो महाकाव्यो में बयान किया गया है। तुम्हे इन दोनों प्रसिद्ध महाकाव्यों का कुछ हाल मालूम ही है। ये दोनो महाकाव्य हमारे देश की रामायण और महाभारत की तरह के ग्रन्थ है। कहते है कि होमर ने, जो अन्धा था, ये काव्य लिखे है। 'ईलियड' में यह किस्सा बयान किया गया है कि किस तरह सुन्दरी हेलन को पेरिस अपने शहर ट्राय में भगा ले गया और किस तरह यूनान के राजाओं और सरदारों ने उसे छुड़ाने के लिए ट्राय के चारो तरफ घेरा डाला। और 'ओडेसी' ट्राय के घेरे से लौटते वक्त औडेसियस या यूलीसस के भ्रमण की कहानी है। एशिया माइनर में, समुद्र-तट से बहुत नज़दीक, ट्राय का यह छोटा शहर बसा था। अब यह नहीं पाया जाता और बहुत जमाने से इसका पता नहीं चलता। लेकिन कवि की प्रतिभा ने इसे अमर कर दिया है।

इधर हेलन्स या यूनानी कौम तेजी के साथ, चन्द रोज के लिए लेकिन शानदार ढंग से, जवान हो रही थी। उधर एक दूसरी ताकत चुपके से पैदा हो रही थी, जो यूनान को जीतकर खुद उसकी जगह कायम-मुक़ाम हो जानेवाली थी। कहा जाता है कि इसी जमाने में रोम की बुनियाद पडी। कईसौ बरसो तक इसने दुनिया के रंगमंच पर कोई महत्व का काम करके नहीं दिखाया। लेकिन ऐसे महान् शहर की स्थापना अवश्य ही उल्लेखनीय है, जो सदियों तक यूरोपीय संसार

पर हावी रहा हो और जिसे 'संसार की स्वामिनी' और 'अमरपुरी' की पदवी मिली हो। रोम की स्थापना के बारे में अजीब-अजीब किस्से कहे जाते हैं। कहते हैं कि 'रेमस' और 'रोमुलस'[१] को, जिन्होंने इस शहर की बुनियाद डाली थी, एक मादा भेड़िया उठा ले गई थी। उसीने उन्हे पाला था। शायद तुम्हे यह किस्सा मालूम है।

जिस ज़माने में रोम की बुनियाद पड़ी, उसी ज़माने में या कुछ अरसे पहले पुरानी दुनिया का एक दूसरा बड़ा शहर भी बसाया गया। इसका नाम कारथेज था और यह अफ्रीका के उत्तरी समुद्र-तट पर बसा था। फ्यूनीशियन लोगों ने इसे बसाया था। यह शहर बढ़ते-बढ़ते जहाजी ताकतवाला एक बहुत ताकतवर शहर बन गया। रोम के साथ इसकी गहरी लाग-डाँट चली और बहुतसी लड़ाइयाँ हुईं। अन्त में रोम ने विजय पाई और कारथेज को बिलकुल मिटा दिया।

आज की कहानी खत्म करने के पहले पैलस्टाइन या फिलस्तीन के ऊपर अगर सरसरी नजर डाल लें तो अच्छा होगा। फिलस्तीन योरप में नहीं है और न इसका कोई ऐतिहासिक महत्व ही इतना ज्यादा है। लेकिन बहुतसे लोग इसके प्राचीन इतिहास में दिलचस्पी रखते है, क्योंकि इसका जिक्र बाइबिल के पुराने अहदनामो में पाया जाता है। इस कहानी का सम्बन्ध यहूदियो की कुछ जातियो से है, जो इस छोटेसे देश में रहती थीं, और इसमें बताया गया है कि यहूदियों को अपने दोनो तरफ बसे हुए शक्तिशाली पडौसियो, बेबीलोनिया, असीरिया और मिस्रवालों से क्या-क्या मुसीबतें झेलनी पड़ी। अगर यह कहानी यहूदी और ईसाई लोगो के मजहब का हिस्सा न बन गई होती,तो शायद ही किसीको इसका पता चलता।

१. रोमुलस—रोम का सस्थापक और पहला सम्राट् था। रोमुलस और रेमस दो जुडवा भाई थे। इन दोनो को उनके नाना एम्यूलियस ने एक डोंगी में रखकर टाइबर नदी मे बहा दिया। डोंगी उस दलदल मे जाकर रुक गई, जहाँ कि बाद को रोम आबाद हुआ। कहा जाता है कि यहाँसे एक मादा भेडिया इनको उठाकर ले गई और इन्हे अपना दूध पिलाया और बाद को फोस्च्यूलस नामक गडरिये की स्त्री ने परवरिश की। बडे होकर ये पेलेस्टाइन के युद्धप्रिय गडरियो के एक गिरोह के सरदार बन गये। कुछ समय बीतने पर इनके बाबा ने इन्हे पहचान लिया, जिसने अन्यायी एम्यूलियस को कत्ल कर अल्बस के तख्त पर इनको वापस बैठा दिया था। इन्होंने अब इस भूमिपर, जहाँकि इनका पालन-पोषण हुआ था, एक शहर बनाने का इरादा किया लेकिन कौन पहले शुरू करे इसपर झगडा हो गया, जिसमे रेमस मारा गया। रोमुलस ने रोम आबाद किया और अपनी शक्ति बढाकर और अपने शत्रुओ को हरा, कर एक छत्र राज्य करने लगा। बाद मे वह एकाएक एक तूफान मे गायब हो गया और अन्त मे एक देवता की तरह से पूजा जाने लगा।

जिस समय नोसास नष्ट किया जा रहा था, पेलस्टाइन के इसराइल प्रदेश पर साल[1] या सालूस नाम के बादशाह का राज्य था। इसके बाद दाऊद[2] और फिर सुलेमान[3] हुआ जो अपनी बुद्धिमत्ता और अक्लमन्दी के लिए बहुत मशहूर है। मैं इन तीन नामो का इसलिए जिक्र कर रहा हूँ कि तुमने इनके बारे में जरूर पढ़ा या सुना होगा।

: ७ :

यूनान के नगर-राज्य

११ जनवरी, १९३१

मैंने अपने पिछले पत्र में यूनानियों या हेलेन्स का कुछ हाल लिखा था। आओ, हम फिर इनपर एक नजर डाले और इस बात के समझने की कोशिश करें कि ये लोग किस तरह के थे। जिन लोगो को या जिन चीजो को हमनें कभी नहीं देखा उनके बारे में सही और सच्चा खयाल बनाना बहुत मुश्किल होता है। हम लोग अपनी आजकल की हालत के, रहन-सहन और रंग-ढंग के, इतने आदी हो गये है कि एक बिलकुल दूसरी किस्म की दुनिया की कल्पना भी हमारे लिए मुश्किल है। लेकिन पुरानी दुनिया, चाहे वह हिन्दुस्तान की हो, चीन की हो, या मिस्र की, आजकल की दुनिया से बिलकुल निराली थी। ज्यादा-से-ज्यादा हम जो कुछ-कर

१. साल—यहूदियो के देश इसराइल का पहला बादशाह था। इसका समय ईसा से करीब १०१० साल पहले है। इसने फिलस्तीन जाति को हराया और अमालेकाइट जाति का दमन किया। लेकिन अन्त मे फिर फिलस्तीनो से हार गया और इसलिए आत्मग्लानि से अपनी ही तलवार पर गिरकर आत्म-हत्या करली।

२ दाऊद—इसे डेविड भी कहते है। यह इसराइल का दूसरा बादशाह था। इसका समय ईसा से १०३० से लगाकर ९९० साल पहले तक है। जब बादशाह साल ने खुदकशी करली और फिलस्तीनो ने राजकुमार को मार डाला, तब यह राजा बनाया गया। कहा जाता है कि बाइबिल के पुराना अहदनामे का बहुत-सा हिस्सा इसीका लिखा है।

३ सुलेमान—इसे सालोमन भी कहते है। इसराइल का यह तीसरा बादशाह था। इसके पास बहुत धन या इसलिए पुराने इतिहास मे इसका राज्य शान-शौकत के लिए मशहूर है। इसके गीत और कवितायें भी प्रसिद्ध है और कहा जाता है कि यह बड़ा बुद्धिमान और इन्साफ-पसन्द बादशाह था।

सकते है वह यही कि उनकी किताबों, इमारतो और बचे हुए निशानो की मदद से अन्दाज़ा लगायें कि उस ज़माने के लोग किस तरह के थे।

यूनान के बारे में एक बात बडी दिलचस्प है। वह यह कि जैसा ऊपरी तौर से देखने से मालूम होता है, यूनानी लोग बडी-बडी सल्तनते या बडे-बडे साम्राज्य पसन्द नही करते थे। उन्हे छोटे-छोटे नगर-राज्य पसन्द थे। इसका मतलब यह हुआ कि उनका हरेक शहर एक स्वतंत्र राज्य हुआ करता था। ये राज्य छोटे-छोटे प्रजातन्त्र होते थे। बीच में शहर होता था और चारों तरफ खेत होते थे, जिनसे शहर के लोगो के लिए खाने की सामग्री पहुँचा करती थी। प्रजातंत्र में, तुम जानती ही हो, कोई राजा नहीं होता। यूनान के ये नगर-राज्य बिना राजा के थे, और धनी नागरिक इनपर राज्य करते थे। साधारण आदमी को राज्य के मामलों में बोलने का कोई हक नही था। बहुत से गुलाम थे, जिन्हे राजकाज में कोई अधिकार नहीं होता था, और औरतो को भी इस प्रकार का कोई हक नही था। इस तरह आबादी के सिर्फ़ एक हिस्से को इन शहरी राज्यो में नागरिकता का हक मिला हुआ था। और यही हिस्सा सार्वजनिक मामलो पर राय दे सकता था। इन नागरिको के लिए वोट देना कोई मुश्किल काम नही था, क्योंकि सब-के-सब एक ही जगह पेर इकट्ठे किये जा सकते थे। यह बात सिर्फ इसलिए मुमकिन थी, क्योकि ये राज्य छोटेसे शहर में ही परिमित होते थे; किसी एक राज्य की मातहती में किसी बडे भारी प्रदेश का इन्तजाम नहीं करना पड़ता था। हिन्दुस्तानभर के, या बंगाल या युक्तप्रान्त जैसे सिर्फ एक प्रान्त के ही वोटरो के एकसाथ एक जगह इकट्ठा होने की ज़रा कल्पना तो करो! ऐसा हो सकना बिलकुल ही नामुमकिन है। बाद को दूसरे देशो को भी इस कठिनाई का सामना करना पड़ा। तब इसको हल करने के लिए प्रतिनिधि सरकार बनाई गई। इसका मतलब यह हुआ कि किसी मामले का फैसला करने के लिए देशभर के सारे वोटरों को इकट्ठा करने के बजाय लोग अपने प्रतिनिधि या नुमाइन्दे चुन देते है, जो इकट्ठे होकर देश से सम्बन्ध रखनेवाले सार्वजनिक मामलो पर विचार करते है और देश के लिए कानून बनाते है। यह समझा जाता है कि साधारण वोटर इस तरह से अपने देश की हुकूमत चलाने में अप्रत्यक्ष रूप से सहायता देता है।

लेकिन यूनान में इस किस्म की कोई बात नही हुई। यूनान ने कभी नगर-राज्य से बडी कोई राजनैतिक संस्था बनाई ही नही। और इस तरह वह इस मुश्किल सवाल को टाल गया। हालाँकि यूनानी लोग, जैसा कि मैं तुम्हे बता चुका हूँ, यूनानभर में, और दक्षिण-इटली, सिसिली और भूमध्यसागर के दूसरे किनारो तक

फैल गये थे। लेकिन इन लोगो ने इन सबका अपनी अधीनता में एक साम्राज्य या सबके लिए एक शासन-तंत्र बनाने की कोशिश कभी नही की। जहाँ कही भी ये गये, वही इन्होने अपना स्वतंत्र नगर-राज्य ही कायम किया।

हिन्दुस्तान में भी, तुम देखोगी कि पुराने जमाने में, यूनान के नगर-राज्यो की तरह छोटे-छोटे प्रजातंत्र और छोटे-छोटे राज्य हुआ करते थे। लेकिन वे बहुत दिनो तक कायम नही रहे और बडे राज्यो में समा गये। इसपर भी, बहुत समय तक, हमारी गाँवो की पंचायतो के हाथो में बहुत बडी ताकत बनी रही। शायद पुराने आर्यों की पहली प्रेरणा यह होती थी, कि जहाँ-जहाँ जायें वही छोटे-छोटे नगर-राज्य बनायें। लेकिन अपने से पुरानी सभ्यता के सम्पर्क ने और भौगोलिक परिस्थिति ने, इन्हे अपने इन विचारो को, उन देशो में, जहाँ जाकर ये बसे, धीरे-धीरे छोड़ने पर मजबूर कर दिया। ईरान में खासतौर से हम देखते है कि बडी-बडी सल्तनतें और साम्राज्य कायम हुए। हिन्दुस्तान में भी बडे-बडे राज्यो की ओर झुकाव रहा है। लेकिन यूनान में नगर-राज्य बहुत दिनो तक कायम रहे, और उस वक्त तक बने रहे, जब तक कि इतिहास में प्रसिद्ध एक यूनानी ने, जिसके बारे में हम जानते है, दुनिया को जीतने की पहली कोशिश नहीं की। इसका नाम था महान् सिकन्दर। इसके बारे में बाद को कुछ कहूँगा।

इस तरह यूनानी लोगो ने अपने छोटे-छोटे नगर-राज्यो को मिलाकर एक बड़ा राज्य या प्रजातंत्र बनाना पसन्द नहीं किया। यही नहीं कि ये लोग एक-दूसरे से अलग या स्वतंत्र रहे हो, बल्कि ये लोग क़रीब-करीब हमेशा एक-दूसरे से लड़ते रहे। इन लोगो में आपस में बडी-बडी लाग-डॉट रहा करती थी, जिसका नतीजा अक्सर यह होता था कि इनमें लड़ाई छिड़ जाया करती थी।

फिर भी इन नगर-राज्यो को आपस में बाँधे रखने के लिए बहुत-सी समान-कड़ियाँ थी। इनकी भाषा एक थी, संस्कृति एक थी और मज़हब एक था। इनके धर्म में अनेक देवी और देवता माने जाते थे और इनकी पौराणिक कथायें हिन्दुओ की पुरानी पौराणिक कथाओ की तरह बडी सुन्दर और प्रचुर थीं। ये लोग सौन्दर्य के पुजारी थे। आज भी इनकी बनाई हुई संगमरमर और पत्थर की कुछ पुरानी मूर्त्तियाँ पाई जाती है, जो बडी सुन्दर है। शरीर को स्वस्थ और सुन्दर बनाये रखने में इनकी बहुत रुचि थी और इसके लिए ये लोग खेल-कूद और दंगलों की व्यवस्था करते रहते थे। यूनान में ओलम्पस पहाड़ पर समय-समय पर इस तरह के खेल बडे पैमाने पर हुआ करते थे और यूनान भर के लोग वहाँ जमा होते थे। तुमने सुना होगा कि औलम्पिक खेल आजकल भी होते

है। यह नाम औलम्पस पहाड़ पर होनेवाले पुराने यूनानी खेलो से लिया हुआ है, और अब उन खेलो के लिए इस्तैमाल किया जाता है जो मुख्तलिफ़ मुल्को के दर्मियान होते है।

इस तरह यूनान के नगर-राज्य एक-दूसरे से अलग रहे। खेलो में या किसी दूसरी जगह यूनानी एक-दूसरे से मिलते थे और अक्सर आपस में लड़ते थे। लेकिन जब बाहर से एक बड़ा खतरा आता दिखाई दिया तो उसका मुक़ाबिला करने के लिए वे सब एक हो गये। यह ख़तरा ईरानियो का हमला था, जिसके बारे में आगे चलकर लिखूँगा।

: ८ :

पश्चिमी एशिया के साम्राज्य

१३ जनवरी, १९३१

कल तुम सब लोगो से मुलाकात हो गई, यह अच्छा हुआ। लेकिन दादू को देखकर मुझे धक्का लगा। वह बहुत कमजोर और बीमार मालूम पड़ते थे। उनकी देखरेख अच्छी तरह करना और उन्हे मजबूत और तन्दुरुस्त बना देना। कल तुमसे तो मै बात ही न कर सका। थोडी देर की मुलाकात में कोई क्या कर सकता है? मुलाकात और बातचीत की इस कमी को मैं इन ख़तो को लिखकर पूरी करने की कोशिश करता हूँ। लेकिन ये खत मुलाकात और बातचीत की बराबरी नही कर सकते और दिल को इस तरह बहलाने से बहुत दिन तक काम नही चल सकता। फिर भी कभी-कभी दिल को फुसलाने का खेल भी अच्छा ही होता है।

अच्छा, तो अब पुराने जमाने के लोगो की चर्चा शुरू की जाय। हाल में हम पुराने यूनानियो का जिक्र कर रहे थे। उस समय दूसरे मुल्को की क्या हालत थी? हमें योरप के दूसरे देशो के लिए परेशान होने की जरूरत नहीं। हमें, कम-से-कम मुझको, इन देशो के बारे में कोई दिलचस्प बात नही मालूम। उस समय उत्तरी योरप की आबोहवा सम्भवतः बदल रही थी, जिसकी वजह से नई परिस्थिति जरूर पैदा होगई होगी। शायद तुम्हे याद हो, मैंने बताया था कि बहुत समय बीता, उत्तरी योरप और उत्तरी एशिया में बहुत सख्त सरदी पड़ती थी। उस जमाने को 'हिम-युग'[1] या बरफ का युग कहते थे, और उस जमाने में बडे-बडे ग्लेशियर यानी

१ हिम-युग—हिम का मतलब वर्फ है, इसलिए इसे वर्फ-युग भी कह सकते हैं। सृष्टि का यह सबसे पुराना युग है, और वर्फ-युग इसलिए कहलाता है कि उस समय दुनिया के बहुतसे हिस्से वर्फ से ढके हुए थे। इस युग के चार काल हुए हैं, और चौथा काल ईसा से पचास हज़ार साल पहले का है।

बर्फीली चट्टानें मध्य-योरप तक फैली हुई थीं। गालिबन उस वक्त वहाँ आदमी नहीं रहते थे, और अगर थे भी तो वे आदमी की बनिस्वत जानवर ही अधिक रहे होंगे। तुम्हें अचरज होगा कि आखिर हम यह कैसे कह सकते हैं कि उस जमाने में वहाँ बरफ की चट्टानें हुआ करती थीं। किताबों में तो उनका कोई ज़िक्र हो नहीं सकता, क्योंकि उस जमाने में न तो किताबें थीं और न किताबों के लिखने वाले। लेकिन मैं उम्मीद करता हूँ कि तुम यह न भूली होगी कि प्रकृति की भी अपनी एक किताब होती है। वह अपना इतिहास अपने तरीके से पत्थरों और टीलों में लिखा करती है। जो चाहे, इसे वहाँ पढ़ सकता है। इसे एक तरह की आत्म-कथा यानी अपनी कहानी कहना चाहिए। ग्लेशियरों में एक ख़ास बात यह होती है कि वे अपनी हस्ती के ख़ास निशान छोड़ जाते हैं। अगर एक दफ़ा तुम इन निशानों को पहचान लो, तो फिर इनके पहचानने में तुमसे कभी भी गलती नहीं हो सकती। अगर तुम इन निशानों का अध्ययन करना चाहती हो, तो सिर्फ इतना जरूरी है कि तुम आजकल के किसी ग्लेशियर को देख आओ, जो हिमालय में, आल्प्स पर और दूसरी जगहों पर भी पाये जाते हैं। आल्प्स पर तुमने "माऊन्ट ब्लैंक" के आसपास बहुत से ग्लेशियर देखे होंगे। लेकिन उस समय तुम्हें शायद किसीने इनके खास निशान नहीं पहचनवाये। कश्मीर में और हिमालय के दूसरे हिस्सों में भी अनेक अच्छे-अच्छे ग्लेशियर पाये जाते हैं। हम लोगों के लिए सबसे नजदीक पिंडारी ग्लेशियर है, जो अल्मोड़े से हफ्ते भर की मंजिल पर है। छुटपन में, जितनी उम्र तुम्हारी आज कल है इससे भी कम उम्र में, मैं इस ग्लेशियर को एक दफा देखने गया था और आज भी मुझे उसकी अच्छी तरह से याद बनी है।

इतिहास और भूतकाल को छोड़कर मैं ग्लेशियर और पिन्डारी में बह गया। मन के लड्डू खाने का यही नतीजा होता है। मैं यह चाहता हूँ कि अगर होसके तो तुमसे इस ढंग से बात करूँ, मानो तुम यहीं हो। और जब मैं इस ढंग से बातचीत करूँगा तो कभी ग्लेशियर की, और कभी इसी क़िस्म की दूसरी चीज़ों की चर्चा बीच में आ ही जायगी।

मैंने ग्लेशियर के सम्बन्ध में इतनी चर्चा इसलिए करदी कि बीच में 'हिम-युग' अर्थात् 'बरफीले युग' का जिक्र आगया था। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि मध्य योरप और इंग्लैण्ड तक ग्लेशियर आगये थे, क्योंकि इन देशों में अभी तक इनके ख़ास निशान पाये जाते हैं। पुराने टीलों में ये निशान हमें आज भी दिखाई देते हैं और इस बिना पर हम कहते हैं कि उस वक्त मध्य और ऊपरी योरप में

बहुत सरदी रही होगी। बाद को कुछ गरमी बढ़ी और ग्लेशियर धीरे-धीरे कम पड गये। धरातल के इतिहास का अध्ययन करनेवाले अर्थात् भूगर्भ-शास्त्री हमे बताते है कि सरदी की इस लहर के बाद गरमी की लहर आई और तब योरप आज से भी ज्यादा गरम हो गया था। इस गरमी की वजह से योरप में घने जंगल उग आये। आर्य लोग घूमते-घूमते मध्य योरप भी जा पहुँचे। उस वक्त उन्होने कोई खास उल्लेखनीय काम नही किया। इसलिए हम थोडी देर के लिए उन्हे भुला सकते है। यूनान और भूमध्यसागर के सभ्य लोग उत्तर और मध्य योरप के इन लोगो को बर्बर यानी वहशी और जंगली ही समझते रहे। लेकिन ये बर्बर लोग अपने गाँवो में और जंगलो में स्वस्थ और योद्धाओ की जिन्दगी गुजारते थे, और अनजान मे अपने को उस दिन के लिए तैयार कर रहे थे, जब इन्हे दक्षिण की अधिक सभ्य जातियो पर टूट पडना था और उनकी गवर्नमेन्ट को ढहा देना था। लेकिन यह बात इसके बहुत अरसे बाद हुई और हमें उसका जिक्र वक्त से पहले न करना चाहिए।

अगर हमें उत्तरी-योरप के बारे में ज्यादा नही मालूम है, तो विशाल महाद्वीपो और विस्तृत भू-भागो या जमीन के लम्बे-चौडे प्रदेशो के बारे में तो हम बिलकुल ही नही जानते। कहते है कि कोलम्बस ने अमरीका का पता लगाया, लेकिन इसका यह मतलब नही, जैसा अब हमें पता लगता जा रहा है, कि कोलम्बस के पहले इस देश में सभ्य लोग थे ही नही। कुछ भी हो, जिस ज़माने की इस समय हम बात कर रहे हैं, उस समय के अमरीका के महाद्वीप के बारे में हम कुछ नही जानते, और न अफ्रीका के बारे में ही। हाँ, मिस्र का और भूमध्यसागर के किनारो का भी इसमें अपवाद करना होगा। इस जमाने में शायद मिस्र की प्राचीन और महान् सभ्यता पतन की तरफ झुक रही थी। लेकिन, फिर भी यह उस ज़माने का बहुत आगे बढ़ा हुआ मुल्क था।

अब हमें यह देखना है कि एशिया में क्या हो रहा था। इस महाद्वीप में, जैसा कि तुम जानती होगी, प्राचीन सभ्यता के तीन केन्द्र थे, मेसोपोटामिया, हिन्दुस्तान और चीन।

मेसोपोटामिया, ईरान और एशिया माइनर[1] में, उन प्राचीन युगो में, भी एक

१ एशिया माइनर—एशिया महाद्वीप के अखीर पश्चिम पर तुर्क साम्राज्य का एक प्रायद्वीप, जिसके उत्तर मे कालासागर, पश्चिम मे ईजियन समुद्र और दक्षिण मे भूमध्यसागर है। उत्तर-पश्चिम की अन्तिम सीमा पर बॉस्फरस और दर्रेदानियाल के मुहाने इसे योरप से जुदा करते हैं।

साम्राज्य के बाद दूसरा साम्राज्य बनता और बिगड़ता रहा। पहले असीरियन साम्राज्य हुआ, फिर मीडियन[1], फिर बैबीलोनियन और बाद को ईरानी। हमें इस बात की तफसील में जाने की जरूरत नही कि यह साम्राज्य आपस में कैसे लडे या कुछ दिनों के लिये वह शान्तिपूर्वक साथ-साथ कैसे रहे, या एक दूसरे का इन्होने नाश कैसे किया। पश्चिमी एशिया के साम्राज्यो और यूनान के नगर-राज्यो का अन्तर तुमने देखा होगा। इन लोगो में बहुत शुरू के जमाने से ही बडी-सल्तनत या साम्राज्य के लिए जबर्दस्त ख्वाहिश पाई जाती थी। शायद इसकी वजह यह थी कि इनकी सभ्यता ज्यादा पुरानी थी, या शायद दूसरी वजह भी हो सकती है।

एक नाम में तुम्हे जरूर दिलचस्पी होगी; वह क़ारूँ या क्रीसस का नाम है। तुमने यह नाम सुना होगा। अंग्रेजी में मशहूर कहावत है—'इतना अमीर होना जैसे कि कारूँ।' तुमने इस कारूँ के किस्से भी सुने होगे कि यह कितना अभिमानी था और आखिरकार किस तरह जलील किया गया। कारूँ लिडिया देश का राजा था, जोकि एशिया के पश्चिमी तट पर था, जहाँ आज एशिया माइनर है। सम्भवतः समुद्र के किनारे होने की वजह से यहाँ व्यापार खूब बढ़ा हुआ था। कहते हैं, कारूँ बहुत अमीर था। उसके ज़माने में साइरस[2] की मातहती में ईरानी साम्राज्य तरक्की कर रहा था और ताकतवर होता जाता था। साइरस और कारूँ में मुठभेड़ होगई और साइरस ने कारूँ को हरा दिया। यूनानी इतिहास-लेखक हेरोडोटस[3] ने इस पराजय की कहानी लिखी है और बताया है कि किस तरह मुसीबत पड़ने और हार होने पर अभिमानी कारूँ को अक्ल और समझ आई।

साइरस के पास बहुत बड़ा साम्राज्य था जो गालिबन पूर्व में हिन्दुस्तान तक

१ मीडियन—ईसा के ७०० बरस पहले का एशिया का एक पुराना साम्राज्य जो कैस्पियन सागर के दक्षिण और ईरान के उत्तर था। ई० पू० ३३१ मे सिकन्दर ने इसे अपने साम्राज्य मे मिला लिया। बाद मे यूनानी लोगो के पतन के अनन्तर ईरानी साम्राज्य मे मिला लिया गया और उसके बाद छिन्न-भिन्न हो गया।

२ साइरस—यह ईरानी साम्राज्य का प्रवर्त्तक सम्राट था। इसका समय ईसा से ६०० से लगाकर करीब ५२९ साल पहले तक है। यह बडा प्रतापी सम्राट था, इसीलिए इसे 'महान्' की उपाधि मिली थी।

३ हेरोडोटस—मशहूर यूनानी इतिहास-लेखक। इसका समय ईसा से करीब ४८४ से ४२४ साल पहले था। इसके इतिहास का मुख्य विषय ईरान और यूनान की लड़ाई थी, और उसमे उस जमाने का अच्छा वर्णन है। इसे इतिहास का जन्मदाता अथवा पिता कहा जाता है।

फैला हुआ था। लेकिन इससे भी बड़ा साम्राज्य उसके एक उत्तराधिकारी डैरियस (दारा) के पास था जिसमें मिस्र, मध्य-एशिया का कुछ भाग और सिन्ध नदी के पास का हिन्दुस्तान का भी छोटा-सा हिस्सा शामिल था। कहा जाता है कि इस हिन्दुस्तानी प्रान्त से बहुत भारी तादाद में सोने के रवे उसके पास ख़िराज़ की तौर पर भेजे जाते थे। उस ज़माने में सिन्ध नदी के आसपास सोने के रवे मिलते रहे होंगे। अब तो वहाँ यह चीज़ ज़रा भी नही पाई जाती। सच तो यह है कि यह प्रान्त इस वक़्त ज्यादातर उजड़ा हुआ है। इससे ज़ाहिर होता है कि इसकी आबो-हवा में ज़रूर फर्क आया है।

जब तुम इतिहास पढ़ोगी और पुराने ज़माने की हालत का आजकल की हालत से मुक़ाबिला करोगी, तो एक बात जो तुम्हे सबसे ज्यादा दिलचस्प मालूम होगी वह है मध्य-एशिया में होनेवाले परिवर्त्तन। यह वही प्रदेश है जहाँसे बेशुमार जातियाँ—स्त्री और पुरुषो के झुंड-के-झुंड बाहर निकले और दूर-दूर महा-द्वीपो में जाकर बस गये। यही जगह है जहाँ पुराने ज़माने में बडे-बडे शक्तिशाली शहर थे—खूब आबाद, घने बसे हुए और मालामाल, जिनकी तुलना आजकल की यूरोपीय राजधानियो से की जा सकती है और जो आजकल के कलकत्ते और बम्बई से कही बडे थे। इन शहरो में हर जगह हरियाली थी, बगीचे थे, और आबोहवा सदा आनन्दजनक और सम अर्थात् न बहुत गर्म न बहुत सर्द होती थी। ये सब बाते यहाँ थी। लेकिन अब हज़ारो बरसो से वही मुल्क वीरान, रेगिस्तान की तरह बिलकुल उजाड़ और सुनसान होगया है। उस ज़माने के विशाल नगरो में से कुछ नगर—जैसे समरकन्द[१] और बुख़ारा—अब भी अपने दिन गिन रहे है, जिनके नाम लेने से ही हज़ारो स्मृतियाँ जग उठती है। लेकिन अब तो ये शहर अपने पुराने रूप की छाया-मात्र रह गये है।

लेकिन मै फिर आगे की बात कहने लगा। उस पुराने ज़माने में, जिसकी चरचा हम कर रहे है, न समरकन्द था और न बुख़ारा। ये सब बाद मे होनेवाली बाते थीं। भविष्य ने अपने परदे के पीछे इन्हे छिपा रक्खा था और मध्य-एशिया की महानता और उसका पतन भी भविष्य में होनेवाली चीज़ थी।

१ समरकन्द—मध्यएशिया का एक मशहूर शहर है। इसका पुराना नाम माराकण्डा है। चौदहवी सदी में यह मुस्लिम-एशिया का सास्कृतिक केन्द्र था।

: ९ :

पुरानी परम्परा का बोझ

१४ जनवरी, १९३१

जेल में मैंने अजीब-अजीब आदतें पैदा करली हैं। उनमें से एक है बहुत सुबह, पौ फटने से भी पहले, उठना। यह आदत मैंने पिछली गरमियों से शुरू की। मुझे यह देखना भला मालूम होता था कि सवेरा कैसे होता है और सितारे कैसे धीरे-धीरे गायब हो जाते हैं। क्या तुमने कभी तड़के के पहले की चाँदनी देखी है और यह देखा है कि धीरे-धीरे यह तड़का दिन में कैसे बदल जाता है। मैंने चाँदनी और सुबह के इस संग्राम को अक्सर देखा है, जिसमें सुबह की हमेशा जीत रहती है। इस विचित्र मन्द-रोशनी में कभी-कभी यह बताना मुश्किल होजाता है कि यह चाँदनी है या आनेवाले दिन की रोशनी है। थोडी ही देर के बाद कोई सन्देह बाकी नही रह जाता; दिन हो जाता है और पीला चन्द्रमा लड़ाई में हारकर पीछे हट जाता है।

अपनी आदत के मुताबिक़ मैं आज जब उठा तो तारे चमक रहे थे और उस अजीब कैफियत को देखकर जो, तड़के के पहले हवा में रहती है, कोई भी अन्दाजा लगा सकता था कि सुबह होनेवाली है। और ज्योंही मै पढ़ने बैठा कि दूर से आनेवाली आवाजों ने, जो बढ़ती ही जाती थीं, प्रातःकाल की शान्ति को भंग कर दिया। मुझे याद आगया कि आज संक्रान्ति यानी माघ मेले का पहला दिन है, और यात्री लोग हजारो की तादाद में संगम में—जहाँ गंगा जमना और अदृश्य सरस्वती मिलती हैं—अपनी सुबह की डुबकी लगाने जा रहे हैं। ये चलते-चलते कभी गाते थे, और कभी गंगा-माता की जय पुकारते थे। 'गंगा माई की जय!' इनकी यह आवाज नैनी-जेल की दीवारो के ऊपर होकर मेरे पास तक पहुँचती थी। इनकी इस जय-ध्वनि को सुनते-सुनते मुझे यह खयाल आगया कि देखो श्रद्धा और भक्ति में कितनी ताकत है, जिसनें इन बेशुमार लोगो को नदी के किनारे खीच बुलाया है और जिसकी वजह से ये लोग थोडी देर के लिए अपनी गरीबी और मुसीबतों को भूल गये है! और मैं यह सोचने लगा कि देखो कितने सौ और हजार बरसों से हरसाल यात्री लोग त्रिवेणी के किनारे आते है। आदमी पैदा हों और मर जायँ, गवर्नमेण्ट और साम्राज्य कुछ दिनों के लिए शान जमालें और फिर अतीत में गायब हो जायँ, लेकिन पुरानी परम्परा बराबर जारी रहती है और एक पुश्त

के बाद दूसरी पुश्त, उसके सामने सिर झुकाती रहती है। परम्परा में बहुत भलाई छिपी होती है; लेकिन बाज वक्त वही परम्परा भयंकर बोझ बन जाती है, जिसकी वजह से हम लोगो का हिलना-डुलना मुश्किल हो जाता है। जो क्रमबद्ध शृंखला धुंधले और अति प्राचीन भविष्य से हमारा सम्बन्ध जोड़ती है, उसका विचार करना और तेरहसौ बरस पहले के लिखे हुए इन मेलों के, जो उस समय भी पुराने जमाने से चले आ रहे थे, वृत्तान्त पढ़ना बड़ा रोचक मालूम होता है। लेकिन इन शृंखलाओं में एक बात यह भी है कि जब हम आगे बढ़ना चाहते हैं तो ये हमारे पैरो में लिपट जाती है और हमें परम्परा के शिकंजे में कसकर बिलकुल कैदी बना देती है। यह सच है कि हमें अपने अतीत की बहुतसी लड़ियों को कायम रखना पड़ेगा। लेकिन जब ये परम्परायें हमें आगे बढ़ने से रोकने लगें तो हमें उनके कैदखाने को तोड़कर बाहर भी निकलना होगा।

पिछले तीन खतो में हम इस कोशिश में थे कि तीन हजार और ढाई हजार बरस के बीच की दुनिया किस तरह की थी, इसकी एक तस्वीर हमारे सामने खिंच जाय। मैंने तारीखो का जिक्र नहीं किया है। मुझे यह पसन्द नहीं है और न मैं यह चाहता हूँ कि तुम तारीखो के लिए परेशान हो। अलावा इसके इस पुराने जमाने की घटनाओ की सही तारीख जानना आसान भी नहीं है। बाद को कभी-कभी यह जरूरी हो सकता है कि कुछ तारीखें भी देदी जायँ और उन्हे याद रक्खा जाय, ताकि हमें घटनाओ को सिलसिलेवार याद रखने में मदद मिल सके। अभी तो हम प्राचीन संसार की रूप-रेखा ही खीचने की कोशिश कर रहे हैं।

यूनान, भूमध्यसागर, मिस्र, एशिया माइनर और ईरान की एक झलक हम देख चुके हैं। अब हम अपने देश की तरफ आते हैं। हिन्दुस्तान का प्रारम्भिक इतिहास पढने में हमारे सामने एक बडी कठिनाई आजाती है। आदि-आर्य लोगो ने, जिन्हे अंग्रेजी में इण्डो-एरियन कहते हैं, इतिहास लिखने की तरफ ध्यान ही नही दिया। हम अपने पहले खतो में देख चुके हैं कि ये लोग बहुत-सी बातो में कितने बढ़े-चढ़े थे। इन लोगो ने जो ग्रन्थ बनाये—जैसे वेद, उपनिषद्, रामायण और महाभारत—वे ऐसे है जिन्हे महान पुरुषो के सिवा साधारण आदमी लिख ही नही सकते। इन ग्रन्थो से तथा दूसरी सामग्रियों की मदद से हमें पुराने इतिहास का अध्ययन करने में मदद मिल सकती है। इनसे हमें अपने पूर्वजो के आचार-विचार, रस्म-रिवाज, रहन-सहन और विचार करने की शैली का पता लग जाता है। लेकिन ये ग्रन्थ दरअसल इति-

हास नहीं है। संस्कृत में वास्तविक इतिहास की किताब कश्मीर के इतिहास पर है, लेकिन वह बहुत वाद के जमाने की है। उसका नाम है राजतरंगिणी। उसमें कश्मीर के राजाओं का हाल है और कल्हण ने उसे लिखा था। तुम्हे यह जानकर खुशी होगी कि जिस प्रकार मैं तुम्हारे लिए ये पत्र लिख रहा हूँ, तुम्हारे रंजीत फूफा[1] कश्मीर के इस वडे इतिहास का संस्कृत से अंग्रेजी में अनुवाद कर रहे हैं। करीब आधी किताव खतम कर चुके हैं। यह किताव वहुत वडी है। जव पूरा अनुवाद तैयार हो जायगा और यह किताव छप जायगी तव हम सव बहुत चाव के साथ इसे पढ़ेंगे, क्योंकि वदकिस्मती से हममें से वहुतसे लोग इतनी संस्कृत नहीं जानते कि राजतरंगिणी को मूल में पढ़ सकें। हम इस पुस्तक को सिर्फ इसलिए नहीं पढ़ेंगे कि यह वहुत अच्छी किताव है, वल्कि इसलिए भी कि इससे हमें पुराने जमाने का वहुत-कुछ हाल मालूम होगा—खासकर कश्मीर का, जो जैसा तुम्हे मालूम है, हम लोगों का पुराना वतन है।

जव आर्य लोग हिन्दुस्तान में आये, हिन्दुस्तान सभ्य हो चुका था। उत्तर-पश्चिम में मोहेनजोदारो के भग्नावशेषों को देखकर अव तो यह निश्चय-पूर्वक मालूम पड़ता है कि आर्यों के आने के बहुत दिन पहले से इस देश में एक महान् सभ्यता मौजूद थी। लेकिन उसकी वात अभीतक हमें वहुत ज्यादा मालूम नहीं हो सकी है। सम्भवतः कुछ वरसों के अन्दर ही जव हमारे पुरातत्ववेत्ता वहाँ और जो कुछ मिल सकता है उसे खोद निकालेंगे, तव, हमें उसका कुछ अधिक ज्ञान हो जायगा।

लेकिन इसके अलावा भी यह स्पष्ट है कि उस समय दक्षिण-हिन्दुस्तान में, और शायद उत्तरी हिन्दुस्तान में भी, द्रविडो की सभ्यता खूब उन्नत थी। इनकी भाषायें, जो आर्यों की संस्कृत से पैदा नहीं हुई हैं, वहुत पुरानी हैं और इनमें वड़ा सुन्दर साहित्य पाया जाता है। इन भाषाओं के नाम हैं तमिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम। ये भाषायें अभीतक दक्षिण-भारत में अंग्रेज सरकार के वनाये हुए मद्रास और वम्बई के प्रान्तो में वोली जाती हैं। शायद तुम्हे मालूम होगा कि हमारी राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) ने ज्यादा अकलमन्दी की है और हिन्दुस्तान के प्रान्त भाषाओं के आधार पर बनाये है। यही ढंग ठीक है; क्योंकि इससे एक किस्म के लोग जो एक ही भाषा बोलते है, और जिनके रस्म-रिवाज आम तौर से एक ही प्रकार के हैं, एक प्रान्तीय क्षेत्र में आजाते हैं। दक्षिण में कांग्रेस के वनाये हुए सूबे ये हैं—उत्तरी मद्रास में आन्ध्र देश जहाँ तेलगू वोली जाती है; दक्षिणी-मद्रास में तमिलनाड़ जहाँ तमिल

१. श्री रणजीत एस. पण्डित

भाषा बोली जाती है; बम्बई के दक्षिण में कर्नाटक, जहाँ कन्नड़ भाषा बोली जाती है; और केरल, जो करीब-करीब मलाबार है, जहाँ मलयालम भाषा बोली जाती है। इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दुस्तान में आगे चलकर प्रान्तो की जो सीमा क़ायम की जायगी, उसमें प्रदेश की भाषा पर बहुत ध्यान दिया जायगा।

यहाँपर मैं हिन्दुस्तान की भाषाओ के बारे में जरा कुछ और कहदूँ। योरप के और दूसरे स्थानो के कुछ लोग समझते है कि हिन्दुस्तान में सैकडो भाषायें बोली जाती है। यह बिलकुल गलत खयाल है। जो लोग ऐसा कहते है वे महज अपना अज्ञान जाहिर करते है। यह सच है कि हिन्दुस्तान जैसे बडे मुल्क में बहुतसी बोलियो अर्थात् एक ही भाषा में बहुतसे स्थानिक और मुल्की भेदों का होना जरूरी है। यहाँके पहाडी और दूसरे हिस्सों में भी कई छोटी-मोटी जातियाँ है जिनकी अपनी-अपनी खास जबाने है। लेकिन जब तुम सारे हिन्दुस्तान की बात कर रही हो तो इन सब बातो का महत्व नहीं रह जाता। मर्दुमशुमारी के खयाल से ही यह बात महत्वपूर्ण हो सकती है। जैसा कि मेरा खयाल है, मैंने अपने पहले पत्रो में लिखा है कि हिन्दुस्तान की असली भाषायें दो श्रेणियों में बाँटी जा सकती है—एक द्रविड जिसका ऊपर जिक्र आ चुका है, और दूसरी आर्य यानी भारतीय आर्य-जाति की खास भाषा संस्कृत। हिन्दुस्तान में जितनी आर्य भाषायें पाई जाती है—जैसे हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी आदि—वे सब संस्कृत से निकली है। कछ और भी भेद है। आसाम में आसामी है, उडीसा या उत्कल में उड़िया बोली जाती है। उर्दू हिन्दी का रूपान्तर है। हिन्दुस्तानी शब्द का मतलब हिन्दी और उर्दू दोनों से है। इस तरह हिन्दुस्तान की खास-खास भाषायें दस है—हिन्दुस्तानी, बंगला, गुजराती, मराठी, तमिल तेलगू, कन्नड़, मलयालम, उड़िया और आसामी। इनमें से हिन्दुस्तानी जो हमारी मातृ-भाषा है, सारे उत्तर-भारत में—पंजाब, युक्तप्रान्त, बिहार, मध्यप्रान्त, राजपूताना, दिल्ली और मध्यभारत में—बोली जाती है। यह बहुत बड़ा हिस्सा है, जिसमें १३ करोड़ आदमी बसते है। इस प्रकार तुम देखोगी कि अभी भी १३ करोड़ आदमी कुछ छोटे-मोटे परिवर्त्तन के साथ हिन्दुस्तानी बोलते है। और तुम यह जानती ही हो कि हिन्दुस्तान के ज्यादातर हिस्सों के लोग हिन्दुस्तानी समझते है। इसीके हिन्दुस्तान की राष्ट्र-भाषा होने की सम्भावना है। लेकिन इसका यह मतलब हर्गिज नहीं है कि दूसरी खास-खास भाषाओ को, जिनका मैंने ऊपर जिक्र किया है, गायब होजाना चाहिए। निस्सन्देह ये भाषायें प्रान्तीय भाषा की हैसियत से कायम रहेगी। क्योकि इनमें सुन्दर साहित्य पाया जाता है और किसी जाति से उसकी तरक्की पर पहुँची हुई भाषा को छीन लेने की कोशिश किसी भी हालत में नहीं की जानी चाहिए। किसी

कौम के विकास और उसके बच्चो की शिक्षा का एकमात्र साधन उसकी अपनी भाषा ही है। हिन्दुस्तान में आज हरेक चीज गड़बडी की हालत में है और हम आपस में भी अग्रेजी का ही बहुत ज्यादा इस्तैमाल करते है। मेरा तुम्हे अंग्रेजी में खत लिखना भी एक हँसी की बात है—फिर भी मै वही कर रहा हूँ। लेकिन मुझे उम्मीद है कि हम लोग जल्दी ही इस आदत से छुटकारा पाजायँगे।

: १० :

प्राचीन भारत के ग्राम-प्रजातंत्र

१५ जनवरी, १९३१

प्राचीन इतिहास का अपना निरीक्षण हम कैसे आगे बढ़ावे? मै हमेशा राजमार्ग छोड़ देता हूँ और इधर-उधर की पगडंडियों पर भटक जाता हूँ। पिछले खत में मै अपने विषय तक पहुँच ही रहा था कि मैने हिन्दुस्तान की भाषाओ का मसला छेड़ दिया।

अच्छा, प्राचीन भारत पर अब हम फिर आजायँ। तुम जानती हो कि जो देश आज अफगानिस्तान कहलाता है वह उस समय, और बाद में भी, बहुत दिनों तक हिन्दुस्तान का एक हिस्सा था। हिन्दुस्तान का यह उत्तर-पश्चिमी हिस्सा गान्धार कहलाता था। सारे उत्तर में, सिन्ध और गंगा के मैदानो में, आर्यो की बडी-बडी बस्तियाँ थीं। बाहर से आये हुए ये आर्य लोग गृह-निर्माण-कला—इमारत बनाने के हुनर—को सम्भवतः अच्छी तरह जानते थे। क्योकि इनमें से बहुतसे इरान और ईराक की आर्यो की बस्तियो से आये हुए होगे, जहाँ उस समय भी बडे-बडे शहर बस गये थे। इन आर्य-बस्तियो के दर्मियान बहुतसे जंगल थे। खासकर उत्तरी और दक्षिणी भारत के बीच में तो एक बहुत बड़ा जंगल था। यह सम्भव नहीं मालूम होता कि आर्य लोगों की कोई बडी तादाद इन जंगलों को पार करके दक्षिण में बसने गई हो। हाँ, बहुतसे लोग खोज और व्यापार करने तथा आर्य-सभ्यता और संस्कृति को फैलाने के लिए दक्षिण जरूर गये होगे। पौराणिक कथा यह है कि अगस्त्य ऋषि पहले आर्य थे जो दक्षिण गये और आर्य-धर्म तथा आर्य-संस्कृति का सन्देश दक्षिण तक ले गये।

उस समय हिन्दुस्तान और विदेशो के बीच काफ़ी व्यापार पाया जाता था। विदेशी व्यापारी दक्षिण की मिर्च, मोतियों और सोने के लालच से समुद्र पार करके यहाँ आते थे। चावल भी बाहर जाता था। बेबीलोनिया के पुराने राजमहलों में मलाबार की सागवान की लकडी पाई गई है।

आर्यो ने हिन्दुस्तान में धीरे-धीरे अपनी ग्रामीण प्रणाली की उन्नति की। इस

प्रणाली में कुछ पुरानी द्रविड़-ग्राम-प्रथा का और कुछ आर्य विचारों का मेल-जोल पाया जाता था।

ये गाँव क़रीब-क़रीब आज़ाद होते थे और चुनी हुई पंचायत इनपर शासन करती थी। कई गाँवो या छोटे क़स्बो को मिलाकर उनपर एक राजा या सरदार राज करता था, जो कभी तो चुना हुआ होता था और कभी पुश्तैनी। अक्सर गाँवों के अनेक गिरोह एक-दूसरे से सहयोग करके सड़कें, धर्मशालायें, सिंचाई के लिए नहरे या इस प्रकार की पंचायती चीजें, जिनसे सार्वजनिक फ़ायदा हो सकता था, बनाया करते थे। यह भी मालूम होता है कि राजा यद्यपि राज्य का प्रमुख होता था लेकिन वह मनमानी नही कर सकता था। उसे आर्यो के क़ानून और प्रथा यानी रस्म-रिवाज के मुताबिक चलना पडता था। उसकी रिआया उसपर जुरमाना कर सकती थी और उसे गद्दी तक से उतार सकती थी। 'राजा ही राष्ट्र है' यह सिद्धान्त, जिसका मैंने पहले पत्रो में जिक्र किया है, यहाँ नही माना जाता था। इस तरह आर्य बस्तियो में एक किस्म का लोकतंत्र पाया जाता था, यानी आर्य-प्रजा शासन पर कुछ हद तक नियन्त्रण रखती थी।

इन भारतीय आर्यो का यूनानी आर्यो से जरा मुकाबिला करो। इन दोनो में बहुतसे अन्तर मिलेंगे। लेकिन कितनी ही बातो में समानता भी बहुत पाई जाती है। दोनो देशों में किसी-न-किसी रूप में लोकतंत्र पाया जाता है। लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि यह लोकतंत्र सिर्फ़ आर्य-वश के लोगो के ही हाथो मे था। इनके दासों या उन लोगो के लिए जिन्हें इन्होने नीच जाति का ठहरा दिया था न लोकतंत्र था, न आजादी। जाति-पाँति की प्रणाली और उसके आजकल जैसे बेशुमार भेद उस जमाने में नही थे। उस समय तो भारतीय आर्यों में समाज के चार भेद या वर्ण माने जाते थे। ब्राह्मण, जो विद्वान्, पढ़े-लिखे, पुरोहित और ऋषि-मुनि होते थे; क्षत्रिय जो राज्य करते थे; वैश्य, जो व्यापार करते थे; ओर शूद्र, जो मेहनत-मजदूरी करते थे और श्रमजीवी थे। इस तरह यह जाति-भेद पेशे के आधार पर था। सम्भव है, जाति-पाँति की प्रणाली एक हद तक इसलिए रक्खी गई हो कि आर्य लोग हारी हुई कौम से अपनेको अलग रखना चाहते हो। आर्य लोग काफी अभिमानी और घमण्डी थे और दूसरो को वे नीची निगाह से देखते थे। वे नही चाहते थे कि उनकी जाति के आदमी दूसरी जाति से मिल-जुल जायें। जाति के लिए संस्कृत में वर्ण शब्द आता है, जिसका अर्थ रंग है। इससे यह भी जाहिर होता है कि बाहर से आनेवाले आर्यो का रंग हिन्दुस्तान के असली बाशिन्दो से कुछ उजला यानी गोरा था।

इस प्रकार हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि एक तरफ तो आर्य लोगो ने मेहनत-मजदूरी करनेवाली श्रेणी को दबा रक्खा था और उसे अपने लोकतंत्र में कोई हिस्सा नही दिया था; दूसरी तरफ आर्यो ने अपने लिए बहुत ज्यादा आजादी रक्खी थी। ये लोग इस बात को बिलकुल गवारा नहीं करते थे कि उनके राजे-महाराजे बेजा हरकते करे। अगर कोई शासक बेजा हरकत करता था तो हटा दिया जाता था। आम तौर पर राजा क्षत्रिय होते थे, लेकिन कभी-कभी लडाई के जमाने में या संकट के समय शूद्र या नीच-से-नीच जाति का आदमी भी, अगर उसमें इतनी योग्यता होती, तो राजगद्दी पा सकता था। इसके बाद आर्य लोगो का पतन हो गया और उनकी जाति-प्रणाली कठोर और पेचीदा हो गई। आपस में बहुतसे विभाग हो जाने की वजह से मुल्क कमजोर पड गया और नीचे गिर गया। ये लोग आजादी का अपना पुराना सिद्धान्त भी भूल गये, क्योकि पुराने जमाने में यह कहा जाता था कि आर्य कभी भी दास नहीं बनाया जा सकता। आर्य नाम को कलंकित करने की बजाय आर्य के लिए मर जाना कहीं ज्यादा अच्छा समझा जाता था।

आर्यों की बस्तियाँ, उनके कस्बे और गाँव बेतुके ढंग से नहीं बसाये जाते थे। वे नक्शो के मुताबिक या तरतीब से बसाये जाते थे, और तुम्हे यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि इन नक्शो के तैयार करने में रेखागणित से बहुत मदद ली जाती थी। सच तो यह है कि वैदिक पूजाओ में रेखागणित की शक्ले भी काम में आती थीं। आज भी कई हिन्दू घरो में बहुतसी पूजाओं में ये शक्ले बनती हैं, और तुम जानती हो कि मकान और शहरो के बनाने की कला से रेखागणित का बहुत ज्यादा सम्बन्ध है।

गालिबन शुरू में पुराने आर्यो के गाँव एक किसान के किलाबन्दी किये हुए कैम्प या सुरक्षित गढ़ के समान हुआ करते थे। उस जमाने में दुश्मन के हमले का हमेशा डर रहा करता था। जब दुश्मन के हमले का डर नही रहा तब भी वही ढर्रा जारी रहा। यह नक़्शा इस तरह का होता था कि चारो तरफ चतुर्भुज आकार की एक दीवार बनाई जाती थी, जिसमें चार बडे और चार छोटे फाटक रक्खे जाते थे। इन दीवारो के अन्दर एक खास तरतीब में सड़के होती थी और मकान बनाये जाते थे। गाँव के बीच में पंचायत-घर होता था जहाँपर गाँव के बडे-बूढ़े या बुजुर्ग लोग इकट्ठे होते थे। छोटे गाँव में पंचायत-घर के बजाय कोई एक बड़ा पेड़ हुआ करता था। हर साल गाँव के सब स्वाधीन आदमी इकट्ठे होकर अपनी पंचायत चुनते थे।

बहुतसे विद्वान् आदमी सादा जीवन बिताने और एकान्त में अध्ययन या

शान्तिपूर्वक नित्यकर्म करने के लिए कस्बों या शहर के आस-पास के जंगलों में चले जाते थे। इनके पास विद्यार्थी लोग इकट्ठे हो जाते थे और धीरे-धीरे इन गुरु और विद्यार्थियों की एक नई बस्ती बस जाती थी। हम इन बस्तियों को आजकल की यूनिवर्सिटी कह सकते हैं। इन जगहो पर कोई सुन्दर इमारते नहीं हुआ करती थी, लेकिन जिनको ज्ञान की तलाश होती थी वे बडी-बडी दूर से ज्ञान के इन केन्द्रों में आ पहुँचते थे।

आनन्द-भवन के सामने भारद्वाज-आश्रम है। तुम इसे अच्छी तरह से जानती हो। शायद तुम्हे यह भी मालूम है कि भारद्वाज रामायण के पुराने जमाने के बहुत विद्वान् ऋषि माने गये है। कहा जाता है कि रामचन्द्र अपने वनवास के समय में इनके यहाँ आये थे। यह भी कहा जाता है कि भारद्वाज के साथ हजारों शिष्य और विद्यार्थी रहा करते थे। यह हो सकता है कि यहाँ एक विश्वविद्यालय रहा हो, जिसके आचार्य भारद्वाज हो। उस ज़माने में इनका आश्रम गंगा के किनारे था यह बात ठीक हो सकती है, हालाँकि अब गंगा यहाँ से करीब एक मील की दूरी पर चली गई है। हमारे बगीचे की ज़मीन कहीं-कहीं बहुत रेतीली है और मुमकिन है कि उस ज़माने में यहाँ गंगा बहती रही हों।

ये प्रारम्भकाल के दिन हिन्दुस्तान में आर्यो के महान् दिन थे। बदकिस्मती से इस जमाने का हमें कोई इतिहास नहीं मिलता। और उस समय की जो बाते हमें मालूम हैं उनके हालात जानने के लिए हमें गैर-ऐतिहासिक किताबों पर ही भरोसा करना पड़ता है। उस ज़माने के राज्य और प्रजातन्त्र ये है—दक्षिण-बिहार में मगध; उत्तर-बिहार में विदेह; काशी; कोशल (जिसकी राजधानी अयोध्या थी); पांचाल (जो गंगा और जमना के बीच में था)। पांचालों के इस देश में मथुरा और कान्यकुब्ज दो ख़ास शहर थे। बाद के इतिहास में भी ये शहर मशहूर रहे हैं और आज भी ये दोनो शहर मौजूद हैं। कान्यकुब्ज अब कन्नौज कहलाता है और कानपुर के नज़दीक है। उज्जैन भी प्राचीन शहरो में से है। हालांकि अब शहर छोटा होगया है। आजकल यह ग्वालियर रियासत में है। पाटलिपुत्र या पटना के नज़दीक वैशाली नाम का शहर था। यह लिच्छवी वंश के लोगों की राजधानी थी, जो हिन्दुस्तान के शुरू-शुरू के इतिहास में बड़ा वंश होगया है। यह राज्य प्रजातन्त्र था, इसमें प्रमुख आदमियो की एक सभा शासन करती थी। इनका एक चुना हुआ सभापति हुआ करता था, जिसे नायक कहते थे।

ज्यो-ज्यो ज़माना गुजरा, बडे-बडे कस्बे और शहर बनते गये। व्यापार बढा और कारीगरो की कला और हुनर ने भी उन्नति की। शहर बडे-बडे व्यापारिक केन्द्र

होगये। जंगल के आश्रम, जहाँ विद्वान् ब्राह्मण अपने शिष्यो के साथ रहा करते थे, बढ़कर बडे-बडे विश्व-विद्यालय बन गये, और विद्या के इन केन्द्रो में वे सब विषय पढ़ाये जाते थे जिनका उस समय तक मनुष्य को ज्ञान हो सका था। ब्राह्मण युद्धकला भी सिखलाते थे। तुम्हे याद होगा कि महाभारत में पाण्डवो के गुरु द्रोणाचार्य थे। वह ब्राह्मण थे और अन्य विषयों के अलावा युद्धकला की भी शिक्षा देते थे।

: ११ :

चीन के हज़ार बरस

१६ जनवरी, १९३१

बाहरी दुनिया से एक ऐसी ख़बर मिली है जिससे तबियत में परेशानी और दुःख होता है; लेकिन साथ ही उसे सुनकर हृदय गर्व और आनन्द से फूल उठता है। हम लोगो ने शोलापुरवालों की किस्मत का फैसला सुन लिया। इस खेदजनक समाचार के फैलने पर देशभर में जो-कुछ हुआ उसका भी थोड़ा-बहुत हाल हमें मालूम होगया। जबकि हमारे नौजवान अपनी जान पर खेल रहे हैं और हजारो मर्द और औरते निर्दय लाठी का मुकाबिला कर रहे हैं, मेरे लिए यहाँ चुपचाप बैठे रहना मुश्किल होगया। लेकिन इससे भी हमें अच्छी ट्रेनिंग मिल रही है। मेरा ख़याल है कि हममें से हरेक स्त्री और पुरुष को अपनी कठिन-से-कठिन परीक्षा करने के बहुत मौके मिलेंगे। इस समय तो यह जानकर दिल को खुशी होती है कि हमारे लोग तकलीफ़ो और मुसीबतो का सामना करने के लिए कैसी हिम्मत से आगे बढ़ रहे हैं और कैसे दुश्मन का हरेक नया हथियार और प्रहार इन लोगो को ज्यादा-से-ज्यादा ताकतवर और मुकाबिला करने के लिए अधिक-से-अधिक दृढ़ बना रहा है।

जब किसीका दिमाग रोजमर्रा की खबरो से भरा हो, तो उसके लिए दूसरी बातो का ख़याल करना मुश्किल हो जाता है। लेकिन कोरी उधेड़बुन से भी कोई खास फ़ायदा नहीं होता, इसलिए, और अगर कोई ठोस काम करना हो तो, हमें अपने मन पर क़ाबू करना ही चाहिए। इसलिए आओ, हम पुराने जमाने को लौट चले और अपनी मौजूदा परेशानियो से दूर हटकर डेरा डालें।

चलो, अब हम प्राचीन इतिहास में हिन्दुस्तान के भाई चीन के पास चले। चीन में और पूर्वी एशिया के जापान, कोरिया, इण्डोचाइना, स्याम, बरमा जैसे और मुल्को में हमारा आर्य जाति से कोई सरोकार नहीं। यहाँ तो मंगोल जातियो से परिचय करना पड़ेगा।

पाँच हज़ार या कुछ ज्यादा बरस गुज़रे होंगे, जब कि एकबार पश्चिम से चीन पर हमला हुआ था। हमला करनेवाली ये जातियाँ भी मध्य-एशिया से आई थीं और अपनी सभ्यता में ये अच्छी-ख़ासी आगे बढ़ी हुई थीं। वे लोग खेती करना जानते थे और झुण्ड-के-झुण्ड मवेशियाँ पाला करते थे। ये लोग अच्छे-अच्छे मकान वना सकते थे और इनका समाज खूब तरक्की पर पहुँचा हुआ था। ये लोग ह्वाँगहू नदी के पास, जिसे पीली नदी भी कहते है, बस गये। यहाँपर इन्होने अपने राज्य का संगठन किया। कईसौ बरसो तक ये चीनभर में फैलते रहे और अपना कला-कौशल और कारीगरी बढ़ाते रहे। चीनी लोग ज्यादातर किसान थे और उनके सरदार लोग असल में उसी तरह के नायक या कुलपति (Patriarch) थे, जिनका मैं अपने पुराने खतो में जिक्र कर चुका हूँ। छः या सात सौ बरस बाद, यानी आजकल से चार हज़ार से भी अधिक बरस पहले, याओ नाम का एक आदमी हुआ, जिसने अपनेको सम्राट् कहना शुरू किया। लेकिन इस उपाधि के होने पर भी उसकी स्थिति अधिकतर नायक या कुलपति की-सी ही थी, इराक या मिस्र के सम्राटो की-सी नहीं। चीनी लोग किसानो की तरह ही रहते रहे, और वहाँ कोई ख़ास केन्द्रीय शासन नहीं पाया जाता था।

मैंने तुम्हे बताया है कि पहले किस तरह लोग अपने नायक या सरदार चुना करते थे और आगे चलकर किस तरह ये नायक उसे अपना पैतृक या मौरूसी अधिकार बना बैठे। चीन से हम इसकी शुरुआत होती देखते हैं। याओ का उत्तराधिकारी उसका लड़का नहीं हुआ, बल्कि उसने एक दूसरे आदमी को नामज़द कर दिया, जो उस समय मुल्क में सबसे ज्यादा क़ाबिल आदमी समझा जाता था।

लेकिन जल्दी ही यह पद मौरूसी होगया और कहा जाता है कि चारसौ बरस से ज्यादा तक 'हसिया' नाम के राजवंश ने चीन पर हुकूमत की। हसिया वंश का आख़िरी राजा बहुत ज़ालिम था। नतीजा यह हुआ कि उसके ख़िलाफ एक क्रान्ति हुई, जिसने उसे उखाड़ फेंका। इसके बाद शंग या इसन नामका दूसरा राजवंश शासन करने लगा। इसका राज्य करीब ६५० बरस तक चला।

एक छोटेसे पैराग्राफ में, दो या तीन छोटे-छोटे जुमलो में, मैंने चीन का एक हजार बरस से ज्यादा इतिहास ख़तम कर लिया। क्या यह ताज्जुब की बात नही है ? इतिहास के इतने विस्तृत युगो के बारे में आख़िर कोई करे तो क्या करे ? लेकिन तुमको यह न भूलना चाहिए कि मेरे छोटेसे पैराग्राफ़ की वजह से इन हजार या ग्यारहसौ बरसो की लम्बाई कम नही होती। हम दिन और महीने और सालो के पैमाने पर सोचने के आदी होगये है। तुम्हारे लिए तो सौ साल की भी

स्पष्ट कल्पना कर सकना मुश्किल है। तुम्हे तो अपने तेरह बरस ही बहुत मालूम होते होगे। है न यह बात सच ? और हरसाल तुम और भी बडी होती जाओगी। तब फिर तुम अपने दिमाग में इतिहास के एक हजार बरसो की कल्पना किस तरह कर सकती हो ? यह एक बहुत लम्बा जमाना है। एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी आती है और चली जाती है। कस्बे बढ़कर बडे-बडे शहर हो जाते हैं और फिर उजड़कर मिट्टी में मिल जाते है और उनकी जगह दूसरे शहर बस जाते हैं।

इतिहास के पिछले एक हजार बरसो का खयाल करो, तब शायद तुम्हे इस अरसे का कुछ बोध हो सके। पिछले एक हजार बरस में इस दुनिया में कितनी आश्चर्यजनक तब्दीलिया होगई हैं !

चीन का इतिहास, उसकी परम्परागत प्राचीन संस्कृति और उसके एक-एक राजवंश, जो पाँचसौ से लेकर आठ-आठसौ वर्ष तक राज्य करते रहे, कितनी अद्‌भुत चीजें हैं !

इन ग्यारहसौ बरसों की, जिन्हे मैंने एक पैराग्राफ में ही खतम कर दिया है, आहिस्ता-आहिस्ता होनेवाली तरक्की पर जरा गौर तो करो। धीरे-धीरे कुलपति या नायक की प्रथा टूटती गई और उसकी जगह केन्द्रीय शासन कायम होता गया तथा एक अच्छा-खासा संगठित राज्य सामने आगया। उस पुराने जमाने में भी चीन के लोग लिखना जानते थे। लेकिन, जैसा कि तुम जानती ही हो, चीनी लिपि हमारी या अंग्रेजी या फ्रेञ्च लिपि से बिलकुल भिन्न है। लिपि में अक्षर नही हैं, संकेत या चित्रो द्वारा वह लिखी जाती है।

शंग का राज्यवंश ६४० बरस राज्य करने के बाद एक क्रान्ति द्वारा खत्म हो गया और चाऊ नामक एक नया राज्यवंश राज करने लगा। इसने शंगो से ज्यादा दिनो तक राज्य किया। इसकी हुकूमत ८३७ बरस तक कायम रही। चाऊ वंश के जमाने में ही चीन का राज्य अच्छी तरह से संगठित हुआ, और इसी जमाने में चीन में दो बडे-बडे फिलासफर कनफ्यूशस और लाओ-त्से पैदा हुए। इनके बारे में हम बाद में कुछ लिखेंगे।

जब शंग राज्यवंश का अन्त हो रहा था, तब इसके कि-त्से नामक एक उच्च अधिकारी ने चाल चली। उसने चाऊ लोगो की नौकरी करने से देश छोड़कर चले जाना अच्छा समझा, इसलिए वह अपने पाँच हजार अनुयायियों को साथ लेकर चीन से बाहर कोरिया को कूच कर गया। उसने इस मुल्क का नाम चौसन अर्थात् 'प्रातः-कालीन शान्ति का देश' रक्खा। कोरिया या चोसन चीन के पूर्व में है। इसलिए कि-त्से पूर्व दिशा में उगते हुए सूर्य की ओर गया। शायद उसने यह समझा

हो कि वह पूर्व दिशा के अन्तिम देश में पहुँच गया है और इसीलिए उसने इस देश को यह नाम दिया है। ईसा से पूर्व ग्यारहसौ वर्ष हुए, इसी कि-त्से के साथ कोरिया का इतिहास शुरू होता है। कि-त्से के साथ ही इस नये मुल्क में चीनी कला-कौशल, शिल्प, कृषि और रेशम की कारीगरी आई और यहाँ के निवासियों को इन सबकी शिक्षा मिली। कि-त्से के पीछे-पीछे और भी बहुतसे चीनी यहाँ आगये और उसके वंशजों ने चोसन पर नौसौ बरस तक राज्य किया।

लेकिन चोसन पूर्व दिशा का सबसे आखिरी देश नहीं था। जहाँ कि-त्से गया था, उसके पूर्व में, जैसाकि हम जानते है, एक और भी मुल्क—जापान—है। लेकिन हमें इस बात का कोई पता नही कि जब कि-त्से चोसन गया तो जापान में क्या हो रहा था। जापान का इतिहास इतना पुराना नही है जितना चीन, कोरिया अथवा चोसन का। जापानी लोगो का कहना है कि उनके पहले सम्राट् का नाम जिम्मूटिन्नू था और उसका राज्यकाल ईसा से छः-सातसौ बरस पहले का है। इन लोगो का यह विश्वास था कि वह सूर्यदेवी से उत्पन्न हुआ था। सूर्य जापान में देवी माना जाता था। जापान के मौजूदा सम्राट् जिम्मूटिन्नू के असली वंशज माने जाते है। इसीलिए बहुतसे जापानी इन्हे भी सूर्यवंशी मानते है।

तुम जानती हो कि हमारे देश में भी राजपूत लोग इसी तरह से सूर्य और चन्द्र से अपना नाता जोड़ते है। उनके सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी दो प्रधान राज-घराने प्रसिद्ध हैं। उदयपुर के महाराना सूर्य्यवंशियो के प्रमुख है और वह अपनी वंशावली बहुत पुराने जमाने से शुरू करते है। हमारे राजपूत लोग भी क्या ही अद्भुत और अपूर्व है! इनकी वीरता की और वीरोचित सुजनता की कहानियो का कोई अन्त नहीं।

: १२ :

पुरातन की पुकार

१९ जनवरी, १९३१

क़रीब ढाई हज़ार बरस पहले की पुरानी दुनिया पर हम एक सरसरी नज़र डाल चुके। हमारा निरीक्षण बहुत संक्षिप्त और परिमित रहा। हमने सिर्फ ऐसे ही मुल्को की चर्चा की, जो ख़ासी तरक़्क़ी कर चुके थे या जिनका थोड़ा-बहुत निश्चित इतिहास पाया जाता है। मिस्र की उस महान् सभ्यता का हम अभी ज़िक्र कर चुके हैं, जिसने पिरेमिड और स्फिंक्स बनाये और बहुत-सी दूसरी ऐसी चीज़ें बनाईं

जिनकी चर्चा का यहाँ मौका नही है। मालूम होता है कि, जिस शुरू ज़माने की हम चर्चा कर रहे है, उसमें भी यह महान् सभ्यता अपने गौरव के दिन देख चुकी थी और पतन की ओर जा रही थी। नोसास भी अपनी आख़िरी घड़ियाँ गिन रहा था। चीन के उन लम्बे युगो का चित्र भी हम खीच चुके है, जिनमें कि वह बढ़ते-बढ़ते एक विशाल साम्राज्य बन गया और वहाँ लिखने, रेशम बनाने और बहुत-सी दूसरी सुन्दर-सुन्दर कलाओ का विकास हुआ। कोरिया और जापान की भी हमने एक झलक देखली। हिन्दुस्तान में हमने उसकी उस पुरानी सभ्यता की ओर अभी संकेत किया ही है, जिसके चिन्ह सिन्ध-नदी की तलहटी के मोहेनजेदारो वाले खण्डहरों में मिलते है। द्रविडो की सभ्यता की चर्चा करते हुए विदेशो के साथ के इनके व्यापार की चर्चा भी हम कर चुके है और सबके बाद आर्यो का हाल बता आये है। उस ज़माने के आर्यो के बनाये हुए वेद, उपनिषद आदि कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थ और रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों का उल्लेख भी हम कर चुके है। यह भी हम बता चुके कि आर्य लोग उत्तर-भारत में कैसे फैल गये, दक्षिण में उनका प्रवेश कैसे हुआ और पुराने द्रविडो के सम्पर्क में आकर किस तरह उन्होने एक नई सभ्यता और संस्कृति का निर्माण किया, जिसका कुछ अंश तो द्रविडो से लिया गया था और बाकी का अधिकतर उनकी अपनी देन थी। ख़ास तौर से हमने इनके ग्राम-संघों को लोकतंत्र की प्रणाली पर विकसित होते और गाँवो को कस्बो और शहरों के रूप में बढ़ते देखा। हमने यह भी देखा कि किस तरह जंगलो में स्थापित आश्रम विश्वविद्यालय बन गये। इराक और ईरान में हमने संक्षेप में केवल यह देखा कि किस तरह एक के बाद एक साम्राज्य उन्नति करता गया। इन साम्राज्यो में से एक, सबसे पिछला, दारा का साम्राज्य हिन्दुस्तान में सिन्ध नदी तक फैला हुआ था। फिलस्तीन में हमें यहूदियो की एक झलक दिखाई दी। ये लोग यद्यपि तादाद में बहुत कम थे और दुनिया के एक छोटेसे कोने में आबाद थे, फिर भी इन्होने दुनिया का बहुत काफी ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। दूसरे देशो के बडे-बडे राजा-महाराजाओं का नाम मिट गया, लेकिन इनके राजा दाऊद और सुलेमान का नाम आजतक लिया जाता है, क्योकि बाइबिल में उनका जिक्र आया है। फिर हमने यूनान में नोसास की पुरानी सभ्यता की चिता पर बनी हुई आर्यो की नई सभ्यता को पनपते और फूलते-फलते देखा। नगर-राज्य पैदा हुए और भूमध्यसागर के किनारों पर यूनानी उपनिवेश बन गये। रोम, जो आगे चलकर महान् होनेवाला था, और कारथेज, जो उसका कट्टर विरोधी था, इसी समय इतिहास के क्षितिज पर उदय हो रहे थे।

इन सबकी हमने मामूली-सी झलक देखी है। उत्तरी-योरप और दक्षिण पूर्व-एशिया के मुल्को का भी थोड़ा-बहुत हाल मै तुमसे कह सकता था, लेकिन मै उन्हे छोड़ गया हूँ। उस बहुत पुराने—शुरू के—जमाने में भी दक्षिण-हिन्दुस्तान के मल्लाह बगाल की खाडी के उसपार मलाया द्वीप और उसके दक्षिण के टापुओ तक जाया-आया करते थे। लेकिन हमें अपने विषय की कोई सीमा निश्चित कर लेनी चाहिए, नही तो हमारा आगे बढ़ना मुश्किल होजायगा।

जिन देशो की हमने चर्चा की है, पुरानी दुनिया उतनी ही समझी जाती है। लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि उन दिनो दूर-दूर के मुल्को में आपस में आमदरफ्त ज्यादा नही थी। व्यापार करने या दूसरे मतलब से साहसी मल्लाह समुद्र के जरिये तथा दूसरे लोग जमीन के रास्ते लम्बे-लम्बे सफ़र किया करते थे। लेकिन ये बाते कभी-कभी ही हुआ करती थीं और थोडे ही लोग ऐसा करते थे; क्योकि उस समय की यात्राओ में खतरा बहुत रहता था। उस समय लोगो को भूगोल की जानकारी बहुत कम थी। उन दिनो जमीन गोल नहीं बल्कि चपटी मानी जाती थी। मतलब यह कि अपने देश से नजदीक के मुल्को के सिवा दूसरे मुल्को के बारे में कोई कुछ नही जानता था। यूनान के रहनेवाले चीन और हिन्दुस्तान से क़रीब-क़रीब बिलकुल नावाक़िफ थे, और चीन और हिन्दुस्तानवालो को भूमध्यसागर के देशो का बहुत कम पता था।

अगर तुम्हे पुरानी दुनिया का नकशा मिल सके तो उसे एक नजर देखो। पुराने जमाने के लेखको ने दुनिया के जो वर्णन लिखे और नकशे बनाये उनमें के कुछ तो बडे मजे के हैं। उन नकशो में कई मुल्को की अजीब शक्ले कर दी गई हैं। उस समय के जो नक्शे आजकल बनाये गये है वे कहीं ज्यादा कामके है, और इसलिए तुम उनके बारे में पढ़ते वक़्त अक्सर उनको देख लिया करना। नकशे से बहुत मदद मिलती है। बिना इसके इतिहास का असली चित्र हमारे खयाल में नही आ सकता। सच तो यह है कि अगर किसीको इतिहास पढ़ना है, तो जितने भी ज्यादा-से-ज्यादा नकशे या पुरानी इमारते, खण्डहर और उस जमाने की बची-बचाई ओर भी दूसरी चीजें हैं, उन सबके जितने भी अधिक-से-अधिक चित्र मिल सकें, अपने पास रखने चाहिएँ। इन चित्रो से इतिहास की सूखी ठठरी पर मॉस और चमड़ा चढ़ जाता है, और इस तरह वे हमारे लिए एक जिन्दा चीज बन जाता है। इतिहास से अगर हम कुछ सीखना चाहते हैं तो यह जरूरी है कि उस वक़्त के चित्रो का सिलसिला साफ-साफ हमारी नजरो के सामने रहे, जिससे कि जब हम उसे पढ़ने बैठें तो यह जान पड़ने लगे कि उस वक़्त की वे घटनायें मानो बिलकुल हमारी

आँखो के सामने ही हो रही है। इतिहास को तो एक दिलचस्प नाटक समझना चाहिए जो हमारे दिल को मुट्ठी में कर लेता है—ऐसा नाटक, जो कभी-कभी सुखान्त, लेकिन ज्यादातर दु:खान्त रहा है। दुनिया जिसका रगमंच और भूतकालीन महान् पुरुष और वीरागनायें जिसके पात्र है।

तसवीरो और नक्शो की मदद से इस इतिहास-नाटक की झलक हमारी आंखो के सामने आजाती है इसलिए ऐसा इन्तिजाम होना चाहिए कि हरेक लड़के और लड़की को ये आसानी से मिल सके। लेकिन तसवीरो और नक्शो से भी ज्यादा अच्छी चीज यह है कि पुराने इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाले खण्डहरो और चिन्हो को खुद जाकर देखा जाय। परन्तु इन सबको जाकर देख सकना मुमकिन नही क्योकि ये सारी दुनिया में फैले हुए है। लेकिन अगर हम अपनी आँखें खुली रखें तो प्राचीन समय के कोई-न-कोई चिन्ह या खण्डहर ऐसे जरूर पा सकेगे, जहाँ हम आसानी से पहुँच सके। बडे-बडे अजायबघरो में पुराने जमाने की ये छोटी-छोटी निशानियाँ और यादगारे सग्रह करके रक्खी जाती है। हिन्दुस्तान में पुराने इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत काफी निशानियाँ पाई जाती है, और बहुत प्राचीन समय की निशानियाँ तो बहुत ही कम है। मोहनजेदारो और हरप्पा[१] ही शायद ऐसे दो पुराने जमाने के निशानों के उदाहरण है, जो अभी तक मिले है। सम्भव है कि पुराने जमाने की बहुत सी इमारते मौसम की गरमी की वजह से धीरे-धीरे मिट्टी में मिल गई हो। लेकिन यह और भी ज्यादा मुमकिन है कि पुराने जमाने की बहुत सी इमारतें अब भी जमीन के नीचे दबी पडी हो, और उनके खोदे जाने की जरूरत हो। जैसे-जैसे हम इन्हे खोदते जायँगे, और पुराने चिन्ह और शिलालेख हमें मिलते जायँगे, वैसे वैसे हमारे देश के पुराने इतिहास के पन्ने धीरे-धीरे हमारे सामने खुलते जायंगे और पुराने—अत्यन्त पुराने जमाने में हमारे पूर्वजो ने जो कुछ किया है, उसका हाल पत्थर ईंट और चूने के इन पन्नो में पढ़ सकेगे।

तुम दिल्ली गई हो और उसके मौजूदा शहर के आस-पास कुछ पुरानी इमारते और खण्डहर तुमने देखे है। जब कभी फिर तुम्हे इन इमारतो और खण्डहरो के देखने का मौका मिले, तुम पुराने जमाने की कल्पना करना और ये तुम्हे उस

१. हरप्पा—माटगोमरी जिला (पजाब) का एक अति प्राचीन गाँव है जो रावी नदी के दक्षिण किनारे पर कोट-कमालिया से १६ मील दक्षिण पूर्व मे है। अभी हाल मे यहाँ से बहुत पुराने जमाने के खण्डार खोदकर निकाले गये है, जिनसे पता चलता है कि उस पुराने जमाने मे भी हिन्दुस्तान की सभ्यता कितनी बढ़ी-चढ़ी थी।

तक पहुँचा देगी और तुम्हे इतना ज्यादा इतिहास बता देंगी जितना कोई किताब न। बता सकती। महाभारत के जमाने से लेकर आजतक लोग दिल्ली शहर में या इसके आस-पास रहते आये हैं। उन्होने इसके बहुत से नाम रक्खे, जैसे इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, तुगलकाबाद और शाहजहाँनाबाद। मुझे तो सब नाम याद भी नही। पुराने जमाने से यह कहावत चली आ रही है कि दिल्ली का शहर सात बार, सात जुदी-जुदी जगहो पर आबाद हुआ। और जमना नदी की धारा की वजह से हमेशा अपनी जगह बदलता रहा। और अब हम इस देश के वर्त्तमान शासको के हुक्म से रायसीना या नई दिल्ली नामका उसका आठवाँ शहर आबाद होते देख रहे हैं। दिल्ली में एक के बाद एक, यों अनेक साम्राज्य पैदा हुए और खत्म हो गये।

या फिर तुम सबसे पुराने शहर बनारस अथवा काशी चली जाओ, और कान लगाकर उसकी गुनगुनाहट सुनो। वह तुम्हे अपने प्राचीनतम अतीत की कथा सुनायगा और बतायगा कि किस तरह साम्राज्यो के बाद साम्राज्यो के पतन होने पर भी वह अभी तक कायम चला आ रहा है, किस तरह गौतमबुद्ध अपना नया सन्देश लेकर वहाँ आये, और किस तरह युगो से लाखों और करोडो स्त्री-पुरुष शान्ति और तसल्ली पाने के लिए इसकी शरण में आते रहे! अति प्राचीन, बूढ़ा, जर्जर, गन्दा, बदबूदार और फिर भी अत्यन्त सजीव और युगो की शक्ति से यह बनारस भरपूर है। काशी की यह नगरी अद्भुत और दिल को लुभानेवाली है, क्योकि इसकी आँखो में तुम भारत के अतीत को देख सकती हो, इसकी जलधारा की कलकल में तुम्हे सुदूर युगों की ध्वनि सुनाई देगी।

या, इससे भी नजदीक हम अपने ही शहर इलाहाबाद या प्रयाग के प्राचीन, अशोक-स्तम्भ को देखने चले। अशोक की आज्ञा से उसपर खुदे हुए लेख को देखो, तो दो हजार बरसों की दूरी को पार करती हुई उसकी आवाज इसमें तुम्हे सुनाई देगी।

: १३ :

दौलत कहाँ जाती है ?

१८ जनवरी, १९३१

मैंने जो पत्र तुम्हे मसूरी भेजे थे, उनमें यह बताने की कोशिश की थी कि किस तरह मनुष्य समाज की उन्नति के साथ-साथ उसमें भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ या वर्ग बनते गये। शुरू में मनुष्यों को भोजन सामग्री तक बडी मुश्किल से मिलती थी। वे हररोज शिकार करते, कन्द-मूल जमा करते और खाने-पीने चीजों की तलाश में एक

जगह से दूसरी जगह दूर-दूर तक भटकते फिरते थे। धीरे-धीरे इनकी जातियां बनने लगीं। असल में ये बडे-बडे कुटुम्ब थे, जो साथ रहते और साथ-साथ शिकार करने जाते थे, क्योकि अकेले रहने से एक साथ रहने में खतरा कम रहता था। इसके बाद एक बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ,—खेती के उद्योग का आविष्कार हुआ। इसके कारण मनुष्य-समाज में बड़ा जबर्दस्त अन्तर होगया। लोगो को हमेशा शिकार करते रहने की बनिस्वत जमीन पर खेती करके खाने का समान पैदा कर लेना कही ज्यादा आसान मालूम हुआ। जोतने, बोने और फ़सल काटने के लिए उसी जगह पर बने रहना जरूरी था, इसलिए पहले की तरह वे इधर-उधर भाग नहीं सकते थे; उन्हे अपने खेतो के पास बसने को मजबूर होना पड़ता था। इस तरह गाँव और कस्वो की बुनियाद पडी।

खेती की वजह से और भी तब्दीलियां आ गईं। खेती से जो अनाज पैदा होता था, वह उस समय की जरूरत से कहीं ज्यादा होता था। इसलिए बचा हुआ अनाज जमा किया जाने लगा। पुराने जमाने की शिकारी जिन्दगी की बनिस्वत लोगो की जिन्दगी ज्यादा पेचीदा हो गई। एक वर्ग तो खेतों पर तथा दूसरी जगह खेतीबाडी और मेहनत-मजदूरी करने लगा, और दूसरे ने प्रबन्ध और संगठन का काम अपने जिम्मे ले लिया। प्रबन्ध करनेवाले और संगठन-कर्ता लोग धीरे-धीरे अधिक शक्तिशाली होगये और मुखिया, शासक, राजा और सरदार बन बैठे और क्योकि अपने पास शक्ति होने के कारण बाकी बचे हुए अधिक अनाज में से ये अधिकतर हिस्सा अपने लिए रख लेने लगे। इस तरह ये लोग ज्यादा अमीर होगये और खेतो में काम करनेवाले सिर्फ गुजारे भर के लिए पाने लगे। एक ऐसा भी वक्त आया, जब प्रबन्धक और संगठनकर्ता इतने आलसी और अयोग्य हो गये कि संगठन का भी काम नहीं कर सके। ये लोग कुछ भी काम नही करते थे लेकिन इस बात की पूरी निगरानी रखते थे, कि काम करनेवालो ने जो कुछ अनाज पैदा किया है, उसका बहुत काफी हिस्सा अपने लिए लेले। और इन्होने यह अपनी धारणा बना ली, कि बिना खुद काम काज किये इस तरीके से दूसरों की मेहनत पर रहने का इन्हे पूरा-पूरा हक है। इस प्रकार तुम देखोगी कि खेती का हुनर मिल जाने से आदमियो के जीवन में बहुत बडा फरक आ गया। भोजन उपजाने के साधनो में तरक्की करके, और इसकी प्राप्ति को आसान बनाकर, खेती ने समाज की सारी बुनियाद बदल दी। लोगों को इसकी वजह से फ़ुरसत मिलने लगी, अनेक श्रेणियाँ और वर्ग पैदा होगये, पर सभी भोजन उपजाने की कोशिश में नहीं लगे रहते थे। कई किस्म की कारीगरियां पैदा हो गईं और नये-नये पेशे बन गये। लेकिन शक्ति और अधिकार संगठन करनेवाले वर्ग के हाथो में ही रहा।

इस जमाने के बाद का इतिहास पढ़ने से भी तुम्हे पता चलेगा, कि खाद्यपदार्थ और दूसरी चीजो के पैदा करने के ढँग में नवीनता हो जाने की वजह से मनुष्य समाज में बडी-बडी तब्दीलियां हो गई हैं। आदमियो को बहुत-सी और चीजों की उतनी ही जरूरत पड़ने लगी जितनी खाने की चीजों की होती थी। इसलिए जब-जब किसी चीज के पैदा करने के ढँग में तब्दीली आई, समाज में भी उसीके साथ-साथ तब्दीली पैदा हुई। सिर्फ एक उदाहरण मैं तुम्हे देता हूँ। जब कारखानो में, रेलवे में और जहाजो में भाफ का इस्तेमाल होने लगा, सम्पत्ति की उत्पत्ति और वितरण में भी बहुत फरक आ गया। भाफ के कारखाने चीजो को इतनी अधिक तेजी से बना लेते थे कि कारीगर या मिस्त्री लोग अपने हाथो से या अपने छोटे-छोटे औजारो से, इतनी तेजी से बना ही नही सकते थे। बडी मशीन को असल में बड़ा-सा औजार समझना चाहिए। रेल और भाफ के जहाज अनाज को और कारखानो में बनी हुई चीजो को दूर-दूर देशो तक पहुँचाने में मदद देते थे। तुम कल्पना कर सकती हो कि इसकी वजह से सारी दुनिया में कितना परिवर्तन हो गया होगा।

समय-समय पर इतिहास में खाद्य-पदार्थ और दूसरी चीजो को पैदा करने के लिए नये और तेज तरीको के आविष्कार होते रहे हैं और इस बात से तुम जरूर यह खयाल करोगी कि अगर उत्पत्ति के लिए उन्नत साधनो को काम में लाया जाता है तो माल भी उतना ही ज्यादा पैदा होगा। दुनिया ज्यादा मालदार होगी और हरेक आदमी के हिस्से में भी पहले से ज्यादा रकम आती होगी। तुम्हारा ऐसा खयाल करना एक हद तक तो ठीक होगा। लेकिन एक हद तक गलत भी। उत्पत्ति के उन्नत साधनों ने ससार को जरूर ज्यादा सम्पत्तिशाली या दौलतमन्द बना दिया है। लेकिन सवाल यह है कि यह सम्पत्ति दुनिया के किस हिस्से में आई है? यह तो बिल्कुल जाहिर है कि हमारे देश में अभी तक काफी गरीबी और मुसीबत पाई जाती है। इतना ही नहीं, इंग्लैण्ड जैसे सम्पत्तिशाली देश में भी गरीबी है। इसकी क्या वजह है? दौलत आखिर कहाँ चली जाती है? यह अजीब-सी बात है कि दौलत दिन-ब-दिन ज्यादा पैदा की जा रही है, लेकिन गरीब लोग गरीब ही बने रहते हैं। बहुत से देशो में इन गरीब लोगो ने कुछ थोडी-सी तरक्की की है। लेकिन जो नई सम्पत्ति पैदा हुई उसके लिहाज से यह तरक्की न कुछ के बराबर है। हम आसानी से इस बात का पता चला सकते हैं कि यह दौलत ज्यादातर कहाँ जाती है। यह उन लोगो के पास जाती है, जो ज्यादातर प्रबन्धक और संगठनकर्त्ता होने के कारण इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं कि हरेक अच्छी चीज का ज्यादातर हिस्सा इन्हे मिलता रहे। और इससे भी ज्यादा आश्चर्य की बात तो यह है कि समाज में ऐसे वर्ग पैदा

हो गये हैं जो दिखावे भर तक के लिए कोई काम नही करते। और फिर भी दूसरे आदमियों की मेहनत के फल का बडे-से-बड़ा हिस्सा हज़म कर जाते है ! और क्या तुम इस पर विश्वास करोगी कि ऐसा होने पर भी इज्जत इन्हीं वर्गों की होती है; और कुछ बेवकूफ लोग समझते हैं कि अपनी जीविका या रोजी के लिए काम करना जलालत है ! ऐसी उलटी-सीधी दशा है कि हमारी दुनिया की। कितने आश्चर्य की बात है कि खेत में मेहनत करनेवाला किसान, और कारखाने में मजदूरी करने वाला मजदूर गरीब हो, जब कि दुनिया भर के खाद्य-पदार्थ और दौलत के पैदा करनेवाले यही लोग है ! हम अपने देश की आजादी की बाते करते है, लेकिन जबतक इस गड़बडी का अन्त नही होता और मेहनत करनेवाले को उसकी मेहनत का फल नही मिलता, इस आजादी की क्या कीमत हो सकती है ? राजनीति पर, शासन-कला पर, अर्थशास्त्र पर और राष्ट्रीय सम्पत्ति के वितरण के विषय पर बडी-बडी मोटी किताबें लिखी गई है। आलिम-फाजिल प्रोफेसर लोग इन विषयो पर लेक्चर देते हैं। लेकिन ये लोग तो जबानी बात-चीत और बहस-मुबाहिसों में लगे रहते हैं और उधर मेहनत करनेवाले मुसीबत झेलते रहते हैं। दो सौ बरस हुए वालटेयर नाम के एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी ने राजनीतिज्ञों और इन्हींके से दूसरे लोगो के बारे में कहा था कि "इन राजनीतिज्ञों ने अपनी सुन्दर राजनीति को, उन लोगो को भूखों मरवा डालने का एक साधन बना लिया है, जो जमीन को जोतकर दूसरो को जिन्दा रखने की सामग्री पहुँचाते हैं।"

इसके होते हुए भी प्राचीन काल का मनुष्य उन्नति करता गया और अनियन्त्रित प्रकृति पर अपना अधिकार जमाने लगा। उसने जंगल काटे, मकान बनाये और जमीन जोती। यह समझा जाता है कि मनुष्य ने किसी हद तक प्रकृति पर विजय पाई है। यह अस्पष्ट बात है, और बिलकुल सही नहीं कही जा सकती। अगर हम यह कहे तो ज्यादा सही है कि आदमी ने प्रकृति को समझना शुरू किया और जितना वह उसे समझता जाता है उतना ही वह उससे सहयोग करने के काबिल बन गया है और उसे अपने मतलब के लिए काम में ला सका है। पुराने जमाने में आदमी प्रकृति से और उसकी विचित्रताओं से डरता था। इनको समझने के बजाय यह उनकी पूजा करता था और शान्ति के लिए उन पर चढ़ावा चढ़ाता था, मानों प्रकृति कोई जंगली जानवर है जिसे खुश करने और फुसलाने की जरूरत हो। इस लिए उन लोगो को बादल की गरज, बिजली की कड़कड़ाहट और महामारियाँ भयभीत कर देती थीं। और ये लोग समझते थे कि सिर्फ चढ़ावे से ही इन उत्पातो को शान्त किया जा सकेगा। बहुत से सीधे-सादे लोग समझते हैं कि चन्द्र या सूर्य-ग्रहण कोई

भयंकर आफत है। बजाय इसके कि वे यह समझते कि यह एक सीधी-साधी प्राकृतिक घटना है, व्यर्थ में अपनेको उत्तेजित कर लेते है, उपवास करते है और सूरज या चॉद की रक्षा के लिए स्नान-जप वगैरा करते है। लेकिन सूरज और चॉद अपनी रक्षा के लिए काफी समर्थ है। उनके बारे में हमें चिन्ता करने की कोई जरूरत नही।

हमने सभ्यता और सस्कृति की उन्नति की भी कुछ चरचा की है और हमने देखा है कि इसकी शुरुआत उस समय से हुई, जब लोग गॉवों और कस्बों में रहने के लिए बस गये, खाने का काफी सामान पा जाने की वजह से लोगो को कुछ फुरसत मिल गई और खाने और शिकार करने के अलावा और भी बातो पर ध्यान देने का इन्हे अवकाश मिल गया। विचार की उन्नति के साथ आमतौर पर कला-कौशल और संस्कृति की भी उन्नति होने लगी। आबादी बढ़ने के कारण लोग एक दूसरे से नजदीक भी रहने लगे और जब लोग पास-पास रहने लगे, तो उन्हे एक दूसरे का लिहाज भी रखना जरूरी होगया। ये एक दूसरे से बराबर मिलते-जुलते थे और इनका आपस में व्यापार व्यवहार चलने लगा। जब लोग एक-दूसरे से नजदीक रहते हैं तो उन्हे एक दूसरे का ध्यान रखना भी जरूरी हो जाता है। इसके लिए यह जरूरी हो जाता है कि कोई बात ऐसी न करे जो इनके साथियो या पडोसियों को बुरी लगे। इसके बिना सामाजिक जीवन सम्भव ही नही हो सकता। किसी कुटुम्ब का उदाहरण लेलो। कुटुम्ब एक छोटा सा समाज है। इसके व्यक्ति आनन्द से तभी रह सकते है, जब कुटुम्ब के प्राणी एक-दूसरे का लिहाज़ रक्खें। साधारणतः यह कोई मुश्किल बात नही होती, क्योकि कुटुम्ब के लोगो में प्रेम का सम्बन्ध होता है। फिर भी कभी-कभी हम एक दूसरे का लिहाज़ करना भूल जाते है और यह बता देते है कि कुछ भी हो हम अभी तक बहुत सभ्य या सुसस्कृत नहीं हो पाये है। कुटुम्ब से आगे बढकर बडे समुदाय में भी यही हाल होता है। चाहे हम अपने पडोसियो की बात ले, या अपने शहर के रहनेवालो की, या दूसरे मुल्क के लोगो की। इस तरह आबादी के बढ़ जाने की वजह से सामाजिक जीवन बढ़ा, और दूसरो का ध्यान और अपने पर संयम रखने का ख़याल तरक्की कर गया। सभ्यता और संस्कृति की परिभाषा मुश्किल है और मै इसकी परिभाषा करने की कोशिश करूँगा भी नही। लेकिन सस्कृति के अन्दर पाई जानेवाली अनेक बातो में से निस्सन्देह एक चीज यह भी है—अपने ऊपर सयम, और दूसरो की सुविधा का लिहाज। अगर किसी आदमी में अपने पर सयम नही पाया जाता और वह दूसरो की सुविधा का कोई ख़याल नही करता, तो हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते है कि वह आदमी असभ्य और बदतमीज़ है।

: १४ :

ईसा के पूर्व छठी सदी और मत-मतान्तर

२० जनवरी, १९३१

आओ, अब हम इतिहास की लम्बी सड़क पर आगे बढ़ें। हम एक मंजिल तक तो आपहुँचे हैं--आज से ढाई हजार बरस पहले यानी ईसा से करीब छः सौ बरस पहले तक। लेकिन यह न समझना कि यह कोई निश्चित तारीख़ है। मैं तो तुम्हें उस ज़माने का एक मोटा अन्दाज़ दे रहा हूँ। हम देखते हैं कि हिन्दुस्तान और चीन से लेकर ईरान और यूनान तक भिन्न-भिन्न देशों में अनेक महापुरुष, बड़े-बड़े विचारक और धर्म-प्रवर्तक इसी युग में मिलते हैं। वे सब बिलकुल एक ही समय में नहीं हुए। लेकिन अपने जन्म-काल के लिहाज़ से वे एक-दूसरे के इतने नज़दीक थे कि ईसा से पहले की छठी सदी का यह ज़माना एक बड़ा रोचक युग बन गया है। ऐसा मालूम होता है, उस समय सारी दुनिया में विचारों की एक लहर उठ रही थी--लोगों के दिलों में मौजूदा परिस्थिति से असन्तोष और उससे बेहतर किसी चीज़ की प्राप्ति की ख्वाहिश थी। याद रक्खो कि मज़हबों के चलानेवाले हमेशा बेहतर चीज़ की खोज करने, अपने भाइयों को सुधारने और ऊँचा उठाने, उनकी मुसीबतों को दूर करने की चिन्ता में लीन रहे हैं। ऐसे लोग हमेशा क्रान्तिकारी रहे हैं और समाज में फैली हुई बुराइयों पर हमला करने में ज़रा भी नहीं डरे हैं। जहाँ कहीं पुरानी परम्परा ग़लत रास्ते पर जाती हुई दिखाई दी, या उसके कारण आगे की उन्नति को रुकते हुए देखा, कि उन्होंने निडर होकर उसपर हमला किया और उसे मिटा दिया। और सबसे बड़ी बात उन्होंने यह की कि अपने आचरणों से उच्च जीवन का एक नमूना पेश किया, जो असंख्य लोगों के लिए अनेक पीढ़ियों तक एक आदर्श और प्रेरणा बना रहा। हिन्दुस्तान में ईसा से पहले की उस छठी सदी में बुद्ध और महावीर पैदा हुए; चीन में कनफ्यूशस और लाओ-त्ज़े, ईरान में जरथुस्त या जोरेस्टर और सामोस के यूनानी टापू में पाइथागोरस पैदा हुए। तुमने पहले भी इनका नाम तो सुना होगा, लेकिन शायद किसी दूसरे सिलसिले में। स्कूल के साधारण लड़के-लड़की पाइथागोरस को एक महज़ निठल्ला आदमी समझते हैं, जिसने रेखागणित का एक प्रमेय (Theorem) सिद्ध कर दिया, जो अब इन बेचारों को सीखना पड़ता है। इस प्रमेय का सम्बन्ध एक समकोण त्रिभुज (Right-angled triangle) की भुजाओं पर के समकोण चतुर्भुज (Squares) से है। रेखागणित (ज्यामेट्री) की किसी भी किताब में यह प्रमेय मिल सकता है। लेकिन रेखागणित सम्बन्धी खोज करने के अलावा वह एक

बड़ा विचारक भी माना गया है। हमें उसके बारे में बहुत कम मालूम है। कुछ लोगों को तो इसमें भी शक है कि इस नाम का कोई आदमी हुआ भी था या नहीं ?

ईरान का जरथुस्त पारसी-धर्म चलानेवाला कहा जाता है। लेकिन मुझे यह निश्चय नही है कि उसे उस धर्म का चलानेवाला कहना कहाँतक ठीक होगा ? शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि उसने ईरान के पुराने मजहब और विचारो को नई दिशा की ओर झुकाया और उनमें नई जान डाल दी। बहुत अर्से से यह धर्म ईरान से बिलकुल उठ-सा गया है। जो पारसी लोग बहुत अरसे पहले ईरान से हिन्दुस्तान चले आये, वे अपने साथ इस धर्म को भी लेते आये और तबसे बराबर उसीको मानते चले आते हैं।

चीन में इसी जमाने में दो महापुरुष हुए—कनफ्यूशस और लाओ-त्से। धर्म के साधारण अर्थ को ध्यान में रखते हुए, इन दोनों में से किसीको धर्म-प्रवर्तक नही कह सकते। इन्होने तो सामाजिक व्यवहार और नीति के नियम बनाये और यह बताया कि आदमी को क्या करना चाहिए। लेकिन इनकी मृत्यु के बाद चीन में इनकी यादगार में बहुत से मन्दिर बने और इनके लिखे ग्रन्थों का चीनी लोग वैसा ही आदर करते हैं जैसा हिन्दू वेदो का और ईसाई बाइबिल का। कनफ्यूशस की शिक्षा का एक परिणाम यह हुआ कि उसने चीनियो को ज्यादा सुशील, शिष्ट और सभ्य बना दिया।

हिन्दुस्तान में बुद्ध और महावीर हुए। महावीर ने आजकल का प्रचलित जैन-धर्म चलाया। इनका असली नाम वर्द्धमान था। महावीर तो महानता की एक पदवी है। जैन लोग ज्यादातर पश्चिमी हिन्दुस्तान और काठियावाड़ में रहते हैं। काठियावाड़ और राजपूताना में आबू पहाड़ पर, इनके बड़े सुन्दर मन्दिर पाये जाते हैं। जैन लोग आजकल आमतौर पर हिन्दू समझे जाते हैं। अहिंसा में इनकी बड़ी श्रद्धा है, और ऐसा काम करने के ये बिलकुल खिलाफ है जिसमें किसी भी जीव को तकलीफ पहुँचे। हाँ, इसी सिलसिले में तुमको यह जानकर दिलचस्पी होगी कि पाइथागोरस मास नही खाता था। उसने अपने शिष्यों और अनुयायियो के लिए यह नियम बना दिया था कि कोई भी मांस न खाय।

अब गौतम बुद्ध के हाल सुनो। जैसा कि तुम जानती हो, गौतम बुद्ध क्षत्रिय थे और एक शाही खानदान के राजकुमार थे। सिद्धार्थ उनका नाम था। उनकी माता का नाम महारानी माया था। इनके बारे में प्राचीन ग्रन्थो में लिखा है कि नये चन्द्रमा की तरह उल्लास के साथ पूजने योग्य, पृथ्वी के समान दृढ और स्थिर-निश्चयवाली और कमल के जैसा पवित्र हृदय रखनेवाली थी वह महारानी माया।

माता-पिता ने गौतम को हर तरह के ऐश-आराम में रक्खा, और यहाँ तक कोशिश की कि दुःख-दर्द और रोग-शोक के किसी भी दृश्य पर उनकी नजर न जाय। लेकिन यह संभव नही हो सका—और, कहा जाता है कि, एक कंगाल, एक रोगी और एक मुर्दा उन्हे दिखाई दिये। इन दृश्यो का उनपर बहुत असर हुआ, और राजमहल में उन्हे जरा भी शान्ति नहीं मिलने लगी। ऐश-आराम के सारे साधन, जिनसे वह चारो ओर घिरे रहते थे, और उनकी सुन्दर पत्नी, जिसे वह प्यार करते थे, कोई भी मुसीबत में फँसी हुई दुनिया की चिन्ता से उनका चित्त न हटा सके। उलटे उनकी यह चिन्ता दिन-पर-दिन बढती ही गई, और इन बुराइयो को दूर करने के उपाय खोजने की उनकी इच्छा ज्यादा-से-ज्यादा तीव्र होने लगी। यहाँतक कि वह इस हालत को बर्दाश्त न कर सके और अन्त में एक शान्त और नीरव रात में अपने राजमहल और प्यारे सगे-सम्बन्धियो को सोता हुआ छोडकर, जंगल में निकल गये। इसके बाद जिन प्रश्नो ने उन्हे परेशान कर रक्खा था उनके समाधान की खोज में, इस लम्बी-चौडी दुनिया में भटकने लगे। समाधान की खोज में उन्हे बहुत वक्त लगा और बहुत तकलीफें उठानी पडीं। आखिर, बहुत बरसों के बाद, गया में एक वट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए उन्हे 'सम्यक्-ज्ञान' प्राप्त हुआ और वह बुद्ध हो गये। जिस पेड़ के नीचे वह उस दिन बैठे थे वह 'बोधि-वृक्ष' के नाम से मशहूर हो गया। प्राचीन काशी की छाया तले बसे हुए सारनाथ के, जो उस ज़माने में इसिपत्तन या ऋषिपत्तन कहलाता था, 'डीयर पार्क' में बुद्ध ने अपने सिद्धान्तो का प्रचार शुरू किया। उन्होने 'सद्जीवन' का रास्ता बताया। देवताओ के नाम पर की जानेवाली हिंसा और पशु-बलि की उन्होंने निन्दा की और उन्हे निषिद्ध ठहराया। उनका कहना था कि इन बलिदानो के बजाय अपना गुस्सा, द्वेष, घृणा और बुरे विचारो का बलिदान करना चाहिए। जब बुद्ध का जन्म हुआ था, हिन्दुस्तान में पुराना वैदिक धर्म प्रचलित था। लेकिन वह बहुत बदल गया था और अपने ऊँचेपन से बहुत नीचे गिर चुका था। ब्राह्मणो और पुरोहितो ने तरह-तरह के पूजा-पाठ, अन्ध विश्वास और पाखण्ड चला दिये थे। क्योंकि पूजायें जितनी ज्यादा बढ़तीं पुरोहित लोगो को पैसा उतना ही ज्यादा मिलता। जाति का बन्धन बहुत ज्यादा कड़ा हो रहा था और आम लोग मन्त्र-तंत्र और जादू-टोने से डरते रहते थे। इन बातो से पुरोहितो ने जनता को अपनी मुट्ठी में कर लिया था और क्षत्रिय राजाओ की सत्ता को चुनौती देने लगे थे। इस तरह क्षत्रिय और ब्राह्मणों में संघर्ष चल रहा था। उसी समय बुद्ध एक बहुत बडे सुधारक के रूप में दुनिया के सामने आये और उन्होने ब्राह्मणो के इन अत्याचारो पर और पुराने वैदिक धर्म में जो खराबियाँ आगईं थी उन पर जोरो से

हमला किया। उन्होने शुद्ध जीवन बिताने और भले काम करने पर जोर दिया। और बुद्ध-धर्म को माननेवाले भिक्षु और भिक्षुणियों की संस्था 'बौद्ध-संघ' का भी संगठन किया।

कुछ दिनों तक धर्म के रूप में बुद्ध-धर्म का फैलाव हिन्दुस्तान में बहुत नहीं हुआ। आगे चलकर हम यह देखेंगे कि यह कैसे फैला ? और बाद को खुद इसकी हस्ती यहाँ से कैसे मिट गई। लंका से लेकर चीन तक दूर-दूर के मुल्कों में यह धर्म खूब फैला। लेकिन अपनी जन्मभूमि हिन्दुस्तान में यह ब्राह्मण-धर्म या हिन्दू-धर्म में समा गया। ब्राह्मण-धर्म पर इसका बहुत बड़ा असर हुआ। इसकी वजह से हिन्दू-धर्म में से बहुत से बुरे रीति-रिवाज और अन्ध-विश्वास निकल गये।

इस वक़्त दुनिया में बुद्ध-धर्म के माननेवालो की तादाद सबसे ज्यादा है। ईसाई, इस्लाम और हिंदू-धर्म भी ऐसे धर्म है जिनके माननेवाले दुनिया में बहुत ज्यादा है। इनके अलावा यहूदी, सिख, पारसी वगैरा बहुत से दूसरे धर्म भी हैं। इन सारे धर्मो और इनके प्रवर्तको ने दुनिया के इतिहास को बनाने में बहुत हिस्सा लिया है, इसलिए इतिहास पर गौर करते समय इनकी उपेक्षा हर्गिज़ नही की जा सकती। लेकिन धर्म के बारे में अपनी राय जाहिर करते हुए मुझे कुछ संकोच होता है। इसमें शक नही कि बडे-बडे धर्मो के चलानेवाले दुनिया के बडे-से-बडे और अच्छे-से-अच्छे पुरुष हुए है। लेकिन उनके शिष्य और अनुयायी न तो बडे ही निकले और न भले ही। इतिहास में हम अक्सर देखते है जिस धर्म का मकसद हमें ऊँचा उठाना और सात्त्विक तथा भला और बेहतर बनाना था उसीने हमसे जानवर जैसा व्यवहार कराया। लोगो में ज्ञान की रोशनी फैलाने के बजाय इसनें लोगो को अंधेरे में रक्खा; उदारचित्त बनाने के बजाय उन्हे सकुचित हृदय बना दिया; दूसरो के प्रति सहिष्णु बनाने के बजाय असहिष्णु बना दिया। धर्म के नाम पर बहुत बढ़े-चढ़े और बढिया काम हुए हैं, लेकिन धर्म के ही नाम पर लाखो हत्यायें और सब तरह के अनर्थ भी हुए है।

ऐसी हालत में यह सवाल उठता है, कि धर्म के मामले में हमारा व्यवहार क्या हो ? कुछ लोगो के लिए धर्म का मतलब है परलोक। फिर उसे स्वर्ग, वैकुण्ठ या बहिश्त चाहे जो कहलो। स्वर्ग में जाने की लालसा में लोग धार्मिक आचरण करते है, यह देखकर मुझे ऐसे बालको का ख़याल आता है जो जलेबी पाने के लालच से कोई अच्छा काम करते हैं। अगर कोई बच्चा हमेशा जलेबी या मिठाई की ही बात सोचा करे, तो तुम यह हर्गिज़ न समझोगी कि उसकी शिक्षा ठीक ढंग से हुई है। और उस लड़के या लड़की को तो तुम और भी कम पसन्द करोगी जो अपने सारे काम जलेबी या मिठाई के लालच में ही करे।

तब फिर हम ऐसे बडे-बूढ़ो के लिए क्या राय कायम करे, जो इन बच्चो की तरह काम करते है ? क्योंकि जलेबी के लालच और स्वर्ग के लालच के खयाल में कोई ज्यादा फर्क नहीं है। यह माना कि हम सब लोगो में थोडी-बहुत खुदगर्जी रहती है; लेकिन फिर भी हम कोशिश इसी बात की करते है कि हमारे बच्चे इस तरह से शिक्षा पावे कि वे जहाँतक हो सके निस्वार्थ बनें। कुछ भी हो, हमारे आदर्श बिलकुल स्वार्थ-रहित होने चाहिएँ कि जिनकी वजह से हम अपने जीवन में उन तक पहुँचनें की कोशिश करते रहे। हम सब अपने मकसद तक पहुँचने और अपने कर्मो के फल को देखने की ख्वाहिश रखते है। यह स्वाभाविक ही है। लेकिन हमारा लक्ष्य क्या है ? क्या हमें सिर्फ अपनी ही फिक्र करनी चाहिए, या समाज, देश और मनुष्य-जाति की भलाई की चिन्ता करनी चाहिए ? कुछ भी हो, इस सार्वजनिक हित में ही हमारी अपनी भलाई छिपी हुई है। मेरा खयाल है कि कुछ दिन हुए मैंने अपने एक पत्र में संस्कृत के एक श्लोक का जिक्र किया था, जिसका मतलब यह था कि व्यक्ति को कुटुम्ब के लिए, कुटुम्ब को जाति के लिए और जाति को देश के लिए छोड़ देना चाहिए। यहाँ मै संस्कृत के एक और श्लोक का भी अर्थ तुमको बताना चाहता हूँ, जो भागवत् में आया है। उसका अर्थ यह है :—

"मुझे न तो अष्टसिद्धियो[१] के साथ स्वर्ग की इच्छा है और न जन्म और मृत्यु से छुटकारा पाकर मोक्ष पाने की ही कामना है। मेरी इच्छा तो यह है कि दुखी जनो के दिलो मे पैठ जाऊँ और उनका दुख-दर्द अपने ऊपर लेलूँ, जिससे वे पीडा से मुक्त हो जायँ।"[२]

एक धर्मवाला एक बात कहता है, दूसरे धर्मवाला दूसरी। और ज्यादातर ये लोग एक-दूसरे को मूर्ख या धूर्त समझते है। इनमें से सच्चा कौन है ? चूंकि ये लोग एक ऐसे विषय के बारे में बात-चीत करते हैं, जो न आँख से देखा जा सकता

१. सिद्धियाँ—आठ प्रकार की होती है—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व।

२. इस सम्बन्ध मे भागवत के ये दो श्लोक ध्यान मे रखने योग्य है—

कोनु सस्यादुपायोऽत्र येनाहम् दुखितात्मनाम्।
अन्त प्रविश्य भूतानाम् भवेयं दुखभाक् सदा।।
अपहृत्यार्त्तिमार्तानाम् सुख यदुपजायते।
तस्य स्वर्गोऽपवर्गो वा कला नाऽर्हति षोडशीम्।। —च्यवन ऋषि

× × × ×

नत्वह कामये राज्य न स्वर्ग नाऽपुनर्भवम्।
प्राणिनाम् दुखतप्तानाम् कामये दुःखनाशनम्।। —रतिदेव

है और न बहस-मुबाहिसे से साबित ही किया जा सकता है, इसलिए दलीलो से ऐसे मामलो को तय करना बहुत मुश्किल हो जाता है। भला दोनो पक्षवालो के लिए क्या यह हिमाकत की बात नही है जो ऐसे मामलो पर इतने यकीन के साथ अपनी राय जाहिर करते है और आपस में एक-दूसरे का सिर फोड़ने को तैयार रहते है ? हममें से ज्यादातर संकीर्ण विचारो के होते हैं और बुद्धि के एकदम शून्य रहते है। तब हम यह कैसे मान ले कि जितनी भी सचाई है वह सब हमीको मालूम है। और इस सचाई को अपने पडौसी के गले के नीचे जबरदस्ती उतारने की कोशिश भी कैसे करे ? यह मुमकिन हो सकता है कि हम सचाई पर हो, और यह भी मुमकिन है कि हमारा पडौसी भी सचाई पर हो। अगर तुम किसी पेड़ पर एक फूल देखो, तो उस फूल को तो पेड़ नही कहोगी न ? उसी तरह एक आदमी ने उस पेड़ की पत्तियाँ ही देखी और दूसरे ने सिर्फ उसका तना ही देखा, तो निस्सन्देह हरेक ने उस पेड़ का एक-एक हिस्सा ही देखा है। लेकिन उन हरेक आदमी के लिए यह कैसी बेवकूफी की बात होगी, कि वे इस बात का दावा करने लगे कि सिर्फ़ फूल, पत्ती या अकेला तना ही पेड़ है और अपनी इस बात को मनवाने के लिए एक-दूसरे से लड़ पडें ?

मुझे परलोक में कोई दिलचस्पी नही है। मेरा दिमाग़ तो इन बातो से भरा हुआ है कि इस लोक में—इस दुनिया में—मै क्या करूँ। और अगर इसमें अपना रास्ता साफ-साफ़ दिखाई दे गया तो मै सन्तुष्ट हूँ। अगर इस लोक में मेरा फर्ज साफ़-साफ दीख जाता है, तो मुझे दूसरे लोक की बिलकुल फिकर नही है।

ज्यो-ज्यो तुम बडी होती जाओगी, हर तरह के लोगो से तुम्हारा सम्पर्क बढता जायगा। तुम्हे धार्मिक लोग भी मिलेगे और धर्म को न माननेवाले भी मिलेगे। ऐसे भी लोग तुम्हे मिलेगे जिन्हे न धर्म की परवाह है और न अधर्म की। तुम देखोगी कि बहुत से बडे-बडे गिरजे, धर्म-मठ और मन्दिर ऐसे है जिनके पास बेहद धन और ताकत है। वे उनका कभी अच्छा उपयोग करते है और कभी बुरा। तुम्हे बहुतसे धार्मिक आदमी ऐसे मिलेगे जो बहुत शरीफ और भले है, और ऐसे भी मिलेगे जो धर्म की आड़ में दूसरो को लूटते और धोखा देते है। तुम्हे इन सब बातो पर ख़ुद सोचना होगा और अपने लिए ख़ुद ही फ़ैसला करना होगा। आदमी दूसरो से बहुत-कुछ सीख सकता है, लेकिन बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बाते ऐसी होती हैं जिनको आदमी अपनी खोज और अपने अनुभव से ही प्राप्त कर सकता है। कुछ सवाल ऐसे है जिनपर हरेक स्त्री-पुरुष को ख़ुद अपनी ही राय कायम करनी पड़ती है।

लेकिन निर्णय करने में जल्दबाजी नही करनी चाहिए। किसी भी महत्वपूर्ण विषय पर अपनी राय देने से पहले तुम्हे उसके लिए अपने को उसके योग्य बनाना

होगा। यह ठीक है कि आदमी को खुद ही सोचना चाहिए और हर सवाल का जवाब भी देना चाहिए; लेकिन इसके लिए उसमें उतनी ही योग्यता की भी जरूरत है। तुम किसी दुध-मुँहे बच्चे से यो हरेक बात का निर्णय करने की उम्मीद कैसे रख सकती हो? इसी तरह बहुत से आदमी ऐसे है जो उम्र में तो बडे हो गये है लेकिन जहाँतक उनके मानसिक विकास का सवाल है वे दुध-मुँहे बच्चे से कम नही होते।

मेरा पत्र, आज, साधारण से कुछ बढ़ गया। मुमकिन है तुम्हें यह नीरस भी लगे। लेकिन इस बारे में मै तुम्हे कुछ बताना चाहता था, इसलिए इतना लिख मारा। अगर तुम्हे इसमें से कोई बात समझ में न आये तो कोई बात नहीं। आगे जाकर जल्दी ही तुम सब बाते समझने लगोगी।

: १५ :

ईरान और यूनान

२१ जनवरी, १९३१

आज तुम्हारा खत आया और यह जानकर खुशी हुई कि ममी और तुम अच्छी तरह से हो। मेरी कामना है कि दादू का बुखार भी उतर जाय और उनकी परेशानियाँ दूर हो जायें। उन्होने सारी जिन्दगी बहुत सख्त मेहनत की है और आज भी उन्हे आराम और शान्ति नही मिल पाती है।

मालूम होता है, तुमने पुस्तकालय से लेकर कई किताबे पढ़ डाली हैं। और चाहती हो कि मै दो-चार नाम और सुझा दूं। लेकिन तुमने यह नही बताया कि तुमने कौन-कौन सी किताब पढ़ी है। लेकिन जो लोग बहुतसी किताबें जल्द-जल्द पढ़ डालते है उन्हे मै ज़रा सन्देह की नज़र से देखता हूँ। उनपर यह शक होने लगता है कि ये लोग ठीक तौर से किताबें नही पढ़ते। सिर्फ उनपर सरसरी नज़र डाल जाते है और फिर दूसरे दिन सब कुछ भूल जाते है। अगर कोई किताब पढ़ने के क़ाबिल है तो उसे सावधानी से और अच्छी तरह पूरी-पूरी पढ़नी चाहिए। लेकिन बहुतसी किताबें ऐसी भी है जो पढ़ने के काबिल ही नही है। अच्छी किताबों का चुनना कोई आसान काम नहीं है। तुम कह सकती हो कि तुमने जब अपनी लाइब्रेरी से किताबें चुनी है तो वे ज़रूर अच्छी होगी। नहीं तो हम उन्हे मंगाते ही क्यों? खैर, अभी तो पढ़ती रहो। नैनी जेल से जो कुछ मदद मै कर सकता हूँ, करता रहूँगा। कभी-कभी मै यह सोचता हूँ कि तुम्हारा शारीरिक और मानसिक विकास कितनी तेजी के साथ हो रहा है। मेरी कितनी प्रबल इच्छा है कि मै तुम्हारे पास होता! शायद

जब तक ये चिट्ठियाँ तुम्हारे पास तक पहुँचेंगी, तुम इतनी आगे बढ़ जाओगी कि तुम्हे इनकी ज़रूरत ही न रहे। मैं समझता हूँ कि उस वक्त तक चाँद[1] इनको पढ़ने के क़ाबिल हो जायगी और इस तरह कोई-न-कोई तो ऐसा रहेगा ही जो इनकी कद्र करे।

आओ, अब हम प्राचीन ईरान और यूनान को लौटे चलें और थोडी देर के लिए उनकी आपस की लड़ाइयों पर विचार करे। अपने पिछले एक पत्र में हमने यूनान के नगर-राज्यो और ईरान के उस बडे साम्राज्य का जिक्र किया था जिसके सम्राट को यूनानी लोग डेरियस या दारा कहते है। दारा का यह साम्राज्य बहुत बड़ा था—खाली विस्तार में ही नहीं बल्कि सगठन में भी। ठेठ एशिया-माइनर से लगाकर सिन्ध नदी तक यह फैला हुआ था। मिस्र और एशिया माइनर के कुछ यूनानी शहर भी इसके अन्तर्गत थे। इस विस्तृत साम्राज्य में एक ओर से दूसरी ओर तक अच्छी-अच्छी सड़कें बनी हुई थी, जिनपर शाही डाक बराबर चलती रहती थी। दारा ने किसी न किसी वजह से यूनान के नगर-राज्यो को जीतने का निश्चय किया। इन लड़ाइयो में कई इतिहास में प्रसिद्ध है। इन लड़ाइयों का जो कुछ वर्णन हमें मिलता है वह यूनान के इतिहास-लेखक हेरोडोटस का लिखा हुआ है। वह इन घटनाओ के थोडे ही दिन बाद पैदा हुआ था। जरूर ही अपने वर्णन में उसने यूनानियो के साथ पक्षपात किया है। लेकिन उसका विवरण बहुत दिल-चस्प है और इन पत्रो में मैं तुम्हारे लिए उसके इतिहास के कुछ हिस्से जरूर देना चाहूँगा।

यूनान पर ईरानियो का पहला हमला नाकामयाब रहा। क्योंकि ईरानियो की फौज, कूच के समय, रास्ते में बीमारी और रसद की कमी की वजह से बहुत मुसीबत में फँस गई थी। वह यूनान तक पहुँच भी न सकी और उसे वापस लौट आना पड़ा। ईसा से ४९० बरस पहले ईरानियो का दूसरा हमला हुआ। इस बार ईरानी सेना खुश्की का रास्ता छोड़कर समुद्री रास्ते से आई और एथेन्स के नजदीक ही उसने अपना लंगर डाला। एथेन्स के निवासी इससे बहुत घबड़ा गये, क्योकि ईरानी साम्राज्य की ताकत की प्रसिद्धि उन दिनो बहुत ज्यादा थी। उन्होने डरकर अपने पुराने दुश्मन स्पार्टावालो से सुलह करनी चाही और दोनो ही के एक से दुश्मन के ख़िलाफ उनसे मदद माँगी। लेकिन स्पार्टावालो के पहुँचने के पहले ही एथेन्सवालो ने ईरानी सेना को मार भगाया। यही मेरेथान की प्रसिद्ध लड़ाई है जोकि ईसा से ४९० बरस पहले हुई थी।

१ इन्दिरा की छोटी फुफेरी बहन चन्द्रलेखा पण्डित

यह एक अजीब सी बात मालूम होती है कि एक छोटा सा यूनानी नगर-राज्य एक बड़े साम्राज्य की सेना को हरा दे। लेकिन दरअसल यह जितनी आश्चर्यजनक मालूम पड़ती है उतनी है नहीं। यूनानी लोग जहाँ अपने घर के नजदीक अपने देश के लिए लड़ रहे थे; तहाँ ईरानी सेना अपने देश से बहुत दूर थी और फिर वह साम्राज्य भर के दूर-दूर के हिस्सो के सैनिकों से बनी हुई थी। वे लोग लड़ते जरूर थे, लेकिन इसलिए कि उन्हे तनख्वाहे मिलती थीं। यूनान को जीतने में उनको कोई खास दिलचस्पी नही थी। दूसरी तरफ एथेन्सवाले अपनी आजादी के लिए लड़ रहे थे। उन्हे अपनी आजादी खो देने से मरजाना कहीं ज्यादा पसन्द था। और जो लोग किसी उद्देश के लिए मरने को तैयार रहते हैं वे शायद ही कभी हराये जा सकते है।

इस तरह दारा मैरेथान में हार गया। इसके बाद ईरान पहुँचने पर वह मर गया, और उसकी जगह जैरैक्सीज तख्त पर बैठा। उसे भी यूनान फतह करने की धुन सवार थी। इसके लिए उसने सेना का संगठन करना शुरू किया। यहाँ मैं तुम्हे हेरोडोटस की लिखी एक दिलचस्प कहानी सुनाऊँगा।

आरटाबानस जैरैक्सीज़ का चाचा था। उसका ख़याल था कि ईरानी सेना को यूनान ले जाने में ख़तरा है, इसलिए उसने अपने भतीजे जैरैक्सीज को यह समझाने की कोशिश की कि वह यूनान से लड़ाई न छेडे। हेरोडोटस का कहना है कि जैरैक्सीज़ ने उसे नीचे लिखा जवाब दिया—

"जो कुछ आप कहते हैं उसमे कुछ सचाई तो है, लेकिन आपको हर जगह खतरे का डर न करना चाहिए, और न हरेक जोखिम का ख़याल ही करना ठीक है। अगर आप हरेक घटना को एक ही तराजू से तौलेंगे तो कुछ भी न कर पावेंगे। भावी आशंकाओ से अपने दिल को व्यथित रखकर किसी ख़तरे का मुकाबिला न करने के बजाय आशावादी होकर आधी आपदाओं को सहलेना कहीं अच्छा है। अगर आप हर तजवीज़ पर एतराज तो करेंगे, लेकिन यह न बतलावेंगे कि कौन-सा रास्ता इख्तियार करना चाहिए, तो आपको उतनी ही ज्यादा मुसीबत सहनी होगी, जितनी कि उन लोगो को, जिनका आप विरोध कर रहे हैं। तराज़ू के दोनो पलडे बराबर हैं। कोई आदमी निश्चयपूर्वक यह कैसे जान सकता है कि कौन-सा पलड़ा किधर झुकेगा। मनुष्य तो इसे नहीं जान सकता। लेकिन कामयाबी आमतौर पर उन्ही लोगो के साथ रहती है जो अपने निश्चयो पर अमल करते हैं; उनके साथ नही जो बुज़दिल होते हैं और फूँक-फूँक कर कदम रखते हैं। ईरान की सल्तनत कितनी बड़ी और ताकतवर हो गई है यह आप देखते हैं। अगर मेरे पूर्वाधिकारी आप ही की सी राय के होते या आप जैसे उनके सलाहकार होते। तो आज हमारी सल्तनत जो इतनी बढ़ी-चढ़ी है, वैसी आप कभी न देख पाते, ख़तरे उठाकर ही उन लोगो ने हम लोगो की आज यह शान बना दी है। जितनी

बडी चीज होगी उतने ही बड़े खतरो का सामना करने से ही वह हासिल होती है।"

मैंने यह लम्बा उद्धरण इसलिए दिया है, कि इससे इस ईरानी बादशाह का चरित्र जितना स्पष्ट हमारे सामने आ जाता है, उतना किसी दूसरे वर्णन से नही। आरटाबानस की सलाह आखीर में सच निकली और ईरानी सेना यूनान में हार गई। जैरेक्सीज हार जरूर गया, लेकिन उसके शब्दो में जो सचाई थी उसकी प्रतिध्वनि अभी तक सुनाई देती है और उससे हम सबको शिक्षा मिलती है। आज जब हम बडी-बडी चीजो के लिए कोशिश कर रहे है, हमें यह याद रखना चाहिए कि हमें बडे-बडे खतरो के बीच से भी गुज़रना पडेगा। तभी हम अपने उद्देश तक पहुँच सकेंगे।

बादशाह जैरेक्सीज़ अपनी बडी सेना लेकर एशिया माइनर पार कर गया और दर्रेदानियाल या डार्डेनल्स से उतरकर (जो उस वक्त हैलैस्पोण्ड कहलाता था) योरप पहुँचा। कहते है, रास्ते में जैरेक्सीज ट्राय नगर के खंडहरो को देखने गया था, जहाँ यूनान के शूर-वीरो ने पुराने जमाने में हेलन के लिए लड़ाई लडी थी। फ़ौज को दर्रेदानियाल के उस पार भेजने के लिए दर्रेदानियाल के ऊपर पुल बनाया गया। और जब ईरान की सेना पार उतर रही थी तो पास की एक पहाडी की चोटी पर से संगमरमर के तख्त पर बैठकर, जैरेक्सीज ने उसपर नजर डाली।

"और," हैरोडोटस ने लिखा है, "सारे दर्रे को जहाजो से भरा हुआ देखकर और एबीडोस के मैदान की ओर समुद्र के किनारे को, आदमियो से खचाखच भरा पाकर पहले तो जैरेक्सीज ने खुशी जाहिर की और फिर वह रोने लगा। उसके चाचा आरटाबानस ने, जिसने कि पहले यूनानियो पर चढाई करने का विरोध किया था, जब जैरेक्सीज को रोता हुआ देखा, तो उससे पूछा, 'बादशाह तू जो कुछ अभी कर रहा है ओर जो कुछ कर चुका, इन दोनो मे कितना फर्क है? अभी तू ने खुशी जाहिर की थी और अब तू आँसू गिरा रहा है।' जैरेक्सीज ने जवाब दिया, 'तुम्हारा कहना ठीक है। लेकिन मैं क्या करूँ? जब मैं गिनती कर चुका तो, यह देखकर कि जिन झुण्ड-के-झुण्ड आदमियो को हम यहाँ देख रहे है सौ साल के बाद उनमे से एक भी जिन्दा न रहेगा, मेरे हृदय में करुणा का समुद्र उमड आया और मन मे यह विचार उठा कि इन्सान की जिन्दगी कितनी छोटी सी है?"

इस तरह यह बडी सेना खुश्की के रास्ते आगे बढ़ी और जहाजी बेड़ा समुद्र के रास्ते इसके साथ-साथ चला। लेकिन समुद्र ने यूनानियो का साथ दिया। एक बड़ा तूफान आया, जिससे ईरानियों के बहुत से जहाज़ नष्ट हो गये। यूनानी लोग ईरान की बडी फौज देखकर डर गये थे; इसलिए उन्होने फौरन अपने-

आपसी झगडो को भुला दिया, और हमला करनेवालो के खिलाफ एक हो गये। नतीजा यह हुआ कि यूनानी लोग पीछे हटते गये और थर्मापली में उन्होने ईरानियों को रोकने की कोशिश की। थर्मापली एक बहुत तंग रास्ता था, । उसके एक तरफ पहाड़ था और दूसरी तरफ समुद्र, जिससे थोडे से आदमी भी दुश्मन से मोरचा ले सकते थे। लियोनीडस को तीन सौ स्पार्टा-निवासियो के साथ इस दर्रे की हिफ़ाजत के लिए मुकर्रर किया गया। दूसरे ग्यारह सौ यूनानी भी उसके साथ थे। मैरेथॉन की लड़ाई से ठीक दस वर्ष बाद भाग्य-निर्णय के इस दिन, इन वीरो ने अपने मुल्क की बखूबी सेवा की। इन्होने ईरानियो की फौज़ को रोक दिया और यूनान की बाकी सेना पीछे हटती गई। इस तंग घाटी में एक के बाद दूसरा योद्धा काम आता था, लेकिन जैसे ही एक मरता कि दूसरा उसकी जगह ले लेता था। इस तरह ईरानी सेना आगे नही बढ़ सकी। लियोनीडस और उसके चौदह सौ साथी जब एक-एक करके थर्मापली में काम आचुके तब कही ईरानी सेना आगे बढ़ पाई। यह बात ईसा के ४८० बरस पहले की है। यानी आज से २४१० बरस हुए। मगर आज भी इन लोगों की अजेय वीरता याद करके हृदय कॉप उठता है। आज भी थर्मापली जानेवाले मुसाफिर डबडबाती हुई ऑखो से लियोनीडस और उसके साथियो के सन्देश को पत्थर पर खुदा हुआ पढ़ सकते है। सन्देसा यह है—

"ओ राहगीर! स्पार्टा को जाकर बताना कि उसका हुक्म माननेवाले हम लोग यहाँ पडे हुए है।"[१]

मौत पर विजय पानेवाली हिम्मत अद्भुत होती है। लियोनीडस और थर्मापली अमर हो गये, और सुदूर हिन्दुस्तान में भी जब हम लोग इनकी याद करते है तो रोमाञ्च हो आता है। तब भला हमारे दिल और हमारी भावना का क्या कहना, जब हम अपने देशवासियो के बारे में सोचते है और अपने पूर्वजों का स्मरण करते है, जिन्होने कि हमारे लम्बे इतिहास के एक सिरे से दूसरे सिरे तक मौत को हिकारत की नजर से देखा है और मुस्कराते हुए उसे गले लगाया है; जिन्होंने अपमान और गुलामी को मौत से बेहतर समझा है, पर जुल्म के सामने सिर झुकाने के बजाय उसको मिटाना ज्यादा अच्छा माना है। चित्तौड़ और उसकी अनुपम कहानी का, राजपूत स्त्री और पुरुषो की बहादुरी के क़िस्सो का जरा खयाल तो करो, और आजकल के जमाने पर भी नजर डालो। हमारे उन साथियो का भी खयाल करो जिनका खून हमारे खून की ही तरह गरम है, और जिन्होने हिन्दुस्तान की आजादी के लिए मौत का सामना करने से भी मुँह नही मोड़ा है।

१. "Go tell to sparta, thou that passest by'
That here obedient to their words we lie."

थर्मापली ने ईरानी सेना को थोडी देर के लिए रोक जरूर लिया, लेकिन वह रुकावट बहुत देर के लिए क़ायम नहीं रही। यूनानी लोग ईरानी सेना के सामने से हट गये और कुछ यूनानी शहरो ने हार भी मानली। लेकिन गर्वीले एथेन्स-वासियो ने आत्म-समर्पण के बजाय यह ठीक समझा कि अपने प्यारे शहर को बरबाद होने के लिए छोड़कर वहाँ से चले जायँ। इसलिए सारी जनता ज्यादातर जहाजो के जरिये शहर से बाहर निकल गई। ईरानी लोग जब शहर में घुसे तो उसे निर्जन पाया और उन्होंने उसे जला दिया। मगर यूनानी जल-सेना अभीतक हारी नही थी। इसलिए सैलेमिस[1] टापू के पास बहुत बडी लड़ाई हुई। ईरानी जाहाज नष्ट कर दिये गये और इस आफ़त से बिलकुल निराश होकर जैरैक्सीज ईरान वापस लौट गया।

ईरान इसके बाद भी कुछ दिनो तक एक बड़ा साम्राज्य बना रहा। लेकिन मैरेथान और सैलेमिस की लड़ाई के बाद उसके पतन की शुरूआत हो गई थी। बाद में यह कैसे नष्ट हुआ, इस पर हम फिर विचार करेगे। उस जमाने में जो लोग रहे होगे, उन्हें इस बडे साम्राज्य को डगमगाते देखकर जरूर ताज्जुब हुआ होगा। हैरोडोटस ने इस पर विचार करके बताया है कि उससे हमें क्या नसीहत मिलती है। उसका कहना है कि :—

> "किसी भी राष्ट्र को तीन मजिलो मे से होकर गुजरना पडता है। पहले उसको सफलता मिलती है,फिर उस सफलता के अभिमान मे अन्याय और उद्दण्डता शुरू होती है और तब इन बुराइयो के फलस्वरूप उसका पतन हो जाता है।"

: १६ :

यूनानियों का वैभव

२३ जनवरी, १९३१

ईरानियों पर यूनानियो की विजय के दो परिणाम हुए। ईरानी साम्राज्य धीरे-धीरे गिरने लगा और ज्यादा से ज्यादा कमजोर होता गया। दूसरी तरफ़ यूनानी लोगो ने अपने इतिहास के शानदार युग मे कदम रक्खा। राष्ट्र के जीवन की यह शान कुछ दिनो तक ही रही। कुल मिलाकर उसका यह दबदबा २०० बरस से ज्यादा नही ठहरा। उस का यह वैभव ईरान के या उसके पहले के दूसरे विशाल साम्राज्यो के वैभव के जेसा नहीं था। बाद में महान् सिकन्दर पैदा हुआ। और

१. सैलेमिस—यूनान का प्रसिद्ध टापू। ५८० ई० पूर्व मे इसके पास यूनानी और ईरानी जल-सेना की प्रसिद्ध लड़ाई हुई थी।

उसने कुछ दिनों के लिए अपनी विजयों से दुनिया को हैरत में डाल दिया। लेकिन इस समय हम उसकी चर्चा नही कर रहे हैं। हम तो ईरान की लड़ाइयो और सिकन्दर के आगमन के बीच के जमाने का जिक्र कर रहे हैं--उस जमाने का, जो थर्मापली और सैलेमिस से १५० बरस तक रहा।

ईरान से जो खतरा था उसकी वजह से तमाम यूनानी एक हो गये थे। लेकिन जब यह खतरा जाता रहा तो उनमें फिर फूट पैदा हो गई और वे थोडे ही दिनों बाद आपस में झगड़ने लगे। खासकर एथेन्स और स्पार्टा के नगर-राज्य एक-दूसरे के घोर प्रतिद्वन्द्वी थे। लेकिन हम उनके झगडो की चर्चा की झंझट में न पडेंगे। उनका कोई महत्व नहीं है। हमें सिर्फ इसलिए उनकी याद आती है कि उन दिनो दूसरी बातों में यूनान की महानता बहुत बढ़ी हुई थी। उस जमाने से सम्बन्ध रखनेवाली सिर्फ थोडी सी किताबें, कुछ मूर्तियां और कुछ खण्डहर ही अब हमें मिलते हैं। लेकिन ये थोडी-सी चीजें भी ऐसी हैं कि उन्हे देखकर हमारा दिल खुशी से भर जाता है, और यूनानी लोगो की अनेकांगी महानता पर हम ताज्जुब करने लगते हैं। इन सुन्दर मूर्तियो और इमारतो के बनाने में इनके दिमाग कितने उन्नत और हाथ कितने कुशल रहे होंगे। फीडियास उस जमाने का मशहूर मूर्ति बनानेवाला था। उसके अलावा और भी कई मशहूर लोग थे। इनके दु:खान्त और सुखान्त दोनो ही तरह के नाटक, अभी भी अपने जमाने के सब से उत्तम नाटक माने जाते हैं। इस वक्त तो तुम्हारे लिए सोफोक्लीज[1], ऐस्किलस[2], यूरिपिडीज[3] एरिस्टोफेनीज[4],

१ सोफोक्लीज--यूनान का प्रसिद्ध दुखान्त नाटककार और कवि। इसका समय ४९५ से ४०५ ई० पू० है। ४६८ ई० पू० मे इसने अपने प्रतिद्वन्द्वी एस्किलस को हराकर इनाम पाया। तबसे ४९१ ई० पू० तक वह यूनान का कवि सम्राट् रहा।

२ एस्किलस--एक प्रसिद्ध ग्रीक नाटककार। इसका जन्म ईसा से पहले ५२५ साल मे हुआ था। मैरेथान, सेलेमिस और लिटिपो की लड़ाइयो मे इसने हिस्सा लिया और दो बार इसे अपनी दो नाटको पर, सर्वोत्तम दु खान्त नाटक पर दिया जानेवाला पुरस्कार मिला। कहा जाता है कि इसने कुल ७० दुखान्त नाटक लिखे, जिनमे ७ अब भी मौजूद है। करीब ७० बरस की उम्र मे उसकी मृत्यु हुई।

३ यूरीपिडीज--यूनान का प्रसिद्ध दुखान्त नाटककार और कवि। इसका जन्म ईसा से ४८० वर्ष पूर्व हुआ था। यह नाटको मे आदर्श के बजाय वास्तविकता के वर्णन पर जोर देता था। इसे अपने नाटको पर इनाम मिला था इसकी कविता बड़ी अच्छी है। यह उस समय के धर्म का मजाक उड़ाया करता था।

४ एरिस्टोफेनीज--यह एथेन्स का प्रसिद्ध हसोड कवि और नाटककार था। इसका समय क़रीब ४४५ से ३८० ईसा से पहले तक का है। इसके सुखान्त नाटको

मैनेण्डर[१], पिण्डार[२], सैफो[३], और कुछ दूसरो के सिर्फ नाम ही दिये जा सकते है। लेकिन बडी होने पर तुम उन्हे पढ़ोगी और मुझे आशा है, कि तब यूनान के उस वैभव का कुछ अन्दाज लगा सकोगी।

यूनानी इतिहास का यह जमाना हमें यह चेतावनी देता है कि किसी देश के इतिहास को हम किस तरह से पढ़ें। अगर हम यूनानी राज्यों में होनेवाली टुच्ची लड़ाइयो और ओछेपन की दूसरी बातो पर ही ध्यान देते रहे तो हमें यूनानियो के बारे में क्या मालूम हो सकता है? अगर हम उनको समझना चाहते है, तो हमें उनके विचारो की तहतक पहुँचना पडेगा और समझना होगा कि वे क्या सोचा-विचारा करते थे और उन्होने क्या-क्या किया है? असल में जो चीज महत्व की है, वह तो है, किसी जाति के मानसिक विकास का इतिहास। और यही वह चीज है, जिसने मौजूदा योरप को बहुत-सी बातो में पुरानी यूनानी सभ्यता का बच्चा बना दिया है।

यह बात भी अजीब और बडी दिलचस्प मालूम होती है कि किस तरह कौमो की जिन्दगी में ऐसे शानदार युग आते है और चले जाते है। थोडी देर के लिए वे हरेक चीज को चमका देते है और उस जमाने और उस देश के पुरुषो और स्त्रियो में सौन्दर्य और कलापूर्ण वस्तुयें बनाने की योग्यता पैदा कर देते है। सारी जाति में एक नई जिन्दगी पैदा हो जाती है। हमारे देश में भी ऐसे युग हुए हैं। हमारे यहाँ इस तरह का सबसे पुराना युग, जो हम जानते हैं, वह था, जब उपनिषद् और दूसरे ग्रन्थ लिखे गये। दुर्भाग्य से हमारे पास उस जमाने का कोई लिखित इतिहास नही है। मुमकिन है, बहुत-सी सुन्दर और महान् रचनायें नष्ट हो गई हो या कहीं छिपी पडी हो और खोज करके निकाले जाने की राह देख रही हो। लेकिन फिर भी हमारे पास इतना मसाला जरूर है, जिससे यह बात साफ हो जाती है कि

से उस जमाने की बहुत-सी बातो का पता चलता है और इसके शाब्दिक व्यंग चित्रो से उस समय के प्रधान व्यक्तियो का व्यक्तित्व आँखो के सामने खिच जाता है।

१ मैनेण्डर—यूनान के एथेन्स नगर-राज्य का सुखान्त नाटको का प्रसिद्ध नाटककार और कवि। ई० पू० ३४२ मे इसका जन्म हुआ और २९१ ई० पू० मे पाइरियस के बन्दरगाह के पास के समुद्र मे तैरता हुआ डूब गया।

२ पिण्डार—यूनान का लिरिक कविता का सर्वोत्तम कवि। करीब ५५२ ई० पू० मे इसका जन्म हुआ था। यूनानी राष्ट्रों और राजाओ में इसकी कविता की बडी माग रहती थी। इसकी इपिस्सिया नामक कविता ही अब बाकी बची है, जो चार जिल्दो मे है।

३ सैफो—यूनान की प्रसिद्ध कवियत्री। यह ५८० ई० पू० मे हुई। कविता, फ़ैशन और प्रेम की यह अपने समय की रानी थी।

उस पुराने जमाने के भारतीय बुद्धि और विचार में कितने बढ़े-चढ़े थे। बाद के भारतीय इतिहास में भी इस तरह के शानदार युग पाये जाते हैं और सम्भव है, अपने युग-युगान्तरों में घूमते-घामते शायद हमारी किसी शानदार युग से फिर भेंट हो जाय।

एथेन्स उस जमाने में खास तौर से मशहूर हो गया था। उसका नेता एक बड़ा भारी राजनीतिज्ञ था, जिसका नाम पैरिक्लीज था। ३० बरस तक वह एथेन्स में हुकूमत करता रहा। उस जमाने में एथेन्स बहुत ऊँचे दरजे का शहर बन गया था। सुन्दर-सुन्दर इमारतों से वह भरपूर था और बड़े-बड़े कलाकार और विचारक वहाँ रहते थे। आज भी वह पैरिक्लीज का एथेन्स कहा जाता है और पैरिक्लीज के जमाने की हम चर्चा किया करते हैं।

हमारे इतिहास-लेखक मित्र हेरोडोटस ने, जो करीब-करीब इन्हीं दिनों एथेन्स में रहता था, एथेन्स की इस उन्नति पर विचार किया था और हरेक बात का नैतिक परिणाम निकालने की उसे ख्वाहिश रहा करती थी। इसलिए उसने एक नैतिक परिणाम निकाला था। अपने इतिहास में वह लिखता है :—

"एथेन्स की ताकत बढ़ी यह इस बात का प्रमाण है—और ये प्रमाण आपको सब जगह मिल सकते हैं—कि आजादी एक अच्छी चीज़ है। जबतक एथेन्सवासियों पर निरकुश शासन होता था, वे अपने किसी भी पड़ोसियों से लड़ाई में या और किसी बात में नहीं बढ़ पाते थे। लेकिन जबसे उन्होंने अपने यहाँ के निरकुश शासकों को खत्म कर डाला, तबसे वे अपने पड़ोसियों से बहुत आगे बढ़ गये। इससे यह जाहिर होता है कि गुलामी में वे अपनी इच्छा से कोशिश नहीं करते थे, बल्कि अपने मालिक के स्वार्थ का काम समझकर मजदूरी-सी करते थे। लेकिन जब वे आज़ाद हो गये तो हरेक व्यक्ति अपनी इच्छा से, बड़ी लगन से, ज्यादा-से-ज्यादा काम करने लगा।"

मैंने इस खत के शुरू में उस जमाने के कुछ बड़े-बड़े आदमियों के नाम बताये हैं। लेकिन मैंने अभी तक एक ऐसे बड़े आदमी का नाम नहीं बताया, जो उस वक़्त का ही नहीं, उस सारे युग का सबसे बड़ा आदमी हुआ है। उसका नाम है सुकरात[1]

[1] सुकरात—इसे सॉक्रेटीज भी कहते हैं। यह यूनान देश के एथेन्स नगर-राज्य का मशहूर वेदान्ती था। इसका जन्म ४७९ ई० पू० में हुआ था। ३९९ ई० पू० में उस पर नौजवानों को बिगाड़ने और दूसरे देवताओं में विश्वास करने का जुर्म लगाया गया। लेकिन यह तो बहाना था। असली कारण तो राजनैतिक था। उसे मौत की सजा दी गई, और जहर का प्याला उसके पास भेजा गया, जिसे वह खुशी से पी गया। आखिरी दम तक वह अफलातून और अपने दूसरे शिष्यों से आत्मा की अमरता की चर्चा करता रहा। वह बड़ा विद्वान् था।

या सॉक्रेटीज । यह फ़िलासफ़र था और हमेशा सत्य की तलाश में रहता था । उसके लिए सच्चा ज्ञान ही एक ऐसी चीज थी, जिसे वह प्राप्त करने योग्य समझता था । वह अपने मित्रों और जान-पहचान के लोगों से अक्सर कठिन समस्याओ पर विचार और चर्चा करता रहता था, जिससे बहस-मुबाहिसे में शायद कोई सचाई निकल आये । उसके कई शिष्य थे, उनमें सबसे बड़ा प्लेटो[१] या अफलातून था । अफलातून ने कई किताबें लिखी है, जो आज भी मिलती है । इन्ही किताबो से हमें उसके गुरु सुकरात का बहुत-कुछ हाल मिलता है । यह तो साफ है कि सरकारें ऐसे आदमियो को पसन्द नहीं किया करतीं, जो हमेशा नई-नई खोज में लगे रहते हों---वह सचाई की तलाश पसन्द नहीं करती । एथेन्स की सरकार को, जो कि पैरिक्लीज के जमाने के थोडे दिन बाद ही हुई थी, सुकरात का रंग-ढंग पसन्द नही आया । उस पर मुकदमा चलाया गया और उसे मौत की सज़ा दी गई । सरकार ने उससे कहा कि अगर वह लोगो से बहस-मुबाहिसा करना छोड़ दे और अपनी चाल-ढाल बदल दे तो उसे छोड दिया जा सकता है । लेकिन सुकरात ने ऐसा करने से इन्कार किया और जिस बात को अपना फ़र्ज समझता था, उसे छोडने के बजाय जहर के प्याले को अच्छा समझा---जिसे पीकर वह मर गया । मरते वक़्त उसनें अपने पर इलजाम लगानेवालो, जजो और एथेन्सवासियो को सम्बोधित करते हुए उसने कहा :---

"अगर आप लोग मुझे इस शर्त पर रिहा करना चाहते हो कि मैं सत्य की अपनी खोज को छोड दू, तो मैं यह कहूँगा कि ऐ एथेन्सवासियो ! मैं आप लोगो को धन्यवाद देता हूँ । पर मैं आपकी बात मानने के बजाय ईश्वर का हुक्म मानूँगा, जिसने, जैसा कि मेरा विश्वास है, मुझे यह काम सौंपा है और जबतक मेरे दम-मे-दम है, मैं अपने इस काम से बाज न आऊँगा । मैं अपना यह तरीका बराबर जारी रक्खूगा कि जो कोई मुझे मिलेगा, उससे प्रणाम करके मैं यही पूछूगा---'क्या तुम्हे इस बात मे शर्म नही लगती कि तुमने अपना ध्यान धन और इज्जत के पीछे लगा रक्खा है और सचाई या ज्ञान की ओर अपनी आत्मा को उच्च बनाने की कोई फिक्र नही कर रहे हो ?' मैं नही जानता कि मौत क्या चीज है । मुमकिन है, वह अच्छी चीज हो---मैं उससे नही डरता । लेकिन मैं यह जानता हूँ कि अपनी जगह और जिम्मेदारी को छोडकर भाग जाना बुरा काम है । और इसलिए मैं जिस चीज को निश्चयपूर्वक बुरा समझता हूँ, उससे, उस चीज को, जो मुमकिन है, अच्छी हो ज्यादा अच्छी समझता हूँ ।"

१, प्लेटो---सुकरात का भक्त और शिष्य था । वह ४२७ ईस्वी पूर्व मे पैदा हुआ था और ३४७ ई० पूर्व में मर गया था । उसने एथेन्स में एक स्कूल (Academy) स्थापित किया था जहाँ फिलास्फी और मेटा फिजिक्स की शिक्षा दी जाती थी । उसने राजनीति पर कई पुस्तकें लिखि है जिनमे "प्लेटो का प्रजातन्त्र" अधिक प्रसिद्ध है ।

अपनी जिन्दगी में सुकरात ने सत्य और ज्ञान की बहुत सेवा की। लेकिन इससे भी ज्यादा उनकी सेवा उसने अपनी मौत से की है।

आजकल तुम अक्सर साम्यवाद और पूंजीवाद या अनेक दूसरी समस्याओ के बारे में होनेवाली चर्चाओ को पढ़ा या सुना करती होगी। दुनिया में बहुत-सी मुसीबते और अन्याय पाये जाते हैं। बहुत-से लोग इस दशा से बहुत असन्तुष्ट हैं और इसे बदलना चाहते हैं। अफलातून ने भी शासन-सम्बन्धी समस्याओ पर विचार किया था। और इस विषय पर उसने लिखा भी है। इस प्रकार उस जमाने में भी लोग इस बात का विचार करते थे कि किसी देश के समाज या सरकार की शक्ति कैसे बदली जा सकती है, जिससे चारों ओर ज्यादा सुख और शान्ति हो।

जब अफलातून बूढ़ा होने लगा, एक दूसरा यूनानी, जो बाद में बहुत मशहूर हो गया, सामने आरहा था। उसका नाम था अरस्तू[1] या एरिस्टाटल। महान् सिकन्दर या 'एलेक्जेण्डर दि ग्रेट' का वह शिक्षक रह चुका था और सिकन्दर ने उसके काम में बहुत मदद की थी। अरस्तू सुकरात और अफलातून की तरह फिलासफी—तत्वज्ञान—की समस्याओ में नहीं उलझता था। वह ज्यादातर कुदरत की चीजों और उसके तौर-तरीको के निरीक्षण में लगा रहता था। इसको प्रकृति-दर्शन या आजकल अक्सर प्राकृतिक विज्ञान कहते हैं। इस तरह अरस्तू को पहले जमाने का वैज्ञानिक कह सकते हैं।

अब हमें अरस्तू के शिष्य महान् सिकन्दर की तरफ आजाना चाहिए और उसकी तेज जीवन-यात्रा पर नजर डालनी चाहिए। लेकिन यह कल होगा। आज मैंने बहुत काफी लिख डाला है।

आज वसन्त पंचमी है—वसन्त की शुरूआत है। सरदी का छोटा-सा मौसम बीत चुका और हवा का तीखापन जाता रहा। चिड़ियाँ अब ज्यादा-से-ज्यादा तादाद में आने लगी हैं और अपने गानो से सारे दिन को गुलजार रखती हैं। और आज से ठीक पन्द्रह बरस पहले, आज ही के दिन, दिल्ली शहर में, तुम्हारी ममी के साथ मेरी शादी हुई थी।

---

१. अरस्तू—यह अरिस्टाटल भी कहलाता है। यह एक प्रसिद्ध यूनानी तत्ववेत्ता (फिलासफर) था। इसका जन्म ईसा से पहले ३८४ साल मे हुआ था। यह प्रसिद्ध दार्शनिक अफलातून (प्लेटो) का शिष्य और सिकन्दर महान् का गुरु था। इसमे असाधारण प्रतिभा और विद्वत्ता थी और पश्चिमी राजनीति, दर्शन और तर्क के विद्यार्थी को उसके ग्रन्थ अब भी लाजमी तौर पर पढने पडते हैं। उसका 'राजनीति' नामक ग्रन्थ बडा प्रसिद्ध है।

: १७ :

एक मशहूर विजेता : लेकिन घमण्डी युवक

२४ जनवरी, १९३१

अपने पिछले खत में, और उसके पहले भी मैंने तुम्हे महान् सिकन्दर के बारे में कुछ लिखा था। मेरा खयाल है कि मैंने उसे यूनानी बताया है। लेकिन ऐसा कहना एकदम सही न होगा। असल में वह मकदूनिया या मेसीडोनिया का रहनेवाला था, जो यूनान के ठीक उत्तर में है। मकदूनियावाले कई बातो में यूनानियो की तरह थे। उन्हे तुम यूनानियो के चचेरे भाई कह सकती हो। सिकन्दर का पिता फिलिप मकदूनिया का बादशाह था।। वह बहुत काबिल था। उसने अपने छोटे से राज्य को बहुत मजबूत बना लिया था और एक बहुत प्रभावशाली और चुस्त सेना सगठित कर ली थी। सिकन्दर 'महान्' कहलाता है और इतिहास में बहुत मशहूर है। लेकिन उसने जो कर दिखाया, इसकी वजह तो यह थी कि उसके पिता ने पहले ही से उसके लिए जमीन तैयार कर रक्खी थी। सिकन्दर बड़ा आदमी था या नहीं, यह कह सकना मुश्किल काम है। कम-से-कम मैं अपने अनुकरण करने के लिए उसे वीर नहीं मानता। लेकिन थोडी ही जिन्दगी में उसने दो महाद्वीपो पर अपना नाम अकित कर दिया और इतिहास में वह पहला विश्व-विजयी माना जाता है। मध्यएशिया के भीतर के देशो में सिकन्दर के नाम से वह अभी तक मशहूर है। असल में वह चाहे जैसा रहा हो, पर इतिहास के पन्नो में वह बड़ा तेजस्वी और शानदार माना गया है। बीसियो शहर उसके नाम पर बसाये गये, जिनमें से बहुत-से आजतक भी मौजूद है। इनमें सबसे बड़ा शहर मिस्र का अलेक्जेण्ड्रिया या सिकन्दरिया है।

जब सिकन्दर बादशाह हुआ तब उसकी उम्र सिर्फ बीस साल की थी। महानता प्राप्त करने के हौसले और जोश से उसका दिल भरा हुआ था। अपने पिता द्वारा सुसंगठित सेना को लेकर अपने पुराने दुश्मन ईरान पर धावा करने के लिए वह बेताब हो रहा था। यूनानी लोग न तो फिलिप को चाहते थे, न सिकन्दर को। लेकिन उनकी ताकत को देखकर वे लोग कुछ दब से गये थे। इसलिए एक-एक करके उन सब यूनानियो ने ईरान पर धावा करनेवाली सेना का सेनापति सिकन्दर को मान लिया था। इसतरह उन्होने इस नई ताकत के सामने सिर झुका दिया जो उस समय पैदा हो रही थी। थीब्स नाम के एक यूनानी शहर ने सिकन्दर का आधिपत्य नहीं माना और बलवा कर दिया। इस पर सिकन्दर ने, उस पर बडी क्रूरता और निर्दयता के

साथ आक्रमण करके, उस मशहूर शहर को नष्ट कर दिया, उसकी इमारते ढहा दी, बहुत से नगर-निवासियो को कत्ल कर डाला और हजारो को गुलाम बनाकर बेंच दिया। अपने इस जगलीपन के बर्ताव से यूनान को उसने और भयभीत कर दिया। बर्बरता और जंगलीपन की यह और इसी तरह की दूसरी घटनायें ऐसी थी, जो सिकन्दर के हाथो हुई थीं और जिनकी वजह से सिकन्दर हमारी नजरों में तारीफ के काबिल नही रह जाता। हमें नफरत पैदा होती है और हम उससे दूर भागने की कोशिश करते है।

सिकन्दर ने मिस्र को, जो उस वक्त ईरानी बादशाह के अधीन था, आसानी से जीत लिया। इसके पहले ही वह ईरान के बादशाह तीसरे दारा को, जो जैरेक्सीज का उत्तराधिकारी था, हरा चुका था। दूसरी बार उसने फिर ईरान पर हमला किया और दारा को दूसरी वार फिर हराया। शाहँशाह दारा के विशाल महल को यह कहकर तहस-नहस कर दिया और जला डाला कि जैरेक्सीज ने एथेन्स को जो जलाया था, उसीका यह नतीजा है।

फारसी जबान में एक पुरानी किताव पाई जाती है जो फ़िरदौसी नामक कवि ने एक हजार वर्ष हुए लिखी थी। उसे शाहनामा कहते है। वह ईरान के बादशाहो की एक तवारीख़-सी है। उसमें दारा और सिकन्दर की लड़ाइयो का भी बहुत काल्पनिक ढंग से वर्णन किया गया है। उसमें लिखा है कि सिकन्दर से हार जाने पर दारा ने हिन्दुस्तान से मदद माँगी। 'हवा की तरह तेज़ रफ्तार से चलनेवाला ऊँट-सवार' पुरु या पोरस के पास भेजा, जो उस वक्त हिन्दुस्तान के उत्तर-पश्चिम में राज्य करता था। लेकिन पोरस उसकी जरा भी मदद न कर सका। थोड़े दिनो बाद उसे खुद ही सिकन्दर के हमले का मुकाबिला करना पड़ा। इस किताब में—फिरदौसी के शाहनामे में—एक बडी दिलचस्प बात यह है कि उसमें हिन्दुस्तान की तलवार और कटार का, ईरानी राजाओ और सरदारों द्वारा इस्तेमाल किये जाने का, बहुत काफी जिक्र पाया जाता है। इससे पता चलता है कि सिकन्दर के जमाने में भी हिन्दुस्तान में बढिया फौलाद की तलवारे बनती थीं, जिनकी विदेशी मुल्को में बडी क़दर थी।

सिकन्दर ईरान से आगे बढ़ता गया। उस इलाके को, जहां आज हेरात, काबुल और समरकन्द है पार करता हुआ वह सिन्ध नदी की उत्तरी घाटी तक पहुँच गया। वहीं पर उसको उस हिन्दुस्तानी राजा से मुठभेड़ हुई, जिसने सबसे पहले उसका मुकाबिला किया। यूनान के इतिहास-लेखक उसका नाम अपनी भाषा में पोरस बताते है। उसका असली नाम भी कुछ इसी तरह का रहा होगा, लेकिन हम

नहीं जानते कि वह क्या था। कहते हैं कि पोरस ने बड़ी बहादुरी से मुक़ाबिला किया और उसे जीतना सिकन्दर के लिए कोई आसान काम साबित नहीं हुआ। कहते हैं कि वह बहुत लम्बे डील-डौल का और बड़ा बहादुर आदमी था। सिकन्दर पर उसकी हिम्मत और बहादुरी का इतना असर पड़ा कि उसके द्वारा अपने को हरा दिये जाने पर भी उसने उसे उसकी गद्दी पर क़ायम रखा। लेकिन अब वह राजा के बजाय यूनानियो का माण्डलिक यानी गवर्नर हो गया।

सिकन्दर उत्तर-पश्चिम के खैबर के दर्रे को पारकर रावलपिंडी से कुछ दूर उत्तर में तक्षशिला[1] के रास्ते हिन्दुस्तान में आया। आज भी तुम्हे इस पुराने शहर के खंडहर देखने को मिल सकते हैं। पोरस को हराने के बाद सिकन्दर ने दक्षिण की ओर गंगा की तरफ बढ़ने का इरादा किया था। लेकिन बाद में उसने ऐसा नही किया, और सिन्ध नदी की घाटी में से होकर वह वापस चला गया। यह एक शंकास्पद बात है कि अगर सिकन्दर हिन्दुस्तान के अन्दर के हिस्से की तरफ बढा होता तो क्या उस की विजय जारी रहती ? या हिन्दुस्तानी सेनाओ ने उसे शिकस्त दे दी होती ? पोरस के-से एक सरहदी राजा ने जब उसे इतना परेशान किया तो यह बहुत मुमकिन मालूम होता है कि बीच के हिन्दुस्तान के बडे-बडे राज्य सिकन्दर को रोकने के लिए काफी मजबूत साबित होते। लेकिन सिकन्दर क्या चाहता था और क्या नही, यह दूसरी बात है पर उसकी सेना ने अपना रास्ता निश्चित कर लिया। कई बरसो से घूमते-घूमते वह बहुत थक गई थी। शायद हिन्दुस्तानी सिपाहियो के रण-कौशल का भी उसपर असर पड़ा, इसलिए हारने की जोखिम में वह अपने को नहीं डालना चाहती थी। वजह चाहे जो रही हो, सेना ने वापस लौटने की जिद की और सिकन्दर को राजी होना पड़ा। लेकिन वापसी का सफर बहुत मुसीबत का साबित हुआ। रसद और पानी की कमी की वजह से फौज को बहुत नुकसान पहुँचा। इसके बाद ही ईसा से ३२३ साल पहले सिकन्दर बेबीलन पहुँचकर मर गया। ईरान पर हमला करने के लिए रवाना होनेके बाद वह अपनी मातृ-भूमि मकदूनिया को कभी नहीं देख पाया।

१. तक्षशिला—जिला रावलपिण्डी (पजाब) का एक अत्यन्त प्राचीन और प्रसिद्ध नगर। रामायण के जमाने मे यह गन्धर्वो की राजधानी थी और महाभारत के अनुसार यही जनमेजय ने अपना सर्पयज्ञ किया था। पहली सदी में यह नगर अमन्द्र नाम से भी मशहूर था। इस शहर के खण्डहर छ वर्गमील मे फैले हुए है और उनमे बहुत-से बौद्ध मन्दिर और स्तूप देखने में आते है। वहाँ का विश्वविद्यालय प्राचीन इतिहास मे बड़ा मशहूर रहा है। उसमे शिक्षा पाने के लिए मध्यएशिया और चीन तक से विद्यार्थी आया करते थे।

इस तरह सिकन्दर ३३ बरस की उम्र में मर गया। इस 'महान्' आदमी ने अपनी छोटी-सी जिन्दगी में क्या किया ? इसने कुछ शानदार लड़ाइयाँ जीतीं। बिला शक वह बहुत बड़ा सेनापति था। लेकिन साथ ही वह अभिमानी और घमण्डी भी था, और कभी-कभी बहुत निर्दयी और उद्दण्ड हो जाता था। अपने को वह बिलकुल देवता समझता था। क्रोध के आवेश में या क्षणिक उन्माद में उसने अपने कई सच्चे दोस्तों को क़त्ल कर दिया और बड़े-बड़े शहरों को उसके रहनेवालों समेत, नष्ट कर डाला। अपने बनाये साम्राज्य में, अपने बाद वह कुछ भी ठोस चीज़—यहां तक कि अच्छी सड़कें भी—नहीं छोड़ गया। आकाश के टूटनेवाले तारे की तरह यह एकदम चमका और गायब हो गया, और अपने पीछे अपनी स्मृति के अलावा और कुछ भी नहीं छोड़ गया। उसकी मौत के बाद, उसके घर के लोगों ने एक-दूसरे को क़त्ल कर दिया। उसका साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। सिकन्दर को संसार-विजयी कहा जाता है और कहते हैं कि एक बार वह बैठा-बैठा इसलिए रो उठा कि उसके जीतने के लिए दुनिया में अब कुछ बाकी नहीं बचा था। लेकिन सच तो यह है कि उत्तर-पश्चिम के कुछ हिस्से को छोड़कर हिन्दुस्तान को ही वह बिलकुल नहीं जीत पाया था। चीन की उस वक़्त भी बहुत बड़ी सल्तनत थी लेकिन सिकन्दर उसके नजदीक तो पहुँच भी नहीं पाया था।

उसकी मृत्यु के बाद, उसके सेनापतियों ने उसकी सल्तनत को आपस में बाँट लिया। मिस्र टालमी[1] के हिस्से में पड़ा। उसने वहाँ एक मजबूत राज्य की नींव डाली और एक राज-वंश चलाया। इसकी हुकूमत में मिस्र, जिसकी राजधानी सिकन्दरिया थी, बहुत शक्तिशाली राज्य बन गया। सिकन्दरिया बहुत बड़ा शहर था और अपने विज्ञान, दर्शन (फिलासफी) और विद्या के लिए मशहूर था।

ईरान, इराक और एशिया माइनर का एक हिस्सा दूसरे सेनापति सेल्यूकस के हिस्से में आया। हिन्दुस्तान का उत्तर-पश्चिमी हिस्सा भी, जिसे सिकन्दर ने जीता था, इसीको मिला। लेकिन वह हिंदुस्तान के हिस्से पर अपना अधिकार क़ायम नहीं रख सका और सिकन्दर की मौत के बाद यूनानी सेना यहाँ से भगा दी गई।

१ टालमी—प्रथम सोटर ग्रीक साम्राट्, सिकन्दर, का एक सेनापति था जो उसकी मृत्यु के पश्चात् ३०५ ई० पू० में मिस्र का सम्राट् बन बैठा। इसीने टालमी राजवंश चलाया, जो ३० ई० पू० तक राज्य करता रहा। इस सम्राट् का काल ३८३ ई० पू० से ३६७ ई० पू० तक है। इसने उत्तरी मिस्र में टालेमाय-नामक एक प्रसिद्ध और शानदार शहर बसाया और एक पुस्तकालय और अजायबघर की योजना की।

सिकन्दर हिन्दुस्तान में ईसा से पहले ३२६ वे साल में आया था। इसका आना क्या था, एक तरह का धावा था। हिन्दुस्तान में इसकी वजह से कोई फर्क नही आया। कुछ लोगो का खयाल है कि इस धावे से हिन्दुस्तानियो और यूनानियो के आपसी सम्पर्क में मदद मिली। लेकिन सच तो यह है कि सिकन्दर के पहले भी पूर्व और पश्चिम के देशो में आपस में आमदरफ्त थी और हिन्दुस्तान का ईरान और यूनान से बराबर सम्पर्क जारी था। सिकन्दर के आने से यह सम्पर्क कुछ और बढ़ा जरूर होगा और दोनो हिन्दुस्तानी और यूनानी सभ्यतायें बहुत हद तक एक-दूसरे से मिल जुल गई होंगी। 'इण्डिया' शब्द ही यूनानी 'इण्डास' से बना है, और 'इण्डास' की उत्पत्ति इण्डस अर्थात् 'सिन्ध नदी' से हुई है।

सिकन्दर के धावे और उसकी मृत्यु से हिन्दुस्तान मे एक बहुत बडे साम्राज्य—मौर्य्य साम्राज्य—की नीव पडी। हिन्दुस्तान के इतिहास का यह एक बहुत शानदार युग है और इसके अध्ययन में हमें कुछ समय लगाना चाहिए।

: १८ :

चन्द्रगुप्त मौर्य्य और कौटिलीय अर्थशास्त्र

२५ जनवरी १९३१

अपने एक खत मे मैंने मगध का जिक्र किया था। यह एक बहुत पुराना राज्य था और उस प्रान्त में बसा हुआ था, जहाँ आजकल बिहार का प्रान्त है। इस राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, जो आजकल पटना कहलाता है। जिस समय का हम जिक्र कर रहे है, उस वक्त मगध-देश पर नन्दवंश का राज्य था। जब सिकन्दर ने उत्तर-पश्चिम भारत पर धावा किया था, पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर नन्दवश का एक राजा राज्य करता था। चन्द्रगुप्त नाम का एक नवयुवक, जो सम्भवत. इस राजा का कोई रिश्तेदार था, वहाँ रहता था। वह बड़ा चतुर, उत्साही और महत्वाकाक्षी आदमी मालूम पड़ता था। इसलिए नन्द राजा ने उसे जरूरत से ज्यादा चालाक समझकर और उसके किसी काम से नाराज होकर उसे अपने राज्य से निर्वासित कर दिया। शायद सिकन्दर और यूनानियो की कहानियो से आकर्षित होकर चन्द्रगुप्त उत्तर की ओर तक्षशिला चला गया। उसके साथ विष्णुगुप्त नाम का एक विद्वान् और अनुभवी ब्राह्मण भी था, जिसे चाणक्य भी कहते हैं। चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनो ही कोई नरम और दब्बू स्वभाव के न थे, जो भाग्य और हो।हार के सामने सिर झुका देते। उनके दिमाग मे बडी-बडी और हौसले से भरी योजनायें थीं, और वे

आगे बढ़ना और सफलता प्राप्त करना चाहते थे। शायद सिकन्दर के वैभव से चन्द्रगुप्त चकित और उसकी ओर आकर्षित हो गया था और उसके उदाहरण का अनुकरण करना चाहता था। अपने उद्देश्य का पूर्ति के लिए चाणक्य उसे एक आदर्श मित्र, और योग्य सलाहकार मिल गया था। ये दोनो ही सजग रहते थे और गौर से देखते रहते थे कि तक्षशिला में क्या हो रहा है। वे अपने मौके की तलाश में थे।

जल्दी ही उनको मौका मिल गया। ज्योही सिकन्दर के मरने की खबर तक्षशिला पहुँची, चन्द्रगुप्त ने समझ लिया कि काम करने का समय आगया। उसने आसपास के लोगो को उभाड़ा और उनकी मदद से यूनानियो की फौज पर, जिसे सिकन्दर छोड़ गया था, आक्रमण कर दिया ओर उसे भगा दिया। तक्षशिला पर कब्जा करने के बाद चन्द्रगुप्त और उसके सहायको ने पाटलिपुत्र पर धावा किया और राजा नन्द को हरा दिया। यह ३२१ ई० पूर्व अर्थात् सिकन्दर की मृत्यु के सिर्फ ५ बरस बाद की बात है। इसी समय से मौर्य्यवंश का राज्य शुरू होता है। यह साफ-साफ पता नही चलता कि चन्द्रगुप्त 'मौर्य्य' क्यो कहलाया। कुछ लोगो का कहना है कि उसकी माँ का नाम मुरा था, इसलिए वह मौर्य्य कहलाया और कुछ का यह कहना है कि उसका नाना राजा के मोरों की निगहबानी किया करता था और मोर को सस्कृत में मयूर कहते है, इसलिए वह मौर्य्य कहलाया। इस शब्द की पैदायश चाहे जो हो, चन्द्रगुप्त मौर्य्य के नाम से ही मशहूर है, ताकि एक दूसरे महान् चन्द्रगुप्त से, जो कई सौ वर्ष बाद हिन्दुस्तान का बहुत बड़ा बादशाह हुआ है, उसके व्यक्तित्व को अलग कर सके।

महाभारत में और दूसरी पुरानी किताबो और कथाओ मे हमे चक्रवर्ती राजाओ का जिक्र मिलता है, जो सारे हिन्दुस्तान पर राज्य करते थे। लेकिन हमे उस जमानें का हाल मालूम नही और न हम यही जानते है कि भारतवर्ष का विस्तार उस समय कितना था। यह मुमकिन है कि उस वक्त के जो किस्से चले आते है, उनमें पुरानें राजाओ की शक्ति को बढ़ा चढ़ाकर बताया गया हो। खैर, जो कुछ भी हो! चन्द्रगुप्त मौर्य्य का साम्राज्य इतिहास मे हिन्दुस्तान के मजबूत और विस्तृत भारतीय साम्राज्य की पहली मिसाल है। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, यह एक बहुत शक्तिशाली और उन्नत शासन था। यह भी साफ है कि ऐसे शासन और राज्य एकदम से पैदा नही हो जाते। बहुत दिनो से कई प्रवृत्तियाँ होती चली आई होगी, छोटे-छोटे राज्य आपस में मिलते रहे होगे और शासन-कला में उन्नति जारी रही होगी।

चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में, सिकन्दर के सेनापति सैल्यूकस ने, जिसे विरासत

में एशिया माइनर से लेकर हिन्दुस्तान तक के देशो का राज्य मिला था, अपनी सेना के साथ सिन्ध नदी पारकर हिन्दुस्तान पर हमला किया । पर अपनी इस जल्दबाजी के लिए उसे बहुत जल्द पछताना पड़ा । चन्द्रगुप्त ने उसे बुरी तरह हरा दिया और जिस रास्ते से वह आया था उसी रास्ते उसे अपना-सा मुंह लेकर लौट जाना पड़ा । बल्कि यहाँ से कुछ प्राप्त करने के बजाय काबुल और हिरात तक गाधार या अफगानिस्तान का एक बहुत बड़ा हिस्सा उलटा उसे चन्द्रगुप्त को दे देना पड़ा । चन्द्रगुप्त ने सैल्यूकस की लड़की से शादी भी करली । उसका साम्राज्य अब सारे उत्तरी भारत में, अफगानिस्तान के एक हिस्से में, कबुल से बंगाल तक और अरब सागर से बगाल की खाडी तक फैल गया । सिर्फ दक्षिण हिन्दुस्तान उसके मातहत नहीं था । इस बडे साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी ।

सैल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगस्थनीज को अपना दूत बनाकर भेजा था । मेगस्थनीज ने उस जमाने का एक बड़ा दिलचस्प वर्णन लिखा है, जो अभी तक पाया जाता है । लेकिन इससे ज्यादा दिलचस्प एक दूसरा वर्णन भी हमें मिलता है, जिसमें चन्द्रगुप्त के शासन का पूरा तफसीलवार हाल मिलता है । इस किताब का नाम है 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' । यह कौटिल्य और कोई नहीं, हमारा वही पुराना दोस्त चाणक्य या विष्णुगुप्त है और अर्थशास्त्र का मतलब है सम्पत्ति का शास्त्र या विज्ञान ।

इस अर्थशास्त्र में इतने विषय है, और इतनी विभिन्न बातो पर इसमें चर्चा की गई है कि तुमको उसके बारे में विस्तार से बता सकना मेरे लिए मुमकिन नही है । उसमें राजाओ के धर्म का, उसके मन्त्रियो और सलाहकारो के कर्त्तव्य का, राजपरिषद् का, शासन-विभाग का, गवर्नमेन्ट का, व्यापार और तिजारत का, गॉव और कस्बो के शासन का, क़ानून और अदालत का, सामाजिक रीति-रिवाज का, स्त्रियो के अधिकार का, बूढ़े और असहाय लोगो के पालन का, शादी और तलाक का, टैक्स का, खुश्की सेना और जलसेना का, लड़ाई और सुलह का, कूटनीति का, खेती का, कातने और बुनने का, कारीगरो का, पासपोर्ट और जेलो तक का जिक्र है । मै इस फहरिस्त को और भी बढ़ा सकता हूँ लेकिन मै इस ख़त का हैडिंग 'कौटिलीय अर्थशास्त्र के अध्याय' नही देना चाहता ।

जब राजा राजगद्दी पर बैठते समय जनता के हाथो से शासन का अधिकार पाता था तो उसे जनता की सेवा की शपथ लेनी पड़ती थी और प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि "अगर मै तुम्हे सताऊँ तो मै स्वर्ग न पाऊँ, मेरे जीवन का अन्त हो जाय और मै सन्तान से वञ्चित रहूँ ।" इस पुस्तक में राजा की दिनचर्या दी हुई है । उसके मुताबिक़ राजा को ज़रूरी काम के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए । क्योंकि

जनता का काम न तो रुक सकता है, न राजा की सुविधा का इन्तजार कर सकता है। अगर राजा चुस्त होगा तो उसकी प्रजा भी चुस्त होगी।

"अपनी प्रजा की खुशी मे उसकी खुशी है, प्रजा के कल्याण मे ही उसका कल्याण है, जो बात उसे अच्छी लगे उसीको वह अच्छा न समझे, वल्कि प्रजा को जो अच्छी लगे उसीको वह भी अच्छा समझे।"

इस दुनिया से अब राजा-महाराजा उठते जा रहे हैं। जो इने-गिने बच गये हैं वे भी बहुत जल्द गायब हो जायँगे। लेकिन यह एक ध्यान देने लायक बात है कि प्राचीन भारत में राज्य करने का मतलब जनता की सेवा करना था। उस समय राजाओ का न तो कोई ईश्वरीय अधिकार माना जाता था और न उनके पास कोई निरकुश सत्ता थी। अगर कोई राजा अत्याचार करता था तो जनता को हक था कि उसे हटा दे और उसकी जगह दूसरा राजा मुकर्रर कर दे। उन दिनो यही सिद्धान्त और आदर्श था। फिर भी उस समय बहुत से राजा ऐसे हुए है जो इस आदर्श से नीचे गिरे हुए थे और जिन्होने अपनी बेवकूफी से अपने देश और प्रजा को मुसीबतो में फँसाया था।

अर्थशास्त्र में इस पुराने सिद्धान्त पर भी बहुत ज्यादा जोर दिया गया है कि 'आर्य कभी भी गुलाम न बनाया जा सकेगा।'[१] इससे जाहिर होता है कि उस जमाने मे किसी न किसी तरह के गुलाम होते थे जो या तो देश के बाहर से लाये जाते होगे, या देश के रहने वाले होगे।[२] लेकिन जहाँ तक आर्यों का सम्बन्ध था इस बात पर पूरा ध्यान रक्खा जाता था कि वे किसी भी हालत में गुलाम न बनाये जायँ।

मौर्य्य-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी। यह बड़ा शानदार शहर था और गगा के किनारे नौ मील तक आगे बढ़ा हुआ था। इसकी चहारदीवारी में चौंसठ मुख्य फाटक थे और सैकडो छोटे दरवाजे थे। मकान ज्यादातर लकडी के बने हुए थे और चूँकि आग लगने का डर रहता था इसलिए आग बुझाने का बहुत अच्छा इन्तिजाम था। खास-खास सड़को पर पानी से भरे हजारों घडे हमेशा रक्खे रहते थे। हरेक गृहस्थ को भी अपने-अपने घर मे पानी से भरे घडें, सीढ़ी, काँटा और दूसरी जरूरी चीजे रखनी पडती थी जिससे कि आग लगने पर बुझाने के लिए उनका उपयोग हो सके।

कौटिल्य ने शहरों के बारे मे एक ऐसे नियम का ज़िक्र किया है जो तुम्हे बहुत दिलचस्प मालूम होगा। वह यह कि अगर कोई आदमी सड़क पर कूड़ा फेंकता था

१ 'न त्वेवाऽऽर्यस्य दास भाव'—कौटिल्य

२. 'म्लेच्छानामदोष प्रजा विक्रेतुमाधातुवा' —कौटिल्य

तो उसपर जुर्माना होता था। इसी तरह अगर कोई सड़क पर कीचड या पानी इकट्ठा होने देता था तो उसपर भी जुर्माना किया जाता था। अगर इन कायदो पर अमल होता रहा होगा तो पाटलिपुत्र या दूसरे और शहर बहुत सुन्दर, सुथरे और साफ रहे होंगे। मै चाहता हूँ कि हमारी म्यूनिसिपैलिटियो में भी इसी तरह के कुछ नियम बना दिये जायँ।

पाटलिपुत्र में इन्तजाम करने के लिए एक म्यूनिसिपल कौंसिल थी। जनता इसका चुनाव करती थी। इसमें तीस मेम्बर होते थे और पॉच-पॉच मेम्बरो की छ कमिटियां बनाई जाती थीं। व्यवसाय और शहर की हाथ की कारीगरी का इंतजाम इन्हीं कमिटियो के हाथ में रहता था। पूरी कौंसिल सफाई, आमद-खर्च, पानी की व्यवस्था, बाग-बगीचे और सार्वजनिक इमारतो का इन्तजाम देखती थी।

न्याय करने के लिए पंचायते और अपील सुनने के लिए अदालते थीं। अकाल-पीडितो की मदद का खास प्रबंध होता था। राज्य के सारे भण्डारो का आधा गल्ला अकाल के वक्त के लिए हमेशा रिजर्व (सुरक्षित) रक्खा जाता था।

ऐसा था वह मौर्य्य-साम्राज्य, जिसे बाईस सौ बरस पहले चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने संगठित किया था। मैने अभी कौटिल्य और मेगस्थनीज की बयान की हुई कुछ बातो का जिक्र यहाँ किया है। इनसे भी तुम्हे मोटे तौर पर यह पता चल जायगा कि उत्तरी भारत की उस समय क्या हालत थी। पाटलिपुत्र की राजधानी से लेकर साम्राज्य के बहुत से बडे-बडे शहरो और हजारो कस्बो और गॉवो तक सारे देश में जीवन गूंज रहा था। साम्राज्य के एक हिस्से से दूसरे हिस्से तक बडी-बडी सड़के थी। मुख्य राजपथ पाटलिपुत्र से उत्तर-पश्चिम सीमा तक चला गया था। बहुत-सी नहरे थी और उनकी देख-भाल के लिए एक खास महकमा भी था। इसके अलावा एक नौका-विभाग भी था, जो बन्दरगाहो, घाटो, पुलो और एक जगह से दूसरी जगह तक आते-जाते रहनेवाले बहुत से जहाजो और नौकाओ की देख-रेख किया करता था। जहाज समुद्र पार चीन और बर्मा तक जाते थे। इस साम्राज्य पर चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष तक राज किया। ईसा से पहले २९६ वे वर्ष में उसकी मृत्यु हुई। अपने अगले पत्र में हम मौर्य्य साम्राज्य की कहानी जारी रक्खेंगे।

: १६ :

तीन महीने

क्रैकोविया जहाज से—

२१ अप्रैल, १९३१

तुम्हे खत लिखे बहुत दिन हो गये। करीब तीन महीने—दुःख, परेशानी और मुसीबत के तीन महीने—गुजर गये। हिन्दुस्तान के और सबसे बढ़कर हमारे कुटुम्ब के, परिवर्तन के ये तीन महीने! हिन्दुस्तान ने थोडे दिनो के लिए सत्याग्रह-आन्दोलन रोक दिया है, लेकिन जो सवाल हमारे सामने है उनके हल करने में कोई आसानी पैदा नही हुई। और हमारे कुटुम्ब ने अपना प्यारा बुजुर्ग खो दिया जिसने हमें बल और स्फूर्ति दी थी, जिसकी आश्रयदायिनी देख-रेख में हम सब बडे हुए और अपनी जन्मभूमि भारतमाता के प्रति शक्तिभर अपना फर्ज अदा करना सीखा।

नैनी-जेल का वह दिन मुझे कितनी अच्छी तरह याद है। वह २६ जनवरी का दिन था और मैं हमेशा की तरह पुरानी बातो के बारे में तुम्हे खत लिखने बैठा था। उसके एक दिन पहले मैं तुम्हे चन्द्रगुप्त और उसके बनाये हुए मौर्य्य-साम्राज्य के बारे में लिख चुका था। मैंने वादा किया था कि इस वर्णन को मैं जारी रक्खूंगा और उन लोगो का जो चन्द्रगुप्त के बाद हुए, और 'देवताओ के प्रिय महान् अशोक' का, जो भारतीय आकाश में एक चमकदार सितारे की तरह चमका और अपना नाम अमर करके गायब हो गया, हाल बताऊंगा। और जब मैं अशोक की याद कर रहा था, मेरा मन घूम-फिरकर वर्तमान की ओर—२६ जनवरी पर आ पहुँचा। हम लोगों के लिए यह एक बहुत बड़ा दिन था, क्योकि एक साल पहले इसी दिन हमने सारे हिन्दुस्तान में, शहरो और गांवो में, आजादी का दिन—पूर्ण स्वराज्य का दिन—मनाया था और लाखो की तादाद में हमने स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा की थी। तब से एक साल बीत गया—संघर्ष का, मुसीबतो का और विजय का एक साल और एक बार फिर हिन्दुस्तान उसी महान् दिन को मनाने जा रहा था। जब मैं नैनीजेल की ६ नम्बर की बैरक में बैठा हुआ था, मुझे उस दिन सारे देश में होनेवाली सभाओ, जलूसो, लाठी-प्रहारो और गिरफ्तारियो का खयाल हो आया। गर्व, प्रसन्नता और क्लेश के साथ मैं इन सब बातों का विचार कर ही रहा था कि मेरी कल्पना की धारा एक दम रुक गई। बाहर से खबर मिली कि दादू बहुत बीमार है और उनके पास जाने के लिए मैं फ़ौरन ही छोड़ दिया जाऊँगा। मेरी कल्पना खतम हो गई। चिन्ता से भरकर मैं सारा सोचना-विचारना भूल गया। तुम्हे जो खत लिखना

शुरू किया था वह एक ओर रख दिया और नैनी-जेल से आनन्द भवन के लिए रवाना हो गया।

दस दिन तक मै दादू के साथ रहा उसके बाद वह हमे छोड़कर चल दिये। दस दिन तक हम उनके कष्ट और यातनाओ को और यमदूतो से उनके वीरतापूर्ण संग्राम को देखते रहे। अपनी जिन्दगी में उन्होने बहुत-सी लड़ाइयाँ लडी और बहुत बार वह विजयी हुए। हार मानना तो वह जानते ही न थे और मौत को अपने सामने खड़ा हुआ देखकर भी वह पीछे हटने को तैयार नही हुए। जब मै उनके इस आखिरी संग्राम को देख रहा था, और जिन्हे मै इतना प्यार करता था उन्हे मदद पहुँचाने में अपनी बेबसी पर व्याकुल हो रहा था तो मुझे कुछ पंक्तियाँ; जो मैने बहुत दिन हुए एडगर एलन पो की किसी कहानी में पढ़ी थीं, याद आ गई, जिसका अर्थ यह है--

"मनुष्य देवदूतो के सामने हार नही मानता और न वह मौत के सामने ही सिर झुकाता है; जब कभी वह हार मानता है, अपनी क्षीण इच्छाशक्ति की कमजोरी की वजह से ही मानता है।"

६ फरवरी को सुबह वह हमें छोड़कर चल दिये। जिस झण्डे को वह इतना प्यार करते थे उसीमें उनका शरीर लपेटकर उन्हे हम लखनऊ से आनन्द-भवन ले आये। थोडी ही देर में वह जलकर मुट्ठी भर राख हो गया और गंगा ने इस अनमोल विभूति को बहाकर समुद्र में पहुँचा दिया।

लाखो आदमियो ने उनके लिए शोक मनाया लेकिन हम सब उनके बच्चो पर, जो उनके मास और उनकी हड्डियो से बने हैं, क्या बीती? और उस नये आनन्द-भवन का, जो हम लोगो के समान ही उनका बच्चा है, और जिसे उन्होने इतने प्यार से और इतनी सावधानी से तैयार करवाया था, क्या हुआ? वह अब सुनसान और वीरान हो गया, मानो उसकी जान निकल गई। और हम उसके बरामदो में, उन्ही का बराबर ख़याल करते हुए, जिन्होने इसे बनाया था, सशक भाव से दबे पॉव चलते है कि कही उनकी शाति भंग न हो जाय।

उनके लिए हम शोक करते है और कदम-कदम पर उनकी कमी को महसूस करते हैं। दिन गुजरते जाते हैं, लेकिन न तो दुःख कम होता और न उनके विछोह की असह्यता ही कम होती दीखती है। लेकिन फिर मै सोचता हूँ कि जो कुछ हम इस समय कर रहे है, वह उन्हे कभी पसन्द न आयेगा। उन्हे यह हरगिज पसन्द न होगा कि हम दुःख से पस्त हो जायें। वह तो यही चाहेगे कि जिस तरह उन्होंने अपनी तकलीफो का मुकाबिला किया वैसा ही हम अपने रज का मुकाबिला करे और उस पर विजय पाये। वह चाहेंगे कि जो काम उन्होने अधूरा छोड़ा है, उसे हम जारी

रक्खें। तब हम चुप कैसे बैठ सकते है और कैसे हम शोक के सामने सिर झुका सकते है? हिन्दुस्तान की आजादी का मसला हमारी सेवाओ की मॉग कर रहा है। इसी उद्देश्य के लिए ही तो उन्होने जान दी। इसीके लिए हम जिन्दा रहेगे, कोशिश करेगे, और अगर जरूरत हुई तो जान भी देंगे। कुछ भी हो हम उनकी सन्तान है और हममें उनकी लगन, ताकत, दृढता और जोश का कुछ-न-कुछ अंश मौजूद है।

इस समय जब मै ये सतरें लिख रहा हूँ नीले रग का अथाह अरब सागर मेरे सामने दूर तक फैला हुआ है और दूसरी तरफ बहुत दूर के फ़ासले पर हिन्दुस्तान का किनारा है, जो हमसे छूटता जा रहा है। मै इस सीमा-रहित और अपार विस्तार का खयाल करता हूँ और उसकी तुलना नैनी-जेल की छोटी-छोटी बैरकों और उसकी ऊँची दीवारो से करता हूँ, जहाँ से मैने तुम्हे पिछले खत लिखे थे। जहाँ समुद्र आकाश से मिलता-सा मालूम होता है, वहाँ क्षितिज की रेखा साफ़-साफ मेरे सामने नजर आ रही है। लेकिन जेल में कैदी का क्षितिज तो दीवारो की चोटी है जिससे वह घिरा रहता है। हममें से बहुत से, जो जेलो में थे, आज बाहर है और बाहर की आजाद आबोहवा में रह रहे है। लेकिन हमारे बहुत से साथी अभी तक अपनी तग कोठरियों में बन्द है और समुद्र, जमीन या क्षितिज के दर्शन से वंचित है। खुद भारत अभी तक जेल में है और उसे अभी आजादी मिलनी बाकी है। और हमारी आजादी किस काम की, अगर भारत आजाद न हुआ?

: २० :

अरब सागर

क्रैकोविया जहाज

२२ अप्रैल, १९३१

यह एक आश्चर्य की बात है कि हम इस क्रैकोविया जहाज पर बम्बई से लंका जा रहे है। मुझे अच्छी तरह याद है कि करीब चार बरस पहले मै किस तरह वेनिस में इसके आने का इन्तजार कर रहा था। उस समय दादू इसी जहाज से वेनिस आ रहे थे और मै स्वीजरलैण्ड के वेक्स स्कूल में तुम्हे छोड़कर उनसे मिलने के लिए वेनिस गया था। फिर कुछ महीने बाद इसी क्रैकोविया जहाज से दादू योरप से हिन्दुस्तान वापस लौटे और मै उनसे बम्बई में मिला था। उस सफर के उनके कुछ साथी आज भी हमारे साथ है और ये सब दादू के बारे में अपने बहुत से अनुभव सुनाते रहते है।

मैंने तुम्हे कल के खत में पिछले तीन महीनो में क्या से क्या होगया, इसका हाल

लिखा था। इन पिछले कुछ हफ़्तों में एक बात ऐसी हुई है जो मैं चाहता हूँ कि तुम याद रक्खो; जिस तरह कि हिन्दुस्तान उसे बहुत बरसों तक याद रक्खेगा। एक महीने से कम हुआ कानपुर शहर में हिन्दुस्तान का एक बहादुर सिपाही चल बसा। गणेशशंकर विद्यार्थी उस समय मारे गये, जब वह दूसरों को बचाने के लिए कोशिश कर रहे थे।

गणेशजी मेरे प्रिय दोस्त थे, एक बहुत भले तथा निःस्वार्थ साथी-कार्यकर्त्ता (कामरेड) थे, जिनके साथ काम करना सौभाग्य की बात थी। पिछले महीने जब कानपुर में लोगों के सिर पर पागलपन सवार हुआ, और एक हिन्दुस्तानी ने दूसरे हिन्दुस्तानी को कत्ल करना शुरू कर दिया, तो गणेश जी आग में कूद पड़े—अपने किसी देश-भाई से लड़ने के लिए नहीं—बल्कि उन्हें बचाने के लिए। उन्होंने सैकड़ों को बचाया; सिर्फ अपने को वह नहीं बचा सके; इसकी उन्होंने परवाह भी नहीं की और उन्ही आदमियों के हाथों से, जिन्हे कि वह बचा रहे थे, उनकी मौत हुई। कानपुर का और हमारे प्रान्त का एक हीरा लुट गया और हममें से बहुतेरे अपने एक प्रिय और बुद्धिमान मित्र से हाथ धो बैठे। लेकिन कितनी शानदार थी उनकी मौत! उन्होने शान्ति और गम्भीर भाव से, निर्भीकता के साथ गुण्डों के पागलपन का मुकाबिला किया और ख़तरे और मौत के बीच भी उन्हे ख़याल था सिर्फ दूसरो को बचाने का।

तब्दीलियों के ये तीन महीने! समय के सागर में एक बूंद के समान और कौम की जिन्दगी में एक पल के समान। सिर्फ तीन हफ्ते पहले मैं मोहेंनजोदारो के खण्डहर देखने गया था, जो सिन्ध में, सिन्ध नदी की घाटी में है। उस समय तुम मेरे साथ नही थी। मैंने वहाँ एक बहुत बड़ा शहर जमीन के अन्दर से निकला हुआ देखा—ऐसा शहर जिसमें मजबूत ईंटो के मकान और लम्बी-चौडी सड़कें थी और कहा जाता है कि जिसे बने पाँच हज़ार बरस हो गये। मैंने इस प्राचीन शहर में मिले हुए सुन्दर-सुन्दर जेवर और मिट्टी के बरतन देखे। इन सबको देखते-देखते मुझे ऐसा मालूम होने लगा मानो चटकीले-भड़कीले कपडे पहने हुए मर्द और औरतें इसकी सड़कों और गली-कूंचो में आ-जा रहे हैं, बच्चे-बच्चो के-से खेल खेल रहे हैं, माल से भरा बाजार गुलजार हो रहा है, लोग सौदा ले-दे रहे हैं और मन्दिरो की घंटियाँ बज रही हैं।

इन पांच हजार वर्षों तक हिन्दुस्तान जिंदा रहा और उसने बहुत-से परिवर्त्तन देखे। मैं बाज वक्त यह सोचने लगता हूँ कि क्या हमारी यह बूढ़ी भारतमाता, जो इतनी प्राचीन और फिर भी इतनी सुन्दर और नौजवान है, अपनें बच्चो की बेसबरी पर, उनकी छोटी-मोटी चिन्ताओं पर, उनके हर्ष और शोक पर, जो दिन भर रहते हैं और फिर खत्म हो जाते हैं, मुसकराती न होगी?

: २१ :

अवकाश और स्वप्नयात्रा

२६ मार्च, १९३२

चौदह महीने हुए, जब मैंने तुम्हे नैनी-जेल से प्राचीन इतिहास के बारे में खत लिखा था। इसके तीन महीने बाद पत्र-माला के उसी सिलसिले में मैंने अरब सागर से तुम्हे दो खत और लिखे थे। उस समय मैं कैकोविया जहाज से लंका जा रहा था। जैसा कि उस वक्त मैंने लिखा था, विशाल समुद्र मेरे सामने दूर तक बिछा हुआ था, मेरी भूखी आँखें उसे निहार रही थीं और अघाती नहीं थीं। इसके बाद हम लंका पहुँचे और महीने भर तक बडे आनन्द से छुट्टियाँ मनाई और अपनी चितायें और परेशानियाँ भूल जाने की कोशिश की। उस अत्यन्त सुन्दर द्वीप में खूब घूमे और उसका अतुलित सौन्दर्य और वहाँ की प्रकृति की प्रचुरता या इफरात देखकर आश्चर्य-चकित होगये। कैंडी, नुवाराइलिया, और प्राचीन वैभव के चिन्हो और खण्डहरो से भरपूर अनुरुद्धपुर आदि जहाँ-जहाँ हम गये, उन जगहो की याद करके कितना आनन्द आता है। लेकिन मुझे सबसे ज्यादा आनन्द तो आता है उन ठण्डे और हरे-भरे जंगलो की याद करके, जिनमें अगाध जीवन निखरा पड़ता है और जो हजार-हजार आँखों से हमें देखा करते हैं; अथवा पतले-सीधे और सच्चे, सुन्दर सुपारी के वृक्षों की याद से, नारियल के असंख्य पेडों की सुध से, और ताल-वृक्षो से सुसज्जित समुद्र तट के ध्यान से, जहाँ इस द्वीप की पन्नामणि के समान हरियाली समुद्र और आकाश की नीलिमाओं को मिलाती है, जहाँ सागर-जल किनारे पर छलकता और हिलोरों से अठखेलियाँ करता है और वायु तालवृक्षो से होकर मर्मर ध्वनि करती और सनसनाती हुई निकल जाती है।

भूमध्य-रेखा के पासवाले किसी गरम प्रदेश में यह तुम्हारी पहली यात्रा थी, और सिवाय इसके कि बहुत दिन हुए मै थोडे दिनो के लिए आया था, जिसकी याद करीब-करीब जाती रही है—मेरे लिए भी यह एक नया अनुभव था। इस तरफ़ मैं आकर्षित नहीं था। मुझे गर्मी का डर था। मुझे तो समुद्र, पहाड़ और सबसे ज्यादा ऊँचे बरफिस्तान और ग्लैशियर अच्छे मालूम होते हैं। लेकिन लंका के थोडे ही दिनों के निवास से मुझे गरम प्रदेश की मनोहरता और मोहकता का भी कुछ पता लगा। और मैं जब वापस आया तो यह लालसा लिये हुए कि मौका मिला तो इस प्रदेश में फिर कभी आऊँगा।

लंका में छुट्टी का हमारा एक महीना देखते-देखते खत्म हो गया। हम

समुद्र का तंग रास्ता पार करके हिन्दुस्तान के दक्षिणी नाके पर पहुँचे । क्या तुम्हे अपने कन्याकुमारी चलने की याद है । यहाँ, कहते है कि कुमारी देवी निवास करती और अपने देश की रक्षा करती है, और जिसे, हमारे नामों को तोड़-मरोड़ कर भद्दे करने में कुशल पश्चिम-निवासी 'केप कामोरिन' कहते है । उस वक्त वहाँ हम सच-मुच भारतमाता के चरणो में ही बैठे थे, और वही हमनें अरब सागर और बंगाल की खाडी का संगम देखा था । उस समय हमें यह सोचकर कितना अच्छा लगता था कि ये दोनों भारत के चरण-कमलो की पूजा कर रहे है ! उस स्थान पर अद्भुत शान्ति थी । यहाँ बैठे-बैठे मेरा मन हिन्दुस्तान के दूसरी छोर पर कई हजार मील दूर दौड गया, जहाँ हिमालय की चोटी पर अनन्तकाल से बरफ जमा हुआ है और जहाँपर असीम शान्ति का साम्राज्य है । लेकिन इन दोनो के बीच में तो काफी अशान्ति है, गरीबी है और मुसीबतें है !

हम कन्याकुमारी से बिदा हुए और उत्तर की तरफ चले । त्रावणकोर और कोचीन होते हुए और मलाबार की झीलो को पार करते हुए हम आगे बढे । ये सब स्थान कितने सुन्दर थे ! हमारी नाव पेडों से घिरे दोनो किनारो के बीच से, चाँदनी रात में कितनी शान्ति से बहती जाती थी, मानो यह सब बिलकुल एक तरह का स्वप्न हो । इसके बाद हम लोग मैसूर, हैदराबाद और बम्बई गये और आखीर में इलाहाबाद पहुँचे । यह नौ महीने पहले अर्थात् जून महीने की बात है ।

लेकिन आजकल तो हिन्दुस्तान में जितने रास्ते है, वे सब हमें, जल्द या देर में, एक ही जगह पहुँचाते है । सारी यात्रायें चाहे वह स्वप्न की हो या असली, जेलखाने में ही जाकर समाप्त होती है । और इसलिए मै फिर अपनी पुरानी परिचित दीवारो के अन्दर पहुँच गया, जहाँ मुझे सोचने के लिए और तुम्हे खत लिखने के लिए—चाहे वे तुम्हारे पास पहुँचे या न पहुँचे–बहुत काफी वक्त मिलता है । लडाई फिर शुरू हो गई है और हमारे देशवासी स्त्री और पुरुष, लड़के और लड़कियाँ आगे बढ़ रही है और इस मुल्क को गरीबी की लानत से—दरिद्रताके शाप से—पीछा छुड़ाने के लिए, स्वतन्त्रता की लड़ाई में हिस्सा ले रही है । लेकिन स्वतन्त्रता एक ऐसी देवी है जिसको खुश करना मुश्किल होता है । पुराने जमाने की तरह आज भी यह अपने भक्तो से, आदमियो की कुर्बानी चाहती है—नर-बलि चाहती है ।

आज मेरे तीन महीने पूरे हुए । तीन महीने पहले, आज ही के दिन—२६ दिसम्बर को—मै छठी बार गिरफ्तार किया गया था । चिट्ठियो के इस सिलसिले को फिर से शुरू करने में मैने बहुत देर कर दी । लेकिन तुम जानती हो कि जब दिमाग वर्त्तमान की चिन्ताओ से भरा हुआ हो तो सुदूर पुरातन के बारे में सोचना कितना

मुश्किल हो जाता है। जेल में पहुँचने के बाद जमने-जमाने और बाहर होनेवाली घटनाओं की चिन्ता से पीछा छुड़ाने में कुछ वक्त लग जाता है। अब मैं तुम्हें बराबर खत लिखने की कोशिश करूँगा। लेकिन अब मैं एक दूसरी जेल में हूँ और यह तबदीली मेरी पसन्द की नहीं है। इससे मेरे काम में थोड़ा विघ्न पड़ता है। मेरा क्षितिज इस स्थान पर पहले के सब स्थानो से ज्यादा ऊँचा हो गया है। यहाँ मेरे सामने जो दीवार है—कम-से-कम ऊँचाई में तो जरूर—उसका सम्बन्ध चीन की दीवार से है! यह करीब २५ फीट ऊँची है और हर रोज सुबह सूरज को इसपर चढ़कर हमारे पास तक पहुँचने में डेढ घंटे से ज्यादा लग जाता है। हमारा क्षितिज थोडी देर के लिए परिमित है, तो होने दो; लेकिन विशाल नीले समुद्र के और पहाडो और रेगिस्तानो के बारे में सोचना और दस महीने पहले, तुमने, तुम्हारी ममी ने और मैंने जो स्वप्नयात्रा की थी—जो अब शायद ही सच जान पड़ती हो—उसका खयाल करना बहुत भला मालूम होता है।

: २२ :

जीविका के लिए मनुष्य का संघर्ष

२८ मार्च, १९३२

आओ, अब हम दुनिया के इतिहास के सिलसिले को, जहाँसे हमने उसे छोड़ा था, फिर शुरू करे और पुराने जमाने की कुछ झलक देखने की कोशिश करे। यह एक उलझा हुआ जाल है जिसका सुलझाना मुश्किल है। फिर इसके सारे हिस्सों पर एक साथ नजर डाल सकना और भी ज्यादा मुश्किल है। हमारी यह आदत-सी हो गई है कि हम उसके किसी खास हिस्से में ही उलझ जाते है और उसे जरूरत से ज्यादा महत्व देने लगते है। हममें से क़रीब-करीब सभी यह समझते है कि हमारे अपने देश का, चाहे वह कोई-सा देश हो, इतिहास दूसरे देशों के इतिहास से ज्यादा गौरवपूर्ण और अध्ययन के अधिक योग्य है। इस प्रवृत्ति के खिलाफ मै एक बार पहले भी तुम्हे चेतावनी दे चुका हूँ, और आज फिर चेता देना चाहता हूँ। इस जाल में फँस जाना बहुत ही आसान है। सच तो यह है कि इसीसे बचाने के लिए मैंने तुम्हे इन खतों का लिखना शुरू किया था। लेकिन फिर भी कभी-कभी मैं महसूस करता हूँ कि मैं खुद वही गलती कर बैठता हूँ। लेकिन जब मुझे शिक्षा ही दूषित मिली हो या इतिहास जो मुझे पढ़ाया गया, वही ऊँट-पटांग था तो मेरा इसमें क्या क़सूर? इस कमी को पूरा करने के लिए मैंने जेल के एकान्त में विशेष अध्ययन करने की कोशिश

की और उसमें मुझे शायद कुछ हदतक कामयाबी भी मिली है। लेकिन अपने मन की चित्रशाला में घटनाओ और व्यक्तियो की जिन तसवीरों को मैंने अपने बचपन और जवानी के दिनों में लटकाया था उन्हे वहांसे उतार नही सकता। और इतिहास सम्बन्धी मेरे दृष्टिकोण पर, जो अधूरे ज्ञान की वजह से वैसे ही काफी परिमित है, इन तसवीरों का भी असर पड़ता है। इसलिए जो कुछ मैं लिखूंगा उसमें मुझसे गलतियाँ होगी। बहुत-सी बेमतलब बाते लिख जाऊँगा और कई बार बहुत-सी महत्वपूर्ण बातो का जिक्र तक करना भूल जाऊँगा। दरअसल ये खत इसलिए लिखे भी नही गये है कि वे इतिहास की पुस्तको की जगह लेलें। ये तो उस आपसी छोटी-सी बात-चीत के स्थान पर है---कम-से-कम मैं तो उन्हे ऐसा ही समझकर खुश होता हूँ---जो हम दोनो में होतीं, अगर एक हजार मील का फासला और कई ठोस दीवारे हम दोनो को जुदा न करती होती।

मैं उन बहुत-से मशहूर आदमियो के बारे में तुम्हे लिखे बिना रह नहीं सकता जिनके शानदार कामों से इतिहास के पन्ने भरे हुए है। वे अपने ढग के खुद बहुत मजेदार आदमी हुए हैं और उनसे हमें यह पता चलता है कि जिस जमानें में वे हुए थे, वह कैसा था। लेकिन इतिहास सिर्फ बडे-बडे आदमियो, बादशाहो, सम्राटो या उन्हींकी तरह के दूसरे आदमियो के कारनामो का रजिस्टर भर नहीं है। अगर ऐसा होता तो इतिहास का काम अभी तक खतम हो जाना चाहिए था। क्योकि बादशाह और शाहंशाह दुनिया के रंगमच पर अब अकड़कर चलते हुए दिखाई नही देते। लेकिन जो स्त्री या पुरुष वास्तव में महान् है उन्हे अपनी विशेषता प्रकट करने के लिए किसी ताज या तख्त, अथवा हीरे-जवाहरात या खिताबो की जरूरत नहीं पडती। इनकी जरूरत तो सिर्फ राजाओ और नवाबो को ही होती है जिनके अन्दर कोई तत्व नही होता और जिन्हे अपनी नग्नता छिपानें के लिए इस तरह की वर्दियाँ और राज-पोशाके पहननी पड़ती है। इस जाहिरा दिखावे की वजह से हममें से बहुत से आदमी बदकिस्मती से धोखे में फँस जाते है और "सिर पर ताज रखनेवाले नाम-मात्र के राजा को राजा समझने की गलती करने लगते है।"

इधर-उधर के कुछ इने-गिनें व्यक्तियो का वर्णन वास्तविक इतिहास का विषय नही है। उसका विषय तो वे सब लोग है, जो मिलकर एक राष्ट्र का निर्माण करते हैं, जो मेहनत करते और अपने परिश्रम से जीवन की जरूरतो और ऐशो-आराम की चीजो को पैदा करते है, और जो हजारों तरीको से एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। मनुष्य का इस तरह का इतिहास अगर लिखा जाय तो सचमुच बड़ा मनोरंजक होगा। उसमें इस बात का विवरण होगा कि बहुत प्राचीन काल से

मनुष्य प्रकृति और उसके तत्वों के विरुद्ध, जगलों और जंगली जानवरो के खिलाफ कैसे संघर्ष करता रहा। फिर अन्त में विवरण होगा उस कठिन संघर्ष का, जो अपनी ही जाति के कुछ ऐसे लोगो के खिलाफ उसे करना पड़ा, जो अपने स्वार्थ के लिए उसे दबाये रखने की और उसका शोषण करने की कोशिश करते थे। इतिहास तो जीविका के लिए मनुष्य के संघर्ष की कहानी है। लेकिन चूंकि जिन्दा रहने के लिए चन्द चीजों, जैसे अनाज, घर और ठंडे मुल्को में कपडे वगैरा का होना जरूरी है, इसलिए जिन लोगो का इन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों पर अधिकार था, उन्होने आदमियो पर अपनी हुकूमत जमा ली। हाकिमो और राजाओ के हाथ में प्रभुता रही है, क्योकि जीविका के कुछ आवश्यक साधनो पर उनका नियन्त्रण था। इस नियन्त्रण से उन्हे जनता को भूखो मारकर अपने वश में कर लेने की शक्ति मिल गई, और इसी वजह से हमें यह आश्चर्यजनक दृश्य देखने को मिलता है कि मुट्ठी भर आदमी बहुत बडे जन-समुदाय को चूसते है, बहुत से आदमी बिना कुछ मेहनत किये ही रुपया कमाते है और बहुत ज्यादा संख्या ऐसे लोगो की है जो मिहनत तो बहुत करते है, लेकिन पाते बहुत कम है।

अकेले शिकार करनेवाला जगली आदमी धीरे-धीरे अपना कुटुम्ब बना लेता है। फिर सारा परिवार मिलकर एक दूसरे के फायदे के लिए मेहनत करता है। इसके बाद बहुत से कुटुम्ब मिल जाते है और एक गाँव बन जाता है; और बाद में कई गाँवो के मजदूर, व्यापारी और कारीगर लोग मिलकर एक संघ बना लेते है। इस प्रकर धीरे-धीरे सामाजिक इकाई—यूनिट[१], बढ़ने लगती है। शुरु में व्यक्ति एक जंगली आदमी था। उस समय किसी तरह का कोई समाज नहीं था। उसके बाद कुटुंब के रूप में दूसरी बडो यूनिट सामने आती है। उसके बाद गांव और फिर उन गाँवों का एक सघ बनता है। इस सामाजिक संघ की वृद्धि क्यों हुई ? इसलिए कि जीविका के सग्राम ने मनुष्य को वृद्धि और सहयोग के लिए मजबूर कर दिया था। समान शत्रु से अपना बचाव करने या उसपर हमला करने में अगर सहयोग के साथ काम किया जाय तो अकेले की अपेक्षा कहीं ज्यादा प्रभावशाली होता है। सहयोग से काम करने में फायदा भी रहता है। अकेले काम करने की तुलना में मिल-जुलकर काम करने से खाने की चोजे और दूसरी आवश्यकताओ की चीजें कहीं ज्यादा पैदा की जा सकती है। काम के इस सहयोग के परिणाम स्वरुप आर्थिक इकाई का भी विकास होने लगा—जहाँ पहले एक जगली पुरुष अकेला अपनी रोजी की तलाश में जगलो में शिकार करता भटकता था, वहा अब उनके बडे-बडे समूह बन गये और

१ यूनिट—या इकाई का अर्थ है छोटी-से-छोटी, किन्तु पूर्ण एक वस्तु या मात्रा।

रोज़ी के लिए सम्मिलित प्रयत्न होने लगे। यह बहुत मुमकिन है कि मनुष्य की आजीविका के इस संघर्ष की वजह से आर्थिक इकाइयों में जो प्रगति होती गई उसीसे समाज और सामाजिक इकाई का विकास हुआ हो।

इतिहास के लम्बे बिस्तार में हम देखते चले आरहे हैं कि हमेशा के संघर्ष, बेशुमार मुसीबतों और कभी-कभी अधःपतन के बीच तक में यह उन्नति बराबर जारी रही है। लेकिन इससे तुम यह न समझ बैठना कि इस उन्नति का मतलब यह है कि दुनिया बहुत आगे बढ गई है, या पहले से ज्यादा सुखी हो गई है। संभव है, पहले से आज उसकी हालत बेहतर हो। लेकिन उसमें अभी तक पूर्णता नहीं आई है, उससे अभी वह बहुत दूर है और हर जगह काफी मुसीबतें पाई जाती हैं।

जैसे-जैसे ये आर्थिक और सामाजिक इकाइयाँ बढ़ती गईं, जिन्दगी ज्यादा-से-ज्यादा पेचीदा होती गई। व्यापार और तिजारत ने तरक्की की। दान की जगह पर अदला-बदली शुरू हुई। और फिर सिक्का पैदा हुआ, जिसने हर किस्म के व्यवहार में बड़ा भारी अन्तर पैदा कर दिया। सिक्के के पैदा होते ही व्यापार एकदम आगे बढ़ गया, क्योंकि सोने और चादी के सिक्के के रूप में दाम दिये जाने की वजह से व्यापारिक माल की अदला-बदली आसान हो गई। इसके बाद अब सिक्कों का भी इस्तेमाल हमेशा जरूरी नहीं रहा। लोगो ने उनके बदले उनके प्रतीक का इस्तैमाल करना शुरू कर दिया। कागज़ का टुकडा, जिसपर अदायगी का वादा लिखा हुआ हो, सिक्के की बराबरी का समझा जाने लगा। इस प्रकार बैंक नोट और चेकों का चलन शुरू हुआ। इसका मतलब हुआ कि उधार या साख पर व्यापार चलने लगा। साख या उधार की प्रणाली के कारण व्यापार और तिजारत में बहुत मदद मिलती है। तुम जानती ही हो कि आज-कल चेक और बैंक-नोटों का काफी इस्तेमाल होता है। समझदार आदमी अब अपने साथ सोने और चाँदी की थैलियाँ लिये इधर-उधर नही फिरते।

इस तरह हम यह देखते हैं कि ज्यो-ज्यो धुंधले अतीत मे से इतिहास आगे बढता है, लोग उत्पत्ति ज्यादा से ज्यादा बढ़ाते जाते हैं और जुदे-जुदे व्यापारों में विशेष दक्षता प्राप्त करते जाते हैं। हम उन्हे आपस में माल की अदला-बदली करते और इस तरह व्यापार की उन्नति करते देखते हैं। हम यह भी देखते है कि माल के मँगाने और भेजने के लिए नये और अच्छे-से-अच्छे साधन पैदा हुए; खासकर पिछले सौ बरसो में जब भाप का इंजन बना, इसमें और भी ज्यादा तरक्की हुई। ज्यों-ज्यो पैदावार बढ़ी, दुनिया की सम्पति बढ़ी और कम-से-कम कुछ आदमियो को ज्यादा फुरसत मिल गई। और इस तरह जिसे हम सभ्यता कहते है उसका विकास हुआ।

ये सब बातें हुईं। लोग आजकल के उन्नति-शील युग, आधुनिक सभ्यता,

महान् सस्कृति और विज्ञान के चमत्कारो पर गर्व करते और उसकी डींगें मारते हैं। लेकिन गरीब लोग अभी भी गरीब और दुखी बने हुए हैं। बड़े-बड़े राष्ट्र एक दूसरे से लड़ाई करते हैं और लाखों आदमियो का कत्ल कर डालते हैं; हमारे देश जैसे बड़े-बड़े देशों पर विदेशी लोग हुकूमत करते हैं। ऐसी सभ्यता से क्या लाभ अगर हमें अपने ही घर में आजादी नसीब नही है। लेकिन हम जाग चुके हैं, और आगे बढ़ने की कोशिश कर रहे हैं।

कितने सौभाग्य की बात है कि हम आजकल के ऐसे हलचल के जमाने में रह रहे हैं, जबकि हर-एक आदमी इस महान् साहस पूर्ण कार्य में हिस्सा ले सकता है और सिर्फ हिन्दुस्तान को ही नहीं बल्कि सारी दुनिया को बदलती हुई देख सकता हैं। तुम बडी खुशकिस्मत लड़की हो, कि तुम उस महान् इन्किलाब के शुरू होने के साल और महीने में पैदा हुई, जिसने कि रूस में नया युग पैदा कर दिया और आज तुम अपनें ही देश में एक क्रांति देख रही हो और बहुत मुमकिन है कि इस क्रांति में तुम भी कुछ कर दिखाओ। सारी दुनिया में मुसीबत फैली हुई है और तब्दीली हो रही है। सुदूर पूर्व में जापान चीन का गला पकडे बैठा है। पश्चिम में ही नही बल्कि सारी दुनिया में पुरानी प्रणाली लड़खड़ा रही है और धड़ाम से गिरने ही वाली है। संसार के राष्ट्र बातें तो करते हैं नि:शस्त्रीकरण की, लेकिन एक-दूसरे को सन्देह की नजर देखते हैं और सभीने अपनेको एडी से चोटी तक हथियारबन्द कर रक्खा है। पूंजीवाद की, जो इतने ज्यादा अर्से से दुनिया के ऊपर हावी रहा है, यह आखिरी टिम-टिमाहट है। जिस दिन यह खत्म होगा, और खत्म तो उसे जरूर होना ही पडेगा, वह अपने साथ बहुत-सी बुराइयों को भी लेता जायगा।

: २३ :

सिंहावलोकन

२९ मार्च, १९३२

प्राचीन ज़माने की अपनी सफर मे हम कहाँ तक पहुँचे है? हमने मिस्र, हिन्दुस्तान, चीन और नोसास के पुराने जमाने की कुछ चर्चा की है। हमने देखा कि मिस्र की पुरानी और अद्भुत सभ्यता जिसने पिरेमिड पैदा किये, धीरे-धीरे कैसे जर्जर और दुर्बल हो गई और किस प्रकार वह एक खोखली सी चीज रह गई, जिसमें सिवाय दिखावे की निर्जीव चीजों के असली जीवन-तत्व कुछ भी न बचा। हमने यह भी देखा कि खास यूनान की एक कौम ने नोसास को किस तरह नष्ट

के अधिकार में था, और दूसरा पश्चिमी एशिया का सेल्यूकस की मातहती में था। टालमी और सेल्यूकस दोनो सिकन्दर के सेनापति थे। सेल्यूकस ने हिन्दुस्तान पर कब्ज़ा करना चाहा। लेकिन यह जानकर उसे हैरत हुई कि हिन्दुस्तान भी थप्पड़ का जवाब करारे घूँसे से दे सकता है। चन्द्रगुप्त मौर्य्य ने सारे उत्तरी और मध्य भारत पर अपना शक्तिशाली राज्य कायम कर लिया था। चन्द्रगुप्त, उसके प्रसिद्ध ब्राह्मण मंत्री चाणक्य और उसकी लिखी हुई पुस्तक अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में मैं अपने पिछले पत्रो में तुम्हे कुछ हाल बता चुका हूँ। सौभाग्य की बात है कि इस किताब से हमें आज से ढाई हज़ार बरस पहले के हिन्दुस्तान का हाल मालूम हो जाता है।

पिछले ज़माने का हमारा सिंहावलोकन ख़तम होगया और अब हम अगले पत्र में मौर्य्य साम्राज्य और अशोक का हाल लिखते हुए आगे बढ़ेंगे। चौदह महीने से ज्यादा गुज़रे २५ जनवरी सन् १९३१ को नैनी जेल से मैंने ऐसा करने का वादा किया था। उस वादे को मुझे अभी पूरा करना बाकी है।

: २४ :

'देवानाम् प्रिय अशोक'

३० मार्च, १९३२

मुझे डर है कि शायद मैं राजा-महाराजाओ के खिलाफ़ कहने का कुछ, ज़रूरत से ज्यादा, आदी हो गया हूँ। मुझे इस वर्ग में कोई ऐसा गुण नहीं दिखाई देता जिससे मैं उनकी तारीफ करूँ या उनके लिए मेरे दिल में इज्ज़त हो। लेकिन हम इस समय एक ऐसे व्यक्ति का ज़िक्र करनेवाले है जो बादशाह और सम्राट् होते हुए भी महान् और इज्ज़त के योग्य था। वह था चन्द्रगुप्त मौर्य्य का पोता अशोक। एच० जी० वेल्स ने, जिनकी कुछ कहानियाँ तुमने पढ़ी होगी, अपनी इतिहास की रूप-रेखा (Outline of History) नामक पुस्तक में उसके बारे में लिखा है—"इतिहास के पन्ने रंगने वाले ससार के हज़ारो-लाखो सम्राटो, राज-राजेश्वरो, महाराजाधिराजो और श्रीमानो आदि के नामो में केवल अशोक का नाम ही चमकता है और ऐसा कि उसकी कोई बराबरी नही कर पाता। वोल्गा नदी से जापान तक आज भी उसके नाम का आदर होता है। चीन, तिब्बत और हिन्दुस्तान ने भी—हालांकि उसने उसके सिद्धान्त को छोड़ दिया है—उसकी महानता की परम्परा को कायम रक्खा। कान्स्टेन्टाईन या शार्लमैन[1]

१. शार्लमैन—पवित्र रोमन-सम्राट और फ्रैंक जाति का राजा था। इसका जन्म सन् ७४२ में हुआ था। इसके साम्राज्य में करीब सारा पश्चिमी योरप था। सन् ८१४ में इसकी मृत्यु हुई।

के नाम जाननेवालो से उसके नाम को आदर के साथ याद करनेवालो की तादाद आज भी कही ज्यादा है।"

यह वास्तव में बहुत उच्चकोटि की प्रशसा है। लेकिन अशोक इसके योग्य था, और हरेक हिन्दुस्तानी के लिए, हिन्दुस्तान के इतिहास के इस युग पर विचार करना बहुत खुशी की बात है।

चन्द्रगुप्त ईसाई सन् के शुरू होने के क़रीब ३०० बरस पहले मर गया। उसके बाद उसका लड़का बिन्दुसार गद्दी पर बैठा। उसने पच्चीस वर्ष तक शान्तिमय शासन किया। यूनानी जगत् से उसने अपना सम्पर्क बनाये रक्खा। उसके दरबार में पश्चिम एशिया के सेल्यूकस के लड़के एण्टीओकस और मिस्र के टालमी की ओर से राजदूत आते थे। बाहरी दुनिया से व्यापार बराबर जारी था और कहा जाता है कि मिस्रवाले अपने कपडे हिन्दुस्तान के नील में रंगा करते थे। वे लोग अपनी मोमयाई—मृतकों के शव—हिन्दुस्तानी मलमल में लपेटते थे। बिहार में कुछ पुराने जमाने के भग्नावशेष मिले है, जिनसे मालूम होता है कि मौर्य-युग के पहले भी वहाँ एक तरह का शीशा—काँच—बनाया जाता था।

तुम्हे यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि मैगेस्थनीज ने, जो चन्द्रगुप्त के दरबार मे राजदूत होकर आया था, लिखा है कि हिन्दुस्तानी लोग सौंदर्य और सुघड़ता बहुत पसन्द करते थे। उसने इस बात का खास तौर से जिक्र किया है कि लोग अपनी लम्बाई बढ़ाने के लिए जूते पहनते थे! इससे मालूम होता है कि ऊँची एडी का जूता कोई हाल की ईजाद नहीं है।

बिन्दुसार की मृत्यु होने पर ईसा से २६८ वर्ष पहले अशोक उस विशाल साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ, जो सारे उत्तर और मध्य हिन्दुस्तान से लेकर मध्य एशिया तक फैला हुआ था। हिन्दुस्तान के दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी हिस्से को अपने साम्राज्य में मिलाने की इच्छा से शायद उसने अपने राज्य के नवे बरस में कलिंग देश पर चढ़ाई की। कलिंग हिन्दुस्तान के दक्षिणी समुद्रतट पर महानदी और कृष्णा नदी के बीच का देश था। कलिंगवाले बडी बहादुरी से लडे, लेकिन आखिर में बहुत भयंकर मार-काट के बाद वे दबा दिये गये। इस लड़ाई और मार-काट ने अशोक के दिल पर बहुत गहरा असर किया। उसे लड़ाई और उस से सम्बन्ध रखनेवाली सारी चीजो से नफरत हो गई। उसने यह तय कर लिया कि आगे वह अब कोई लड़ाई न लडेगा। दक्षिण के एक छोटे से टुकडे को छोड़कर करीब-क़रीब सारा हिन्दुस्तान उसके क़ब्जे में था। इस छोटे से टुकडे को जीतकर अपनी विजय को पूर्ण कर लेना उसके लिए बहुत आसान बात थी, लेकिन उसने

ऐसा नही किया। एच० जी० वेल्स के कहे मुताबिक इतिहास भर में अशोक ही एक ऐसा सैनिक सम्राट् हुआ है जिसने विजय के बाद लड़ाई को छोड़ दिया हो।

सौभाग्य से अशोक का अपना विवरण हमें प्राप्त है जिसमे उसके अपने भावों और कामो का वर्णन किया गया है। बहुतसी राजविज्ञप्तियाँ या शाही फर्मानो में, जिन्हे अशोक 'धर्मलिपि' कहता था और जो पत्थरो या धातु-पत्रो पर खुदाई गई थी, प्रजा और भावी सन्तति के लिए उसके सन्देश आज भी हमें मिलते हैं। तुम जानती हो कि इलाहाबाद के किले में अशोक की एक ऐसी ही लाट है। हमारे सूबे में इस तरह के और भी कई स्तम्भ हैं।

इन राज-विज्ञप्तियो में अशोक ने बताया है कि युद्ध और विजय में होने वाली हत्याओ से उसके दिल में कितनी घृणा और कितना अनुताप हुआ। उसका कहना है कि धर्म से अपने और मानव-हृदय के ऊपर विजयी होना ही सच्ची विजय है। मैं तुम्हारे लिए इन राजाज्ञाओ में से दो-एक यहाँ नोट करता हूँ। उन्हे पढ़ते-पढ़ते हम मुग्ध हो जाते हैं। वे अशोक को तुम्हारे बहुत नजदीक ले आवेगी—जिससे तुम अशोक को अच्छी तरह समझ सकोगी।

एक राज-विज्ञप्ति में लिखा है—

"धर्मराज प्रियदर्शी महाराज ने अपने अभिषेक के आठवे बरस कलिग को जीता। डेढ लाख आदमी वहाँ से कैद करके लाये गये। एक लाख वहाँ कत्ल हुए और इससे कई गुना मर गये।

"कलिंग-विजय के बाद से ही धर्मराज वडे उत्साह से धर्माचरण, और धर्मनिष्ठा एव धर्म की रक्षा तथा उसके प्रचार मे जुट गये। उनके हृदय मे कलिग-विजय के लिए पश्चात्ताप शुरू हुआ क्योकि किसी अपराजित देश पर विजय प्राप्त करने मे लोगो की हत्या, मृत्यु और उन्हे कैदी वना करके ले जाना जरूरी हो जाता है। धर्मराज को इस वात पर वहुत ज्यादा दुःख और पश्चात्ताप होता है।"

आगे चलकर इस राज-विज्ञप्ति में लिखा है कि कलिग में जितने आदमी मारे गये, या कैद हुए उस का सौवाँ या हजारवाँ हिस्सा भी अगर आज मारे जायँ या क़ैद हो तो अशोक उसे सहन न कर सकेगे।

"इसके सिवा अगर कोई धर्मराज के साथ बुराई करेगा तो वह उसे जहाँतक सहा जा सकेगा सहेगे। अपने साम्राज्य की जगली जातियो पर भी धर्मराज कृपा-दृष्टि रखते है और चाहते है कि वे लोग शुद्ध भावना रखें, क्योकि अगर वह ऐसा न करे तो उन्हे पश्चाताप होगा। धर्मराज की इच्छा है कि समस्त प्राणियो की सुरक्षा हो और सब शान्तिपूर्वक सयम के साथ और प्रसन्न-चित्त रहे।"

इसके आगे अशोक बताता है कि धर्म से मनुष्यों का हृदय जीतना ही सच्ची विजय है और उसने हमें बताया है कि उसे ऐसी सच्ची विजय केवल अपने ही साम्राज्य में नहीं बल्कि दूर-दूर के राज्यो में भी प्राप्त हुई है।

जिस धर्म का इन राजाज्ञाओ में बार-बार ज़िक्र आया है वह बौद्ध धर्म है। अशोक बड़ा उत्साही बौद्ध हो गया था और उसने इस धर्म के प्रचार में अपनी शक्ति भर खूब कोशिश की; लेकिन इस काम में किसी तरह की ज़बरदस्ती या दबाव का नाम-निशान भी नहीं था। वह लोगो के दिलो को जीतकर ही उन्हे अपने धर्म में शामिल करता था। बहुत ही कम धार्मिक पुरुष अशोक के समान सहिष्णु और दूसरो की धार्मिक भावनाओ का ख़याल रखने वाले हुए हैं। लोगों को अपने धर्म में मिलाने के लिए ज़बरदस्ती दबाव और धोखेबाज़ी को काम में लाना धार्मिक पुरुषो के लिए मामूली सी बात रही है। सारा इतिहास धार्मिक अत्याचारों और मज़हबी लड़ाइयो से भरा पड़ा है और धर्म और ईश्वर के नाम पर जितना खून बहा है शायद ही उतना किसी दूसरे नाम पर बहा होगा। इसलिए यह याद रखना अच्छा होगा कि भारत का एक महान् सपूत, जो बड़ा धार्मिक और एक शक्तिशाली साम्राज्य का मालिक भी था, लोगो को अपने मत का अनुयायी बनानें के लिए किस प्रकार का व्यवहार करता था। यह एक अजीब सी बात मालूम होती है, कि कुछ ऐसे लोग है जो यह सोचने की बेवकूफी करते हैं कि धर्म और विश्वास तलवार और संगीन के ज़ोर पर लोगो के गले के नीचे उतारे जासकते हैं।

इस प्रकार देवताओ के प्रिय, या राज-विज्ञप्तियों के शब्दो में 'देवानाम् प्रिय', अशोक ने पश्चिमी एशिया, अफ़रीका और योरप के राज्यों में अपने दूत और एलची भेजे। तुम्हे याद होगा कि उसने अपने सगे भाई महेन्द्र और बहन संघमित्रा के लंका भेजा था और कहा जाता है कि ये अपने साथ गया से पवित्र बोधि-वृक्ष की एक टहनी भी ले गये थे। तुम्हे याद है न कि अनुरुद्धपुर के मन्दिर में हम लोगो ने एक बड़ का पेड़ देखा था और लोगो ने बताया था कि यह वही पेड़ है जो उस पुरानी टहनी से उपजा था।

हिन्दुस्तान में बौद्धधर्म बहुत तेज़ी से फैल गया। लेकिन अशोक की दृष्टि मे केवल मन्त्रो का जाप और पूजा-पाठ या संस्कारो का नाम धर्म न था, बल्कि उसके ख़याल मे धर्म का अर्थ था उत्तम काम करना और समाज को ऊँचा उठाना। इसलिए सारे देश में बाग-बगीचे, अस्पताल, कुएँ, और सडके बढ़ने लगी। स्त्रियों की शिक्षा के लिए खास इन्तज़ाम किया गया था। इस समय चार बडे-बडे विश्वविद्यालय थे, एक एकदम उत्तर में पेशावर के पास, तक्षशिला या तक्षिला; दूसरा मथुरा, जिसे अब अंग्रेज़

भद्दे ढग से मुटरा लिखते है; तीसरा मध्यभारत में उज्जैन और चौथा पटना के पास नालन्द। इन विश्व-विद्यालयो में सिर्फ हिन्दुस्तान के ही नही बल्कि चीन से लेकर पश्चिमी एशिया तक के दूर-दूर देशो से विद्यार्थी पढ़ने के लिए आते थे। और अपने साथ अपने देश को बुद्ध के उपदेशो का सन्देश ले जाते थे। सारे देश में बडे-बडे मठ बनगये थे, जो विहार कहलाते थ। पाटलिपुत्र या पटना के आस-पास इतने ज्यादा मठ या विहार, थे कि सारा प्रान्त ही विहार, या जैसा कि आजकल कहा जाता है, विहार कहलाने लगा। लेकिन जैसा कि अकसर होता है इन विहारो में से शिक्षा और साधना का उत्साह थोडे ही दिनो में जाता रहा, और ये ऐसे स्थान बन गये जहाँ लोग एक स्थिर कार्यक्रम और पूजा-पाठ की लकीर पीटा करते थे।

जीव-रक्षा का अशोक का उत्साह बढकर, जानवरो तक के लिए हो गया था। जानवरो के लिए खास तौर से अस्पताल खोले गये थे, और पशुओ का बलिदान रोक दिया गया था। इन दोनो बातो में अशोक हमारे जमाने से भी कुछ आगे बढ गया था। अफसोस की बात है कि जानवरो का बलिदान कुछ हद तक अभी भी जारी है; यह धर्म का एक जरूरी हिस्सा माना जाता है; और जानवरों के इलाज का कोई इन्तजाम नही है। अशोक के अपने उदाहरण से और बौद्धधर्म के प्रचार से लोगो में मॉस न खाने का प्रचार होने लगा। उसके पहले हिन्दुस्तान के ब्राह्मण और क्षत्रिय साधारणतया मॉस खाते थे और शराब पीते थे। अशोक के जमाने में मॉस खाना और शराब पीना दोनो ही बहुत कम हो गये।

इस तरह अशोक ने ३८ बरस तक राज्य किया और शान्तिपूर्वक जनता की भलाई करने में वह पूरी-पूरी कोशिश करता रहा। सार्वजनिक काम के लिए वह हमेशा तैयार रहता था।

> "हर समय और हर जगह पर—चाहे मै खाना खा रहा होऊँ या रनिवास मे होऊँ, अपने सोने के कमरे मे रहूँ, मन्त्रिगृह में होऊँ, अपनी गाडी मे बैठा कही जाता होऊँ या बाग मे होऊँ, सरकारी सवाददाताओ को चाहिए कि वे जनता के काम की मुझे बराबर खबर देते रहे।" अगर कोई कठिनाई उठ खडी होती तो उसके शब्दो मे "चाहे जो समय या चाहे जो जगह हो" उसकी खबर तुरत उसको देनी पडती थी। क्योकि उसका कहना था कि "सार्वजनिक हित के लिए मुझे काम करना ही चाहिए।"

ईसा से २२६ वर्ष पहले अशोक की मृत्यु हो गई। मृत्यु के कुछ दिन पहले वह राज-पाट छोड़कर बौद्ध भिक्षु हो गया था।

मौर्य-युग के बहुत कम प्राचीन चिन्ह हमें मिलते है। जो मिलते है वे ही, अभी तक की खोज के मुताबिक, हिन्दुस्तान में आर्य-सभ्यता के पुराने से पुराने चिन्ह है; इस

वक्त हम मोहेनजोदारो के खण्डहरो पर विचार करना छोड़ देते है। बनारस के पास सारनाथ में तुम आज भी अशोक का सुन्दर स्तम्भ देख सकती हो जिसके सिरे पर शेर बना हुआ है।

पाटलिपुत्र के विशाल नगर का, जो अशोक की राजधानी थी, अब कुछ भी नहीं बचा। पन्द्रह सौ बरस पहले यानी अशोक के मरने के छः सौ बरस बाद, फाहियान[1] नाम का एक चीनी मुसाफिर पाटलिपुत्र गया था। उस समय यह नगर खूब उन्नत, खुशहाल और मालदार था लेकिन उस वक्त भी अशोक का पत्थरवाला राजमहल खंडहर हो रहा था। फिर भी इन खंडहरो से ही फाहियान बहुत प्रभावित हुआ और उसने अपनी सफ़र के विवरण में लिखा है कि राजमहल मनुष्यो का बनाया हुआ नहीं मालूम होता था।

बडे-बडे पत्थरो से बना हुआ राजमहल चला गया और अपनी कोई निशानी नही छोड़ गया, लेकिन अशोक की यादगार एशिया के महाद्वीप भर में आज भी जिन्दा है। और उसकी राजाज्ञायें ऐसी भाषा में लिखी पाई जाती है कि हम उन्हे समझ सकते है, उनका आदर करते है और अब भी हम उनसे बहुत कुछ सीख सकते है। यह खत बहुत लम्बा हो गया। और मुमकिन है तुम इससे ऊब जाओ। अशोक की एक राजाज्ञा से एक उद्धरण देकर अब मैं इसे खत्म करता हूँ।

"हरेक मत किसी-न-किसी कारण से आदरणीय है। दूसरे मत का आदर करके आदमी अपने मत को ऊँचा उठाता है और साथ ही दूसरे लोगो के धर्म की सेवा भी कर लेता है।"

: २५ :

अशोक के ज़माने की दुनिया

३१ मार्च, १९३२

हम देख चुके है कि अशोक ने दूर-दूर के देशो में राजदूत और प्रचारक भेजे थे और इन देशो से हिन्दुस्तान का सम्पर्क और व्यापार बराबर जारी था। हाँ, जब मै उस जमाने के सम्पर्क या व्यापार का जिक्र करता हूँ तो तुम्हे यह बात जरूर खयाल में रखनी चाहिए कि वह आजकल का-सा बिलकुल नहीं था। अब तो रेल और

१ फाहियान—एक चीनी बौद्ध यात्री था। मगध-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में हिन्दुस्तान मे आया था और ६ बरस तक यहाँ घूमता रहा। इसने उस जमाने के भारतवर्ष का बहुत अच्छा वर्णन लिखा है। इसका समय ३७५ ई० पूर्व है।

जहाज़ और हवाई जहाज़ से माल और मुसाफ़िरों का एक जगह से दूसरी जगह आना-जाना बहुत आसान हो गया है। लेकिन उस बहुत पुराने ज़माने में हरेक सफ़र में बहुत दिन लग जाते थे और खतरे भी बहुत होते थे। इसलिए मजबूत और साहसी लोग ही सफर किया करते थे। इस वजह से उस वक़्त के और आज के व्यापार का किसी भी तरह मुक़ाबिला नहीं हो सकता।

वे कौन-से 'दूर के देश' थे जिनका ज़िक्र अशोक ने किया? उसके समय की दुनिया कैसी थी? भूमध्य सागर के किनारे के देशों को और मिस्र को छोड़कर हम उस वक्त के अफरीका के बारे में कुछ भी नहीं जानते। हमें उत्तरी, मध्य और पूर्वी योरप या उत्तरी और मध्य एशिया के बारे मे भी बहुत कम मालूम है। अमरीका के बारे में भी हम कुछ नहीं जानते; लेकिन बहुत से लोग ऐसा समझते हैं कि अमरीका के महाद्वीप में बहुत प्राचीन काल से काफी ऊँची सभ्यता पाई जाती थी। कहते हैं, बहुत दिनो बाद ईसा की १५ वीं सदी में कोलम्बस ने अमरीका को खोज निकाला। लेकिन हमें पता चलता है कि उस समय भी दक्षिण अमरीका में, पेरू में और आस-पास के देशो में बहुत ऊँचे दर्जे की सभ्यता मौजूद थी। इसलिए यह बहुत मुमकिन है कि ईसा के तीन सौ बरस पहले, जब हिन्दुस्तान में अशोक हुआ अमरीका में सभ्य लोग रहते हो और उन्होने अपने सुसंगठित समाज बनाये हो। लेकिन इस बारे में कोई प्रामाणिक बात नहीं मिलती, और केवल अंदाज लगाने में कोई खास फायदा नहीं। लेकिन मै उनका ज़िक्र इसलिए कर रहा हूँ कि हम लोग अक्सर यही समझते है। कि सभ्य लोग दुनिया के सिर्फ उन्हीं हिस्सों में रहते थे जिनके बारे में हम पढ चुके है या कुछ सुन चुके है। बहुत दिनो तक योरपवालो का यह ख़याल रहा कि प्राचीन इतिहास का मतलब है यूनान, रोम और यहूदियों का इतिहास। इनके मतानुसार बाकी दुनिया उस वक़्त वीरान और जंगली थी। बाद को उन्हे पता चला कि उनका ज्ञान कितना परिमित था, जबकि उन्हीं देश के विद्वानो और पुरातत्त्ववेत्ता लोगों ने चीन, हिन्दुस्तान और दूसरे देशो का हाल बताया। इसलिए हमें सचेत रहना चाहिए और यह न समझ बैठना चाहिए कि जो कुछ हमारी इस दुनिया में हुआ है वह सब कुछ हमारे परिमित ज्ञान के अन्दर है और हम अल्पज्ञों को उस सबका पता है।

इस समय तो हम इतना ही कह सकते है कि अशोक के ज़माने के अर्थात् ईसा से पहले तीसरी सदी के प्राचीन सभ्य संसार में भूमध्यसागर के किनारो पर बसे हुए योरप और अफ्रीका के देश, पश्चिमी एशिया, चीन और हिन्दुस्तान की मुख्यतया गिनती होती थी। सम्भवतः पश्चिमी देशो और पश्चिमी एशिया तक से उस समय चीन का कोई सीधा सम्पर्क नहीं था और चीन या कैथे के बारे में ऊल

जलूल ख़यालात फ़ैले हुए थे। चीन और पश्चिम को मिलानेवाली कडी का काम हिन्दुस्तान करता था।

हम देख चुके है कि सिकन्दर की मौत के बाद उसके साम्राज्य को उसके सेनापतियो ने आपस में बांट लिया था। उसके तीन ख़ास हिस्से हुए (१) सेल्यूकस के कब्जे में पश्चिमी एशिया, ईरान, इराक (२) टालमी के अधीन मिस्र और (३) एण्टीगोनस के अधिकार में मकदूनिया। पहले दो राज्य बहुत दिनो तक कायम रहे। तुम जानती हो कि सेल्यूकस हिन्दुस्तान का पडौसी था और उसने लालच में पड़कर हिन्दुस्तान का कुछ हिस्सा अपने साम्राज्य में शामिल करना चाहा। लेकिन उसका पाला चन्द्रगुप्त से पड़ा, जिसने सेर का बदला सवा सेर से देकर उसे पीछे हटा दिया और उससे उसके मुल्क का वह हिस्सा छीन लिया जो आजकल अफगानिस्तान कहलाता है।

इन दो राज्यो की अपेक्षा मकदूनिया कुछ कम भाग्यशाली था। गाल और दूसरी कौमो ने उस पर उत्तर से बारबार हमला किया। उसका सिर्फ एक ही हिस्सा ऐसा था जो इन गाल लोगों का मुकाबिला कर सका और आज़ाद रह सका। यह हिस्सा एशिया माइनर में था जहां आज टर्की है। और पैरगैमम कहलाता था। यह यूनानियों की एक छोटी सी रियासत थी; लेकिन सौ बरस से ज्यादा तक वह यूनानी संस्कृति और कलाओ का केन्द्र बनी रही। वहाँ सुन्दर-सुन्दर इमारतें बनीं, और पुस्तकालय और अजायबघर खुले। कुछ हद तक वह समुद्र के उस पार सिकन्दरिया का प्रतिद्वन्द्वी-सा बन गया था।

सिकन्दरिया मिस्र में टालमी वंश के लोगो की राजधानी थी। यह एक बड़ा शहर हो गया था और पुरानी दुनिया में बहुत मशहूर था। एथेन्स का गौरव बहुत कुछ घट चुका था और उसकी जगह सिकन्दरिया, धीरे-धीरे, यूनानी संस्कृति का केन्द्र बन गया। इसके विशाल पुस्तकालय और अजायबघर से आकर्षित होकर दूर-दूर देशों से बहुत-से विद्यार्थी यहाँ आते थे और तत्त्वज्ञान, गणित धर्म, और बहुतसी दूसरी समस्याओ का, जिनमें उस ज़माने के विद्वानो की बहुत रुचि थी, अध्ययन करते थे। युक्लिड, जिसका नाम तुमने और स्कूल में रेखागणित पढ़नेवाले हरेक लड़के लड़की ने जरूर सुना होगा, सिकन्दरिया का रहनेवाला और अशोक का समकालीन था।

टालमी लोग, जैसा कि तुम जानती हो, यूनानी थे। लेकिन उन्होने मिस्र के बहुत-से रस्म-रिवाजो को अपना लिया था, यहाँ तक कि मिस्र के कुछ पुराने देवी-देवताओ तक को वे पूजने लगे थे। पुराने यूनानियो के ज्यूपीटर, अपोलो और

दूसरे देवी-देवता, जिनका होमर के महाकाव्यों में जगह-जगह पर उसी तरह से उल्लेख है जैसे महाभारत में वैदिक देवी-देवताओ का, इस समय या तो गायब हो गये थे या नाम बदलकर दूसरी सूरत में सामने आये। आइसिस, ओसिरिस, और होरस आदि प्राचीन मिस्र के देवी-देवताओ और प्राचीन यूनान के देवी-देवताओ में घाल-मेल करदी गई और जनता के सामने नये देवी-देवता पूजा के लिए पेश किये गये। जब तक जनता को कोई-न-कोई देवता पूजने के लिए मिल जाता था, तबतक इस बात से किसी को क्या मतलब था कि वे किसके सामने सर झुकाते है, किसकी पूजा करते हैं और जिसकी पूजा करते है उन का नाम क्या है। उनके इन नये देवताओ में सबसे मशहूर देवता सेरेपिस था।

सिकन्दरिया तिजारत का भी बहुत बड़ा केन्द्र था और सभ्य संसार के दूसरे देशो के व्यापारी वहाँ आते रहते थे। हमें बताया गया है कि सिकन्दरिया में हिन्दुस्तानी व्यापारियों की भी एक बस्ती बसी हुई थी। हम यह भी जानते है कि सिकन्दरिया के व्यापारियो की एक बस्ती दक्षिण हिन्दुस्तान में मलाबार के किनारे भी थी।

भूमध्यसागर के उस पार, मिस्र से बहुत दूर नहीं,—रोम था, जो इस समय तक बहुत विशाल हो चुका था और जो भविष्य में इससे भी अधिक विशाल और अधिक शक्तिशाली होने वाला था। उसके बिलकुल सामने अफरीका के किनारे पर कारथेज का शहर था जो रोम का प्रतिद्वन्द्वी और दुश्मन था। अगर हम पुरानी दुनिया के बारे में कुछ भी समझना चाहते है तो हमें इनकी कहानी तफसीलवार सुननी पड़ेगी।

पूरब में चीन उसी तरह उन्नत हो रहा था, जैसे पश्चिम में रोम। अशोक के जमाने की दुनिया की सही तस्वीर अपने सामने ला सकने के लिए हमें इस पर भी विचार करना होगा।

: २६ :

चिन् और हन्

३ अप्रैल, १९३२

पिछले साल मैंने नैनी जेल से जो खत तुम्हे लिखे थे, उनमें मैंने तुमको चीन के प्रारम्भ काल का, ह्वांगहो नदी के किनारे वाली बस्तियो का और हिस्या, शँग या इन और चाऊ नामक शुरू के राजवंशो का थोड़ा-बहुत हाल लिखा था। उनमें मैंने यह भी बताया था कि इस विशाल युग में चीन की धीरे-धीरे कैसे उन्नति हुई और

कैसे वहां एक केन्द्रीय शासन का विकास हुआ। उसके बाद एक ऐसा लम्बा जमाना आया जबकि वहां अधिकार तो फिर भी नाममात्र के लिए चाऊ राजवंश का था, लेकिन शासन के केन्द्रीकरण की यह गति रुक गई थी और बद-इन्तजामी फैल गई थी। आस-पास के क्षेत्रो के छोटे-छोटे राजा लोग एक तरह से बिलकुल स्वतंत्र बन बैठे और आपस में एक-दूसरे से लडने लगे। यह बद-किस्मती की हालत कई सौ बरस तक जारी रही। ऐसा मालूम होता है कि चीन में जो भी बात होती है वह सैकडो या हजारो बरसो तक जारी रहती है। इतने में स्थानीय राजाओं में से एक—चिन् के सरदार ने पुराने और जीर्ण शीर्ण चाऊ राजवंश को निकाल बाहर किया। चिन् के इसी सरदार की सन्तान चिन्-राजवंश कहलाया और तुम्हे यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि इस चिन् शब्द से ही इस देश का नाम चीन हुआ है।

इस प्रकार चीन में चिन् लोगों की जीवन-यात्रा, ईसा से पहले सन् २५५ में शुरू हुई। इससे १३ बरस पहले अशोक का राज्य हिन्दुस्तान में शुरू हो चुका था। इस प्रकार इस समय हम चीन के अशोक के समकालीन लोगो का जिक्र कर रहे है। चिन् राजवंश के पहले तीन सम्राटों की हुकूमत बहुत कम दिन तक रही। इसके बाद ईसा से पहले २४६ में एक चौथा सम्राट हुआ, जो अपने ढंग का बहुत महत्वपूर्ण आदमी था। उसका नाम 'वैंग चेंग' था, लेकिन बाद में इसने अपना दूसरा नाम 'शीह् ह्वाग टी' रख लिया और इसी दूसरे नाम से वह मशहूर है। इसका अर्थ है 'पहला बादशाह'। उसकी अपनेऔर अपने जमाने के बारे में साफ तौर पर ऊँची राय थी और उसके दिल में पुराने जमाने की जरा भी कदर न थी। असल में वह तो यह चाहता था कि लोग पुराना जमाना भूल जायें और यह समझने लगें कि उसी—महान् प्रथम समम्राट के—जमाने से ही इतिहास शुरू होता है। उसे इस बात से कुछ मतलब न था कि दो हजार बरस से ज्यादा जमाने से चीन में बराबर सम्राट के बाद सम्राट होते चले आये है। वह तो देश से इन लोगो की याद तक मिटा देना चाहता था। सिर्फ पुराने सम्राटों की ही नहीं बल्कि पुराने जमाने के सभी दूसरे प्रसिद्ध पुरुषों तक की भी याद भुलादेना चाहता था। इसलिए यह हुक्म निकाला गया कि तमाम ऐसी किताबें, जिनमें पुराने जमाने का हाल हो, खासकर इतिहास की और कनफ्यूशियस मत की सब पुस्तके जला दी जायें और एकदम नष्ट कर दी जायें। सिर्फ वैद्यक की और विज्ञान की कुछ किताबो पर यह हुक्म लागू नहीं था। अपनी राजाज्ञा में उसने लिखा था—

"जो लोग पुराने जमाने का हवाला देकर वर्तमान काल को नीचे दरजे का दिखाने की कोशिश करेगे वे अपने रिश्तेदारो समेत कत्ल कर दिये जायँगे।"

उसने अपनी इस बात पर पूरी तरह से अमल भी किया। सैकडो विद्वान्,

जिन्होंने अपनी प्यारी किताबो के छिपाने की कोशिश की, जिन्दा दफन कर दिये गये । यह 'प्रथम सम्राट' कितना नेक, दयालु और भला आदमी रहा होगा ! मैं हमेशा उसकी याद किया करता हूँ, और जब मै हिन्दुस्तान के लोगो को प्राचीन जमाने की बहुत ज्यादा तारीफ करते सुनता हूँ तो उस सम्राट के लिए मेरे दिल में कुछ हमदर्दी भी पैदा हो जाती है । हम लोगो में से बहुत-से ऐसे है, जो हमेशा गुजरे हुए जमाने पर ही नजर लगाये रहते है, उसीकी महिमा गाते रहते है और उसीसे उत्साह और प्रेरणा पाने की उम्मीद करते रहते है। अगर पुराना जमाना हमें बडे-बडे कामो के लिए उत्साह और उत्तेजना देता है, तो हम जरूर उससे उत्साह और उत्तेजना ले । लेकिन मुझे किसी भी व्यक्ति या कौम के लिए हमेशा पीछे ही की ओर देखते रहना कुछ भला नही मालूम देता । किसीने सच कहा है कि अगर आदमी पीछे चलने या पीछे देखने के लिए बनाया गया होता तो उसकी आँखें उसके सर के पीछे होतीं । हम अपने अतीत को जरूर देखें, और उसमे जो कुछ तारीफ के काबिल है, उसकी तारीफ भी करे, लेकिन हमारी आँखो को हमेशा आगे देखना और हमारे पैरो को हमेशा आगे की ओर ही बढ़ना चाहिए ।

इसमें जरा भी शक नही कि 'शीह ह्वॉग टी' ने, पुरानी पुस्तको को जलवाकर और उनके पढ़नेवालो को जिन्दा दफन कराके, एक वहशियाना काम किया । उसी का यह नतीजा हुआ कि उसका सारा काम उसीके साथ खत्म होगया । उसका इरादा यह था कि वह सबसे 'पहला सम्राट' माना जाय । उसके बाद उसका दूसरा उत्तराधिकारी हो, फिर तीसरा और इसी तरह अखीर तक उसके वंश का यह सिलसिला बना रहे । लेकिन चीन के सब राजवंशो में चिन् का वंश ही सबसे कम दिन कायम रहा । जैसा कि मैं तुम्हे बता चुका हूँ इन राजवंशो में से बहुतो ने सैकडो बरसो तक राज्य किया और इनमें से एक, जो चिन् के पहले हुआ है, ८६७ साल तक कायम रहा । लेकिन चिन् का महान राजवंश पैदा हुआ, विजयी हुआ, शक्तिशाली साम्राज्य का शासक रहा, फिर कमजोर पड़ा और नष्ट होगया---और यह सब केवल पचास बरस के अन्दर-ही-अन्दर होगया । शीह ह्वाग टी शक्तिशाली सम्राटो की श्रेणी में सबसे पहला सम्राट होना चाहता था । लेकिन ईसा से २०९ वर्ष पहले उसकी मृत्यु के तीन बरस बाद ही उसके वंश का खातमा होगया और तुरन्त ही कनफ्यूशियश के ग्रन्थ जहाँ-जहाँ छिपा रक्खे गये थे वहाँसे खोदकर निकाल लिये गये और उनका फिर पहले की तरह आदर होने लगा ।

शासक की हैसियत से शीह ह्वांग टी चीन का एक सबसे ताकतवर शासक हुआ । बहुत से छोटे-छोटे स्थानीय राजाओ को इसने कुचल दिया, सामन्तशाही का अन्त

कर डाला, और एक मजबूत केन्द्रीय शासन का संगठन किया। उसने सारे चीन और अनाम को जीत लिया था। उसीने चीन की मशहूर दीवार का बनाना शुरू किया था। यह एक बहुत बड़ा खर्चीला काम था। लेकिन चीनियों ने अपनी हिफ़ाज़त के लिए एक बड़ी सेना बराबर कायम रखने के बजाय, इस बड़ी दीवार पर, जो विदेशी हमलों से उनकी हिफाजत करने के लिए बनाई जा रही थी, रुपया लगाना ज्यादा पसन्द किया। यह दीवार किसी बड़े आक्रमण को मुश्किल से रोक सकती थी; ज्यादा-से-ज्यादा जो हुआ वह सिर्फ इतना ही कि उससे छोटे-छोटे हमले रुक गये। इससे यह पता चलता है कि चीनी लोग शान्ति पसन्द करते थे, और इतनी शक्ति के होते हुए भी सैनिक कीर्त्ति के लोलुप नहीं थे।

पहला सम्राट शीह ह्वांग टी मर गया और उस राजवंश में कोई दूसरा ऐसा नहीं निकला जो उसकी जगह को लेता। लेकिन उसके ज़माने से सारा चीन एक सूत्र में बंध गया।

इसके बाद एक दूसरा राजवंश—हन्-वंश सामने आया। यह वंश चार सौ बरस से ज्यादा रहा। इस वंश के प्रथम शासकों में एक साम्राज्ञी भी हुई है। इसी वंश का छठा सम्राट वू-ती था, जोकि चीन के बड़े शक्तिशाली और मशहूर शासकों में एक हुआ है। उसने पचास बरस से ज्यादा राज्य किया। उसने तातारियों को हराया, जो उत्तर में बराबर हमला करते रहते थे। पूरब में कोरिया से पश्चिम में कैस्पियन सागर तक चीनी सम्राट का बोलबाला था। मध्य एशिया की सब जातियाँ उसे अपना प्रमुख शासक मानती थीं। एशिया का नकशा देखो, तो तुम उसके व्यापक प्रभाव और ईसा के पूर्व पहली और दूसरी सदी में, चीन की विशाल शक्ति का कुछ अन्दाज लगा सकोगी। हम उस ज़माने के रोम की महानता के बारे में बहुत कुछ पढ़ते-सुनते हैं, और यह समझ बैठते हैं कि उस ज़माने के रोम ने तरक्की में दुनिया को मात कर दिया था। रोम को 'संसार की स्वामिनी' कहा गया है। लेकिन, हालांकि रोम बड़ा था और ज्यादा महान होता जा रहा था, फिर भी चीन उससे कहीं ज्यादा विस्तृत और ज्यादा ताकतवर साम्राज्य था।

सम्भवतः वू-ती के ज़माने में ही रोम और चीन में सम्पर्क हुआ। पार्थियन लोगों के ज़रिये इन दोनों देशों में व्यापार हुआ करता था। ये लोग जिस प्रदेश में रहा करते थे वह आज ईरान और इराक कहलाता है। लेकिन जब रोम और पार्थियनों में लड़ाई छिड़ी, यह व्यापार रुक गया। रोम ने तब समुद्र के रास्ते चीन से सीधे तिजारत करनी चाही और एक रोमन जहाज चीन आया भी। लेकिन यह ईसा के बाद दूसरी सदी की बात है और हम तो अभी ईसा से पहले के ही ज़माने की बात कर रहे हैं।

हन् वंश के जमाने में ही चीन में बौद्ध-धर्म आया। ईसाई सन् के पहले भी चीन में उसकी कुछ चर्चा होने लगी थी, लेकिन यह फैला उस समय के बाद है, जब तात्कालिक चीनी सम्राट ने, कहते हैं, एक आश्चर्यजनक स्वप्न में एक सोलह फीट लम्बा आदमी देखा, जिसके सर के चारो ओर तोजोवलय था। चूंकि उसने स्वप्न में इस महापुरुष को पश्चिम दिशा में खड़ा देखा था, इसलिए उसने उसी ओर दूत भेजे। ये दूत वहाँसे बुद्ध की मूर्ति और बौद्ध-ग्रन्थ लेकर वापस आये। बौद्ध-धर्म के साथ-साथ हिन्दुस्तानी कला का प्रभाव भी चीन में पहुँचा; वहाँसे वह कोरिया में और कोरिया से जापान में फैल गया।

हन्-वंश के जमाने में दो महत्व पूर्ण बाते ऐसी हुई जिनका जिक्र जरूरी है। वह है लकडी के ठप्पो से छपाई की कला का आविष्कार होना। लेकिन करीब एक हजार बरस तक उसका ज्यादा उपयोग नहीं हुआ। लेकिन इतने पर भी चीन योरप से पाँचसौ बरस आगे था।

दूसरी बात, जो जिक्र करने के काबिल है, यह है कि इसी जमाने में चीन में सरकारी नौकरियो के लिए परीक्षा की प्रथा शुरू हुई। लडके और लडकियाँ इम्तिहान पसन्द नहीं करते और मै उनकी इस बात से हमदर्दी भी रखता हूँ। लेकिन उस जमाने में इम्तहान के ज़रिये से सरकारी अफसरो की नियुक्ति का होना नोट करने लायक बात है। दूसरे मुल्को में अभी हाल तक यह तरीका रहा है कि सरकारी अफसर आमतौर पर सिफारिश से नियुक्त किये जाते थे या किसी ख़ास वर्ग या कौम के लोग हुआ करते थे। चीन में कोई ऐसी कौम नही थी। जो कोई इम्तिहान पास करता उसी की नियुक्ति हो सकती थी। यह आदर्श प्रणाली नहीं कही जा सकती, क्योकि यह मुमकिन है कि कोई कनफ्यूशियन शास्त्रो का इम्तिहान देकर पास भले ही हो जाय लेकिन फिर भी उसमें सरकारी अफ़सर बनने की योग्यता न हो। लेकिन रिआयत ओर सिफारिश की नियुक्ति के तरीके से यह तरीका कही बेहतर था और चीन में दो हजार बरस तक जारी रहा। अभी हाल ही में इसका ख़ातमा हुआ है।

: २७ :

रोम बनाम कार्थेज

५ अप्रैल, १९३२

अब हम सुदूर पूर्व से पश्चिम की ओर चले और यह देखें कि रोम की तरक्की कैसे हुई। कहा जाता है कि रोम की बुनियाद ईसा के पहले आठवी सदी में पडी थी। शुरू जमाने के रोमन लोग, जो गालिबन आर्यो के वशज थे, टाईबर नदी के

पास की सात पहाड़ियो पर बसे हुए थे। इनकी ये बस्तियाँ धीरे-धीरे बढ़कर शहर बन गई और यह शहरी राज्य बढ़ते-बढ़ते इटली भर में फैल गया। यहाँ तक कि यह दक्षिणी कोने में सिसली के बराबर मेसेना तक पहुँच गया।

तुम्हे शायद यूनान के शहरी राज्यो का खयाल हो। जहाँ-जहाँ यूनानी गये, वहाँ-वहा वे अपना शहरी राज्य का खयाल भी अपने साथ लेते गये और उन्होने भूमध्यसागर के किनारे को चारो तरफ से यूनानी उपनिवेशो और शहरी-राज्यो से भर दिया। लेकिन इस वक्त हम रोम की इससे बिलकुल जुदी चीज का जिक्र कर रहे हैं। बिलकुल शुरू में शायद रोम भी यूनान के शहरी राज्य की तरह का ही रहा हो; लेकिन बहुत जल्द वह अपनी पडोसी जातियो को हराकर फैल गया। इस तरह रोमन राज्य की हद बढने लगी और इटली का ज्यादातर हिस्सा उसमें आगया। इतना बड़ा रकबा एक नगर-राज्य की तरह नही रह सकता था। इतने बडे क्षेत्र का राज-काज रोम से संचालित होता था और खुद रोम में एक अजीब किस्म की सरकार थी। वहाँ न तो कोई बड़ा सम्राट् या राजा था और न आजकल की तरह का लोकतन्त्र ही था। फिर भी वहाँ का शासन एक तरह से लोक-तन्त्रात्मक ही था, जिसपर जमीदार-वर्ग के चन्द अमीर कुटुम्बो का प्रभुत्व था। शासन का अधिकार सिनेट का माना जाता था, और इस सिनेट को नामजद करते थे दो चुने हुए आदमी, जो 'कौन्सल्स' कहलाते थे। बहुत दिनो तक तो सिर्फ ऊँचे वर्ग के आदमी सिनेटर हो सकते थे। रोम की जनता दो वर्गों में बँटी हुई थी; एक तो 'पैट्रीशियन्स', अर्थात् अमीर रईस, जो आम तौर पर जमीदार हुआ करते थे, दूसरे 'प्लीबियन्स' जो मामूली नागरिक थे। रोमन राष्ट्र या लोकतन्त्र के कई सौ बरसो का इतिहास इन दो वर्गों के आपस के सघर्ष का इतिहास है। पैट्रीशियन लोगो के हाथ में सारी ताकत थी, और जहाँ ताकत रहती है वही रुपया भी जाता है। प्लीबियन्स या प्लेब्स दबा हुआ वर्ग था, जिसके पास न ताकत थी, न पैसा। प्लीबियन लोग ताकत हासिल करने के लिए लड़ते और संघर्ष करते रहे, और धीरे-धीरे अधिकार के कुछ टुकडे उन्हे मिले भी। यह एक दिलचस्प बात है कि इस लम्बे संग्राम में प्लेब लोगो ने एक किस्म के असहयोग का कामयाबी के साथ प्रयोग किया। समूह के रूप में वे लोग रोम शहर को छोड़कर निकल आये और एक नया शहर बसाकर वहाँ रहने लगे। इससे पैट्रीशियन डर गये, क्योकि बगैर प्लेबो के उनका काम चल नही सकता था। इसलिए उन्होंनें उनके साथ समझौता कर लिया और उन्हे कुछ छोटी-मोटी रिआयते दे दी। धीरे-धीरे वे लोग ऊँचे ओहदों के भी हकदार समझे जाने लगे और सिनेट तक के मेम्बर होने लगे।

हम पैट्रीशियन और प्लीबियन लोगों के आपस के संघर्ष की चरचा करते है और यह समझते है कि इनके अलावा रोम में कोई दूसरा वर्ग गिनती के लायक नही था। लेकिन असल में इन दोनों वर्गो के अलावा वहाँ गुलामो की भी एक बहुत बड़ी तादाद पाई जाती थी, जिनको किसी तरह के अधिकार नही मिले हुए थे। इन लोगो की नागरिको में गिनती नही थी और न इनको वोट देने का ही हक था। ये लोग तो गाय और कुत्ते की तरह अपने मालिको की व्यक्तिगत और निजी जायदाद समझे जाते थे। मालिक अपनी मरजी से इनको बेच सकता था और सजा दे सकता था। कुछ हालतो में इन्हे आजादी भी मिल सकती थी। इस तरह आजाद हुए लोगो ने अपना एक अलग वर्ग बना लिया, जो 'स्वतन्त्रता-प्राप्त' लोगों का वर्ग कहलाता था। पुराने जमाने में, पश्चिम में, गुलामों की हमेशा बहुत ज्यादा मॉग रहती थी और मॉग को पूरा करने के लिए गुलामो के बडे-बडे बाजार लगा करते थे। मर्द, औरत और बच्चो को पकड़ने और उन्हे गुलाम बनाकर बेंचने के लिए दूर-दूर के देशों तक धावे हुआ करते थे। पुराने यूनान और रोम के वैभव एवं महानता की बुनियाद, प्राचीन मिस्र की तरह गुलामी की चारों ओर फैली हुई प्रणाली पर कायम थी।

क्या गुलामी की यह प्रथा उस समय हिन्दुस्तान मे भी इसी तरह प्रचलित थी? बहुत करके नहीं। चीन में भी यह प्रणाली नहीं थी। इसका यह मतलब नही कि प्राचीन चीन और हिन्दुस्तान में गुलामी थी ही नही। यहाँ जो कुछ गुलामी थी वह बहुत-कुछ घरेलू किस्म की थी। कुछ घरेलू नौकर गुलाम समझे जाते थे। हिन्दुस्तान और चीन में श्रमजीवी—मजदूर लोग—गुलाम नहीं हुआ करते थे और न खेत में या किसी दूसरी जगह काम करने के लिए ही गुलामो के बडे-बडे झुण्ड पाये जाते थे। इस तरह दोनो मुल्क गुलामी के सबसे गिरे हुए पहलू से बचे रहे।

इस तरह रोम बढ़ा। पैट्रीशियन लोगों ने उससे फायदा उठाया और अधिकाधिक अमीर और मालामाल होते गये। इस अरसे में प्लीबियन लोग गरीब बने रहे और पैट्रीशियन लोग उनको दबाये रहे; और ये दोनों पैट्रीशियन और प्लीबियन, मिलकर गरीब गुलामो को दबाते रहे।

जब रोम की तरक्की हुई उस समय उसके शासन का ढंग कैसा था? मै बता चुका हूँ कि हुकूमत सिनेट के हाथ में थी, और दो चुने हुए कौन्सल सिनेट को नामजद किया करते थे। कौन्सलो को कौन चुनता था? उन्हे नागरिक वोटर चुनते थे। पहली बात तो यह थी कि जब रोम एक छोटा-सा नगर-राज्य था, सब नागरिक रोम में या रोम के आस-पास रहते थे, उस वक्त लोगो का इकट्ठा हो जाना और

वोट देना कोई मुश्किल बात नही थी। लेकिन रोम के बढ़ने पर बहुत-से नागरिक ऐसे भी थे जो रोम से दूर रहने लगे, और उनके लिए वोट देने आना आसान काम नही था। उस वक्त आजकल के-से 'प्रतिनिधि शासन' का विकास नही हुआ था और न वैसा अमल ही होता था। आजकल, तुम जानती हो हरेक हल्के या 'निर्वाचन-क्षेत्र' राष्ट्रीय असेम्बली, पार्लमेण्ट या कॉंग्रेस के लिए अपना नुमाइन्दा या प्रतिनिधि चुनता है और इस तरह से एक छोटी-सी जमात के जरिये सारे राष्ट्र की नुमाइन्दगी हो जाती है। यह बात पुराने रोमन लोगो को नही सूझी थी, इसलिए रोमन लोग उस अवस्था में भी रोम में ही अपना चुनाव चलाते रहे जबकि दूर के वोटरो के लिए वहाँ आकर वोट दे सकना बिलकुल असम्भव था। सच तो यह है कि दूर के वोटरो को मुश्किल से पता चलता था कि कहाँ क्या हो रहा है। उस जमाने में न अखबार थे, न पैम्फलेट, और न छपी हुई किताबें थी और बहुत कम लोग पढ़-लिख सकते थे। इस प्रकार जो लोग रोम से दूर रहते थे, उनके लिए वोट देने का अधिकार बिलकुल बेकार था। उनको राय देने का हक जरूर था, लेकिन फासले ने उनके इस हक को बेकार बना दिया था।

इस तरह तुम देखोगी कि चुनाव का और खास-खास बातो का फैसला करने का असली अधिकार रोम के ही वोटरो के हाथ में था। वे लोग खुले मैदान में जाकर वोट देते थे। इन वोट देनेवालो में से बहुत-से गरीब प्लीबियन हुआ करते थे। अमीर पैट्रीशियन, जो ऊँचा ओहदा या अधिकार चाहता था, गरीब आदमियो को रिश्वत देकर अपने लिए वोट दिला लेता था। इस तरह रोमन चुनाव में उतनी ही रिश्वत और धोखेबाजी चला करती थी, जितनी कि कभी-कभी आजकल के चुनावों में चलती है।

इधर रोम इटली में बढ़ रहा था, उधर उत्तरी अफ्रीका में कार्थेज शक्तिमान हो रहा था। कार्थेज-निवासी फोनीशियन लोगो के वंशज थे, और उनमें जहाज़ चलाने और व्यापार करने की विशेष योग्यता पाई जाती थी। उनके यहाँ भी लोकतन्त्र था, लेकिन वह रोम से भी अधिक अमीरों का लोकतंत्र था। यह शहरी लोकतंत्र था, जिसमें गुलामो की तादाद बहुत अधिक थी।

शुरू दिनो में, रोम और कार्थेज के दरमियान दक्षिण-इटली और मेसिना में यूनानी उपनिवेश थे। लेकिन रोम और कार्थेज ने मिलकर यूनानियो को निकाल दिया, और इसमें कामयाबी होने के बाद कार्थेज ने सिसली ले लिया और रोम इटली की दक्षिणी नोक तक पहुँच गया। रोम और कार्थेज बहुत दिनों तक एक-दूसरे के मित्र और सहायक न बने रह सके। जल्दी ही इन दोनों में झगड़ा

हो गया और गहरी प्रतिद्वन्द्विता बढ़ने लगी । दो मजबूत ताकतो के लिए, जो सकीर्ण समुद्र के दो किनारो से एक-दूसरे को ललकार रही थी, भूमध्य-सागर काफी बड़ा न था । दोनो ही ताकते महत्वाकाक्षी थी । इधर रोम बढ रहा था, और उसमें नौजवानी का जोश और आत्मविश्वास था, उधर कार्थेज नये उठे हुए रोम को हिकारत की नज़र से देखता और अपनी समुद्री ताक़त पर पूरा-पूरा भरोसा करता था । सौ बरस से ज्यादा तक ये दोनो ताक़ते एक-दूसरे से लडती रहीं; बीच-बीच में कभी सुलह भी हो जाती थी । दोनो ही जगली जानवरो की तरह लडी जिससे जनता बुरी तरह तबाह हो गई । इनमें तीन लडाईयाँ हुई जिन्हे 'प्यूनिक युद्ध' कहते है । पहला प्यूनिक युद्ध २३ बरस तक अर्थात् ई० पूर्व २६४ से २४१ ई० पूर्व तक चला । इस लडाई में रोम की जीत हुई । बाईस बरस बाद दूसरा प्यूनिक युद्ध हुआ । इसमें कार्थेज ने एक सेनापति भेजा, जो इतिहास में बहुत मशहूर है । इसका नाम हैनिबाल था । पन्द्रह बरस तक हैनिबाल ने रोम को परेशान रक्खा और रोमन लोगो को भयभीत करता रहा । उसने रोमन सेनाओ को बडी मारकाट के साथ बुरी तरह हराया—ख़ासकर कैनी की लड़ाई में जो २१६ ई० पूर्व में हुई । यह सब उसने कार्थेज की मदद के बिना ही कर दिखाया, क्योकि समुद्र पर रोमन लोगो का कब्ज़ा होने की वजह से कार्थेज से उसका सम्पर्क टूट-सा गया था । लेकिन हार और मुसीबतो को सहते हुए, और हैनिबाल का ख़तरा सिर पर बराबर रहते हुए भी, रोमन लोगो ने हिम्मत नही छोडी और अपने दुश्मन का बराबर मुकाबिला करते रहे । हैनिबाल से खुले मैदान में लडने की हिम्मत तो उनमें थी नही, इसलिए वे उससे बचते थे, और सिर्फ उसे परेशान करते और कार्थेज से उसके पास सहायता नही पहुँचने देते थे । रोमन सेनापति फ़ैबियस ख़ास तौर से खुली लड़ाइयो से बचना पसन्द करता था । दस बरस तक वह खुली लड़ाइयो को टालता रहा । मैने उसका जिक्र इसलिए नही किया है कि वह कोई बडा आदमी था और इसलिए याद रखने के क़ाबिल है, बल्कि इसलिए किया है कि अंग्रेजी ज़बान में उसके नाम पर एक शब्द 'फैबियन' बन गया है । 'फ़ैबियन' तरीक़ा वह तरीक़ा है, जिस मे किसी मामले को इस हद तक आगे नही बढने दिया जाता, जिससे कि जल्दी, ही उसका दो टूक फ़ैसला कर देना लाज़मी हो जाय । इस नीति पर चलनेवाले लोग लड़ाई या ऐसी हालत पैदा नही करते, जिसमें मामला इधर या उधर हो जाय, बल्कि विरोधी के विरोध को धीरे-धीरे रगड़ कर मिटाने से अपने उद्देश्य के पूरा होने की उम्मीद करते रहते है । इंग्लैण्ड में एक फ़ैबियन सोसाइटी है, जो समाजवाद में तो विश्वास करती है लेकिन जल्दबाजी और आकस्मिक परिवर्तन में

विश्वास नही रखती। मेरा खयाल है कि मैं किसी भी बात में फैबियन तरीके का क़ायल नही हूँ।

हैनिबाल ने इटली के बहुत बडे हिस्से को वीरान कर दिया, लेकिन रोम की लगातार कोशिश और दृढता ने अन्त में विजय पाई। २०२ ई० पू० जामा की लड़ाई में हैनिबाल हार गया। वह जगह-जगह भागता फिरा, लेकिन जहाँ वह गया वही रोमनो की कभी भी तृप्त न होनेवाली हिकारत ने उसका पीछा किया। अंत में वह जहर खाकर मर गया।

रोम और कार्येज में पचास वरस तक सुलह रही। कार्येज काफी पस्त कर दिया गया था, रोम को ललकारने की उसमें बिलकुल हिम्मत नहीं रही थी। फिर भी रोम को सन्तोष नही था और उसने एक तीसरी लड़ाई उन पर लाद दी, जो तीसरा प्यूनिक युद्ध कहलाता है। इस लड़ाई में कार्येज बिलकुल नष्ट हो गया और बहुत भारी तादाद में लोग मारे गये। सचमुच, जिस जमीन पर किसी समय कार्येज की अभिमानिनी नगरी—भूमध्यसागर की रानी—का आसन था, उस पर रोम ने हल चलवाये।

: २८ :

रोमन 'लोकतंत्र' का 'साम्राज्य' में बदल जाना

९ अप्रैल, १९३२

कार्येज की आखिरी हार और तबाही के बाद रोम पश्चिमी दुनिया में सबसे ज्यादा ताकतवर हो गया और उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहा। इससे पहले वह यूनानी राज्यो को फतह कर ही चुका था, अब कार्येज के प्रदेशों पर भी उसने कब्जा कर लिया। इस तरह दूसरे प्यूनिक युद्ध के बाद स्पेन रोम की मातहती में आगया। फिर भी रोमन साम्राज्य में अभी तक सिर्फ भूमध्य सागर के ही देश शामिल थे। सारा उत्तरी और मध्य-योरप रोम के अधिकार के बाहर था।

दूसरे मुल्को को जीतने का और लड़ाइयों में विजय पाने का असर रोम शहर पर यह हुआ कि वहाँ धन और उसके साथ विलासिता भी बहुत बढ़ गई। जीते हुए मुल्को से सोने और गुलामों के ढेर-के-ढेर आने लगे। लेकिन ये सब चीजें जाती कहाँ थी। मैं तुम्हे बतला चुका हूँ कि रोम के शासन को बागडोर सिनेट के हाथ में थी और उसमें ऊँचे वर्ग के अमीर कुटुम्ब हुआ करते थे। अमीरों का यह गिरोह रोमन लोकतंत्र और उसके जीवन का नियन्त्रण करता था। रोम के विस्तार और

शक्ति के बढ़ने के साथ-साथ इन लोगो की दौलत भी बढ़ गई । इस तरह जो अमीर थे, वे और भी ज्यादा अमीर होते गये और गरीब लोग गरीब बने रहे या और ज्यादा गरीब हो गये । गुलामो की आबादी बढ गई और साथ-साथ ऐशोआराम और मुसीबत भी बढ गई। जब कभी ऐसा होता है,तभी अक्सर गड़बड़ हो जाया करती है। आश्चर्य की बात है कि आदमी कितना सहता है, लेकिन आदमी के बरदाश्त करने की भी एक हद है, और जब यह हद पूरी हो जाती है, तब अशांति फूट निकलती है ।

अमीर लोगो ने गरीब आदमियो को खेल-तमाशो से और सरकस के दगलो से फुसलाने की कोशिश की । इन दंगलो में ग्लेडियेटर[1] लोग, केवल दर्शकों के मनोरञ्जन के लिए, एक-दूसरे के साथ लड़ने और एक-दूसरे को मारडालने के लिए मजबूर किये जाते थे । इन दगलो में, जिन्हें लोग खेल कहते थे, गुलामो की और लड़ाई के कैदियो की बहुत बडी तादाद, इस तरह मौत के घाट उतारी जाती थी ।

धीरे-धीरे रोम राज्य में उपद्रव बढने लगे । बलवे होते थे, खून होते थे और चुनाव के समय रिश्वत और बेईमानी का बोलबाला रहता था । गरीब और पद-दलित गुलामों तक ने स्पार्टेकस नाम के एक ग्लेडियेटर के नेतृत्व में बलवा कर दिया । लेकिन ये लोग बेरहमी के साथ कुचल दिये गये । कहा जाता है कि इस अवसर पर रोम में ऐपियनवे नाम की जगह पर छ' हज़ार गुलाम सूली पर चढ़ा दिये गये ।

धीरे-धीरे सेनापति लोग अधिक प्रभावशाली और साहसी होते गये और सिनेट पर हावी होने लगे । रह-रह कर घरेलू लडाई छिड़ने और चारो तरफ़ तबाही होने लगी । प्रतिद्वन्द्वी सेनापति एक-दूसरे से लड़ने लगे । पूरब में, पार्थिया में (इराक में) ५३ ई० पू० में कैरे की लड़ाई में, रोमन फौज की बहुत बुरी हार हुई। पार्थिया वालो से लड़ने के लिए जो रोमन फौज भेजी गई थी, उसे उन्होने जड़ से नाश कर दिया ।

झुड के झुड रोमन सेनापतियो में दो नाम पाम्पी और जूलियस सीजर, बहुत मशहूर हैं । तुम जानती हो, कि सीजर ने फ्रान्स को, जो उस समय 'गाल' कहलाता था, और ब्रिटेन को जीता था, पाम्पी पूरब की तरफ़ गया था और वहाँ उसे थोडी-बहुत कामयाबी भी मिली। लेकिन इन दोनो की आपस में बडी गहरी प्रतिद्वन्द्विता थी। दोनो ही महत्वाकांक्षी थे, और किसी प्रतिद्वन्द्वी को बरदाश्त नहीं करते थे । बेचारा

१. ग्लैडियेटर—प्राचीन रोम के उन द्वन्द्व युद्ध करनेवालो का नाम, जो दूसरे योद्धाओ या जगली जानवरो से अखाडो मे लडते थे, और सारा रोम तमाशा देखता था । दूसरो का खून बहते हुए देखने के इच्छुक रोम निवासियो को ये खेल बडे प्रिय थे, और जिस द्वन्द्व-युद्ध करनेवाले से प्रसन्न हो जाते थे, उसे वे उसके जीतने वाले के द्वारा मरवा डालते थे !

सिनेट पिछड़ गया, हालाँकि ये दोनो ज़बान से उसकी हुकूमत मानते थे। सीज़र ने पाम्पी को हरा दिया और इस तरह वह रोमन संसार का प्रमुख आदमी बन गया। लेकिन रोम में लोकतंत्र था, इसलिए हरेक मामले में कानूनी तौर से सीज़र की प्रधानता मालूम नही हो पाती थी। इसलिए इस बात की कोशिश की गई कि उस को ताज पहनाकर बादशाह या सम्राट बना दिया जाय। सीज़र इसके लिए बहुत कुछ राज़ी था। लेकिन रोम मे बहुत दिनो से लोकतंत्र की परम्परा चली आती थी इसलिए उसे कुछ झिझक हुई। सचमुच, लोकतन्त्र-सम्बन्धी यह परम्परा इतनी मज़बूत थी कि जिस फारेम नामक स्थान में सिनेट की बैठक हुआ करती थी, उसीकी सीढ़ियों पर ब्रूटस और दूसरे लोगो ने जूलियस सीज़र को तलवार से कत्ल कर दिया। तुमने शेक्सपियर का 'जूलियस सीज़र' नाम का नाटक पढ़ा होगा, उसमें यह दृश्य दिया हुआ है।

जूलियस सीज़र ४४ ई० पू० मे कत्ल किया गया, लेकिन उसकी मौत लोकतत्र को न बचा सकी। सीज़र के गोद लिये हुए लड़के आक्टेवियन ने, जो उसका पोता था, और उसके मित्र 'मार्क एण्टनी' ने सीजर की हत्या का बदला लिया। इसके बाद बादशाहत वापस आई और आक्टेवियन राज्य का प्रमुख शासक अर्थात् 'प्रिंसेप्' बना और लोकतंत्र खतम हो गया। सिनेट कायम रहा, लेकिन उसके हाथ में कोई असली ताकत नहीं रह गई।

आक्टेवियन जब प्रिन्सेप् या प्रमुख बना, तो उसने अपना नाम और पद 'आगस्टस सीज़र' रक्खा। उसके बाद उसके सब उत्तराधिकारी सीज़र कहलाते रहे हैं। सीज़र शब्द का अर्थ ही वास्तव में सम्राट हो गया है। कैसर शब्द इसी सीज़र शब्द से निकला है। बहुत दिनो से हिन्दुस्तानी भाषा में भी क़ैसर शब्द इसी अर्थ में चालू होगया है, जैसे 'कैसरे-रूम', 'कैसरे-हिन्द'। अब इंग्लैण्ड के किंग जार्ज को 'क़ैसरे-हिन्द' के लकब पर फख्र है। जर्मन-कैसर खतम हो गये, इसी तरह आस्ट्रियन कैसर, तुर्की कैसर और रूसी कैसर भी जाते रहे। लेकिन अजीब और दिलचस्प बात तो यह है कि अकेले इंग्लैण्ड का बादशाह ही उस जूलियस सीज़र का नाम या उपाधि कायम रखने के लिए इस समय बचा है, जिसने ब्रिटेन को रोम के लिए जीता था।

इस तरह से आजकल जूलियस सीज़र का शब्द बादशाही शान और दबदबे का सूचक हो गया है। अगर पाम्पी ने सीज़र को यूनान में फारसैल्स की लड़ाई में हरा दिया होता तो क्या हालत हुई होती? गालिबन पाम्पी प्रिन्सेप् या सम्राट् बना होता और पाम्पी का मतलब सम्राट् हो जाता। उस समय विलियम द्वितीय अपने को जर्मन पाम्पी कहते और किंग जार्ज पाम्पिए-हिन्द कहलाते होते।

रोमन राज्य के इस परिवर्त्तन काल में जब लोकतंत्र साम्राज्य की शकल में बदल रहा था, मिस्र में एक ऐसी स्त्री थी जो अपने सौन्दर्य के लिए इतिहास में मशहूर होने वाली थी। उसका नाम क्लियोपेट्रा था। वह बहुत नेकनाम नही थी, लेकिन वह उन इनीगिनी स्त्रियो में से है, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होने अपनी खूबसूरती से इतिहास का रुख़ ही बदल दिया। जब 'जूलियस सीज़र' मिस्र गया था, तब यह लड़की ही थी। बाद को मार्क एण्टनी से उसकी गहरी दोस्ती हो गई और उसकी कुछ थोडी-सी भलाई भी की। लेकिन वास्तव में क्लियोपेट्रा ने उसके साथ दगा किया और एक सामुद्रिक महायुद्ध के बीचोंबीच, अपने जहाज़ लेकर, उसका साथ छोड़कर खिसक गई। पैस्कल नाम के एक मशहूर फ्रान्सीसी लेखक ने, बहुत दिन हुए लिखा था—

"अगर क्लियोपेट्रा की नाक थोडी छोटी होती तो दुनिया की सूरत बिलकुल बदल गई होती।"

इस बात में जरा अतिशयोक्ति है। क्लियोपेट्रा, की नाक दूसरी किस्म की भी बनी होती तो भी उससे दुनिया की हालत में बहुत अधिक अन्तर न आया होता। लेकिन यह मुमकिन है कि मिस्र जाने के बाद से सीजर अपने को एक तरह का ईश्वरीय शासक-सा बादशाह या सम्राट समझने लगा हो। मिस्र में लोकतन्त्र नही था। वहां राजा का एकाधिपत्य शासन था और राजा केवल सर्वोपरि—सबसे ऊँचा—ही नही समझा जाता था, बल्कि बिलकुल ईश्वर की तरह माना जाता था। पुराने मिस्रियो की यही धारणा थी, और यूनान के टालमी लोगों ने, जो सिकन्दर की मौत के बाद मिस्र के शासक हुए थे, मिस्र के बहुत-से आचार-विचारों को अपना लिया था। क्लियोपेट्रा इसी टालमी वंश की थी और इसलिए यूनानी, या यो कहिए कि मकदूनिया की, राजकुमारी थी। कहा जाता है कि साँप के काटने से उसकी मौत हुई।

इसमें क्लियोपेट्रा की सहायता रही हो या न रही हो, लेकिन मिस्रियों का यह भाव कि राजा परमेश्वर है, रोम तक पहुँच गया, और वहाँ उसे आश्रय मिल गया। जूलियस सीजर की जिन्दगी में ही, जबकि लोकतन्त्र अपनी तरक्की पर था, उसकी मूर्तियाँ बनने लगी थीं और उसकी पूजा होने लगी थी। आगे चलकर हम देखेंगे कि इसी तरह कैसे रोमन सम्राट की पूजा का एक पक्का रिवाज-सा बन गया था।

अब हम रोम के इतिहास में एक महत्व के मोड़ पर, लोकतन्त्र के अन्त के निकट पहुँच गये है। ईस्वी सन् २७ में आक्टेवियन 'आगस्टस सीजर' की पदवी धारण कर प्रिन्सेप् बना। रोम और उसके सम्राटो की इस कहानी की अगली चर्चा हम फिर करेगे। इस बीच आओ हम इस बात पर नजर डालें कि लोकतन्त्र के आखिरी दिनो में रोम द्वारा शासित देशो की क्या हालत थी।

रोम इटली पर तो राज-करता ही था; पश्चिम में स्पेन और गाल (फ्रान्स) पर भी उसका कब्जा था। पूरब में यूनान और एशिया माइनर, जहाँ तुम्हे याद होगा परगैमम नाम की यूनानी रियासत थी, उसके पास था। उत्तरी अफ्रीका में मिस्र रोम का मित्र और रक्षित राज्य समझा जाता था। कार्थेज और भूमध्यसागर के देशों के कुछ दूसरे हिस्से भी रोम के मातहत थे। इस तरह से उत्तर में राइन नदी रोमन साम्राज्य की सरहद थी। जर्मनी और रूस की सारी जनता और उत्तरीय और मध्य योरप के सारे देश, रोमन साम्राज्य से बाहर थे। इराक के पूरब के सब देशों पर भी उसका अधिकार नहीं था।

उस जमाने में रोम बहुत बड़ा देश था। योरप के बहुत से लोग, जो दूसरे देशो का इतिहास नही जानते, यह समझते हैं कि सारी दुनिया पर रोम हावी था। लेकिन यह बात असलियत से बहुत दूर है। तुम्हे याद होगा कि इसी जमाने में चीन में महान् 'हन्' वंश राज्य करता था और एशिया के तट से लेकर कैस्पियन सागर तक उसका साम्राज्य फैला हुआ था। कारे(इराक)की लडाई में, जहाँ रोमन लोगो की बुरी तरह हार हुई थी, मुमकिन है पार्थियन लोगो को चीन के मंगोलियनो ने मदद दी हो।

लेकिन रोमन इतिहास, खासकर रोमन प्रजातन्त्र का इतिहास, योरपवालों को बहुत प्यारा है क्योंकि वे उसीको योरप के आधुनिक राष्ट्रों का पूर्वज या पुरखा मानते हैं, और यह बात किसी हदतक सही भी है। इसीलिए अँग्रेजी स्कूलो के विद्यार्थियो को, चाहे वे आधुनिक इतिहास जाने या न जाने, यूनान और रोम का इतिहास जरूर पढ़ाया जाता है। मालूम नहीं वे लोग अब इसपर कितना समय लगाते हैं।

इतिहास के सिवा भी, मुझे अच्छी तरह से याद है कि, जूलियस सीजर का लिखा हुआ, उसके गाल युद्ध का हाल मूल लैटिन भाषा में मुझे पढ़ाया गया था। सीजर सिर्फ योद्धा ही नहीं था, बल्कि एक प्रभावशाली और सुन्दर लेखक भी था और उसकी लिखा हुआ 'गालिक युद्ध' (De Bello Gallico) अभी तक योरप के हजारो स्कूलो में पढ़ाया जाता है।

थोडे दिन हुए हमने अशोक के समय की दुनिया पर सरसरी नजर डालनी शुरु की थी। हम उस सिंहावलोकन को सिर्फ खतम ही नहीं कर चुके, बल्कि उससे आगे बढ़कर चीन और योरप भी हो आये। अब हम करीब-करीब ईसाई सन् की शुरूआत तक पहुँच गये है। इसलिए हिन्दुस्तानियो की उस समय तक की जानकारी को पूरा करने के लिए अब हमें फिर हिन्दुस्तान को वापस लौटना पडेगा; क्योंकि अशोक की मृत्यु के बाद वहाँ बडी-बडी तब्दीलियाँ हुई है और उत्तर और दक्षिण में नये-नये साम्राज्य पैदा हुए हैं।

मैंने इस बात की कोशिश की थी कि तुम दुनिया के इतिहास को एक सिलसिलेवार और मुकम्मिल चीज समझो। लेकिन, मुझे उम्मीद है, तुम्हे यह भी याद होगा कि शुरू के पुराने जमाने में दूर-दूर के देशो का आपसी सम्पर्क बहुत परिमित था। रोम, जो कि कई बातो में बहुत आगे बढा हुआ था, भूगोल और नकशो के बारे में कुछ भी नही जानता था, और न इन विषयों को जानने की उसने कोई खास कोशिश ही की। आजकल के स्कूल के लड़के और लड़कियाँ जितना भूगोल जानती है, उतना रोम के बडे-बडे सेनापति और सिनेट के बुद्धिमान आदमी भी नही जानते थे, हालांकि ये लोग अपनेको दुनिया का मालिक समझते थे। और जिस तरह ये लोग अपनेको दुनिया का मालिक समझते थे, उसी तरह उनसे कई हजार मील दूर एशिया के विशाल महाद्वीप के दूसरे सिरे पर, चीन के शासक भी अपने को संसार का स्वामी समझते थे।

: २९ :

दक्षिण भारत का उत्तर भारत को मात कर देना

१० अप्रैल, १९३२

सुदूर पूर्व में चीन और पश्चिम में रोम की लम्बी यात्रा के बाद हम फिर हिन्दुस्तान को वापस आते हैं। अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य बहुत दिनों तक नही चला। थोडे ही बरसों मे वह मुरझा गया। उत्तर के सूबे अलग हो गये और दक्षिण में आन्ध्र वालो की एक नई ताकत पैदा हुई। अशोक के वंशज करीब पचास बरस तक अपने अस्त होते हुए साम्राज्य पर राज्य करते रहे। अन्त में पुष्यमित्र नाम के उनके एक ब्राह्मण सेनापति ने उन्हे जबरदस्ती तख्त से उतार दिया और खुद सम्राट् बन बैठा। कहते हैं, उसके जमाने में ब्राह्मण धर्म[1] की फिर से जागृति हुई। किसी हद तक बौद्ध भिक्षुओ पर अत्याचार भी हुए। लेकिन हिन्दुस्तान का इतिहास पढनें पर तुम देखोगी कि ब्राह्नण धर्म ने बौद्ध धर्म पर बडी चतुराई से आक्रमण किया है। उसने उन्हे सताने के लिए किसी भोडी नीति से काम नहीं लिया। बौद्धो पर कुछ अत्याचार जरूर हुए; लेकिन इसका कारण सम्भवतः राजनैतिक था, धार्मिक नही। बडे-बडे बौद्ध-संघ शक्तिशाली संस्थायें थीं और बहुत से शासक उनकी राजनैतिक शक्ति से डरते थे। इसलिए उन्होंने उनको कमजोर करने की कोशिश की। बौद्ध-धर्म को उसकी जन्मभूमि में से निकाल बाहर करने में ब्राह्मण-धर्म आखिर में

१. ब्राह्मण धर्म से मतलब हिन्दूधर्म से है।

कामयाब रहा। उसनें कई बाते बौद्ध धर्म से लेली और हज़म करली, और उसे अपने घर में स्थान देने की कोशिश भी की।

इस तरह नये ब्राह्मण-धर्म ने, सिर्फ़ पुरानी बातो को ही फिर से लाने की कोशिश नहीं की; न जो कुछ बौद्ध धर्म ने किया था उसको बुरी तरह मटियामेट करने का ही कोई प्रयत्न किया। ब्राह्मण धर्म के पुराने नेता बहुत चतुर थे। बहुत पुराने जमाने से उनका यह तरीका चला आया है कि वे दूसरे धर्म के आचार-विचारो को अपने में मिला लेते और उन्हे हज़म कर जाते है। आर्य लोग जब पहले-पहल हिन्दुस्तान में आये, तब उन्होने द्रविडो की संस्कृति और रस्म-रिवाज को बहुत अंशों में अपना लिया; अपने सारे इतिहास में वे जान-बूझकर या बेजाने लगातार इसी नीति का पालन करते आए है। बौद्धधर्म के साथ भी उन्होने यही किया और बुद्ध को अवतार बना दिया, बहुत से हिन्दू अवतारो में उन्हे भी एक स्थान मिल गया। इस तरह बुद्ध तो कायम रहे, लोग उनकी पूजा करते और उनका नाम जपते रहे; लेकिन हिन्दुओ ने उनके विशेष सन्देश को जनता के सामने से चुप-चाप हटा दिया और ब्राह्मण-धर्म या हिन्दू-धर्म कुछ छोटी-मोटी तबदीलियों के बाद अपने सुगम रास्ते पर फिर चलने लगा। बौद्धधर्म को हिन्दू धर्म का जामा पहनाने का काम बहुत दिनो तक चलता रहा। परन्तु इस अवसर पर इस बात की चर्चा करना समय से पहले के सवाल को उठाना है। अशोक की मृत्यु के बाद कई सौ बरस तक बौद्ध-धर्म हिन्दुस्तान में कायम रहा।

हमें इस बात पर ध्यान देने की जरूरत नही कि मगध में एक दूसरे के बाद कौन-कौन से राजा और राजवंश आये और गये। अशोक के मरने के बाद दो सौ बरस बाद तो मगध हिन्दुस्तान के प्रमुख राष्ट्र पद को भी खो बैठा। लेकिन उस समय भी वह बौद्ध संस्कृति का बहुत बड़ा केन्द्र समझा जाता था।

इस बीच में उत्तर और दक्षिण दोनो जगहो पर महत्वपूर्ण घटनायें हो रही थीं। उत्तर में मध्य एशिया की कई जातियाँ, जैसे बैक्ट्रियन, शक, सीदियन, तुर्क और कुशान लोग बराबर हमले कर रहे थे। मेरा ख़याल है मैंने तुम्हे एक बार लिखा था कि कैसे मध्य एशिया में जुदी-जुदी जातियो के झुण्ड के झुण्ड पैदा होते गये और कैसे वे लोग इतिहास में बार-बार अपना स्थान बदलते हुए सारे एशिया में और योरप तक में फैल गये। ईसा के २०० बरस पहले हिन्दुस्तान पर भी इस तरह के कई हमले हुए। लेकिन तुम्हे यह याद रखना चाहिए, कि ये हमले महज़ लूट या विजय के लिए नहीं हुआ करते थे, बल्कि बसने के लिए जमीन की तलाश में हुआ करते थे। मध्य एशिया की इन जातियो में से बहुत-सी बिना घर-बारवाली थीं और जब

उनकी तादाद बढ़ जाती थी, तो जिस ज़मीन में वे बसी होती थी वह उनके गुज़ारे के लिए नाकाफी हो जाती थी। इसलिए उन्हें नई ज़मीन की तलाश में बाहर निकलना पड़ता था। इनके वहाँ से हटने का इससे भी ज्यादा ज़बर्दस्त एक दूसरा कारण था। वह था पीछे से उनपर दबाव डाला जाना। एक बडी जाति या गिरोह दूसरी जाति या गिरोह पर हमला कर वहाँ से निकाल बाहर करता था और इसलिए इन निकाली हुई जातियो को दूसरी जातियो पर हमला करना ज़रूरी हो जाता था, इस तरह हिन्दुस्तान में जो लोग आक्रमणकारी के रूप में आये, वे अक्सर अपनी निर्वाह-भूमि से भगाई हुई जातियां थी। जब कभी चीनी साम्राज्य में ऐसा करने की ताक़त होती थी, जैसा कि हन्-वंश के ज़माने में उसने किया था, तब वह भी इन ख़ानाबदोश जातियो को निकाल बाहर कर उन्हे दूसरे देशों की तलाश के लिए मजबूर कर देता था।

तुम्हे यह भी याद रखना चाहिए, कि मध्य एशिया की ये खानाबदोश जातियाँ हिन्दुस्तान को अपना शत्रु देश नही समझती थी। उन्हे म्लेच्छ अर्थात् जंगली ज़रूर कहा गया है, और सचमुच उस वक्त के हिन्दुस्तान के मुक़ाबिले में वे लोग उतने सभ्य थे भी नहीं, लेकिन उनमें ज्यादातर कट्टर बौद्ध थे, जो हिन्दुस्तान को इज्ज़त की नज़र से देखते थे, क्योकि यहीं उनके धर्म का जन्म हुआ था।

पुष्यमित्र के ज़माने में भी उत्तर-पश्चिम हिन्दुस्तान पर एक हमला हुआ था। यह हमला करनेवाला बैक्ट्रिया का मेनाण्डर था। हिन्दुस्तान की सरहद के उस पार बैक्ट्रिया प्रदेश था। यह प्रान्त सेल्यूकस के साम्राज्य का एक हिस्सा था, लेकिन बाद को वह स्वतंत्र हो गया था। मेनाण्डर का हमला नाकामयाब कर दिया गया, लेकिन काबुल और सिन्ध पर उसनें कब्ज़ा कर ही लिया। मेनाण्डर भी एक धर्मपरायण बौद्ध था।

इसके बाद शक लोगो का हमला हुआ, जो इस देश में बहुत बडी तादाद में आये और उत्तर और पश्चिम हिन्दुस्तान में फैल गये। यह तुर्की खानाबदोशो का एक बड़ा कबीला था। कुशन नाम की एक दूसरी बडी जाति के लोगो ने उन्हे अपनी निर्वाह-भूमि से मार भगाया था। वहाँ से वे लोग बैक्ट्रिया और पार्थिया को रौंदते हुए धीरे-धीरे उत्तरी भारत में, खासकर पंजाब, राजपूताना और काठियावाड में जम गये। हिन्दुस्तान ने उन्हे तहज़ीब सिखाई—सभ्य बनाया, और उन लोगो ने अपनी जंगली आदते छोड़ दीं।

यह एक दिलचस्प बात है कि इन बैक्ट्रियन और तुर्की शासको का भारतीय आर्य-वर्ग के जीवन पर कुछ खास असर नही हुआ। खुद बौद्ध होने के कारण इन

शासको ने बौद्ध धर्म संस्थाओं का अनुकरण किया जो पुराने आर्यग्राम-संघ की तरह लोकतंत्रात्मक थी। इस तरह इन शासको की हुकूमत में भी हिंदुस्तान केन्द्रीय-शासन के मातहत ग्रामीण लोकतत्रों का एक सुशासित समूह बना रहा। इस जमाने में भी तक्षशिला और मथुरा, बौद्ध विद्या के केन्द्र रहे, जहाँ चीन और पश्चिम एशिया से विद्यार्थी आते रहते थे।

लेकिन उत्तर-पश्चिम से लगातार आक्रमण होते रहने और मौर्य राज्य का संगठन धीरे-धीरे टूट जाने का एक असर जरूर हुआ। दक्षिण भारतीय राज्य पुरानी भारतीय आर्य प्रणाली के ज्यादा सच्चे नमूने बन गये। इस प्रकार भारतीय आर्य शक्ति का केन्द्र हटक रदक्षिण पहुँच गया। इन हमलो के कारण बहुत से विद्वान लोग दक्षिण में जा बसे। आगे चलकर तुम यह भी देखोगी कि एक हजार बरस बाद जब मुसलमानो ने हिन्दुस्तान पर हमला किया उस समय फिर यही बात दुहराई गई। आज भी दक्षिण भारत पर विदेशी हमले और सम्पर्क का उत्तर भारत के मुकाबिले कम असर पड़ा है। हम लोगो में जोकि उत्तर में ज्यादातर एक मिश्र संस्कृति में पले है, हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति का मेल है और पश्चिम की भी कुछ पुट लग गई है। हमारी भाषा भी, जिसे तुम हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी चाहे जो कहो, एक मिली हुई भाषा है। लेकिन जैसा कि तुमने खुद देखा है दक्षिण आज भी ज्यादातर कट्टर हिन्दू है।

सैकडो बरसो से वह प्राचीन आर्य-संस्कृति को बचाने और कायम रखने की कोशिश करता रहा है और इस कोशिश में उसने अपने समाज को इतना कट्टर बना दिया है कि उसकी असहिष्णुता आज भी आश्चर्यजनक है। दीवारे बडी खतरनाक साथी होती है; कभी-कभी वे बाहरी बुराइयों से भले ही बचाले और बाहर के उत्पाती लोगो को आने से रोक दें लेकिन उनकी वजह से आदमी कैदी और गुलाम बन जाता है और नाममात्र की जो पवित्रता और निर्भयता तुमको मिलती है, वह आजादी खो कर मिलती है। सबसे भयंकर दीवार वह है जो आदमी के दिमाग में पैदा हो जाती है, जिसकी वजह से किसी बुरे रस्म-रिवाज को छोड़ने में हम सिर्फ इसलिए झिझकते रहते हैं कि वह पुराना रिवाज है, और किसी नये खयाल को कबूल नहीं करते, क्योंकि वह नया है।

लेकिन दक्षिणी हिन्दुस्तान ने एक खास सेवा यह की कि सिर्फ धर्म के मामले में ही नही, बल्कि राजनीति और कला में भी उसने एक हजार वर्ष और उससे ज्यादा समय तक भारतीय आर्य-परम्परा को जिन्दा रक्खा। अगर तुम्हें पुरानी भारतीय कला का नमूना देखना है, तो इसके लिए तुम्हे दक्षिण भारत में जाना

होगा । यूनानी लेखक मेगस्थनीज़ से हमे मालूम होता है कि राजनीति मे, दक्षिण में, राजाओं पर लोक-सघो का अंकुश रहता था ।

जब मगध का पतन हुआ, तो सिर्फ विद्वान लोग ही नहीं बल्कि कलाकार, कारीगर और शिल्पी लोग भी दक्षिण को चले गये । योरप और दक्षिण हिन्दुस्तान के बीच काफी व्यापार चलता था । मोती, हाथीदात, सोना, चावल, मिर्च, मोर और बन्दर तक बैबिलन, मिस्र और यूनान और बाद को रोम को भेजे जाया करते थे ।

इसके भी बहुत पहले सागवान की लकडी मलाबार के किनारे से कैल्डिया और बैबिलोनिया को जाती थी । और यह सब व्यापार, या उसका ज्यादातर हिस्सा, हिन्दुस्तानी जहाजो के जरिये, जिन्हे द्रविड़ लोग चलाते थे, हुआ करता था । इससे तुम्हे पता चल सकता है कि पुरानी दुनिया में दक्षिण भारत कितनी ऊँची स्थिति पर पहुँचा हुआ था । दक्षिण में रोमन सिक्को की काफी तादाद मिली है, और, जैसा कि मै तुम्हे पहले बता चुका हूँ, मलाबार के समुद्री किनारे पर सिकन्दरिया निवासियो की बस्तियाँ थीं, और सिकन्दरिया में हिन्दुस्तानियो की ।

अशोक के मरने के बाद ही दक्षिण का आन्ध्र देश स्वतंत्र हो गया । जैसा कि शायद तुम जानती हो,आन्ध्र आज कल कांग्रेस का एक प्रान्त है, जो हिन्दुस्तान के पूर्वी समुद्र तट पर मद्रास के उत्तर में है । तेलगू आन्ध्र देश की भाषा है । आन्ध्र की ताकत अशोक के बाद तेजी से बढ गई और दक्खिन में एक समुद्र तट से दूसरे समुद्र तट तक फैल गई ।

दक्षिण में उपनिवेश बनाने के बहुत बडे-बडे प्रयत्न हुए । लेकिन इनके बारे में फिर लिखेंगे ।

मै ऊपर शक और सीदियन और दूसरी जातियो का जिक्र कर आया हूँ, जिन्होने हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया और उत्तर में बस गये । वे लोग हिन्दुस्तान के एक अंग हो गये, और हम लोग, जो उत्तरी हिन्दुस्तान में रहते है, उनके उतने ही वंशज है, जितने आर्यो के, खासकर बहादुर और गठीले बदनवाले राजपूत और काठियावाड के मेहनती लोग तो उन्हींके वशज है ।

: ३० :

कुशानों का सरहदी साम्राज्य

११ अप्रैल, १९३२

मैंने पिछले खत में हिन्दुस्तान पर शक और तुर्की लोगो के लगातार हमलो का जिक्र किया है । मैंने तुम्हे दक्षिण में आन्ध्रों के शक्तिशाली राज्य की तरक्की का भी

हाल बताया है, जो बंगाल की खाडी से अरब-सागर तक फैला हुआ था। शक लोगों को कुशानो ने आगे ढकेल दिया था। थोडे दिनो के बाद कुशान खुद ही रंगमञ्च पर आगये। ईसा के एक सदी पहले इन लोगो ने हिन्दुस्तानी सरहद पर एक राज्य कायम किया और यही राज्य बढ़ते-बढ़ते एक बडा साम्राज्य होगया। यह कुशान साम्राज्य दक्षिण में बनारस और विन्ध्याचल तक, उत्तर में काशगर, यारकंद और खुतन तक और पश्चिम में पार्थिया और ईरान की सरहद तक फैला हुआ था। इस तरह युक्तप्रान्त, पंजाब और कश्मीर समेत सारे उत्तरी हिंदुस्तान और मध्य एशिया के एक काफी बडे हिस्से पर कुशानों का शासन था। करीब तीन सौ बरस तक,—ठीक उन्हीं दिनो जबकि आन्ध्रराज्य दक्षिण हिन्दुस्तान में फल-फूल रहा था, यह साम्राज्य कायम रहा। मालूम होता है कि पहले तो कुशानो की राजधानी काबुल थी, लेकिन बाद को बदल कर पेशावर होगई थी, जो उस वक्त पुरुषपुर कहाता था, और अखीर तक वही कायम रही।

इस कुशान साम्राज्य की कई बाते बडी दिलचस्प है। यह बौद्धो का साम्राज्य था और उसके मशहूर शासको में से एक शासक—सम्राट कनिष्क—बहुत बड़ा धार्मिक था। राजधानी पेशावर के पास तक्षशिला थी, जो बहुत दिनों से बौद्ध संस्कृति का केन्द्र हो रही थी। मेरा खयाल है, मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि कुशान मंगोलियन या उन्हींसे सम्बन्धित जाति के थे। कुशान राजधानी से मंगोलिया की सरज़मीन को लोगो का आना-जाना बराबर होता रहा होगा, और यहीं से बौद्ध विद्या और बौद्ध संस्कृति चीन और मंगोलिया को गई होगी। इसी तरह पश्चिमी एशिया का भी बौद्ध विचारो से गहरा सम्पर्क हुआ होगा। सिकन्दर के जमाने से ही पश्चिमी एशिया यूनानियो की हुकूमत में था और बहुत से यूनानी अपने साथ अपनी संस्कृति यहाँ लाये थे। यूनानियों की यह एशियाई सस्कृति अब हिन्दुस्तान की बौद्ध संस्कृति से मिल गई।

इस तरह चीन और पश्चिमी एशिया पर हिन्दुस्तान का असर पड़ा। लेकिन उसी तरह हिन्दुस्तान पर भी इन देशो का असर पड़ा। पश्चिम में यूनानी रोमन जगत्, पूरब में चीनी दुनिया और दक्षिण में हिन्दुस्तानी संसार पर कुशान साम्राज्य एक देव की तरह, एशिया की पीठ पर, सवारी गाठे बैठा था। हिन्दुस्तान और रोम तथा हिन्दुस्तान और चीन के बीच यह बीच की मंज़िल की तरह था।

अपनी इस बीच की स्थिति के कारण इस साम्राज्य ने हिन्दुस्तान और रोम के बीच घनिष्ठता पैदा करने में बहुत मदद पहुँचाई। रोमन साम्राज्य के शुरू के दोसौ बरस और रोमन प्रजातन्त्र के आख़िरी दिनों से, जबकि जूलियस सीज़र ज़िन्दा

था, कुशान लोगो का साम्राज्य-काल मिलता-जुलता है। कहा जाता है कि कुशान सम्राट ने अगस्टस सीजर के पास अपने एलची भेजे थे। इन दोनों देशों में खुश्की से और समुद्र के रास्ते खूब व्यापार हुआ करता था। हिन्दुस्तान से रोम को इत्र, मसाला, रेशम, मलमल, जरी के कपडे और जवाहरात जाते थे। प्लीनी नाम के एक रोमन लेखक ने इस बात की सख्त शिकायत की है कि रोम से हिन्दुस्तान को बहुत बडी तादाद में सोना चला जाता था। उसका कहना है कि इन व्यसन की चीजो पर हर साल रोमन साम्राज्य के दस करोड़ सेस्टरसेज--रोमन सिक्का--खर्च हो जाते हैं। यह रकम क़रीब डेढ़ करोड़ रुपये के बराबर होगी।

इस जमाने में बौद्ध विहारो में और बौद्ध संघों की सभाओं में बडे-बडे बहस-मुबाहिसे और चर्चायें हुआ करती थीं। दक्षिण और पश्चिम से नये विचारो या पुरानें विचारो को नई-नई पोशाकें पहनाकर वहाँ प्रचार किया जा रहा था। और बौद्ध सिद्धान्तों की सादगी के ऊपर धीरे-धीरे असर पड़ रहा था। परिवर्त्तन का यह चक्र यहां तक घूमा कि बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायो--'महायान' और 'हीनयान'--में बँट गया। नई-नई व्याख्याओ और टीकाओ की वजह से जीवन और धर्म से सम्बन्ध रखनेवाले विचारो में तब्दीली हुई, उससे फिर कला और शिल्प में भी तब्दीली आगई। यह कहना आसान नही है कि ये तब्दीलियाँ कैसे आईं। शायद दो ख़ास प्रभाव--ब्राह्मण या हिन्दू धर्म और यूनानी--ऐसे थे, जिन्होने बौद्ध विचार-धारा को एक ही समान दिशा की तरफ़ मोड़ दिया।

जैसाकि मैंने कई बार तुम्हे बताया है, बौद्ध धर्म जात-पात, पुरोहिताई और कर्मकाण्ड के खिलाफ बग़ावत करता था। गौतम बुद्ध मूर्तिपूजा पसन्द नही करते थे; उनका यह भी दावा नही था कि वह ईश्वर हैं और उनकी पूजा की जाय। वह तो बुद्ध--आप्त-पुरुष--थे। इस विचारधारा के मुताबिक उस जमाने में बुद्ध की मूर्तियाँ नहीं बनाई जाती थीं, और उस समय के मन्दिरो में मूर्तियाँ नहीं रक्खी जाती थी। लेकिन ब्राह्मण लोग हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म के बीच का अन्तर मिटाना चाहते थे, और बौद्ध सिद्धान्तो में हिन्दू विचार और हिन्दुओ के चिह्न दाखिल करने की बराबर कोशिश करते रहते थे। यूनान और रोम के कारीगर भी देवताओ की मूर्तियों के बनाने के आदी थे। इस तरह धीरे-धीरे बौद्ध मंदिरो में मूर्तियो का दखल हो गया। शुरू में जो मूर्तियाँ बनीं, वह बुद्ध की नहीं, बल्कि बोधि-सत्व की थी, जो बौद्धकथा के मुताबिक बुद्ध के पहले के अवतार हुए हैं। यह तरीका जारी रहा, यहाँ तक कि अख़ीर में बुद्ध की मूर्ति भी बनाली गई और उसकी पूजा होने लगी।

बौद्ध धर्म के 'महायान' सम्प्रदाय ने इन परिवर्त्तनो का स्वागत किया। ब्राह्मण

विचारधारा से वह बहुत कुछ मिलता-जुलता था। कुशान सम्राट 'महायान' मत के अनुयायी हो गए और उन्होंने उसके प्रचार में मदद की। लेकिन उन्हे 'हीनयान' मत और दूसरे धर्मों से कोई द्वेष न था। कहते हैं कि कनिष्क ने पारसी धर्म को भी प्रोत्साहन दिया था।

'महायान' और 'हीनयान' सिद्धान्तो की श्रेष्ठता के बारे में बडे-बडे विद्वानो में जो बहस-मुबाहसे हुआ करते थे, उनके पढ़ने से बड़ा मनोरंजन होता है। इसके लिए संघ के बडे-बडे जलसे हुआ करते थे। कनिष्क ने काश्मीर में संघ की एक बहुत बडी परिषद की थी। कई सौ बरसो तक इस सवाल पर बहस-मुबाहिसा जारी रहा। 'महायान' उत्तर हिन्दुस्तान में कामयाब रहा और 'हीनयान' दक्षिण भारत में। अन्त में इन दोनो ही को हिन्दू धर्म ने हजम कर लिया। आजकल चीन, जापान और तिब्बत में 'महायान' मत पाया जाता है, और लंका और बर्मा में 'हीनयान'।

किसी जाति की कला वह शीशा है, जिसमें हमें उसके मन का सच्चा चित्र दिखाई देता है। इसलिए जब शुरू के बुद्ध सिद्धान्तो में सादगी के बजाय जटिल और अलंकारपूर्ण प्रतीकवाद आगया तब भारतीय कला भी ज्यादा-से ज्यादा पेचीदा और अलंकारपूर्ण होती गई। खासतौर से उत्तर-पश्चिमी गंधार की महायानी मूर्तियाँ बहुत अलंकारपूर्ण और पेचीदा थीं। 'हीनयान' मत के शिल्पी भी अपनेको इस नई हवा से न बचा सके। धीरे-धीरे वे भी अपनी शुरू की सादगी और संयम छोड़ बैठे और बहुत पेचीदा और गहरी खुदाई के काम की ओर झुक गये।

उस जमाने की कुछ यादगारे आज भी मिलती हैं। अजन्ता की सुन्दर मूर्तियाँ उनमें सबसे अधिक दिलचस्प हैं। तुम पारसाल उन्हे देखते-देखते रह गई। अगर वहाँ जाने का तुम्हे फिर मौका मिले तो जरूर जाना।

अब हम कुशान लोगो से विदा लेंगे। लेकिन एक बात याद रक्खो, कि शक और तुर्की जातियो की तरह कुशान लोग हिन्दुस्तान में इस तरह नही आये और न इस तरह राज्य ही किया जैसे कोई विदेशी एक हारे हुए मुल्क पर करता है। ये लोग हिन्दुस्तान से और हिन्दुस्तान की जनता से धर्म के बन्धन में बंधे हुए थे। इसके अलावा उन्होने हिन्दुस्तान के आर्यों की शासन-प्रणाली को भी अपना लिया था। और चूंकि उन लोगों ने अपनेको बहुत हद तक आर्य प्रणाली के अनुकूल बना लिया था, वे तीन सौ बरस तक कामयाबी के साथ उत्तर हिन्दुस्तान पर हुकूमत करते रहे।

: ३१ :

ईसा और ईसाई धर्म

१२ अप्रैल, १९३२

उत्तर-पश्चिम हिन्दुस्तान के कुशान साम्राज्य और चीन के 'हन्' वंश का बयान करते-करते हम इतिहास की एक मशहूर घटना के आगे बढ़ आये, इसलिए यह जरूरी है कि हम उसके पास वापस लौट चले। अभीतक हम जो कुछ तारीखें देते थे, वे ई० पू० (B C.=Before Christ) यानी ईसा के पूर्व की थी। अब हम ईसवी सन् में पहुँच गये हैं। यह सन् जैसाकि इसके नाम से जाहिर है, ईसा के जन्म से शुरू होता है। सच तो यह है कि गालिबन ईसा का जन्म इससे चार बरस पहले ही हो गया था। लेकिन उससे कोई ज्यादा फरक नही पड़ता। ईसा के बाद होनेवाली घटनाओं की तारीखो के आगे, ई० स० (A D=Anno Domini)—ईश्वर के वर्ष में—लिखने का रिवाज हो गया है। इस बहु-प्रचलित रिवाज के मुताबिक चलने में कोई हर्ज नहीं, लेकिन मुझे ई० स० के बजाय ई० प० (A. C=After Christ)—ईसा के पश्चात्—लिखना ज्यादा वैज्ञानिक मालूम होता है, जैसाकि हम ईसा के जन्म के पहले की तारीखो के लिए ई० पू० लिखते रहे है। मैं इस पुस्तक में ई० प० ही लिखूंगा।

ईसा, या जैसाकि अंग्रेजी में उसका नाम है जीसस, की कहानी बाईबिल के नये अहदनामे (New Testament) में दी गई है और तुम्हे उसके बारे में कुछ मालूम भी है। बाईबिल के इन भागो में, जो गोस्पेल कहलाते है, जो विवरण है उनसे उनकी जवानी का बहुत कम हाल मिलता है। वह नैजरथ में पैदा हुए, गैलिली में उन्होने प्रचार किया और तीस बरस से ज्यादा उम्र होने पर जेरूसलेम आये। इसके थोडे ही दिन बाद रोमन गवर्नर पॉण्टियस पाइलेट के सामने उनपर मुकद्दमा चला और उसने इनको सजा दी। यह साफ नही मालूम होता कि अपना प्रचार शुरू करने के पहले ईसा क्या करते थे या कहाँ गये थे। मध्य एशिया भर में, काश्मीर में, लद्दाख में और तिब्बत में और इससे और भी उत्तर के देशो में अभी तक लोगों का यह पक्का विश्वास है कि ईसा इन देशों में घूमे थे। कुछ लोग यह भी कहते है कि वह हिन्दुस्तान आये थे। निश्चित तौर पर कुछ कहा नही जा सकता, लेकिन जिन विद्वानो ने ईसा की जीवनी का अध्ययन किया है, वे इस बात पर भरोसा नही करते कि ईसा हिन्दुस्तान या मध्य एशिया में आये थे। लेकिन अगर आये हों तो यह कोई नामुमकिन बात भी नहीं कही जा सकती। उस जमाने में हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े विश्व-

विद्यालय, खासकर उत्तर-पश्चिम का तक्षशिला का विश्वविद्यालय ऐसा था कि दूर दूर देशो के उत्साही विद्यार्थी खिचकर यहाँ आते थे, और मुमकिन है कि ईसा भी ज्ञान की तलाश में यहाँ आये हो। बहुत-सी बातो में ईसा के सिद्धान्त गौतम के सिद्धान्तो से इतने ज्यादा मिलते-जुलते है कि यह बहुत मुमकिन मालूम होता है कि ईसा को गौतम के विचारो से पूरी-पूरी वाकफियत थी। लेकिन बुद्ध-धर्म दूसरे मुल्को में काफी प्रचलित था, और इसलिए ईसा हिन्दुस्तान आये बिना भी उसके बारे मे अच्छी तरह से जान सकते थे।

जैसा कि स्कूल का हरेक लड़का या लड़की जानती है, धर्म के कारण बडी-बडी लड़ाइयाँ और घातक युद्ध हुए है। लेकिन संसार के मजहबो की शुरुआत पर गौर करना और उनकी तुलना करना बहुत दिलचस्प अध्ययन है। इन मजहबो के सिद्धान्तो और आदर्शो में इतनी समानता है, कि यह देखकर हैरत होती है कि लोग इतने बेवकूफ क्यों बन जाते है कि तफसीलो और गैर-जरूरी बातो के बारे में झगड़ा करने लगते है। पुराने सिद्धान्तो में नई-नई बाते जोड़ दी जाती है, और उनको इस तरह तोड़-मरोड़ दिया जाता है कि उनका पहचानना मुश्किल हो जाता है। असली गुरु की जगह पर कट्टर, तंगदिल और असहिष्णु हठ-धर्मी लोग आ बैठते है। बहुत बार मजहब ने साम्राज्यवाद और राजनीति के गुलाम का-सा काम किया है। पुराने रोमन लोगो की तो यह नीति रही है कि जनता की भलाई के लिए, या यो कहो कि उसके शोषण के लिए, उसमें अन्ध विश्वास पैदा किया जाय। अन्धविश्वासी होने पर उसे दबाये रखना ज्यादा आसान होता है। उच्च वर्ग के रोमन लोग वैसे तो बडी ऊँची-ऊँची फिलासफी बघारते या ऊँचे-ऊँचे दार्शनिक विचार रखते थे लेकिन अमल में, जिस चीज को वे अपने लिए अच्छी समझते थे, जनता के लिए वह न तो हितकर होती थी न खतरे से खाली। पिछले जमाने के एक मशहूर इटालियन लेखक मैकियावेली ने राजनीति पर एक किताब लिखी है। उसका कहना है कि मजहब सरकार के लिए जरूरी चीज है और ऐसे मजहब तक की मदद करना शासक का फर्ज है जिसे वह बिलकुल गलत समझता हो। इस जमाने में भी हमारे सामने इस बात की बहुत सी मिसाले है कि साम्राज्यवाद ने मजहब की आड़ में शिकार खेला है। इसलिए कार्ल मार्क्स का यह लिखना आश्चर्यजनक नही है कि "मजहब जनता की अफीम है।"

ईसा यहूदी थे। यहूदी लोग बडे अजीब और आश्चर्यजनक रूप से उद्यमी अथवा व्यवसायी होते थे और है। दाऊद और सुलेमान के जमाने के थोडे से दिनो के वैभव के बाद उनके बुरे दिन आए। यह वैभव भी था तो बहुत छोटी मात्रा में,

लेकिन अपनी कल्पना में उन्होंने उसे यहाँ तक बढ़ा-चढ़ा दिया कि अख़ीर में उनके लिए वह अतीत का सुवर्णयुग बन गया, और उनका विश्वास था कि वह एक निश्चित समय पर फिर लौटेगा, और उस समय यहूदी लोग फिर महान और ताकतवर होजायँगे। वे रोमन साम्राज्य-भर में और दूसरे मुल्को में फैल गये, लेकिन अपने इस पक्के विश्वास के कारण वे आपस में एक दूसरे से मजबूती से बंधे रहे कि उनके वैभव के दिन आनेवाले है, और एक मसीहा उन्हे वह दिन दिखावेगा। इतिहास की यह एक अद्भुत बात है कि किस तरह बे-घरबार के और आश्रयहीन, अत्यन्त अत्याचार-पीड़ित और मुसीबतज़दा और अकसर मौत तक का शिकार बनाये जानेवाले यहूदियो ने दो हज़ार बरस से ज्यादा तक अपने व्यक्तित्व को बचाये रक्खा, और आज भी उनमें आपस में एकता है और वे धनवान और शक्ति-सम्पन्न है।

यहूदी एक मसीहा का इन्तज़ार कर रहे थे, और शायद ईसा से उन्हे इसी तरह की उम्मीदें थी। लेकिन बहुत जल्द इनकी उम्मीदो पर पानी फिर गया, क्योंकि ईसा एक अजीब भाषा में चालू तरीको और सामाजिक संगठन के ख़िलाफ़ बगावत की बाते कहा करते थे। ख़ास तौर से वे अमीरों और उन ढोंगियो के ख़िलाफ थे, जिन्होंने ख़ास तरह की पूजा-पाठ और रस्म-रिवाज को ही धर्म बना रक्खा था। धन-दौलत और ऐश्वर्य बढ़ाने की आशा दिलाने के बजाय, वह, उल्टे, स्वर्ग का अव्यक्त और काल्पनिक राज्य प्राप्त करने के लिए, लोगो को, उनके पास जो कुछ था उसे भी त्याग देने को कहते थे। वह अपनी बात रूपक और कहानियों के रूप में कहा करते थे, और यह बिलकुल स्पष्ट है कि वह जन्म से ही ऐसे विद्रोही थे, जो मौजूदा हालत को सह नही सकते थे, और उसे बदलने के लिए तुले बैठे थे। लेकिन यह तो वह बात न थी जो यहूदी चाहते थे, इसलिए उनमें से ज्यादातर लोग उनके ख़िलाफ हो गये और उनको पकड़कर रोमन अधिकारियो के सुपुर्द करदिया।

मज़हबी मामलो में रोमन लोग असहनशील नही थे। साम्राज्य में हर मज़हब को बर्दाश्त किया जाता था और अगर कोई किसी देवी-देवता को बुरा-भला भी कह जाता था, तो उसे सज़ा नही दी जाती थी। टाईबेरियस नाम के एक रोमन सम्राट ने कहा था कि "अगर देवताओ का अपमान होता है तो उन्हे ख़ुद को ही इसका इन्तज़ाम करना चाहिए।" इसलिए जब रोमन गवर्नर पाण्टियस पाइलेट के सामने ईसा पेश किये गये, तो इस मुकदमे के मज़हबी पहलू की उसे ज़रा भी चिन्ता न हुई होगी। ईसा एक राजनैतिक बागी, और, यहूदियो की दृष्टि में, सामाजिक विद्रोही समझे जाते थे और इसी जुर्म में गेथसीमेन नामक जगह पर उनपर मुकदमा चलाया गया, और सज़ा दी गई, और गोलगोथा नामक जगह पर उन्हे सूली पर

लटकाया गया। उनकी मुसीबत की घडी में, उनके चुने हुए शिष्य तक उन्हे छोड़कर भाग खडे हुए, और यहाँ तक कह बैठे कि वह उनको जानते तक नहीं। अपने इस विश्वासघात से उन्होने ईसा की पीड़ा को बहुत असह्य बना दिया, जिससे मरते समय वह विचित्र रूप से दिल को हिला डालने वाले इन शब्दों में चिल्ला उठे:—

"मेरे ईश्वर! मेरे ईश्वर! तू ने मुझे क्यो छोड़ दिया है?'

ईसा जब मरे, तब वह जवान ही थे। उस वक्त उनकी उमर तीस बरस से कुछ ही ज्यादा थी। हम बाईबिल की सुन्दर भाषा में उनकी मौत की दुःखान्त करुण-कहानी पढ़ते हैं और हमारा दिल हिल जाता है। अगली सदियो में ईसाई-धर्म की जो तरक्की हुई, उसने लाखो आदमियों के मन में ईसा के नाम के प्रति श्रद्धा पैदा करदी है; लेकिन उन लोगो ने उनके उपदेशों पर अमल करने की तरफ बहुत कम ध्यान दिया है। हमें याद रखना चाहिए कि जब वह सूली पर चढ़ाये गये थे, तब उनका नाम फिलस्तीन से बाहर बहुत ज्यादा मशहूर नहीं था। रोम के लोग उनके बारे में कुछ भी नही जानते थे, और पाण्टियस पाइलेट ने इस वाकये को बहुत थोड़ा ही महत्त्व दिया होगा।

ईसा के नजदीकी शिष्य और अनुयायी इतनें डर गये थे कि वे उनके साथ अपने सम्बन्ध तक से इन्कार करने लगे थे। लेकिन जल्द ही पॉल नामके एक नये अनुयायी पैदा हुए, जिन्होने ईसा को तो खुद नहीं देखा था, लेकिन उन्होंने अपनी समझ के मुताबिक ईसाई-धर्म का प्रचार करना शुरू कर दिया। बहुत से लोगो का खयाल है कि जिस ईसाई धर्म का पॉल ने प्रचार किया, वह ईसा के सिद्धान्तों से बहुत कुछ अलग चीज है। पॉल एक क़ाबिल और विद्वान पुरुष थे, लेकिन वह ईसा की तरह सामाजिक विद्रोही नहीं थे। पॉल कामयाब हुए और ईसाई मत धीरे-धीरे फैलने लगा। रोमन लोगों ने शुरू में इस बात को कोई महत्त्व नही दिया। उन्होंने ख़याल किया कि ईसाई मत भी यहूदियो का ही एक सम्प्रदाय है। लेकिन ईसाई लोग उग्र थे, वे दूसरे सारे धर्मो के खिलाफ थे और उन्होने सम्राट की मूर्ति की पूजा करने से इन्कार कर दिया। रोमन लोग उनकी इस मनोवृत्ति और जैसी कि उनको मालूम हुई, इस तंग खयाली—— को समझ नहीं सके, इसलिए वे ईसाइयों को सनकी, झगड़ालू, बदतमीज और इन्सानी तरक्की——मानव प्रगति का विरोधी समझते थे। मजहबी निगाह से वे लोग उनको बरदाश्त कर सकते थे, लेकिन सम्राट की मूर्ति के सामने सर झुकाने से, उसका आदर करने से, उनका इन्कार करना, राजद्रोह समझा गया, और उसकी सजा मौत क़रार दी गई। ईसाई ग्लेडियेटरवाले दंगलो की भी मुख़ालिफ़त करते थे। इन बातो का नतीजा यह हुआ कि आगे चलकर ईसाई सताये

जाने लगे । उनकी जायदादें ज़ब्त की जाने लगी, और उन लोगो को शेरों के आगे फेंका जाने लगा । तुमने इन ईसाई शहीदो के किस्से पढ़े होगे और शायद तुमने इनका सिनेमा-फ़िल्म भी देखा होगा । लेकिन जब कोई आदमी किसी उसूल के लिए मरने को तैयार हो जाता है, और इससे भी ज्यादा ऐसी मौत में गौरव महसूस करने लगता है, तो उसे या उसके उसूल को दबा देना नामुमकिन हो जाता है । वही हुआ । रोमन साम्राज्य ईसाई मत को दबानें में बिलकुल नाकामयाब रहा । सचमुच इस लड़ाई में ईसाई मत विजयी हुआ और ईसा के बाद की चौथी सदी के शुरू में एक रोमन सम्राट खुद ईसाई होगया और ईसाई मत साम्राज्य का सरकारी मजहब बन गया । इस सम्राट का नाम कान्स्टेण्टाइन था, जिसने कांस्टेण्टिनोपुल यानी कुस्तुन्तुनिया बसाया है ।

ज्यो-ज्यो ईसाई मत बढ़ता गया, त्यों-त्यो ईसा के देवत्व के सम्बन्ध में बडे ज़बर्दस्त झगडे होने लगे । तुम्हे याद होगा कि मैंने तुम्हे कहा था कि गौतम बुद्ध ने कभी देवत्व का दावा नही किया था, लेकिन फिर भी वह अवतार समझे जाने लगे और देवता की तरह पुजे जाने लगे । इसी तरह ईसा ने भी खुदा होने का कोई दावा नही किया था । उनके बार-बार इस बात को दुहराने का कि वह ईश्वर के और मनुष्य के बेटे है, जरूरी तौर पर यह अर्थ नही है कि उन्होने अपने मनुष्यो से ऊँचा होने का दावा किया था । लेकिन लोग अपने बडे आदमियो को देवता बनाना पसन्द करते है, और देवता बनाने के बाद उनकी बातो पर चलना छोड़ देते है । छः सौ साल बाद पैगम्बर मुहम्मद ने एक दूसरा बड़ा मजहब चलाया, लेकिन शायद इन उदाहरणो से फायदा उठाते हुए ही उन्होने साफ़-साफ़ शब्दो में बार-बार यह कहा कि वह आदमी है, खुदा नही ।

इस तरह ईसा के सिद्धान्तो और उसूलो को समझने और उनपर अमल करनें के बजाय, ईसाई लोग, ईसा के देवत्व और त्रिमूर्त्ति (ट्रिनिटी) के सम्बन्ध में आपस में बहस-मुबाहिसा करने लगे और झगड़ने लगे । वे एक दूसरे को काफिर—नास्तिक कहते, एक दूसरे पर अत्याचार करते और एक दूसरे का गला काटने लगे । एक वक्त ईसाइयो के मुख्तलिफ सम्प्रदायो में एक संयुक्त शब्द के ऊपर बहुत जोरदार और जबर्दस्त झगड़ा शुरू हुआ । एक दल कहता था कि प्रार्थना में होमो आउजन (Homo-Ousion) शब्द इस्तेमाल किया जाय; दूसरा होमोइ आउजन (Homoi-Ousion) कहलाना चाहता था । इस मत-भेद का ईसा के देवत्व से सम्बन्ध था । इस संयुक्त शब्द के पीछे बहुत भयंकर लड़ाई हुई और बहुत-से आदमी मारे गये ।

ज्यो-ज्यो ईसाई-संघ की ताकत बढ़ती गई, त्यो-त्यो ये घरेलू झगडे बढ़ते गये ।

और पश्चिमी देशो में, जुदे-जुदे ईसाई सम्प्रदायो में अभी हाल तक चलते रहे है।

तुम्हे यह जानकर ताज्जुब होगा कि इंग्लैण्ड में, या पश्चिमी योरप में पहुँचने के बहुत पहले और उस वक्त जब कि खुद रोम तक में वह तुच्छ और 'वर्जित सम्प्रदाय' समझा जाता था, यह धर्म हिन्दुस्तान में पहुँच गया था। ईसा के मरने के करीब सौ साल के अन्दर ही ईसाई प्रचारक समुद्र के रास्ते दक्षिण हिन्दुस्तान आये थे। उनका बहुत शिष्टाचार के साथ स्वागत किया गया और उन्हे अपने नये मजहब के प्रचार करने की इजाजत दे दी गई। उन्होंने बहुत बडी तादाद में लोगो को अपने मत का अनुयायी बनाया और, ये लोग तब से आज तक दक्षिण भारत में कभी आनंद में और कभी मुसीबत में रहते आये है। उनमें से बहुत से उन प्राचीन सम्प्रदायों के अनुयायी है, जिनकी अब योरप में हस्ती तक नहीं है। आजतक इनमें से कुछ के केन्द्र एशिया माइनर में है।

ईसाई मत, राजनैतिक दृष्टि से, सबसे अधिक प्रभावशाली धर्म है, क्योंकि उसीके अनुयायी योरप में प्रभावशाली है। लेकिन जब हम एक तरफ अहिंसा का और सामाजिक प्रणाली के खिलाफ़ विद्रोह का प्रचार करनेवाले विद्रोही ईसा का खयाल करते है, और दूसरी तरफ ऊँची-ऊँची आवाज में चिल्लानेवाले आजकल के अनुयायियो से और उनके साम्राज्यवाद, शस्त्रास्त्रो, युद्धो और धन की पूजा से उनकी तुलना करते है, तो हमें हैरत में रह जाना पड़ता है। ईसा का पहाडी पर दिया हुआ उपदेश (Sermon on the Mount) और आजकल का योरप तथा अमरीका का ईसाई मत इन दोनो में कितनी जबर्दस्त असमानता पाई जाती है। इसलिए कोई ताज्जुब की बात नहीं अगर बहुत से लोग यह सोचने लगें, कि ईसा के, आजकल के पश्चिम के ज्यादातर अनुयायियो के मुकाबिले में बापू—महात्मा गान्धी ईसा की शिक्षा के कहीं नजदीक है।

: ३२ :

रोमन साम्राज्य

२३ अप्रैल, १९३२

मैंने बहुत दिनो से तुम्हे खत नही लिखा। इलाहाबाद की खबर ने मुझे परेशान कर दिया था और मेरे दिल को थर्रा दिया था। खासतौर से तुम्हारी बूढ़ी दादी, डोल अम्मा की खबर ने। जब मैं सुनता हूँ कि कमजोर और दुबली मां को पुलिस की लाठियो का सामना करना पड़ा और लाठियाँ सहनी पडीं तो मुझे जेल की अपनी यह

आराम-आसाइश खटकती है। लेकिन मै अपने खयालो को अपने साथ बहने नही दे सकता, न उन्हे इस कहानी के सिलसिले में किसी तरह की बाधा ही डालने दे सकता हूँ।

अब हमें फिर रोम, या प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के रोमक देश, को लौटना चाहिए। तुम्हे याद होगा कि हम रोमन प्रजातन्त्र के विनाश की कहानी जान चुके थे, और रोमन साम्राज्य के कायम होने की बात कर रहे थे। जूलियस सीजर का गोद लिया हुआ लड़का आक्टेवियन, आगस्टस सीजर के नाम से बादशाह बन चुका था। वह अपने को राजा नही कहता था। इसकी वजह कुछ तो यह थी कि राजा की उपाधि उसको अपने लिए काफ़ी शानदार नही मालूम होती थी, और दूसरे यह कि वह प्रजातन्त्र की रूपरेखा क़ायम रखना चाहता था। इसलिए वह अपने को 'इम्परेटर' यानी हुक्म देनेवाला कहता था। इस तरह से 'इम्परेटर' सबसे ऊँचा ख़िताब समझा जाने लगा। और तुम जानती हो कि अंग्रेज़ी का 'इम्परर' (सम्राट) शब्द इसीसे निकला है। इस तरह से रोम के पुराने साम्राज्य ने दो शब्द ऐसे पैदा किये, जिनकी आकाक्षा और उपयोग क़रीब-करीब सारी दुनिया के बादशाह बहुत दिनों तक करते रहे। ये दो शब्द है—'इम्परर' (सम्राट) और 'सीज़र' या 'कैसर' या 'ज़ार'। पहले यह समझा जाता था कि एक वक़्त में एक ही सम्राट हो सकता है, जोकि सारी दुनिया का एक तरह से मालिक हो। रोम दुनिया का स्वामी समझा जाता था, और पश्चिम के लोग समझते थे कि सारी दुनिया पर रोम हावी है। यह बात निस्सन्देह गलत थी और सिर्फ भूगोल और इतिहास के प्रति लोगो का अज्ञान ज़ाहिर करती थी। रोमन साम्राज्य तो ख़ासतौर से भूमध्यसागर के किनारे पर बसा हुआ एक साम्राज्य था और इसकी सीमा पूरब की तरफ मेसोपोटेमिया से आगे कभी नही बढ़ी। समय-समय पर चीन और हिन्दुस्तान में इससे कही ज्यादा ताक़तवर, बडे और सुसंस्कृत राज्य हुए है। फिर भी जहाँ तक पश्चिमी दुनिया से ताल्लुक था, रोम का साम्राज्य उसके लिए एक मात्र साम्राज्य था, और इसी ख़याल से पुराने ज़माने के लोगो की नज़रों में वह सार्वभौम साम्राज्य समझा जाता था। उस समय उसका रोब ख़ूब बढ़ा हुआ था।

रोम के बारे में सबसे ताज्जुब की बात यह है कि उसके पीछे दुनिया के ऊपर कब्ज़ा करने और दुनिया की रहनुमाई करने का भाव छिपा था। जब रोम का पतन हुआ तब भी इसी ख़याल ने उसकी रक्षा की और उसे ताकत दी। और यह भाव तब भी कायम रहा जब रोम से उसका ताल्लुक छिन्न-भिन्न हो चुका था। यहाँ तक कि ख़ुद साम्राज्य भी विलीन होगया और उसकी छाया भर रह गई; किन्तु यह भाव तब भी बना ही रहा।

मुझे रोम के बारे में या उसके उत्तराधिकारियों के बारे में लिखते हुए कुछ दिक्कत मालूम होती है। तुम्हे बताने के लिए कुछ बातो का चुनाव करना आसान काम नही है। मुझे डर है कि इस बारे में जो पुरानी किताबें मैंने पढ़ी है, उनसे तरह-तरह की बेतरतीब तसवीरो की उलझी हुई शकले मेरे दिमाग में आगई है। फिर जो कुछ मैंने पढ़ा, ज्यादातर जेल में पढ़ा है। सच तो यह है कि यदि मैं जेल न आया होता तो रोमन इतिहास की एक मशहूर किताब शायद कभी न पढ़ पाता। यह किताब इतनी बडी है कि दूसरे कामो के होते हुए इसे पूरी पढ़ जाने के लिए वक़्त निकाल सकना मुश्किल है। इस किताब का नाम है 'रोमन साम्राज्य का पतन'— (Decline and Fall of the Roman Empire)। इसका लेखक गिबन नामक एक अंग्रेज है। यह किताब, क़रीब डेढ़सौ बरस हुए, स्वीजरलैण्ड में लौक लेमन झील के किनारे लिखी गई थी। लेकिन आज भी इसके पढ़ने में रस आता है और मुझें तो इसके अन्दर बयान की हुई कहानियां, जो बडी लच्छेदार पर मीठी भाषा में लिखी गई है, किसी भी उपन्यास से अधिक मनोरंजक मालूम हुई। करीब १० बरस हुए मैंने इसे लखनऊ जिला जेल में पढ़ा था। क़रीब एक महीना तक गिबन का मेरा साथ रहा, और उसकी भाषा नें पुराने ज़माने की जो तसवीरें मेरे सामनें खीची, उनमें मै लीन हो गया था। लेकिन खतम होने के थोडे पहले ही मुझे अचानक रिहा कर दिया गया। जादू टूट गया और फिर बचे हुए १०० पन्नों को पढ़ने और प्राचीन रोम और कुस्तुनतुनिया को लौट जाने की मनोवृत्ति अपने अन्दर लाने में मुझे कुछ दिक़्क़त हुई।

लेकिन यह बात १० वर्ष पुरानी है, और मैंने जो कुछ पढ़ा था उसका बहुत कुछ हिस्सा भूल गया हूँ। फिर भी दिमाग को भरने और उसे घपले में डालनें के लिए बहुत-कुछ मौजूद है। और मै यह नही चाहता कि यह घपला मेरे दिमाग से तुम्हारे दिमाग में चला जाय।

पहले हम रोमन साम्राज्य या जुदा-जुदा युगो में बननेवाले साम्राज्यो पर एक नज़र डाल ले। बाद में शायद कोई इन तस्वीरों में कुछ और रंग भरने की कोशिश करेगा।

ईसाई सन् के शुरू में आगस्टस सीज़र के साथ साम्राज्य की शुरूआत होती है। कुछ दिनों तक सम्राट लोग सिनेट की इज्ज़त करते रहे; लेकिन बहुत जल्द प्रजातन्त्र के आख़िरी निशानात भी मिट गये। सम्राट सर्वशक्तिमान्, पूरी तरह निरंकुश और देवतुल्य हो गया। उसकी जिन्दगी में ही देव-तुल्य समझकर लोग उसकी पूजा करते थे, और अपनी मौत के बाद वह पूरा देवता हो जाता था। उस

ज़माने के सभी लेखकों ने शुरू के सम्राटों, ख़ासकर आगस्टस, को सब गुणों से संपूर्ण बताया है। ये लोग उस ज़माने को सतयुग या आगस्टस का युग कहते हैं, जबकि सारी अच्छाइयां मौजूद थीं, और भलों को इनाम तथा बुरों को सज़ा मिलती थी। निरंकुश राजाओं के मुल्कों में लेखकों का यही ढंग रहा है, क्योंकि ज़ाहिर है कि शासक की तारीफ़ करने में फ़ायदा रहता है। वर्जिल, ओविड, होरेस जैसे मशहूर लैटिन लेखक, जिनकी किताबें हमें स्कूल में पढ़नी पडी थीं, इसी ज़माने में हुए थे। यह मुमकिन है कि गृहयुद्धों और उन फ़िसादो के बाद, जो कि प्रजातन्त्र के आख़िरी दिनों में बराबर होते रहे, शान्ति और इत्मीनान का ऐसा ज़माना आने से लोगो को तसल्ली मिली हो, जब व्यापार बढ़ सकता था और सभ्यता के भी कुछ चिन्ह प्रकट होने लगे थे।

लेकिन यह सभ्यता क्या थी ? यह अमीर आदमियो की सभ्यता थी और ये अमीर लोग प्राचीन यूनान के अमीरो की तरह कुशाग्रबुद्धि और कलाप्रिय भी नहीं थे; यह मामूली मदबुद्धि लोगो का एक गिरोह था, जिनका खास काम मज़े से ज़िंदगी गुज़ारना हुआ करता था। सारी दुनिया से ऐश-आराम और खाने-पीने की चीज़ें इनके लिए आती थी, और चारो तरफ बडी शान-शौकत और तड़क-भड़क दिखाई देती थी। इस किस्म के आदमियो का गिरोह आज भी मिटा नही है। वहाँ शान-शौकत और आडम्बर की अधिकता थी और चटक-मटक वाले जुलूस निकलते थे। सरकसो में तरह-तरह के खेल होते थे और ग्लेडियेटर लोग मारे जाते थे। लेकिन इस ऐश्वर्य के पीछे जनता की मुसीबत छिपी थी। टैक्स बहुत बढ़ा हुआ था, जिसका बोझ ख़ास तौर से मामूली आदमियो पर पड़ता था और काम का बोझ बेशुमार गुलामो पर था। रोम के इन बडे आदमियो ने चिकित्सा, दार्शनिक गुत्थियो के सुलझाने और चिन्तन के काम भी ज्यादातर यूनानी गुलामो पर छोड़ रक्खे थे। ये लोग अपने को जिस दुनिया के मालिक बताते थे उसके बारे में ठीक बाते जानने की या शिक्षा का प्रचार करने की वे जरा भी कोशिश नहीं करते थे।

सम्राट के बाद सम्राट गद्दी पर बैठते गये। इनमें कोई बुरा था, तो कोई बहुत ही बुरा था। धीरे-धीरे सारी ताकत फौज के हाथ में आगई और वह अपनी मरजी के मुताबिक सम्राटो को बनाने-बिगाड़ने लगी। हालत यहाँ तक बिगडी कि फौज का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए बोली बोली जाने लगी और फौज को रिश्वत देने के लिए जनता या हराये हुए देशो का शोषण किया जाने लगा। आमदनी का एक बहुत बड़ा वसीला गुलामो का व्यापार था और रोम की फौजें पूरब में बाकायदा गुलामो को पकड़ने जाया करती थीं। फ़ौज के साथ गुलामो के व्यापारी भी होते थे। ताकि

मौके पर गुलामो को खरीद सकें। डेलोस का टापू, जिसे प्राचीन यूनानी लोग बड़ा पाक समझते थे, गुलामो की एक बडी मंडी बन गई थी—यहां तक कि कभी-कभी दस-दस हजार गुलाम एक दिन में बिक जाते थे। रोम के विशाल कोलोजियम[1] में एक लोकप्रिय सम्राट बारहसौ ग्लेडियेटरो को एक साथ जनता के सामने हाजिर करता था। इन अभागे गुलामो को सम्राट और उसकी प्रजा के मनोरंजन के लिए मरना पड़ता था।

साम्राज्य के दिनों में रोमन सभ्यता इस तरह की थी। फिर भी हमारे मित्र गिबन ने लिखा है—"अगर किसी आदमी से यह पूछा जाय कि तुम दुनिया के इतिहास का वह युग बताओ जब मनुष्य-समाज सबसे ज्यादा सुखी और खुशहाल रहा हो, तो बिना संकोच के वह उस युग का नाम लेगा जिसका समय डोमीशियन की मृत्यु से कामोडस के गद्दी पर बैठने तक था—यानी ई० सन् ९६ से १८० तक के दरमियान ८४ वर्ष का जमाना।" मुझे डर है कि, गिबन चाहे कितना ही बड़ा विद्वान रहा हो, पर जो कुछ उसने कहा है, उससे बहुत से आदमी सहमत होने में संकोच करेगे। गिबन जब मनुष्य जाति की बात करता है, तब उसका मतलब भूमध्यसागर के आस-पास बसी दुनिया से ही है। उसे हिन्दुस्तान, चीन या प्राचीन मिस्र का हाल कुछ भी मालूम न रहा होगा, या रहा होगा तो बहुत ही कम।

लेकिन शायद मैं रोम के साथ कुछ ज्यादती कर रहा हूँ। रोमन राज्यों में थोड़ा-बहुत अमन-चैन होने की वजह से जरूर एक सुखदायी परिवर्तन हुआ होगा। सरहदो पर अक्सर लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। लेकिन कम-से-कम शुरू के दिनो में साम्राज्य के अन्दर 'रोमन शान्ति' (पैक्स रोमाना) विराजती थी। जान-माल एक हद तक सुरक्षित थे, इसलिए व्यापार में तरक्की हुई। रोमन-नागरिकता के अधिकार सम्पूर्ण रोमन दुनिया को दे दिये गये थे, लेकिन यह याद रक्खो कि बेचारे ग़ुलामो को इस अधिकार से कोई सरोकार नहीं था। यह भी याद रखने की बात है कि सम्राट सर्वशक्तिमान था और नागरिको को बहुत कम अधिकार थे। राजनीति पर किसी तरह की चर्चा करना सम्राट के प्रति बगावत करना समझा जाता था। ऊँचे वर्ग के लोगो के लिए किसी हद तक एक क़िस्म की सरकार और एक क़ानून था। यह एक बहुत बडे फायदे की बात उन लोगो के लिए रही होगी, जो इससे निरंकुशता के शिकार रह चुके थे।

धीरे-धीरे रोमन लोग इतने आलसी और अयोग्य हो गये कि अपनी फ़ौज में

१ कोलोजियम—रोम का बहुत बडा अखाड़ा जो उस समय दुनिया मे सबसे बड़ा अखाडा माना जाता था।

भरती होकर लड़ने की ताक़त भी उनमें न रही। गाँव के किसान, अपने पर लदे हुए बोझ की वजह से ज्यादा गरीब होते गये। यही हाल शहर के लोगो का भी हुआ। लेकिन सम्राट शहर के लोगो को खुश रखना चाहते थे, जिससे कि वे कोई झगड़ा-बखेड़ा खड़ा न करे। इसके लिए रोम के लोगो को मुफ्त रोटियां दी जाती थीं, और उनके मनोरंजन के लिए सरकसो में खेल-तमाशे भी मुफ्त में दिखाये जाते थे। इस तरह वे खुश रक्खे जाते थे। लेकिन ये मुफ़्त की रोटियाँ सिर्फ चन्द जगहों में ही बांटी जा सकती थी, और उसके लिए मिस्र जैसे मुल्को की गुलाम प्रजा को बेहद तकलीफ़ और मुसीबत उठानी पड़ती थी क्योंकि उनसे मुफ्त का आटा लिया जाता था।

चूंकि रोमन लोग आसानी से फौज में भरती नहीं होते थे, इसलिए साम्राज्य के बाहर के लोग, जिन्हें रोमन 'बर्बर' कहते थे, सेना में लिये जाते थे। इस तरह रोम की सेनायें ज्यादातर उन लोगो की हो गईं जो रोम के 'बर्बर' दुश्मनो के दोस्त या रिश्तेदार थे। सरहदों पर ये 'बर्बर' जातियाँ बराबर रोमनो को दबाती और घेरती जाती थीं। ज्यों-ज्यों रोम कमजोर होता गया, बर्बर लोग ज्यादा मज़बूत और उद्दण्ड होने लगे। पूरब में ख़ास तौर से ख़तरा था। और चूंकि यह सरहद रोम से दूर थी, इसकी रक्षा करना सरल नहीं था। आगस्टस सीज़र के तीन सौ बरस बाद, कांस्टेण्टाइन नाम के एक सम्राट ने एक ऐसा महत्वपूर्ण काम किया, जिसका आगे चलकर बहुत ही व्यापक नतीजा निकला। वह साम्राज्य की राजधानी रोम से हटा कर पूरब को लेगया। काला सागर और भूमध्यसागर के बीच, बास्फ़रस के किनारे पर बसे हुए बिज़ैंटियम नामके पुराने शहर के पास, उसने एक नया शहर बसाया, जिसका नाम उसने अपने नाम पर कांस्टेण्टिनोपुल—कुस्तुन्तुनिया—रक्खा। कुस्तुन-तुनिया या नया रोम रोमन साम्राज्य की राजधानी बन गया। आज भी एशिया के कई हिस्सो में कुस्तुन्तुनिया को रोम या रूम कहते हैं।

: ३३ :

रोमन साम्राज्य का उच्छेद

२४ अप्रैल, १९३२

आज भी हम रोमन साम्राज्य का सिंहावलोकन जारी रक्खेंगे। ईसवी सन् की चौथी सदी के शुरू—यानी सन् ३२६ में कांस्टेण्टाइन ने पुराने बिज़ैण्टियम के नज़दीक कुस्तुन्तुनिया शहर बसाया। और वह अपने साम्राज्य की राजधानी पुराने रोम से बास्फोरस के किनारे पर बसे हुए इस नये रोम को ले आया। नक़शे पर एक नज़र

डालो। तुम्हें मालूम होगा कि कुस्तुन्तुनिया का यह नया शहर योरप के किनारे खड़ा महान शक्तिशाली एशिया की ओर देख रहा है। यह दो महाद्वीपों के बीच एक कडी के समान है। बहुतेरे बडे-बडे तिजारती रास्ते, खुश्की के भी और समुद्र के भी, इसीसे होकर गुज़रते थे। राजधानी या नगर के लिए यह बहुत अच्छे मौके की जगह है। कान्स्टेन्टाइन ने चुनाव अच्छा किया। लेकिन इस राजधानी के परिवर्तन की उसे और उसके वारिसो को काफी कीमत चुकानी पडी। जिस तरह से पुराना रोम एशिया माइनर और पूर्वी हिस्सो से बहुत दूर पड़ता था, उसी तरह यह नई पूर्वी राजधानी भी ब्रिटेन और गाल-जैसे पश्चिमी देशो से बहुत दूर पड़ती थी।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ समय तक तो दो सयुक्त सम्राट हुआ करते थे; एक रोम में रहता था और दूसरा कुस्तुन्तुनिया में। इसका नतीजा यह हुआ कि साम्राज्य के दो हिस्से हो गये—एक पश्चिमी, दूसरा पूर्वी। लेकिन पश्चिमी साम्राज्य, जिसकी राजधानी रोम थी, बहुत दिनो तक इस धक्के को बरदाश्त न कर सका। जिन लोगो को वह 'बर्बर' कहता था, उनसे वह अपनी रक्षा न कर सका। गाथ नाम का एक जर्मन फ़िरका आया और उसने रोम को लूट लिया। इसके बाद वाडाल और हूण आये। और पश्चिमी साम्राज्य बैठ गया। तुम ने हूण शब्द सुना होगा। इस बात को साबित करने के लिए कि जर्मन लोग बहुत ज़ालिम और जंगली है, पिछले महायुद्ध में अग्रेज़ जर्मनो के लिए इस शब्द का इस्तैमाल करते थे। पर सच्ची बात तो यह है कि लडाई के ज़माने में हर आदमी का दिमाग फिर जाता है; सभ्यता या शराफ़त के बारे में जो कुछ वह सीखा होता है, वह सब भूल जाता है, और निर्दय एवं जंगली-सा व्यवहार करने लगता है। जर्मन लोग भी इसी तरह व्यवहार करते थे और अंग्रेज तथा फ्रासीसी भी। दोनो में कोई फरक नही था।

इस तरह से हूण शब्द क्रूरता को ज़ाहिर करनेवाला एक भयंकर निंदात्मक शब्द बन गया है। यही हाल वाडाल शब्द का भी है। गालिबन ये हूण और वाडाल की कौमें बहुत कठोर और निर्दयी थी, और इन्होने बहुत नुक़सान पहुँचाया। लेकिन एक बात यहाँ न भूलनी चाहिए कि इनके बारे में हमें जो कुछ हाल मालूम होते हैं, इनके दुश्मन रोमन लोगो के लिखे हुए है, और कोई उनसे निष्पक्ष होकर लिखने की उम्मीद नही कर सकता। कुछ हो, गाथ, वाडाल और हूण लोगो ने पश्चिमी रोमन साम्राज्य को बालू की दीवार की तरह गिरा दिया। इन लोगों के इतनी आसानी से कामयाब हो जाने की एक वजह शायद यह है कि रोमन किसान साम्राज्य की मातहती में बहुत मुसीबत में थे। उन पर इतना टैक्स था, और वे इतने ज्यादा क़र्ज

में डूबे हुए थे, कि उनका किसी भी परिवर्तन का स्वागत करने को तैयार हो जाना बिल्कुल स्वाभाविक था, जैसे आज गरीब हिन्दुस्तानी किसान अपनी भयंकर गरीबी और मुसीबत से बचने के लिए किसी भी तकलीफ़ का स्वागत करने को तैयार होगा।

इस तरह रोम का पश्चिमी साम्राज्य नष्ट हो गया। कुछ सदियों के बाद यह फिर दूसरी शक्ल में उठा; पूर्वी साम्राज्य ज्यो का त्यों कायम रहा; हालांकि हूण और दूसरी कौमों के हमलो का मुकाबिला करने में इसको बहुत तकलीफ़ें उठानी पडी। यही नहीं कि यह साम्राज्य इन हमलों से अपनी रक्षा कर सका हो, बल्कि अरबों, और बाद को तुर्को, से बराबर लड़ाई चालू रहते हुए भी यह सदियो तक चलता रहा। ग्यारहसौ वर्षो के आश्चर्यजनक अर्से तक यह क़ायम रहा। आखिरकार ई० सन् १४५३ में, इसका पतन हो गया और कुस्तुन्तुनिया पर ओटोमन या उस्मानली तुर्को ने कब्जा कर लिया। उस वक्त से आज तक करीब पांच सौ वर्षो से कुस्तुन्तुनिया या इस्ताम्बुल तुर्को के कब्जे में है। उस जगह से तुर्क लोगो ने बराबर योरप पर हमला किया है और वियेना की दीवारो तक पहुँचे है। पिछली सदियो में ये लोग धीरे-धीरे पीछे हटा दिये गये, और बारह वर्ष गुजरे, महायुद्ध में हारने के बाद-कुस्तुन्तुनिया का शहर भी करीब-करीब तुर्कों के हाथ से निकल गया था। शहर पर अंग्रेजों का कब्जा था और तुर्की सुलतान अंग्रेजो के हाथ की कठपुतली हो रहा था। लेकिन एक बहुत बड़ा नेता, जिसका नाम मुस्तफा कमाल पाशा है, अपनी कौम को बचाने के लिए सामने आया और एक बहादुराना लड़ाई के बाद वह सफल हुआ। आज टर्की प्रजातंत्र है और सुल्तान हमेशा के लिए खतम हो गये है। कमाल पाशा इस प्रजातत्र के प्रमुख है। कुस्तुन्तुनिया जो पन्द्रहसौ बरस तक पूर्वीय रोमन साम्राज्य और फिर तुर्को की राजधानी रह चुकी है, अब तुर्की राज्य का एक हिस्सा है, उसकी राजधानी नहीं। तुर्को ने इस शहर की राजसी स्मृतियो से अपने को दूर रखना ही मुनासिब समझा और अपनी प्रजातंत्र की राजाधानी एशिया माइनर के अन्दर अंकारा या अंगोरा को बनाया।

हम लोग करीब दो हजार वर्ष के जमाने से तेजी के साथ गुजर गये और कुस्तुन्तुनिया के बसने के बाद, और रोजन साम्राज्य की राजधानी इस नये शहर में आने के बाद जो तब्दीलियां एक-एक करके होती रहीं उनको तेजी के साथ देख गये, लेकिन कान्स्टेन्टाइन ने एक और अद्भुत बात की। वह ईसाई हो गया, और चूंकि वह सम्राट था, इसलिए इसका मतलब यह हुआ कि ईसाई धर्म साम्रज्य का राज-धर्म बन गया। ईसाई धर्म की हैसियत में इस तब्दीली का एकबारगी आजाना और उसका एक पीड़ित मजहब से राजधर्म बन जाना, एक बडी अजीब बात हुई होगी। लेकिन इस

तब्दीली की वजह से ईसाई धर्म को बहुत ज्यादा फायदा नहीं पहुँचा। ईसाइयो के मुख्तलिफ सम्प्रदायो ने आपस में झगड़ा शुरू कर दिया। आखिर में दो हिस्सों—लैटिन और यूनान—में फूट हो गई। लैटिन हिस्से का केन्द्र रोम था और रोम का बिशप इसका अध्यक्ष समझा जाता था। बाद को यही रोम का पोप हो गया। यूनानी विभाग का केन्द्र कुस्तुन्तुनिया था। लैटिन चर्च उत्तर और पश्चिम योरप में फैल गया और उसे रोमन कैथोलिक चर्च कहने लगे। यूनानी चर्च का नाम कट्टर (आर्थोडाक्स) चर्च पड़ गया। पूरब के रोमन साम्राज्य के नष्ट होने के बाद रूस ही एक खास मुल्क बचा जिसमें आर्थोडाक्स चर्च का बोलवाला था। अब रूस में बोलशेविज्म की स्थापना होने के कारण इस चर्च की, या किसी भी चर्च की, कोई भी सरकारी हैसियत नही रही।

मैंने पूर्वी रोमन साम्राज्य का जिक्र किया है, लेकिन इस साम्राज्य का रोम से कोई सम्बन्ध नही था। इस साम्राज्य की भाषा लैटिन नही बल्कि यूनानी थी। एक अर्थ में इसे सिकन्दर के यूनानी साम्राज्य का सिलसिला कह सकते है। इस साम्राज्य का पश्चिमी योरप से भी कोई सम्पर्क नहीं था; हालाकि बहुत दिनो तक इस साम्राज्य ने पश्चिमी देशो के इस हक को मंजूर नहीं किया कि वे इससे आजाद रहें। फिर भी पूर्वी साम्राज्य ने रोमन लफ्ज नहीं छोड़ा, और यहा के लोग रोमन कहलाते रहे, गोया इस लफ्ज में कोई जादू रहा हो। इससे ज्यादा ताज्जुब की बात यह हुई कि रोम नगर ने, साम्राज्य की राजधानी के पद से गिर जाने पर भी, अपना रौब नहीं खोया, यहांतक कि बर्बर लोग भी, जो इसे विजय करने के लिए आये थे, हिचकते थे और इसके प्रति सम्मान का व्यवहार करते थे। ठीक है, बड़े नाम में और खयाल में ऐसी ही शक्ति होती है।

साम्राज्य खोकर रोम ने एक नये किस्म का साम्राज्य बनाना शुरू किया; लेकिन यह बिलकुल दूसरे किस्म की चीज थी। कहा जाता था कि ईसा के शिष्य पीटर रोम आये थे और वह यहाँ के पहले बिशप हुए थे, इसकी वजह से बहुत से ईसाइयो की नजरो में इस शहर को खास पवित्रता मिल गई और रोम का बिशप पद बड़े महत्व का हो गया। रोम का बिशप दूसरे बिशपो की तरह ही होता था लेकिन जब सम्राट कुस्तुन्तुनिया चले गये, तब इनका महत्व बढ़ गया। इनके ऊपर हावी होनेवाला कोई न रहा और पीटर की गद्दी पर बैठनेवाले की हैसियत से ये सब बिशपों के प्रधान समझे जाने लगे। बाद को ये पोप कहलाये, और तुम जानती हो कि पोप आज तक बने हुए है और रोमन कैथोलिक चर्च के प्रमुख होते हैं।

यह एक ताज्जुब की बात है कि रोम चर्च और यूनानी आर्थेडाक्स चर्च में

फूट पड़ने की एक वजह मूर्तिपूजा का प्रश्न था। रोमन चर्च खास तौर से ईसा की माता मेरी और ईसाई धर्म के सन्त-महात्माओ की मूर्तियो की पूजा को प्रोत्साहन देता था। आर्थोडाक्स चर्च इसका कट्टर विरोधी था।

रोम पर उत्तरी कौमो के सरदारो का कई पुश्तो तक क़ब्ज़ा और शासन रहा लेकिन वे भी अक्सर कुस्तुन्तुनिया के सम्राट की मातहती कबूल करते रहे। इस दरमियान रोम के बिशप की ताकत, धर्माध्यक्ष के रूप मे बढती गई। यहाँ तक कि उसने यह महसूस किया कि कुस्तुन्तुनिया का मुकाबिला करने के लिए हम काफी मजबूत हैं। जब मूर्ति-पूजा के सवाल पर झगड़ा हुआ तब पोप ने रोम को पूर्व से बिल्कुल अलग कर लिया। इस दरमियान बहुत सी ऐसी बाते हो गई थी, जिनका हम बाद को ज़िक्र करेगे। एक नया मज़हब इस्लाम अरब में पैदा हो गया था और अरब लोग सारे उत्तरी अफरीका और स्पेन को रौंद चुके थे और योरप के मर्मस्थल पर हमला कर रहे थे। उत्तर-पश्चिमी योरप में नये राज्य कायम हो रहे थे और अरबों का भयंकर आक्रमण पूर्वी रोमन साम्राज्य पर जारी था।

पोप ने फ्रैंक लोगो के एक बड़े नेता से मदद मांगी। ये फ्रैंक उत्तर की एक जर्मन जाति के लोग थे। बाद को फ्रैंको का सरदार कार्ल या चार्ल्स रोम का सम्राट बनाया गया। यह बिलकुल एक नया साम्राज्य था, लेकिन उन लोगो ने इसे रोमन साम्राज्य ही के नाम से पुकारा; बाद को इसका नाम 'पवित्र रोमन साम्राज्य' (Holy Roman Empire) हो गया। ये सिवाय रोमन के किसी साम्राज्य की कल्पना ही नहीं कर सकते थे, और यद्यपि शार्लमैन या महान् चार्ल्स का रोम से कोई सम्बन्ध नही था, फिर भी वह इम्परेटर, सीजर और अगस्टस बन गया। इस नये साम्राज्य को पुराने साम्राज्य का एक सिलसिला समझा गया, लेकिन एक शब्द इसमें और जुड़ गया और अब वह 'पवित्र' हो गया। यह पवित्र इसलिए था कि यह विशेष तौर से एक ईसाई साम्राज्य था और पोप इसका धर्म-पिता था।

इस जगह पर तुम्हे फिर विचारो की विचित्र ताकत का पता चलता है। एक फ्रैंक या जर्मन, जो मध्य योरप में रहता है, रोमन सम्राट बनता है। इस 'पवित्र' साम्राज्य का आगे आनेवाला इतिहास और भी आश्चर्यजनक है। साम्राज्य की सूरत में यह एक मामूली चीज़ थी। पूर्व का रोमन साम्राज्य, जिसकी राजधानी कुस्तुन्तुनिया थी, राज्य की हैसियत से जारी रहा; पर पश्चिमी साम्राज्य परिवर्तित होता, गायब होता और समय-समय पर फिर प्रकट होता रहा। दरअसल यह साम्राज्य भूत की तरह था, जिसका सिर्फ ईसाई-चर्च और रोमन नाम के ज़ोर से सैद्धान्तिक अस्तित्व था। यह साम्राज्य कल्पना की चीज थी, जिससे वास्तविकता का कोई ताल्लुक

नहीं था। किसीने, मेरा खयाल है शायद वाल्टेयर ने, पवित्र रोमन साम्राज्य की परिभाषा करते हुए कहा था कि, यह कुछ ऐसी चीज है, जो न तो पवित्र है, न रोमन है, न साम्राज्य है। जैसे किसीने एक दफा 'इण्डियन सिविल सर्विस' के बारे में, जिससे हम लोग इस देश में बद-किस्मती से अभी तक परेशान हैं, कहा था कि न तो यह इण्डियन (भारतीय) है, न सिविल (शिष्ट) है और न सर्विस (सेवा) है।

जो कुछ भी हो, पवित्र रोमन साम्राज्य का यह धोखा क़रीव एक हजार वर्ष तक केवल अपने नाम के बल पर क़ायम रहा, और आज से करीव सौ वर्ष से कुछ ही ज्यादा हुए, नेपोलियन के जमाने में, इसका हमेशा के लिए खातमा हो गया। फिर भी इसका खातमा वहुत गैर-मामूली और दिलचस्प नहीं हुआ। किसीने भी इसको खतम होते नहीं देखा, क्योंकि असल में वहुत दिनों से इसकी हस्ती ही नहीं थी। अन्त में इस भूत को दफ़न कर दिया गया। लेकिन हमेशा के लिए नहीं क्योंकि यह अनेक रूप में कैसर और जार और इसी तरह के नामों से बार-बार प्रकट होता रहा। ये सब चौदह बरस हुए पिछले महायुद्ध में दफ़ना दिये गये।

: ३४ :

विश्व-राज्य की भावना

२५ अप्रैल, १९३२

मुझे डर है कि इन चिट्ठियों को भेजकर अक्सर मैं तुम्हे परेशान कर रहा हूँ और थका रहा हूँ। खासकर रोमन-साम्राज्य सम्बन्धी पिछले दो खतों से तुम जरूर परेशान हो गई होगी। हजारों वर्षों और हजारो मीलो को पार करते हुए कभी मैं आगे बढ़ गया हूँ और कभी मुझे पीछे हटना पड़ा है। इसकी वजह से अगर तुम्हारे दिमाग में कुछ उलझन पैदा हो गई तो क़सूर मेरा ही है। पर हिम्मत मत हारो और बढ़ती चलो। अगर किसी जगह पर कोई बात जो मैं कहूँ और तुम्हारी समझ में न आवे तो तुम चिन्ता न करना, और आगे बढ़ती चलना। ये खत तुम्हें इतिहास पढ़ाने के लिए नहीं लिखे जा रहे हैं बल्कि इसलिए लिखे जा रहे हैं कि तुम्हें एक झलक मिल जाय और तुममें कुतूहल पैदा हो।

रोमन साम्राज्यों की बात सुनते-सुनते तुम जरूर थक गई होगी। मैं तो मानता हूँ कि मैं थक गया हूँ, लेकिन मैं चाहता हूँ कि आज और हम थोडी देर के लिए इनका साथ दें, और फिर कुछ दिन के लिए इनसे छुट्टी लेले।

तुम जानती हो कि आजकल राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की वहुत चर्चा होती

है। हिन्दुस्तान में आजकल हममें से करीब-करीब सभी आदमी कट्टर राष्ट्रवादी होते हैं। इतिहास में यह राष्ट्रीयता एक बिलकुल नई चीज है और इन खतों के दौरान में हम राष्ट्रीयता की शुरूआत और उसकी तरक्की का अध्ययन कर सकते हैं। रोमन साम्राज्यों के जमाने में इस किस्म की कोई भावना नहीं पाई जाती थी, यह समझा जाता था कि साम्राज्य एक बहुत बड़ा राज्य है, जो सारी दुनिया पर हुकूमत कर रहा है। आजतक कोई साम्राज्य या सल्तनत ऐसी नहीं हुई जिसने सारी दुनिया पर हुकूमत की हो, लेकिन भूगोल के अज्ञान और आमदरफ्त के साधनों की कमी और लम्बे सफर की कठिनाई की वजह से लोग पुराने जमाने में अक्सर यह समझ लेते थे कि ऐसा साम्राज्य भी होता है। इसलिए रोमन राज्य के साम्राज्य बनने के पहले से ही योरप में और भूमध्यसागर के आसपास के देशों में लोग उसे एक ऐसा महा-राष्ट्र (Supei State) समझते थे, जिसके, बाकी सब राज्य मातहत थे। इसका रौब इतना ज्यादा था कि एशिया माइनर के परगैमम प्रदेश तथा मिस्र को इन दोनों देशों के शासकों ने रोमन लोगों को भेंट कर दिया। ये समझते थे कि रोम सर्वशक्तिमान है और उसका कोई मुकाबिला नही कर सकता। लेकिन जैसा हमने बताया है कि प्रजातन्त्र होने की हालत में, और साम्राज्य की हालत में भी रोम ने भूमध्यसागर के मुल्कों के अलावा किसी और देश पर राज्य नही किया। उत्तर योरप के 'बर्बर' लोग इसकी जरा भी परवाह नही करते थे, और रोम भी इनकी परवाह नहीं करता था, लेकिन रोम के अधिकार की हद जो भी रही हो इसके पीछे विश्व-राज्य की भावना थी और इस भावना को पश्चिम के उस जमाने के अधिकांश आदमियों ने मंजूर कर लिया था। इसी खयाल की बुनियाद पर रोमन साम्राज्य इतने दिनो तक जिन्दा रहा। उस समय भी, जब उसमें कोई सार न रह गया था, उसका नाम और प्रताप बहुत बढ़ा हुआ था।

एक बडे राज्य का पूरी दुनिया पर हुकूमत करने का खयाल रोम तक ही सीमित नही था। यह खयाल चीन और हिन्दुस्तान में भी पुराने जमाने में मौजूद था। जैसा कि तुम्हे मालूम है चीनी राज्य अकसर रोमन साम्राज्य से ज्यादा विस्तृत रहा है। यह कैस्पियन समुद्र तक फैला हुआ था। चीन के सम्राट् 'स्वर्ग-पुत्र' कहलाते थे, और चीनी लोग इनको विश्व-सम्राट् यानी सारी दुनिया का राजा समझते थे। यह सच है कि कुछ कौमें और कुछ लोग ऐसे थे जो झगडे पैदा करते रहते थे और सम्राट् का हुक्म नहीं मानते थे, लेकिन वे जंगली समझे जाते थे, जैसे रोमन लोग उत्तर योरप के रहनेवाले को 'वर्वर' समझते थे।

इसी तरह से हिन्दुस्तान में भी तुम्हे बहुत पुराने जमाने से ही 'चक्रवर्ती'

राजाओ का जिक्र मिलता है। दुनिया के बारे मे उनका खयाल बिलाशक बहुत महदूद था क्योंकि हिन्दुस्तान ही इतना बड़ा मुल्क था कि उन्हे यही दुनिया मालूम होती थी, और हिन्दुस्तान की हुकूमत ही उनके लिए सारी दुनिया की हुकूमत थी। जो बाहर के थे वे जंगली या म्लेच्छ थे। पौराणिक राजा भरत, जिसके नाम पर हमारा देश 'भारतवर्ष' कहलाता है, इसी किस्म का चक्रवर्ती राजा कहा गया है। महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर और उनके भाइयो ने इसी चक्रवर्ती पद के लिए युद्ध किया था। अश्वमेध यज्ञ एक किस्म की चुनौती थी, और वह इसका सूचक था कि यज्ञ करनेवाला सारी दुनिया का राजा है। अशोक का मक़सद भी शायद चक्रवर्ती राज्य था। लेकिन पश्चात्ताप से धुलकर उसने सब युद्ध बन्द कर दिये। इसके बाद भी तुम्हे हिन्दुस्तान में कई ऐसे साम्राज्यवादी राजा मिलेगे—जैसे गुप्त-वंश के, जिनका उद्देश्य चक्रवर्ती राज्य कायम करना था। इसलिए हम यह देखते है कि पुराने जमाने में अकसर लोग सारी दुनिया का एक राज्य कायम करने का खयाल करते थे। इसके बहुत दिनों बाद राष्ट्रीयता आई और एक नये किस्म का साम्राज्यवाद पैदा हुआ। इन दोनो ने मिलकर दुनिया में काफी तबाही पैदा कर दी। आजकल भी विश्व-राज्य कायम करने की चर्चा होती रहती है, पर इसमें चक्रवर्ती साम्राज्य या महान् साम्राज्य की भावना नहीं है। अब न तो साम्राज्यों की जरूरत है, न सम्राटों की। अब तो एक विश्व-प्रजातन्त्र के किस्म की चीज चाहिए, जो दूसरी कौम, जाति, या वर्ग द्वारा होनेवाले एक कौम या राष्ट्र या वर्ग का शोषण रोके। यह कहना मुश्किल है कि निकट भविष्य में इस क़िस्म की कोई चीज होगी या नही, लेकिन दुनिया की हालत बुरी है। और इसकी बुराइयो को मिटाने का कोई दूसरा तरीका भी नही दिखाई देता।

मैंने उत्तर योरप के बर्बरो का बराबर जिक्र किया है। मैंने 'बर्बर' लफ्ज इस्ते-माल किया है क्योंकि रोमन लोगो ने इन्हे इसी शब्द (Barbarian) से याद किया है। यह जाति मध्य एशिया के खानाबदोशों और दूसरे कबीलों की तरह रोम और हिन्दुस्तान के अपने पडोसियो से, निश्चय ही कम सभ्य थी। लेकिन इन लोगो में ताकत ज्यादा थी, क्योंकि इनकी जिन्दगी खुली हवा मे गुजरती थी। बाद को ये लोग ईसाई हो गये और जब इन्होने रोम को फतह कर लिया तब भी उसके निवासियो के साथ बेरहम दुश्मनो की तरह व्यवहार नहीं किया। उत्तर योरप की आजकल की क़ौमें गाथ, फ्रैंक वग़ैरा इन्हीं जंगली जातियो की सन्तान हैं।

मैंने तुम्हे रोमन सम्राटों के नाम नही बताये। वहां बहुत से सम्राट हुए; पर कुछ को छोड़कर बाकी बहुत बुरे थे। कुछ तो निरे राक्षस ही थे। तुमने नीरो का

नाम जरूर सुना होगा। लेकिन बहुत-से तो नीरो से भी ज्यादा खराब हुए हैं। आइरीन नाम की एक स्त्री ने साम्राज्ञी बनने के लिए अपने लड़के को, जोकि सम्राट था, कतल कर दिया था। यह कुस्तुन्तुनिया की बात है।

रोम में एक ऐसा सम्राट भी हुआ है, जो दूसरो के मुकाबिले बहुत ऊँचा था। उसका नाम मार्क्स ओरेलियस एन्टोनिनस था। ऐसा समझा जाता है कि यह दार्शनिक या फिलासफर था और उसकी एक किताब, जिसमें उसके विचार और मनोभाव लिखे हुए है, पढ़ने के काबिल है। पर मार्क्स आरेलियस के लड़के ने, जो उसके बाद गद्दी पर बैठा, यह कमी पूरी करदी। वह रोम के अत्यंत धूर्त और बदमाश आदमियो में से एक हुआ है।

रोमन साम्राज्य के पहले तीन सौ बरस तक रोम पश्चिमी दुनिया का केन्द्र था। तब जरूर ही यह बहुत बड़ा शहर रहा होगा, जिसमें आलीशान इमारते रही होगी और लोग साम्राज्य के कोने-कोने से, और साम्राज्य के बाहर से भी, वहाँ आते रहे होगे।

बहुत से जहाज दूर-दूर के मुल्कों से नफीस चीजें, खाने की दुर्लभ वस्तुयें और कीमती चीजें लाते थे। कहते है, हर साल एक सौ बीस जहाजो का बेड़ा लाल समुद्र के एक मिस्री बन्दरगाह से हिन्दुस्तान जाता था। ये लोग ठीक उसी वक्त चलते थे जब बरसात की पुरवैया हवा चलती थी, इससे इनको बहुत मदद मिलती थी। ये ज्यादातर दक्षिण हिन्दुस्तान को जाते थे ओर कीमती माल लादकर मौसमी हवा की मदद से मिस्र वापस आ जाते थे। मिस्र से यह माल खुश्की और समुद्र के रास्ते से रोम भेज दिया जाता था।

लेकिन यह सब व्यापार अमीरो के फायदे के लिए ही था। चन्द आदमियो के ऐश के पीछे अनेक आदमियो की मुसीबते छिपी हुई थी। तीन सौ बरस से ज्यादा समय तक रोम पश्चिम में सबसे शक्तिमान शहर बना रहा, और बाद को जब कुस्तुन्तुनिया बसा, तो उसने इसके साथ महानता में साझा कर लिया। आश्चर्य की बात यह है कि इस लम्बे जमाने में भी, विचार-जगत् में इसने कोई ऐसी महान् चीज पैदा न की जैसी यूनान ने बहुत कम अर्से में ही कर दिखाई थी। बहुत-सी बातो में रोमन सभ्यता यूनानी सभ्यता की एक धुधली छाया मालूम होती है। हाँ, एक चीज ऐसी थी, जिसके बारे में, लोगो का विचार है कि रोमनो ने रास्ता दिखाया, और वह है कानून। आज भी हममें से कुछ ऐसे है, जिनको रोमन कानून पढने की मुसीबत बर्दाश्त करनी पड़ती है, क्योकि कहा जाता है कि योरप में कानून का बहुत सा हिस्सा रोमन कानून की ही बुनियाद पर बना है। मुझे याद है कि बहुत दिन हुए मुझे भी यह क़ानून पढ़ना पड़ा था।

अक्सर ब्रिटिश साम्राज्य की रोमन साम्राज्य से तुलना की जाती है। खासतौर से अंग्रेज लोग ऐसा करते हैं, क्योंकि उनको इसमें बहुत संतोष होता है। सारे साम्राज्य कम या ज्यादा एक तरह के होते हैं। बहुतो को चूसकर ये मोटे होते हैं। लेकिन रोमनो और अंग्रेजो में एक बात में बहुत ज्यादा समानता पाई जाती है और वह यह कि दोनों में कल्पना शक्ति की बिल्कुल कमी है। खूब बन-ठनकर, और अपने मुंह मियांमिट्ठू बनकर, और इस बात पर पूरा विश्वास करते हुए कि सारी दुनिया खासतौर से इन्हींके फायदे के लिए बनाई गई हैं, ये लोग बिना किसी परेशानी या शक के अपनी जीवन-यात्रा निश्चित होकर पूरी करते हैं। लेकिन अंग्रेज एक भली क़ौम है और यद्यपि हम उनसे लड़ते हैं और लड़ते रहेंगे, लेकिन हमें उनके अच्छे गुण न भूलना चाहिए, खासतौर से आज, जबकि उनकी कमजोरियाँ हिन्दुस्तान में इतनी ज्यादा प्रकट हो चुकी हैं।

: ३५ :

पार्थिया और सासानी

२६ अप्रैल, १९३२

अब हमें रोमन साम्राज्य और योरप को छोड़ कर दुनिया के दूसरे हिस्सो में चलना चाहिए। हमें अभी यह देखना है इस दर्मियान एशिया में क्या होता है और हिन्दुस्तान और चीन की कहानी भी जारी रखना है। दूसरे देश भी अब इतिहास के क्षितिज पर दिखलाई देने लगे हैं। उनके बारे में भी हमें कुछ जानना होगा। सच तो यह है कि जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे, वैसे-वैसे अनेक जगहों के बारे में इतना ज्यादा कहना जरूरी होगा कि शायद मैं कहीं घबराकर यह काम ही न छोड़ दूं।

मैंने अपने एक खत में यह कहा था कि रोमन प्रजातंत्र सेनाओ की पार्थिया में कैरी की लड़ाई में गहरी हार हुई थी। उस वक़्त मैंने ठहर कर यह नहीं बताया था कि पार्थियन लोग कौन थे और उन्होने उस मुल्क में, जहाँ आज ईरान और इराक बसे हुए हैं, कैसे एक राज्य क़ायम कर लिया था। तुम्हे यह तो याद होगा कि सिकन्दर के बाद उसके सेनापति सेल्यूकस और उसके वंशज एक साम्राज्य पर हुकूमत करते थे, जो पश्चिम में हिन्दुस्तान से एशिया माइनर तक फैला हुआ था। क़रीब तीन सौ बरस तक इनका बोलबाला रहा, जिसके बाद मध्य एशिया के एक कबीले ने, जो पार्थियन कहलाता था, इन्हे निकाल भगाया। फ़ारस या पार्थिया, जैसा कि वह उन दिनों पुकारा जाता था, के इन्ही पार्थियनो ने प्रजातंत्र के आखिरी

दिनों में रोमन सेना को हराया था और प्रजातंत्र के बाद क़ायम हुआ रोमन साम्राज्य कभी इन पार्थियन लोगों को पूरी तरह से हरा नहीं सका। ये लोग ढाई सदी तक पार्थिया पर हुकूमत करते रहे, जिसके बाद उस देश में आन्तरिक विप्लव पैदा हुआ और ये लोग भगा दिये गये। ईरानी लोग ख़ुद इन विदेशी शासकों के ख़िलाफ़ बगावत कर बैठे और उनकी जगह पर अपनी क़ौम और अपने मजहब का एक बादशाह बनाया। इस बादशाह का नाम 'आर्देशेर प्रथम' था। इसके वंश को सासानी वंश कहते हैं। आर्देशेर जरथुस्त धर्म का कट्टर अनुयायी था, और तुम्हें याद होगा कि यही पारसियों का मज़हब है। आर्देशेर और मज़हबों के प्रति सहनशील नहीं था। रोमन साम्राज्य और सासानियों में बराबर लड़ाई होती रही। सासानियों ने एक रोमन सम्राट को भी गिरफ्तार कर लिया था। कई मौक़ों पर ईरानी फौजें क़रीब-क़रीब कुस्तुन्तुनिया के नज़दीक पहुँच गई थी, और एक दफ़ा उन्होंने मिस्र पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। सासानी साम्राज्य पारसी धर्म के प्रचार के उत्साह के लिए ही ख़ास तौर से मशहूर है। जब इस्लाम सातवीं सदी में आया, तब उसने सासानी साम्राज्य और उसके राज-धर्म को ख़तम कर दिया। जरथुस्त धर्म को माननेवाले बहुत से लोग, इस परिवर्तन की वजह से और सताये जाने के डर से, अपना मुल्क छोड़ कर हिन्दुस्तान आये। हिन्दुस्तान ने इनका स्वागत किया, जैसा वह उन सब का, जो इसके पास आश्रय लेने आये, हमेशा करता रहा है। हिन्दुस्तान के पारसी इन्ही ज़रथुस्तियो के ख़ानदान के है।

जुदे-जुदे धर्मों के साथ व्यवहार करने के मामले में अगर हम हिन्दुस्तान की दूसरे मुल्को से तुलना करते है तो एक अजीब और आश्चर्यजनक बात मालूम होती है। बहुत सी जगहों पर, और ख़ास कर योरप में, तुम यह देखोगी कि पुराने जमाने में जो लोग राजधर्म (सरकारी मजहब) नही मानते थे, उनको सताया जाता था। क़रीब-क़रीब हर जगह इस सम्बन्ध में जोर-जबरदस्ती हुआ करती थी। तुम योरप में 'इनक्विजिशन'[१] और जादू-टोना करनेवाली औरतों के जलाये जाने का हाल पढ़ोगी। लेकिन हिन्दुस्तान में पुराने जमाने में हर एक मजहब को पूरी

१. इनक्विज़िशन—ईसाईधर्म के रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के सरक्षण में स्थापित धार्मिक न्यायालय। इसका काम धार्मिक अविश्वास को रोकना और धर्म के सम्बन्ध मे नये विचार फैलानेवालो को दण्ड देना था। पहले यह फ्रास मे स्थापित हुआ और बाद को इटली, स्पेन, पुर्तगाल, जर्मनी इत्यादि मे भी फैल गया। मामूली-मामूली स्वतत्र विचारो के लिए इसमे लोगो को ज़िन्दा जला दिया जाता था। इसकी रोमाचकारी कथा 'सस्ता साहित्य मडल' द्वारा प्रकाशित 'नर-मेध' नामक पुस्तक मे पढिए। उन्नीसवी सदी में इसका खातमा हुआ।

आज़ादी थी। हिन्दू और बौद्ध धर्म का मामूली झगड़ा पश्चिमी देशों के धार्मिक मत-मतान्तरो के भयंकर झगडो के मुकाबिले में कुछ भी नही है। यह बात याद रखने लायक है, क्योंकि बदकि़स्मती से हाल ही में हमारे यहाँ मज़हबी और साम्प्रदायिक फ़िसाद हो चुके हैं, और कुछ लोग, जिन्हें इतिहास का ठीक ज्ञान नही है, समझते हैं कि हिन्दुस्तान की यही दशा पिछले कई युगों से चली आ रही है। यह बिल्कुल गलत बात है। ये दंगे-फसाद तो हाल के ज़माने में पैदा हुए हैं। तुम्हें मालूम होगा कि इस्लाम की पैदायश के बाद कई सौ बरसों तक मुसलमान लोग हिन्दुस्तान के लगभग सभी हिस्सो में बसे थे और अपने पडोसियो के साथ बिल्कुल शांतिपूर्वक मिलजुल कर रहते थे। जब वे व्यापार के लिए आये तो इनका स्वागत किया गया और इनको यहीं बस जाने के लिए प्रोत्साहन दिया गया। लेकिन यह तो मैं आगे की बात कहने लगा।

इस तरह हिन्दुस्तान ने ज़रथुश्तो का स्वागत किया। कई सौ बरस पहले हिन्दुस्तान ने बहुत से यहूदियो का भी स्वागत किया था, जो रोम से ईसाई सन् की पहली सदी में, अत्याचार से त्रस्त होकर यहां भाग आये थे।

ईरान में सासानी शासन के ज़माने में, सीरिया के पामीर नाम की जगह में एक रेगिस्तानी राज्य भी मौजूद था और कुछ दिन इसकी शान भी रही है। सीरियन रेगिस्तान के बीच में पामीर व्यापार की एक मंडी थी। इसके विशाल खंडहर, जो आज भी दिखाई देते हैं, अपनी आलीशान इमारतो की कहानी कहते हैं। जिनोबिया नाम की एक स्त्री भी इस राज्य की रानी हुई है। लेकिन रोमन लोगो ने इसे हरा दिया। उसके साथ असभ्यता का सलूक किया और ज़ंजीरो में बाँध कर उसे रोम ले गये।

ईसाई सन् के शुरू में सीरिया एक सुन्दर देश था। नये अहदनामे से हमें इसके बारे मे कुछ बातें मालूम होती है कुशासन और बद-इन्तज़ामी के होते हुए भी इस मुल्क में बडे-बडे शहर और बहुत घनी आबादी थी; उसमें बडी-बडी नहरें थीं और व्यापार भी खूब फैला हुआ था। लेकिन बराबर लड़ाइयो में फँसे रहने और कुशासन के कारण छ. सौ बरसो के अन्दर यह क़रीब-क़रीब वीरान हो गया। बडे शहर उजड़ गये और पुरानी इमारतें खंडहर हो गईं।

अगर तुम हिन्दुस्तान से योरप हवाई जहाज़ पर उड़ कर जाओ तो पामीर और बालबक के खंडहर तुम्हे रास्ते में पडेंगे। तुम्हे वह जगह भी दिखाई देगी, जहां बैबिलन बसा हुआ था और बहुत सी दूसरी जगहे भी मिलेंगी, जो इतिहास में मशहूर हैं, लेकिन जिनका नामोनिशान भी अब नहीं पाया जाता।

: ३६ :

दक्षिण भारत की बस्तियाँ

२८ अप्रैल, १९३२

हम लोग दूर चले गये। हमें अब फिर हिन्दुस्तान की तरफ लौट चलना चाहिए और इस बात को मालूम करने की कोशिश करनी चाहिए कि उस समय इस मुल्क में हमारे पूर्वज क्या कर रहे थे। कुशानो के सरहदी साम्राज्य के बारे में पिछले खतो में जो मैं कह गया हूँ, उसे तुम भूली न होगी। यह एक बहुत-बड़ा बौद्ध साम्राज्य था, जिसमें पूरा उत्तरी हिन्दुस्तान और मध्य एशिया का एक बहुत बड़ा हिस्सा भी शामिल था। इसकी राजधानी पुरुषपुर थी, जिसे आजकल पेशावर कहते है। तुम्हे शायद यह भी याद होगा कि उस समय हिन्दुस्तान के दक्षिण में एक बहुत बडी रियासत और थी, जो एक समुद्र के किनारे से दूसरे समुद्र के किनारे तक फैली थी। इसको आन्ध्रराज्य कहते थे। करीब तीन सौ साल तक कुशान और आन्ध्र लोग खूब फूले-फले, लेकिन ईसा की तीसरी सदी के बीच में वे दोनो साम्राज्य खतम हो गये थे। कुछ समय के लिए हिन्दुस्तान में छोटे-छोटे राज्यो का जाल बिछ गया लेकिन सौ साल के अन्दर ही पाटलिपुत्र में एक दूसरा चन्द्रगुप्त पैदा हुआ, जिसने उग्र हिन्दू साम्राज्यवाद के युग की बुनियाद डाली। लेकिन इन गुप्त लोगों तक जाने के पहले यह मुनासिब मालूम होता है कि हम पहले दक्षिणी हिन्दुस्तान के उन साहसिक कार्यों के आरम्भ की ओर अपनी नजर डाले, जिनकी बदौलत पूर्वी दुनिया के सुदूर टापुओं में भारत की कला और सभ्यता का प्रचार हुआ।

हिमालय और दो समुद्रो के बीच में हिन्दुस्तान की जो शक्ल है, वह तुम्हे अच्छी तरह याद होगी। इसका उत्तरी हिस्सा समुद्र से बहुत दूर है। पुराने जमाने में इस उत्तरी हिस्से का खास काम यह रहा है कि यह हिन्दुस्तान का खुश्की सरहद बना रहा, जिसपर से होकर दुश्मन और हमला करनेवाले यहाँ आया करते थे। लेकिन हिन्दुस्तान के पूरब, पश्चिम और दक्षिण में समुद्र के बहुत बडे-बडे किनारे हैं। दक्षिण की ओर हिन्दुस्तान तंग होता जाता है, यहाँ तक कि आखिर में कन्याकुमारी में जाकर पूरब और पश्चिम दोनों दिशायें मिल जाती है। समुद्र के पास रहनेवाले ये हिन्दुस्तानी स्वभावतः समुद्र से दिलचस्पी रखते थे और यह भी उम्मीद की जा सकती है कि उनमें से बहुत-से समुद्र में एक जगह से दूसरी जगह को जानेवाले रहे होगे। मैं तुम्हे पहले ही बता चुका हूँ कि बहुत ही पुराने समय से दक्षिणी हिन्दुस्तान

का पश्चिमी दुनिया से व्यापारी सम्बन्ध चला आता था। इसलिए यह जानकर कोई ताज्जुब नहीं होना चाहिए कि हिन्दुस्तान में आज से बहुत पहले जहाज बनते थे और यहाँ के रहनेवाले तिजारत और दूसरे साहस-पूर्ण कार्यों के लिए समुद्र-यात्रा किया करते थे। लोगो का खयाल है कि गौतम बुद्ध के जमाने में विजय हिन्दुस्तान से सीलोन (लंका) गया था और उसे जीत लिया। अजन्ता की गुफाओं में एक तस्वीर है जिसमें विजय समुद्र पारकर सीलोन जा रहा है और घोडे और हाथी जहाजों में उस पार पहुँचाये जा रहे हैं। विजय ने लंका को सिंहल-द्वीप का नाम दिया था। सिंहल शब्द सिंह से निकला है जिसका अर्थ शेर होता है, और लंका में शेर की एक पुरानी कहानी भी मशहूर है, लेकिन मैं उसे भूल गया हूँ। मैं खयाल करता हूँ कि सीलोन नाम सिंहल से बिगड़कर बना है। दक्षिणी हिन्दुस्तान से लंका जाने में समुद्र का जो थोड़ा-सा टुकड़ा पड़ता है, उसका पार करना कोई मार्के का काम नहीं था। लेकिन हमें इस बात के बहुत काफी सबूत मिलते हैं कि हिन्दुस्तान में जहाज बनते थे, और हिन्दुस्तानी बंगाल से गुजरात तक के छिटके हुए बंदरगाहो से विदेशो के लिए, समुद्रपार करके, जाते थे। नैनी जेल से मैंने चन्द्रगुप्त मौर्य के मशहूर मन्त्री चाणक्य के अर्थशास्त्र के बारे में तुम्हे लिखा था। उसने इस अर्थशास्त्र में समुद्री सेना के बारे में भी कुछ लिखा है। चन्द्रगुप्त के दरबार के यूनानी दूत मेगस्थनीज ने भी इसका जिक्र किया है। इस तरह यह पता चलता है कि मौर्य-काल के शुरू में हिन्दुस्तान में जहाज बनाने काम बहुत बढ़ा-चढ़ा था। और जाहिर है कि जहाज इस्तैमाल किये जाने के लिए ही बनाये जाते हैं। इसलिए बहुत-से लोगो ने उन पर बैठकर समुद्रों को पार किया होगा। इन बातो को सोचकर और फिर यह सोचकर कि हमारे मुल्क में कुछ लोग ऐसे भी हैं जो समुद्र पार करने से डरते हैं और उसे धर्म के खिलाफ समझते हैं, आश्चर्य होता है। हम लोग ऐसे आदमियो को प्राचीन युग के अवशेष भी नहीं कह सकते, क्योंकि, जैसा कि तुम जानती हो, हमारा पुराना जमाना कहीं ज्यादा समझदार था। खुशकिस्मती से अब ऐसी असाधारण धारणायें बहुत-कुछ दूर हो गई हैं और इने-गिने लोगो ही पर अब उनका असर है।

उत्तरी हिन्दुस्तान के बजाय दक्षिणी हिन्दुस्तान स्वभावतः समुद्र की तरफ ज्यादा ध्यान देता था। विदेशी व्यापार ज्यादातर दक्षिण के साथ ही होता था। और तामिल भाषा की कवितायें यवन, सुरा, कलश और दीपकों के जिक्र से भरी हुई हैं। 'यवन' शब्द मुख्यतः ग्रीस (यूनान) के रहनेवालों के लिए इस्तैमाल होता था, लेकिन मोटे तौर पर यह सब विदेशियो के लिए था। दूसरी और तीसरी सदियों के आन्ध्रदेश के सिक्कों पर दो मस्तूलवाले बडे जहाज की तस्वीर बनी है। इससे यह

पता चलता है कि पुराने जमाने के आन्ध्र के रहने वाले जहाज बनाने और समुद्र के व्यापार में कितनी दिलचस्पी रखते थे ।

यह दक्षिण हिन्दुस्तान ही था जो उन साहस-पूर्ण कार्यों में आगे बढ़ा, जिनकी वजह से पूर्व के तमाम टापुओं में हिन्दुस्तानी बस्तियां या उपनिवेश बसाये जासके । इन औपनिवेशिक यात्राओं की शुरूआत ईसवी सन् की पहली सदी में हुई और कई सौ बरसों तक उनका सिलसिला जारी रहा । मलाया, जावा, सुमात्रा कम्बोडिया और बोर्नियो सब जगह दक्षिण के लोग जाकर बस गये और अपने साथ भारतीय कला और सभ्यता ले गये । बरमा, स्याम और हिन्दी-चीन में भी हिन्दुस्तानियों की बडी-बडी बस्तियाँ थीं । इन नई बस्तियों और नगरों के बहुत से नाम भी भारत से ही लिये गये थे, जैसे अयोध्या, हस्तिनापुर, तक्षशिला और गन्धार वगैरा। यह अजीब बात है कि इतिहास किस तरह अपनेको दुहराता है । अमेरिका में जाकर बसनेवाले ऐंग्लो-सैक्सन लोगों ने भी ऐसा ही किया था और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के शहर आज भी पुराने अंग्रेजी शहरों के नाम से प्रसिद्ध हैं। अमेरिका के सबसे बडे शहर न्यूयार्क का नाम भी उत्तरी इंग्लैण्ड के प्राचीन नगर 'यार्क' के नाम पर पड़ा।

इसमें शक नहीं कि नये उपनिवेश बसानेवाले ये भारतीय जहाँ-जहाँ गये, वहाँ के पुराने बाशिन्दों से बुरी तरह पेश आये, जैसा कि सभी नई बस्तियाँ बसानेवाले किया करते हैं । उन्होंने इन टापुओं के रहनेवालों को जरूर लूटा होगा और उनपर अधिकार जमाया होगा । लेकिन कुछ दिनों बाद ये लोग पुराने बाशिन्दों से बहुत-कुछ मिल-जुल गये होंगे । हिन्दुस्तान के साथ नियमित रूप से ताल्लुक बनाये रखना मुश्किल था । पूर्व के इन टापुओं में हिन्दू राज्य और हिन्दू साम्राज्य कायम हुए । बाद में वहाँ बौद्ध शासक पहुँचे और हिन्दुओं और बौद्धों में प्रभुता के लिए रस्साकशी हुई। विशाल या बृहत्तर भारत के इतिहास की यह एक लम्बी और दिलचस्प कहानी है। बडे-बडे खण्डहर अभी तक मिलते हैं । वे उन आलीशान इमारतों और मन्दिरों के सबूत हैं, जिनसे ये भारतीय उपनिवेश शोभित हुए थे । कम्बोज, श्री विजय, अंगकोर और मज्जापहित जैसे बडे-बडे नगर भारतीय निर्माताओं और कारीगरों ने वहाँ बनाये। हिन्दू और बौद्ध राज्य इन टापुओं में करीब चौदह सौ वर्ष तक कायम रहे । कभी ये प्रभुता के लिए आपस में लड़ते, कभी इनपर एकका अधिकार हो जाता तो कभी दूसरे का । और कभी वे एक-दूसरे को नष्ट भी कर देते थे । पन्द्रहवीं सदी में मुसलमानों ने इनपर अपना कब्जा जमा लिया । उनके बाद जल्द ही पुर्तगालवाले, स्पेनवाले, डच लोग और अंग्रेज आये । सबके अखीर में अमेरिकन पहुँचे । चीनवाले तो हमेशा से ही करीब के पडोसी रहे हैं । ये कभी-कभी दखल देते और इन राज्यों को

जीत लेने पर अक्सर उनके साथ दोस्तों की तरह रहते और आपस में एक-दूसरे को भेंट और तोहफ़े भी दिया करते थे। इसके साथ ही वे इन भारतीयो पर अपनी महान् सभ्यता और संस्कृति का असर भी बराबर डालते रहे।

पूर्व के इन हिन्दू उपनिवेशों में हमारे लिए दिलचस्पी की कितनी ही बातें हैं। सबसे ज्यादा महत्त्व की बात यह है कि इन आबादियों और उपनिवेशों को बसाने की संगठित कोशिश उस जमाने की दक्षिणी हिन्दुस्तान की एक प्रमुख सरकार ने की थी। पहले बहुत-से अन्वेषण और खोज करनेवाले वहाँ ख़ाली तौर से गये होंगे; फिर व्यापार बढ़ा होगा, तब कुटुम्ब-के कुटुम्ब और लोगों के गिरोह अपनी मर्ज़ी से वहाँ गये होंगे। कहा जाता है कि शुरू-शुरू में जो लोग वहां जाकर बसे वे कलिंग (उड़ीसा) और पूर्वी समुद्र-तट से वहां गये थे। शायद कुछ लोग बंगाल से भी गये होंगे, और एक ख़याल यह भी है कि कुछ गुजराती अपने देश से निकाल दिये जाने पर इन टापुओं में जाकर बस गये। मगर यह सब अन्दाज़ ही अन्दाज़ हैं। बसने वालो का मुख्य प्रवाह तामिल देश के दक्षिणी हिस्से पल्लव-प्रदेश से, जहां एक बडे पल्लव वंश का शासन था, इन टापुओ में पहुंचा। मालूम होता है कि इसी पल्लव सरकार ने मलाया में हिन्दुस्तानी वस्तियाँ बसानें का संगठित प्रयत्न किया होगा। शायद उत्तरी हिन्दुस्तान से बहुत से लोग दक्षिणी हिन्दुस्तान में बसने के लिए पहुच रहे होंगे, और इसकी वजह से दक्षिण की जमीन पर आबादी का बहुत बड़ा बोझ होगया होगा। पर वजह कुछ भी हो, हिन्दुस्तान से बहुत दूर अलग-अलग बिखरे हुए इन टापुओ में उपनिवेश बसाने की योजना समझ-बूझ कर बनाई गई थी, और इन सब जगहो में एक ही साथ बस्तियाँ बसाने की शुरूआत हुई थी। ये उपनिवेश हिन्दी-चीन, मलाया प्रायद्वीप, बोर्नियो, सुमात्रा, जावा और दूसरी जगहों में थे। ये सब हिन्दुस्तानी नामवाले पल्लव उपनिवेश थे। हिन्दी-चीन में जो आबादी थी, उसका नाम कम्बोज (जो आजकल कम्बोडिया कहलाता है) था। यह नाम गन्धार के, क़ाबुल की घाटी में बसे हुए, कम्बोज से चल कर इतनी दूर पहुंचा था।

चार या पाच सौ साल तक ये बस्तियाँ हिन्दू धर्म को अपनाये रहीं, पर बाद में धीरे-धीरे बौद्ध-धर्म फैल गया। बहुत पीछे इस्लाम पहुंचा और मलाया के एक हिस्से में फैल गया; बाकी हिस्सा बौद्ध ही बना रहा।

मलाया देश में साम्राज्य और राष्ट्र बनते-बिगड़ते रहे। लेकिन दक्षिण भारत के नये उपनिवेश बसाने की इन कोशिशों का असली नतीजा यह निकला कि दुनिया के इस हिस्से में भारतीय आर्य सभ्यता की नींव पड़ गई। कुछ हद तक मलाया के लोग आज भी हम लोगों की तरह इसी सभ्यता के बच्चे हैं। उन लोगों पर

दूसरे असर भी पड़े हैं। चीन का असर ख़ासतौर पर उल्लेखनीय है। मलेशिया[1] के जुदे-जुदे हिस्सों पर हिन्दुस्तानी और चीनी दो शक्तिशाली सभ्यताओं के असर की मिलावट देखने में बडी दिलचस्प है। कुछ तो ज्यादातर हिन्दुस्तानी होगये और कुछ में चीनी असर ज्यादा साफ़ दिखाई देता है। बरमा, स्याम, हिन्दी-चीन के मुख्य हिस्सों पर चीनी असर बहुत ज्यादा है, लेकिन मलाया में ऐसा नहीं है। जावा, सुमात्रा और दूसरे टापुओ में हिन्दुस्तानी असर ज्यादा साफ़ दिखाई देता है। हां, इन पर इस्लाम की हाल की कलई भी चढ़ी हुई है। लेकिन चीनी और हिन्दुस्तानी संस्कारों में कोई संघर्ष न था। वे एक दूसरे से बिलकुल जुदे थे, फिर भी दोनो ही बिना किसी दिक्क़त के साथ-साथ अपना काम करते रहे। क्या हिन्दू और क्या बौद्ध, दोनों ही धर्मों का जन्म हिन्दुस्तान में हुआ था। धर्म के मामले में चीन भी हिन्दुस्तान का कर्जदार था। मलेशिया की कला में भी हिन्दुस्तान का असर सबसे ज्यादा था, हिन्दी-चीन में भी, जहा चीनी असर बहुत ज्यादा था, इमारत बनाने की कला बिलकुल हिन्दुस्तानी ही थी। चीन ने महाद्वीप के इन देशो को शासन और जिन्दगी की सामान्य फिलासफ़ी के बारे में ज्यादा प्रभावित किया है। इसीलिए हिन्दी-चीन, बरमा और स्याम के लोग आज दिन हिन्दुस्तानियो से कम और चीनवालों से ज्यादा मिलते-जुलते दिखाई देते है। इसमें शक नहीं कि जाति-भेद के हिसाब से इनमें मंगोल ख़ून ज्यादा है और इसी वजह से, कुछ हदतक वे, चीनवालो से अधिक मिलते हैं।

जावा के 'बोरोबुदर' में आज हिन्दुस्तानी कारीगरो के बनाये हुए बडे-बडे बौद्ध-मंदिरों के खण्डहर देखे जा सकते हैं। इन मन्दिरो की दीवारो पर बुद्ध के जीवन की पूरी कहानी खुदी हुई है। और ये सिर्फ बुद्ध के ही नहीं, बल्कि उस जमाने की हिन्दुस्तानी कला की अनोखी यादगारें हैं। भारतीय प्रभाव और भी आगे बढ़ा। वह फिलीपाइन और फारमूसा तक जा पहुँचा। यह दोनो देश कुछ समय तक, सुमात्रा के हिन्दू श्रीविजय राज्य के भाग थे। उसके बहुत समय बाद फिलीपाइन पर स्पेन वालों की हुकूमत कायम हुई, और अब वह अमेरिका के कब्जे में है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने बार-बार फिलीपाइन वालो को आजादी देने का वादा किया; लेकिन जो चीज कोई पा जाता है, उसे छोड़ना मुश्किल होता है। फिलीपाइन की राजधानी मनिला है। कुछ दिन हुए वहां व्यवस्थापक सभा की एक नई इमारत बनी थी। इसके सामने वाले दरवाजे पर चार तस्वीरें बनी हैं, जो

१. मलेशिया—एशिया के दक्षिण-पूर्व भाग से आस्ट्रेलिया तक फैला हुआ द्वीप समूह जिसे ईस्टइडीज या मलाया आर्चिपेलेगो कहते हैं।

फ़िलीपाइन की सभ्यता की चार ख़ास धाराओं को बताती हैं। ये मूर्तियां प्राचीन भारत के महान् नीतिकार मनु और चीन के फिलासफर लाओ-त्से की है और दो मूर्तियाँ ऐंग्लो-सैक्सन क़ानून और न्याय और स्पेन की प्रतिनिधि हैं।

: ३७ :

गुप्त वंश के अन्तर्गत हिन्दू साम्राज्यवाद

२९ अप्रैल, १९३२

इधर दक्षिण हिन्दुस्तान के लोग विशाल समुद्रों को पार करके दूर-दूर जगहों पर बस्तियाँ और शहर बसा रहे थे, उधर उत्तर हिन्दुस्तान में अजीब हलचल मची हुई थी। कुशान साम्राज्य की ताकत और महानता खतम हो चुकी थी; वह दिन-दिन छोटा होता और मिटता जा रहा था। सारे उत्तर में छोटे-छोटे राज्य हो गये थे, जिनपर ज्यादातर शक और सीदियन या तुर्की वंश के लोग राज्य करते थे। ये लोग हिन्दुस्तान में उत्तर-पश्चिमी सरहद से आये थे। मैंने तुम्हे बताया है कि ये लोग बौद्ध थे और हिन्दुस्तान में शत्रु के रूप में हमला करने नहीं बल्कि बसने आये थे। मध्य एशिया के दूसरे कबीले, जिनको चीनी राज्य आगे बढ़ने को दबा रहा था, पीछे से इनको धकेल रहे थे। हिन्दुस्तान में इन लोगों ने ज्यादातर भारतीय आर्यों के आचार-विचार और रंग-ढंग को अपना लिया। ये लोग हिन्दुस्तान को अपनी सभ्यता, संस्कृति और धर्म की जननी मानते थे। कुशान लोगों ने भी बहुत दूर तक भारतीय आर्य-परम्परा का अनुसरण किया था। यही वजह थी कि वे बहुत दिनों तक हिन्दुस्तान में ठहर सके और उसके बड़े-बड़े हिस्सो पर राज्य कर सके। वे भारतीय आर्यों की तरह आचरण करने की कोशिश करते थे। वे चाहते थे कि इस देश के लोग यह भूल जायें कि वे विदेशी हैं। कुछ हद तक उनको इसमें कामयाबी भी हुई, लेकिन पूरी नहीं। क्षत्रियों के दिल में यह बात ख़ास तौर पर खटकती थी कि विदेशी लोग उनके ऊपर राज्य कर रहे हैं। इस विदेशी राज्य की मातहती में रहकर वे तिलमिला उठे थे। इस तरह हलचल बढ़ी और लोगों में क्षोभ पैदा होने लगा। अन्त में इन लोगो को एक क़ाबिल नेता मिल गया और उसके झण्डे के नीचे इन्होंने आर्यावर्त्त को आज़ाद करने का एक जिहाद—धर्मयुद्ध आरम्भ कर दिया।

इस नेता का नाम चन्द्रगुप्त था। इस चन्द्रगुप्त को वह दूसरा चन्द्रगुप्त न समझना, जो अशोक का दादा था। इस आदमी का मौर्य्य वंश से कोई ताल्लुक नहीं था। वह पाटलिपुत्र का एक छोटा राजा था। उस समय तक अशोक के वंशज रंगमंच

से गायब हो चुके थे। तुम्हें याद रखना चाहिए कि इस समय हम ईसवी सन् की चौथी सदी की शुरूआत में, यानी ई० सन् ३०८ में, पहुँच गये हैं। यह अशोक की मृत्यु के ५३४ बरस बाद की बात है।

चन्द्रगुप्त महत्वाकांक्षी और समर्थ राजा था। वह उत्तर के दूसरे आर्य्य राजाओं को अपनी तरफ़ मिलाने में और उनकी सहायता से एक संघ शासन कायम करने में लग गया। मशहूर और शक्तिशाली लिच्छवी जाति की कुमारी देवी से उसने अपना विवाह किया, और इस प्रकार उसने इस जाति की सहायता प्राप्त करली। इस प्रकार होशियारी के साथ ज़मीन तैयार कर लेने के बाद चन्द्रगुप्त ने हिन्दुस्तान के सारे विदेशी शासको के खिलाफ जिहाद की घोषणा करदी। क्षत्रिय और आर्य जाति के ऊँचे वर्ग के लोग, जिनसे विदेशियो ने अधिकार और ऊँचे पद छीन लिये थे, इस लड़ाई के पीछे थे। बारह बरस की लड़ाई के बाद चन्द्रगुप्त ने उत्तरी हिन्दुस्तान के एक हिस्से पर कब्ज़ा कर लिया, जिसमें वह हिस्सा भी शामिल था, जिसे आजकल युक्तप्रान्त कहते हैं। इसके बाद वह राजराजेश्वर की पदवी के साथ तख़्त पर बैठ गया।

इस तरह गुप्त राजवंश की शुरूआत हुई। यह दो सौ वर्ष तक कायम रहा। इसके बाद हूणो ने आकर इनको परेशान करना शुरू किया। यह ज़माना कट्टर हिन्दुत्व और राष्ट्रवाद का था। विदेशी शासक तुर्की, पार्थियन और दूसरे अनार्य जड़ से उखाड़ दिये गये थे और निकाल बाहर किये गये थे। इस प्रकार यहाँ हम जातीय विद्वेष को फैलता हुआ देखते है। उच्चवर्ग के भारतीय आर्य लोग अपनी कौम पर अभिमान करते थे और 'बर्बरो' और 'म्लेच्छो' को नफरत की निगाह से देखते थे। गुप्तो ने जिन भारतीय आर्य राज्यो को जीता, उनके साथ रिआयत की; लेकिन अनार्यो के साथ कोई रिआयत नही की गई।

चन्द्रगुप्त का लड़का समुद्रगुप्त अपने बाप से भी ज्यादा लडवैया था। वह बहुत बड़ा सेनापति था, और जब वह सम्राट हुआ तो उसनें सारे देश में, यहां तक कि दक्षिण में भी, सबको जीत कर अपनी विजय-पताका फहराई। इसने गुप्त साम्राज्य को इतना बढ़ाया कि वह हिन्दुस्तान के बहुत बडे हिस्से में फैल गया। लेकिन दक्षिण में इसकी हुकूमत नाम-मात्र की थी। उत्तर में उसने कुशान लोगो को हटाकर सिन्ध नदी के उस पार खदेड़ दिया था।

तुम्हे यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि उस वक्त एक कवि ने समुद्रगुप्त की विजय को संस्कृत श्लोको में बयान किया है और ये श्लोक अशोक के स्तम्भ पर, जो इलाहाबाद में है, खोदे गये थे।

समुद्रगुप्त का लड़का चन्द्रगुप्त द्वितीय भी एक बहादुर राजा था और उसने काठियावाड़ और गुजरात को जीत लिया, जो बहुत दिनों से एक शक या तुर्की राजवंश के शासन में चले आ रहे थे। इसने अपना नाम विक्रमादित्य रक्खा और इसी नाम से वह मशहूर है। लेकिन यह नाम भी, सीज़र की तरह, बहुत से राजाओं के लिए उपाधि हो गया, इसलिए भ्रम पैदा करता है।

क्या तुम्हे दिल्ली में कुतुबमीनार के पास एक बहुत बडी लोहे की लाट (खंभे) की याद है? कहा जाता है कि विक्रमादित्य ने इस लाट को विजय-स्तम्भ के रूप में बनवाया था। यह लाट कारीगरी का एक बढ़िया नमूना है। इसकी चोटी पर एक कमल का फूल है, जो गुप्त साम्राज्य का चिन्ह था।

गुप्त-युग हिन्दुस्तान में हिन्दू चक्रवर्ती राज्य का युग है। इस ज़माने में पुरानी आर्य-सभ्यता और संस्कृत विद्या का व्यापक रूप से पुनरुत्थान हुआ। यूनानी और मंगोलियन संस्कारो को, जो हिन्दुस्तानी ज़िन्दगी और संस्कृति में यूनानियों, कुशान और दूसरी जातियों के ज़रिये आगये थे, ज़रा भी प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था, बल्कि, असलियत तो यह है कि, भारतीय आर्य सिद्धान्तों पर ज़ोर दिया जाता और विदेशी संस्कारों को दबाया जाता था। संस्कृत राज-भाषा थी; लेकिन उन दिनो संस्कृत जनता की आम ज़बान नहीं रह गई थी। बोलने की ज़बान एक तरह से प्राकृत थी, जो संस्कृत से बहुत मिलती-जुलती थी। हालाँकि संस्कृत उस ज़माने की लोक-भाषा नहीं थी, फिर भी काफी प्रचलित थी। उसी समय में संस्कृत कविता, नाटक और भारतीय आर्य कलाओ का खूब विकास हुआ। उस महान् युग के बाद, जिसमें वेद और रामायण-महाभारत लिखे गये, संस्कृत साहित्य के इतिहास में शायद यही ज़माना है, जिसे सबसे ज्यादा सम्पन्न कह सकते हैं। महान् कवि कालिदास इसी ज़माने में हुए। बदकिस्मती से हममें से बहुत से लोग (और मै भी उनमें से एक हूँ) ज्यादा संस्कृत नहीं जानते और इसलिए अपनी इस अनमोल विरासत से महरूम हैं। मुझे उम्मीद है कि तुम इससे फायदा उठाओगी।

विक्रमादित्य का दरबार बहुत शानदार था, और इसमें उस युग के बडे-बडे लेखक और कलाकार इकट्ठा होते थे। क्या तुमने उसके दरबार के नव-रत्नों के बारे में नहीं सुना है? कालिदास उन नव-रत्नों में से एक थे।

समुद्रगुप्त अपने साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र से अयोध्या ले गया। शायद उसका यह खयाल था कि उसके ऐसे कट्टर भारतीय आर्य दृष्टिकोण रखनेवाले राजा के लिए अयोध्या, जिसे महाकवि वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य में अपनी अमर राम-कथा के साथ मिला दिया है, एक ज्यादा मुनासिब जगह होगी। गुप्तों द्वारा किया

जानेवाला आर्य-सभ्यता एवं हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान बौद्ध धर्म के प्रति स्वभावतः उदार न था । इसकी एक वजह यह थी कि यह आन्दोलन, एक हद तक, ऊँचे वर्ग का था। क्षत्रिय सरदार इसके पीछे थे, और बौद्ध-धर्म में लोक-तन्त्र की भावना अधिक थी। दूसरा कारण यह था कि बौद्ध-धर्म का महायान सम्प्रदाय के कुशान और उत्तर भारत के दूसरे विदेशी शासको से घनिष्ट सम्बन्ध था। लेकिन बौद्ध धर्म पर कोई ज़ुल्म नहीं किया गया। बौद्ध विहार कायम रहे, और ये ही उस ज़माने की बडी-बडी शिक्षा संस्थायें थीं । गुप्तों का सीलोन के राजाओ के साथ मित्रता का सम्बन्ध था और सीलोन में बौद्ध धर्म ख़ूब फैला हुआ था। सीलोन के राजा मेघवर्ण ने समुद्रगुप्त के पास कीमती उपहार भेजे और उसने सिंहाली छात्रों के लिए गया में एक विहार भी बनवाया था।

लेकिन भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा। यह ह्रास, जैसा मैंने तुमको पहले बताया है, इसलिए नहीं हुआ था कि ब्राह्मणो ने, या उस ज़माने की सरकार ने उसके ऊपर कोई बाहरी दबाव डाला, बल्कि इसलिए कि हिन्दू धर्म में उसे धीरे-धीरे हज़म कर लेने की ताकत थी।

इसी ज़माने में चीन का एक मशहूर यात्री हिन्दुस्तान में आया। ह्यूएनत्सांग नहीं, जिसके बारे में मै तुमको लिख चुका हूँ। इसका नाम फ़ाहियान था। यह हिन्दुस्तान में, बौद्ध की हैसियत से, बौद्ध धर्म की पुस्तको की तलाश में आया था। उसने लिखा है कि मगध के लोग ख़ुशहाल और सुखी थे; न्याय में उदारता थी और मौत की सज़ा नहीं दी जाती थी। गया वीरान और उजड़ा हुआ था; कपिलवस्तु जंगल हो चुका था; लेकिन पाटलिपुत्र के लोग अमीर, ख़ुशहाल और सदाचारी थे। कई बडे-बडे समृद्धिशाली बौद्ध विहार थे। खास-खास सड़कों पर धर्मशालायें थीं, जहाँ मुसाफ़िर ठहर सकते थे और जहां सरकारी ख़र्च से खाना दिया जाता था। बडे नगरों में ख़ैराती दवाख़ाने थे ।

हिन्दुस्तान में भ्रमण करने के बाद फाहियान सीलोन गया और वहां उसने दो बरस विताये। लेकिन उसके एक साथी पर, जिसका नाम ताओ-चिंग था, बौद्ध भिक्षुओं की शुद्धता का इतना असर पड़ा और हिन्दुस्तान उसे इतना पसन्द आया कि उसने यहीं रहने का निश्चय कर लिया। फाहियान तो जहाज़ से सीलोन से चीन चला गया, और कई साल की ग़ैरहाज़िरी के बाद, और बहुत सी घटनाओ का मुक़ाबिला करके, अपने घर पहुँचा।

चन्द्रगुप्त द्वितीय या विक्रमादित्य ने तेईस बरस राज्य किया। उसके बाद ४५३ ईसवी में स्कन्दगुप्त गद्दी पर बैठा। इसे एक नई आफ़त का सामना करना

पड़ा, जिसने अन्त में, महान् गुप्त साम्राज्य की कमर तोड़ दी। लेकिन इसके बारे में मै अपने अगले खत में लिखूंगा।

अजन्ता की गुफाओ की दीवारो पर बने हुए कई बढ़िया चित्र (Frescoes) और बडे-बडे कमरे तथा मंदिर गुप्त कला के नमूने हैं। जब तुम उन्हे देखोगी तो तुम्हें पता चलेगा कि ये कितने अद्भुत हैं। बदक़िस्मती से ये चित्र धीरे-धीरे मिट रहे हैं, क्योंकि बहुत दिनो तक ये धूप, बारिश वगैरा में खुले रहतेहुए कायम नहीं रह सकते।

तुमको यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि गुप्त सम्राटो की पत्नियो की उपाधि 'महादेवी' थी। इस प्रकार चन्द्रगुप्त की रानी महादेवी कुमारीदेवी कहलाती थीं।

अब यह सवाल उठता है कि जब गुप्त लोग हिन्दुस्तान में राज्य करते थे, तो दुनिया के दूसरे हिस्सो में क्या हो रहा था? चन्द्रगुप्त प्रथम कुस्तुन्तुनिया को बसानेवाले रोमन सम्राट कान्स्टेन्टाइन का समकालीन था। उत्तरकाल के गुप्त राजाओं के जमाने में रोमन साम्राज्य पूर्वी और पश्चिमी हिस्सों में बंट चुका था और पश्चिमी साम्राज्य को उत्तर के बर्बरो ने नष्ट कर दिया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस वक्त रोमन साम्राज्य कमजोर पड़ रहा था, भारत में एक बहुत ताक़तवर राज्य मौजूद था, जिसके बडे-बडे सेनापति थे और जिसकी फौजें बडी शक्तिशाली थीं। समुद्रगुप्त को प्राय: हिन्दुस्तान का 'नेपोलियन कहते हैं। लेकिन महत्वाकांक्षी होते हुए भी उसने भारत की सीमाओ के बाहर जाकर विजय प्राप्त करने की कोशिश नहीं की।

गुप्त युग जोरदार चक्रवर्तित्व और विजय का जमाना था। लेकिन हरेक मुल्क के इतिहास में इस तरह के साम्राज्य युग अनेक बार आते हैं। और समय की लम्बी दौड़ में इनका कुछ ज्यादा महत्व नहीं रह जाता। गुप्त युग की विशेषता, जिसके कारण वह भारत में कुछ गौरव के साथ याद किया जाता है, इस बात में है कि उसम कला और साहित्य का विस्मयकारी पुनरुत्थान हुआ।

: ३८ :

हूणों का हिन्दुस्तान में आना

४ मई, १९३२

नई आफत जो उत्तर-पश्चिम के पहाडों के उस पार से भारत पर आई वह हूणो की आफत थी। मैंने अपने पिछले ख़त में रोमन साम्राज्य का जिक्र करते हुए हूणो के बारे में लिखा था। योरप में उनका सबसे बड़ा नेता एटिला था, जो कई

सालो तक रोम और कुस्तुन्तुनिया में दहशत पैदा करता रहा। इन्ही कबीलों के सजातीय हूण, जो सफेद हूण के नाम से मशहूर थे, करीब-करीब उसी समय हिन्दुस्तान में आये थे। ये लोग भी मध्य एशिया के खानाबदोश थे। बहुत दिनों से वे हिन्दुस्तान की सरहदो पर मँडरा रहे थे और लोगों को सता रहे थे। जैसे जैसे उनकी तादाद बढ़ती गई, और शायद पीछे से और कबीले भी उन्हे खदेड़ रहे थे, उन्होने नियमित रूप मे हमले करने शुरू कर दिये।

स्कन्दगुप्त को, जो गुप्तवंश का पाँचवाँ राजा था, हूणो के हमले का सामना करना पड़ा। उसने उन्हे हराकर पीछे ढकेल दिया। लेकिन बारह वर्ष बाद फिर वे आ पहुँचे। धीरे-धीरे वे गन्धार और उत्तरी हिन्दुस्तान में फैल गये। उन्होने बौद्धो को तरह-तरह की तकलीफें दी और उनपर कई तरह के अत्याचार किये।

बरसो तक उनके खिलाफ़ लड़ाई होती रही होगी, लेकिन गुप्त-राजा उन्हे देश से निकाल न सके। हूणो की नई जमाते हिन्दुस्तान में बढ़ती चली आई और मध्यभारत तक में फैल गई। उनका मुखिया तोरमान राजा बन बैठा। वह बहुत बुरा था, लेकिन उसके बाद उसका लड़का मिहिरगुल आया। वह तो बिलकुल जंगली और राक्षस की तरह बेरहम था। कल्हण ने अपने कश्मीर के इतिहास 'राजतरंगिणी' में लिखा है कि मिहिरगुल का एक ख़ास दिल बहलाव यह था कि वह ऊँचे कगारो से हाथियो को खड्ड में ढकेलवा दिया करता था। अन्त में उसकी ज्यादतियों से आर्य वर्त्त उत्तेजित हो उठा। गुप्त-वंश के बालादित्य और मध्य हिन्दुस्तान के राजा यशोधर्मन के नेतृत्व में आर्यो ने हूणो को हराया और मिहिरगुल को गिरफ्तार कर लिया। लेकिन बालादित्य हूणो की तरह निर्दयी नही था। वह बहादुर था। उसने मिहिरगुल के साथ उदारता का व्यवहार किया। उसकी जान बख्श दी और उसे देश के बाहर चले जाने को कह दिया। मिहिरगुल जाकर काश्मीर में छिपा रहा और बाद को उसने बालादित्य पर, जिसने उसके साथ इतना अच्छा सलूक किया था, धोखे से हमला कर दिया।

लेकिन हिन्दुस्तान में हूणो की ताकत बहुत जल्द नष्ट हो गई। फिर भी हूणों की बहुत-सी सन्तति हिन्दुस्तान में रह गई और धीरे-धीरे आर्यो की आबादी में मिल गई। यह मुमकिन है कि मध्यभारत और राजपूताने की कुछ राजपूत जातियों में इन सफेद हूणों के खून का कुछ अंश हो।

हूणो ने उत्तरी हिन्दुस्तान में बहुत थोडे वक़्त तक—५० साल से भी कम राज्य किया। इसके बाद वे शान्ति के साथ बस गये। लेकिन हूणो की लड़ाई और उनकी भयंकरता का हिदुस्तान के आर्यो पर बहुत असर पड़ा। हूणो की जीवनचर्या

और राज्य करने के तरीके आर्यों से बिल्कुल जुदे थे। आर्य जाति उस समय तक भी आज़ादी की प्रेमी थी। उनके राजाओं तक को रिआया की मर्जी के सामने झुकना पड़ता था। उनकी देहाती पंचायतों के हाथ में बडी ताकत थी। लेकिन हूणो के आने से, और हिंदुस्तानियो के साथ मिल जाने से, आर्यो के रहन-सहन में फरक आगया और वे कुछ नीचे गिर गये।

बालादित्य महान गुप्तवंश का अन्तिम राजा था। ई० सन् ५३० में उसकी मृत्यु हुई। यह एक दिलचस्प और गौर करने लायक बात है कि शुद्ध हिंदू वंश का एक सम्राट बौद्ध-धर्म की ओर आर्कषित हुआ। उसका गुरु एक बौद्ध भिक्षु था। गुप्त काल कृष्ण की पूजा के फिर से प्रचलित होने के लिए मशहूर है। लेकिन इतने पर भी बौद्ध धर्म के साथ हिन्दुओं का कोई खास झगड़ा न था।

हम फिर देखते हैं कि गुप्त राज्य के २०० साल बाद उत्तरी हिन्दुस्तान में कई रियासते बन गई, जो किसी एक केन्द्रीय राज्य के मातहत न थीं। हाँ, दक्षिणी भारत में एक बहुत बडे राज्य का विकास होने लगा। पुलकेशिन नाम के एक राजा ने, जो रामचन्द्र का वंशज होने का दावा करता था, दक्षिण में एक साम्राज्य कायम किया, जो चालुक्य साम्राज्य के नाम से मशहूर है। पूर्वी द्वीप-समूहों के हिन्दुस्तानी बाशिंदो के साथ इन दक्षिणवालो का जरूर ही घनिष्ट संबंध रहा होगा और हिंदुस्तान तथा इन टापुओ के बीच बराबर आवागमन और तिजारत भी होती रही होगी। हमें यह भी पता चलता है कि हिन्दुस्तानी जहाज अक्सर ईरान को माल भरकर ले जाया करते थे। चालुक्य और ईरान के सासानी राजा एक-दूसरे के यहाँ दूत भी भेजा करते थे। ईरान के महान् सम्राट खुसरो द्वितीय के ज़माने में यह दूत-प्रथा अच्छी तरह चली।

: ३९ :

विदेशी बाज़ारों पर हिन्दुस्तान का क़ब्ज़ा

५ मई, १९३२

इस प्रकार हम देखते हैं कि इतिहास के इस प्राचीन युग में, जिस पर हम गौर कर रहे हैं, शुरू से अन्त तक, एक हजार वर्षों से भी ज्यादा समय तक, पश्चिम में योरप और पश्चिमी एशिया और पूर्व में ठेठ चीन तक हिन्दुस्तान का व्यापार खूब फैला हुआ था। ऐसा क्यों था ? सिर्फ इसलिए नहीं कि उस ज़माने में हिन्दुस्तानी बडे अच्छे नाविक या कारीगर थे, हालाकि इन बातों में उनके श्रेष्ठ होने

में कोई शक नहीं था। इसकी वजह यह भी नहीं थी कि वे बडे होशियार कारीगर थे हालांकि उनकी कारीगरी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। इन सब बातों ने मदद ज़रूर दी, लेकिन हिन्दुस्तान ने दूर-दूर के बाजारो पर जो कब्ज़ा जमाया था, उसकी ख़ास वजह यह थी कि उसने रसायन शास्त्र (केमेस्ट्री), ख़ासकर रंगसाज़ी, में बडी तरक़्की कर ली थी। उस जमाने के हिन्दुस्तानियों ने कपडे रंगने के पक्के रंग तैयार करने के ख़ास तरीके ढूंढ़ निकाले थे। उन्हे नील (इंडिगो) के पौधे से भी रंग बनाने का खास तरीका मालूम था। तुम देखोगी कि इंडिगो (नील) नाम ही इंडिया (हिन्दुस्तान) से निकला हं। यह भी मुमकिन है कि लोहे को अच्छी तरह तपाने और उसके अच्छे औजार बनाने की विद्या भी पुराने हिन्दुस्तानियों को मालूम थी। तुम्हे याद होगा, कि मैंने तुम्हे बताया था, कि सिकन्दर के हमलों की पुरानी ईरानी कहानियों में जहाँ-कही अच्छी तलवार या कटार का ज़िक्र आया है, वहाँ यह भी कह दिया गया है कि वह हिन्दुस्तान से आई थी।

चूंकि हिन्दुस्तान दूसरे देशो के मुक़ाबिले में इन रंगो और दूसरी चीजों को ज्यादा अच्छी तरह बना सकता था, इसलिए यह एक स्वाभाविक बात थी कि वह दुनिया के बाजारों पर कब्ज़ा करले। जिस आदमी या मुल्क को दूसरे आदमी या मुल्क की बनिस्बत बढ़िया औज़ार या किसी चीज को बनाने का अच्छा और सस्ता तरीका मालूम हं, वह आख़िर में दूसरे मुल्क को, जिसके पास न उतने अच्छे औज़ार हं, और न जिसे किसी चीज को बनानें का उतना अच्छा तरीक़ा ही मालूम हं, बाज़ार से निकाल देगा। और यही वजह है कि पिछले दो सौ बरसो में योरप एशिया के मुकाबिले में इतना आगे बढ़ गया है। नई खोजो और आविष्कारों ने योरप को नये-नये और शक्तिमान अस्त्र दिये हं और चीज़ो के बनाने के नये तरीकों की जानकारी करादी हं। इनकी मदद से उसनें दुनिया के बाजारों पर क़ब्ज़ा कर लिया और धनी तथा ताक़तवर हो गया। और भी दूसरे कारण थे जिन्होंने उसे मदद पहुँचाई। लेकिन इस वक़्त तो मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि तुम ग़ौर करो कि औज़ार कितनी ज़रूरी और क़द्र की चीज है। एक बार एक बडे आदमी ने कहा था कि आदमी एक औज़ार बनानेवाला प्राणी हं। और पुरानें जमाने से आज तक का मनुष्य जाति का इतिहास ज्यादा से ज्यादा कारगर औज़ार बनाने का इतिहास हं। प्रस्तर युग के पत्थर के तीर और हथौडों से लेकर आज की रेलो, भाप के इंजनों और भारी मशीनों को देखो। सच तो यह है कि जो कुछ भी हम करते हं उसमें औज़ारों की ज़रूरत पड़ती हं। औज़ारो के बिना हमारी हालत क्या होगी ?

औज़ार एक अच्छी चीज हं। इससे काम हल्का हो जाता हं। लेकिन औज़ार

का बुरा इस्तैमाल भी किया जा सकता है। रेती या आरी एक अच्छी और काम की चीज है, लेकिन एक नादान बच्चा उससे अपनेको नुकसान पहुँचा सकता है। चाकू एक बहुत जरूरी और काम की चीज है। हर स्काउट को चाकू रखना चाहिए। फिर भी एक बेवकूफ आदमी इसी चाकू से दूसरे की जान ले सकता है। इसमें बेचारे चाकू का क्या दोष है? कसूर तो उस आदमी का है, जिसने चाकू का गलत इस्तैमाल किया।

इसी तरह, खुद अच्छी होते हुए भी, आधुनिक मशीनों का दुरुपयोग किया गया है, और आज भी किया जा रहा है। लोगों के काम के बोझ को हलका करने के बजाय मशीनो ने अक्सर उनकी जिन्दगी को पहले से भी ज्यादा बुरा बना दिया है। लाखो आदमियो को आराम और सुख पहुँचाने के बजाय, जैसाकि उसे असल में करना चाहिए था, उसने बहुतो को उलटे मुसीबत में डाल दिया है। सरकारों के हाथ में उसने इतनी ज्यादा ताकत देदी है कि वे अपने युद्धो में लाखो का कत्ल कर सकती हैं।

लेकिन इसमें मशीन का कसूर नहीं, बल्कि उसके बुरे इस्तैमाल का दोष है। अगर बडी-बडी मशीनो का नियंत्रण गैर-जिम्मेदार लोगो के हाथों में न रहे, जो उससे सिर्फ़ अपने लिए रुपया पैदा करना चाहते है, बल्कि जनता के द्वारा और उनकी भलाई के लिए उनको काम में लाया जाय तो बहुत बड़ा फर्क पड़ जायगा।

इस तरह उन दिनो, आजकल की दशा के विपरीत, हिन्दुस्तान माल तैयार करने के तरीको में सारी दुनिया से आगे था। इसीलिए हिन्दुस्तानी कपडे, हिन्दुस्तानी रंग और दूसरी चीजें दूर के मुल्को में जाती थीं और वहाँ उनकी बड़ी मांग थी। इस व्यापार के अलावा दक्षिण भारत मिर्च और दूसरे मसाले बाहर भेजता था। ये मसाले पूर्व के टापुओ से भी आते थे और हिन्दुस्तान से होकर पश्चिम को जाते थे। रोम और पश्चिम में मिर्च की बडी कद्र और मांग थी। कहा जाता है कि एलैरिक, जो गोथ जाति का सरदार था, और जिसने ई० सन् ४१० में रोम पर अधिकार कर लिया था, ३०० पौंड मिर्च वहाँ से ले गया। यह सब मिर्च या तो हिन्दुस्तान से या हिन्दुस्तान से होकर रोम में गई होगी।

: ४० :

देशों और सभ्यताओं का उत्थान-पतन

६ मई, १९३२

चीन से अलग हुए अब हमें बहुत दिन हो गये। आओ, हम फिर वहाँ लौट चले, और अपने किस्से को आगे बढ़ावे और यह देखें कि, जब पश्चिम में रोम गिर

रहा था, और हिन्दुस्तान मे, गुप्त राजाओ के शासन में, राष्ट्रीय पुनरुत्थान हो रहा था, उस वक्त चीन मे क्या घटनायें घट रही थी। रोम के उठने या गिरने का असर चीन पर बहुत कम पड़ा। वे एक-दूसरे से बहुत दूरी पर थे। लेकिन मै तुमको पहले ही बता चुका हूँ कि चीनी राष्ट्र द्वारा मध्य एशिया के कबीलो को पीछे ढकेलने की नीति का नतीजा कभी-कभी योरप और हिंदुस्तान के लिए बहुत बुरा हुआ करता था। ये कबीले और दूसरे भी, जिन्हे वे निकाल देते थे, पश्चिम और दक्षिण की ओर बढ़ जाते थे, सल्तनतों और राज्यो को उलट-पलट देते थे और वहाँ गड़बडी फैला देते थे। इनमें से बहुत से कबीले पूर्वी योरप और हिन्दुस्तान में जाकर बस गये।

लेकिन रोम और चीन में सीधा संबंध भी था। दोनों एक-दूसरे के पास अपने राजदूत भेजते थे। इन राजदूतो के बारे में चीनी किताबो में जो ज़िक्र है, उससे पता चलता है कि पहले-पहल ई० सन् १६६ में रोम के सम्राट आन-टून ने चीन में राजदूत भेजा था। यह आन-टून उस मार्कस आरेलियस एण्टोनियस के अलावा और कोई नहीं है, जिसका ज़िक्र मै अपने एक ख़त में पहले कर चुका हूँ।

योरप में रोम का पतन एक मार्के की बात थी। यह सिर्फ एक शहर या एक साम्राज्य का पतन नही था। एक तरह से रोमन साम्राज्य कुस्तुन्तुनिया में बाद में भी बहुत दिनों तक बना रहा और इस साम्राज्य का भूत योरप के सिर पर क़रीब-क़रीब चौदह सौ वर्ष तक मंडराता रहा। लेकिन रोम का पतन एक महान् युग का अन्त था। इससे ग्रीस (यूनान) और रोम की पुरानी दुनिया का ख़ातमा हो गया। पश्चिम मे रोम के खण्डहरो पर एक नई दुनिया, एक नई सभ्यता और एक नई संस्कृति जन्म ले रही थी। शब्दो और वाक्यो में फँसकर हम ग़लत नतीजे पर चले जाते है, और चूँकि हम उन्ही शब्दो का प्रयोग दूसरी जगह देखते है, इसलिए हम यह भी समझने लगते है कि उनके माने भी वही होगे। रोम के पतन के बाद भी योरप रोम की ही भाषा में बात करता था; लेकिन उस भाषा के पीछे जो भाव थे, वे पहले के भावो से जुदे थे, और उनके माने में भी फर्क था। लोग कहते है कि आज के योरप के मुल्क ग्रीस और रोम के बच्चे है, और यह किसी हद तक ठीक भी है। लेकिन फिर भी यह एक भ्रम में डाल देनेवाली बात है। क्योकि जिस बात को यूनान और रोम जाहिर करते थे, उससे बिल्कुल जुदे भाव योरप के मुल्क जाहिर करते है। रोम और यूनान की पुरानी दुनिया बिल्कुल ही मिट गई। जो सभ्यता हजार या उससे भी ज्यादा बरसो में बनी थी, वह पक कर मुरझा गई। इसके बाद ही पश्चिमी योरप के अर्द्ध-सभ्य, अर्द्ध-बर्बर देश इतिहास के पन्ने पर दिखाई पड़ते है और धीरे-

धीरे एक नई सभ्यता और एक नई संस्कृति को जन्म देते हैं। उन्होंने रोम से बहुत कुछ सीखा, बहुत-सी बातें उन्होंने पुरानी दुनिया से लीं। लेकिन सीखने का यह सिल-सिला मुश्किल और मेहनत का था। सैकड़ों बरसों तक मालूम होता था कि योरप में सभ्यता और संस्कृति कहीं सोने चली गई है। अज्ञान और कट्टरता का अन्धकार छा गया था। इसीलिए इन सदियों को 'अंधकार का युग' भी कहते हैं।

इसकी वजह क्या थी? दुनिया पीछे की ओर क्यों लौटे, और सदियों की कड़ी मेहनत से इकट्ठा किया हुआ ज्ञान क्यों ग़ायब हो जाय या भूल जाय? ये बड़े-बड़े सवाल हैं, जो हममें से बड़े-बड़े बुद्धिमानों को भी चक्कर में डाल देते हैं। मैं उनका जवाब देने की कोशिश नहीं करूँगा। क्या यह ताज्जुब की बात नहीं है कि हिन्दुस्तान का, जो कभी ज्ञान और कार्य में इतना ऊँचा उठा हुआ था, इतनी बुरी तरह पतन हो जाय, और वह लम्बे युगों तक गुलाम बना रहे? या चीन, जिसका पुराना इतिहास इतना गौरवपूर्ण है, कभी ख़त्म न होने वाले लड़ाई-झगड़ों का शिकार हो जाय? शायद युगों का ज्ञान, जिसे आदमी थोड़ा-थोड़ा करके इकट्ठा करता है, एक साथ गायब नहीं हो सकता। लेकिन कभी-कभी हमारी आँखें बन्द हो जाती हैं, और हम कुछ भी नहीं देख सकते। खिड़की बन्द हो जाती है और अँधेरा छा जाता है। लेकिन बाहर और हमारे चारों तरफ रोशनी तब भी रहती है। और अगर हम अपनी आँखों को या खिड़कियों को बन्द करलें तो इसका मतलब यह नहीं कि रोशनी ही गायब हो गई।

कुछ लोगों का कहना है कि योरप में जो अन्धकार का युग आया था उसका कारण ईसाई धर्म था—ईसा का धर्म नहीं, बल्कि वह राजकीय ईसाई मत जो योरप में रोमन सम्राट कांस्टेण्टाइन के ईसाई होजाने पर फैल गया था। इन लोगों का कहना है कि चौथी सदी में कांस्टेण्टाइन के ईसाई मत इख़्तियार कर लेने से एक सहस्रवार्षिक नया ज़माना शुरू हुआ, "जिसमें विवेक जंजीरों से जकड़ा रहा; विचार गुलाम बन गया और विद्या ने कोई तरक्की नहीं की।" इसकी वजह से न सिर्फ़ जुल्म, कट्टरता और असहिष्णुता ने ही ज़ोर पकड़ा, बल्कि इसने लोगों के लिए विज्ञान या जिन्दगी के और रास्तों में आगे बढ़ना मुश्किल कर दिया। धार्मिक किताबें अक्सर आगे बढ़ने में रुकावट डालती हैं। वे हमें बताती हैं कि जिस ज़माने में वे लिखी गई थीं, उसमें दुनिया कैसी थी। वे हमें उस ज़माने के भाव और रस्म रिवाजों के बारे में बताती हैं। कोई हिम्मत नहीं कर सकता कि वह उन भावों और रस्म-रिवाजों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाये, क्योंकि वे एक पाक किताब में लिखी हैं। हालांकि दुनिया बिलकुल बदल जाती है; लेकिन हमें उन भावों और उन रस्म-रिवाजों

को बदली हुई हालत के मुताबिक़ बनाने का हक नहीं। इसका नतीजा यह होता है कि हम जमाने के लिए बेकार हो जाते है, और तभी मुसीबतें भी पैदा होने लगती हैं।

इसलिए कुछ लोग योरप में अन्धकार-युग लाने के लिए ईसाई मत को जिम्मेदार ठहराते हैं। दूसरे लोग हमसे यह कहते है कि उस अन्धकार-युग में ईसाई मत और ईसाई पादरी और मुल्ले ही थे, जिन्होने इल्म की रोशनी को जलाये रखा। उन्होने कला और चित्रकारी का काम जारी रखा, बेशकीमती किताबो की रक्षा की और उनकी नकलें कराईं।

इस तरह से लोग तर्क करते हैं। शायद दोनों की बातें ठीक हैं। लेकिन यह कहना कि रोम के पतन के बाद जितनी मुसीबते आईं उन सबकी वजह ईसाई मत है, एक हँसी की बात होगी। सच तो यह है कि रोम ख़ुद उन बुराइयों की वजह से गिर गया।

लेकिन मै बहुत दूर चला गया। मै जो बात तुम्हे बताना चाहता था, वह यह है, कि जहाँ योरप में अचानक सामाजिक पतन हो गया, और जहाँ अचानक इतना फर्क पड़ गया, वहां चीन या हिन्दुस्तान में इस तरह का कोई अचानक फ़र्क नहीं आया। योरप में हम एक सभ्यता का अन्त और दूसरी सभ्यता की शुरूआत देखते हैं, जो धीरे-धीरे बढ़कर आज की सभ्यता की शक्ल को पहुंच गई है। चीन में भी हम इसी तरह ऊंचे किस्म की सभ्यता और संस्कृति को बिना बीच में टूटे जारी रहते पाते हैं। अच्छे और बुरे जमाने तो आया-जाया करते ही हैं। अच्छे जमाने और बुरे राजे-महाराजे आते और जाते रहते है; राजवंश बदला करता है, लेकिन जो संस्कृति पहले से चली आती है, वह नही टूटती। जब चीन कई राज्यों में छिन्न-भिन्न होगया और आपस में लड़ता-भिड़ता रहा, उस समय भी वहाँ कला और साहित्य फूलते-फलते रहे। उस समय भी अच्छी और सुन्दर तस्वीरो का चित्रण होता रहा; सुन्दर कलश और अच्छी इमारते बनती रही। छपाई का इस्तैमाल होने लगा। चाय पीने का फ़ैशन शुरू हुआ और कविता में उसका वर्णन किया गया। इस प्रकार चीन में हमें एक अटूट शालीनता और कारीगरी दिखाई देती है, जो एक ऊची सभ्यता में ही मिल सकती है।

यही हालत हिन्दुस्तान में थी। यहाँ भी रोम की तरह कोई अचानक फ़र्क नहीं आया। यह ठीक है कि यहाँ भी अच्छे और बुरे दिन आये; ऊचे किस्म के साहित्य और कला की रचना के जमाने आये और साथ ही साथ विनाश और बरबादी के जमाने भी आये; लेकिन यहाँ की सभ्यता एक रफ़्तार से जारी रही और हिन्दुस्तान

से पूर्व के दूसरे देशों में भी फैल गई। उसने उन जंगलियों को भी सबक़ सिखाया और अपने में मिला लिया, जो इसे लूटने आये थे।

यह न सोचो कि मैं हिन्दुस्तान या चीन की बड़ाई पश्चिम को नीचा दिखा-दिखाकर कर रहा हूँ। आज दिन हिन्दुस्तान या चीन की हालत में कोई ऐसी बात नहीं है, जिसको लेकर कोई शान बघारता फिरे। यह अन्धे भी देख सकते हैं कि अपने प्राचीन गौरव के होते हुए भी आज वे दुनिया की जातियों के मुकाबिले में बहुत नीचे डूब गये हैं। अगर उनकी पुरानी सभ्यता की धारा एकाएक टूट नहीं गई है, तो इससे यह न समझना चाहिए कि इसमें कोई बुरे परिवर्त्तन भी नहीं हुए। अगर हम पहले ऊपर थे और आज नीचे हैं, तो यह साफ है, कि हम दुनिया की नीची सतह पर उतर आये हैं। हम अपनी सभ्यता की धारा अटूट रहने पर खुश हो सकते हैं, लेकिन जब वह सभ्यता ही पककर ख़त्म होगई, तो इससे हमें अब क्या सन्तोष हो सकता है? इससे तो यही अच्छा हुआ होता कि प्राचीनता से एकाएक हमारा सम्बन्ध टूट जाता। इससे हम जड़ से हिल जाते, और हममें नई ज़िन्दगी और नई ताक़त आजाती। आज दिन हिन्दुस्तान और दुनिया में जो घटनायें घट रही है, वे हमारे पुराने देश को हिला रही है, और उसे फिर जवानी और नई ज़िन्दगी से भर रही हैं।

मालूम होता है कि पुराने ज़माने में हिन्दुस्तान में जो ताक़त और सहन-शक्ति थी, उसकी वजह ग्राम-प्रजातंत्र या स्वतंत्र पंचायतें थी। आजकल की तरह उन दिनों बडे-बडे ज़मीदार, ताल्लुकेदार नहीं होते थे। ज़मीन या तो देहाती पंचायतों की या उसपर काम करनेवाले किसानों की हुआ करती थी, और इन पंचायतों के हाथ में बडी ताकतें और अधिकार होते थे। इन पंचायतों को गाँव के लोग चुनते रहे होंगे और इस तरह प्रजातंत्र-प्रणाली पर उनकी नींव उठी हुई थी। राजा आते थे और चले जाते थे; वे एक-दूसरे से लड़ते भी थे; लेकिन उन्होंने इन ग्राम-संस्थाओं पर कभी हाथ नहीं डाला, और न उनके काम या अधिकार में कभी दख़ल ही दिया। उन्होंने इन पंचायतों की आजादी छीनने की कभी कोशिश नहीं की, और इस तरह जब साम्राज्यों का उलट-फेर होता रहा, तब भी इस ग्राम-संस्था पर खडी हुई समाज-व्यवस्था बिना रद्दोबदल के जारी रही। सम्भव है, लड़ाइयों और राजाओं के बदलने की कहानियाँ हमको भ्रम में डालदें, और हम यह सोचने लगें कि इन घटनाओं का असर तमाम जनता पर पड़ा होगा। इसमें कोई शक नहीं कि जनता पर, खासकर उत्तरी हिंदुस्तान पर, कभी-कभी इनका असर पड़ता था; लेकिन आमतौर से यह कहा जा सकता है कि वे इससे बहुत-कम परेशान होते थे, और राज-दरबार में हेर-फेर होते हुए भी, वे अपने काम में लगे रहते थे।

हिन्दुस्तान के समाज-संगठन को बहुत दिन तक मजबूत बनाये रखने की दूसरी वजह वह वर्ण-व्यवस्था थी जो शुरू-शुरू में चली थी। उन दिनों जाति के नियम इतने सख्त नहीं थे, जितने कि वह बाद में हो गये, और न जाति सिर्फ़ पैदाइश पर निर्भर करती थी। हजारों साल तक उसने हिन्दुस्तानी जिन्दगी को अविच्छिन्न रक्खा, और वह सिर्फ इसलिए ऐसा कर सकी, कि उसने परिवर्तन और तरक्की की गति को रोकने की जगह उसमें मदद पहुँचाई। धर्म और जिन्दगी के मामले में पुराना भारतीय दृष्टिकोण हमेशा सहिष्णुता, प्रयोग और तब्दीली का स्वागत करता था। इससे उसे बल मिलता था। लेकिन बार-बार के हमलों और दूसरे झगडों ने जात-पांत के सवाल को धीरे-धीरे सख्त बना दिया, और इसके साथ-साथ हिन्दुस्तान के सारे दृष्टिकोण में सख्ती और अनुदारता आगई, और उसका लोच जाता रहा। यह सिलसिला उस वक्त तक जारी रहा जब तक हिन्दुस्तानी आजकल की दुःखदायी हालत को नही पहुँच गये। जाति-प्रथा हर तरह की तरक्की की दुश्मन बन बैठी। समाज के ढांचे को एक में बॉध रखने के बजाय, वह उसे सैकडो टुकडों में तोड़-फोड़ देती है; हमें कमजोर बनाती और भाई को भाई के ख़िलाफ खड़ा करती है।

इस तरह वर्ण-व्यवस्था ने, पुराने जमाने में, हिन्दुस्तान के समाज-संगठन को मजबूत बनाने के काम में मदद दी। लेकिन ऐसा होते हुए भी इसमें मृत्यु के बीज मौजूद थे। वह असमानता और अन्याय को स्थायी बनानें की बुनियाद पर बनी थी। और ऐसी किसी भी कोशिश का अन्त में असफल हो जाना निश्चित था। असमानता और अन्याय के आधार पर कोई भी अच्छा या मजबूत समाज नही बनाया जा सकता और न एक दरज या जमात द्वारा दूसरे दरजे या जमात को चूसने की नीति पर ही कोई अच्छा या मजबूत समाज बन सकता है। चूंकि आज दिन भी यह अनुचित लूट-खसोट मौजूद है, इसलिए हम तमाम दुनिया में इतना ज्यादा कष्ट और दुःख देखते है। लेकिन सब जगह लोग अब इसको महसूस कर रहे है और इससे छुटकारा पाने की भरपूर कोशिश कर रहे है।

हिन्दुस्तान की तरह चीन में भी समाज-प्रणाली की शक्ति गाँवों और मेहनत-मजदूरी करनेवाले लाखो मौरूसी किसानो में केन्द्रित थी, जिनका जमीन पर कब्ज़ा था और जो उसे जोतते थे। वहा भी बडे-बडे जमींदार नही थे और धर्म को भी कभी कट्टर और असहिष्णु बनने का मौका नहीं दिया जाता था। दुनिया की तमाम जातियों में से चीन वाले धर्म के मामले में शायद सबसे कम कट्टर होते थे और अब भी होते है।

फिर तुम्हे यह भी याद होगा कि हिन्दुस्तान और चीन दोनो ही में गुलाम

मजदूरो की वैसी कोई प्रथा नही थी, जैसी यूनान या रोम या उससे भी पहले मिस्र में थी। कुछ घरेलू नौकर होते थे, जो ग़ुलाम थे; लेकिन समाज की प्रणाली में उनकी वजह से कोई फर्क नहीं पड़ता था। जात-पांत की यह प्रणाली बग़ैर उनके भी वैसी ही बनी रहती। पुराने यूनान और रोम में ऐसा नही था। वहां तो ज्यादा से ज्यादा तादाद में गुलामो का होना सामाजिक प्रणाली का एक जरूरी अंग था और सब काम का असली भार इन्हींके कंधो पर पड़ता था। और तुम सोच सकती हो कि मिस्र में बिना इन गुलामो के ये बडे-बडे पिरेमिड कैसे बन सकते थे ?

मैंने इस ख़त को चीन से शुरू किया था और इरादा किया था कि उसकी कहानी को जारी रक्खूं; लेकिन मै दूसरे विषयो की ओर बहक गया, जो कि मेरे लिए कोई ग़ैर मामूली बात नही है। शायद दूसरी बार हम चीन को न छोडें।

: ४१ :

तंग वंश के शासन में चीन की उन्नति

७ मई, १९३२

मैंने चीन के हन्-वंश के बारे में तुम्हे बताया है, और यह भी बताया है कि चीन में बौद्ध धर्म कैसे आया, छपाई की कला कैसे निकली, सरकारी अफसरों को चुनने के लिए इम्तिहान लेने का रिवाज कैसे शुरू हुआ ? ईसा के बाद की तीसरी सदी में हन् राजवंश खत्म हो गया, और साम्राज्य तीन हिस्सों में बँट गया। तीन सल्तनतो में बँटने का यह युग कई सौ बरसो तक कायम रहा। इसके बाद चीन फिर मिलकर एक हो गया और एक नया राजवंश, जिसे तंग वंश कहते है, पैदा हुआ, और इस तरह चीन फिर एक शक्तिशाली और संयुक्त राज्य बन जाता है। यह सातवी सदी के शुरू की बात है।

लेकिन बँटवारे के इस युग में भी चीनी संस्कृति और कला उत्तर के तातारियों के हमलो के बावजूद भी कायम रही। बडे-बडे पुस्तकालयो और सुन्दर चित्रो का वर्णन हमें मिलता है। हिन्दुस्तान सिर्फ अपने सुन्दर कपडे और दूसरे माल ही नहीं, बल्कि अपने ख़याल, अपना मजहब और अपनी कला भी वहाँ भेजता रहा। हिन्दुस्तान से बहुत से बौद्ध प्रचारक चीन गये और वे अपने साथ हिन्दुस्तानी कला और रस्मरिवाज लेते गये। यह भी हो सकता है कि हिन्दुस्तानी कलाकार और चतुर कारीगर वहाँ गये हों। बौद्ध धर्म के आगमन और हिन्दुस्तान से आनेवाले नये विचारो का चीन पर बहुत असर पड़ा। चीन उस समय, और उसके पहले भी, एक बहुत ही सभ्य देश

था। यह बात नहीं थी कि हिन्दुस्तान की कला, विचार और धर्म किसी पिछडे या असभ्य देश में पहुँचे हो, और उसपर क़ब्ज़ा कर लिया हो। चीन में पहुँच कर इनको चीन की पुरानी कला और विचार-पद्धति का मुकाबिला करना पड़ा था। दोनों के मेल का यह नतीजा हुआ कि एक बिलकुल नई चीज़ पैदा हुई, जो इन दोनों से का बिलकुल अलग थी। इसमें बहुत कुछ हिन्दुस्तान का था, लेकिन चीनी नमूने बना हुआ था। इस तरह से हिन्दुस्तान से इन विचारों की धारा के आने की वजह से चीन के मानसिक और कला सम्बन्धी जीवन में नई स्फूर्ति और नया उत्साह आ गया।

इसी तरह बौद्ध धर्म और हिन्दुस्तानी कला का सन्देश पूर्व में बहुत दूर तक, यानी कोरिया और जापान तक, कैसे पहुँचा, और इन देशो पर इसका क्या असर हुआ, इसका अध्ययन बहुत दिलचस्प है। हरेक मुल्क ने इसको अपनी प्रकृति और प्रतिभा के अनुकूल बनाकर ग्रहण किया। इस तरह हालांकि बौद्ध धर्म चीन और जापान दोनों में बढ़ा, लेकिन हर मुल्क में इसका पहलू जुदा रहा और इन देशो का बौद्ध धर्म उस बौद्ध धर्म से बिल्कुल अलग चीज़ है, जो हिन्दुस्तान से गया था। कला भी देश, काल और वातावरण के मुताबिक बदलती रहती है। हिन्दुस्तान में हम लोग कौमी हैसियत से कला और सौंदर्य दोनों भूल गये है। यही नहीं, बहुत दिनो से हमने कोई अद्भुत सौन्दर्य की चीज पैदा नही की, बल्कि हममें से बहुत से आदमी सुंदरता की कद्र करना भी भूल गये है। किसी गुलाम देश में कला या सौंदर्य पनप ही कैसे सकता है? गुलामी और बन्धन के अन्धेरे में ये मुरझा जाते है। लेकिन आज़ादी की झलक अब हमारी आँखो के सामने है, इसलिए सुन्दरता की भावना धीरे-धीरे हम लोगो में जगने लगी है। जब आज़ादी आजावेगी, तुम देखोगी कि इस मुल्क में कला और सौन्दर्य का पुनरुत्थान किस ज़ोर के साथ होता है। और मुझे उम्मीद है कि यह हमारे घरो, नगरों और हमारे जीवन की कुरूपता को दूर करदेगी।

चीन और जापान की किस्मत हिन्दुस्तान से अच्छी रही है, और इन्होने अब तक कला और सौंदर्य की भावना को सुरक्षित रक्खा है।

ज्यो-ज्यो चीन में बौद्ध धर्म फैला, हिन्दुस्तानी बौद्ध और भिक्षु वहाँ अधिक-से-अधिक तादाद में जाने लगे, और चीनी भिक्षु हिन्दुस्तान में और दूसरे देशों में जाने लगे। मैंने तुम से फाहियान का ज़िक्र किया है, और तुम ह्यूएनत्साग को भी जानती हो। ये दोनों हिन्दुस्तान आये थे। एक दूसरे चीनी भिक्षु ने, जिसका नाम 'हुई शेंग' था, पूर्वी समुद्र में सफर किया था और उसने अपनी यात्रा का बहुत दिलचस्प वर्णन लिखा है। यह ईसवी सन् ४९९ में चीन की राजधानी में पहुँचा और बताया कि मै 'फू संग'

नाम के एक ऐसे मुल्क में गया था, जो चीन के पूर्व में कई हजार मील की दूरी पर है। चीन और जापान के पूर्व में प्रशान्त महासागर है, और सम्भव है कि हुईशेंग इस महासागर को पार करके मैक्सिको गया हो क्योंकि मैक्सिको में भी उस वक्त एक पुरानी सभ्यता पाई जाती थी।

चीन में बौद्ध धर्म के प्रसार से आकर्षित होकर हिन्दुस्तान के बौद्ध धर्म के प्रमुख धर्माध्यक्ष दक्षिण हिन्दुस्तान से चीन में कैण्टन के लिए रवाना हुए। उनका नाम और उपाधि 'बोधिधर्म' थी। शायद हिन्दुस्तान में बौद्ध धर्म के धीरे-धीरे कमजोर होजाने की वजह से उन्हे चीन जाने का विचार हुआ हो। ई० सन् ५२६ में, जब उन्होंने यह यात्रा की, वह बूढ़े हो चुके थे। इनके साथ, और इनके बाद बहुत से दूसरे भिक्षु भी चीन गये। कहते है कि उस समय चीन के सिर्फ एक सूबे 'लो-यग' में तीन हजार से भी ज्यादा हिन्दुस्तानी भिक्षु और दस हजार हिन्दुस्तान कुटुम्ब रहते थे।

इसके बाद ही बौद्ध धर्म हिन्दुस्तान में एक बार फिर चमका, और बुद्ध की जन्म-भूमि होने के कारण, तथा इस कारण भी कि यहां उनके पवित्र धर्म-ग्रन्थ थे, भारत धार्मिक बौद्धो का ध्यान अपनी तरफ खीचता रहा। लेकिन जान पड़ता है कि हिन्दुस्तान मे बौद्ध धर्म की शान जाती रही थी, और अब चीन प्रमुख बौद्ध देश हो गया था। काओ-त्सू सम्राट् ने ई० सन् ६१८ में तंग राजवंश की शुरुआत की थी। इसने न सिर्फ सारे चीन को ही एक किया बल्कि अपना राज्य दक्षिण में अनाम और कम्बोडिया तक, और पश्चिम में ईरान तथा कैस्पियन सागर तक फैलाया। कोरिया का भी एक हिस्सा इस शक्तिशाली साम्राज्य में शामिल था। साम्राज्य की राजधानी सी-आन-फू नाम का शहर था। यह शहर पूर्वी एशिया में अपनी सभ्यता और शान के लिए मशहूर था। जापान और दक्षिण कोरिया से, जो अभी तक आज़ाद था, राजदूत और प्रतिनिधि-मण्डल इसकी कला, तत्वज्ञान और सभ्यता सीखने के लिए आया करते थे।

तग सम्राट विदेशी व्यापार और यात्रियों को उत्साहित करते थे। चीन आने वाले या वहां आकर बसनेवाले विदेशियो के लिए खास कानून बनते थे ताकि वे जहा तक सम्भव हो, अपने ही मुल्क के रस्म-रिवाज के अनुसार न्याय पावें। हमें पता चलता है कि ई० सन् ३०० के करीब दक्षिण चीन में कैण्टन के पास अरब लोग खासतौर से आकर बसे थे। यह इस्लाम के जन्म यानी पैगम्बर हजरत मुहम्मद की पैदायश के पहले की बात है।

इन अरबो की मदद से समुद्र पार देशो के साथ की तिजारत ने तरक्की की, जो अरब और चीनी जहाजों के जरिये हुआ करती थी।

तुमको यह जानकर ताज्जुब होगा कि मर्दुमशुमारी, यानी आबादी जानने के

लिए किसी मुल्क के आदमियों का गिनना, चीन की बहुत पुरानी प्रणाली है। कहते हैं कि ई० सन् १५६ में चीन में मर्दुमशुमारी हुई थी। यह हन् वंश के जमाने में हुई होगी। एक-एक आदमी की नहीं, कुटुम्बो की गिनती की जाती थी। यह माना जाता था कि हरेक कुटुम्ब में मोटे तौर से पाँच आदमी होगे। इस गिनती के मुताबिक ई० सन् १५६ में चीन में ५ करोड़ आदमी बसते थे। मै मानता हूँ कि मनुष्य-गणना का यह कोई बहुत ठीक तरीका नहीं है लेकिन खयाल करने की बात यह है कि पश्चिम के लिए यह एक नई चीज है। मेरा खयाल है कि करीब १५० वर्ष हुए, जब अमरीका के संयुक्त राष्ट्र में पहली मर्दुमशुमारी हुई थी।

तंग वंश के शुरू जमाने में चीन में दो और मजहब आये—एक ईसाई धर्म और दूसरा इस्लाम। ईसाई मत को वह सम्प्रदाय इस देश में लाया था, जिसे काफ़िर या नास्तिक करार देकर पश्चिम से निकाल दिया गया था। इस सम्प्रदाय का नाम नेस्टोरियन था। मैंने तुम्हें कुछ दिन हुए ईसाई मत-मतान्तरों के आपसी झगडे और लड़ाई की कुछ बात लिखी थी। इन्ही लड़ाई-झगडो का नतीजा था कि नेस्टोरियन लोग रोम द्वारा भगा दिये गये थे। लेकिन ये चीन, ईरान और एशिया के कई दूसरे हिस्सों में फैल गये। ये लोग हिन्दुस्तान भी आये थे और इनको कुछ कामयाबी भी मिली थी, लेकिन बाद को, ईसाई धर्म की दूसरी शाखाओ ने और मुसलमानों ने उनको हजम कर लिया, और उनका नामनिशान मिट-सा गया। लेकिन पारसाल हम दक्षिण हिंदुस्तान में गये तो वहाँ एक जगह इन लोगो की थोडी-सी आबादी देखकर बहुत ताज्जुब हुआ था, तुम्हे याद है न ? इनके बिशप ने हम लोगो को चाय पिलाई थी। वह बहुत ही हँसमुख वृद्ध आदमी था।

ईसाई धर्म को चीन में पहुँचते-पहुँचते कुछ दिन लग गये। लेकिन इस्लाम ज्यादा तेजी से आया। इस्लाम नेस्टोरियन लोगो के आने के कुछ साल पहले और पैगम्बर की जिन्दगी में ही आया था। चीन के सम्राट ने मुसलमान और नेस्टोरियन दोनों के दूतों का बडी इज्जत के साथ स्वागत किया था, और जो कुछ उन्होने कहा उसे ध्यान से सुना था। उसने उन सब बातो की कद्र की और निष्पक्ष होकर दोनो पर मिहरबानी की। अरब लोगो को कैण्टन में मस्जिद बनाने की इजाजत दी गई। यह मस्जिद अभीतक मौजूद है, हालाँकि इसे बने तेरह सौ बरस हो गये। यह दुनिया की सबसे पुरानी मस्जिदो में से एक है।

इसी तरह तंग सम्राट ने ईसाई गिरजाघर और मठ बनाने की भी इजाजत दी। उस जमाने में चीन में दूसरे मजहबों के साथ कैसी सहनशीलता का व्यवहार किया जाता था, जब कि योरप में असहिष्णुता का राज्य था।

कहते हैं कि अरबो ने कागज़ बनाने का हुनर चीनियो से सीखा और फिर योरप को सिखाया। ई० सन् ७५१ में मध्य एशिया के तुर्किस्तान में चीनियो और मुसलमान अरबो के दर्मियान लड़ाई हुई। अरबो ने कुछ चीनियो को कैद कर लिया और इन कैदियो ने अरबो को कागज़ बनाना सिखाया।

तंग वंश तीन सौ बरस यानी ९०७ ई० तक रहा। कुछ लोगो का ख़याल है कि यह तीन सौ वर्ष चीन के लिए सबसे महान् युग है, जब केवल संस्कृति ही ऊँचे पैमाने पर नहीं थी बल्कि जनता भी बहुत सुखी थी। बहुत-सी बातें जो पश्चिम को बहुत दिनो बाद मालूम हुईं, चीनियो को उस जमाने में मालूम थी। कागज़ का जिक्र तो मै कर ही चुका हूँ। दूसरी ऐसी ही चीज़ बारूद थी। चीनी बडे अच्छे इंजीनियर भी हुआ करते थे। आम तौर से, और करीब-करीब हरेक तफसील में, ये लोग योरप से बहुत कुछ आगे बढ़े हुए थे। अगर उस वक़्त ये लोग आगे बढ़े हुए थे तो बाद में ये आगे क्यो नहीं बने रहे, और विज्ञान तथा नये-नये आविष्कारो की दुनिया में उन्होने योरप का नेतृत्व क्यो नहीं किया? योरप धीरे-धीरे रेंगते हुए इनके पास पहुँचा—जैसे कोई जवान किसी बुड्ढे तक पहुँचता है—और कम-से-कम कुछ बातो में उनसे आगे हो गया। कौमो के इतिहास में इस तरह की बाते क्यों हो जाती हैं, यह तत्वज्ञानियो के विचार के लिए एक कठिन सवाल है। चूंकि अभी तक तुम फिलासफर नहीं बनी हो, इसलिए इस सवाल के बारे में फिक्र करने की तुम्हे जरूरत नही; और इसलिए मुझे भी चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं है।

इस युग में चीन की महानता का स्वभावतः एशिया के दूसरे हिस्सों पर बहुत असर पड़ा, जो चीन की तरफ सभ्यता और कला के मामले में रहनुमाई के लिए देखा करते थे। गुप्त साम्राज्य के बाद हिन्दुस्तान का सितारा बहुत तेजी से नहीं चमक रहा था। और जैसा हमेशा होता है, चीन में भी सभ्यता और उन्नति के कारण जिन्दगी बहुत ज्यादा ऐशआराम से भर गई। शासन-कार्य में बेईमानी होने लगी, और इसकी वजह से बहुत ज्यादा कर लगाना जरूरी हो गया। इसका नतीजा यह हुआ कि लोग तंग वंश से ऊब गये और उसका खात्मा कर दिया।

: ४२ :

चोसेन और दाई निपन

८ मई, १९३२

ज्यों-ज्यों हमारी दुनिया की कहानी आगे बढ़ती जायगी, नये-नये मुल्क हमारी नजर के सामने आते जायँगे। इसलिए हमें कोरिया और जापान पर एक नजर डाल लेनी चाहिए, जो चीन के पडौसी और कई बातो में चीनी सभ्यता की सन्तान है। ये देश एशिया के बिल्कुल किनारे पर, सुदूरपूर्व में है, और इनके बाद प्रशान्त महासागर फैला हुआ है। कुछ दिनों पहले अमरीका के महाद्वीप से इनका कोई सम्पर्क नही था; इनका ताल्लुक सिर्फ महान् चीनी राष्ट्र से ही था। उन्होने चीन से अथवा चीन के द्वारा ही धर्म, कला और सभ्यता हासिल की। कोरिया और जापान पर चीन का बहुत ऋण है, और थोड़ा-बहुत वे हिन्दुस्तान के भी ऋणी है। लेकिन हिन्दुस्तान से इन्होंने जो कुछ पाया वह चीन के जरिये से ही पाया। इसलिए वह चीन की भावनाओ में रंगा हुआ था।

कोरिया और जापान दोनों की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि एशिया में या और दूसरी जगहो पर जो बडी-बडी घटनायें हुई, उनसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं रहा। घटनाओ के केन्द्र से ये दूर थे और एक सीमा तक दोनो—खासकर जापान खुशकिस्मत थे। इसलिए मौजूदा जमाने के अलावा, बगैर किसी कठिनाई के इनके इतिहास की हम उपेक्षा कर सकते है। ऐसा करने से एशिया के काफी हिस्सो की घटनाओं को समझने में कोई ज्यादा फरक न आयेगा। लेकिन यह जरूरी नही कि हम इनकी उपेक्षा करे। हमने मलेशिया और पूर्वी टापुओ के पुराने इतिहास की उपेक्षा की है। वह छोटा मुल्क बेचारा कोरिया आज बिलकुल भुला दिया गया है। जापान इसको निगल गया है और उसने इसको अपने साम्राज्य का एक हिस्सा बना लिया है। लेकिन कोरिया अभी तक आजादी के सपने देखता है और स्वतंत्र होने के लिए कोशिश कर रहा है। आजकल जापान की बहुत चर्चा है; चीन पर उसके हमलो के समाचार से अखबार भरे रहते है। इस वक्त भी, जब तुम्हे यह खत लिख रहा हूँ, मंचूरिया में एक तरह की लड़ाई छिडी हुई है। इसलिए अगर हम कोरिया और जापान के पिछले जमाने के बारे में कुछ जान ले तो अच्छा ही है। इससे हाल की बातें समझने में मदद मिलेगी।

पहली बात, जो हमें याद रखनी चाहिए, वह यह है, कि ये दोनो देश एक लम्बे जमाने तक दुनिया से अलग रहे है। जापान के इतिहास में, सब से महत्व की बात

यह है कि वह सबसे अलग और विदेशी हमलों से सुरक्षित रहा। इसके सारे इतिहास मे इसपर हमला करने की बहुत कम कोशिशें हुई। और इन कोशिशो में एक भी कामयाब नहीं हुई। हाल के जमाने तक इसकी सारी परेशानियाँ अन्दरूनी ही रही है। कुछ दिनो के लिए जापान ने अपने आपको सारी दुनिया से बिल्कुल अलग कर लिया था। किसी जापानी का अपने देश से बाहर जाना, या किसी विदेशी, यहां तक कि चीनी का जापान में आसकना बहुत मुश्किल बात थी। यह बात इसलिए की गई थी कि जापानी लोग अपने को योरप से आने वाले विदेशियो से और ईसाई-प्रचारकों से बचाना चाहते थे। यह एक खतरनाक और मूर्खतापूर्ण काम था, क्योंकि इस प्रकार सारी कौम कैदखानें में बन्द हो जाती है, और बाहर के अच्छे और बुरे दोनो तरह के प्रभाव से वंचित हो जाती हैं। पर बाद में एकदम से जापान ने अपने दरवाजे और खिड़कियाँ खोल दीं, और योरप जो कुछ सिखा सकता था, उसे सीखने के लिए बेताबी से बाहर निकल पड़ा। योरप से जो कुछ सीखना था, उसे इसने इतनी नेकनीयती के साथ सीखा कि एक या दो पुश्त में ही जापान ऊपर से यूरोपियन देश के समान हो गया और उसने उनकी अच्छी बातो के साथ बुरी आदतों की भी नकल कर ली। ये सब बातें पिछले सत्तर वर्ष में हुई हैं।

कोरिया का इतिहास चीन के इतिहास के बहुत दिनों बाद शुरू होता है। जापानियो का इतिहास तो कोरियन लोगों के भी पीछे आरम्भ हुआ। मैंने तुम्हे पार साल अपने एक खत में लिखा था कि की-त्से नामक एक निर्वासित चीनी ने, जिसे चीन में राजवंश के बदल जाने से असन्तोष था, अपने पाञ्च हज़ार साथियो के साथ पूर्व की तरफ कूच कर दिया था। वह कोरिया में बस गया और उसका नाम 'चोसेन' यानी 'प्रभात की शान्ति का देश' रख दिया। यह ईसा के जन्म से ११२२ बरस पहले की बात है। की-त्से अपने साथ चीनी कला और कारीगरी, खेती करने की कला और रेशम बनाने का हुनर वहां ले गया। ९०० बरस से भी अधिक समय तक की-त्से के वशंज चोसेन पर राज करते रहे। चीनी लोग समय-समय पर चोसेन में बसने के लिए आते रहे और चीन के साथ इसका अच्छा-खासा सम्पर्क बना रहा।

जब शी-ह्वाग-ती चीन के सम्राट थे, तब चीनियो का एक बड़ा जत्था कोरिया आया था। तुम्हें इस चीनी सम्राट का नाम याद होगा। यह वही शख्स है, जिसने 'प्रथम सम्राट' की उपाधि ग्रहण की थी और सब पुराने ग्रन्थ जलवा दिये थे। यह अशोक का समकालीन था। शी-ह्वांग-ती के कठोर शासन से परेशान होकर बहुत से चीनियो ने कोरिया में आश्रय लिया था। इन चीनियों ने की-त्से के कमजोर वंशजों को निकाल भगाया। इसके बाद चोसेन कई छोटे राज्यों में बँट गया, और

आठ सौ बरस से ज्यादा तक यही हालत बनी रही। ये राज्य अक्सर आपस मे लड़ा करते थे। एक दफा इन राज्यों में से एक ने चीन की मदद मांगी, और तुम जानती हो कि इस तरह की मदद माँगना खतरनाक हुआ करता है। मदद आई जरूर, लेकिन वापस नही गई। ताकतवर मुल्कों का यही ढँग होता है। चीन डट गया और चोसेन के कुछ हिस्सो को अपने साम्राज्य में मिला लिया। चोसेन का बाकी हिस्सा भी कई सौ बरसो तक चीन के तंग सम्राटो की भी मातहती कबूल करता रहा।

ई० सन् ९३५ में चोसेन एक स्वतन्त्र संयुक्त राज्य बना। वांग कोन नाम के एक शख्स ने इस काम में सफलता प्राप्त की और ४५० बरस तक उसके वंशजो ने इस राज्य पर हुकूमत की।

मैंने दो या तीन पैरों में तुम्हे कोरिया के इतिहास के दोहजार बरस का हाल बता दिया। याद रखने की बात है कि कोरिया पर चीन का बहुत बड़ा ऋण है। लिखने की कला यहाँ चीन से आई। एक हजार बरस तक कोरियावालो ने चीन की लिपि का इस्तैमाल किया। और तुम जानती हो कि चीन की लिपि में अक्षर नहीं, बल्कि खयालात है, शब्द है और जुमले है। इसके बाद कोरियावालों ने इस लिपि से एक खास लिपि बनाई, जो उनकी भाषा के लिए ज्यादा उपयुक्त थी।

बौद्ध-धर्म चीन होकर आया। कनफ्यूशियस का तत्वज्ञान भी चीन से ही आया। हिन्दुस्तान के कला सम्बन्धी संस्कार चीन होकर कोरिया और जापान गये। कोरिया ने कला के, खासकर मूर्ति-बनाने की कला के, बहुत सुन्दर नमूने दुनिया के सामने रखे है। इनकी मकान बनाने की कला चीनियो से मिलती-जुलती थी। जहाज बनाने में भी बडी तरक्की हुई। यहां तक कि एक समय कोरिया निवासियों के पास इतनी ताकतवर जलसेना हो गई थी कि उन्होने उससे जापान पर हमला किया था।

गालिबन मौजूदा जापानियो के पूर्वज कोरिया या चोसेन से आये थे। सम्भव है, इनमें से कुछ लोग दक्षिण यानी मलेशिया से भी आये हो। तुम जानती हो कि जापानी लोग मगोलियन जाति के है। जापान में अब भी कुछ लोग ऐसे है, जिन्हे 'आइनस' कहते है, और जो जापान के आदिम निवासी समझे जाते है। ये लोग गोरे है, और इनके बदन पर बाल कुछ ज्यादा होते है। मतलब यह कि ये औसत जापानियो से बिलकुल जुदे है। ये आइनस लोग टापू के उत्तरी हिस्से में भगा दिये गये है।

ई० सन् २०० के करीब जिगो नाम की एक सम्राज्ञी यामातो राज्य की मुखिया थी। यामातो जापान या उस हिस्से का असली नाम है, जहाँ ये प्रवासी आकर बसे थे। इस रानी का जिगो नाम याद रखने की चीज है। यह एक अनोखी बात है

कि जापान के एक प्राचीन शासक का नाम जिगो रहा हो, क्योंकि अंग्रेजी जबान में जिगो शब्द के एक खास मानी हो गये हैं। इसके मानी हैं ऐसा साम्राज्यवादी, जो डींग मारने और शेखी बघारनेवाला हो। इसके मानी सिर्फ साम्राज्यवादी के भी हो सकते हैं। क्योंकि हरेक साम्राज्यवादी थोड़ा-बहुत घमंडी और शेखीबाज़ होता ही है जैसा कि बहुत से अंग्रेज आज हैं। जापान भी आज साम्राज्यवाद या जिगोवाद के इस रोग में फँसा हुआ है। और हाल ही में इसने चीन और कोरिया के साथ बहुत बुरा व्यवहार किया। इसलिए यह मजेदार बात है कि जिगो जापान के पहले ऐतिहासिक राजा का नाम रहा हो।

यामातो ने कोरिया के साथ अपना घनिष्ट सम्बन्ध बनाये रक्खा और कोरिया के द्वारा ही यामातो ने चीनी सभ्यता इख्तियार की। चीन की लिखित भाषा भी ई० सन् ४०० के क़रीब कोरिया होकर वहाँ पहुँचती थी, और इसी तरह से बौद्ध धर्म भी कोरिया से ही यहाँ आया था। ई० सन् ५५२ में पकचे (कोरिया के तीन राज्यो में से एक राज्य) के शासक ने यामातो के शासक के पास बुद्ध की एक सोने की मूर्ति और कुछ बौद्ध-धर्म प्रचारक पवित्र धर्म ग्रन्थों के साथ भेजे थे।

जापान का पुराना धर्म शिंटो था। शिंटो चीनी शब्द है। इसके मानी है, 'देवताओ का मार्ग'। इस मज़हब के सिद्धान्त में प्रकृति और पूर्वजो की पूजा का मेल-जोल था। इस धर्म ने परलोक या समस्याओं एवं गुत्थियो से अपने दिमाग़ को तकलीफ़ नहीं दी। यह एक सैनिक जाति का धर्म था। जापानी लोग, जो चीनियो के इतने नज़दीक है, और जो अपनी सभ्यता के लिए चीन के ऋणी हैं, चीनियो से बिलकुल जुदे है। चीनी लोग असल में शान्त स्वभाव के रहे है, और आज भी हैं। उनकी सारी सभ्यता और जीवन की फिलासफी शान्ति से पूर्ण हैं। इसके ख़िलाफ जापानी एक लड़नेवाली कौम रही है, और आज भी है। सिपाही का असली गुण यह होता हैं कि वह अपने साथियों और अपने अफ़सर के प्रति वफ़ादार हो। जापानी लोगों में यह गुण बराबर रहा है, और उनकी शक्ति का एक मुख्य कारण यही हैं। शिंटो धर्म इसी गुण पर ज़ोर देता था—"देवताओ का सम्मान करो, और उनके वंशजो के प्रति वफ़ादार रहो"—और इसीलिए वह आज तक जापान में ज़िन्दा है, और बौद्ध धर्म के साथ-साथ पाया जाता है।

लेकिन क्या यह सद्‌गुण है? अपने या अपने सिद्धान्त के प्रति वफ़ादार होना ज़रूर एक अच्छा गुण है। लेकिन शिंटो या दूसरे धर्मो ने अक्सर हमारी वफ़ादारी से बेजा फायदा उठाने की कोशिश की है, जिससे एक ऐसे गिरोह को फायदा पहुँचा है, जो हमारे ऊपर शासन करता है। जापान, रोम और दूसरी जगहों पर भी यही

सिखाया जाता था कि अधिकार एव प्रभुत्व की पूजा करो, और तुम आगे चलकर देखोगी कि इससे हम लोगो को कितना नुकसान पहुँचा।

नया बौद्ध धर्म जब जापान में आया, तो पुराने शिटो धर्म से उसका कुछ झगड़ा चला। लेकिन जल्दी ही दोनो साथ-साथ रहने लग गये, और आज तक रह रहे है। शिटो धर्म बौद्ध धर्म से ज्यादा लोकप्रिय है, और शासक वर्ग इसको प्रोत्साहन भी देता है, क्योकि यह वफ़ादारी और फरमाबरदारी सिखाता है। बौद्ध धर्म इससे ज़रा ख़तरनाक मजहब है, क्योकि उसको चलानेवाला खुद बागी था।

जापान का कला-इतिहास बौद्ध धर्म के साथ शुरू होता है। जापान या यामातो ने भी तब चीन के साथ सीधा सम्बन्ध शुरू किया। चीन को, खासकर तग युग में, जब राजधानी 'सी-आन-फू' सारे पूर्वी एशिया भर में मशहूर हो रही थी, जापान से बराबर राजदूत जाते थे। जापानी यानी यामातो वालो ने खुद एक नई राजधानी कायम की थी, जिसका नाम नारा था, और उसे 'सी-आन-फू' की एक हू-ब-हू नकल बनाना चाहते थे। जापानियो में दूसरो की नकल या अनुकरण करने की आश्चर्यजनक योग्यता रही है।

हम देखते है कि सारे जापानी इतिहास भर में बडे-बडे वंश एक-दूसरे का विरोध करते है और अधिकार पाने के लिए सग्राम करते है। दूसरी जगहो पर भी पुराने जमाने में तुम्हे ऐसी ही बातें मिलेगी। इन कुटुम्बो में पुराने कुल या फिरक़ो का ख़याल जमा हुआ था, इसलिए जापान का इतिहास एक तरह से कुटुम्बो के आपसी लाग-डॉट की कहानी है। इनका सम्राट मिकाडो सर्वशक्तिमान, निरंकुश, अर्ध-दैवी और सूर्य का वंशज समझा जाता है। शिटो धर्म ने और पूर्वजो की पूजा की प्रथा ने सम्राट की निरकुशता कबूल करने में बहुत मदद दी और उन्हे देश के उच्चवर्ग का आज्ञाकारी बना दिया। लेकिन अक्सर सम्राट खुद जापान में कठपुतली रहा है और उसके हाथ में कोई असली ताकत नही रही है। सारा अधिकार और सारी ताकत किसी बडे कुटुम्ब या किसी कुल के हाथ में रही है, जो राजाओ के विधाता थे और जो अपनी मरजी के मुताबिक राजा या सम्राट बनाया करते थे।

जापान में जिस बडे कुटुम्ब ने सबसे पहले राज्य का नियन्त्रण किया वह 'सोगा' कुटुम्ब था। जब इन लोगो ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया, तभी वह राज-धर्म के रूप में स्वीकार किया गया। शोतुकू तैशी इस कुटुम्ब का एक बड़ा नेता था, और जापानी इतिहास का यह एक महान् पुरुष हुआ है। यह एक सच्चा बौद्ध और श्रेष्ठ कलाकार था। चीन के कन्फ्यूशियन महाग्रन्थो से इसने अपने ख़याल लिये थे और एक ऐसी सरकार बनाने की कोशिश की, जिसकी बुनियाद हिंसा-बल पर नहीं,

वरन् नीति पर रक्खी गई थी। जापान उन दिनो ऐसे परिवारो से भरा हुआ था, जिनके सरदार बिल्कुल स्वतंत्र थे। ये लोग आपस में लड़ते थे और किसीकी हुकूमत नही मानते थे। सम्राट अपनी लम्बी-चौडी उपाधि के होते हुए भी एक बडे ख़ानदान का सरदार था। शोतुकूतैशी ने इस हालत को बदलने और केन्द्रीय सरकार को मजबूत करने के लिए कोशिश शुरू करदी। इसने बहुत से कुलो के सरदारो और अमीरो को सम्राट का मातहत बना दिया। यह लगभग ई० सन् ६०० की बात है।

लेकिन शोतुकूतैशी की मृत्यु के बाद सोगा कुटुम्ब निकाल दिया गया। थोडे दिनो के बाद एक दूसरा आदमी, जो जापानी इतिहास में मशहूर है, सामनें आता है। इसका नाम 'काकातोमी नो कामातोरी' था। इसने सरकार के सगठन में सब तरह के परिवर्त्तन किये और चीनी शासन-पद्धति की बहुत सी बातों का अनुसरण किया। लेकिन उसने चीन की ख़ास विशेषता—सरकारी अफसरो को मुकर्रर करनें की परीक्षा-विधि की नकल नही की। सम्राट अब एक कुल के सरदार की हैसियत से बहुत बडी चीज बन गया और केन्द्रीय सरकार बहुत मजबूत होगई।

इसी जमाने में नारा राजधानी बना। लेकिन थोडे दिनो तक ही उसको यह गौरव रहा। ई० सन् ७९४ में क्योटो राजधानी बनाया गया और क़रीब ग्यारह सौ बरस तक राजधानी रहा। थोडे ही समय पहले टोकियो ने उसकी जगह लेली है। टोकियो एक बहुत बड़ा अर्वाचीन शहर है, लेकिन वह क्योटो ही है जो जापान की आत्मा के बारे में हमें कुछ बताता है, क्योकि उसके साथ हजारों बरसो की यादगार लगी हुई है।

काकातोमी नो कामातोरी फूजीवारा वंश का जन्मदाता हुआ। इस वंश ने जापानी इतिहास में बहुत बड़ा भाग लिया है। दो सौ बरस तक इसनें हुकूमत की, और सम्राटो को अपने हाथ की कठपुतली बनाये रहा, और अपने कुल की लड़कियो से शादी करने के लिए उन्हे बाध्य करता रहा। अन्य कुटुम्बो में जो योग्य आदमी होते थे, उनसे ये डरते थे, अतः उन्हे इस बात के लिए मजबूर करते थे कि वे भिक्षु बन जायँ।

जब राजधानी नारा में थी, चीन के सम्राट नें जापानी शासक के पास एक राजदूत भेजा और उसे 'ताई-नी-पुंग-कोक के राजा' कहकर सम्बोधित किया। जिसका मतलब होता है 'महान सूर्योदय का राजा'। जापानी लोगों को यह नाम बहुत पसन्द आया। यामातो के मुकाबिले यह कहीं ज्यादा शानदार था, इसलिए इन लोगो ने अपने देश का नाम 'दाई निपन' रक्खा, यानी 'सूर्योदय का देश'। अभीतक जापानियो का अपना नाम अपने देश के लिए यही है। जापान शब्द 'निपन' शब्द से एक अजीब

तरीके पर बिगड़कर बना है। छः सौ बरस बाद एक बहुत बड़ा इटैलियन मुसाफिर चीन गया। उसका नाम मार्को पोलो था। यह जापान कभी भी नहीं गया, लेकिन इसने अपने यात्रा-विवरण में जापान के बारे में कुछ लिखा है। इसने चीन में 'नी-पुंग-कोक' नाम सुना था। उसने अपनी किताब में इसे 'चीपंगो' लिखा। इसी शब्द से जापान शब्द निकला।

क्या मैंने तुम्हे बताया है, या तुम्हे मालूम है, कि हमारा देश इंडिया या हिन्दुस्तान क्यो कहलाने लगा? ये दोनो नाम इण्डस या सिन्धु से निकले है, जो इस तरह से 'हिन्दुस्तान की नदी' कही जाने लगी। सिन्धु से यूनानी लोगो ने हमारे देश को इण्डोस कहा और इण्डोस से इण्डिया शब्द निकला। सिन्धु से ही ईरानियो ने हिन्दू लफ़्ज बनाया और उसीसे हिन्दुस्तान बना।

: ४३ :

हर्षवर्धन और ह्यूएनत्सांग

११ मई, १९३२

अब हम फिर हिन्दुस्तान को वापस चलेगे। हूणो की हार हो चुकी थी और वे पीछे हटा दिये गये थे। लेकिन बहुत से हूण इधर-उधर कोने में बचे रह गये थे। बालादित्य के बाद महान गुप्त राज्य-वंश खतम होगया था, और उत्तर भारत मे बहुत से राज्य और सल्तनतें कायम हो गई थी। दक्षिण में पुलकेशिन ने चालुक्य-साम्राज्य कायम कर लिया था।

कन्नौज नाम का छोटा नगर है। वह कानपुर से ज्यादा दूर नही है। कानपुर आज कल एक बड़ा शहर समझा जाता है। लेकिन वह अपने कारखानो और चिमनियो की वजह से बदसूरत होगया है। कन्नौज आज एक मामूली जगह है और मामूली गांव से कुछ ही बड़ा होगा। लेकिन जिस जमाने का जिक्र मैं कर रहा हूँ, उस जमाने में कन्नौज एक बडी राजधानी थी, और अपने कवियों, कलाकारो और तत्ववेत्ताओ के लिए मशहूर थी। कानपुर उस समय पैदा नही हुआ था और न कई सौ वर्षो बाद तक पैदा होनें वाला था। कन्नौज नया नाम है। इसका असली नाम 'कान्यकुब्ज' अर्थात् 'कुबडी लड़की' है। कथा है कि किसी पुराने ऋषि ने काल्पनिक अपमान से गुस्से में आकर एक राजा की सौ लड़कियो को शाप दे दिया था, जिससे वे कुबडी होगई थी, और उस समय से यह शहर, जहॉं ये लड़किया रहती थी, 'कुबड़ी लड़कियो का शहर' यानी 'कान्यकुब्ज' नगर कहलाने लगा था।

लेकिन संक्षेप के लिए हम इसको कन्नौज ही कहेंगे। हूणो ने कन्नौज के राजा को मार डाला और उसकी रानी राज्यश्री को कैद कर लिया। राज्यश्री का भाई राजवर्धन अपनी बहन को छुड़ाने के लिए हूणो से लड़ने आया। उसने हूणो को तो हरा दिया, लेकिन धोखे से खुद मारा गया। इस पर उसका छोटा भाई हर्षवर्धन अपनी बहन राज्यश्री की तलाश में निकला। यह बेचारी किसी तरह से निकलकर पहाडो में जा छिपी थी, और अपनी मुसीबतो से परेशान होकर उसने अपनी आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया था। कहते हैं कि वह सती होने जा ही रही थी, कि हर्ष ने उसको पा लिया और उसकी जिन्दगी बचा ली।

अपनी बहन को पाने और बचाने के बाद हर्ष ने पहला काम यह किया कि उस नीच राजा को, जिसने उसके भाई को धोखे से मार डाला था, सजा दी। और उसने सिर्फ इस नीच राजा को ही सजा नही दी, बल्कि सारे उत्तरी हिन्दुस्तान को बंगाल की खाडी से अरब के समुद्र तक, और दक्षिण में विंध्य पर्वत तक जीत लिया। विन्ध्याचल के बाद चालुक्य साम्राज्य था और हर्ष इसकी वजह से आगे न बढ़ सका।

हर्षवर्धन ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। वह खुद कवि और नाटककार था, इससे उसके पास कवि और कलाकार इकट्ठा हो गये, और कन्नौज एक मशहूर शहर हो गया। हर्ष पक्का बौद्ध था। इस समय बौद्ध-धर्म, एक अलग धर्म की हैसियत से, हिन्दुस्तान में बहुत कमजोर पड़ चुका था। ब्राह्मण इसको हजम करते जाते थे। हर्ष भारत का आखिरी महान् बौद्ध सम्राट् हुआ है।

हर्ष के राज-काल में हमारा पुराना मित्र ह्यूएनत्सांग[१] हिन्दुस्तान आया था और उसके यात्रा-वर्णन में, जो उसने हिन्दुस्तान से लौटकर लिखा था, भारत का और मध्य एशिया के उन मुल्को का, जिनसे होकर वह भारत आया था, बहुत कुछ हाल पाया जाता है। ह्यूएनत्सांग एक सच्चा बौद्ध था और वह बौद्ध धर्म के पवित्र स्थानों की यात्रा करने और इस धर्म की पुस्तकें अपने साथ ले जाने के लिए हिन्दुस्तान आया था। वह गोबी के रेगिस्तान से होकर गुजरा था, और रास्ते में उसने ताशकन्द, समरकन्द, बलख, खुतन, यारकन्द आदि कई मशहूर स्थानों की यात्रा की थी। वह सारे हिन्दुस्तान में फिरा था और शायद लंका भी गया था। उसकी किताब बहुत आश्चर्य-जनक और मनोरंजक बातों से भरी है। इस किताब में उन देशो का सच्चा हाल पाया जाता है, जहां-जहां ह्यूएनत्सांग गया था। इसमें हिन्दुस्तान के मुख्तलिफ हिस्सों के आदमियो के चरित्र का आश्चर्य-जनक खाका

१ ह्यूएनत्सांग—को बहुतेरे लोग युयेन-चैंग, युआन-च्वांग या ह्वान-त्सांग के नाम से भी पुकारते है।

मिलता है, जो आज तक सही मालूम होता है। इसमें अजीब-अजीब कहानियां है जो ह्यूएनत्सांग ने यहां आकर सुनी थीं। और कुछ बोधिसत्वो (बुद्ध के पहले के अवतारो) के अनेक चमत्कारों का जिक्र भी इस किताब में है। मैंने तुम्हें ह्यूएनत्सांग की लिखी, उस एक बडे अकलमन्द आदमी की दिलचस्प कहानी, जो अपने पेट के चारो तरफ तावे के पत्तर वाँधे फिरता था, शुरू में ही बताई है।

ह्यूएनत्सांग ने कई बरस हिन्दुस्तान में बिताये। ख़ासकर नालन्द के विश्व-विद्यालय में, जो कि पाटलिपुत्र से दूर नहीं था। कहते है कि इसमें १० हजार विद्यार्थी और भिक्षु रहा करते थे। यह बौद्ध विद्या का बड़ा केन्द्र और बनारस का, जो ब्राह्मण विद्या का केन्द्र समझा जाता था, प्रतिद्वन्द्वी था।

मैंने तुम्हे एक वार वताया है कि हिन्दुस्तान एक जमाने में 'इन्दु-देश' यानी चन्द्र-लोक कहलाता था। ह्यूएनत्सांग भी इस वात का जिक्र करता है और इस नाम को बहुत ठीक वताता है। चीनी भाषा में भी चन्द्रमा को 'इन-तू' कहते है। इसलिए अगर तुम चाहो तो अपना चीनी नाम[1] भी रख सकती हो। ह्यूएनत्साग हिन्दुस्तान में ई० सन् ६२९ में आया। चीन से जव इसने अपनी यात्रा शुरू की तो इसकी उम्र २६ साल की थी। एक पुरानी चीनी पुस्तक में लिखा है कि ह्यूएनत्सांग सुन्दर और लम्बा था। "उसका रग नाजुक और आँखें चमकदार थीं, चाल-ढाल गम्भीर और शानदार थी, उसके रूप से तेज और मनोहरता टपकती थी। .... 'उसमें पृथ्वी को घेरे हुए विशाल समुद्र की गम्भीरता पाई जाती थी, और जल में पैदा होने वाले कमल के समान शान्ति और सुषमा थी।"

बौद्ध-भिक्षु का केसरिया बाना पहनकर यह अकेला अपनी लम्वी सफर पर चल पड़ा, हालाँकि चीनी सम्राट ने इसे इजाजत नही दी थी। इसने गोवी के रेगिस्तान को पार किया और जव यह तुरफ़ान के राज्य में पहुंचा, जो कि इस रेगिस्तान के किनारे पर ही था, तो सिर्फ़ इसकी जान ही वाकी थी। तुरफ़ान इस रेगिस्तानी राज्य में सभ्यता और संस्कृति से पूरी हरी-भरी एक छोटी-सी जगह थी। आज यह मुर्दा है, और पुरातत्ववेत्ता पुराने खण्डहरो की तलाश में इसकी जमीन खोदते फिरते हैं। लेकिन सातवी सदी में जव ह्यूएनत्साग यहाँ से गुजरा था, तुरफान एक उच्च संस्कृति का और जीवन से भरा-पूरा देश था। इसकी संस्कृति में हिन्दुस्तान, चीन, ईरान और कुछ अंशो में योरप की संस्कृतियों का उल्लेखनीय मेल पाया जाता था। यहां वौद्ध धर्म का प्रचार था और संस्कृत जवान के कारण यहाँ भारतीयता का प्रभाव भी प्रकट था, फिर भी इस देश

१. इन्दिरा का प्यार का नाम 'इन्दु' है।

का रहन-सहन ज्यादातर चीन और ईरान का था। यहां के रहनेवालों की भाषा मंगोलियन, जैसा कि खयाल किया जा सकता है, नही थी बल्कि भारतीय-यूरपियन थी, और योरप की केल्टिक[1] भाषाओ से बहुत-सी बातों में मिलती जुलती थी। सब से आश्चर्य की बात तो यह है कि वहां जो मूर्तियां बनाई गई है, वे यूरोपियन सांचे की है। पत्थर पर खुदे हुए चित्र, जिनमें बुद्ध और बोधि-सत्व, देवी और देवता बने हुए हैं, बडे ही सुन्दर हैं। देवियो की मूर्तियों को या तो हिन्दुस्तानी पोशाक पहनाई गई है, या फिर उनके सिर के कपडे और पोशाक यूनानी है। फ्रेंच समालोचक एम० ग्राउजे का कहना हैं कि "इन चित्रो में हिन्दू सुकुमारता, यूनानी भावव्यजंकता और चीनी कमनीयता का बहुत सुन्दर मेल पाया जाता है।"

तुरफान अब भी कायम है और तुम इसे नकशे में देख सकती हो। लेकिन अब इसकी कोई खासियत नही है। कितने ताज्जुब की बात है कि इतने दिन पहले, सातवी सदी में, सस्कृति की अनेक धारायें दूर-दूर के देशो से वहीं, इस जगह पर आकर मिलीं, और मिलकर इन्होने एक सम्पूर्ण एक सामंजस्य पैदा कर दिया।

तुरफान से ह्यूऐनत्सांग कूचा गया। यह उस वक्त मध्य एशिया का एक दूसरा केन्द्र था। इसकी सभ्यता शानदार और वैभवपूर्ण थी और यह अपने संगीत और स्त्रियो की सुन्दरता के लिए मशहूर था। इस देश का धर्म और कला हिन्दुस्तान की थी। ईरान अपनी संस्कृति और अपना माल यहा भेजता था। इसकी भाषा, संस्कृत, पुरानी फारसी, लैटिन और केल्टिक से मिलती जुलती थी। इसे भी हम एक बढ़िया मेल कह सकते हैं।

इसके बाद वह तुर्को के मुल्क से होकर गुजरा। जहां का राजा, 'महान् खान' जो बौद्ध था, मध्य एशिया के ज्यादातर हिस्से पर राज्य करता था। इसके बाद वह समरकन्द पहुँचा, जो उस समय भी एक पुराना शहर माना जाता था और सिकन्दर की यादगार से भरा था, क्योकि करीब एक हजार वर्ष पहले सिकन्दर यहां से हो कर गुजरा था। फिर वह बलख गया और वहाँ से काबुल नदी की घाटी पार कर काश्मीर और हिन्दुस्तान में आया।

यह चीन में तंग राज-वंश के शुरू का जमाना था, और उसकी राजधानी

१ केल्टिक (Celtic)—कई भाषाओ का एक समूह, जो इण्डो-यूरोपियन समूह से सम्बन्ध रखती है और अब प्रधानत ब्रिटेनी वेल्स, पश्चिमी आयर्लैण्ड तथा स्काटलेण्ड के ऊँचे इलाको मे बोली जाती है। सिमरिक और गेथेलिक नामक इसकी दो शाखायें है, हरेक मध्यकाल मे गध-पद्य के प्रचुर साहित्य से समृद्ध थी। रूप और भावो मे आरंभिक केल्टिक बहुत-कुछ लेटिन और ग्रीक से मिलती-जुलती थी।

सी-आन-फू कला और विद्या का केन्द्र हो रही थी। उस समय चीन दुनिया की सभ्यता का नेता था। तुम्हें याद रखना चाहिए कि ह्यूएनत्सांग एक बहुत ऊंची सभ्यता के देश से आया था, और किसी बात पर राय क़ायम करने में उसका आदर्श काफी ऊंचा रहा होगा। इसलिए हिन्दुस्तान की हालत के बारे में उसकी राय बहुत महत्वपूर्ण और कीमती है। उसनें हिन्दुस्तानियो की और उनके राज्य की बहुत तारीफ़ की है। वह कहता है—

"हालाकि मामूली आदमी स्वभाव से हलकी तबीयत के होते है, फिर भी हिन्दुस्तान के साधारण लोग ईमानदार और इज्जतवाले है। रुपये-पैसे के मामले में इनमें कोई मक्कारी नही पाई जाती और इन्साफ करने मे ये बडे दयाशील होते है। व्यापार मे न उनमे धोखेबाजी है, न चालाकी। ये लोग अपनी बात और वादे के पक्के है। इनके शासन के नियमो मे विशेष सचाई पाई जाती है, और इनके व्यवहार मे बहुत मिठास और सज्जनता है। अपराधियो और बागियो की तादाद बहुत कम है और उनके कारण कभी-कभी ही परेशानी उठानी पडती है।

वह फिर लिखता है—"चूंकि राज्य का इन्तिजाम उदार सिद्धान्तो पर किया जाता है, इसलिए सरकारी अफसर सीधे-सादे है। . . ..लोगो से जबरदस्ती काम नही लिया जाता, लोगो पर बहुत हलका कर लगा हुआ है और उनसे जो काम लिया जाता है, वह भी ज्यादा नही है। हरेक आदमी अपनी सम्पत्ति शान्तिपूर्वक रखता है, और सभी लोग अपनी रोज़ी के लिए ज़मीन जोतते है। जो लोग सरकारी जमीन जोतते है, उन्हे उपज का छठा हिस्सा लगान मे देना पडता है। व्यापारी अपने काम के लिए आजादी मे इधर-उधर आ-जा सकते है।"

शिक्षा बहुत जल्द शुरू कर दी जाती थी, और इसके लिए संगठन भी अच्छा था। पहली किताब ख़तम करने के बाद लड़के या लड़की को ७ वर्ष की उम्र से पाचो शास्त्र पढ़ाये जाते थे। आजकल शास्त्र का मतलब धर्म-पुस्तक से समझा जाता है। लेकिन उस समय शास्त्र का मतलब सब तरह का ज्ञान था। पाँच शास्त्र ये थे— (१) व्याकरण (२) कला-कौशल (३) आयुर्वेद (४) न्याय और (५) दर्शन। इन विषयो की शिक्षा विश्वविद्यालयो में होती थी, और तीस साल की उम्र में पूरी हो जाती थी। मेरा ख़याल है कि बहुत से आदमी इस उम्र तक न पढ सकते रहे होगे। लेकिन यह मालूम होता है कि प्रारम्भिक शिक्षा काफी फैली हुई थी और शायद सारे पुरोहित और साधु शिक्षक हुआ करते थे, और इनकी कोई कमी नही थी। ह्यएनत्साग पर हिन्दुस्तानियो के विद्या-प्रेम का बहुत असर पड़ा था। अपनी सारी किताब में वह इस बात का ज़िक्र करता है।

उसने प्रयाग के उस बड़े कुम्भ मेले का भी जिक्र किया है। जब तुम इस मेले को कभी फिर देखो, तेरह सौ बरस पहले की ह्यूएनत्सांग की इस यात्रा का ख़याल करना। उस समय भी यह मेला पुराना मेला समझा जाता था और वैदिक युग से चला आरहा था। इस प्राचीन जमाने के मेले के मुकाबिले में हमारा शहर इलाहाबाद अभी कल का शहर मालूम पड़ता है। इस शहर को ४०० वर्ष से कम हुए, अकबर ने बसाया था। प्रयाग इससे बहुत ज्यादा पुराना है। लेकिन प्रयाग से भी पुराना वह आकर्षण है जो हजारों वर्षों से लाखों यात्रियों को गंगा और जमना के संगम पर खींच लाता है।

ह्यूएनत्सांग लिखता है कि हर्ष हालांकि बौद्ध था, पर इस हिन्दू मेले में भी गया था। उसकी तरफ से एक शाही आज्ञा-पत्र निकला था, जिसमें उसने 'पंच हिन्द' के सब गरीबों और मुहताजों को बुलाया था, और उन्हें अपने यहाँ मेहमान होने के लिए निमंत्रित किया था। किसी सम्राट के लिए भी यह निमंत्रण बड़ी बहादुरी का निमंत्रण है। कहने की जरूरत नहीं कि बहुत से आदमी आये और करीब एक लाख आदमी हर्ष के यहाँ रोज़ भोजन करते थे। इस मेले में हर पांचवें वर्ष हर्ष अपने खजाने की सारी बचत, सोना, जेवर, रेशम जो कुछ उसके पास होता था, बांट देता था। एकबार उसने अपना राज-मुकुट और कीमती पोशाक भी दे डाली थी और अपनी बहन राज्यश्री से, एक पुराना मामूली कपड़ा, जो पहले पहना जा चुका था, लेकर पहना था।

श्रद्धालु बौद्ध होने के कारण हर्ष ने खाने के लिए जानवरों का मारा जाना बन्द कर दिया था। ब्राह्मणों ने इस पर ज्यादा ऐतराज नहीं किया था, क्योंकि बुद्ध के बाद से ये लोग अधिकाधिक निरामिषभोजी हो गये थे।

ह्यूएनत्सांग की किताब में एक बड़ी मजेदार बात है, जो शायद तुम्हें दिलचस्प मालूम हो। वह लिखता है कि हिन्दुस्तान में जब कोई आदमी बीमार पड़ता था, तो वह सात दिन का लंघन कर डालता था। बहुत से आदमी लंघन के बीच में ही अच्छे हो जाते थे। लेकिन अगर बीमारी कायम रहती थी तो दवा लेते थे। उस ज़माने में रोग बहुत फैले न रहे होंगे, और न डाक्टर लोगों की ही ज्यादा मांग रही होगी।

उस जमाने में हिन्दुस्तान में एक नोट करने लायक बात यह थी कि शासक और सेनाधिकारी विद्वानों और सभ्य आदमियों की बहुत इज्जत करते थे। हिन्दुस्तान में और चीन में इस बात की खूब कोशिश की गई, और इसमें सफलता भी हुई, कि विद्या और संस्कृति को इज्जत की जगह मिले, पाशविक बल या धन-दौलत को नहीं।

हिन्दुस्तान में कई वर्ष बिताने के बाद ह्यूएनत्सांग उत्तरी पहाडों को पार करता हुआ अपने देश वापस गया। सिन्ध नदी में यह करीब-करीब डूबते-डूबते बचा और इसके साथ की बहुत-सी किताबें बह गई। फिर भी यह हाथ से लिखी बहुत-सी किताबें अपने साथ ले गया था और कई साल तक वह इन किताबों का चीनी भाषा में अनुवाद करता रहा। वहां सम्राट ने सी-आन-फू में उसका स्वागत किया और इसी सम्राट के कहने पर इसने अपनी यात्रा का हाल लिखा था।

इसने तुर्कों का भी हाल लिखा है, जिनसे इसकी मुलाकात मध्य एशिया में हुई थी। यह वह नई जाति थी, जो बाद को पश्चिम की तरफ बढ़ी और बहुत-सी सल्तनतों को उलट-पुलट दिया। इसने यह भी लिखा है कि सारे मध्य एशिया में बौद्ध विहार पाये जाते है। सच तो यह है कि बौद्ध विहार ईरान, इराक, खुरासान, मोसल और सीरिया की सरहद तक फैले हुए थे। ईरानियो के बारे में ह्यूएनत्सांग लिखता है—"ईरानी लोग पढ़ने-लिखने की परवाह नही करते, बल्कि अपना सारा वक्त कला में लगाते हैं, और जो कुछ ये बनाते हैं, आस-पास के मुल्क उसकी बडी कद्र करते है।"

उस जमानें के मुसाफिर अद्भुत होते थे। आजकल की अफरीका के अन्दर के मुल्को की यात्रा या उत्तरी अथवा दक्षिणी ध्रुव की यात्रा, पुराने जमाने की इन महान यात्राओ के मुकाबिले में तुच्छ-सी चीज है। ये लोग बरसो सफर करते थे और आगे बढ़ते जाते थे। पहाडों और रेगिस्तानो को पार करते थे और अपने सारे मित्रो से और सगे-संबंधियों से जुदा रहते थे। कभी-कभी इन्हे अपने घर की याद आती थी। लेकिन उनमें इतना आत्म-गौरव था कि इस बात को जबान पर नहीं लाते थे। एक मुसाफिर ने अपने मन की हल्की-सी झलक हमें दी है। वह एक दूर देश में खडा है, उसे अपने घर की याद आई, और वह उसके लिए व्याकुल हो गया। उस यात्री का नाम सुंगयुन था और वह हिन्दुस्तान में ह्यूएनत्सांग से १०० वर्ष पहले आया था। वह गन्धार के पहाडी देश में था, जो हिन्दुस्तान के उत्तर-पश्चिम में है। वह कहता है—"शीतल मन्द समीर, चिडियो के गीत, वसन्त ऋतु के सौन्दर्य में सजे हुए पेड, तितलियो का अनेक फूलो के ऊपर मँडराना—एक दूर देश में, इस मनोहर दृश्य को देखकर सुंगयुन कल्पना में अपने देश के अन्दर पहुँच गया और उस समय उसके हृदय में इतनी उदासी पैदा हो गई कि वह बुरी तरह बीमार पड़ गया।"

: ४४ :

दक्षिण भारत के अनेक राजा, शूरवीर और एक महापुरुष

१३ मई, १९३२

सम्राट हर्ष की ई० सन् ६४८ में मृत्यु, हुई; लेकिन उसके मरने के पहले ही हिन्दुस्तान की उत्तर-पश्चिम सीमा पर बिलोचिस्तान में एक छोटा-सा बादल दिखाई देने लगा था। यह छोटा-सा बादल उस भारी तूफान का पूर्व चिन्ह था, जो पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफरीका और दक्षिणी योरप में पैदा हो रहा था। अरब में एक नया पैगम्बर पैदा हो गया था; उसका नाम मुहम्मद था। उसने एक नये धर्म का प्रचार किया, जिसे इस्लाम कहते हैं। अपने इस नये धर्म के उत्साह से उत्तेजित और अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा करते हुए, अरब निवासी महाद्वीपों के एक कोनेसे दूसरे कोनेतक टूट पडे, और जहां वे पहुंचे वहीं उन्होने विजय पाई। यह एक आश्चर्य-जनक करामात थी। हमें इस नई शक्ति के बारे में जानना चाहिए, जिसने इस दुनिया में आकर संसार की दशा में इतना अन्तर पैदा कर दिया। लेकिन इस शक्ति के बारे में गौर करने के पहले हमें दक्षिणी हिन्दुस्तान की एक यात्रा कर आनी चाहिए, और इस बात को मालूम करने की कोशिश करनी चाहिए कि उन दिनो दक्षिण की क्या हालत थी। हर्ष के समय में अरबी मुसलमान बिलोचिस्तान पहुंचे, और उन्होने थोडे दिन बाद सिन्ध पर कब्जा कर लिया। लेकिन वे वहीं ठहर गये और अगले ३०० वर्ष तक हिन्दुस्तान पर मुसलमानों का कोई नया हमला नहीं हुआ, और ३०० बरस बाद जो हमला हुआ, वह अरबों का किया हुआ नहीं था, बल्कि यह मध्य एशिया के कुछ कबीलो का काम था, जो मुसलमान हो गये थे।

इसलिए हम दक्षिणी हिन्दुस्तान की ओर चलते हैं। हिन्दुस्तान के पश्चिम और मध्य में चालुक्य साम्राज्य था। इसमें ज्यादातर महाराष्ट्र प्रदेश थे। इसकी राजधानी 'बदामी' थी। ह्यूएनत्सांग महाराष्ट्रियो की, और उनकी दिलेरी की, तारीफ करता है। वह कहता है—"महाराष्ट्रीय लोग सैनिक और स्वाभिमानी होते हैं। उपकार के लिए कृतज्ञ, और अपकार का बदला लेनेवाले होते हैं। चालुक्यो को, उत्तर में हर्ष की, दक्षिण में पल्लवों की, और पूरब में कलिंगों की रोक-थाम रखनी पडती थी। पर चालुक्यो की शक्ति बढ़ती गई और वे एक सागर से दूसरे सागर तक फैल गये। लेकिन बाद में राष्ट्रकूटों ने उन्हे पीछे ढकेल दिया।

इस प्रकार दक्षिण भारत में बडे-बडे साम्राज्य और राज्य फलते-फूलते रहे।

कभी एक दूसरे की शक्ति का पलड़ा बराबर रखते, और कभी उनमें से एक बढ़कर दूसरे को दवा देता। पांड्य-राज-वंश के समय में मदुरा संस्कृति का एक बड़ा केन्द्र था। यहाँ तमिल भाषा के कितने ही कवि और लेखक जमा होगये थे। तमिल भाषा की कई और प्राचीन पुस्तकें ईसवी सन् के शुरू की लिखी हुई हैं। पल्लवो के भी कभी शान के दिन थे। मलेशिया की नई आबादी बहुत कुछ उन्हीके कारण बसी थी। उनकी राजधानी काँचीपुर थी। जिसे आजकल काँजीवरम् कहते हैं।

बाद को चोल साम्राज्य शक्तिशाली होगया और नवी सदी के बीच में उसने दक्षिण भारत को दवा लिया। वह एक समुद्री राष्ट्र था, और उसके पास बहुत बडी जल सेना थी, जिससे उसने बंगाल की खाडी और अरब-सागर पर कब्जा कर रक्खा था। उसका मुख्य बन्दरगाह 'कावेरीपड्डिनम्' कावेरी नदी के मुहाने पर बसा था। विजयालय चोल साम्राज्य का पहला महान राजा था। चोल उत्तर की ओर फैलते गये; पर अन्त में राष्ट्रकूटो ने उन्हे एकाएक हरा दिया। लेकिन राजराजा ने चोल राज वंश को फिर से ताकतवर बना दिया। और उसकी खोई हुई शान लौट आई। यह दसवी सदी के अन्त की बात है, जब उत्तरी हिन्दुस्तान में मुसलमानो के हमले हो रहे थे। सुदूर उत्तर में जो घटनायें हो रहीं थीं, उनका प्रभाव राजराजा पर कुछ नहीं पड़ा, और वह अपने साम्राज्य को बढ़ाने की कोशिश में बराबर लगा रहा। उसने लका को जीता, और चोलो ने वहा ७० वर्ष तक राज्य किया। राजराजा का पुत्र राजेन्द्र भी उसीकी तरह जबर्दस्त और लड़ाकू था। उसने दक्षिण बरमा को जीता; अपने साथ लड़ाई के हाथियो को जहाजो में भर कर ले गया था। वह उत्तरी हिन्दुस्तान में भी आया और बंगाल के राजा को हरा दिया। इस प्रकार चोल साम्राज्य बहुत विस्तृत हो गया। गुप्त साम्राज्य के बाद सबसे बड़ा साम्राज्य यही था। लेकिन बहुत दिन तक नहीं ठहर सका। राजेन्द्र बड़ा दिलेर और बहादुर था, लेकिन मालूम होता है कि वह बड़ा जालिम था, और जिन राज्यो को उसने जीता, उनके दिलो को जीतने की उसने कोशिश नहीं की। राजेन्द्र ने सन् १०१३ से १०४४ तक राज्य किया। उसकी मृत्यु के बाद चोल साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया और बहुत से मातहत राजाओ ने बगावत कर दी।

अपनी इन सैनिक विजयो के अलावा चोल बहुत दिनो तक अपने समुद्री व्यापार के लिए मशहूर थे। उनके बनाये हुए सुन्दर सूती कपडो की बडी माँग थी। उनका बन्दरगाह कावेरीपड्डिनम् बडे चहल-पहल का स्थान था। वहा दूर दूर देशो से माल लेकर जहाज आते थे और वहासे माल ले जाते थे। वहाँ पर यवनो यानी यूनानियो की बस्ती भी थी। महाभारत में भी चोलो का जिक्र पाया जाता है।

मैंने दक्षिण भारत के कई सौ बरसो का हाल सक्षेप में तुम से कहने की कोशिश की है। शायद मेरे संक्षेप की इस कोशिश से तुम घपले में पड़ जाओगी। लेकिन हम अपनेको अनेक राष्ट्रो और राजवंशो की भूल-भुलैया में फँसा नहीं सकते। हमें सारे संसार पर विचार करना है और अगर इस दुनिया के एक छोटे हिस्से में फँस कर रह जायें, फिर चाहे वह हिस्सा वही क्यो न हो जहाँ हम रहते है, तो हम बाकी हिस्सो पर गौर नहीं कर सकेंगे।

लेकिन राजाओ और उनकी विजयो से तो उस समय की सभ्यता और कला सम्बन्धी विवरण ज्यादा महत्वपूर्ण है। उत्तरी हिन्दुस्तान की बनिस्वत दक्षिण में कला के बहुत ज्यादा अवशेष पाये जाते है। उत्तर के बहुत से स्मारक, इमारते और पत्थर की मूर्तियाँ लड़ाइयो में और मुसलमानी हमलों के समय नष्ट हो गई है। दक्षिण हिन्दुस्तान में ये चीजें उस समय भी बच गई थीं, जब मुसलमान वहाँ पहुचे। यह बडे दुर्भाग्य की बात है कि उत्तरी हिन्दुस्तान की बहुत-सी सुन्दर यादगारे नष्ट कर दी गई। जो मुसलमान उत्तर भारत में आये,—और यहाँ यह याद रक्खो कि वे मध्य-एशिया के निवासी थे न कि अरब के—उनमें अपने मजहब के लिए जोश भरा था, और वे मूर्तियों को नष्ट कर देना चाहते थे। लेकिन इन मूर्तियों के नष्ट हो जाने की शायद यह भी एक वजह थी कि पुराने मन्दिरो से किले और गढ़ो का काम लिया जाता था। दक्षिण के बहुत से मन्दिर अब भी किलो की तरह बने हुए है, जहाँ लोग हमला होने पर अपना बचाव कर सकते है। इस तरह, ये मन्दिर पूजा के अलावा और भी बहुत से कामो में आते थे। मन्दिरो में ही देहाती मदरसे होते थे। यहीं देहात के लोगो के मिलने-जुलने की जगह होती थी। यहीं पंचायत घर (या पार्लमेण्ट) होता था, और अन्त में अगर जरूरत होती तो दुश्मनो से रक्षा करने के लिए भी यही मन्दिर गांव के निवासियो के लिए किले का काम करते थे। इस तरह इन्ही मन्दिरो के चारों तरफ देहात की सारी जिन्दगी चक्कर लगाया करती थी। स्वाभाविक ही है कि ऐसी हालत में इन मन्दिरो के पुजारी और ब्राह्मण ही सबों पर प्रभाव रखते थे। लेकिन इस बात से कि इन मन्दिरो से कभी-कभी किलो का काम लिया जाता था, हम समझ सकते है, कि मुसलमान हमला करनें पर मन्दिरो को क्यों नष्ट कर देते थे।

इसी जमानें का बना हुआ एक सुन्दर मन्दिर तंजौर में है, जिसे राजराजा चोल ने बनवाया था। बदामी में भी खूबसूरत मन्दिर है, और कांजीवरम् में भी। लेकिन उस जमाने की सबसे अद्भुत इमारत एलोरा का कैलाश मन्दिर है। यह अद्भुत मन्दिर एक ठोस पहाडी पर टीले को काटकर बनाया गया है। इस मन्दिर को बनाने का काम आठवीं सदी के आखिरी हिस्से में शुरू हुआ था।

ताँबे की मूर्तियों के भी बहुत से सुन्दर नमूने मिलते हैं। इनमें 'नटराज' यानी शिव का जीवन-नृत्य की मूर्ति बहुत मशहूर है।

चोला-सम्राट राजेन्द्र प्रथम ने चोलापुरम् में सिंचाई के लिए नहरें बनवाई थीं, उनमें से एक बाँध ठोस और पक्का था और १६ मील लम्बा था। इन बाँधों के बनने के सौ वर्ष बाद एक अरब यात्री अलबेरूनी वहाँ गया, और इन्हे देखकर वह चकित हो गया था। उन बाँधो के बारे में वह लिखता है—"हमारे देशवासी अगर उन्हे देखते तो ताज्जुब करते। वैसी कोई चीज बनाना तो दूर रहा, वे उनका वर्णन भी नही कर सकते।"

मैंने इस पत्र में कई राजाओं और राजवंशो का जिक्र किया है, जिन्होने कुछ दिन तक शान का जीवन बिताया और फिर गायब और विस्मृत हो गये। लेकिन इसी समय दक्षिणी हिन्दुस्तान में एक बडे अद्भुत आदमी ने जन्म लिया, जिसने हिन्दुस्तान की जिन्दगी के नाटक में सभी राजा-महाराजाओ से ज्यादा महत्व का हिस्सा लिया है। यह नौ जवान आदमी शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध है। शायद वह आठवीं सदी के अन्त में पैदा हुआ था। मालूम होता है कि वह एक अपूर्व प्रतिभाशाली का आदमी था। वह हिन्दू धर्म के या हिन्दू धर्म के एक बौद्धिक रूप के, जिसे शैव मत कहते हैं, पुनरुद्धार में लग गया। उसने अपनी बुद्धि और तर्क के बल पर बौद्ध धर्म के विरुद्ध लड़ाई की और बौद्ध-संघ की तरह सन्यासियो का सघ बनाया, जिसमें सब जाति के लोग शामिल हो सकते थे। उसने सन्यासियों के चार केन्द्र कायम किये, जो हिन्दुस्तान के चारो कोनो पर उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूरब में थे। उसने सारे हिन्दुस्तान का सफ़र किया, और जहाँ-कहीं भी वह गया, सफल हुआ। वह एक विजेता के रूप में बनारस आया। वह मुल्क जीतनेवाला नहीं था, बल्कि तर्क से मन को जीतनेवाला था। अन्त में वह हिमालय पर केदारनाथ गया, जहाँ हमेशा जमी रहनेवाली बर्फ की शुरूआत होती है, और वहीं उसका देहावसान हुआ। जब वह मरा उसकी उम्र केवल ३२ वर्ष, या इससे कुछ ही ज्यादा थी।

शंकराचार्य के कामो की कहानी अद्भुत् है। बौद्ध-धर्म, जो उत्तरी भारत से दक्षिण को भगा दिया गया था, अब हिन्दुस्तान से करीब-करीब गायब हो गया। हिन्दू धर्म और उसका एक विशेष रूप, जो शैव मत के नाम से प्रसिद्ध है, सारे देश में फैल गया है। शकर के ग्रन्थो, भाष्यो और तर्कों से सारे देश में एक बौद्धिक हलचल मच गई। शंकर सिर्फ ब्राह्मणो ही का बड़ा नेता नही बन गया, बल्कि मालूम होता है, उसने जन-साधारण के दिलो पर भी कब्जा कर लिया था। यह एक असाधारण बात मालूम होती है, कि कोई आदमी सिर्फ अपनी बुद्धि के बल पर एक बड़ा नेता

हो जाय, और लाखों आदमियो पर और इतिहास पर अपनी छाप डाल दे। बडे योद्धा और विजेता इतिहास में विशेष स्थान पा जाते है, वे लोकप्रिय हो जाते है, और कभी-कभी वे इतिहास पर भी अपना प्रभाव डालते है। बडे-बडे धार्मिक नेताओं ने लाखो के दिलों को हिला दिया है और उसमें जोश की आग जला दी है। लेकिन यह सब कुछ हमेशा श्रद्धा के आधार पर हुआ है। भावनाओं पर प्रभाव डाला गया है और हृदय को स्पर्श किया गया है।

बुद्धि पर प्रभाव डालने का असर ज्यादा दिन तक नहीं रहता। बदकिस्मती से ज्यादातर लोग विचार नहीं करते, वे अपनी भावनाओं के वश में होकर सोचत है, और काम करनें है। लेकिन शंकर की अपील दिमाग, बुद्धि और विवेक के ऊपर होती थी। वह किसी पुरानी किताब में लिखे सिद्धान्त या मत को नहीं दुहराता था। उसका तर्क ठीक था या गलत, इसका विचार इस समय बेकार है। जो बात दिलचस्प है, वह तो यह कि उसने धार्मिक विषयों पर बुद्धि द्वारा विवेचन किया था, और इस तरीके को इख्तियार करने पर भी सफलता पाई थी। इससे हम उस समय के शासक वर्गो की मनोदशा की एक झलक देख सकते है।

शायद तुम्हे यह बात दिलचस्प मालूम हो, कि हिन्दू दार्शनिको में एक आदमी चार्वाक नाम का भी हुआ है जिसनें अनीश्वरवाद का प्रचार किया है, और जो कहा करता था कि ईश्वर नहीं है। आज बहुत से ऐसे आदमी है, खासकर रूस में, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते। लेकिन यहॉ पर हमें इस प्रश्न की गहराई में जानें जरूरत नहीं है।

मतलब की बात यह है कि पुराने जमाने में हिन्दुस्तान में विचार और प्रचार की कितनी आजादी थी। हिन्दुस्तान में लोगो को अन्त.करण की स्वतंत्रता मिली हुई थी। यह अधिकार योरप में अभी हाल के जमाने तक लोगों को नहीं मिला था, और आज भी इस सम्बन्ध में अनेक बन्दिशें पाई जाती है।

शंकर की छोटी किन्तु परिश्रम से भरी जिन्दगी से दूसरी बात यह साबित होती है कि सारे हिन्दुस्तान में सास्कृतिक एकता थी। प्राचीन इतिहास भर में इस बात को सभीने स्वीकार किया है। भूगोल की दृष्टि से, तुम जानती हो, हिन्दुस्तान करीब-करीब एक इकाई है। राजनैतिक दृष्टि से अकसर हिन्दुस्तान में विभेद रहा है, हालाकि कभी-कभी सारा देश एक केन्द्रीय शासन में था, लेकिन संस्कृति के खयाल से यह देश हमेशा एक रहा, क्योकि इसका पार्श्वचित्र, इसके संस्कार, इसका धर्म, इसके नायक और इसकी वीरांगनायें, इसकी पौराणिक गाथायें, इसकी विद्वत्ता से भरी भाषा (संस्कृत), देशभर में फैले हुए इसके तीर्थस्थान,

इसकी ग्राम पचायते, विचार-पद्धति, रीतनीत और सामाजिक संगठन हमेशा एक ही रहे हैं। साधारण हिन्दुस्तानी की नजर में सारा हिन्दुस्तान 'पुण्यभूमि' था और वाकी दुनिया म्लेच्छो का निवास-स्थान थी। इस प्रकार हिन्दुस्तान में हिन्दुस्तानी होने की एक व्यापक भावना पैदा हुई, जिसने राजनैतिक विभेद की परवाह नहीं की; बल्कि उसपर विजय हासिल की। यह बात खास तौर से इसलिए हो सकी कि गावो का पंचायती शासन कायम रहा, चोटी पर चाहे जो तब्दीलियाँ क्यो न होती रही हो।

शंकर का हिन्दुस्तान के चारो कोनो को अपने सन्यासियो के मठ के लिए चुनना, इस बात का सबूत है कि वह हिन्दुस्तान को संस्कृति की दृष्टि से एक चीज समझता था। और उसके इस आन्दोलन में थोडे ही समय मे सफलता का मिलना भी यह जाहिर करता है कि मानसिक और बौद्धिक प्रवाह कितनी तेजी से देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल जाते थे।

शंकर ने शैवधर्म का प्रचार किया। यह धर्म दक्षिण में खास तौर से फैला जहा ज्यादा पुराने मन्दिर शिव के मन्दिर है। उत्तर मे गुप्तो के जमानें मे वैष्णवधर्म का और कृष्ण की पूजा का बहुत प्रचार हुआ था। हिन्दू धर्म के इन दोनो सम्प्रदायो के मन्दिर एक दूसरे से बिलकुल अलग है।

यह खत बहुत बड़ा हो गया और मुझे अब भी मध्यकालीन भारत के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहना बाक़ी है। इसलिए यह काम दूसरे खत के लिए मुल्तवी कर देना ठीक होगा।

: ४५ :

मध्ययुग का भारत

१४ मई, १९३२

तुम्हे याद होगा, कि मैने तुमसे, अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मत्री चाणक्य या कौटिल्य के बनाये हुए आर्थशास्त्र का कुछ जिक्र किया था। इस किताब में उस जमाने की शासन-प्रणाली और उस वक्त के लोगो के बारे में तरह-तरह की बाते लिखी है, जैसे एक ऐसी खिड़की खुल गई हो, जिसमें से हम ईसा के पूर्व की चौथी सदी के हिन्दुस्तान की एक झलक देख सकते है। ऐसी किताबें, जिनमें शासन की बातो का ब्योरेवार वर्णन होता है, बादशाहो और उनकी विजयो के अत्युक्तिपूर्ण बयानो से कही ज्यादा काम की होती है।

एक दूसरी भी किताब है, जिससे मध्ययुग के हिन्दुस्तान के बारे में हम कुछ जान सकते है। यह शुक्राचार्य का बनाया हुआ 'नीतिसार' है। लेकिन यह किताब इतनी उत्तम और सहायक नहीं, जितना अर्थशास्त्र। लेकिन कुछ इसकी मदद से और कुछ दूसरे शिलालेखो और बयानो की मदद से, हम ईसा के बाद की नवी और दसवी सदी की एक झलक देखने की कोशिश करेगें।

'नीतिसार' में लिखा है कि "न तो रंग से, और न ब्राह्मण कुल में पैदा होने से ब्राह्मण होने योग्य भावना पैदा होती है।" इसलिए इस किताब के अनुसार जाति-भेद जन्म से नहीं, बल्कि काम करने की योग्यता से होना चाहिए। एक दूसरी जगह इसमे लिखा है—"सरकारी नियुक्ति करते समय जाति या कुल का खयाल न करना चाहिए, बल्कि कार्यदक्षता, चरित्र और क़ाबलियत देखनी चाहिए।" राजा का फ़र्ज़ था कि वह अपनी राय पर नही बल्कि जनता के बहुमत के अनुसार काम करे। "लोकमत राजा से भी ज्यादा शक्तिशाली चीज है, जैसे कई रेशो की बनी हुई रस्सी शेर को भी घसीट सकती है।"

ये सब बडे उत्तम उपदेश है, और सिद्धान्तरूप से आज भी अच्छे हैं, लेकिन सच बात यह है, कि व्यवहार में इनसे हम बहुत ज्यादा फायदा नहीं उठा सकते। यह मैंने माना कि अपनी लियाकत और काबिलयत से आदमी ऊंचा उठ सकता है। लेकिन आदमी लियाक़त और काबलियत हासिल कैसे करे? कोई लडकी या लड़का चुस्त हो सकता है, और अगर उसे उचित शिक्षा मिले तो होशियार और कुशल भी बन सकता है। लेकिन जब पढ़ने-लिखने और सिखाने का कोई इन्तजाम ही न हो तो बेचारा लड़का या लड़की क्या कर सकती है?

इसी तरह लोकमत क्या है? किसका मत लोक-मत समझा जाय? शायद 'नीतसार' का लेखक शूद्रो की बडी संख्या को मत देने का अधिकारी नही समझता था। इन लोगो की कोई कद्र नहीं थी। शायद उन्हीं लोगो का मत लोकमत समझा जाता था, जो ऊँचे और शासक वर्ग के थे।

फिर भी यह बात ध्यान देने लायक़ है कि मध्ययुग के, और उसके पहले के भी हिन्दुस्तानी राज-संगठन में राजाओं की निरंकुता या उनके दैवी अधिकार का सिद्धान्त बिलकुल नहीं माना जाता था।

इसी किताब में लिखा है कि उस समय एक राजपरिषद् होती थी। सार्वजनिक कामो के लिए और पार्क और जंगलों के लिए एक बड़ा अफ़सर जिम्मेदार होता था। कस्वो और गावों का संगठन था। पुल, घाट, धर्मशालाओं, सड़को और सबसे महत्वपूर्ण चीज शहर और गाँव की नालियों की देख-रेख का इन्तजाम था।

गाँवो के मामलों में गांव की पंचायतो को पूरा-पूरा इख्तियार था और सरकारी अफ़सर पंचो की बडी इज्जत करते थे। पचायत ही खेत देती थी, लगान वसूल करती थी और गाँव की तरफ से सरकार को मालगुजारी अदा करती थी। एक बहुत बडी पंचायत थी, जिसे महासभा कहते थे। यह महासभा इन छोटी पंचायतो की निगरानी करती थी। इन पंचायतो को अदालती इख़्तियार भी हासिल थे। ये लोग जज की हैसियत से भी काम कर सकते थे, और लोगो के मुकदमों का फैसला भी कर सकते थे।

दक्षिण हिन्दुस्तान के कुछ पुराने शिलालेखो में बताया गया है कि पंचो का चुनाव कैसे होता है; किस योग्यता की इनसे आशा की जाती है, और इनके लिए कौन-कौन सी बातें वर्जित थीं। अगर कोई पंच सार्वजनिक पैसे का हिसाब नही देता था, तो वह पच होने का हक खो बैठता था। दूसरा एक बहुत दिलचस्प कायदा यह था कि पंचो के नजदीकी रिश्तेदार नौकरियाँ नही पा सकते थे। अगर यही कायदा अब भी हमारी कौंसिल ,असेम्बली और म्युनिसिपैलिटियो में भी लागू कर दिया जाय तो कितना अच्छा हो। कमिटी के मेम्बरो में एक स्त्री का भी नाम आया है। इससे यह जाहिर होता है कि औरते भी पचायतो और उसकी कमिटियो की मेम्बर बन सकती थीं।

पचायत के मेम्बरो में से कमिटिया बनाई जाती थी, और हरेक कमिटी साल भर तक के लिए होती थी। अगर कोई सदस्य बेजा काम करता था, तो वह फौरन हटा दिया जाता था।

ग्रामीण स्वराज्य की यह प्रणाली आर्य-शासन व्यवस्था की बुनियाद थी। इसीकी वजह से इसमें इतनी ताकत थी। गाँव की ये सभायें, अपनी आजादी की इतनी परवाह करती थी, कि यह कायदा था कि बिना राजाज्ञा के कोई भी सिपाही किसी गाव में घुस नही सकता था। 'नीतिसार' में लिखा हुआ है, कि जब प्रजा में से कोई राजा से किसी सरकारी अफसर की शिकायत करे, तो राजा को चाहिए कि वह अपनी प्रजा का पक्ष करे, न कि अपने अफसर का। अगर बहुत से आदमी किसी अफसर की शिकायत करें, तो उस अफसर को बरख़ास्त कर देना चाहिए क्यो कि 'नीतिसार' में लिखा है "अधिकार की शराब पी कर किसको नशा नहीं होता"। ये शब्द बुद्धिमानी के मालूम होते हैं। और खासकर आजकल के हमारे देश के उन अफसरो के गिरोह पर लागू होते हैं, जो हमारे साथ बुरा सलूक करते और बुरी तरह हकूमत करते हैं।

बडे शहरो में, जहां बहुत से कारीगर और व्यापारी रहते थे, व्यापारी और कारीगरों की भी पंचायते होती थी। इस तरह से कारीगरो के संघ थे, बैंकिग

कारपोरेशन थे, धनी महाजनों और साहूकारो की सभायें थी और व्यापारियों के भी संघ थे। धार्मिक संस्थायें तो थी ही। ये संस्थायें अपने अन्दरूनी इन्तजाम पर अपना बहुत काबू रखती थी।

राजा को यह हुक्म था कि लोगो पर हलका कर लगावे, जिससे उनको नुकसान न पहुंचे और उन पर भारी बोझ न पड़ जाय। राजा को लोगो पर उसी तरह से टैक्स लगाना चाहिए जैसे माला बनानेवाला माली बगीचे के पौधों और वृक्षो से फूल और पत्तियां चुनता है, कोयला जलानेवाले की तरह नहीं।

यह मुख्तसर-सी और टूटी फूटी सूचना हमें हिन्दुस्तान के मध्य युग के बारे में मिलती है। यह पता चलाना मुश्किल है कि किताबो में जो नीति लिखी हुई है, उस पर किस हद तक अमल होता था। किताबो में लम्बे-चौडे आदर्श और सिद्धान्त की बाते लिखना बहुत आसान होता है, लेकिन जिन्दगी में उनपर अमल करना मुश्किल है। पर इन किताबो से हम उस जमाने के लोगों की धारणा और विचार-प्रणाली समझ सकते है, चाहे वे इन पर पूरी तरह अमल न कर सकते रहे हों। हमें यह पता चलता है कि राजा और शासक निरंकुश नही थे, चुनी हुई पंचायतें इन पर नियंत्रण या दबाव रखती थीं। हमें यह भी पता चलता है कि गांव और शहरों में स्वशासन की प्रणाली काफी तरक्की कर चुकी थी, और केन्द्रीय सरकार उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करती थी।

लेकिन जब मैं जनता की विचार-धारा की या स्वशासन की बात करता हूँ, तब मेरा क्या मतलब होता है? हिन्दुस्तान का सारा सामाजिक ढाँचा जाति-भेद पर बना हुआ था। सिद्धान्त रूप से सम्भव है, जाति-पाति के मामले में सख्ती न रही हो; मुमकिन है, जैसा 'नीतिसार' में लिखा है, लियाकत और योग्यता के सामने जाति-पांति का बन्धन ढीला हो जाता रहा हो। लेकिन वास्तव में इसका अर्थ कुछ नहीं होता। ब्राह्मण और क्षत्रिय ही दरअसल शासक थे। कभी-कभी इनमें आपस में प्रभुत्व के लिए लड़ाई होती थी। लेकिन ज्यादातर ये लोग मिल-जुल-कर राज्य करते थे, और एक दूसरे का लिहाज़ रखते थे। दूसरी जातियो को ये दबाये रहते थे। धीरे-धीरे जब व्यापार-धधे बढ़े व्यापारी वर्ग अमीर और महत्वपूर्ण हो गया, और जब इसका महत्व बढ़ा तो इसको कुछ अधिकार भी मिले और इन्हे अपनी पंचायत के अन्दरूनी मामलो को तै करने की आज़ादी मिल गई। लेकिन फिर भी इस वर्ग को राज्य की शक्ति में कोई असली हिस्सा नही मिला था। और बेचारे शूद्र तो बराबर सबसे नीचे रहे। इनके नीचे और भी दूसरे थे।

कभी-कभी नीची जाति के आदमी भी ऊपर उठते थे। शूद्र भी राजा हुए हैं।

लेकिन इसे अपवाद समझना चाहिए। सामाजिक हैसियत में ऊंचा उठने का तरीका ज्यादातर यह था कि सारी उपजाति की अपजाति एक जीना ऊंचे उठ जाती थी। हिन्दू-धर्म अकसर नीची हालत के फिरको को हजम कर लेता था, धीरे-धीरे ये लोग ऊपर उठते थे।

इस तरह तुम देखोगी कि, हिन्दुस्तान में हालाकि पश्चिम के जैसे मजदूर गुलाम नही होते थे, फिर भी हमारा सारा सामाजिक ढाचा श्रेणियो में बंधा हुआ था, यानी एक वर्ग दूसरे वर्ग पर खड़ा था। लाखो आदमी जो नीचे की तह पर थे, चूसे जाते थे. और जो लोग ऊपर थे, उनका बोझ उन्हें सहना पड़ता था, और जो लोग चोटी पर थे, वे इस बात की पूरी-पूरी कोशिश करते थे, कि यह प्रणाली हमेशा कायम रहे, और सारे अधिकार इनके हाथ में रहे। इसलिए ये लोग बेचारे उन आदमियो को, जो बिल्कुल सतह पर थे, शिक्षा का मौका ही नहीं देते थे। गाँव की पंचायतो में शायद किसानो का कुछ हक़ था, वहां कोई इनकी उपेक्षा नही कर सकता था; लेकिन यह बहुत मुमकिन है कि कुछ होशियार ब्राह्मण इन पचायतो पर भी हावी रहे हो।

यह पुरानी राज्य-प्रणाली तब से चली आती थी, जब आर्यों ने हिन्दुस्तान में क़दम रक्खा और द्रविडो के सम्पर्क में आये। यह प्रणाली उस मध्यकाल तक जारी रही, जिसका हम जिक्र कर रहे है। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि कमजोरी बराबर बढ़ती, गई और पतन होता रहा। शायद यह प्रणाली पुरानी हो रही थी, और बाहर से होनेवाले विदेशी हमलो ने धीरे-धीरे इसे नष्ट कर डाला।

तुम्हे यह जानने में दिलचस्पी हो सकती है कि पुराने जमाने में हिन्दुस्तान गणित के लिए बहुत प्रसिद्ध था, और इस सम्बन्ध में एक स्त्री लीलावती का नाम बहुत मशहूर है। कहते है कि लीलावती, और उसके पिता भास्कराचार्य ने, और शायद एक दूसरे आदमी ब्रह्मगुप्त ने, पहले पहल दशमलव की प्रणाली निकाली थी। एलजबरा (बीजगणित) भी हिन्दुस्तान में ही पैदा हुआ। हिन्दुस्तान से यह अरब में गया, और अरब से योरप तक पहुँचा। एलजबरा अरबी शब्द है।

: ४६ :

शानदार अंगकोर और श्रीविजय

१७ मई, १९३२

अब हम बृहत्तर भारत की तरफ जायेंगे। बृहत्तर भारत उन उपनिवेशो या बस्तियों के समूह का नाम था, जहां लोग दक्षिण हिन्दुस्तान से आकर मलेशिया और हिन्दी-चीन या इण्डो-चाइना में बसे थे। मैंने पहले तुम्हे बता दिया है कि ये बस्तियाँ किसतरह समझ-बूझकर संगठितरूप से बसाई गई थी। ये कोई आप-ही-आप नही बन गई थीं। समुद्र के पार अकसर सफर होते रहे होगे, और समुद्र के ऊपर काफी अधिकार मिल गया होगा। नहीं तो एक ही वक़्त में, कई जगहो पर, संगठितरूप से नई बस्तियो का बसाना कैसे मुमकिन हो सकता है? मैंने तुम्हे बताया है कि ये नई बस्तियाँ ईसवी सन् की पहली और दूसरी सदी में शुरू हुई। ये सब हिन्दू बस्तियाँ थीं, और इनका दक्षिण भारतीय नाम रखा गया था। कई सदियो के बाद यहाँ बौद्ध धर्म धीरे-धीरे फैला, और सारा मलेशिया हिन्दू से बौद्ध हो गया।

अब हम पहले हिन्दी-चीन को चले। सबसे पुराने उपनिवेश का नाम चम्पा था, और यह अनाम प्रदेश में था। हमें पता चलता है कि ईसा की तीसरी सदी में अनाम में पाण्डुरंगम् नाम का शहर बढ़ रहा था, और यही दो सौ बरस बाद कम्बोज नाम के बडे शहर ने भी उन्नति की थी। इसमें बडी इमारते और पत्थर के मन्दिर थे। इन हिन्दुस्तानी नई बस्तियो में सब जगहो पर बडी-बडी इमारतें बन रही थीं। मशहूर इमारतें बनानेवाले और राजगीर हिन्दुस्तान से समुद्र पार ले जाये गये होगे, और ये लोग, इमारतों के बनाने का हिन्दुस्तानी ढंग अपने साथ ले गये होंगे। मुख़्तलिफ राज्यो और टापुओ में इमारते बनाने के मामले में बड़ी लाग-डाँट थी और इस लाग-डाँट की वजह से एक ऊँची तरह की कला-सम्बन्धी उन्नति हो गई थी।

इन उपनिवेशो के रहनेवाले लोग स्वभावतः समुद्र-यात्री थे। इन लोगो नें, या इन-के पूर्वजो, ने इस जगह तक पहुँचने के लिए समुद्र पार तो किया ही था और वहां पहुँचने पर फिर इनके चारो ओर समुद्र ही समुद्र था। समुद्र-यात्री लोग बहुत आसानी से व्यापार करने लगते हैं, इसलिए ये भी व्यापारी हो गये। व्यापार का माल जुदे-जुदे टापुओं को, पश्चिम में हिन्दुस्तान को और पूरब में चीन को, ले जाते थे। इसलिए मलेशिया के बहुतसे राज्य व्यापारी वर्ग के हाथ में थे। इन राज्यों नें आपस में अक्सर मुख़ालिफत रहती थी। बडी-बडी लड़ाइयाँ छिड़ जाती थीं, और बडे-बडे कत्लेआम भी हो जाते थे। कभी एक हिन्दू-राज्य, किसी बौद्ध राज्य के खिलाफ

लड़ाई ठान देता था, तो कोई बौद्ध-राज्य किसी हिन्दू-राज्य से लड़ाई ठान लेता था। लेकिन उस जमाने में मेरा खयाल है कि इन लड़ाइयों में से बहुत-सी लड़ाई की वजह व्यापारिक होड़ रही होगी। जैसे आज-कल बडी-बडी शक्तियो में लड़ाई इसलिए होती है, कि उनको अपने यहाँ के बने हुए माल के लिए बाजार की जरूरत रहती है।

लगभग तीन सौ बरस तक, यानी आठवीं सदी तक, हिन्दी-चीन में तीन अलग-अलग हिन्दू राज्य थे। नवीं सदी में एक बहुत बड़ा राजा हुआ, जिसका नाम जयवर्मन् था। इसने इन राज्यो को एक में मिला दिया, और एक बहुत बड़ा साम्राज्य क़ायम किया। यह शायद बौद्ध था। इसने अपनी राजधानी अंगकोर को बनाना शुरू किया, और इसके उत्तराधिकारी यशोवर्मन ने उसे पूरा किया। यह कम्बोजी साम्राज्य करीब ४०० वर्ष तक कायम रहा, और जैसा सब साम्राज्यो के बारे में कहा जाता है, यह भी बड़ा ताकतवर और शानदार साम्राज्य समझा जाता था। 'अंगकोर थाम' का राजनगर सारे पूरब में 'शानदार अंगकोर' के नाम से मशहूर था। इसके पास ही 'अंगकोरवाट' का अद्भुत मन्दिर था। तेरहवी सदी में कम्बोडिया पर कई दिशाओ से हमला हुआ। अनामी लोगो ने पूरब की ओर से आक्रमण किया, और पश्चिम की ओर से वहा की स्थानीय जातियो ने। उत्तर में शान लोगो को मंगोलो ने दक्षिण की ओर भगा दिया था। इनके सामने भागने का कोई दूसरा रास्ता नही था, इसलिए इन्होने कम्बोडिया पर हमला कर दिया। यह राज्य इस तरह, बराबर लड़ाई करते-करते और अपनी हिफाजत करते-करते बिल्कुल पस्त हो गया। फिर भी अंगकोर पूरब का एक सबसे ज्यादा शानदार शहर बना रहा। ई० सन् १२९७ में, एक चीनी दूत ने, जो कम्बोजी राजा के दरबार में भेजा गया था, अगकोर की अद्भुत इमारतो का बड़ा सुन्दर वर्णन लिखा है।

लेकिन एकाएक अंगकोर पर एक भयंकर आफत आगई। सन् १३०० के करीब कीचड़ जमा हो जाने से मीकाग नदी का मुहाना बन्द हो गया और नदी के पानी को बहने का रास्ता न मिलने से वह पीछे लौटकर इस विशाल शहर के चारो तरफ़ की जमीन में भर गया। सारे उपजाऊ खेत निकम्मे, तराई और कछार के रूप में बदल गये। शहर की बडी आबादी भूखो मरने लगी और शहर छोड़कर दूसरी जगहों पर जाने के लिए मजबूर होगई। इस तरह शानदार अगकोर उजाड़ हो गया और जगलो ने उसे छिपा लिया। उसकी अद्भुत इमारतो में कुछ दिनो के लिए जंगली जानवर आकर रहने लगे। यहाँतक कि जंगलो ने उसके महलो को खाक में मिला दिया और वहां अपना निष्कण्टक राज्य कायम कर लिया।

कम्बोडिया राज्य इस आफ़त से बहुत दिनो तक अपने- आपको नहीं बचा

सका, धीरे-धीरे बिखर गया और एक ऐसा प्रदेश बन गया, जिस पर कभी तो अनाम हुकूमत करता था और कभी स्याम। लेकिन आज भी अंगकोरवाट के विशाल मंदिर के खण्डहर हमें बताते हैं कि कभी इस मन्दिर के पास एक शानदार और बाँका शहर बसा हुआ था, जहाँ दूर-दूर देशों के व्यापारी अपना माल लेकर आते थे, और जहाँसे इस शहर के कलाकारों और कारीगरों का बनाया हुआ नफीस माल दूसरे देशो को जाया करता था।

समुद्र के पार, हिन्दी-चीन से थोडी ही दूर, सुमात्रा का टापू था। यहाँ भी दक्षिण भारत के पल्लवो ने ईसा की पहली और दूसरी सदी में अपने नये उपनिवेश बसाये थे। ये बस्तियां धीरे-धीरे तरक्की कर गईं। मलाया का प्रायद्वीप शुरू से सुमात्रा राज्य का हिस्सा बन गया था, और उसके बाद बहुत दिनों तक सुमात्रा और मलाया प्रायद्वीप का इतिहास मिला-जुला रहा। श्रीविजय नाम का बड़ा शहर, जो सुमात्रा के पहाडो में बसा हुआ है, इस राज्य की राजधानी थी। पालेमबांग नदी के मुहाने पर इसका एक बन्दरगाह था। पाँचवीं या छठीं सदी में बौद्ध धर्म सुमात्रा का प्रमुख धर्म बन गया। सुमात्रा तो बौद्ध धर्म के प्रचार में बहुत उत्साही और अग्रसर, रहा और आखिर में हिन्दू मलेशिया के अधिकांश भाग को बौद्ध बनाने में सफल भी हुआ। इसीलिए सुमात्रा के साम्राज्य का नाम 'श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य' है।

श्रीविजय दिन-ब-दिन बढ़ता गया, यहाँ तक कि उसके कब्जे में सुमात्रा और मलाया ही नहीं, बल्कि फिलीपाइन, बोर्नियो, सेलेबीज, आधा जवा, फ़ारमूसा के टापू का आधा हिस्सा (जो अब जापान के कब्जे में है) लंका और कैण्टन के पास दक्षिण चीन का एक बन्दरगाह भी आ गया। शायद इस साम्राज्य के अन्दर हिंदुस्तान के दक्षिणी कोने पर और लंका के सामने का एक बन्दरगाह भी शामिल था। तुम देखोगी कि श्रीविजय का साम्राज्य एक लंबा चौड़ा साम्राज्य था जिसमें सारा मलेशिया शामिल था। इन हिन्दुस्तानी बस्तियों का ख़ास पेशा दूकानदारी, व्यापार और जहाज बनाना था। चीनी और अरब लेखको ने उन बन्दरगाहों और उपनिवेशों की एक फेहरिस्त दी है, जो सुमात्रा राज्य की मातहती में थे। यह फेहरिस्त बढ़ती ही गई है।

ब्रिटिश साम्राज्य आज सारी दुनिया में फैला हुआ है। हर जगह उसके बन्दरगाह और अनेक कोयला लेने के स्टेशन हैं। जैसे जिब्राल्टर, स्वेज नहर (जो अंग्रेजों के अधिकार में ज्यादा है) अदन, कोलम्बो, सिंगापुर, हांगकांग वग़ैर-वग़ैरा। अंग्रेजों की कौम पिछले तीन सौ बरसो से एक व्यापारिक क़ौम रही है। इनका व्यापार तथा इनकी ताकत सामुद्रिक प्रभुत्व पर निर्भर हैं। इसलिए इन लोगो को इस बात की जरूरत थी कि सारी दुनिया भर में सुविधाजनक फ़ासले पर बन्दरगाह और कोयला

लेने के स्टेशन हों। श्रीविजय साम्राज्य भी व्यापार की बुनियाद पर बनी हुई एक सामुद्रिक शक्ति थी। इसलिए जहां उन्हे कदम रखने के लिए छोटी-सी भी जगह मिल गई, उन्होने बन्दरगाह बना लिया। सुमात्रा-राज्य की बस्तियो का एक विचित्र पहलू यह भी था कि वे युद्ध-कला की दृष्टि से भी महत्व रखती थी। वे ऐसी जगह बसाई गई थी जहां आस-पास के समुद्रो पर अपना क़ाबू रख सके। कहीं-कही ये बस्तियां इतनी पास-पास बसाई गई थीं कि इस अधिकार को बनाये रखने में एक दूसरे की मदद करे।

इस प्रकार सिंगापुर, जो बहुत बड़ा शहर है, सुमात्रा में जाकर बसनेवालों की एक बस्ती थी। यह नाम बिलकुल हिन्दुस्तानी है 'सिहांपुर'। सिंगापुर के सामने, जलडमरूमध्य के उस पार सुमात्रा के लोगो की एक दूसरी बस्ती भी थी कभी-कभी ये लोग इस जलडमरूमध्य के किनारे तक लोहे की एक जंजीर डालकर दूसरे जहाजो का आना-जाना रोक देते थे, और बहुत काफी महसूल वसूल कर लेने पर ही उन्हे आने-जाने देते थे।

इस तरह श्रीविजय का साम्राज्य ब्रिटिश साम्राज्य से बहुत जुदा नहीं था। हां, छोटा जरूर था, लेकिन जितने दिनो तक ब्रिटिश साम्राज्य के कायम रहने की सम्भावना है, उससे कही ज्यादा दिनो तक वह कायम रहा। ग्यारहवीं सदी में यह साम्राज्य अपनी उन्नति की आखिरी सीढ़ी पर था। यह करीब-करीब वही जमाना है जब दक्षिण भारत में चोल साम्राज्य का बोलबाला था। लेकिन श्रीविजय का साम्राज्य चोल साम्राज्य के बाद भी जिन्दा रहा। श्रीविजय और चोल के आपस के सम्बन्ध का पता लगाना बहुत दिलचस्प बात होगी। दोनो ही समुद्र-यात्री कौमें थी; दोनो ही साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों में आगे बढ़ी रहती थीं; दोनो ही बडी-बडी सेनायें रखती थीं; और दोनो ही व्यापारी थी। इनके आपस में बहुत सम्पर्क रहा होगा; लेकिन यह सम्पर्क मित्रता का था या दूसरे किस्म का यह मैं नहीं बता सकता शायद पुरानी किताबो में इस सम्बन्ध में कुछ लिखा हो।

ग्यारहवी सदी के शुरू में चीनी सम्राट ने सुमात्रा के राजा के लिए कई तांबे के घण्टे उपहार में भेजे थे। इसके बदले में सुमात्रा के राजा ने मोती, हाथीदांत और संस्कृत की किताबें भेजी थी। एक ख़त भी भेजा गया था, जो कहते है सोने के पत्र पर हिन्दुस्तानी लिपि में लिखा था। मै नही बता सकता कि इस खत की लिपि देवनागरी थी या दक्षिण की द्रविड भाषाओं की कोई लिपि थी। गालिबन् भाषा संस्कृत या पाली रही होगी।

श्रीविजय बहुत दिनो तक हरा-भरा रहा। दूसरी सदी के शुरू से पांचवीं या

छठी सदी तक, जब यह बौद्ध हो गया, और उसके बाद भी यह धीरे-धीरे ग्यारहवीं सदी तक बराबर तरक्की करता गया। इसके बाद भी तीन सौ बरस तक यह एक विशाल साम्राज्य बना रहा और मलेशिया के व्यापार-धंधो पर उसका कब्जा बना रहा। अन्त में ई० सन् १३७७ में एक पुराने पल्लव उपनिवेश ने इसे हरा दिया।

मै तुमको बता चुका हूँ कि श्रीविजय साम्राज्य सीलोन से चीन के कैंटन तक फैला हुआ था और सीलोन और कैंटन के बीच के टापू ज्यादातर इस साम्राज्य की मातहती में थे। लेकिन यह एक छोटे से टुकडे को कभी हरा न सका। यह जावा का पूर्वी हिस्सा था, जो एक स्वतन्त्र राज्य की सूरत में कायम रहा। हिन्दू भी बना रहा और बौद्ध होने से बराबर इनकार करता रहा। इस तरह पश्चिमी जावा तो श्रीविजय की मातहती में और पूर्वी जावा स्वतन्त्र था। पूर्वी जावा का यह हिन्दू राज्य भी व्यापारी राज्य था और अपनी खुशहाली के लिए व्यापार-धंधे पर आश्रित था। यह सिंगापुर को बडी लालच की नजर से देखता रहा होगा, क्योंकि सिंगापुर बडे मौके से बसा है, और एक बहुत बड़ा व्यापारी केन्द्र होगया था। इस तरह श्रीविजय और पूर्वी जावा में लाग-डांट रहती थी, और यह लाग-डांट बढ़कर कट्टर दुश्मनी के रूप में बदल गई थी। बारहवीं सदी से आगे जावा साम्राज्य धीरे-धीरे श्रीविजय को दबाकर बढ़ा, यहांतक कि, जैसा मैंने तुमको बताया है, चौदहवीं सदी में, यानी ई० सन् १३७७ में, इसने श्रीविजय को बिलकुल हरा दिया। यह लड़ाई बडी बेरहमी से लडी गई, और इसमें बड़ा विनाश हुआ। श्रीविजय और सिंगापुर दोनों तहस-नहस हो गये, और इस प्रकार मलेशिया के दूसरे महान साम्राज्य का अन्त हुआ, और इसके खण्डहरो पर तीसरा मज्जापहित का साम्राज्य उठ खड़ा हुआ।

पूर्वी जावा के निवासियो ने यद्यपि श्रीविजय के साथ अपनी लड़ाइयो में बहुत निर्दयता और क्रूरता दिखाई, फिर भी मालूम होता है कि यह हिन्दू राज्य सभ्यता के बहुत ऊँचे पैमाने तक पहुँच चुका था। उस जमाने की बहुत-सी किताबें जावा में मिलती हैं। लेकिन जिस बात में यह श्रेष्ठ था वह इमारत बनने की, खासकर मन्दिर बनाने की, कला थी। जावा में पाँच सौ से ज्यादा मन्दिर थे, और कहा जाता है कि, इन मन्दिरो में कुछ ऐसे थे जिनमें पत्थर के काम के दुनिया भर से ज्यादा सुन्दर, बारीक और कलापूर्ण नमूने पाये जाते थे। इन बडे-बडे मन्दिरों में से बहुत-से सातवीं सदी से दसवीं सदी यानी सन् ६५० से ९५० के बीच तक के बने हुए थे। इन विशाल मन्दिरो को बनाने के लिए जावा के लोगों ने हिन्दुस्तान और आस-पास के मुल्कों से अपनी सहायता के लिए बहुत काफी तादाद में होशियार राजगीर और कारीगर बुलाये होंगे। हम जावा और मज्जापहित का हाल अगले खत में देखेंगे।

इस जगह पर मैं यह भी बता दूं कि बोर्नियों और फिलीपाइन दोनों ने लिखने की कला पल्लव उपनिवेशियो के मार्फत हिन्दुस्तान से सीखी थी। बद-किस्मती से फिलीपाइन की बहुत-सी पुरानी हस्त-लिखित किताबें स्पेनवालों ने नष्ट कर डालीं।

यह भी याद रक्खो कि इन टापुओ में बहुत पुराने जमाने से, इस्लाम के पैदा होने के बहुत पहले से, अरबो की बस्तियाँ थी। ये लोग बडे व्यापारी होते थे, और जहाँ व्यापार होता, वहाँ पहुँच जाते थे।

: ४७ :

रोम का अन्धकार में पतन

१९ मई, १९३२

मै अक्सर यह महसूस करता हूं कि पुराने इतिहास की भूल-भुलैयां मे मैं तुम्हे अच्छी तरह से रास्ता नहीं दिखा सकता हूँ मैं खुद भूल जाता हूँ, फिर तुम्हे ठीक रास्ता कैसे दिखा सकता हूँ ? लेकिन, फिर मैं यह सोचता हूँ कि शायद मैं तुम्हारी थोडी बहुत मदद कर सकूं, इसलिए इन खतो को जारी रखता हूँ। ये खत मुझे निस्सन्देह बहुत मदद देते है। जब मैं इन्हे लिखने बैठता हूँ, और तुम्हारा ख़याल करता हूँ, तो मै भूल जाता हूँ कि जहाँ मै बैठा हूँ, वहाँ साया में भी टेम्परेचर यानी तापमान ११२ डिग्री है और गरम लू चल रही है। और कभी-कभी तो मैं यह भी भूल जाता हूँ कि मै बरेली के ज़िला जेल में कैद हूँ।

मेरे आख़िरी खत ने मलेशिया में चौदहवीं सदी के ठीक अन्त तक तुम्हे पहुँचा दिया था। लेकिन उत्तर भारत के मामले में अभी हम राजा हर्ष के जमाने, यानी सातवी सदी के आगे नहीं बढ़ सके है। योरप में भी हमें अभी कुछ दिनो की कमी पूरी करनी है। सब जगहो पर वक्त का एक ही पैमाना रखना मुश्किल है। मैं ऐसा करने की कोशिश तो करता हूँ। कभी-कभी, जैसे अंगकोर और श्रीविजय के मामले में हुआ, कई सौ बरस आगे बढ गया, ताकि मैं उनकी कहानी को पूरा कर सकूं। लेकिन याद रक्खो कि जब कम्बोज के और श्रीविजय के साम्राज्य पूरब में फल-फूल रहे थे, हिन्दुस्तान, चीन और योरप में हर तरह की तब्दीलियाँ हो रही थीं। यह भी याद रक्खो कि मेरे पिछले खत में, कुछ ही सफों में, हिन्दी-चीन और मलेशिया का एक हज़ार बरस का इतिहास है। एशिया और योरप के इतिहास की मुख्य धाराओ से ये मुल्क दूर पड़ जाते है, इसलिए इन पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया

जाता। लेकिन इनका इतिहास लम्बा और सम्पन्न है, नई खोजों और सफलताओं में, व्यापार में, कला में, और खासकर मकान बनाने की कला में और दूसरे मार्के के कामो में ये सम्पन्न रहे है। इसलिए इनका इतिहास अध्ययन करने और ध्यान देने के काबिल है। हिन्दुस्तानियो के लिए तो इनकी कहानी खास तौर पर दिलचस्प है; क्योंकि उस जमाने में वे करीब-करीब हिन्दुस्तान के ही हिस्से बन गये थे। हिन्दुस्तान के स्त्री-पुरुष पूर्वी समुद्र पार करके अपने साथ हिन्दुस्तानी संस्कृति, सभ्यता, कला और धर्म ले गये थे।

इस तरह गोकि हम मलेशिया में आगे बढ़ गये, पर असल में हम अभी तक सातवीं सदी में ही है। हमें अभी अरब पहुँचना है और इस्लाम के आगमन पर गौर करना है, जिसकी वजह से योरप और एशिया में बडी-बडी तब्दीलियाँ हो गईं। इसके अलावा योरप की घटनाओ पर भी हमें नजर डालना है।

अब हमें जरा पीछे हटकर योरप पर फिर एक नजर डाल लेनी चाहिए। तुम्हें याद होगा कि रोम-सम्राट् कांस्टेण्टाइन ने कुस्तुन्तुनिया का शहर बास्फोरस के किनारे उस जगह पर बसाया था, जहाँ बिज़ैण्टियम था। साम्राज्य की राजधानी पुराने रोम से उठाकर वह इस शहर को यानी नये रोम को, ले आया था। इसके बाद ही रोम-साम्राज्य दो हिस्सो में बँट गया। पश्चिमी साम्राज्य की राजधानी रोम और पूर्वी की कुस्तुन्तुनिया हुई। पूर्वी साम्राज्य को बडी परेशानी उठानी पडी, और इसके बहुत से दुश्मन हो गये थे। फिर भी ताज्जुब है कि यह सदियो, यानी ११०० बरसो तक, कायम रहा, जबतक कि तुर्कों ने आकर इसका खातमा नहीं कर दिया।

पश्चिमी साम्राज्य की जिन्दगी इस किस्म की नही रही। बहुत दिनों से पश्चिमी दुनिया पर हावी रह चुकनेवाले रोम के राजनगर का, और रोम नाम का इतना ज्यादा रोब होते हुए भी यह साम्राज्य अद्भुत तेजी के साथ बिखर गया। यह किसी भी उत्तरी फिरके के हमले का मुकाबिला नहीं कर सका। एलरिक, जो गाथ जाति का था, इटली में घुस गया, और ४१० ई० में रोम पर क़ब्ज़ा कर लिया। इसके बाद वंडाल आये। उन्होने रोम को लूटा। वे लोग उस जर्मन जाति के थे, जो फ़्रांस और स्पेन पार करके अफरीका में जा पहुँची थी, और वहाँ, कार्थेज के खण्डहरो पर, उसने अपना राज्य बनाया था। पुराने कार्थेज से ये लोग समुद्र पार करके योरप आये, और रोम पर कब्जा कर लिया। रोम पर कार्थेज की यह विजय ऐसी मालूम होती है, मानो प्यूनिक लड़ाइयों में रोम विजय का देर से बदला लिया गया हो।

इसी जमाने के लगभग हूण लोग, जो असल में मध्य एशिया या मंगोलिया से

आये थे, बड़े ताकतवर हो गये थे। ये लोग खानाबदोश थे, और डैन्यूब नदी के पूरब की तरफ और पूर्वी रोमन साम्राज्य के उत्तर-पश्चिम में बस गये थे। अपने नेता एटिला की मातहती में इन्होंने बड़ा जोर बाँधा और कुस्तुन्तुनिया की सरकार और सम्राट् बराबर इनसे डरते रहते थे। एटिला इनको धमकियाँ देता था और इनसे बड़ी-बड़ी रकमें वसूल करता रहता था। पूर्वी साम्राज्य को काफी ज़लील करने के बाद एटिला ने पश्चिमी साम्राज्य पर आक्रमण करने का निश्चय किया। उसने गाल प्रदेश पर हमला किया और दक्षिणी फ़्रांस के बहुत-से शहर बरबाद कर दिये। शाही फौज उससे सामना करने के लायक न थी। लेकिन वे जर्मन फिरके, जिन्हे रोमन लोग बर्बर कहते थे, हूणो के इस हमले से डर गये, इसलिए फ्रैंक और गाथ लोगो ने रोम की शाही फौजो का साथ दिया। इन सबने मिलकर ट्राय की बडी लड़ाई में हूणो का, जो एटिला के सेनापतित्व में लड़ने आये, मुकाबिला किया। कहते हैं, इस लड़ाई में डेढ़ लाख आदमी काम आये। एटिला हार गया और मगोलियन हूण पीछे हटा दिये गये। यह ई० सन् ४५१ की बात है। लेकिन एटिला हार जाने पर भी युद्ध के लिए बड़ा उत्सुक था। वह इटली गया और उसने उत्तर के बहुत-से शहर लूटे और जला दिये। कुछ दिनो बाद ही वह मर गया। लेकिन अपने नाम के साथ वह बेरहमी और कठोरता की एक हमेशा क़ायम रहनेवाली बदनामी छोड़ गया। एटिला आज भी निर्दयतापूर्ण विनाश की मूर्ति समझा जाता है। उसकी मृत्यु के बाद हूण ठडे पड़ गये। वे बस गये, और दूसरी जातियो के लोगो में मिल-जुल गये। तुम्हे खयाल होगा कि यह क़रीब-क़रीब वही ज़माना है, जब सफ़ेद हूण हिन्दुस्तान में आये थे।

इसके ४० बरस बाद थियोडोरिक, जो गाथ जाति का था, रोम का बादशाह हुआ और यही रोम के पश्चिमी साम्राज्य का अन्त था। थोड़े दिनो बाद पूर्वीय रोमन साम्राज्य के एक बादशाह ने, जिसका नाम जस्टीनियन था इस बात की कोशिश की कि इटली को अपने साम्राज्य में मिला ले। इस कोशिश में वह सफल भी हुआ। उसने सिसली और इटली दोनो को जीत लिया। लेकिन थोड़े दिनो बाद ये दोनों उसके हाथ से निकल गये, और पूर्वी साम्राज्य को अपनी ही जिन्दगी के लाले पड़ गये।

क्या यह ताज्जुब की बात नहीं, कि शाही रोम और उसका साम्राज्य इतनी जल्दी, और इतनी आसानी से हरेक आक्रमण करनेवाले फिरके के सामने पस्त हो जायें? इससे कोई यही नतीजा निकालेगा कि रोम के अंजर-पंजर ढीले पड़ गये थे, और वह बिलकुल खोखला हो गया था। गालिबन यह बात सही है। बहुत लम्बे ज़माने तक रोम का रौब ही उसकी ताक़त थी। उसके पुराने इतिहास को देखकर

लोग यह समझने लगे थे कि वही दुनिया में सबसे आगे है; इसलिए लोग उसकी इज्जत करते थे, और रोम का डर लोगों के दिलो में करीब-करीब अन्ध-विश्वास की हद तक पहुँच गया था। इस तरह रोम जाहिरा तौर पर एक महान् शक्तिशाली साम्राज्य की रानी बना रहा; लेकिन असलियत में उसके पीछे कोई ताकत नही रह गई थी। बाहर से शांति थी और थियेटरों में, बाजारो और दंगलो में आदमियो की भीड़ लगी रहती थी; लेकिन असल में वह निश्चित रूप में विनाश की तरफ जा रहा था। इसकी वजह सिर्फ यही नहीं थी कि वह कमजोर था; बल्कि इसका कारण यह भी था कि उसने जनता की गुलामी और मुसीबतो की बुनियाद पर अमीरो की सभ्यता का महल खड़ा किया था। मैंने तुम्हे अपने एक खत में रोम के गरीबों के बलवे और दंगे तथा गुलामो के गदर का हाल, जो बडी बेरहमी से दबा दिया गया था, बताया है। इन बलवो से जाहिर होता है कि रोम का सामाजिक ढांचा कितना सड़ा हुआ था। वह आप-ही-आप छिन्न-भिन्न हो रहा था। उत्तर के फिरकों, अर्थात् गाथ और दूसरी जातियो के आने के कारण, विनाश के इस सिलसिले में कुछ तेजी आ गई। इसीलिए हमला करनेवालो का ज्यादा विरोध नहीं हुआ। रोम देश के किसान अपनी मुसीबतों से बेजार हो उठे थे। वे हर किस्म की तब्दीली का स्वागत करने के लिए तैयार थे। गरीब मजदूर और गुलाम तो और भी बदतर हालत में थे।

पश्चिम के रोमन-साम्राज्य के खत्म होते ही, पश्चिम की कई जातियां आगे आई, जैसे गाथ, फ्रैंच तथा कुछ और, जिनका नाम गिनाकर मैं तुम्हे परेशान न करूँगा। ये आज कल के पश्चिमी यूरोपियन लोगो, यानी जर्मन, फ्रैंच इत्यादि के पूर्वज थे। हम इन देशो को योरप में धीरे-धीरे बनता हुआ देखते है। साथ-ही-साथ हम यह भी देखते है कि इस समय वहाँ एक बहुत नीची किस्म की सभ्यता थी। शाही रोम के खातमे के साथ-साथ रोम की शान और विलासिता का भी खातमा हो गया। और रोम में जो छिछली सभ्यता अभी तक चली जाती थी, एक दिन में गायब हो गई। इसकी जड़ तो पहले ही सड़ चुकी थी। इस तरह हम अपनी आँखो से मनुष्य जाति के पीछे हटनें का एक विचित्र नजारा देखते है। यही बात हमें हिन्दुस्तान, मिस्र, चीन, यूनान, रोम और दूसरी जगहों पर भी देखने को मिलती है। ये जातियाँ परिश्रम के साथ ज्ञान और अनुभव का सग्रह करती है। एक किस्म की अपनी संस्कृति और सभ्यता बनाती है और फिर एक दम से एक जगह पर पहुँचकर ठहर जाती है। यही नहीं, कि ठहर जाती हो, बल्कि पीछे हट जाती है। अतीत के ऊपर एक परदा-सा पड़ जाता है। हालाँकि कभी-कभी हमें उसकी झलक मिल जाती है, लेकिन ज्ञान और अनुभव के पहाड़ पर फिर से चढ़ना इनके लिए जरूरी हो जाता

है। शायद हर मर्तबा हम ज़रा ऊँचा उठते है, और अगले ज़ीने पर चढ़ना आसान हो जाता है; ठीक वैसे जिस प्रकार गौरीशंकर यानी माउण्ट एवरेस्ट की चोटी पर चढने के लिए टोलियो के बाद टोलियाँ आती हैं, और एक के बाद दूसरी टोली चोटी के ज्यादा नजदीक पहुँचने में सफल होती है, और हो सकता है कि बहुत जल्द सबसे ऊँची चोटी पर विजय का झंडा गड़ जाय।

इस प्रकार हम योरप में अन्धकार देखते है। 'अँधेरा ज़माना' शुरू होता है। आदमी की ज़िन्दगी भोडी और क्रूर बन जाती है। शिक्षा का करीब-करीब बिलकुल अभाव हो जाता है। पेशे या मनोरंजन के नाम पर सिर्फ लड़ाई रह जाती है। सुकरात और अफलातून का ज़माना बहुत दूर छूट जाता है।

यह तो पश्चिमी साम्राज्य की बात हुई। आओ, अब पूर्वी साम्राज्य की ओर नज़र दौड़ायें। तुम्हे याद होगा कि कास्टेण्टाइन ने ईसाई धर्म को राज-धर्म बना दिया था। इसके एक उत्तराधिकारी सम्राट् जूलियन ने ईसाई धर्म को मानने से इन्कार कर दिया। वह पुराने देवी-देवताओ की पूजा के मार्ग पर वापस जाना चाहता था, लेकिन सफल न हो सका। पुराने देवी-देवताओ का ज़माना खतम हो चुका था, और ईसाई-धर्म उनके मुकाबिले में ज्यादा ताकतवर था। जूलियन को ईसाई लोग 'काफिर जूलियन' कहने लगे और इसी नाम से इतिहास में वह मशहूर है।

जूलियन के बाद एक दूसरा सम्राट् हुआ, जो उससे बिलकुल दूसरी तरह का था। उसका नाम थियोडोसियस था और उसे 'महान्' कहा गया है। शायद उसे महान् इसलिए कहा गया है कि वह देवी-देवताओ की पुरानी मूर्तियो और मन्दिरो के तोड़ने में महान् था। वह सिर्फ गैर-ईसाइयो के ही खिलाफ नहीं था, बल्कि उन ईसाइयो का भी विरोधी था, जो इसके मतानुसार काफी कट्टर नहीं होते थे। कोई विचार या धर्म, जो उसे पसन्द न होता था, उसे वह नहीं सह सकता था। थियोडोसियस ने थोडे दिनो के लिए पूर्वी और पश्चिमी साम्राज्य को मिला दिया था, और वह दोनो का सम्राट् रहा था। यह ई० सन् ३९२ की बात है, जब रोम पर बर्बरो का हमला नही हुआ था।

ईसाई धर्म फैलता गया। इसको गैर-ईसाइयो से परेशानी नहीं थी। जो कुछ लड़ाई-झगड़ा होता था, वह सब ईसाई सम्प्रदाय के लोग आपस में किया करते थे। असहिष्णुता आश्चर्यजनक थी। सारे उत्तर अफरीका, पश्चिम एशिया, और योरप में भी, बहुत सी जगहो पर लड़ाइयाँ हुई, जिनमें ईसाइयो ने, अपने दूसरे ईसाई भाइयो को डंडे, घूंसो और इसी प्रकार के दूसरे समझाने के 'नरम' साधनो का इस्तैमाल करके, सच्चा धर्म सिखाने की कोशिश की।

ई० सन् ५२७ से ५६५ तक जस्टीनियन कुस्तुन्तुनिया में सम्राट् रहा। मैंने तुमको पहले ही बता दिया है कि उसने गाथ लोगो को इटली से निकाल दिया था और कुछ दिनो के लिए इटली और सिसली पूर्वी सम्राज्य में शामिल कर लिये गये थे। बाद को गाथ लोगों नें इटली को छीन लिया।

जस्टीनियन ने कुस्तुन्तुनिया में सैक्टा सोफिया का खूबसूरत गिरजा बनाया जो आजतक बिजैण्टाईन गिरजों में एक बड़ा ही खूबसूरत गिरजा समझा जाता है। इसने उस वक्त जितनें कानून मौजूद थे, सबको इकट्ठा कराया और योग्य वकीलों से उनको तरतीबवार करा दिया। पूर्वी रोमन साम्राज्य और उसके सम्राटो के बारे में और बाते जानने के बहुत पहले मुझे इस कानूनी किताब से जस्टीनियन का नाम मालूम था। क्योंकि इस किताब का नाम 'इन्स्टीट्यूट आफ जस्टीनियन' है। मुझे यह पढ़नी पडी थी। लेकिन हालाँकि जस्टीनियन ने कुस्तुन्तुनिया में एक युनिवर्सिटी खोली थी, उसने एथेन्स के फिलासफी के पुराने स्कूल बन्द करा दिये थे। ये स्कूल अफलातून ने खोले थे, और करीब एक हजार वर्ष से चले आरहे थे। किसी भी कट्टर और अंधविश्वासी मजहब के लिए फिलासफी एक खतरनाक चीज होती है, क्योंकि इसकी वजह से आदमी सोचने-विचारने लगता है।

इस तरह से हम छठी सदी तक पहुँचते हैं। हम देखते हैं कि धीरे-धीरे रोम और कुस्तुन्तुनिया एक दूसरे से दूर होते जाते हैं। रोम पर तो उत्तर के जर्मन फिरक़े कब्जा कर लेते हैं, और कुस्तुन्तुनिया रोमन कहलाते हुए भी, यूनानी साम्राज्य का केन्द्र हो जाता है। रोम छिन्न-भिन्न होकर अपने उन विजेताओं की सभ्यता के निचले पैमाने तक पहुँच जाता है, जिन्हे अपने शान के जमाने में वह वर्बर कहा करता था। कुस्तुन्तुनिया ने एक तरह से अपनी पुरानी मर्यादा क़ायम रक्खी, लेकिन वह भी सभ्यता के पैमाने में नीचे चला गया है। ईसाई सम्प्रदाय प्रभुत्व के लिए एक दूसरे से लड़ते है, और पूर्वी ईसाई-धर्म, जो तुर्किस्तान, चीन और एबीसीनिया तक फैल गया था, कुस्तुन्तुनिया और रोम दोनों से जुदा होजाता है। 'अंधेरा ज़माना' शुरु होता है। इस समय अगर कोई शिक्षा थी तो प्राचीन भाषाओं की, यानी पुरानी लैटिन, जिसको यूनानी से स्फूर्ति प्राप्त हुई थी। लेकिन इन पुरानी यूनानी किताबो में फिलासफी थी, और देवी-देवताओ का वर्णन था। उस प्रारम्भिक जमाने के दीन-दार, श्रद्धालु और अनुदार ईसाइयो के लिए ये किताबें उचित साहित्य नहीं थीं। इसलिए इनके पढ़ने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। इस तरह से विद्या की हानि हुई और कला के कई रूप नष्ट होगये।

लेकिन ईसाई धर्म नें विद्या और कला को बनाये रखने में भी कुछ सहायता

की है। बौद्ध संघों की तरह ईसाई मठ भी बने और तेजी से फैल गये। इन मठों में कभी-कभी प्राचीन विद्या को आश्रय मिलता था और इन्ही मठो में उस नई कला का भी बीज बोया गया जो कई सदियो के बाद अपने पूर्ण सौन्दर्य से पल्लवति और प्रफुल्लित हुई। इन मठो के फकीरो ने विद्या और कला के चिराग़ की टिमटिमाहट को क़ायम रक्खा। इस चिराग को बुझने न देना ही इनकी सेवा है। लेकिन विद्या की यह रोशनी एक छोटे हल्के में ही परिमित थी; बाहर तो बिल्कुल अँधेरा ही था।

ईसाई धर्म के इस शुरू के जमाने में एक दूसरी आश्चर्य-जनक प्रवृत्ति हमें दिखाई देती है। बहुत से आदमी मजहबी जोश में आकर रेगिस्तानो में या एकान्त जगहों में चले जाते थे, जहा आदमियो की वस्ती नही होती थी और वहा जंगली तरीक़े से रहते थे। ये लोग अपने को पीड़ा पहुँचाते थे, नहाते-धोते नहीं थे और जहा तक हो सकता था पीड़ा सहन करने की कोशिश कहते थे। खास तौर से यह बात मिस्र में पाई जाती थी, जहां इस क़िस्म के बहुत से फकीर रेगिस्तान मे रहा करते थे। इनका यह खयाल था कि जितनी ही ज्यादा पीड़ा वे सहेगे और जितना ही कम नहायें-धोयेंगे, उतने ही अधिक पवित्र हो जायँगे। एक फकीर ऐसा हुआ, जो कई वर्षों तक एक खम्भे की चोटी पर बैठा रहा। धीरे-धीरे इस तरह के फकीरों का ख़ातमा हो गया, लेकिन बहुत दिनों तक अनेक श्रद्धालु ईसाइयो का विश्वास बना रहा कि किसी प्रकार के सुख का उपभोग करना पाप है। कष्ट-सहन के सिद्धान्त ने ईसाई धर्म की विचार धारा पर अपना रंग जमा लिया था। योरप में आज इस तरह की कोई बात नही दिखाई देती। आज तो वहा का यह हाल है कि हरेक आदमी इस बात पर उतारू है कि पागल की तरह इधर-उधर घूमे और मौज करें। अक्सर इस दौड़-धूप की वजह से जी में उदासी और उचाट पैदा हो जाती है और मौज का मजा नही मिलता।

पर हिन्दुस्तान में आज भी हम कभी-कभी देखते है कि कुछ लोग वैसी ही बाते करते है, जैसी मिस्र के ये फ़कीर किया करते थे। ये लोग अपना हाथ ऊपर उठाये रहते हैं, यहांतक कि यह सूखकर बेकार हो जाता है; या लोहे की नुकीली कीलो पर बैठे रहते है, या इसी तरह के अनेक फिजूल और बेवकूफी के काम करते हैं। मेरा ख़याल यह है कि, बहुत से तो, यह इसलिए करते है कि बेसमझ आदमियो के ऊपर रौब गाठकर और धोखा देकर उनसे पैसे वसूल करें और कुछ लोग यह समझकर करते है कि ऐसा करने से पवित्र हो जायँगे। गोया अपने शरीर को किसी अच्छे काम के लिए अयोग्य बना लेना भी जरूरी हो सकता है!

यहाँ मुझे बुद्ध की एक कहानी याद आती है, जिसका जिक्र अपने पुराने मित्र ह्यूएनत्सॉग ने किया है। बुद्ध का एक नौजवान शिष्य तपस्या कर रहा था। बुद्ध ने उस से पूछा—"प्रिय युवक! जब तुम गृहस्थ थे, तब क्या वीणा बजाना जानते थे?" उसने कहा—"जी हाँ!" तब बुद्ध ने कहा—

"अच्छा म इससे एक उपमा देता हूँ। जिस वीणा के तार बहुत कसे होते हैं, उसकी आवाज ठीक नही होती। जब इसके तार ढीले होते है तो उसकी आवाज मे न मिठास होती है, न सगीत। लेकिन जब वीणा के तार न ज्यादा कसे होते हैं, न ज्यादा ढीले, तब इसके तारो से मधुर सगीत निकलता है। यही हाल शरीर का भी है। जब तुम इसके साथ कठोरता का व्यवहार करोगे, यह थक जायगा और मन लापरवाह रहेगा। जब तुम इसके साथ बहुत ज्यादा मुलामियत का व्यवहार करोगे, तो तुम्हारी भावनाये मन्द पड़ जायंगी और तुम्हारी इच्छाशक्ति कमजोर हो जायगी।"

: ४८ :

इस्लाम का आगमन

२१ मई, १९३२

हमने कई देशों के इतिहास पर विचार किया और अनेक साम्राज्यो और सल्तनतो के उत्थान व पतन का भी हाल देखा। लेकिन अरबस्तान का किस्सा अभी तक हमारे सामने नही आया। हाँ, हमने उसके बारे में यह जरूर कहा है कि इस देश के व्यापारी और नाविक दुनिया के दूर-दूर के मुल्को में जाया करते थे। नक्शे को देखो। अरबस्तान के पश्चिम में मिस्र है, उत्तर में सीरिया और इराक है, और थोडी दूर पश्चिम में एशिया माइनर और कुस्तुन्तुनिया है। यहाँ से यूनान भी दूर नहीं है और हिन्दुस्तान भी बस समुद्र के उस पार दूसरी तरफ है। चीन और सुदूर पूरब के मुल्को का अगर हम खयाल न करें, तो अरबस्तान, पुरानी सभ्यताओ के लिहाज से बिल्कुल बीचों-बीच में बसा हुआ था। इराक में दजला (टाइग्रिस) और फुरात (यूफेटीज) नदियो के किनारे बडे-बडे शहर बस गये। इसी प्रकार मिस्र में सिकन्दरिया, सीरिया में दमिश्क और एशिया माइनर मे एण्टिआक जैसे बडे-बडे शहरो का जन्म हुआ। अरब लोग व्यापारी थे और सफर करने के आदी थे, इसलिए इन शहरों को अक्सर आया-जाया करते होगे। फिर भी अरबस्तान ने इतिहास में कोई उल्लेखनीय कार्य नही किया था। यह भी नहीं मालूम होता कि इस देश में सभ्यता का पैमाना उतना ऊँचा रहा हो, जैसा आस-पास के देशों में था। अरबस्तान ने न तो दूसरे देशो

को जीतने की कोशिश की, और न उसको ही जीतना किसीके लिए आसान था।

अरब एक रेगिस्तानी मुल्क है, और रेगस्तान और पहाड़ ऐसे मजबूत आदमियो को जन्म दिया करते हैं जिन्हे अपनी आज़ादी प्यारी होती है और जो आसानी से हराये नही जा सकते। फिर अरब कोई धनी देश नही था, और इसमें कोई ऐसी चीज भी नहीं थी जिसकी लालच से विदेशी विजेता या साम्राज्यवादी इसपर हमला करते। इसमें सिर्फ दो छोटे-छोटे नगर थे, मक्का और यथरीब। ये समुद्र के किनारे बसे हुए थे। बाकी हिस्से में रेगिस्तान के अन्दर आबादियाँ थीं, और इस देश के लोग ज्यादातर बद्दू, यानी 'रेगिस्तान के रहनेवाले' थे। तेज ऊँट और खूबसूरत घोडे इनके आठ पहर के साथी थे। अपनी आश्चर्यजनक सहनशीलता के कारण गधा भी एक कीमती और वफादार दोस्त समझा जाता था। खच्चर या गधे से जब किसी की बराबरी की जाती तो, वह उसे तारीफ की बात समझता था। यह दूसरे मुल्को की तरह कोई बुराई की बात नही समझी जाती थी; क्योकि एक रेगिस्तानी मुल्क में जिन्दगी बडी कठिन होती है और दूसरी जगहो के मुकाबिले वहाँ ताकत और सहनशीलता कहीं ज्यादा क़ीमती गुण समझे जाते हैं।

ये रेगिस्तान के रहनेवाले, आत्माभिमानी, भावुक और झगड़ालू होते थे। ये क़बीले और खानदान बनाकर रहते थे, और दूसरे कबीलो तथा खानदानो से झगड़ा किया करते थे। साल में एक बार ये लोग आपस में सुलह कर लेते थे और मक्का की तीर्थ-यात्रा के लिए जाया करते थे, जहाँ इनके देवताओं की बहुत-सी मूर्तियाँ रक्खी थीं। सबसे ज्यादा वे एक काले पत्थर (संगअसबद) की पूजा करते थे, जिसका नाम 'काबा' था।

इन लोगो की जिन्दगी खानाबदोशो की जिन्दगी थी, और कुलपति या खानदान का सबसे बूढ़ा आदमी इनपर शासन करता था। इनकी जिन्दगी उसी किस्म की थी, जैसी नागरिक जीवन और सभ्यता इख्तियार करने के पहले मध्य एशिया या दूसरी जगहो की आदिम जातियो की हुआ करती थी। अरब के चारो तरफ जितने बडे-बडे साम्राज्य खडे हुए, उन सबके उपनिवेशो में अक्सर अरबस्तान शामिल होता था। लेकिन यह मातहती नाम मात्र को थी। इसमें कोई असलियत नहीं हुआ करती थी, क्योकि खानाबदोश रेगिस्तानी कबीलो पर हुकूमत करना या उनको फतह करना कोई आसान काम नहीं था।

तुम्हें शायद याद होगा कि एक दफा सीरिया में पालमीरा में एक छोटी-सी अरब सल्तनत कायम हुई थी, और ईसवी सन् की तीसरी सदी में, थोडे दिनो के लिए, इस सल्तनत ने एक शानदार जमाना देखा था। लेकिन यह भी खास अरब के बाहर

थी। इस तरह बद्दू लोग पुश्त-दर-पुश्त अपनी रेगिस्तानी जिन्दगी बिता रहे थे। अरबी जहाज व्यापार के लिए बाहर जाते थे, और अरबस्तान में बहुत कम तब्दीली नजर आती थी। कुछ लोग ईसाई गये थे और कुछ यहूदी; लेकिन ज्यादातर लोग ३६० मूर्तियो के, और मक्का के 'काले पत्थर' (काबा) के पूजनेवाले ही बने रहे।

यह एक अजीब बात है, कि अरब कौम, जो इतने दिनो तक सो रही थी, और दूसरी जगहो की घटनाओ से जाहिरा बिलकुल अलग थी, एकदम से जाग पडी, और उसने इतनी ज्यादा तेजी दिखाई कि सारी दुनिया हिल उठी, और उसमें उथल-पुथल मच गई। अरब लोग एशिया, योरप और अफरीका में तेजी के साथ कैसे फैल गये, और उन्होने अपनी ऊँची संस्कृति और सभ्यता का किस प्रकार विकास किया, यह कहानी इतिहास के चमत्कारो में से एक है।

जिस नई शक्ति या ख़याल ने अरबों को जगाया, उनमें आत्म-विश्वास और उत्साह भर दिया, वह इस्लाम था। इस मजहब को एक नये पैगम्बर, मुहम्मद ने, जो मक्का में ५७० ई० में पैदा हुए थे, चलाया था। उन्हे इस मजहब के चलाने की कोई जल्दी नहीं थी। वह शान्ति की जिन्दगी गुजारते थे, और शहर के लोग उनको चाहते थे और उनपर विश्वास करते थे। उनको 'अल् अमीन' (थातीवाला या ट्रस्टी) कहा जाता था। लेकिन जब उन्होने अपने नये मजहब का प्रचार शुरू किया, और ख़ासकर जब वह मक्का की मूर्त्तियो के खिलाफ उपदेश देने लगे, तो बहुत से लोग उनके खिलाफ हो गये, और आखिर उनको अपनी जान बचाकर मक्का से भागना पड़ा। सबसे ज्यादा वह इस बात पर जोर देते थे, कि ईश्वर एक है, और मुहम्मद उसका रसूल है।

मक्का से अपने ही लोगो द्वारा भगा दिये जाने पर, उन्होने यथरीब में अपने कुछ दोस्तों और सहायको के यहाँ आश्रय लिया। मक्का से उनकी इस रवानगी को अरबी जबान में 'हिजरत' कहते हैं, और मुसलमानी सम्वत् उसी वक्त यानी सन् ६२२ ई० से शुरू होता है। यह हिजरी सम्वत् चन्द्र-सम्वत् है, यानी इसमें चन्द्रमा के अनुसार तिथियो का हिसाब लगाया जाता है। इसलिए सौर वर्ष से, जिसका आज कल साधारणतः प्रचार है, हिजरी साल ५-६ दिन कम है। और हिजरी सम्वत् के महीने एक ही मौसम मे नही पड़ते। हिजरी सम्वत् का एक महीना अगर इस साल जाडे में होगा, तो कुछ वर्षो के बाद वही महीना बीच गर्मी में पड़ सकता है।

हम ऐसा कह सकते है कि इस्लाम उस दिन से शुरू हुआ, जिस दिन मुहम्मद साहब मक्का से निकले, या उन्होने 'हिजरत' की, यानी सन् ६२२ से। हालाँकि एक लिहाज से इस्लाम इसके पहले शुरू हो चुका था। यथरीब शहर ने मुहम्मद साहब

१४

का स्वागत किया और उनके आगमन के उपलक्ष में इस शहर का नाम बदलकर 'मदीनत-उन-नबी' यानी 'नबी का शहर' कर दिया गया। आज कल सक्षेप मे इसको सिर्फ मदीना कहते है। मदीना के जिन लोगो ने मुहम्मद साहब की मदद की थी, वे 'अंसार' कहलाये। असार का मतलब है मददगार। इन मददगारो के वंशज अपने इस खिताब पर आज भी अभिमान करते, और अभी तक उसका इस्तैमाल करते है। तुम कम-से-कम इस खानदान के एक आदमी को जरूर जानती हो। हमारे परम मित्र डॉक्टर एम. ए अन्सारी इसी खानदान के है।

इस्लाम या अरबो की विजय-यात्रा पर विचार करने के पहले, आओ, जरा चारो तरफ एक नजर डालले। हम अभी देख चुके है कि रोम खतम हो चुका था, पुरानी यूनानी-रोमन-सभ्यता का अन्त हो गया था और इस सभ्यता ने जो सामाजिक ढाचा बनाया था वह भी बिखर गया था। उत्तरी योरप की जातियाँ और उपजातियाँ सामने आ रही थी। रोम से कुछ सीखने की कोशिश करते हुए ये लोग बिलकुल एक नये किस्म की सभ्यता बना रहे थे। लेकिन यह इनकी शुरुआत ही थी और इनके काम का कोई नतीजा अभी तक नही दिखाई देता था। इस तरह एक तरफ तो पुराने का अन्त हो चुका था, दूसरी ओर नये का जन्म नहीं हुआ था। इसलिए योरप में अंधेरा था। यह सच है कि योरप के पूर्वी किनारे पर पूर्वी रोमन साम्राज्य कायम था। कुस्तुन्तुनिया का शहर उस वक्त भी बड़ा और शानदार शहर था और योरप में सबसे बड़ा शहर माना जाता था। खेल-तमाशे और सरकस उसके थियेटरो में हुआ करते थे और वहाँ बहुत शान व शौकत थी। फिर भी साम्राज्य कमजोर हो रहा था। ईरान के सासानियो के साथ इनकी बराबर लडाई जारी थी। ईरान के खुसरो द्वितीय ने कुस्तुन्तुनिया से उसकी सल्तनत का कुछ हिस्सा छीन लिया था। खुसरो अरबस्तान को भी अपने आधीन मानता था, हालाँकि यह अधीनता नाममात्र की थी। खुसरो ने मिस्र को भी जीत लिया था, और कुस्तुन्तुनिया के किनारे पर पहुँच गया था। लेकिन हिरेक्लियस नामक यूनानी सम्राट ने इसे वहाँ हरा दिया। बाद में खुसरो को उसके ही लड़के कवाद ने मार डाला।

इस तरह तुम देखोगी कि पश्चिम में योरप और पूरब में ईरान दोनो की ही हालत खराब थी। इसके अलावा ईसाई सम्प्रदायो में होनेवाले आपसी झगडो का कोई अन्त ही नही था। अफरीका में और पश्चिम में जिस ईसाई-धर्म का प्रचार था, वह बडा कलुषित और झगड़ालू था। ईरान में जरथुस्त धर्म राजधर्म था और लोगो पर जबरदस्ती लादा जाता था। इसलिए औसत आदमी योरप, अफ़रीका और ईरान में उस समय के मजहब से ऊब गये थे। उन्ही दिनों, सातवीं सदी की शुरुआत में, सारे

योरप में भयंकर महामारियाँ फैल चुकी थीं, जिनके कारण लाखों आदमी मर चुके थे।

हिन्दुस्तान में हर्षवर्धन राज कर रहा था, और ह्यूएनत्सांग इसी समय हिन्दुस्तान में आया हुआ था। हर्ष के राजकाल में हिन्दुस्तान एक शक्तिशाली देश था। लेकिन थोड़े ही दिन बाद उत्तरी हिन्दुस्तान के टुकड़े-टुकड़े होगये और वह कमजोर पड़ गया। पूरब में, और आगे चीन में इसी समय तंग राज-वंश का आरम्भ हुआ था। ई० सन् ६२७ में 'ताई-त्सांग' नाम का उनका एक सबसे बड़ा सम्राट् तख़्त पर बैठा और उसके जमाने में चीनी साम्राज्य पश्चिम में कैस्पियन समुद्र तक फैल गया था। मध्य एशिया के ज्यादातर देश उसकी प्रभुता स्वीकार करते और उसे खिराज देते थे, पर शायद इस सारे विशाल साम्राज्य की कोई केन्द्रीय सरकार नहीं थी।

इस्लाम के जन्म के समय एशिया और यूरोपीय दुनिया की यह दशा थी। चीन शक्तिशाली और मजबूत था, लेकिन वह बहुत दूर था। हिन्दुस्तान भी कम-से-कम, कुछ दिनों तक तो, काफी मजबूत था। लेकिन, जैसा हम आगे देखेंगे, हिन्दुस्तान के साथ इस्लाम का बहुत दिनों तक, कोई संघर्ष पैदा नहीं हुआ। योरप और अफरीका कमजोर हो चुके थे और इनमें जान नहीं थी।

हिजरत के सात वर्ष के अन्दर ही मुहम्मद साहब मालिक के रूप में ही मक्का लौटे। इसके पहले भी वह मदीना से दुनिया के बादशाहों और शासकों के पास, इस बात का आदेश भेजा करते थे कि वे एक ईश्वर और उसके रसूल या पैगम्बर को मंजूर करें। कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् हिरेक्लियस के पास यह आदेश उस वक्त पहुँचा था, जब वह सीरिया में ईरानियों के खिलाफ लड़ रहा था। ईरान के बादशाह और कहते हैं कि चीन के ताई-त्सांग तक भी यह आदेश पहुँचा था। इन बादशाहों और शासकों को बड़ा ताज्जुब हुआ होगा कि आखिर यह कौन आदमी है, जिसको कोई जानता भी नहीं, फिर भी उनके पास हुक्म भेजने की यह हिमाकत करता है। मुहम्मद के इन आदेशों के भेजने से ही हम इस बात का कुछ अन्दाजा लगा सकते हैं, कि उस व्यक्ति को अपने में और अपने सिद्धान्तों पर कितना जबर्दस्त और अटल विश्वास था। इसी आत्म-विश्वास और ईमान को उसने अपनी कौम में भर दिया, और इस आत्म-विश्वास और ईमान से पैदा होनेवाली शक्ति को लेकर रेगिस्तान के इन लोगों ने, जिनकी पहले कोई हैसियत नहीं थी, उस समय की जानी हुई आधी दुनिया को जीत लिया। विश्वास और ईमान खुद भी एक बड़ी चीज है। साथ ही इस्लाम ने भ्रातृ-भाव का, अर्थात् सब मुसलमान बराबर हैं, इस बात का भी संदेश दिया। इस प्रकार

प्रजातन्त्र का एक रूप लोगो के सामने आया। उस जमाने के भ्रष्ट ईसाई धर्म के मुकाबिले भाईचारे के इस सदेश ने सिर्फ अरबो पर ही नही, बल्कि जहाँ-जहाँ वे गये, उन अनेक देशो के निवासियो पर भी, असर डाला होगा।

मुहम्मद साहब ६३२ ई० में यानी हिजरत के दस वर्ष बाद मर गये। उन्होने अरबस्तान के आपस में लड़नेवाले कबीलो से एक नया राष्ट्र बनाया और उनमें एक आदर्श के लिए आग पैदा कर दी। इसके बाद इनके खानदान के एक व्यक्ति अबूबकर खलीफा हुए। उतराधिकारी चुनने का यह काम सार्वजनिक सभा में एक किस्म के अनियमित चुनाव से होता था। दो वर्ष बाद अबूबकर मर गये और उमर उनकी जगह पर खलीफा बनाये गये। यह दस वर्ष तक खलीफा रहे।

अबूबकर और उमर बहुत बडे आदमी थे, जिन्होने अरबी और इस्लामी महानता की बुनियाद डाली। खलीफा की हैसियत से वे धर्माध्यक्ष और राजनैतिक सरदार यानी राजा और पोप दोनो थे। अपने ऊँचे ओहदे और राज्य की दिन-दिन बढनेवाली ताकत के होते हुए भी, उन्होने अपने जीवन की सादगी नहीं छोडी, और ऐश-आराम और शान-शौकत में नही फँसे। इस्लाम का लोकतन्त्र इनके लिए एक जीवित चीज थी, लेकिन इनके मातहत अफसर और अमीर लोग बहुत जल्द ऐश-आराम और शान-शौकत में फँस गये। बहुत से किस्से मशहूर है कि अबूबकर और उमर ने किस तरह कई बार इन अफसरो की लानत-मलामत की और उन्हे सजा भी दी। यहाँ तक कि इनकी फिजूल खर्ची पर वे रोते थे। इनकी धारणा थी कि सीधी-सादी और कठोर रहन-सहन में ही इनकी ताकत है, और अगर कुस्तुन्तुनिया और ईरान के बादशाही दरबारो की ऐश-आराम की चीजो को मंजूर करलिया गया, तो अरब लोग भी भ्रष्ट हो जायँगे, उनका पतन हो जायगा।

बारह वर्ष के इस छोटे अर्से में भी, जिसमें अबूबकर और उमर खलीफा रहे, अरबो ने पूर्वी रोमन साम्राज्य और ईरान के सासानी बादशाह को हरा दिया था। यहूदियो और ईसायो के पवित्र शहर जेरूसलम पर अरबो ने कब्जा कर लिया था, और सारा सीरिया, इराक और ईरान इस नये अरबी साम्राज्य का हिस्सा हो चुका था।

: ४६ :

अरब स्पेन से लगाकर मंगोलिया तक जीत लेते हैं

२३ मई, १९३२

और दूसरे मजहबों के चलानेवालो की तरह मुहम्मद भी बहुत सी मौजूदा सामाजिक प्रथाओ का विद्रोही था। जिस मजहब का उसने प्रचार किया, उसने सादगी, सरलता, और अपनी लोकतंत्र और समता की सुगंध के कारण आस-पास के देशो की जनता को अपनी ओर खींच लिया। निरंकुश राजाओ ने और राजाओ की तरह ही निरंकुश और रौबीले पुरोहितो ने जनता को बहुत दिनो से पीस रक्खा था। लोग पुरानी प्रणाली से बेजार थे और हर प्रकार की तब्दीली के लिए तैयार बैठे हुए थे। इस्लाम ने एक किस्म की तब्दीली उनके सामने रखी, और इसका उन्होने स्वागत किया, क्योकि इसकी वजह से उनकी हालत बहुत-सी बातो में बेहतर हो गई, और बहुत-सी पुरानी बुराइयाँ खतम हो गई। पर इस्लाम के साथ कोई ऐसी बड़ी सामाजिक क्रान्ति नहीं आई, जिससे जनता का शोषण खतम हो जाता। हाँ, इस्लाम की वजह से मुसलमानों का शोषण कम पड़ गया, और वे महसूस करने लगे कि हम एक ही बिरादरी के और भाई-भाई हैं।

इस तरह से अरब लोग एक विजय के बाद दूसरी विजय करते हुए आगे बढ़ने लगे। अकसर ये लोग बगैर युद्ध किये ही विजय पा लेते थे। दुश्मन कमजोर थे और उन्हींके आदमी उनका साथ छोड़ देते थे। अपने पैगम्बर की मृत्यु के २५ वर्ष के अन्दर ही अरबो ने एक तरफ सारा ईरान, सीरिया आरमीनिया और मध्य एशिया का छोटा सा भाग और दूसरी तरफ मिस्र, और उत्तरी अफ्रीका का छोटा-सा टुकड़ा पश्चिम में जीत लिया था। मिस्र इन लोगो को बहुत आसानी से मिल गया, क्योकि यह देश रोमन साम्राज्य के शोषण से और ईसाई सम्प्रदाय की आपसी लाग-डाँट की वजह से सबसे ज्यादा पीड़ित था। कहते हैं कि अरबो नें सिकन्दरिया का मशहूर पुस्तकालय जला दिया था। लेकिन अब यह बात गलत समझी जाती है। अरब लोग पुस्तको के बडे प्रेमी थे और इस जंगली तरह से कभी काम नहीं कर सकते थे। यह मुमकिन है कि कुस्तुन्तुनिया का सम्राट् थियोडोसियस, जिसके बारे में मैंने तुमसे कुछ बताया भी है, पुस्तकालय को या उसके किसी हिस्से को जलाने का अपराधी रहा हो। पुस्तकालय का एक हिस्सा तो बहुत पहले, जूलियस सीजर के जमाने में, एक घेरे के वक्त बर्बाद हो चुका था। थियोडोसियस पुरानी यूनानी किताबो को, जिनमें पुरानी यूनानी गाथायें और फिलासफी हुआ करती थी, पसन्द नही करता था। वह बड़ा श्रद्धालु

ईसाई था। कहा जाता है कि वह अपने नहाने का पानी इन किताबों से गरम किया करता था।

अरब लोग पूरब और पश्चिम में बढते गये। पूरब में हेरात, काबुल और बलख़ इनके अधिकार में आगये और वे सिन्ध और इण्डस नदी (सिन्धु) तक पहुँच गये, लेकिन इसके आगे बढ़कर वे हिन्दुस्तान में दाख़िल नहीं हुए। और कई सौ वर्षों तक हिन्दुस्तानी राजाओ के साथ इनका मित्रता का घनिष्ट सम्बन्ध रहा। पश्चिम में ये लोग आगे बढ़ते ही गये। कहते हैं कि इनका सेनापति उकबा उत्तरी अफ़रीका को पार करता हुआ एटलांटिक समुद्र तक, यानी उस देश के पश्चिमी किनारे पर जिसे आज मोरक्को कहते है, पहुँच गया था। इस विघ्न के यानी समुद्र के सामने आ जाने से उसको बडी निराशा हुई और वह समुद्र में, जितनी दूर तक जा सकता था, गया, और फिर समुद्र के पानी में खडे होकर उसने अल्लाह के सामने अफसोस ज़ाहिर किया कि अब उस दिशा में कोई देश नहीं रहा जिसे वह अल्लाह के नाम पर फतह करता।

मोरक्को और अफरीका से समुद्र की पतली धार पार करके अरब स्पेन और योरप में दाखिल हुए। इस पतले जलडमरूमध्य को पुराने यूनानी लोग 'हरकुलीज़ का स्तम्भ' कहते थे। अरब-सेनापति ने समुद्र को पार करके पहले पहल जिब्राल्टर में लंगर डाला था। जिब्राल्टर का नाम ही उस सेनापति की याद दिलाता है। उसका नाम 'तरीक' था और जिब्राल्टर का असली नाम 'जबल-उत-तरीक' यानी 'तरीक की पहाडी' है।

स्पेन को अरबो ने बहुत जल्द फतह कर लिया, और इसके बाद वे दक्षिणी फ्रास पर टूट पडे। इस तरह मुहम्मद साहब के मरने के सौ बरस के अन्दर ही अरबो का साम्राज्य दक्षिण फ्रांस और स्पेन से लेकर, उत्तर अफरीका और स्वेज से होता हुआ, अरबस्तान, ईरान और मध्य एशिया को पार करके मंगोलिया की सरहद तक फैल गया था। सिन्ध को छोड़कर हिन्दुस्तान इस साम्राज्य से बाहर था। योरप पर अरब लोग दो तरफ से हमला कर रहे थे। एक तो कुस्तुन्तुनिया पर बिलकुल सीधा हमला था, और दूसरा अफरीका होकर फ्रास पर। दक्षिण फ्रास में अरबो की तादाद कम थी और वे अपनी मातृभूमि से बहुत दूर थे, इसलिए उनको अरबस्तान से ज्यादा मदद नहीं मिल सकती थी। इसके अलावा अरब मध्य एशिया के जीतने में लगे थे। फिर भी फ्रांस के इन अरबो ने पश्चिमी योरप के लोगो को भयभीत कर दिया था। इन अरबो का मुकाबिला करने के लिए योरप में एक बहुत बडी गुटबन्दी की गई, इस गुटबन्दी का नेता चार्ल्स मार्टल था। उसने फ्रास में

टूर्स की लड़ाई में ७३१ ई० में अरबों को हरा दिया। इस हार के कारण योरप अरब लोगो के पंजे से बच गया। किसी इतिहास-लेखक ने लिखा है कि—"टूर्स के मैदान में, अरबो ने, उस समय सारी दुनिया का साम्राज्य, अपने हाथ से खो दिया, जब वह इनकी मुट्ठी में आचुका था।" इसमें शक नहीं कि अगर अरब लोग टूर्स की लडाई में सफल हुए होते, तो यूरोपियन इतिहास बिलकुल ही बदल गया होता। योरप में कोई दूसरा ऐसा शासक नहीं था, जो इनकी गति को रोक सकता। ये लोग कुस्तुन्तुनिया तक आसानी से बढ़े चले गये होते, और इन्होने पूर्वी रोमन साम्राज्य को और दूसरी हुकूमतों को, जो रास्ते में पडतीं, खतम कर दिया होता। ईसाई धर्म के बजाय इस्लाम योरप का मजहब होता, और दूसरी किस्म की भी बहुत-सी तब्दीलियाँ हो गई होतीं। लेकिन यह सब तो कल्पना की उड़ान है, हुआ यह कि अरब लोग फ्रांस में रोक दिये गये, और इसके बाद कई सौ वर्षो तक वे स्पेन में रहे, और राज्य करते रहे।

स्पेन से मंगोलिया तक का सारा मुल्क अरबो के हाथ में था। रेगिस्तान के ये खानाबदोश एक शक्तिशाली साम्राज्य के अभिमानी शासक बन गये। यूरोपियन लोग उनको 'सैरासीन' कहते थे। शायद यह शब्द 'सहरा नशीन' से बना हो, जिसका मतलब 'रेगिस्तान के रहनेवाले' होता है। लेकिन इन सहरानशीनो ने बहुत जल्द शहर की जिन्दगी और विलासिता को इख्तियार कर लिया, और शहरो में इनके बडे-बडे महल तैयार हो गये। दूर-दूर देशो में विजय प्राप्त कर लेने पर भी, इनकी आपस में झगड़ने की आदत नहीं गई, और अब तो झगड़ने के लिए कुछ सामान भी हो गया था, क्योंकि अरबस्तान के प्रमुख होने का मतलब एक बडे साम्राज्य का अधिकार हाथ में आ जाना था। इसलिए खलीफा की जगह के लिए अकसर झगडे होते थे। इन छोटे-छोटे झगडों और कुटुम्ब की कलह से अरबो में गृह-युद्ध भी हो जाता था, और इन्हीं झगडों की वजह से इस्लाम दो हिस्सों में बँट गया और दो सम्प्रदाय बन गये जो शिया और सुन्नी के नामसे आज तक मौजूद हैं।

पहले दो महान् खलीफाओ—अबूबकर और उमर—के शासन के कुछ दिनों बाद ही झगडा पैदा हुआ। मुहम्मद साहब की लड़की फातिमा के पति, अली कुछ दिनो के लिए खलीफा हुए, लेकिन झगडा बराबर जारी रहा। अली कत्ल कर दिये गये और कुछ दिनो बाद उनके लड़के हुसेन, अपने कुटुम्ब के साथ, कर्बला के मैदान में मार डाले गये। कर्बला की इसी दुखान्त घटना की याद में, हर साल मुहर्रम के महीने में, मुसलमान, खास़कर शिया, मातम मनाते हैं।

खलीफा अब एक छत्र राजा हो गया था। इसके चुनाव में लोकतंत्र का ज़रा

भी अंश नही बचा था। उस ज़माने के जैसे और निरंकुश राजा होते थे, खलीफ़ा भी वैसा ही निरंकुश राजा था। सिद्धान्त रूप से यह इस्लाम धर्म का प्रमुख था और 'मुसलमानों का सरदार' समझा जाता था। लेकिन इन शासकों में कुछ ऐसे भी थे, जो उस इस्लाम का, जिसके वे मुख्य रक्षक समझे जाते थे, अपमान करते थे। इनमें से एक ने मदीना की मस्जिद को घोड़ों का अस्तबल बना लिया था।

लगभग सौ बरस तक खलीफा मुहम्मद साहब के वंश की एक शाखा में से होते रहे। इनको उम्मैया कहते थे। दमिश्क इनकी राजधानी थी और महलो, मस्जिदों और चश्मो की वजह से यह पुराना शहर बड़ा खूबसूरत बन गया था। दमिश्क के पानी के प्रबन्ध की बडी शोहरत थी। इस ज़माने में अरबों ने इमारत बनाने का एक खास तर्ज़ निकाला था, जिसे सरासीनी-भवन-निर्माण कला कहा गया है। इस शैली में ज्यादा वनाव शृगार नही होता था। यह शैली सरल, शानदार और सुन्दर थी। इस शैली के पीछे अरबस्तान और सीरिया के सुन्दर खजूरो की धारणा थी। मीनार, बुर्ज खम्भे और मेहराब, खजूरो के बागो के बुर्ज और मेहराब की याद दिलाते थे।

यह शैली हिन्दुस्तान में भी आई। लेकिन इसपर हिन्दुस्तान के विचारो का असर पडा और एक मिलवाँ शैली पैदा हो गई। स्पेन में आज तक सरासीनी शैली की इमारतो के सुन्दर नमूने पाये जाते हैं।

धन और साम्राज्य की वजह से अरबो में विलासिता, खेल-कूद और ऐशोअशरत के तौर-तरीको का जन्म हुआ। घुड़दौड़ अरबो का बहुत ही प्रिय मनोरञ्जन था। पोलो, शिकार और शतरंज भी इन्हे बहुत पसन्द था संगीत और खासकर गाने का अरबो में काफी फैशन और प्रचार हो गया था। दमिश्क की राजधानी गवैयो से और साजिन्दो से परिपूर्ण थी।

एक बहुत बडी लेकिन दुर्भाग्यपूर्ण तब्दीली धीरे-धीरे और आगई। यह स्त्रियों की अवस्था के बारे में थी। अरबो में औरते परदा नहीं करती थीं। इन्हे न तो अलहदा रक्खा जाता था, न छिपाया जाता था। ये बाहर निकलती थी; मस्जिदो और व्याख्यानो में जाया करती थी, और कभी-कभी खुद भी व्याख्यान देती थीं। लेकिन सफलता की वजह से अरबो ने उन दोनो पुराने साम्राज्यो यानी पूर्वी रोमन साम्राज्य और ईरानी साम्राज्य के रस्म और रिवाज की नकल शुरू कर दी, जो इनके दोनो बाजुओ पर पाये जाते थे। अरबो ने पूर्वी रोमन साम्राज्य को हरा दिया था, और ईरानी साम्राज्य का खात्मा कर डाला था, फिर भी ये इन साम्राज्यों की बहुत-सी बुरी आदतो के शिकार हो गये। कहा जाता है कि खासकर कुस्तुन्तुनिया और ईरान के प्रभाव के कारण अरब-स्त्रियो में परदे की रस्म शुरू हुई। धीरे-धीरे हरम

की प्रणाली शुरू हुई, और मर्द और औरतो का मिलना-जुलना आहिस्ता-आहिस्ता कम होने लगा। दुर्भाग्य से स्त्रियों का यह परदा इस्लामी समाज का एक अंग हो गया, और जब मुसलमान हिन्दुस्तान में आये, हिन्दुस्तान ने भी उनसे यह आदत सीख ली। यह सोचकर कि आज भी कुछ आदमी इस जंगलीपन को कायम रख रहे हैं, मुझे ताज्जुब होता है। जब-जब मैं परदे में रहनेवाली और बाहर की दुनिया से अलग की हुई स्त्री का खयाल करता हूँ, मुझे कैदखाना या चिड़िया घर याद आ जाता है। कोई कौम, जिसकी आधी आबादी एक किस्म के कैदखानें में बन्द हो, कैसे आगे बढ सकती है। इसलिए परदे को तोड़ दो, जिससे सब लोगो को दिन का उज्ज्वल प्रकाश देखने का मौका मिले।

सौभाग्य की बात है कि हिन्दुस्तान तेजी से परदे को तोड़ रहा है—बहुत दूर तक मुसलमान समाज ने भी इससे छुटकारा पा लिया है, और इस भयंकर बोझ को उतार फेंका है। तुर्की में कमाल पाशा ने इसे बिलकुल खत्म कर दिया है और मिस्र में यह बहुत तेजी के साथ गायब हो रहा है।

एक बात और कहकर मैं इस खत को खतम करूँगा। अरबो में, खासकर अपनी जागृति की शुरूआत में, अपने मजहब का बहुत जोश था। फिर भी ये लोग सहिष्णु थे, और दूसरे मजहबो के प्रति उनकी सहनशीलता की बहुत-सी मिसाले मिलती है। जेरुसलम में खलीफा उमर ने इस बात पर काफी जोर दिया था। स्पेन में ईसाइयों की काफी आबादी थी, और उन लोगों को धर्म की पूरी-पूरी आजादी थी। हिन्दुस्तान में, सिंध को छोड़कर अरबो ने कहीं भी राज्य नहीं किया। लेकिन सम्पर्क काफी था, और इस देश के साथ उनका मित्रता का सम्बन्ध था। सच तो यह है कि इतिहास के इस युग में सबसे ज्यादा उल्लेखनीय चीज यह दिखाई देती है कि अरब के मुसलमान बडे सहनशील होते थे, और योरप के ईसाई बेहद असहनशील।

: ५० :

बगदाद और हारूनल रशीद

२७ मई, १९३२

दूसरे देशो की चर्चा न करके हम आज भी अरबो की कहानी जारी रक्खेंगे। जैसा मैंने अपने पिछले खत में बताया है, करीब १०० वर्ष तक खलीफा हजरत मुहम्मद के वंशज उम्मैया कुल के हुआ करते थे। उनकी राजधानी दमिश्क थी, और उनकी हुकूमत में मुसलमान अरबो ने इस्लाम का झंडा दूर-दूर देशो तक पहुँचा

दिया। एक तरफ तो अरब लोग दूर-दूर के मुल्को को जीतते थे और दूसरी तरफ अपने घर में ही झगड़ा करते थे और अकसर आपस में गृह-युद्ध हुआ करते थे। आख़िर में हज़रत मुहम्मद के वंश के एक दूसरे घराने ने, जो उनके चचा अब्बास से पैदा हुआ था और 'अब्बासी' कहलाता था, उम्मैया खानदान को निकाल दिया। अब्बासी लोग उम्मैयों के ज़ुल्म का बदला लेने के लिए आये थे, लेकिन जीत होने के बाद उन्होने अपने ज़ुल्म और मार-काट से उम्मैयो को भी मात कर दिया। उन्होने हरेक उम्मैया को जहाँ भी पाया गिरफ्तार कर लिया, और बेरहमी से मार डाला।

यह सन् ७५० के शुरू की बात है और तभी से अब्बासी खलीफो के अधिकार का लम्बा युग शुरू होता है। उनकी शुरुआत शुभ या मंगलमय नही कही जा सकती। फिर भी अरब इतिहास में अब्बासी युग काफी उज्ज्वल युग समझा जाता है। इस ज़माने में उम्मैयो के समय की अपेक्षा बहुत-सी तब्दीलिया शुरू हो गई थी। अरबस्तान के गृह-युद्ध ने सारे अरब साम्राज्य को हिला दिया। अब्बासी लोग अपने देश में तो जीत गये, लेकिन सुदूर स्पेन में अरब गवर्नर ने, जो उम्मैया था, अब्बासी ख़लीफा को, खलीफा मानने से इन्कार कर दिया। उत्तर अफ़रीका या इफरीकिया की सूबेदारी बहुत जल्द स्वतंत्र हो गई। मिस्र ने भी यही किया। उसने तो अपना एक दूसरा खलीफा ही बना लिया। लेकिन मिस्र इतना नज़दीक था, कि इसे धमकी दी जा सकती थी, और दबाया जा सकता था। और समय-समय पर ऐसा ही होता रहा। लेकिन इफरीकिया में कोई दख़ल नही दिया गया, और स्पेन तो इतनी दूर था कि उसके ऊपर कोई आघात किया ही नहीं जा सकता था। इस तरह हम देखते हैं कि अब्बासियो के खलीफा होने पर अरब साम्राज्य बँट गया। अब ख़लीफा सारी इस्लामी दुनिया का प्रमुख नही रह गया। और न 'अमीरुल मोमनीन' यानी मुसलमानो का अगुआ ही रह गया। मुसलमानो में एकता नहीं रही और स्पेन के अरब और अब्बासी एक दूसरे से इतनी नफरत करते थे, कि जब एक पर आफत आती थी, तो दूसरा ख़ुशी मनाता था।

इन सब बातो के होते हुए भी अब्बासी खलीफा बहुत बडे राजा हुए थे और उनका साम्राज्य साम्राज्यो के लिहाज से बहुत बड़ा था। वह पुराना ईमान और उत्साह, जिसने पहाडो को जीता था और जो एक आग की तरह फैल गया था, अब नहीं दिखाई देता था। कोई सादगी नहीं थी, और न लोकतन्त्र के ही चिन्ह रह गये थे। 'अमीरुल मोमनीन' और ईरानी शाहंशाहो में, जिन्हे पहले के अरबो ने या कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् ने हराया था कोई खास फर्क नही था। हज़रत मुहम्मद के ज़माने के अरबो में एक अजीब ज़िन्दगी और ताकत पाई जाती थी जो बादशाहो की

सेनाओं की ताक़त से एक बिलकुल जुदी चीज़ थी। अपने ज़माने की दुनिया में वे उठकर ऊँचे खड़े हो गये थे, और उनकी दुर्निवार विजय-यात्राओं के सामने सेनायें और बादशाह निस्तेज और शक्ति-हीन हो जाते थे। बादशाहों से जनता दबी हुई थी, और अरब लोगों के आने से, जनता में, अच्छे दिन आने और सामाजिक क्रान्ति की आशा पैदा हो गई थी।

लेकिन अब दूसरी ही बात सामने आगई थी। रेगिस्तान के लोग अब महलों में रहते थे और खजूर और छुहारे की जगह पकवान खाते थे। वे सोचते थे कि हम तो काफ़ी आराम में है, फिर सामाजिक क्रान्ति या किसी तब्दीली की झंझट में क्यों फँस जायें। शान-शौकत में वे पुराने साम्राज्यों की होड़ करने की कोशिश करते थे, और उनके कई बुरे रस्म-रिवाज सीख लिये थे। जैसाकि में तुम्हें बता चुका हूँ इन बुराइयों में से एक बुराई स्त्रियों का परदा भी था।

राजधानी दमिश्क से हटकर इराक में बगदाद चली गई। राजधानी की यह तबदीली भी एक महत्त्वपूर्ण थी, क्योंकि बगदाद ईरानी बादशाहों का गरमी के मौसम में रहने की जगह था, और दमिश्क के मुकाबिले वह योरप से दूर था। राजधानी के इस परिवर्तन के बाद अब्बासियों की नज़र योरप की तरफ इतनी नहीं रही, जितनी एशिया की तरफ रह गई। कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा करने की कोशिशें तो होती ही रहीं और यूरोपियन राष्ट्रों से अनेक लड़ाइयाँ भी लड़ी गईं, लेकिन इन लड़ाइयों में से ज्यादातर आत्म-रक्षा के लिए होती थीं। विजय के दिन खतम हो चुके थे और अब्बासी खलीफ़ा बचे हुए साम्राज्य को ही मजबूत करने की कोशिश करते थे। फिर भी स्पेन और अफरीका के निकल जाने पर भी यह साम्राज्य काफी बड़ा था।

बगदाद! क्या तुम्हे इसकी याद नहीं है? और हारूनल रशीद और शहरज़ाद और 'अलिफ़लैला' की अद्भुत कहानियों का स्मरण क्या तुम्हे नहीं है? अब्बासी खलीफों की मातहत में जो शहर बना वह 'अलिफ लैला' का ही शहर है। बगदाद एक लम्बा-चौड़ा शहर था, जिसमें महल, सरकारी दफ़्तर, स्कूल, कालेज, बड़ी-बड़ी दूकानें, पार्क और बगीचे थे। यहाँ के सौदागर पूरब और पश्चिम के देशों से बड़ा भारी व्यापार करते थे। अनेक सरकारी अफसर साम्राज्य के दूर-दूर के हिस्सों से बराबर सम्पर्क बनाये रखते थे। सरकार अधिकाधिक पेचीदा होती जाती थी और कई महकमों में बँटी थी। साम्राज्य के सब हिस्सों से राजधानी तक चिट्ठी-पत्री जाने का बहुत अच्छा इन्तिज़ाम था। अस्पताल काफी तादाद में थे। सारी दुनिया से लोग बगदाद देखने के लिए आया करते थे। विद्वान विद्यार्थी और कलाकार ख़ासतौर से आते थे, क्योंकि यह मशहूर था कि खलीफ़ा विद्वानों और कलाकारों का विशेष स्वागत करता है।

खलीफा खुद गहरी विलासिता में जिन्दगी गुजारता था। उसके चारो तरफ गुलामो और उसके हरम की औरतो का झुण्ड होता था। हारूनल रशीद के जमाने में, यानी ७८६ से ८०९ ई० तक, अब्बासी साम्राज्य अपनी जाहिरा शान-शौकत की चोटी पर था। हारूँ के पास, चीनी सम्राट के यहाँ से और पश्चिम में सम्राट शार्लमैन के पास से, राजदूत आये थे। स्पेन के अरबो को छोड़कर, बगदाद और अब्बासी उपनिवेश शासन की सारी कलाओ, व्यापार और विद्या-प्रचार में, योरप से बहुत आगे बढ़े हुए थे।

अब्बासी युग हमारे लिए खासतौर से रोचक है, क्योकि इसी जमाने से विज्ञान में नई दिलचस्पी पैदा हुई थी। तुम जानती हो कि विज्ञान आजकल की दुनिया में एक बहुत बडी चीज है। बहुत-सी बातो के लिए हम विज्ञान के आभारी है। विज्ञान का यह ढंग नही कि चुपचाप बैठ जायँ और घटनाओ के होने के लिए प्रार्थना करता रहे! विज्ञान में इस बात के जानने का कौतूहल होता है कि आखिर कोई बात क्यो हो जाती है। विज्ञान प्रयोग करता है और बार-बार कोशिश करता है। कभी सफल होता है और कभी असफल। और इस तरह धीरे-धीरे विज्ञान मनुष्य मात्र के ज्ञान-समूह को बढाता रहता है। आजकल की दुनिया प्राचीन या मध्य कालीन दुनिया से बिलकुल जुदी है। यह भिन्नता ज्यादातर विज्ञान की वजह से ही है। विज्ञान ने ही आधुनिक दुनिया का निर्माण किया है।

पुराने जमाने के लोगो में मिस्र, चीन या हिन्दुस्तान में हमें वैज्ञानिक ढंग नहीं दिखाई देता। प्राचीन यूनान में जरूर थोडी मात्रा में वह मौजूद था। रोम में इसका अभाव था, लेकिन अरबो में खोज की वैज्ञानिक भावना पाई जाती थी। इस लिए अरबो को आजकल के विज्ञान का जन्मदाता कह सकते है। आयुर्वेद और गणित जैसे कुछ विषयो में इन्होने हिन्दुस्तान से बहुत कुछ सीखा था। हिन्दुस्तानी विद्वान और गणित जाननेवाले बडी तादाद में बगदाद जाते थे, और बहुत से अरबी विद्यार्थी उत्तर भारत में तक्षशिला जाया करते थे, जो कि उस समय तक एक बहुत बडा विश्व-विद्यालय था, और आयुर्वेद की शिक्षा के लिए मशहूर था। आयुर्वेद की और दूसरे विषयो की किताबें, खास तौर से सस्कृत से अरबी जबान में अनुवाद की गई थीं। बहुत सी चीजें अरबो ने चीन से सीखी—जैसे कागज का बनाना। लेकिन जो कुछ उन्होने दूसरो से सीखा उसकी बिना पर अपनी भी खोज करके उन्होने और बहुत सी महत्वपूर्ण ईजादें कीं। पहले-पहल उन्होने ही दूरबीन और कुतुबनुमा या ध्रुवयत्र बताया। चिकित्सा में अरब डाक्टर और सर्जन सारे योरप में मशहूर थे।

इन तमाम बौद्धिक हलचलो का मुख्य-केन्द्र बगदाद था। पश्चिम में अरबी

स्पेन की राजधानी कोरडोवा को भी इसी किस्म का केन्द्र कह सकते है। अरबी ससार मे इसी तरह के और भी कई विद्या के केन्द्र थे जहाँ बौद्धिक जीवन का प्रवाह बहता था जैसे कैरो या 'विजयी' अल-काहिरा, बसरा, और कूफा। लेकिन इन शहरो से बगदाद जिसे एक अरब इतिहासकार ने 'इस्लाम की राजधानी, इराक की आँख, साम्राज्य की गद्दी, कला, संस्कृति और सौन्दर्य का केन्द्र' कहा है, कही श्रेष्ठ था। इसकी आबादी २० लाख से ज्यादा थी और आकार में यह आजकल के कलकत्ता और बम्बई से करीब-करीब दुगना बडा था।

यह जानना तुम्हारे लिए दिलचस्प होगा कि, ऐसा कहा जाता है कि मोजा और जुर्राब पहनने की आदत पहले-पहल बगदाद के अमीरो से ही शुरू हुई। इन्हे 'मोजा' कहा जाता था और हिन्दुस्तानी शब्द वही से लिया गया है। इसी तरह फ्रासीसी शब्द 'शेमीज' 'कमीज' से निकला है। 'कमीज' और 'मोजा' दोनो अरबो से कुस्तुन्तुनिया के विजेन्टाइनवालो ने लिया और बाद को वहाँ से ये चीजें योरप में फैल गई।

अरब लोग हमेशा से बडे सय्याह यानी समुद्र यात्री रहे है। इन्होंने समुद्र के अपने लम्बे-लम्बे सफर कायम रक्खे और अफरीका में, हिन्दुस्तान के किनारों पर, मलेशिया मे, और चीन में भी इन्होने अपनी बस्तियाँ बसाई। इन्ही अरब यात्रियो में से एक अलबेरूनी था, जो हिन्दुस्तान आया था, और ह्यूएनत्सॉग की तरह अपने सफर का हाल छोड गया है।

अरब लोग इतिहास-लेखक भी थे, और इनकी ही किताबों और इतिहासो से हम इनके बारे में बहुत कुछ जान सकते है। हम सभी जानते है कि वे कितनी अच्छी-अच्छी कहानियाँ लिख सकते थे। लाखों आदमियो ने अब्बासी खलीफो का और उनके साम्राज्य का नाम नही सुना है, लेकिन 'अलिफ लैला व लैला' यानी 'एक हजार एक रातो' में बयान किये हुए रहस्य और प्रेम के नगर बगदाद को कौन नहीं जानता। कल्पना का साम्राज्य अक्सर वास्तविकता के साम्राज्य से ज्यादा स्थायी और वास्तविक होता है।

हारूनल रशीद की मृत्यु के कुछ दिनो बाद अरब साम्राज्य पर आफत आई। झगडे-फसाद होने लगे और साम्राज्य के कई हिस्से अलग हो गये। सूबे के हाकिम मौरूसी शासक बन बैठे। खलीफा ज्यादा-से-ज्यादा कमजोर होते गये। यहाँ तक कि एक ऐसा भी वक्त आया। जब खलीफा का राज्य सिर्फ बगदाद शहर और आस-पास के चन्द गाँवों पर ही रह गया। एक खलीफा को उसीके सिपाहियो ने महल से घसीट कर बाहर फेंक दिया और कत्ल कर डाला था। फिर थोडे दिन के लिए कुछ

ऐसे मजबूत आदमी पैदा हुए, जो बगदाद से बैठे-बैठे हुकूमत करने लगे, और खलीफ़ा उनका मातहत बन गया।

इस समय इस्लाम की एकता दूर के बीते हुए जमाने की बात हो गई थी। मिस्र से लेकर मध्य एशिया के खुरासान तक, सभी जगह, अलहदा-अलहदा राज्य कायम होने लगे और इसके भी पूरब से बहुत-सी खानाबदोश कौमें, पश्चिम की तरफ़ बढ़ने लगी। मध्य-एशिया के पुराने तुर्क लोग मुसलमान हो गये और उन्होंने आकर बगदाद पर क़ब्ज़ा कर लिया। इनको सेलजुक तुर्क कहते है। इन्होंने कुस्तुन्तुनिया की बिज़ैण्टाइन सेना को बिलकुल हरा दिया, जिसकी वजह से योरप को बड़ा ताज्जुब हुआ। योरप का खयाल था कि अरबो और मुसलमानों की ताकत खतम हो चुकी है और वे लोग दिन-ब-दिन कमज़ोर होते जाते है। यह बात सच थी कि अरब बहुत गिर चुके थे। लेकिन अब सेलजुक तुर्क इस्लाम का झंडा उठाने और योरप को चुनौती देने के लिए सामने आगये थे।

इस चुनौती को स्वीकार कर लिया गया, और, जैसा हम आगे देखेंगे, लड़ने के लिए और अपने पवित्र शहर जेरूसलम को फिर से जीतने के लिए योरप की ईसाई कौमो ने जिहाद—धार्मिक लड़ाइयो—का संगठन कियागया। १०० वर्ष से ज्यादा तक सीरिया, पैलेस्टाइन और एशिया माइनर में हुकूमत के लिए इस्लाम और ईसाई धर्मों में आपस में लड़ाई होती रही और एक दूसरे को कमज़ोर करते रहे। इन देशो की चप्पा-चप्पा जमीन मनुष्य के खून से सिंच गई है। इन हिस्सो के खुशहाल शहरो की महानता और तिजारत जाती रही और इन लड़ाइयो की वजह से हरे-भरे खेत अकसर वीरान हो जाते थे।

इसी तरह ये एक दूसरे से लड़ते रहे। इनकी लड़ाई खतम नहीं होने पाई थी कि मंगोलिया में दुनिया को हिलानेवाला मुगल चंगेज खाँ पैदा हुआ। कम से कम इसने एशिया और योरप को तो जरूर हिला दिया। इसने और इसके वंशजो ने बगदाद और बगदाद के साम्राज्य का खातमा कर दिया। मंगोलो द्वारा सर होने के पहले ही बगदाद का मशहूर और विशाल नगर मिट्टी का ढेर हो चुका था, और इसके बीस लाख बाशिन्दे खतम हो चुके थे। यह ई० सन् १२५८ की बात है।

बगदाद अब फिर एक हरा-भरा शहर हो गया और इराक़ की राजधानी है। लेकिन वह अपने पुराने स्वरूप की छाया-मात्र है। मंगोलो के साथ आई हुई मृत्यु और बरबादी के असर से यह फिर कभी पनप न सका।

: ५१ :

उत्तरी हिन्दुस्तान में—हर्ष से महमूद तक

१ जून, १९३२

अब हमें अरबों या सरासीनों की कहानी बन्द कर दूसरे देशों पर नजर डालनी चाहिए। जिस दरमियान अरब शक्तिशाली हुए, उन्होंने दूसरे देशों को जीता, सब जगह फले और फिर गिर गये, उस जमाने में हिन्दुस्तान, चीन और योरप के देशों में क्या हो रहा था, इसकी एक झलक हम पहले ही पा चुके हैं—जैसे चार्ल्स मार्टल की मातहती में योरप की सम्मिलित सेनाओं द्वारा अरबों का फ्रांस में टूर्स के मैदानों में हार जाना, अरबों की मध्य एशिया पर विजय और हिन्दुस्तान में सिन्ध तक उनका आना इत्यादि। आओ, पहले हम हिन्दुस्तान की ओर चलें।

कन्नौज का राजा हर्षवर्धन ३४८ ई० में मर गया और उसके मरने के साथ ही उत्तरी हिन्दुस्तान का राजनैतिक पतन और भी साफ-साफ दिखाई देने लगा। यह पतन कुछ समय पहले ही से चला आरहा था। हिन्दू और बौद्धधर्म के लड़ाई-झगड़ों ने इस पतन के क्रम में मदद पहुँचाई। हर्ष के समय में जाहिरा तौर पर बड़ा बहादुराना प्रदर्शन हुआ था। लेकिन यह थोड़े ही समय के लिए था। हर्ष के मरने के बाद उत्तरी हिन्दुस्तान में कई छोटी-छोटी रियासतें पैदा हो गईं जो कभी-कभी थोड़े समय के लिए गौरव व यश प्राप्त कर लेती थीं और कभी-कभी आपस में लड़ा करती थीं। यह एक अजीब बात है कि हर्ष के मरने के तीन सौ वर्ष बाद या उससे भी ज्यादा समय तक इस देश में साहित्य और कला फलते-फूलते रहे, और सार्वजनिक हित के और कितने ही काम होते रहे। इसी जमाने में भवभूति और राजशेखर जैसे कई प्रसिद्ध संस्कृत के लेखक हुए और इसी समय में कई ऐसे राजा हुए जो राजनैतिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण नहीं थे, लेकिन इसलिए मशहूर हुए कि उनके जमाने में कला और विद्या ने बड़ी तरक्की की। इनमें से राजा भोज तो आदर्श राजा की कल्पना का एक नमूना ही बन गया है और आज भी लोग उसको ऐसा समझते हैं। क्या तुमने 'राजा भोज और गंगू तेली' की कहावत नहीं सुनी है?

लेकिन इस उज्ज्वलता के होते हुए भी उत्तरी हिन्दुस्तान का पतन होता जा रहा था। दक्षिणी हिन्दुस्तान फिर से आगे बढ़ रहा था और उत्तरी हिन्दुस्तान पर अपना रौब जमाता जारहा था। इस समय के दक्षिणी हिन्दुस्तान के बारे में मैं तुम्हें अपने एक पिछले पत्र में कुछ लिख चुका हूँ। उसमें मैंने चालुक्यों, पल्लवों, राष्ट्रकूटों और चोलों के साम्राज्य के बारे में लिखा था। मैं तुम्हें शंकराचार्य

के बारे में बता चुका हूँ, जिन्होने थोडी उम्र में सारे देश के विद्वान् और अपढ़, दोनों पर गहरा असर डालने में सफलता प्राप्त की और जो हिन्दुस्तान से बौद्ध धर्म को क़रीब-क़रीब ख़तम कर देने में सफल हुए। विचित्र बात यह है कि जिस समय शंकराचार्य यह काम कर रहे थे उसी समय एक नया मजहब हिन्दुस्तान का दरवाज़ा खटखटा रहा था। यह मजहब बाद को विजय के प्रवाह के साथ हिन्दुस्तान में घुसा और हिन्दुस्तान की उस समय की प्रणाली को तहस-नहस कर देने के लिए चुनौती देने लगा।

अरब लोग बहुत जल्द, जब हर्ष जीवित ही था, हिन्दुस्तान की सीमा पर पहुँच गये थे। वे वहाँ कुछ समय के लिए रुक गये और बाद में उन्होने सिध को अपने क़ब्ज़े में कर लिया। ७१० ई० में १७ साल के एक लड़के मुहम्मद इब्न कासिम ने एक अरबी सेना लेकर सिध की घाटी को पश्चिम पंजाब में मुलतान तक जीत लिया। हिदुस्तान मे अरबो की विजय का यही पूरा फैलाव था। मुमकिन है अगर उन्होने ज्यादा कोशिश की होती तो वे इससे भी आगे बढ़ गये होते। यह बहुत मुश्किल भी न होता, क्योंकि उत्तरी हिन्दुस्तान बहुत कमजोर था। हालाँकि इन अरबो और आस-पास के राजाओ में अकसर लड़ाई हुआ करती थी, फिर भी इन अरबो ने विजय के लिए कोई संघटित यत्न नही किया। इसलिए राजनैतिक दृष्टि से अरबो की सिध पर यह विजय कोई ख़ास महत्त्व की बात नही थी। मुसलमानों ने हिन्दुस्तान को इसके कई सौ वर्ष बाद जीता है, लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से अरब और हिन्दुस्तान के इस सम्पर्क का महत्त्वपूर्ण नतीजा हुआ।

अरबो का दक्षिण के हिन्दुस्तानी राजाओ, ख़ासकर राष्ट्रकूटो, के साथ मित्रता का व्यवहार रहता था। बहुतसे अरब हिन्दुस्तान के पश्चिमी किनारे पर बस गये थे और अपनी बस्तियों में उन्होंने मस्जिदें बनवाई थी। अरब यात्री और सौदागर हिन्दुस्तान के अनेक हिस्सो में जाया करते थे। अरब विद्यार्थी, तक्ष-शिला के विश्व-विद्यालय में, काफी तादाद में आते थे, जो ख़ासकर आयुर्वेद की शिक्षा के लिए मशहूर था। ऐसा कहा जाता है कि हारूनल रशीद के जमाने में हिन्दुस्तान में प्राप्त की हुई विद्वत्ता की बगदाद में बडी कद्र थी। हिन्दुस्तान से वैद्य और चिकित्सक अस्पताल और आयुर्वेदिक पाठशालायें स्थापित करने के लिए बगदाद जाया करते थे। गणित और ज्योतिष की सस्कृत किताबो का अरबी भाषा में अनुवाद हुआ था।

इस तरह अरबो ने पुरानी भारतीय आर्य सस्कृति से बहुत-सी बाते ली थी। उन्होने ईरान की आर्य संस्कृति और यूनानी सस्कृति से भी बहुत कुछ सीखा था। अरब लोग क़रीब-क़रीब एक नई कौम की तरह थे, जो अपनी पूरी जवानी पर थी।

उन्होंने अपने चारों ओर जितनी पुरानी सभ्यतायें देखीं, सबसे कुछ-न-कुछ सीखा और फायदा उठाया। और इन सबके आधार पर उन्होंने एक अपनी चीज बनाई, जिसे सरासीनी संस्कृति कहते हैं। संस्कृतियों के खयाल से इस संस्कृति का जीवन थोड़े दिनों तक ही रहा, लेकिन यह एक प्रकाशमान जीवन था, जो योरप के मध्य-युग के अंधकार के परदे पर चमकता है।

यह एक अजीब बात है कि हालाँकि अरब निवासियों ने भारतीय आर्य, ईरानी और यूनानी संस्कृतियों से फायदा उठाया, पर भारतीयों, ईरानियों और यूनानियों ने अरबों के सम्पर्क से ज्यादा फायदा नहीं उठाया। शायद इसकी वजह यह हो कि अरब जाति एक नई जाति थी, और शक्ति व उत्साह से भरी हुई थी; लेकिन दूसरी जातियाँ पुरानी थीं; पुरानी लकीर पर चली जाती थी, और परिवर्तन के लिए वे ज्यादा परवाह नहीं करती थी। और यह भी एक अजीब बात है कि जिस तरह उम्र का प्रभाव व्यक्तियों पर पड़ता है, उसी तरह राष्ट्रों और जातियों पर भी पड़ता है। उमर पाकर कौमों की रफ़्तार भी धीमी पड़ जाती है; उनके मन और शरीर से लोच जाता रहता है, वे परिवर्तन से डरने लगती है, और तटस्थ हो जाती है।

इसलिए अरबों के इस सम्पर्क से, जो कई सौ वर्षों तक रहा, हिन्दुस्तान पर ज्यादा असर नहीं पड़ा, और न कोई खास तब्दीली ही आई। लेकिन इस लम्बे युग में इस्लाम के नये धर्म के बारे में हिन्दुस्तान को कुछ-न-कुछ जरूर परिचय मिल गया होगा। अरब के मुसलमान आये और गये, उन्होंने मस्जिदें बनवाई, कभी-कभी उन्होंने अपने धर्म का प्रचार भी किया और कभी-कभी उन्होंने कुछ लोगों को अपने धर्म में मिला भी लिया। मालूम होता है कि उस समय इसपर कोई आपत्ति नहीं की गई और न हिन्दू धर्म और इस्लाम में कोई झगड़ा या फ़साद हुआ। यह बात ध्यान देने लायक है, क्योंकि बाद में इन दोनों धर्मों में बड़े लड़ाई-झगड़े हुए। ग्यारहवी सदी में जब, इस्लाम हाथ में तलवार लेकर, एक विजेता के भेस में, हिन्दुस्तान में दाखिल हुआ, उस समय भीषण प्रतिक्रिया के भाव पैदा हुए और पुरानी सहनशीलता की जगह परस्पर हिकारत और संघर्ष के भाव आगये।

यह तलवार चलानेवाला, जो हाथ में आग और कत्ल लेकर हिन्दुस्तान में आया था, ग़जनी का महमूद था। गजनी अब अफगानिस्तान में एक छोटा-सा कस्बा रह गया है। दसवीं सदी में गजनी के इर्द-गिर्द एक छोटा-सा राज्य बन गया था। मध्य एशिया के राज्य नाममात्र को बगदाद के खलीफा के अधीन थे, लेकिन, जैसा मैं तुमको पहले ही बता चुका हूँ, हारूनल रशीद के मरने के बाद खलीफा कमज़ोर हो गये, और एक समय आया जब खलीफों का यह साम्राज्य कई स्वतन्त्र राष्ट्रों के रूप में, टुकड़े-

टुकड़े हो गया। यह उसी समय की बात है, जिसका हम जिक्र कर रहे हैं। सुबुक्तगीन नाम के एक तुर्की गुलाम ने ९७५ ई० के करीब गजनी और कंधार में अपने लिए एक राज्य क़ायम कर लिया था। उसने हिन्दुस्तान पर भी हमला किया। उन दिनो लाहौर का राजा जयपाल था। साहसी जयपाल सुबुक्तगीन के ख़िलाफ काबुल की घाटी में बढ़ गया, पर वहाँ उसकी हार हो गई।

महमूद अपने पिता सुबुक्तगीन के बाद गद्दी पर बैठा। वह एक तेजस्वी सेनापति और घुड़सवारो की सेना का अच्छा नायक था। हर साल वह हिन्दुस्तान पर हमला करता, लूटता, मार-काट करता और अपने साथ बहुत-सा धन और बहुत-से आदमी कैद करके ले जाता। कुल मिलाकर उसने हिन्दुस्तान पर १७ हमले किये। इनमें से उसका केवल कश्मीर का एक धावा असफल रहा। बाकी सब आक्रमण सफल हुए, और सारे उत्तरी हिन्दुस्तान में उसका आतंक छा गया। वह पाटलिपुत्र, मथुरा और सोमनाथ तक गया। कहा जाता है कि थानेश्वर से वह दो लाख कैदी और बहुत-सा धन ले गया था। लेकिन उसे सबसे ज्यादा धन सोमनाथ में मिला, क्योंकि वहां पर एक बहुत बड़ा मन्दिर था और सदियो की भेंट-पूजा वहाँ जमा थी। कहा जाता है कि जब महमूद सोमनाथ के पास पहुँचा तो इस आशा में कि मूर्ति में कोई चमत्कार जरूर होगा, और उनका पूज्य देवता उनकी अवश्य मदद करेगा, हजारो आदमियो ने उस मन्दिर में शरण ली। लेकिन भक्तो की कल्पनाओ को छोड़कर चमत्कार विरले ही होते हैं। महमूद ने मन्दिर को तोड़ डाला, और उसे लूट लिया। पचास हजार आदमी उस चमत्कार की राह देखते-देखते, जोकि हुआ ही नही, नष्ट हो गये।

महमूद ई० सन् १०३० में मर गया। उस समय सारा पंजाब और सिन्ध उसके क़ब्जे मे था। वह इस्लाम धर्म का एक बड़ा नेता समझा जाता है, जो हिन्दुस्तान में इस्लाम धर्म के प्रचार करने के लिए आया। बहुत-से मुसलमान उसकी इज्जत और बहुत-से हिन्दू उससे घृणा करते है, लेकिन असल मे वह मजहबी आदमी नही था। वह मुसलमान जरूर था, लेकिन यह एक गौण बात थी। असली बात यह थी कि वह एक प्रतिभाशाली सैनिक था। वह हिन्दुस्तान को जीतने और लूटने आया था, जैसाकि बदकिस्मती से अक्सर सैनिक लोग किया करते हैं। महमूद चाहे जिस धर्म का होता यही करता। यह एक ध्यान देने की बात है कि महमूद ने सिन्ध के मुसलमान राजाओ को भी धमकी दी थी। जब उन्होने उसकी मातहती मान ली, और उसे ख़िराज दिया तब उसने उन्हे छोड़ा था। उसने बगदाद के खलीफा को भी मौत की धमकी दी थी, और उससे समरकन्द मांगा था, इसलिए हमें महमूद को एक सैनिक के अलावा और कोई दूसरी चीज समझने की गलती में न फँसना चाहिए।

महमूद बहुत से हिन्दुस्तानी शिल्पकारो और कारीगरों को अपने साथ गजनी ले गया था, और वहाँ पर उसने एक सुन्दर मस्जिद बनवाई थी । जिसका नाम 'उरूसे जन्नत' यानी स्वर्ग-वधू रक्खा था । बगीचो का वह बड़ा प्रेमी था ।

महमूद ने मथुरा की एक झलक हमें दिखाई है, जिससे पता चलता है कि मथुरा उस समय कितना बड़ा शहर था । महमूद नें गजनी के अपने एक सूबेदार के नाम एक खत में लिखा था—"यहां एक हजार ऐसी इमारतें है जो, इतनी मजबूत हैं, जैसे 'मोमिनो' यानी मुसलमानो का ईमान । यह मुमकिन नहीं कि यह शहर अपनी इस मौजूदा हालत पर बिना लाखो दीनार (उस समय का एक मुसलमानी सिक्का) खर्च किये पहुँचा हो, और न इस तरह का दूसरा शहर दोसौ साल से कम में तैयार ही किया जा सकता है ।"

महमूद द्वारा लिखा हुआ मथुरा का यह वर्णन हम फिरदौसी की किताब में पढ़ते है । फिरदौसी फारसी का महाकवि था । मुझे खयाल आता है कि पिछले साल के अपने एक खत में, मैंने उसका और उसकी खास किताब 'शाहनामा' का जिक्र किया है । एक कथा है कि शाहनामा महमूद की आज्ञा से लिखा गया था । महमूद ने फिरदौसी को फी शेर एक सोने की दीनार देने का वादा किया था । लेकिन मालूम पड़ता है कि फिरदौसी किसी बात को संक्षेप में कहने का कायल नहीं कई था । उसने बहुत विस्तार के साथ लिखा, और जब वह महमूद के सामने अपनें बनाये हजार शेर ले गया, तो हालांकि उसकी रचना की बहुत तारीफ की गई, लेकिन महमूद को अपने अविवेकपूर्ण वादे पर पश्चात्ताप हुआ । उसने उसे वादे से कम इनाम देने की कोशिश की । इसपर फिरदौसी बड़ा नाराज हुआ और उसने कुछ भी लेने से इन्कार कर दिया ।

हर्ष से महमूद तक हमने एक लम्बा कदम रक्खा और साढ़े तीन सौ बरसों से ज्यादा समय का हिन्दुस्तानी इतिहास कुछ पैरो में देख लिया । मैं समझता हूँ, इस लम्बे युग के बारे में बहुत-कुछ दिलचस्प बाते लिखी जा सकती हैं । लेकिन मैं उन्हे नहीं जानता । इसलिए अक्लमन्दी की बात यही है कि मैं इस बारे में चुप रह जाऊँ । मै तुम्हें भिन्न-भिन्न राजाओ और शासको के बारे में कुछ-न-कुछ बता सकता हूँ, जो एक दूसरे से लडे और जिन्होनें हिन्दुस्तान में कभी-कभी पांचाल जैसे बडे-बडे राज्य भी कायम किये । कन्नौज की मुसीबतो का भी हाल मैं बता सकता हूँ कि किस प्रकार उसपर पहले कश्मीर के राजाओ ने और उनके बाद दक्षिण के राष्ट्रकूटों ने हमले किये और उसपर कब्जा कर लिया । लेकिन इससे कोई फायदा न होगा, तुम सिर्फ उलझन में और फँस जाओगी ।

यहा हम हिन्दुस्तान के इतिहास के एक लम्बे अध्याय के अखीर तक पहुँच गये हैं,

और अब एक नया अध्याय शुरू होता है। इतिहास को टुकडो में बॉटना मुश्किल और अक्सर अनुचित होता है। इतिहास बहती हुई नदी की तरह आगे बहता ही जाता है। फिर भी इसमें तब्दीली होती है। एक पहलू का अन्त और दूसरे का आरम्भ होता है। ये परिवर्तन एकाएक नही होते; एक रग में दूसरा रंग छिपता जाता है और इस तरह तब्दीली का पता नही चलता। इसलिए जहॉतक हिन्दुस्तान का सम्बन्ध है हम इतिहास के इस कभी खत्म न होने वाले नाटक के एक अक तक पहुँच गये है। जिसयुग को हिन्दू युग कहते है, वह अब धीरे-धीरे खत्म होता है। हिन्दू-आर्य संस्कृति जो कई हजार वर्षो से फलती-फूलती चली आरही थी, अब एक नई आनेवाली सस्कृति के सघर्ष में आती है। लेकिन याद रखो कि यह तब्दीली एकाएक नही हुई थी। यह धीरे-धीरे आई थी। इस्लाम उत्तरी हिन्दुस्तान में महमूद के साथ आया। दक्षिण बहुत दिनो तक मुसलमानों की विजय से बचा रहा, और इसके बाद बगाल भी करीब दो सौ बरसो इस्लाम से मुक्त था। हम देखते है कि उत्तर में चित्तौड़, जो आगे इतिहास में अपनी बहादुरी के लिए मशहूर होनेवाला था, राजपूत जातियो के संगठन का केन्द्र होने लगा था। लेकिन मुसलमानो की विजय-धारा निष्ठुर और निश्चित रूप से आगे बढ़ती ही गई और व्यक्तिगत वीरता उसे जरा भी न रोक सकी। इसमें कोई शक नही कि पुराना हिन्दू-आर्य-भारत अवनति की ओर जारहा था।

विदेशियो और विजेताओ को रोकने में असमर्थ होने की वजह से हिन्दू-आर्य सस्कृति ने आत्म-रक्षा की नीति पकडी। पर अपने को बचाने की कोशिश में वह एक गुफा में चली गई। उसने अपनी जाति-पाति की प्रणाली को जिसमें अभीतक लोच बाकी थी ज्यादा मजबूत और कडी बना दिया। उसने स्त्रियो की स्वाधीनता घटा दी, और ग्राम पचायते भी धीरे-धीरे बदलकर बुरी हालत में हो गई। लेकिन इस हालत में भी, जब कि वह एक अधिक जीवित जाति के सामने गिर रही थी, उसने उन लोगो पर अपना असर डालने और उन्हे अपने ढंग पर मोडने और ढालने की कोशिश की। और इस आर्य-सस्कृति में हजम करने की इतनी ज्यादा ताकत थी कि, एक हद तक, इसने अपने विजेताओ के ऊपर भी सास्कृतिक विजय प्राप्त करली।

तुम्हे यह याद रखना चाहिए कि यह संघर्ष भारतीय आर्य-सभ्यता और उच्च कोटि के अरबो के बीच नहीं था, बल्कि सभ्य लेकिन पतनशील हिन्दुस्तान और मध्य एशिया के अर्ध-सभ्य और अक्सर खानाबदोश कौमो (जिन्होने हाल ही में इस्लाम धर्म ग्रहण किया था) के बीच था। बदकिस्मती से हिन्दुस्तान ने सभ्यता के इस अभाव को और महमूद के हमलो की बीभत्सता को इस्लाम के साथ शामिल कर दिया और इस तरह आपस की कटुता बढ़ गई।

: ५२ :

योरप के देशों का निर्माण

३ जून, १९३२

प्यारी बेटी ! क्या अब हम योरप की सैर न करेंगे ? पिछली वार जब हमने उसपर विचार किया था, उसकी हालत खराब थी। रोम का पतन, पश्चिमी योरप की सभ्यता का पतन था। कुस्तुन्तुनिया की सरकार के मातहतवाले हिस्से को छोड़कर पूर्वी योरपवाले हिस्से की हालत उससे भी खराब थी। एटिला नामक हूण ने महाद्वीप के बहुत बडे हिस्से को तहस-नहस कर डाला था। लेकिन पूर्वी रोमन साम्राज्य, हालांकि वह गिर रहा था, कायम रहा। यहाँ तक कि कभी-कभी उसकी शक्ति एकाएक फूट निकलती थी।

रोम के पतन से पैदा होनेवाले धक्के के वाद पश्चिम में सब वातें नये तरीके से व्यवस्थित होने लगीं। इनके निश्चित रूप पकड़ने और जमने में वहुत दिन लग गये। फिर भी पश्चिम का नया रूप-रंग या ढाचा जैसे सामने आता-जाता है, हम उसे पहचान सकते हैं। कभी-कभी अपनें साधु-सतो और शान्ति-प्रिय लोगो की मदद पाकर, और कभी अपने सैनिक राजाओ की तलवार के ज़ोर पर, ईसाई धर्म का फैलाव बढ़ता गया। नये-नये राज्य पैदा हो गये। फ्रांस, वेलजियम और जर्मनी के एक भाग पर फ्रैंको ने, जिन्हे तुम फ्रेन्च (फ्रान्स निवासी) समझने की भूल न करना, क्लोविस नामक शासक के मातहत एक राज्य कायम किया। क्लोविस नें ई० सन् ४८१ से ५११ तक राज्य किया। यह राजवंश क्लोविस के वावा के नाम से मेरोविंजियन वंश कहलाता है। लेकिन इन राजाओ के ऊपर बहुत जल्द उन्हींके दरबार का एक अफसर हावी हो गया। यह राजमहल का 'मेयर' था। ये मेयर सर्वशक्तिमान हो गये और इनका यह पद मौरूसी हो गया। असली शासक तो ये थे। राजा तो नाम के और कठपुतली मात्र थे।

चार्ल्स मार्टल भी इन्हीं राजमहल के मेयरो में से एक था, जिसने ७३२ ई० में फ्रान्स में टूर्स की वडी लड़ाई में सरासीनो को हराया था। इस विजय से चार्ल्स मार्टल ने सरासीनो के विजय-प्रवाह को रोक दिया और ईसाइयों की निगाह में उसने योरप को वचा लिया। इस जीत से उसकी इज्जत और शोहरत वहुत वढ़ गई। लोग उसे शत्रुओ के विरुद्ध ईसाई-ससार का नेता मानने लगे। इन दिनो रोम के पोपो का सम्बन्ध कुस्तुन्तुनिया के सम्राटो के साथ अच्छा नही था। इसलिए पोप चार्ल्स मार्टल से सहायता की आशा करने लगे। चार्ल्स मार्टल के लड़के पेपिन ने

उस समय के कठपुतली राजा को गद्दी से उतारकर अपनेको राजा घोषित करना निश्चय किया। पोप ने खुशी के साथ यह बात मानली।

शार्लमेन पेपिन का लड़का था। पोप के ऊपर फिर मुसीबत आई और उसने शार्लमेन को अपनी रक्षा के लिए बुलाया। शार्लमेन ने मदद की, पोप के दुश्मनों को भगा दिया और ई० सन् ८०० के बड़े दिन को गिरजे में एक बड़ा उत्सव करके पोप नें शार्लमेन को रोमन सम्राट बना दिया। उसी दिन से पवित्र रोमन साम्राज्य शुरू हुआ, जिसकी बाबत मैं तुम्हे पहले एक बार लिख चुका हूँ।

यह एक विचित्र साम्राज्य था, और इसका आगे आनेवाला इतिहास तो और भी विचित्र है, क्योंकि वह 'एलिस इन दि वण्डरलैण्ड'[१] की चेशायर बिल्ली की तरह केवल अपनी मुस्कराहट छोड़ जाता है लेकिन उसके शरीर का कोई निशान बाकी नही बचता। लेकिन अभी यह आगे की बात है और हमें अभी से भविष्य में ताक-झांक करने की जरूरत नहीं।

यह 'पवित्र रोमन साम्राज्य' पुराने पश्चिमी रोमन साम्राज्य का सिलसिला नहीं था। यह दूसरी ही चीज थी। यह अपने ही साम्राज्य को एक मात्र साम्राज्य समझता था। इसका सम्राट, शायद पोप को छोडकर, अपने को दुनिया में हरेक का स्वामी मानता था। सम्राट और पोप के बीच कई सदियो तक इस बात की लाग-डॉट रही थी कि इन दोनो में कौन बड़ा है। लेकिन यह लाग-डाँट भी अभी आगे की चीज है। ध्यान देने लायक बात यह है कि यह साम्राज्य उस पुराने साम्राज्य का पुनरुत्थान माना जाता था, जो किसी समय सर्वोपरि था और जब रोम दुनिया का स्वामी माना जाता था। लेकिन इस धारणा के साथ एक नया भाव पैदा हो गया था—ईसाई मत और ईसाई जगत का। इसलिए यह साम्राज्य 'पवित्र' कहलाता था। सम्राट संसार में एक प्रकार का ईश्वर का प्रतिनिधि समझा जाता था और पोप भी इसी प्रकार पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। एक राज-सम्बन्धी मामलो की देख-रेख करता था, दूसरा आध्यात्मिक मामलो की। बहरहाल कुछ ऐसे ही विचार थे, और मैं समझता हूँ कि इसी विचारधारा के कारण योरप में राजाओ के ईश्वरीय

१ 'एलिस इन दि वण्डरलैण्ड'—अँगरेजी भाषा में बच्चो की एक बडी पुस्तक का नाम। आक्सफर्ड विश्व-विद्यालय के एक प्रोफेसर ने, लुई केरोल के नाम से, एक मित्र की लडकियो के विनोद के लिए, सन् १८६५ मे इसे लिखा था। यह पुस्तक बडी रोचक है, और शायद ही कोई अँगरेजी जाननेवाला बालक या बालिका ऐसी हो, जिसने इसको न पढा हो। इस पुस्तक मे एलिस नाम की एक लडकी की आश्चर्यमय लोक की स्वप्न-यात्रा का वर्णन है।

या दैवी अधिकार (Divine Right) का भाव पैदा हुआ है। सम्राट 'धर्म का रक्षक' (Defender of the Faith) था। तुम्हे यह बात रोचक मालूम होगी कि अंग्रेजों का राजा अभी तक 'धर्म का रक्षक' कहा जाता है।

इस सम्राट की तुलना उस खलीफा से करो जो 'अमीरुल मोमनीन' (ईमानदारो का सरदार) कहलाता था। खलीफा सम्राट और पोप दोनो होता था। लेकिन बाद में, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, वह नाम-मात्र का खलीफा रह गया था।

कुस्तुन्तुनिया के सम्राटो ने पश्चिम के इस नये उठे हुए 'पवित्र रोमन साम्राज्य' को बिलकुल पसंद नही किया। जिस समय शार्लमेन का राजतिलक हुआ, कुस्तुन्तुनिया में आइरीन नामक एक औरत साम्राज्ञी बन बैठी। आइरीन वही स्त्री थी, जिसने सम्राज्ञी बनने के लिए अपने ही लड़के को मार डाला था। उसके समय में राज्य की हालत खराब थी। यह भी एक वजह थी, जिससे पोप को यह साहस हुआ कि शार्लमेन का राज-तिलक कर दे और कुस्तुन्तुनिया से सम्बन्ध तोड़ ले।

शार्लमेन इस समय पश्चिमी ईसाई जगत् का अधिनायक था। वह पृथ्वी पर 'ईश्वर का प्रतिनिधि' था और एक पवित्र साम्राज्य का सम्राट् था। सुनने में ये शब्द कितने शानदार मालूम पडते हैं। लेकिन ये वाक्य जनता को धोखा देने और उसे मत्रमुग्ध कर देने का अपना काम कर ही जाते हैं। ईश्वर और धर्म को अपनी मदद के लिए पुकारकर अधिकारीवर्ग ने अक्सर दूसरों को बेवकूफ बनाया है और अपनी ताकत बढ़ाई है। राजा, सम्राट् और धर्माचार्य इस तरह औसत आदमी की नजरों में रहस्यमय और छायापूर्ण चीज बन जाते है। और साधारण जीवन से बिलकुल अलग रहने से लोग इन्हे करीब-करीब देवताओ की तरह समझने लगते है। इसीलिए साधारण मनुष्य उनसे भय खाने लगता है। दरबारो के शिष्टाचारों और वहांके विस्तृत नियमो और उपनियमो की सूची का खयाल करो, और मंदिरो और गिरजो में होनेवाली पूजा के विस्तृत आचार से उसकी तुलना करो। दोनों में एकसी बातें मिलती है। दोनो में वही झुकने, सलाम करने, दण्डवत करने और सर झुकाने की बातें मिलेंगी। अधिकारो की यह पूजा बचपन से ही जुदे-जुदे तरीको से हमें सिखाई जाती है। यह भय की उपासना है, प्रेम की नहीं।

शार्लमेन बगदाद के हारूनल रशीद का समकालीन था। वह उससे पत्र-व्यवहार करता था। और इस बात पर गौर करो कि उसने यह प्रस्ताव किया था कि वे पूर्वी रोमन साम्राज्य और स्पेन के सरासीनो से लड़ने के लिए मिलकर काम करें। इस प्रस्ताव का कोई फल नही निकला, लेकिन फिर भी यह प्रस्ताव राजाओं और राजनीतिज्ञो की नीति पर काफी रोशनी डालता है। सोचो तो, ईसाई-शक्ति और

अरब-शक्ति के खिलाफ ईसाई-जगत का अधिनायक और 'पवित्र' सम्राट बगदाद के खलीफा से मेल करे ! तुम्हे याद होगा कि स्पेन के सरासीनो ने बगदाद के अब्बासी खलीफाओ को खलीफा मानने से इन्कार कर दिया था। वे आजाद हो गये थे, लेकिन ये दोनो एक-दूसरे से इतने दूर थे कि लड़ नहीं सकते थे। कुस्तुन्तुनिया और शार्लमेन में भी मेल नहीं था। लेकिन यहाँ भी फासले की वजह से लड़ाई नही हो सकी। बहरहाल यह प्रस्ताव किया गया था कि एक ईसाई और एक अरब दूसरी ईसाई और अरब शक्ति से लड़ने के लिए आपस में मेल करले। इन राजाओ की असली नीयत यह होती थी कि किसी तरह अपनी शक्ति, अधिकार और धन बढ़ाले। लेकिन इस नीयत के ऊपर ये लोग धर्म का चोला चढ़ा देते थे। हर जगह ऐसा ही हुआ। हिन्दुस्तान में हमने देखा है कि महमूद मजहब के नाम पर आया और उसने इस भावना से बहुत फायदा उठाया। धर्म की दुहाई देकर अक्सर लोगो ने फायदा उठाया है।

लेकिन हरेक युग में लोगों के ख़यालात बदला करते हैं, और हम लोगो के लिए बहुत दिन पहले के लोगो के बारे में कोई फैसला कर लेना मुश्किल है। हमें यह बात हमेशा याद रखनी चाहिए। बहुत सी बातें जो आज हमें स्पष्ट दिखाई देती हैं उस समय के लोगो को विचित्र मालूम पड़ती थी। हमें आज उनके सोचने का ढग और उनकी आदतें अजीब मालूम होती हैं। एक तरफ लोग ऊँचे अदर्शो की बात करते थे, 'पवित्र' साम्राज्य की, ईश्वर के प्रतिनिधि की और ईसा के प्रतिनिधि पोप की बातें बघारी जाती थी, और उधर पश्चिम की हालत उतनी ही खराब थी जितनी हो सकती थी। शार्लमेन के बाद ही इटली और रोम की हालत बहुत शोचनीय हो गई थी। रोम में कुछ स्त्री और पुरुषो का एक घृणित गिरोह जो चाहता था करता था और पोपो को बनाता बिगाड़ता रहता था।

दरअसल में रोम के पतन के बाद पैदा होनेवाली पश्चिमी योरप की सर्वव्यापी अशान्ति से लोगो के दिलो में यह ख़याल पैदा हो गया था कि अगर साम्राज्य का फिर से जन्म हो तो हालत सुधर जायगी। बहुतो के लिए यह इज्जत का सवाल हो गया कि एक सम्राट् बनाया जाय। उस समय का एक पुराना लेखक लिखता है कि चार्ल्स को इसलिए सम्राट् बना दिया गया, कि गैर-ईसाई यह कहकर ईसाइयो का अपमान न करें कि ईसाइयो में सम्राट का नाम लुप्त हो गया है।

शार्लमेन के साम्राज्य में फ्रास, बेलजियम, हालैंड, स्वीजरलैंड आधा जर्मनी और आधा इटली शामिल थे। इसके दक्षिण-पश्चिम में स्पेन था, जो अरबो के अधीन था। उत्तर-पूरब में स्लाव और दूसरी जातियाँ थी। उत्तर में डेन और नार्यमेन

थे। दक्षिण-पूरब में बलगेरियन और सरबियन लोग थे और उनके बाद कुस्तुन्तुनिया के अधीन पूर्वी रोमन राज्य था।

ई० सन् ८१४ में शार्लमेन मर गया और थोडे ही दिनो के बाद साम्राज्य की सम्पत्ति के बँटवारे के लिए झगडे उठ खडे हुए। उसके वंशज, जो केर्लोविजियन (केरोलस चार्ल्स का लैटिन रूप है) कहलाते थे, किसी काम के नहीं थे, जैसा कि उनमें से कुछ की उपाधियों से मालूम होता है। एक 'मोटा' कहलाता था, दूसरा 'गजा' और तीसरा 'पवित्र'। शार्लमेन के साम्राज्य से टूटकर अब जर्मनी और फ्रांस ने अपना अलग रूप धारण करना शुरू किया। कहते है, ई० सन् ८४३ से जर्मन राष्ट्र का जन्म हुआ, और यह भी कहा जाता है कि ई० सन् ९६२ से ९७३ तक राज्य करनेवाले सम्राट् ओटो महान् ने जर्मनो को एक राष्ट्र बनाया। फ्रांस पहले से ही ओटो के साम्राज्य के बाहर था। ई० सन् ९८७ में ह्यूकैपेट नामक एक सरदार ने शक्तिहीन केर्लोविजियन राजाओ को निकाल दिया और फ्रांस पर कब्जा कर लिया। लेकिन पूरे फ्रास पर कब्जा नही हो सका, क्योंकि फ्रांस बडे-बडे भागों में बंटा था, जो स्वतंत्र सरदारों के अधीन थे और ये सरदार आपस में अकसर लड़ा करते थे। लेकिन वे एक-दूसरे से उतना नही डरते थे, जितना साम्राट और पोप से, और सम्राट् तथा पोप से मुकाबिला करने के लिए सब मिल जाते थे। ह्यू कैपेट के समय से फ्रांस राष्ट्र की शुरुआत हुई और इस आरम्भिक युग में भी हमें फ्रांस और जर्मनी की प्रतिद्वंद्विता दिखाई देती है। यह प्रतिद्वंद्विता पिछले हजार वर्षो से चली आती है औरआज तकजारी है। अजीब बात है कि फ्रास और जर्मनी के समान दो सभ्य और अत्यन्त कुशल राष्ट्र, जो एक दूसरे के पडौसी हैं, अपने पुराने वैमनस्य को पीढ़ी-दर-पीढ़ी भड़काते रहे। लेकिन शायद इसमें उनका उतना दोष नहीं है, जितना उस प्रणाली का, जिसके नीचे वे रहते रहे हैं।

करीब-करीब इसी समय रूस भी इतिहास के रंग-मंच पर आता है। कहा जाता है कि उत्तर के एक आदमी ने, जिसका नाम रूरिक था, ८५० ई० के लगभग रूसी राज्य की नींव डाली थी। इसी समय योरप के दक्षिण पूरब में बलगेरियन लोग बसने लगे और धीरे-धीरे उग्र होने लगे। इसी प्रकार सरबियनों ने भी वहाँ बसना शुरू किया। मगयार या हँगेरियन और पोल जातिवाले भी पवित्र रोमन साम्राज्य के और नये रूस के बीच में अपना राज्य स्थापित करने लगे।

इसी दरमियान उत्तर योरप से कुछ लोग जहाजों के जरिये पश्चिम और दक्षिण देशो को आये। उन लोगो ने वहां आग लगाई, कत्ल किये और लूट-मार की। तुमने डेन और दूसरे नार्थमेनों के बारे में पढ़ा होगा, जो इंगलैंड को लूटने गये

थे। ये नार्थमेन या नार्समेन या नार्मन, भूमध्य सागर में गये, अपने जहाजों के जरिये उन्होंने बडी-बडी नदियो को पार किया और जहाँ कही भी वे गये वही लूट-मार की। इटली में अराजकता थी और रोम बहुत बुरी आफत में था। इन लोगो ने रोम को लूट लिया और कुस्तुन्तुनिया को भी धमकाया। इन लुटेरो और डाकुओ ने फ्रांस के पश्चिमी हिस्से को, जहाँ नारमण्डी है, और दक्षिण इटली और सिसली को छीन लिया और धीरे-धीरे वहाँ बस गये और उस प्रदेश के मालिक तथा जमीदार बन बैठे, जैसा कि अक्सर लुटेरे समृद्धिशाली होने पर करते है। फ्रास के नारमंडी प्रांत में बसे हुए इन्ही नार्मनो ने १०६६ ई० में विलियम के सेनापतित्व में (जिसको विजेता कहा गया है) इंग्लैण्ड को जीत लिया। इस तरह हम इग्लैण्ड की भी शक्ल बनते देखते है।

अब हम मोटे तौर पर योरप में ईसाई सन् के पहले हजार बरसो के अन्त तक पहुँच गये। इसी वक्त गजनी का महमूद हिन्दुस्तान पर हमला कर रहा था और इसी समय के लगभग बगदाद के अब्बासी खलीफाओ की ताकत कम हो रही थी और पश्चिमी एशिया में सेलजुक तुर्क इस्लाम को फिर से जगा रहे थे। स्पेन अब भी अरबो के मातहत था। लेकिन वे अपनी मातृभूमि अरबस्तान से बहुत दूर पड़ गये थे। दरअसल में उनका सम्बन्ध बगदाद के शासको के साथ अच्छा नही था। उत्तरी अफरीका वास्तव में बगदाद से स्वतंत्र हो गया था। मिस्र में यही नही कि एक स्वतंत्र शासन कायम हो गया हो, बल्कि वहाँ के खलीफाओ ने अपनी अलग खिलाफत बनाली थी और कुछ समय के लिए मिस्र के खलीफा उत्तरी अफरीका पर भी राज्य करते रहे।

: ५३ :

सामन्त-प्रथा

४ जून, १९३२

अपने पिछले खत में हमने फ्रास, जर्मनी रूस और इंगलैंड की शुरूआत की एक झलक देखी थी, लेकिन याद रक्खो कि इन देशो के बारे में इन लोगो का उस जमाने वह खयाल नहीं था, जो अब है। हम आज-कल यह जानते है, कि अंग्रेजो, फ्रांसीसियो और जर्मनो की कौमें अलग-अलग है, और इनमें से हरएक अपनी मातृ-भूमि या पितृ-भूमि को अलग-अलग मानता है। राष्ट्रीयता का यह भाव आज-कल संसार में भलीभांति जाहिर है। हिन्दुस्तान में हमारी आजादी की लड़ाई भी

'राष्ट्रीय' लड़ाई है। लेकिन उस जमाने में राष्ट्रीयता की यह भावना मौजूद नहीं थी। उस जमाने में ईसाई-धर्म-जगत की भावना जरूर थी, यानी लोग कुछ इस शक्ल में सोचते और अनुभव करते थे, कि हम ईसाई समाज या गिरोह के आदमी है और मुसलमानो या गैर ईसाइयों से अलग हैं। इसी तरह मुसलमानो का भी ख़याल था, कि हम मुसलमानी दुनिया के प्राणी हैं और बाकी जितने है काफिर है, और हमसे अलग हैं।

लेकिन ईसाईधर्म और इस्लाम के ये विचार बिलकुल अस्पष्ट थे और जनता की रोज़ाना ज़िन्दगी पर इनका कोई असर नहीं पड़ता था। खास-खास मौकों पर लोगो के दिलों में मजहबी जोश भरा जाता था, ताकि आगे इस्लाम या ईसाईधर्म के लिए, जहां जैसा मौका हो, लड़ने को तैयार हो जायँ। राष्ट्रीयता के बजाय, आदमी-आदमी के बीच एक अजीब सम्बन्ध था। यह सामन्ती सम्बन्ध था, जो सामन्त प्रथा से पैदा हुआ था। रोम के पतन के बाद पश्चिम की पुरानी प्रणाली तहस-नहस हो गई थी। सभी जगह अराजकता, उद्दंडता, जबर्दस्ती और बदइन्तजामी दिखाई देती थी। जबर्दस्त आदमी जो कुछ पाते थे, ले लेते थे। और जब तक कोई ज्यादा जबर्दस्त आदमी पैदा नही होता था, जो उनसे छीन ले, ये अपना अधिकार जमाये रहते थे। किले बनाये जाते थे, और इन किलों के स्वामी छापा मारने के लिए अपने दल के साथ बाहर निकलते थे। गाँवो मे लूट-मार करते थे, और कभी-कभी अपनी बराबरी के लोगो से युद्ध भी करते थे। गरीब किसान और जमीन पर काम करनेवाले मजदूर ही सबसे ज्यादा मुसीबत में फँसे थे। इसी बदइंतजाम में से सामन्त प्रणाली का जन्म हुआ था।

किसान संगठित नहीं थे। इन डकैत सरदारो से वे अपनी रक्षा नही कर सकते थे और न कोई केन्द्रीय शासन ही था, जो कि इन किसानो की रक्षा करता। इसलिए किसानो ने इस दुर्गति से बचने के लिए उत्तम उपाय यही देखा कि, किले के इन मालिको से, जो, उन्हे लूटते रहते थे, समझौता कर लें। किसान इस बात पर राजी हो गये कि खेत में जो कुछ पैदा होगा, उसका कुछ हिस्सा उनको देंगे, और भी कई तरीको से उनकी सेवा करेंगे, बशर्ते कि वे इन्हे लूटना छोड़ दें और परेशान न करें, और अपने वर्ग के दूसरे आदमियो से भी इनको बचायें। इसी तरह छोटे किले के मालिक ने बडे किले के मालिक से समझौता कर लिया। लेकिन छोटा मालिक बडे मालिक को खेत की कोई उपज नहीं दे सकता था, क्योंकि वह खुद किसान नहीं होता था और कुछ पैदा नहीं करता था। इसलिए सैनिक साहयता देने का वादा करता था यानी जरूरत पड़ने पर उसकी तरफ से लड़ने का वचन देता था। इसके

बदले में बड़ा मालिक छोटे को बचाता था और छोटा बडे का मातहत समझा जाता था। इसी तरह कदम-ब-कदम छोटे से बडे और बडे से अधिक बडे मालिक तक यह सिलसिला चलता था और अन्त में बादशाह तक पहुंच जाता था, जिसे इस सामन्ती ढांचे का प्रमुख समझना चाहिए। लेकिन यह सिलसिला यहीं नही खतम होता था। इनका खयाल था कि स्वर्ग में भी यह सामन्त प्रथा है, जहां त्रि-देव या त्रिमूर्ति (Trinity) है और परमेश्वर इन सबका प्रमुख है।

योरप की बदइन्तज़ामी में से यह सामन्त-प्रथा धीरे-धीरे पैदा हुई। तुमको याद रखना चाहिए कि उस वक्त कोई केन्द्रीय शासन अमली शक्ल में नही था। न तो पुलिसवाले थे और न इस किस्म की कोई दूसरी चीज थी। एक ज़मीन के टुकडे का मालिक, उसका शासक और स्वामी भी था और उन सारे आदमियो का भी स्वामी था जो उस ज़मीन पर बसते थे। यह एक किस्म का छोटा-मोटा राजा माना जाता था, जो उनकी सेवाओ और लगान के बदले में उनकी रक्षा करता था। यह अपनी जमीन पर बसने वालों का राजा कहलाता था और वे लोग उसकी प्रजा या गुलाम समझे जाते थे। इसके पास जो ज़मीन होती थी, सिद्धान्त में वह बडे मालिक या सामन्त की तरफ से मिली हुई समझी जाती थी, और इसी बडे सामन्त का वह मातहत समझा जाता था और उसे फौजी सहायता देता था।

गिरजाघरो के अफसर भी इस सामन्त प्रथा के अंग माने जाते थे। वे धर्म-पुरोहित और सामन्त दोनो थे। जर्मनी में तो आधी जमीन और सम्पत्ति बिशप और पादरी लोगो के हाथ में थी। पोप खुद एक बडा सामन्त समझा जाता था।

तुम देखोगी कि यह सारी प्रणाली एक श्रेणी पर दूसरी श्रेणी तथा वर्गो से मिलकर बनी थी। इसमें बराबरी का कोई सवाल न था। असामी, प्रजा या दास सबसे नीची सतह पर होते थे और उन्हे ही इस सामाजिक ढाचे का—छोटे मालिको, उनसे बडे सामन्तो और राजाओ का—सारा बोझ उठाना पड़ता था। गिरजो का यानी—बिशपो कार्डिनलों और मामूली पादरियो, मतलब सब छोटे-बडे कर्मचारियो का बोझ भी इन्ही असामियो को बरदाश्त करना पड़ता था। ये सामन्त लोग, चाहे छोटे हो चाहे बडे, अन्न या और किसी किस्म की सम्पत्ति की उपज के लिए कोई परिश्रम नहीं करते थे। ऐसा करना उनकी शान के खिलाफ समझा जाता था। इन लोगो का ख़ास काम युद्ध था और जब कोई लड़ाई नहीं होती थी तो ये नकली लड़ाइयाँ लडते थे और टूर्नामेंट करते थे। यह अनपढ और अनगढ लोगो की एक ऐसी जमात थी जो सिवाय खाने-पीने और लड़ने के कोई दूसरा जरिया अपने मनोरंजन का नहीं जानती थी। इस तरह से अन्न और जीवन की दूसरी

जरूरतो को पैदा करने का सारा बोझ किसानों और शिल्पकारों पर पड़ता था। इस सारी प्रणाली की चोटी पर बादशाह था, जो ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था।

सामन्त-प्रथा के पीछे यही धारणा थी। सिद्धान्त रूप से इन सामन्तो का फ़र्ज़ था कि अपने मातहतों और अपनी प्रजा की रक्षा करें, पर व्यवहार में इनके वास्ते कोई कायदा-कानून नहीं था। वे खुद अपने कानून थे। बड़े सामन्त या राजा शायद ही कभी इनकी रोक-थाम करते थे, और किसानो में इतनी ताकत नहीं थी कि इन मालिकों की मांग के खिलाफ खड़े हो सकें। चूंकि ये लोग ज्यादा जबर्दस्त होते थे, अपनी प्रजा से ज्यादा से ज्यादा ले लिया करते थे और उनके पास सिर्फ इतना छोड़ते थे कि वे अपनी मुसीबत से भरी हुई जिन्दगी किसी तरह बिता सकें। जमीन के मालिको का यही ढंग हरेक देश में रहा है। जमीन का मालिक होना एक शराफत समझी जाती थी। लुटेरा सरदार जो जमीन को दबा बैठता था और किला बना लेता था शरीफ समझा जाने लगता था और उसकी सभी इज्जत करते थे। ज़मीन के मालिक होने की वजह से इन लोगो के हाथ में इख्तियार भी आजाता था। और इन भूस्वामियो ने, इस इख्तियार की वजह से किसानो से, अन्न पैदा करने वालो से, या मजदूरो से, जितना धन चूस सकते थे, चूसा। कानून भी जमीन के मालिकों की मदद करता रहा है, क्योंकि कानून के बनानेवाले या तो वे खुद ही होते थे या उनके यार-दोस्त। और यही वजह है कि आज कुछ लोगो का यह खयाल है कि जमीन किसी व्यक्ति की मिलकियत न समझी जाय, बल्कि समाज की मिलकियत हो। अगर जमीन समाज की या राष्ट्र की हो जाय तो इसका मतलब यह होगा कि ज़मीन उन सब लोगों की होगी जो उस पर बसे हैं। और ऐसी हालत में कोई भी उनको न चूस सकेगा और न उनसे कोई बेजा फायदा ही उठा सकेगा।

लेकिन ये खयालात उस वक्त तक पैदा नहीं हुए थे, जिस जमाने की हम बात कर रहे हैं। उस वक्त लोग इस ढंग से नहीं सोचते थे। जनता मुसीबत में थी, लेकिन उसे इससे बचने का कोई रास्ता नहीं दिखाई देता था। वे बेचारे इन सब बातो को बरदाश्त करते थे और आशा-शून्य परिश्रम की जिन्दगी बिताते थे। आज्ञा-पालन की आदत उनमें कूट-कूट कर भर दी गई थी और एक दफा जब ऐसा कर दिया जाता है तब लोग सब कुछ बरदाश्त करने लगते हैं। इस तरह से हम देखते हैं कि एक ऐसे समाज का निर्माण होने लगा, जिसमें एक तरफ तो सामन्त सरदार और उनके नौकर थे और दूसरी तरफ़ बेहद ग़रीब लोगों का झुण्ड था। सरदार के पत्थर के पक्के किले के चारो तरफ आसामियों के लकड़ी और मिट्टी के

झोपडे बन जाते थे। दो किस्म की दुनिया थी जो एक दूसरे से बिलकुल अलग थी। एक तो मालिको की दुनिया और दूसरी असामियो की। शायद स्वामी लोग यह समझते थे कि उनके असामी उनके मवेशियो से कुछ ही दर्जा ऊँचे है।

कभी-कभी छोटे-छोटे पादरी असामियो को उनके स्वामियो के अत्याचार से बचाने की कोशिश करते थे। लेकिन आमतौर पर पादरी स्वामियो का ही पक्ष लेते थे और सच तो यह है कि बिशप और 'एबाट' (मठाधिकारी) लोग खुद सामन्त होते थे।

हिन्दुस्तान में इस किस्म की सामन्त-प्रथा नही थी। लेकिन इससे मिलती-जुलती प्रणाली यहाँ भी मौजूद थी। हमारी हिन्दुस्तानी रियासतो के राजा महाराजाओ ठिकानो और जागीरदारो ने बहुतेरी सामन्ती प्रथायें अब तक कायम रख छोडी है। हिन्दुस्तान की जाति-व्यवस्था ने भी, जो सामन्त-प्रणाली से बिलकुल अलग चीज थी, समाज को अनेक हिस्सो में बाँट दिया था। चीन में, जैसा मैं तुम्हे बता चुका हूँ, कभी कोई निरकुशता नही रही और न इस किस्म का कोई खास अधिकार-प्राप्त वर्ग ही रहा। इम्तहान की इनकी प्राचीन प्रणाली ने हरेक व्यक्ति के लिए ऊँचे से ऊँचे ओहदो का दरवाजा खोल रखा था। लेकिन व्यवहार में अलबत्ता बहुत-सी बदिशें रही होगी।

इस तरह सामन्त प्रणाली में समता या आजादी का कोई खयाल नहीं था। हा अधिकार और कर्तव्य का जरूर खयाल था, यानी सामन्त का यह अधिकार था कि वह अपने असामी से लगान और सेवा ले और वह इस बात को अपना कर्तव्य समझता था कि असामियो की रक्षा करे, लेकिन अधिकार हमेशा याद रहते है और लोग अक्सर कर्तव्य भूल जाते है। आज भी कुछ यूरोपियन देशो मे और हिन्दुस्तान में बडे-बडे जमीदार पाये जाते है। ये जरा भी परिश्रम किये बिना अपने किसानो से बडी-बडी रकमें लगान में वसूल करते है। लेकिन अपनी जिम्मेदारी की बात को जमाना हुआ उन्होने भुला दिया है।

ताज्जुब की बात है कि योरप की पुराने 'बर्बर' कबीले, जिन्हे अपनी आजादी इतनी प्यारी थी, धीरे-धीरे उस सामन्त प्रणाली के सामने झुक गये, जिसमें आजादी का नाम भी नही था। पहले ये कबीले अपना प्रमुख चुना करते थे और उसपर रोक-थाम भी रखते थे। लेकिन अब चुनाव का कोई सवाल नही रह गया और सभी जगह निरकुशता का मन-माना शासन होने लगा। मैं नहीं बता सकता कि यह तब्दीली क्यो आई। मुमकिन है कि गिरजाघरो से जिन सिद्धान्तो का प्रचार हुआ उनकी वजह से लोकतंत्र के खिलाफ विचार जनता में फैल गये हो। राजा पृथ्वी पर

परमेश्वर का अश समझा जाने लगा और ऐसी हालत मे सर्वशक्तिमान के अश से कौन हुज्जत करे और कौन उसकी हुक्म अदूली करे? इस सामन्त प्रणाली में लोक और परलोक दोनो शामिल थे।

हिन्दुस्तान में भी हम देखते है कि स्वतंत्रता के प्राचीन आर्य-विचार धीरे-धीरे बदल गये। वे धीरे-धीरे कमजोर होते गये यहाँ तक कि बिलकुल भूल गये। लेकिन जैसा मैंने तुम्हे बताया है मध्य युग की शुरूआत में कुछ हद तक ये विचार पाये जाते थे। शुक्राचार्य के 'नीति-सार' से और दक्षिण भारत के शिला लेखो से यह बात जाहिर होती है।

योरप में आहिस्ता-आहिस्ता एक दूसरे रूप से कुछ आजादी पैदा हुई। जमीन-मालिको के और उसपर काम करनेवाले किसानों और मजदूरो के अलावा देश में दूसरे वर्ग भी थे। जैसे व्यापारी और कारीगर। ये लोग सामन्त-प्रणाली के अग नही थे। अशाति के जमाने में काफी व्यापार नही होता था और कारीगरी का काम भी बहुत नही चलता था। लेकिन धीरे-धीरे व्यापार बढ़ा और कुशल कारीगरो और सौदागरो को महत्व मिल गया। वे अमीर बन गये और भू-स्वामी और बडे सामन्त इनके पास रुपया उधार लेने के लिए जाने लगे। इन लोगो ने रुपया उधार दिया लेकिन भूस्वामियों पर दबाव डाला कि वे इन्हे कुछ अधिकार दें। इन अधिकारो के पा जाने से इनकी ताकत बढ़ गई। इस तरह से हम देखेंगे कि सामन्तो के किले के चारो तरफ मिट्टी के झोपडो के बजाय, छोटे-छोटे क़स्बे पैदा होने लगे और चर्चों या गिरजाघरो, या 'गिल्ड हाल' के चारो तरफ मकानात बनने लगे। कारीगर और सौदागर अपने-अपने सघ या असोसियेशन बनाते थे और गिल्ड हाल इन सघो का केन्द्रीय दफ़्तर होता था। ये गिल्ड हाल फिर टाउन हाल बन गये। शायद तुम्हे लन्दन का गिल्ड हाल देखने की बात याद हो।

ये बढ़ते हुए शहर कोलोन, फ्रैंकफुर्त, हैम्बर्ग वगैरा सामंतों की शक्ति के प्रतिद्वन्दी बन गये। इन शहरो में एक नया वर्ग यानी व्यापारी-वर्ग पैदा हो रहा था, जो इतना अमीर था कि बडे आदमियो से टक्कर ले सके। दोनो में एक लम्बा सघर्ष शुरू हुआ। अक्सर बादशाह, इन बडे सामन्तो और भूमिपतियो के प्रभाव से डरकर, शहरो का साथ देते थे, लेकिन मै तो आगे बढ़ता जारहा हूँ।

मैंने यह खत शुरू करते हुए तुमसे यह बताया था, कि इस जमाने में राष्ट्रीयता की भावना नही पाई जाई थी। लोग अपने सामन्त की सेवा करना और उसके प्रति वफादार रहना ही अपना फर्ज समझते थे। वे देश की रक्षा की शपथ लेते थे। बादशाह भी एक अस्पष्ट-सा व्यक्ति था, और लोगो से बहुत दूर था। अगर कोई भूमिपति बादशाह के खिलाफ बगावत करता तो यह उसकी मर्जी की बात थी।

उसकी प्रजा को तो उसके ही पीछे चलना पड़ता था, और यह बात राष्ट्रीय भावना से, जो बहुत दिन बाद पैदा हुई, बिलकुल भिन्न है।

: ५४ :

चीन खानाबदोशों को पश्चिम में खदेड़ देता है

५ जून, १९३२

मैंने बहुत दिनो से, करीब एक महीने से, तुम्हे चीन के बारे में और सुदूर पूर्वी देशो के बारे में कुछ नही लिखा। हमने पश्चिमी एशिया, हिन्दुस्तान और योरप की कितनी ही तब्दीलियो की चर्चा की। हमने अरबो को बहुत से देशों में फैलते और उनपर विजय पाते देखा। हमने यह भी देखा कि योरप अंधकार में गिर गया और फिर उससे बाहर निकलने के लिए कोशिश करने लगा। इस दरमियान चीन अपना काम चलाता रहा और अच्छी तरह चलाता रहा। सातवी और आठवी सदियो में तग राजाओ की मातहती में चीन ग़ालिबन दुनिया का सबसे ज्यादा सभ्य, खुशहाल और सुशासित देश हो गया था। योरप इस देश से किसी बात में भी बराबरी नहीं कर सकता था, क्योंकि योरप रोम के पतन के बाद बहुत पीछे पड़ गया था। इस युग में ज्यादातर उत्तरी हिन्दुस्तान कुछ ढीला पड़ा रहा। इस देश ने अच्छे दिन भी देखे—जैसे हर्ष के शासन-काल में लेकिन आमतौर पर यह गिरता ही जा रहा था। दक्षिणी हिन्दुस्तान अलबत्ता उत्तर से कहीं ज्यादा सजीव था और समुद्र पार के उसके उपनिवेश श्रीविजय और अंगकोर एक महान् युग में दाखिल हो रहे थे। अगर कोई हुकूमत ऐसी थी जो कुछ बातो में इस जमाने के चीन का मुकाबिला कर सके तो वह बगदाद और स्पेन की दो अरब हुकूमतें थी। लेकिन ये दोनो हुकूमतें भी कुछ ही जमाने तक अपनी शान की चोटी पर रहीं। दिलचस्प बात यह है कि राजसिंहासन से उतारे हुए तंग सम्राट् ने अरबो से मदद की अपील की थी और इन्हीकी मदद से उसे अपना राज वापस मिला था।

इस प्रकार सभ्यता में चीन उस जमाने में सबसे आगे था और उस समय के यूरोपियन लोगो को अगर अर्ध-जंगलियो की जमात कहे तो ज्यादा अनुचित न होगा। जितनी दुनिया उस समय मालूम थी उतनें में चीन सबसे आगे था। 'जितनी दुनिया मालूम थी' यह वाक्य मैं इसलिए इस्तेमाल करता हूँ कि मुझे नही मालूम उस समय अमरीका में क्या हो रहा था। इतना हमें जरूर पता चलता है कि मैक्सिको, पेरू और आस-पास के देशों में कई सौ वर्षो से सभ्यता चली आरही थी। कुछ बातो में

ये लोग खासतौर से आगे बढ़े हुए थे। कुछ बातो में खासतौर से पीछे थे। लेकिन मैं इन सब चीजो के बारे में इतना कम जानता हूँ कि ज्यादा कहने की हिम्मत नही कर सकता। हाँ, मैं चाहता हूँ कि मैक्सिको और मध्य अमरिका की 'माया' संस्कृति और 'इनका'[1] के पेरू राज्य का खयाल तुम मन में जरूर रखना। दूसरे लोग जो मुझसे ज्यादा जानते हैं, इनके बारे में कुछ काम की बातें तुमको बतायेंगे। इतना मैं जरूर कहूँगा कि उनकी संस्कृति ने मेरा मन मोह लिया है लेकिन मेरा जितना ज्यादा आकर्षण है उतनी ही ज्यादा इस विषय की मेरी कम जानकारी भी है।

मैं चाहता हूँ कि एक और बात भी तुम याद रखो। हमने देखा है कि बहुत सी खानाबदोश कौमें मध्य एशिया में पैदा हुई और वे या तो पश्चिम योरप को चली गई या नीचे हिन्दुस्तान में उतर आई। हूण, सीथियन, तुर्क और इसी तरह की बहुत-सी कौमें एक के बाद एक उठी और इनकी लहर एक के बाद दूसरी आती रही। तुम्हे सफेद हूण, जो हिन्दुस्तान आये और एटिला के हूण, जो योरप में थे, याद होगे। सेलजूक तुर्क भी, जिन्होने बगदाद के साम्राज्य पर कब्जा किया था, मध्य एशिया से आये थे। इसके बाद तुर्कों की एक दूसरी जाति आई जिन्हे उस्मानी (Ottoman) तुर्क कहा गया है। वे आये; उन्होने कुस्तुन्तुनिया को जीता और विएना की दीवारो तक पहुँच गये। इसी मध्य एशिया या मंगोलिया से भयकर मगोल लोग भी आये थे और विजय करते हुए योरप के मध्य तक पहुँच गये थे और उन्होने चीन को भी अपने कब्जे में ले लिया था। इसी मगोल वंश के एक आदमी ने हिन्दुस्तान में एक साम्राज्य की नीव डाली और एक राज-वंश चलाया जिसमें कई मशहूर शासक पैदा हुए।

मध्य एशिया और मंगोलिया की इन खानाबदोश कौमो से चीन की बराबर लडाई होती रही, या शायद यह कहना ज्यादा सही होगा कि ये खानाबदोश चीन को बराबर परेशान करते रहे और चीन को अपनी रक्षा के लिए मजबूर होना पड़ा। इन्ही कौमो से बचने के लिए चीन की 'बडी दीवार' बनाई गई थी। इसमें शक नही कि इस दीवार से कुछ फायदा जरूर हुआ लेकिन हमलो से बचाने में यह कोई बहुत ज्यादा उपयोगी चीज नही साबित हुई। एक सम्राट् के बाद दूसरा सम्राट् इन खानाबदोश कौमो को भगाता था, और इनके खदेड़ने के सिलसिले में चीनी साम्राज्य पश्चिम में कैस्पियन समुद्र तक फैल गया था, जिसके बारे में मैं तुम्हे बता

१. इनका (Inca)—दक्षिणी अमेरिका के पेरू नामक देश के प्राचीन शासको की उपाधि। 'इनका' एक प्रकार के दैवी पुरुष माने जाते थे। पेरू मे 'इनकाओ' ने लगभग तीन सौ वर्ष तक राज्य किया।

चुका हूँ। चीनी लोग कोई बहुत बडे साम्राज्यवादी नहीं थे। इनके सम्राटो मे से कुछ जरूर साम्राज्यवादी थे और दूसरे देशो को फतह करने की महत्वाकाक्षा रखते थे, लेकिन और कौमो के मुकाबिले में चीनी लोगो को शान्तिप्रिय कह सकते हैं। इन्हे विजय या लड़ाई प्रिय नहीं थी। चीन में विद्वानों को सैनिको से हमेशा ज्यादा आदर और मान मिलता था और इस पर भी अगर चीन का साम्राज्य कभी फैलकर बढ़ गया तो उसकी वजह यह थी कि उत्तर और पश्चिम की खानाबदोश कौमें चीनियो को बराबर कोचती रहती थीं और उनपर हमला करती रहती थी। ताकतवर सम्राट् इनसे हमेशा के लिए छुटकारा पा जाने के वास्ते इन्हे बहुत दूर पश्चिम की ओर खदेड़ दिया करते थे। इस ढग से इनका सवाल हमेशा के लिए तो हल नही होता था, लेकिन कुछ अवकाश जरूर मिल जाता था।

पर यो चीन-निवासियो को जो कुछ अवकाश मिलता था, उसका बोझ और मुल्को और कौमो के मत्थे पड़ता था। क्योकि जिन खानाबदोशो को चीनी भगाते थे वे दूसरे देशों पर जाकर हमला करते थे। इसी तरह ये खानाबदोश कौमें हिन्दुस्तान भी आई और बार-बार योरप गई। चीन के हन् सम्राटो ने हूण, तातारियो और दूसरे खानाबदोशो को अपने यहां से भगाकर दूसरे देशो में पहुचा दिया और तंग राजाओ ने तुर्को को योरप तक पहुंचाया।

अभीतक तो चीनी लोग खानाबदोश कौमो से अपनी रक्षा करने में बहुत हदतक सफल रहे, लेकिन अब हम उस जमाने की चर्चा करेंगे जब वे इतने सफल नही रह सके।

तग राज-वंश, जैसा कि और राजवंशो का सब जगह हाल हुआ करता है, धीरे-धीरे अनेक अकुशल राजाओ के होने की वजह से कमजोर हो गया। शान-शौकत और ऐयाशी के अलावा इनमें अपने पूर्वजों के कोई सद्गुण नही पाये जाते थे। राज्य भर में बेईमानी फैल गई थी और इसीके साथ-साथ भारी टैक्स लगा दिया गया था, जिसका बोझ ज्यादातर गरीब लोगो पर पड़ता था। असन्तोष बढ़ा और दसवी सदी के शुरू में यानी ९०७ ई० में यह राज-वंश खतम हो गया।

पचास बरस तक छोटे छोटे और निकम्मे शासको का तांता लगा रहा। ९६० ई० में एक दूसरे बडे राजवश की शुरूआत होती है। इस राजवश को संग-वंश कहते हैं और काओ-त्सू ने इसे चलाया था। लेकिन चीन की सरहदो पर, और अन्दर देश में भी, झगडे जारी रहे। किसानो पर लगान का बोझ बहुत ज्यादा था जिसके कारण वे नाराज थे। जैसा हिन्दुस्तान में है, वैसे ही चीन में भी, आराजी और लगान का बन्दोवस्त ऐसा था कि बहुत ज्यादा बोझ जनता पर पड़ जाता था और बिना इस बन्दोवस्त के बदले न तो शान्ति ही संभव थी और न तरक्की

ही हो सकती थी। लेकिन नीचे से ऊपर तक इस किस्म की तब्दीली करना हमेशा मुश्किल होता है। चोटी के लोगो को वर्तमान प्रणाली से मुनाफा रहता है और जब किसी तब्दीली की चर्चा शुरू होती है ये लोग बहुत शोर मचाने लगते हैं। इस किस्म की बात हमें अपने देश में, खासकर अपने प्रात में, बहुत दिखाई और सुनाई दे रही है। लेकिन अगर हम वक्त पर अकलमन्दी के साथ परिवर्तन नही करते तो परिवर्तन की यह आदत है कि वह बिना बुलाये ही आजाता है और सारा मामला गड़बड़ा देता है।

तंग राजवंश इसलिए गिर गया कि उसने जरूरी परिवर्तन नहीं किये। और इसी वजह से संग राजवंश को भी परेशानियाँ रही। एक ऐसा आदमी पैदा हुआ जो सफल हो सकता था। इसका नाम वांग-आन-शी था और यह ग्यारहवीं सदी में संगो का प्रधान मंत्री था। जैसा कि मैंने तुम्हे पहले बताया है, चीन कनफ्यूशियस के विचारो से शासित होता था। कनफ्यूशियन शास्त्र की परीक्षा सारे सरकारी अफ़सरो को पास करनी पडती थी और किसीकी हिम्मत नही पड़ती थी कि जो कुछ कनफ्यूशियस ने कहा है उसके खिलाफ बोले या करे। वॉग-आन-शी ने इन सिद्धान्तो के विरुद्ध तो कुछ भी नही किया, लेकिन उसने इन सिद्धान्तो का बिलकुल दूसरा अर्थ लगाया। किसी कठिनाई से बचने की ऐसी तरकीबें चालाक आदमी अकसर करते हैं। वॉग के कुछ खयालात बिलकुल आजकल के से थे। उसका असली उद्देश यह था कि ग़रीबो के ऊपर से टैक्स का बोझ कम करके उस बोझ को अमीरो पर डाल दे जो इसे सह सकते थे। इसने लगान में कमी कर दी और किसानों को यह अख्तियार दे दिया कि अगर रुपये की सूरत में लगान देना उनके लिए मुश्किल पड़े तो वे अनाज या किसी दूसरी उपज की सूरत में लगान अदा कर सकते हैं। अमीरो पर इसने इन्कम यानी आमदनी पर टैक्स लगादिया। यह टैक्स नये जमाने का टैक्स समझा जाता है लेकिन हम देखते हैं कि चीन में यह नौ सो बरस पहले लगाया जा चुका था। वॉग की यह भी तजवीज थी कि किसानो की सहायता के लिए सरकार उन्हे क़र्ज़ (तक़ावी) दिया करे, जिसे फसल पर किसान लोग वापस करदें। दूसरी कठिनाई यह थी कि अनाज का भाव घटता बढ़ता रहता था। मालूम नही तुम जानती हो या नही कि पिछले दो साल मे अनाज और खेत में पैदा होने वाली दूसरी चीजो के भाव में कमी हो जाने की वजह से हिन्दुस्तान में हमारे किसानो को कितनी मुसीबत सहनी पडी है। बाजार-भाव जब इस तरह गिर जाता है, गरीब किसानो को अपने खेतो की उपज से बहुत कम मिलता है। अपनी उपज वे बेच नही सकते फिर लगान देने के लिए या किसी चीज को खरीदने के लिए पैसे कहाँ से आवे? भारत की मौजूदा अग्रेजी सरकार से ज्यादा होशियार वांग-आन-शी ने इस समस्या को

हल करने की कोशिश की। उसने यह तजवीज की कि अनाज के भाव को बढने-घटने से रोकने के लिए सरकार को गल्ला खरीदना और बेचना चाहिए ।

वांग की यह भी तजवीज थी कि सरकारी कामो मे बेगार न ली जाय। जो आदमी काम करे उसे उसकी पूरी मजदूरी मिले। उसने स्थानीय सेना भी बनाई थी जिसे 'पाओ-चिया' कहते थे। लेकिन बदकिस्मती से वाग अपने जमाने से बहुत आगे बढ़ गया था इसलिए कुछ समय बाद उसके सुधार खत्म होगये। सिर्फ उसकी स्थानीय सेना ही ८०० वर्ष तक कायम रही।

सग लोगो में इतनी हिम्मत नहीं थी कि जो समस्या उनके सामने थी उसका मुकाबिला कर सके इसलिए इन लोगो ने समस्याओ से हार मान ली। उत्तर की जगली कौमें, जिनको खितन कहते थे, इनके मुकाबिले में बहुत मजबूत थीं। इनको पीछे हटाने में अपने को असमर्थ पाकर संग लोगो ने उत्तर-पश्चिम की एक जाति से, जिन्हे किन या 'सुनहरे तातारी' कहते थे, मदद मागी। 'किन' आये और उन्होने खितन लोगो को निकाल भगाया लेकिन वे खुद ठहर गये और वापस जाने से इन्कार कर दिया। कमजोर आदमी या कमजोर देश का, जो मजबूत से मदद मागता है, अकसर यही हाल हुआ करता है। किन लोग उत्तर चीन के मालिक बन बैठे और उन्होंने पेकिग को अपनी राजधानी बना ली। सग लोग दक्षिण को हट आये और ज्यो-ज्यो किन बढते गये वे पीछे हटते गये। इस तरह से उत्तर चीन में तो किन साम्राज्य हो गया और दक्षिण में सग साम्राज्य। इन सगो को दक्षिणी सग कहा गया है। सग राज-वंश उत्तर मे ई० सन् ९६० से ११२७ तक रहा। दक्षिणी सग दक्षिण चीन मे इसके बाद भी १५० वर्ष तक राज्य करते रहे। १२६० ई० में मगोल आये और इनका खातमा कर दिया। लेकिन चीन ने प्राचीन हिन्दुस्तान की तरह इसका बदला लिया और मगोलो को भी अपने अदर हजम करके चीनी बना लिया।

इस तरह चीन खानाबदोश कौमो के सामने पस्त हो गया, लेकिन पस्त होते-होते भी इसने उन खानाबदोशो को सभ्यता सिखाई, इसलिए चीन को इन कौमो से नुकसान नही पहुचा, जैसा योरप और एशिया के दूसरे हिस्सो में हुआ।

उत्तर और दक्षिण के संग राजनैतिक दृष्टि से उतने ताकतवर नही थे, जितने उनके पुरखा तंग लोग थे लेकिन सगो ने तगो की कला-सम्बन्धी परिपाटी कायमरखी और उसकी उन्नति भी की। दक्षिणी सगो की मातहती में दक्षिण चीन ने कला और कविता के मामले में बहुत तरक्की की। उनके जमाने में वहाँ बडे अच्छे चित्र खीचे जाते थे, खासकर प्राकृतिक दृश्यों के, क्योंकि सग कलाकार प्रकृति के उपासक थे। चीन के

बर्तन भी कला के स्पर्श से बहुत सुन्दर बनने लगे थे। यह कला दिन-ब-दिन और अदभुत होती ही गई, और दो सौ बरस के बाद मिंग सम्राटो के जमाने में वहाँ चीनी के बडे ही खूबसूरत बर्तन बनने लगे थे। मिंग युग के बने हुए चीनी के कलश आज भी हृदय को आनन्दित करनेवाली दुर्लभ चीज समझे जाते है।

: ५५ :

जापान में शोगन-शासन

६ जून, १९३२

चीन से पीला समुद्र पार करके जापान पहुँचना बहुत आसान है, और अब जब कि हम जापान के इतने नजदीक पहुँच गये है, इस देश की यात्रा कर लेना ही मुनासिब होगा। तुम्हें अपनी पिछली यात्रा तो याद ही होगी। उस समय हमने देखा था कि बडे-बडे घराने पैदा हो रहे थे और प्रभुत्व के लिए लड़ाई कर रहे थे, और एक केन्द्रीय सरकार धीरे-धीरे प्रकट हो रही थी। सम्राट् किसी ताकतवर और बडे कुटुम्ब का सरदार होने के बजाय केन्द्रीय सरकार का प्रमुख हो गया था। नारा नाम की राजधानी बसाई गई थी जिसे केन्द्रीय शक्ति का चिन्ह कहना चाहिए। इसके बाद राजधानी बदल कर क्योटो में कर दी गई। चीन की शासन-प्रणाली की नकल की गई थी और कला, धर्म और राजनीति में जापान ने बहुत कुछ चीन से और चीन के जरिये से सीखा था। जापान का नाम 'दाई निपन' भी चीन से ही आया था।

हम यह भी देख चुके है कि फूजीवारा नाम के एक वंश ने इस समय सारी ताकत अपने हाथ में करली थी, और सम्राट् को कठपुतली की तरह जिधर चाहता नचाता था। दो वर्ष तक इसी तरह राज चलता रहा। आखिरकार सम्राट् लोग ऊब गये। वे गद्दी छोडने लगे और साधु होकर मठों में रहने लगे। लेकिन साधु होने पर भी भूतपूर्व सम्राट् गद्दी पर बैठे हुए सम्राट् को, जो उसका लड़का होता था, सलाह-मशविरा देकर शासन के कामो में बहुत दखल देते थे। इस तरीके से सम्राटों ने फूजीवारा कुटुम्ब से पैदा होनेवाली अड़चन को किसी हद तक मिटाने की कोशिश की। हालाँकि काम करने का यह तरीका बहुत पेचीदा था लेकिन इससे फूजीवारा वंश के अधिकार बहुत घट गये। असली ताकत सम्राटो के हाथ होती थी, और वे एक के बाद दूसरे गद्दी से उतरकर साधु हो जाते थे। इसलिए इनको 'मठ-निवासी सम्राट्' कहा गया है।

इस दरमियान दूसरी तब्दीलियाँ हुईं और बड़े-बड़े जमींदारों का एक नया वर्ग भी पैदा हुआ। ये लोग युद्ध-कला में भी होशियार थे। फूजीवारो ने ही इन जमींदारों का निर्माण किया था और इन्हे सरकारी मालगुजारी जमा करने के लिए मुकर्रर किया था। इनको 'दाइम्यो' कहते थे—जिसका अर्थ 'बड़ा नाम' है। इसी किस्म की एक श्रेणी हमारे सूबे में भी है, जो अँग्रेजो के आने से पहले पैदा हुई थी। अवध में खास तौर से, जहाँ बादशाह कमजोर था, मालगुजारी वसूल करने के लिए वह आदमी मुकर्रर करता था। ये लोग छोटी-छोटी फौजें अपने पास रखते थे, जिससे मालगुजारी जोर-जबरी से वसूल कर सकें। ये आमदनी का बहुत ज्यादा हिस्सा अपने लिए ही रख लिया करते थे। यही मालगुजारी वसूल करनेवाले बढकर बड़े-बड़े ताल्लुकेदार हो गये है।

दाइम्यो लोग अपनी छोटी-छोटी सेनाओ और दरबारियों की मदद से बड़े ताकतवर हो गये। वे आपस में लड़ाई करते और क्योटो की केन्द्रीय सरकार की कोई परवाह नही करते थे। दाइम्यो के घरानो में दो घराने बहुत मशहूर थे—तायरा और मिनामोतो। इन लोगो ने ११५६ ई० में फूजीवारो को दबाने में सम्राट की मदद की। लेकिन बाद को फिर यही एक दूसरे के साथ बड़ी कटुता से लड़ने लगे। तायरा लोग जीते और इस इत्मीनान के लिए कि विरोधी कुटुम्ब भविष्य में उनको परेशान न करे, उन्होने मिनामोतो कुल के लोगो को कत्ल कर दिया। उन्होने सभी प्रमुख मिनामोतो को मार डाला। सिर्फ चार बच्चे बचे, जिनमें से एक बारह वर्ष का बालक योरीतोमो था। तायरा कुटुम्ब नें मोनामोतो को एकदम खत्म कर देने की कोशिश तो की लेकिन पूरी तरह सफलता नहीं हुई। यह लडका योरीतोमो, जिसकी कोई हैसियत नही थी, तायरा कुल का सख्त दुश्मन निकला। उसके दिल में बदला लेने की आग भड़क रही थी। बडा होने पर वह अपनी अभिलाषा में सफल हुआ। उसने तायरा लोगो को राजधानी से निकाल दिया और एक समुद्री लडाई में उनको कुचल डाला। इसके बाद योरीतोमो सबसे ताकतवर हो गया और सम्राट् ने उसे 'सी-ए-ताई-शोगन' की ऊँची उपाधि दी, जिसका मतलब है 'बर्बरो को दमन करने वाला महान सेनापति'। यह ११९२ ई० की बात है। यह उपाधि पुश्तैनी थी और इसके साथ शासन करने के पूरे अख्तियारात मिल जाते थे। असली हाकिम शोगन होता था। इस तरह से जापान में शोगन प्रणाली शुरू हुई। यह बहुत दिनो, करीब ७०० वर्ष तक, रही और अभी हाल तक पाई जाती थी। लेकिन जब जापान ने अपने सामन्ती दायरे से निकलकर अर्वाचीन युग में क़दम रखा तब यह प्रथा खत्म हो गई।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि योरीतोमो के वंशजों ने, शोगन की हैसियत से ७०० वर्ष तक राज्य किया। उन कुटुम्बों में कई तब्दीलियां होती रहीं जिनसे शोगन आते थे। गृह-युद्ध बराबर होते रहे लेकिन शोगन-प्रणाली अर्थात् शोगन का वास्तविक शासक होना और सम्राट् के नाम पर, जिसे कोई अख्तियारात नहीं होते थे, राज्य करना, बहुत दिनों तक जारी रहा। कभी यह होता था कि शोगन भी नाम मात्र का शासक रहता था और असली ताकत चन्द अफसरों के हाथ में होती थी।

राजधानी क्योटो, में विलासिता का जीवन बिताने से योरीतोमो बहुत डरता था क्योंकि उसकी यह धारणा थी कि आराम और आसाइश की जिन्दगी में वह और उसके साथी कमजोर पड़ जायेंगे। इसलिए उसने कामाकुरा में अपनी सैनिक राजधानी बनाई और पहला शोगन-शासन 'कामाकुरा शोगनत्व' कहलाता है। यह १३३३ ई० तक यानी करीब १५० वर्ष तक रहा। इस युग के अधिकांश भाग में जापान में शांति रही। कई वर्षों के गृह-युद्ध के बाद शांति के आने से उसका लोगों ने बहुत स्वागत किया और सम्पन्नता का युग शुरू हुआ। इस जमाने में जापान की हालत उस समय के योरप के किसी भी देश की हालत से बेहतर थी और इसका शासन भी कहीं ज्यादा अच्छा था। जापान चीन का योग्य शिष्य था, हालांकि दोनों के दृष्टिकोण में बहुत फर्क था। जैसा मैंने बताया है, चीन मौलिक रूप से शान्ति-प्रिय और सौम्य लोगों का देश था। इसके विरुद्ध जापान एक उग्र सैनिक देश था। चीन में लोग सैनिकों को नीची निगाह से देखते थे और सिपहगिरी का पेशा शरीफ पेशा नहीं समझा जाता था। जापान में चोटी के आदमी सिपाही होते थे और सैनिक सरदार या दाइम्यो आदर्श पुरुष समझा जाता था। शायद हिन्दुस्तान की तरह चीन भी इतना बुड्ढा हो गया था कि उसमें से युद्ध की प्यास जाती रही थी। बुढ़ापे में सभी, आम तौर से, शान्ति और आराम चाहते हैं।

इस प्रकार चीन से जापान ने बहुत-कुछ सीखा। लेकिन अपने तरीके से और हरएक चीज को उसने अपने जातीय साचे में ढालने की कोशिश की। चीन के साथ उसका घनिष्ट सम्बन्ध बना रहा और व्यापार भी चलता रहा, जो चीनी जहाजों के जरिये से हुआ करता था। तेरहवीं सदी के अन्त में इस बात में एकदम से रुकावट आगई, क्योंकि मंगोल चीन और कोरिया में पहुँच गये थे। मंगोलों ने जापान को भी जीतने की कोशिश की लेकिन पीछे हटा दिये गये। इस तरह से जिन मंगोलों ने एशिया की कायापलट कर दी और योरप को हिला दिया, जापान पर उनका कोई खास असर न पड़ सका। जापान पुराने रास्ते पर ही चलता रहा और बाहरी प्रभाव से पहले की अपेक्षा और भी दूर हो गया।

जापान के पुराने सरकारी इतिहास में एक कहानी है कि इस देश मे कपास का पौधा पहले पहल कैसे आया। कहते है कि कुछ हिन्दुस्तानी, जिनका जहाज जापानी किनारे के नजदीक डूब गया था, ७९९ ई० में कपास का बीज अपने साथ जापान ले गये।

चाय का पौधा इसके बाद आया है। पहले-पहल यह पौधा नवी सदी की शुरूआत में आया था लेकिन उस समय इसको सफलता नही मिली। ११९१ ई० में एक बौद्ध भिक्षु चीन से चाय के बीज लाया था; इसके बाद चाय बहुत लोक-प्रिय हो गई। चाय पीने की वजह से सुन्दर चीनी के बर्तनो की माग बढी। तेरहवी सदी के आखीर में चीनी के बर्तन बनाने की कला सीखने के लिए, एक जापानी कुम्हार चीन गया था और वह ६ वर्ष तक वहाँ रहा। वापस आने पर उसने सुन्दर जापानी सफेद मिट्टी के बर्तन बनाने शुरू किये। जापान में आज कल चाय पीना एक कला है, जिसके साथ एक लम्बा-चौड़ा शिष्टाचार लगा रहता है। अगर तुम कभी जापान जाओ तो ठीक ढंग से चाय पीना, नही तो जगली समझी जाओगी।

: ५६ :

मनुष्य की खोज

१० जून, १९३२

चार दिन हुए, मैंने तुम्हे बरेली जेल से खत भेजा था। उसी दिन शाम को मुझ से अपना असबाब इकट्ठा करके जेल से बाहर जाने को कहा गया—छूटने के लिए नहीं, बल्कि दूसरी जेल को मेरा तबादला किया जारहा था। इसलिए मैंने बैरक के अपने उन साथियो से बिदा ली, जिनके साथ मैं ठीक चार महीने तक रहा था। मैंने उस बडी २४ फीट की दीवार पर आखिरी नजर डाली, जिसकी छाया में इतने दिन रहा था, और थोडी देर के लिए बाहर की दुनिया देखने के वास्ते मैं निकल पड़ा। हम दो आदमी तब्दील किये जा रहे थे। अधिकारी हमें बरेली स्टेशन नहीं ले गये, कि कहीं लोग हमें देख न ले, क्योकि हम लोग 'परदानशीन' हो गये थे। कही ऐसा न हो कि लोगो की हम पर नजर पड जाय! मोटर से ५० मील का फासला तै करके हमें उजाडखड में एक छोटे से स्टेशन पर ले आया गया। इस सैर के लिए मैं बहुत एहसानमन्द हुआ, क्योकि कई महीनो के एकान्त के बाद रात की ठंडी हवा और धुन्धलेपन में आदमी, जानवरो, और पेडो की तेजी से भागती हुई शक्ले देखने में बडी भली मालूम होती थी।

हम लोग देहरादून लाये जारहे थे। तड़के ही, जबकि हम अपने सफर की आखिरी मंजिल तक नहीं पहुँचे थे, हम लोग गाडी से उतार लिये गये, और मोटर पर बिठाकर रवाना कर दिये गये, ताकि कही कोई हमें देख न ले।

और इस तरह अब मै देहरादून के छोटे से जेल में बैठा हूँ। यह बरेली से अच्छी जगह है। यहाँ उतनी गर्मी नहीं, और टेम्परेचर बरेली की तरह ११२° तक नहीं पहुँचता। हमारे चारो तरफ की दीवारे भी नीची है, और उनके ऊपर सिर उठा कर हमारी तरफ़ झांकते हुए पेडो में भी कुछ ज्यादा हरियाली है। दीवार के ऊपर से नजर दौडाता हूँ, तो दूर पर एक खजूर के पेड़ की चोटी दिखाई देती है; इस दृश्य से मेरी तबीयत खुश हो जाती है और मुझे लंका और मलाबार की याद आ जाती है। इन पेडो के पार, चन्द ही मील के फासले पर, पहाड़ है, और इन पहाडो की चोटी पर मसूरी बसा हुआ है। मै पहाडो को नहीं देख सकता, क्योंकि पेडो ने इनको छिपा रखा है, लेकिन इन पहाडो के नजदीक रहना और रात को यह कल्पना करना, कि दूर मसूरी के चिराग टिमटिमा रहे हैं, अच्छा मालूम होता है।

चार वर्ष हुए—या तीन ? जब मैंने इन खतो के लिखने का सिलसिला शुरू किया था, उस वक्त तुम मसूरी में थी। इन तीन या चार वर्षो में कितनी-कितनी बाते हो गई, और तुम कितनी बडी होगई हो। रह-रहकर और कभी-कभी बहुत अवकाश के बाद मैंने इन खतो को जारी रखा, ज्यादातर जेल से ही लिखे भी। लेकिन जितना ही मै लिखता जाता हूँ उतना ही मै अपने लिखे को नापसन्द करता जाता हूँ। मै डरने लगता हूँ, कि कहीं ऐसा न हो कि ये खत तुम्हे नापसन्द हो, और तुम्हारे लिए बोझ हो जायँ। ऐसी हालत में इन ख़तों को क्यो जारी रखू ?

मै बहुत चाहता था कि तुम्हारे सामने पुराने जमाने की साफ़-साफ़ तस्वीरे रखू, ताकि तुम्हे यह पता चल सके, कि हमारी यह दुनिया धीरे-धीरे किस तरह बदली, कैसे बढ़ी और विकसित हुई, और कैसे कभी-कभी जाहिरा पीछे हटी है। मेरी इच्छा थी कि तुम्हे यह पता चल जाय कि पुरानी सभ्यतायें किस किस्म की थी, वे लहरो की तरह कैसे उठीं, और फिर बैठ गई, और तुम समझने लगो कि इतिहास की नदी किस प्रकार बराबर युग-युगान्तर से बहती हुई चली आरही है, और किस प्रकार इसकी धारा में भवर पैदा हुए, लहरे उठीं, बहुत-सा पानी लहर के साथ बह गया और कुछ पानी पीछे रह गया, और कैसे यह अभी तक अज्ञात समुद्र की तरफ बहती हुई चली जा रही है। मै चाहता था कि तुम्हे मनुष्य के पद-चिन्हो पर ले चलूँ और यह दिखाऊँ कि शुरू से, जबकि वह मुश्किल से मनुष्य कहला सकता था, आज तक, जब वह अपनी बडी सभ्यता पर, ज्यादातर बेवकूफी और

प्रमादवश, अपनेको बहुत कुछ समझने लगा है, वह कौन-कौन सी हालतों में से से गुजरा है। हम लोगो ने शुरू इसी तरह से किया था। तुम्हे याद होगा, मसूरी के दिनो में, हमने इस बात की चर्चा शुरू की थी, कि पहले-पहल खेती और आग का आविष्कार कैसे हुआ, लोग कस्बो में कैसे बसे और श्रम का बँटवारा कैसे हुआ। लेकिन ज्यो-ज्यों हम आगे बढ़ते गये, साम्राज्यों और इसी किस्म की चीजो में उलझते गये, और अपना रास्ता खो बैठे। अभी तक हम इतिहास की ऊपरी सतह पर ही चलते रहे हैं। मैंने तुम्हारे सामने पुरानी घटनाओं का एक ढाँचा ही रखा है। मैं चाहता हूँ कि इस ढांचे के ऊपर मांस और खून चढ़ा दूं, जिससे तुम्हारे लिए एक जीती-जागती और शक्तिमान मूर्ति तैयार हो जाय।

मगर मुझे डर है कि मुझमें वह ताकत नही है। और तुम्हे घटनाओ के ढांचे में जान फूंकने के इस चमत्कार को सफल बनाने के लिए अपनी ही कल्पना पर भरोसा करना पडेगा। फिर सवाल उठता है कि जब यह बात है तब मै तुम्हे ये खत क्यों लिखूँ। प्राचीन इतिहास की अनेक अच्छी किताबें तो तुम खुद ही पढ सकती हो, फिर भी इन सन्देहो के बीच भी मैंने ये खत लिखना जारी रखा है और मेरा ख्याल है कि मैं इसे आगे भी जारी रखूँगा। मुझे याद है कि मैंने तुमसे इन खतो के लिखने का वादा किया था और इस वादे को पूरा करने की कोशिश करूँगा। लेकिन एक दूसरी बात भी है जो मेरे ऊपर इससे ज्यादा प्रभाव रखती है। जब मैं इन्हें लिखने बैठता हूँ और कल्पना करता हूँ कि तुम मेरे पास बैठी हो और हम एक दूसरे से बाते कर रहे हैं, तो उस समय मुझे बडी खुशी होती है।

जिस समय से मनुष्य जंगल के अन्दर से लुढकता और ठोकरे खाता हुआ बाहर निकला उस समय से उसकी यात्रा की घटनायें मैंने ऊपर लिखी है। उसका यह रास्ता हजारो बरसो का रहा है, फिर भी अगर तुम पृथ्वी की कहानी और आदमी के उसपर जन्म लेने के पहले के युग-युगान्तरो से इसका मुकाबिला करो तो यह समय कितना कम है! लेकिन हम लोगो के लिए उन तमाम बडे-बडे जानवरो के मुकाबिले में, जो मनुष्य के पहले मौजूद थे, मनुष्य स्वभावत· अधिक दिलचस्पी की चीज है। यह इसलिए कि मनुष्य अपने साथ एक नई चीज लाया जो दूसरो में नहीं पाई जाती थी। अर्थात् बुद्धि और कौतूहल, खोजने की और सीखने की इच्छा। इस प्रकार आदमी की खोज आदि से शुरू हुई। किसी छोटे बच्चे को देखो; वह अपने चारो ओर की नई और विचित्र दुनिया को कैसे देखता है। आदमियो को और दूसरी चीजो को वह कैसे पहचाननें लगता है और कैसे बहुतसी बाते सीखता है। किसी छोटी लड़की को देखो। अगर वह तन्दुरुस्त है और उसकी मानसिक बाढ़ अच्छी हुई है तो

वह कितनी ही बातो के बारे में कितने ही सवाल करेगी ? यही हाल इतिहास के प्रभात काल में था। आदमी उस समय बच्चा था और दुनिया नई और अद्भुत थी और उसके लिए कुछ डरावनी भी थी। उसने अपने चारो तरफ़ घूरकर देखा होगा और सवालात पूछे होगे। लेकिन वह अपने सिवा सवाल पूछता भी किससे ? कोई दूसरा जवाब देनेवाला नहीं था। हॉ, उसके पास एक छोटी-सी अजीब चीज थी-—बुद्धि। उसकी मदद से, धीरे-धीरे और तकलीफ के साथ, वह अपने अनुभवो को इकट्ठा करता गया और उनसे सीखता गया। इस तरह शुरू के जमानें से आजतक आदमी की खोज जारी रही है। उसने बहुत-सी बाते मालूम करली और बहुत-सी बाते अभी मालूम करने को है। जैसे-जैसे वह अपने रास्ते पर आगे बढ़ता है उसे नये और लम्बे-चौडे मैदान सामने मिलते है जिनसे उसे यह पता चलता है कि वह अब भी अपनी खोज की आखिरी मंजिल से—अगर इस खोज की आखिरी मजिल हो सकती है—बहुत दूर है।

मनुष्य की यह खोज क्या रही है और वह किधर की तरफ जारहा है ? हजारो वर्षो से आदमियो ने इन प्रश्नो का उत्तर देने की कोशिश की है। धर्म, फिलासफी और विज्ञान ने इन प्रश्नो पर विचार किया और बहुत-से जवाब दिये, लेकिन इन जवाबो से मै तुम्हे परेशान नही करूँगा, इसलिए कि मैं खुद भी उन्हे नहीं जानता। लेकिन मुख्यत· धर्म ने अपनें ढग पर इन सवालों का पूरा-पूरा जवाब देने की कोशिश की हैं। अक्सर बुद्धि की धर्म ने परवाह नही की और अपने निश्चयो को मनवाने में कई तरीको का इस्तैमाल किया है। विज्ञान ने संदिग्ध और शंका-पूर्ण उत्तर दिया हैं, क्योकि विज्ञान का स्वभाव यह हैं कि वह किसी बात में अपने को निभ्रन्ति या भ्रम-रहित नहीं समझता। वह प्रयोग करता हैं और अक्ल लगाता है और मनुष्य के मष्तिस्क पर भरोसा करता है। मुझे तुमसे इस बात के कहने की जरूरत नहीं कि मैं विज्ञान को और वैज्ञानिक ढंग को ज्यादा पसन्द करता हूँ।

यह सम्भव है कि हम मनुष्य की खोज के इन सवालो का जवाब निश्चयपूर्वक न दे सकें। लेकिन इतना हम देखते है कि यह खोज दो ढंग पर चली हैं। मनुष्य ने अपने अन्दर भी ढूंढा है और अपने बाहर भी। उसने प्रकृति को भी समझना चाहा है और अपने को भी। यह खोज वास्तव में एक ही है, क्योकि आदमी खुद प्रकृति का एक अंग है। हिन्दुस्तान और यूनान के पुराने फिलासफरो ने कहा है—अपनें को जानो। और उपनिषद में ज्ञान के लिए प्राचीन आर्य भारतीयो के इन अद्भुत और निरन्तर प्रयत्नो का हाल मिलता है। विज्ञान अब तो अपने पंख और आगे पसार रहा है और इन दोनो रास्तो की खोज की जिम्मेदारी ले रहा है और उनको एक

दूसरे से मिला-जुला रहा है। विज्ञान एक ओर तो बहुत दूर के प्रकाश के सितारे की खोज आत्म-विश्वास के साथ करता है, और दूसरी ओर हमें उस आश्चर्यजनक नन्हीं-नन्ही चीजो अर्थात् अणुओ, परमाणुओ और विद्युत्कणो के बारे मे भी बताता है जो बराबर हरकत कर रही है और जिनसे सारी प्रकृति बनी हुई है।

आदमी की बुद्धि ने उसे उसकी खोज की यात्रा में बहुत दूर तक पहुँचा दिया है। मनुष्य ने जितना ही ज्यादा प्रकृति को समझा उतना ही उसने उससे फायदा उठाया और उसे अपने मतलब के लिए काम में लाया। इस प्रकार उसके हाथ में बहुत ज्यादा ताकत आ गई। लेकिन अभाग्य-वश इस नई ताकत को उसने ठीक ढंग से इस्तैमाल नही किया और अकसर बेजा इस्तैमाल किया है। मनुष्य ने विज्ञान से खास तौर से भयंकर अस्त्र-शस्त्र बनाने का काम लिया है, जिनकी मदद से वह दूसरे मनुष्य को मार सके, और उसी सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट कर डाले, जिसके बनाने में उसने इतनी मेहनत की है।

: ५७ :

ईसा के बाद के पहले हज़ार वर्ष

११ जून, १९३२

अब यह मुनासिब मालूम होता है कि हम थोडी देर के लिए ठहर जायें और जिस मंजिल पर पहुँचे है वहाँ से चारो तरफ नजर डाल लें। हम कितनी दूर पहुँचे, है, इस समय कहा है और दुनिया कैसी दिखती है ? आओ हम अलादीन की जादुई कालीन पर बैठें और उस समय की दुनिया के मुख्तलिफ हिस्सो की थोडी देर के लिए सैर कर आवें।

हम ईसाई सन् के पहले हजार वर्ष तक पहुँच गये है। कुछ देशो में हम जरा आगे बढ गये है ओर कही इससे कुछ पीछे भी है।

हम देखते है कि एशिया में इस समय चीन संग राज्यवंश के अधीन था। महान् तंग वंश खत्म हो चुका था और सगो को एक तरफ घरेलू झगडो का सामना करना पडा और दूसरी तरफ उत्तर के 'वर्बर' खितनो के विदेशी हमले को झेलना पड़ा। डेढ सौ वर्ष तक उन्होने मुकाबिला किया, लेकिन फिर कमजोर पड गये और एक दूसरी वहशी कौम 'किन' लोगो से, जिन्हे 'सुनहरे तातारी' भी कहते थे, मदद मांगनी पडी। किन आये, लेकिन वही ठहर गये और बेचारे सगो को सिकुडकर दक्षिण चले जाना पड़ा, जहाँ दक्षिण सगो के नाम से उन्होने डेढ़ सौ वर्ष तक और

राज्य किया। इस बीच में वहा सुन्दर कलायें, चित्रकारी और चीनी बर्तन बनाने की कला की खूब उन्नति हुई।

कोरिया में आपस की फूट और संघर्ष के युग के बाद ९३५ ई० में एक सयुक्त स्वतंत्र राज्य बना और यह बहुत दिनो, करीब साढे चार सौ वर्ष तक, कायम रहा। कोरिया ने चीन से अपनी सभ्यता, कला और शासन-पद्धति के बारे में बहुत कुछ सीखा, धर्म और थोडी बहुत कलायें चीन होकर हिन्दुस्तान से कोरिया और जापान को गई पूरब दिशा में बहुत दूर पर स्थित जापान एशिया के संतरी की तरह दुनिया से बिलकुल अलग अपनी जिन्दगी गुजारता था। फूजीवारा कुटुम्ब सबसे श्रेष्ठ था और सम्राट्, जो हाल ही में एक कुल के प्रमुख से जरा कुछ ज्यादा हैसियतवाले हो गये थे, फूजीवारो के मुकाबिले में हल्के पड़ने लग गये थे। इसके बाद शोगन आये।

मलेशिया मे हिन्दुस्तानी उपनिवेश विकसित हो रहे थे। विशाल अगकोर कबोडिया की राजधानी था और यह राज्य अपने वैभव और शक्ति की चोटी पर था। श्रीविजय सुमात्रा में एक बौद्ध साम्राज्य की राजधानी थी। इस साम्राज्य का सब पूर्वी टापुओ पर अधिकार था, और इन टापुओ में आपस में बहुत बड़ा व्यापार चलता था। पूर्वी जावा में एक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य था, जो बहुत जल्द उन्नति करके श्रीविजय से व्यापार के लिए और व्यापार से पैदा होनेवाले धन के लिए होड़ करते हुए उसके साथ भयकर लड़ाई मे उतरनेवाला था। और जैसा कि व्यापार के लिए आजकल की यूरोपियन कौमें करती है, इसने अन्त में श्रीविजय को जीत लिया और नष्ट कर डाला।

हिन्दुस्तान में उत्तर और दक्षिण एक दूसरे से इतने अलग हो गये जितने कुछ दिनो से कभी नही रहे थे। उत्तर पर मुहम्मद गजनवी बार-बार धावा मारता था और उसे लूटता और तबाह करता रहता था। हर बार बहुत-सा धन वह अपने साथ ले जाता था। उसने पजाब को अपने राज्य में मिला लिया था। पर दक्षिण में हम देखते हैं, कि चोल साम्राज्य बढ रहा था और राजराजा तथा उसके लड़के राजेन्द्र की मातहती में प्रभावशाली होता जाता था। उन्होने दक्षिणी भारत पर कब्जा कर लिया था और उनकी जल सेनायें अरब समुद्र और बंगाल की खाडी पर हावी थीं। लंका, दक्षिण बरमा और बंगाल पर भी इन्होने उनपर हमला किया था और वहाँ अपनी फौजें ले गये थे।

मध्य और पश्चिम एशिया में हमें बगदाद के अब्बासी साम्राज्य का कुछ बचा-खुचा हिस्सा मिलता है। बगदाद अभी तक हरा-भरा था और नये शासक, यानी सेलजूक तुर्कों, की मातहती में उसकी ताकत बढ़ रही था। लेकिन पुराना

साम्राज्य कई राज्यो में बँट गया था। इस्लाम अब एक साम्राज्य नही रह गया था अब वह केवल कई देशो और जातियो का मजहब था। अब्बासिया साम्राज्य के खडहर से गजनी की सल्तनत पैदा हुई। इस पर महमूद राज्य करता था और यहाँ से वह हिन्दुस्तान पर टूटता रहता था। हालाकि बगदाद का साम्राज्य टूट गया था, बगदाद खुद अभीतक बहुत-बड़ा शहर बना हुआ था, जहाँ दूर-दूर से विद्वान और कलाकार खिच-खिचकर जाते थे। मध्य एशिया में उस समय कई बडे और मशहूर शहर थे जैसे बुखारा, समरकन्द, बलख वगैरा। इन शहरो में खूब व्यापार हुआ करता था और बडे-बडे कारवाँ व्यापार का माल लाया और ले जाया करते थे।

मगोलिया में और इसके चारो तरफ खानाबदोशो की कौमें, तादाद में और ताकत मे बढ रही थी। २०० वर्ष बाद ये एशिया के ऊपर टूटनेवाली थी। उस समय भी मध्य और पश्चिमी एशिया में जितनी प्रभावशाली कौमें थी सभी खानाबदोशो की जन्मभूमि मध्यएशिया के इसी टुकडे से आई थी। चीनियो ने इन्हे पश्चिम की तरफ भगा दिया था। कुछ तो इनमें से हिन्दुस्तान चली गई थी और कुछ योरप। इसी समय सेलजूक तुर्क पश्चिम की ओर खदेड़ दिये गये। इन्होने बगदाद के साम्राज्य की किस्मत जगाई, और कुस्तुन्तुनिया के पूर्वी रोमन साम्राज्य पर आक्रमण करके उसे हरा दिया।

यह तो एशिया की बात रही। लाल समुद्र के उस पार मिस्र था जो बगदाद से बिलकुल आजाद था। मिस्र के मुसलमान शासक ने अपने को एक अलग खलीफा घोषित कर रखा था। उत्तरी अफरीका एक स्वतत्र मुसलमानी राज्य की मातहती में था। जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य के उस पार स्पेन में एक स्वतत्र मुस्लिम राज्य था, जिसे कुर्तुबा या 'कार्डोबा की अमारत' कहा गया है। इसके बारे में मैं तुम्हे बाद को कुछ बताऊगा। लेकिन इतना तो तुम जानती ही हो कि स्पेन ने अब्बासिया खलीफो की मातहती कबूल नही की थी। उस समय से यह देश स्वतत्र ही था। फ्राँस को जीतने की इसकी कोशिश को चार्ल्स मार्टल ने बहुत पहले ही नाकामयाब कर दिया था और अब स्पेन के उत्तरी हिस्से के ईसाई राज्यो की बारी थी कि मुसलमानो पर हमला करें। और ज्यो-ज्यो जमाना गुजरा इन ईसाई राज्यो के हमलो में जोर भी आता गया। लेकिन जिस वक्त की बात हम कर रहे है, उस वक्त कारडोवा की अमारत एक बड़ा और उन्नतिशील राज्य था और सभ्यता और विज्ञान में योरप के और देशो से कही आगे था।

स्पेन को छोडकर योरप कई ईसाई राज्यो में बँटा था। इस समय तक ईसाई धर्म सारे महाद्वीप में फैल चुका था और देवी-देवताओ के मजहब योरप से

करीब-करीब गायब हो चुके थे। आज-कल के यूरोपियन देशो की शक्ल-सूरत बनने लगी थी। ९८७ ई० में ह्यू कैपेट की मातहती में फ्रास सामने आया। डेन कैन्यूट, जो इस बात के लिए मशहूर है कि उसने समुद्र की लहरो को पीछे हट जाने का हुक्म दिया था, १०१६ ई० में इंग्लैण्ड में राज्य करता था। ५० वर्ष बाद नारमडी से 'विजेता' विलियम आया। जर्मनी 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का अंग था, लेकिन एक राष्ट्र बनता जाता था। हालाँकि वह बहुतेरी छोटी-छोटी रियासतो में बँटा था। रूस पूरब की तरफ फैल रहा था और कुस्तुन्तुनिया को अपने जहाजो से अकसर भयभीत किया करता था। यह उस आश्चर्य-जनक मोह और आकर्षण की शुरुआत थी जो कुस्तुन्तुनिया के लिए रूस के दिल में हमेशा रहा है। इस बडे शहर के पाने की अभिलाषा एक हज़ार वर्ष से रूस अपने दिल में पालता रहा है और उसे उम्मीद थी कि महायुद्ध के खतम होने पर, जो १४ वर्ष हुए बन्द हुआ, यह शहर उसे मिल जायगा, लेकिन एक दम से क्रान्ति पैदा हो गई और पुराने रूस के सारे मनसूबे गड़बड़ा गये।

९०० वर्ष पुराने योरप के नकशे में तुम्हे पोलैण्ड और हंगरी भी मिलेंगे। इन देशो में 'मगियार' लोग रहा करते थे और तुम्हे बलगेरियन और सर्ब लोगो के राज्य भी इस नकशे में दिखाई देंगे। तुम इसमें पूर्वी रोमन साम्राज्य को भी पाओगी जिसे चारो ओर से उसके अनेक दुश्मन घेरे हुए थे लेकिन वह अपने ढर्रे पर चला जा रहा था। रूसियो ने उसपर हमला किया। बलगेरियन लोगो ने उसको परेशान किया और नार्मन, समुद्र के रास्ते बराबर उसे दिक करते रहे। सब से ज्यादा खतरनाक सेलजूक तुर्क निकले जिन्होने उसकी जिन्दगी खतम कर देनी चाही। लेकिन यह साम्राज्य इन दुश्मनो के, और बहुत-सी दूसरी कठिनाइयो के, बावजूद भी और ४०० वर्षो तक जिंदा रहा। इस आश्चर्यजनक मजबूती की एक वजह यह भी है कि कुस्तुन्तुनिया की स्थिति बहुत दृढ़ थी। यह ऐसी जगह पर बसा था कि किसी दुश्मन के लिए इस पर कब्जा करना मुश्किल था। इस साम्राज्य के इतने दिनो तक न टूटने की दूसरी वजह यह भी थी कि यूनानियो ने रक्षा करने का एक नया ढंग ईजाद किया था। इसका नाम 'यूनानी आग' था। यह कोई ऐसी रासायनिक चीज थी कि पानी के छूते ही जलने लगती थी। इस 'यूनानी आग' के जरिये से कुस्तुन्तुनिया के लोग उनपर हमला करनेवाली सेनाओ को, जो बास्फोरस पार करके आती थी, तहस-नहस कर देते थे, और उनके जहाजो को जला दिया करते थे।

ईसवी सन् के १००० बरसो के बाद योरप का यह नकशा था। उसी वक्त नार्मन लोग अपने जहाजो में आ रहे थे और भूमध्य सागर के किनारे के शहरो को

और समुद्र के जहाजों को लूट रहे थे। सफलता मिलने से ये कुछ शरीफ भी होते गये। फ्रांस के पश्चिमी हिस्से, नारमंडी, में वे बस गये थे। फ्रांस के अपने इस आधार से उन्होंने इंग्लैंड को जीत लिया था। सिसली का टापू उन्होंने मुसलमानों से छीन-लिया और उसमें दक्षिण इटली को जोड़कर उन्होंने 'सिसीलिया' का राज्य कायम कर दिया था।

योरप के मध्य में, उत्तरी समुद्र से रोम तक, 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का फैलाव था और इसमें बहुत सी रियासतें थीं जिनका प्रमुख सम्राट् हुआ करता था। जर्मन सम्राट् और रोम के पोप के बीच प्रभुत्व के लिए बराबर खींच-तान जारी रहती थी। कभी सम्राट् और कभी पोप हावी हो जाते थे। लेकिन धीरे-धीरे पोपों की ताकत बढ़ गई। लोगों को जाति से निकाल देने की धमकी का भयंकर शस्त्र पोप के हाथ में था। पोप ने एक अभिमानी सम्राट् को इतना जलील किया कि उसे नंगे पाँव बर्फ में माफी मांगने के लिए पोप के पास जाना पड़ा था और कनोजा (जो इटली में है) में पोप के निवासस्थान के बाहर उस समयतक खड़े रहना पड़ा था, जबतक कि पोप ने मेहरबानी करके उसे अन्दर दाखिल होने की इजाजत नहीं दी।

हम देख रहे हैं कि इस समय योरप के देश एक खास शक्ल लेने लगे थे। फिर भी वह आज से बिलकुल जुदे थे—खासकर उनकी प्रजा आज से बिल्कुल भिन्न थी, ये लोग अपने को फ्रांसीसी, अंग्रेज या जर्मन नहीं कहते थे। गरीब किसान बहुत मुसीबत में थे और अपने देश या भूगोल के बारे में कुछ नहीं जानते थे, सिर्फ इतना जानते थे कि हम अपने मालिक के असामी हैं और अपने मालिक के हुक्म के मुताबिक हमें चलना चाहिए। सरदार या सामन्त अपने को किसी न किसी जगह का मालिक समझते थे और किसी बड़े राजा या बादशाह की मातहत हुआ करते थे। यही सामन्त-प्रणाली थी जो सारे योरप में फैली हुई थी।

धीरे-धीरे जर्मनी में, और खासतौर से उत्तर इटली में, बड़े-बड़े शहर बढ़ने लगे। पेरिस उस वक्त भी एक मशहूर शहर था। ये शहर व्यापार और तिजारत के केन्द्र थे, और वहाँ बहुत धन इकट्ठा हो जाता था। फिर ये शहर सामन्तों को पसन्द नहीं करते थे और हमेशा इन दोनों के बीच झगड़े हुआ करते थे। अन्त में पैसे की जीत हुई। अपने पैसे की मदद से, जिसे वह मालिकों और जमींदारों को उधार देते थे, इन लोगों ने अधिकार और रिआयतें खरीदीं। और इस तरह धीरे-धीरे एक नया वर्ग पैदा हो गया जिसकी सामंत-प्रणाली से कभी नहीं पटी।

इस तरह से हम देखते हैं कि योरप के समाज में सामन्त पद्धति के ढंग पर बहुत सी तहें पाई जाती थीं। पादरी लोग भी इस प्रणाली को आशीर्वाद देते थे

और स्वीकार करते थे। राष्ट्रीयता की कोई भावना नहीं पाई जाती थी। लेकिन सारे योरप, खासकर ऊंचे वर्ग में, ईसाइयत और ईसाई राज्य की भावना जरूर थी। यह एक ऐसी भावना थी जिससे योरप की सारी ईसाई क़ौमें बंधी हुई थीं। पादरियों ने इस विचार के फैलाने में मदद की क्योंकि इससे उनको ताकत मिलती थी और रोमन पोप के अख़्तियार बढ़ जाते थे, जो उस वक़्त तक पश्चिमी योरप में पादरी-समुदाय का मुखिया हो चुका था। तुमको यह भी याद होगा कि रोम पूर्वी रोमन साम्राज्य और कुस्तुन्तुनिया से अलग हो चुका था। कुस्तुन्तुनिया में वही पुराना कट्टर चर्च जारी रहा और रूस ने अपना मजहब कुस्तुन्तुनिया ही से सीखा। कुस्तुन्तुनिया के यूनानी लोग पोप को नहीं मानते थे।

लेकिन खतरे के मौके पर, जब कुस्तुन्तुनिया को दुश्मनों ने घेर लिया और खास कर सेलजूक तुर्कों ने इस पर हमला किया, वह रोम के प्रति अपनी घृणा और अपने अभिमान को भूल गया, और उसने मुसलमान काफ़िरों के खिलाफ पोप से मदद मांगी। उस वक्त रोम में एक मशहूर पोप मौजूद था। उसका नाम हिल्डेब्रैण्ड था और बाद को वह पोप ग्रिगोरी सप्तम के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी हिल्डेब्रैण्ड के सामने कनौज़ा में अभिमानी जर्मन सम्राट् नंगे पैर गिरती हुई बरफ़ में हाज़िर हुआ था।

उस समय एक दूसरी घटना हो गई थी जिससे ईसाई संसार में कुछ उत्तेजना थी। बहुत से श्रद्धालु ईसाई विश्वास करते थे कि ईसा के ठीक हज़ार वर्ष के बाद दुनिया एकदम से ख़त्म हो जायगी। 'मिलेनियम' लफ़्ज़ के मानी 'एक हज़ार वर्ष' हैं। यह शब्द दो लैटिन शब्दों से मिलकर बना है। 'मिले' (Mille) का मतलब हज़ार है और 'एनस' (annus) साल को कहते हैं। चूंकि एक हज़ार वर्ष के बाद दुनिया के खातमे की उम्मीद की जाती थी, इस लिए 'मिलेनियम' शब्द का मतलब हो गया—'एकदम से तब्दील होकर बेहतर दुनिया का आजाना।' मैंने तुम्हें बताया है कि योरप में उस वक्त बड़ी मुसीबत थी और मिलेनियम के आने की आशा में बहुत से थके हुए लोगों को शान्ति मिलती थी। मिलेनियम के आने पर बहुत से लोगों ने अपनी जमीनें बेंच डालीं। और पैलेस्टाइन (फ़िलस्तीन) को चले गये ताकि जब दुनिया का खातमा हो तो उस समय वे अपनी 'पवित्र भूमि' में मौजूद हों।

लेकिन दुनिया का खातमा नहीं हुआ और उन हज़ारों यात्रियों को, जो जेरुसलम गये थे, तुर्कों ने बहुत परेशान किया, और सताया। अपमान से दुःखी और गुस्से में भरे हुए ये लोग योरप लौटे और अपने पवित्र देश में इनको जो तकलीफें हुई थीं उसके किस्से सारे योरप में फैलाने लगे। एक मशहूर तीर्थयात्री 'साधु पीटर', हाथ

में डंडा लिये हुए, चारो तरफ़ यही प्रचार करता फिरता था कि जेरूसलम के पवित्र नगर को मुसलमानों से छीनना चाहिए। इससे ईसाई संसार में घृणा और जोश बहुत बढ़ गया। और यह देखकर पोप ने इस आन्दोलन को खुद चलाने का निश्चय किया।

इसी वक्त विधर्मियो के खिलाफ सहायता के लिए कुस्तुन्तुनिया से प्रार्थना आई। सारा ईसाई-संसार, रोमन और यूनानी दोनो, बढ़ते हुए तुर्कों के खिलाफ़ मिल गया। १०९५ में पादरियो की एक बडी परिषद् में यह तय हुआ, कि जेरूसलम के पवित्र शहर को मुसलमानो से छीनने के लिए एक धार्मिक युद्ध की घोषणा की जाय। इस तरह से 'क्रूसेड' (जिहाद) की लड़ाई शुरू हुई यानी इस्लाम के ख़िलाफ ईसाइयत, और हिलाल (अर्धचन्द्र) के खिलाफ सलेब (क्रॉस) का संग्राम शुरू हुआ।

: ५८ :

एशिया और योरप पर एक और नज़र

१२ जून, १९३२

हमने दुनिया का—यानी एशिया, योरप और थोड़ा-सा अफरीका का—अपना सक्षिप्त सिहावलोकन खतम कर दिया, और ईसा के बाद हजार वर्ष के अन्त तक पहुँच गये। लेकिन आओ, हम एक बार और इस पर नजर डाल ले।

पहले एशिया को ले। हिन्दुस्तान और चीन की पुरानी सभ्यता अभी तक यहाँ जारी थी, और उन्नति कर रही थी। हिन्दुस्तानी संस्कृति मलेशिया और कम्बोडिया तक फैल गई थी, और वहाँ उससे बहुत अच्छे परिणाम निकल रहे थे। चीनी संस्कृति कोरिया और जापान, और किसी हद तक मलेशिया, में भी फैली हुई थी। पश्चिमी एशिया में, अरबस्तान, फिलस्तीन, सीरिया और इराक़ में अरबी संस्कृति का प्रसार था। ईरान में पुरानी ईरानी और नई अरबी सभ्यता का सम्मिश्रण था। मध्य एशिया के कुछ देशो ने भी इस ईरानी-अरबी संस्कृति के मिले-जुले रूप को इख्तियार कर लिया था, और उन पर हिन्दुस्तान और चीन का भी असर पड़ा था। इन देशो में एक ऊँचे दरजे की सभ्यता मौजूद थी। व्यापार, विद्या और कलाओ की उन्नति भी हो रही थी। वडे-बडे शहरो की बहुतायत थी और उसके मशहूर विश्व-विद्यालयो में दूर-दूर से विद्यार्थी आया करते थे। सिर्फ मलेशिया और मध्य एशिया के कुछ हिस्से में और उत्तर में साइबेरिया में सभ्यता का पाया कुछ नीचा था।

अब योरप को लो। एशिया के उन्नतिशील देशो के मुकाबिले में यह पिछड़ा हुआ और आधा-जंगली था। यूनानी-रोमन सभ्यता पुराने ज़माने की एक यादगार

रह गई थी। विद्या की कद्र नहीं थी, और न कला का ही ज्यादा प्रचार था। एशिया के मुकाबिले यहां व्यापार भी बहुत कम था। सिर्फ दो चमकनेवाली जगहे थी। एक तो स्पेन, जो अरबो की मातहती में था, और अरबों के शानदार जमाने की परिपाटी को कायम रखे हुए था। दूसरा कुस्तुन्तुनिया था, जो धीरे-धीरे गिरते हुए भी, अभी तक, एशिया और योरप की सरहद पर, बहुत बड़ा और घनी आबादी का शहर था। योरप के ज्यादातर हिस्सो में अक्सर अशाति रहा करती थी। सामन्त-प्रणाली के नीचे, जो योरप में सब जगह पाई जाती थी, हरेक सरदार और सामन्त अपनी रियासत का छोटा-मोटा बादशाह हुआ करता था। एक ऐसा समय आया कि पुराने रोमन साम्राज्य की वह पुरानी मशहूर राजधानी रोम एक मामूली गांव के बराबर हो गया, और उसके पुराने 'कोलोज़ियम' (बड़े अखाड़े) में जंगली जानवर रहने लगे। लेकिन यह फिर बढ़ने लगा था!

इसलिए अगर तुम ईसा के १००० वर्ष बाद के योरप और एशिया का मुकाबिला करो तो एशिया का पलड़ा बहुत भारी निकलेगा।

आओ, अब हम फिर नजर डाले, और मामलो की तह में जाकर देखने की कोशिश करे। हमें पता चलेगा कि ऊपर से देखनेवाले को एशिया की हालत जितनी अच्छी दिखाई देगी, असल में उतनी अच्छी नहीं थी। हिन्दुस्तान और चीन, प्राचीन सभ्यता के दो जन्म-स्थान, परेशानी और आफ़त में फँसे हुए थे। इनकी परेशानी सिर्फ यह नहीं थी कि बाहर से इन पर हमले होते थे। इनकी परेशानी इससे ज्यादा असली थी, और इनकी अन्दरूनी जिन्दगी और ताकत को चूस रही थी। पश्चिम में, शानदार जमाने का खातमा हो रहा था। यह सच है कि सेलजूको की ताकत बढ़ रही थी, लेकिन उनका उदय सिर्फ उनके सैनिक गुणो की वजह से हो रहा था। हिन्दुस्तानी, चीनी, ईरानी या अरबो की तरह इनको एशिया की सभ्यता का प्रतिनिधि नही कह सकते। ये एशिया की सिपहगिरी और उसके सामरिक गुणो के प्रतिनिधि थे। एशिया में हर जगह पुरानी सभ्य क़ौमें सिकुड़ती हुई दिखाई देती थीं। अन्दर से उनका आत्म-विश्वास जाता रहा था और ये लोग सिर्फ अपने को बचाये रखना चाहते थे। नई कौमें पैदा हुई, जिनमें ताकत थी और जो उत्साह से भरी थी। इन कौमो ने एशिया की पुरानी जातियो को जीत लिया, और योरप को भी डराने लगीं। लेकिन इनके साथ सभ्यता की कोई नई लहर नही आई और न इनसे संस्कृति को कोई नया प्रोत्साहन मिला। पुरानी क़ौमों ने धीरे-धीरे इन नई कौमो को सभ्य बनाया और अपने इन विजेताओ को हजम कर गई।

इस तरह से हम देखते हैं कि एशिया के ऊपर एक बडी तब्दीली आने लगी

थी। पुरानी सभ्यतायें कायम थीं, ललित कलायें फूल-फल रही थी, विलासिता में नजाकत मौजूद थी, लेकिन सभ्यता की नाडी कमजोर पड़ रही थी और जिन्दगी की साँस धीरे-धीरे मन्द पड़ती जाती थी। ये सभ्यतायें बहुत दिनो तक कायम रही। सिवा अरबस्तान और मध्य एशिया के, जब वहां मंगोल लोग आये थे, कही दूसरी जगह न तो ये सभ्यतायें खतम हुई, और न इनका सिलसिला ही टूटा। चीन और हिन्दुस्तान में धीरे-धीरे इन सभ्यताओ ने मुरझाना शुरू किया, और अन्त में वे एक रँगी हुई तसवीर की तरह बन गई जो दूर से देखने में तो बहुत सुन्दर मालूम होती थी, लेकिन उसमें जान नहीं थी। और अगर कोई नजदीक आकर देखता तो मालूम होता कि उसको दीमके चाटती जा रही है।

साम्राज्यो की तरह सभ्यताओ का पतन भी, बाहर के दुश्मनो की ताकत की वजह से इतना नहीं होता, जितना अन्दरूनी कमजोरी और सड़ान की वजह से होता है। रोम बर्बरो की वजह से नहीं गिरा। बर्बरो ने तो सिर्फ एक मुर्दा चीज को गिरा दिया था। जिस समय रोम के हाथ और पाँव काटे गये, उससे कही पहले रोम के दिल की धड़कन बन्द हो चुकी थी। यही बात हमें हिन्दुस्तान, चीन और अरबस्तान में भी मिलती है। अरबी सभ्यता का पतन उसके उदय के समान ही एकाएक हुआ। हिन्दुस्तान और चीन में पतन की यह धारा धीरे-धीरे बही और इसका पता चलाना आसान नही है।

महमूद गजनवी के हिन्दुस्तान आने के बहुत पहले पतन का क्रम शुरू हो चुका था। लोगो के दिमाग अब पहले जैसे न थे; उनमें तब्दीली आचुकी थी। नये विचार और नई बात पैदा करने की जगह हिन्दुस्तान के आदमी की हुई बातो की नक़ल करते थे और उसी को दोहराते थे। उनकी बुद्धि अभी तक तेज थी लेकिन वे अपनी बुद्धि को उन बातो के अर्थ करने और समझाने में लगाते थे जो बहुत दिनो पहले लिखी जा चुकी थीं। ये लोग आश्चर्य-जनक मूर्तिया बनाते और खुदाई का बहुत सुन्दर काम करते थे, लेकिन इनकी ये सब चीजें शृंगार और छोटी-छोटी बातो के ब्योरे के बोझ से बहुत दबी हुई थी और कभी-कभी उनमें वीभत्सता भी आजाती थी। मौलिकता खतम हो चुकी थी और ऊची और साहसपूर्ण कल्पना की बिल्कुल कमी थी। अमीरो और खुशहालो मे विलासिता और कला की नफासत चलती रही लेकिन जनता की मुसीबतो और मेहनत को कम करने के लिए कुछ भी नही किया गया और न उपज बढ़ाने की ही कोई कोशिश हुई।

ये सब बाते उस समय होती है जब सभ्यता की संध्या आती है। जब ये बात होने लगें तो समझ लेना चाहिए कि सभ्यता की जिन्दगी खतम हो रही है। क्योंकि

नई चीज पैदा करना ही जिन्दगी का प्रमाण है, किसी चीज का दोहराना या नकल करना नहीं।

चीन और हिन्दुस्तान में उस समय कुछ इसी किस्म की बात पैदा हो गई थी। लेकिन मेरे मतलब को समझने में ग़लती न करना। मेरा मतलब यह नही है कि चीन या हिन्दुस्तान की हस्ती इसकी वजह से मिट गई या वे इस कारण असभ्यता के गड्ढे में गिर पडे। मेरा मतलब यह है कि चीन और हिन्दुस्तान में रचनात्मक कार्य के लिए जो सरगरमी पुराने जमाने में पाई जाती थी वह अब खतम हो रही थी और उसकी जगह पर नई सरगरमी या उत्साह पैदा नही हो रहा था। बदली हुई आबोहवा के मुताबिक अपने को ढालने में यह असमर्थ था। यह सिर्फ अपने पुराने ढर्रे पर चल रहा था। हरेक देश और सभ्यता की यही दशा होती है। एक युग ऐसा होता है जब नई चीजो के पैदा करने की और उनका विकास करने की बडी-बडी कोशिशें होती है और फिर थकावट का जमाना आजाता है। ताज्जुब की बात तो यह है कि चीन और हिन्दुस्तान में यह थकावट इतने दिनो के बाद आई और फिर भी कभी ऐसा नही हुआ कि पूरी-पूरी थकावट आगई हो।

इस्लाम अपने साथ हिन्दुस्तान में मानवी उन्नति की एक नई लहर लाया। कुछ हद तक इसने पौष्टिक दवाई का काम किया। इसने हिन्दुस्तान को हिला दिया, लेकिन दो वजहो से वह हिन्दुस्तान की उतनी भलाई नही कर सका, जितनी कर सकता था। वह हिन्दुस्तान में गलत रास्ते से और देर से आया। महमूद गजनी के हमलो के कई सौ वर्ष पहले से मुसलमान प्रचारक हिन्दुस्तान भर में फिरते रहते थे और इनका स्वागत होता था। ये शान्ति से आये थे और इनको कामयाबी हुई थी और इस्लाम के खिलाफ कोई भी कटु भावना नही पाई जाती थी। लेकिन महमूद अपने साथ तलवार और आग लेकर आया। और विजेता, लुटेरा और कातिल बनकर उसके इस आने के ढंग से हिन्दुस्तान में इस्लाम की इतनी बदनामी हो गई जितनी किसी दूसरी वजह से नहीं हुई। निस्सन्देह दूसरे बडे विजेताओं की तरह महमूद गजनवी लुटेरा और कातिल था और मजहब की जरा भी परवाह नही करता था लेकिन बहुत दिनो तक इसके हमलो ने हिन्दुस्तान में इस्लाम को साये में डाल दिया और यह मुश्किल हो गया कि लोग इस्लाम पर निष्पक्ष भाव से विचार करें, जैसा दूसरी हालत में करते।

यह एक वजह थी; दूसरी वजह यह थी कि इस्लाम देर में आया। वह अपनी पैदाइश के चार सौ वर्ष बाद हिन्दुस्तान पहुँचा और इस चार सौ वर्ष के जमाने में यह कुछ थक चुका था और इसकी रचना-शक्ति बहुत कुछ खतम हो चुकी

थी। अगर इस्लाम के साथ शुरू में अरब लोग हिन्दुस्तान आये होते तो उन्नति-शील अरबी संस्कृति का पुरानी भारतीय संस्कृति से संमिश्रण हो गया होता, और वे दोनों एक-दूसरी पर असर डालतीं, जिससे बड़े-बड़े नतीजे निकल सकते थे। दो सभ्य कौमों का मेल हो गया होता, क्योंकि अरब लोग धर्म के सम्बन्ध में बुद्धिवाद और सहिष्णुता के लिए मशहूर थे। एक जमाने में बगदाद में एक क्लब था, जहाँ खलीफा की सदारत में हर मजहब के माननेवाले और लामजहब, यानी किसी भी मजहब को न माननेवाले, आदमी इकट्ठा होते थे और सिर्फ बुद्धिवाद की दृष्टि से सब मसलों पर बहस-मुबाहिसे हुआ करते थे।

लेकिन अरब लोग हिन्दुस्तान के अन्दर नहीं आये। वे सिन्ध में आकर रुक गये और हिन्दुस्तान पर उनका कुछ असर नहीं पड़ा। हिन्दुस्तान में इस्लाम तुर्कों के जरिये से, और दूसरी कौमों के जरिये से, आया जिनमें अरबों की तरह सहिष्णुता या तहजीब नहीं पाई जाती थी क्योंकि ये लोग मुख्यतः सैनिक थे।

लेकिन फिर भी रचनात्मक प्रयत्न और उन्नति के लिए हिन्दुस्तान में एक लहर आई। इस नई लहर नें हिन्दुस्तान में नई जान डाल दी और फिर खतम हो गई। लेकिन इस विषय पर हम फिर विचार करेंगे।

हिन्दुस्तानी सभ्यता की कमजोरी का एक दूसरा नतीजा सामनें आने लगा था। जब बाहर से इस पर हमला हुआ तो उस आँधी से हिफाजत करने के लिए इस सभ्यता नें एक खोल बनाकर अपने को उसमें कैद कर लिया। यह डर और कमजोरी की एक निशानी थी। इस दवाई ने रोग को और बढ़ा दिया। विदेशी हमला असल रोग नहीं था। असल रोग तो था निश्चलता, कमजोरी और सुस्ती। इस तरह सब चीजों से दूर भाग जाने की वजह से सुस्ती और कमजोरी बढने लगी और उन्नति के सारे रास्ते रुक गये। बाद को चीन ने भी यही बात अपने तरीके से की। और जापान नें भी ऐसा ही किया। ऐसे समाज में रहना, जो किसी खोल में बन्द हो, कितनी खतरनाक बात है। उसमें पहुँचकर हम सड़ने लगते हैं और ताजी हवा और ताजे विचार के आदी नहीं रह जाते। जैसे व्यक्तियों के लिए ताजी हवा की जरूरत होती है वैसे ही समाजों के लिए भी ताजी हवा बहुत जरूरी है।

यह तो एशिया की बात हुई। हमने देखा है कि योरप उस समय पीछे था और झगड़ालू भी था। लेकिन इसकी सारी बदअमनी और अनगढपन के पीछे भी इसमें कम से कम जिन्दगी और उत्साह पाया जाता था। एशिया बहुत दिनों तक सिरमौर रहने के बाद पतन की तरफ जा रहा था। लेकिन योरप प्रयत्नशील था, हालांकि एशिया के पाये तक पहुँचने के लिए उसे अभी बहुत चलना था।

आज योरप दुनिया पर हावी है, और एशिया तकलीफें सहते हुए अपनी आजादी के लिए प्रयत्नशील है। अगर तुम सतह के नीचे देखने की कोशिश करोगी तो तुम्हें एशिया में नया उत्साह, नई रचनात्मक भावना और नई जिन्दगी दिखाई देगी। एशिया अब फिर उठ रहा है, इसमें कोई शक नही, और योरप या, यों कहो, पश्चिमी योरप में, उसकी महानता के बावजूद, पतन के चिन्ह दिखाई दे रहे हैं। इस समय वे बर्बर मौजूद नहीं है जो अपनी ताकत से यूरोपियन सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट कर दें, लेकिन कभी-कभी सभ्य आदमी भी जंगली काम करने लगते हैं, और जब ऐसी बात होती है, सभ्यता खुद अपने को नष्ट कर डालती है।

मैं एशिया और योरप की बाते करता हूँ, लेकिन ये तो भौगोलिक शब्द हैं। जो समस्या हमारे सामने है वह एशिया की या योरप की नहीं है; वह तो सारे संसार और मनुष्य-मात्र की है, और जब तक हम सारे संसार के लिए इस समस्या को हल नहीं कर डालते, परेशानी कायम रहेगी। जब ग़रीबी और मुसीबत सब जगहो से जाती रहेगी, तभी समझना चाहिए कि यह समस्या हल हुई। मुमकिन है, इसमें कुछ वक़्त लग जाय, लेकिन लक्ष्य यही होना चाहिए, और इससे कम हरगिज न होना चाहिए, तभी समता के आधार पर हम अगली सभ्यता और संस्कृति कायम कर सकेंगे, जिसमें किसी देश या किसी वर्ग का शोषण न होगा। यह समाज रचनात्मक और उन्नतिशील होगा। बदलते हुए ज़माने के अनुकूल अपने को ढालेगा और अपनें आदमियो के सहयोग पर इसकी बुनियाद होगी, और अन्त में यह सारे संसार में फैल जायगा। इस बात का कोई खतरा न होगा कि इस प्रकार की सभ्यता भी पुरानी सभ्यताओ की तरह गिर जायगी या नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी।

इसलिए जब हम हिन्दुस्तान की आजादी के लिए लड़ाई कर रहे है, हमें यह याद रखना चाहिए कि असल में मनुष्यमात्र की आजादी हमारा महान् लक्ष्य है, और हमारी लड़ाई में दूसरे देशों की भी आजादी शामिल है।

: ५६ :

अमेरिका की 'माया' सभ्यता

१३ जून, १९३२

मैं तुमसे कहता आया हूँ कि इन खतों में मैं संसार के इतिहास की रूप-रेखा खींचनें की कोशिश कर रहा हूँ। लेकिन वास्तव में मैंने अभी तक एशिया, योरप और उत्तरी अफरीका के इतिहास की कहानी ही कही है। अमेरिका और आस्ट्रेलिया

के बारे में मैंने अभीतक कुछ नही बताया। अगर कुछ बताया भी है तो वह नही के ही बराबर है। लेकिन मै तुम्हे इस बात की सूचना पहले ही दे चुका हूँ कि इस शुरू के जमाने में भी अमेरिका मे एक किस्म की सभ्यता थी। इस सभ्यता के बारे मे अधिक जानकारी नही मिलती है, और मै तो, निस्सन्देह, इस सम्बन्ध में बहुत ही कम जानता हूँ। फिर भी इस विषय पर तुम्हे कुछ बतानें की उत्सुकता को नही दबा सकता, जिससे तुम यह समझने की आम गलती न कर जाओ कि कोलम्बस और दूसरे यूरोपियनो के पहुँचने के पहले अमेरिका केवल एक जंगली मुल्क था।

सम्भवतः पाषाण युग जैसे बहुत पुराने जमाने में, जब मनुष्य कही बसा नहीं था और यहाँ-वहाँ घूमता फिरता और शिकार करता रहता था, उत्तरी अमेरिका और एशिया के बीच में खुश्की रास्ता था। उस रास्ते से मनुष्यो के कितने ही गिरोह और जातियाँ अलास्का होकर एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप में आती-जाती रही होगी। बाद को ये रास्ते बीच में समुद्र आजाने के कारण बद हो गये और अमेरिका के लोगो ने धीरे-धीरे एक अपनी सभ्यता पैदा कर ली। याद रक्खो कि, जहाँ तक पता चला है, अमेरिका के लोगो को एशिया और योरप के संपर्क में आने का कोई साधन नहीं था। मै तुम्हे उस चीनी भिक्षु का हाल बता चुका हूँ जो कहता था कि पांचवीं शताब्दी में उसने एक ऐसे देश की यात्रा की थी जो चीन से बहुत दूर पूर्व में था। मुमकिन है, यह देश मैक्सिको रहा हो। इसके अलावा सोलहवी सदी तक, जबकि कहा जाता है कि नई दुनिया की खोज की गई, इस बात का कही भी कोई बयान नही पाया जाता कि इस देश से किसी का कोई व्यावहारिक सम्पर्क रहा हो। अमेरिका की यह दुनिया हमारी दुनिया से दूर और जुदी थी—और इस पर योरप और एशिया की घटनाओ का कोई असर नहीं पडा था।

ऐसा मालूम होता है कि अमेरिका में सभ्यता के तीन खास केन्द्र थे : मैक्सिको, मध्य अमेरिका और पेरू। यह ठीक तौर से मालूम नहीं है कि ये सभ्यतायें कब से शुरू हुईं। लेकिन मैक्सिको का सम्वत् (पचाग) लगभग ईसवी सन् के ६१३ साल पहले से शुरू होता है। ईसवी सन् के शुरू के सालो में, दूसरी सदी के आगे अमेरिका में कई शहर बढ रहे थे। इस युग में पत्थर का काम, मिट्टी के बरतनो का काम, बुनाई और रगाई बहुत अच्छी होती थी। तावा और सोना बहुतायत से मिलता था। लेकिन लोहा नहीं था। गृह-निर्माण कला की तरक्की हो रही थी और मकानो के बनाने में इन शहरो की एक-दूसरे से लाग-डाँट थी। एक खास तरह की और पेचीदा लिपि पाई जाती थी। कला, खासकर शिल्पकला, का बहुत प्रचार था और इसकी सुन्दरता अपूर्व थी।

सभ्यता के इन क्षेत्रो में से हरेक में कई राज्य थे। कई भाषायें थीं और इन भाषाओ में काफी साहित्य भी था। शासन सुसंगठित और मजबूत था और शहरों में रहनेवाले लोग सभ्य और बुद्धिमान थे। इन राज्यो की आर्थिक और कानून बनाने की प्रणाली बहुत ऊँची उठी हुई थी। ९६० ई० के लगभग उक्षमल नगर की नींव डाली गई। कहा जाता है कि यह शहर जल्दी ही बढकर उस समय के एशिया के बडे शहरो के टक्कर का हो गया। इसके अलावा लाबुआ, मायापान, चाओ मुल्तन वगैरा और भी बडे-बडे नगर थे।

मध्य अमेरिका के तीन मुख्य राज्यो ने मिलकर एक संघ बनाया था, जिसे मायापान-सघ कहते थे। यह ईसा से ठोक एक हजार वर्ष बाद की बात है, और यह वही जमाना है जिस तक हम एशिया और योरप में पहुँचे है। इस प्रकार यह साफ है कि ईसा के एक हजार वर्ष बाद मध्य अमेरिका में सभ्य राज्यो का एक शक्तिशाली संगठन था। लेकिन इनके सारे राज्यो और खुद माया सभ्यता में पुरोहितो का ही बोलबाला था। ज्योतिष सबसे प्रतिष्ठित विज्ञान समझा जाता था, और इसके जानने की वजह से पुरोहित लोग जनता की अज्ञानता से फायदा उठाते थे। इसी तरह हिन्दुस्तान में भी लाखो आदमी चन्द्र और सूर्य ग्रहण के समय व्रत रखने और नहाने के लिए प्रोत्साहित किये गये हैं।

सौ वर्षो से ज्यादा समय तक मायापान का संघ बना रहा। जान पड़ता है कि इसके बाद एक सामाजिक क्रान्ति हुई और सरहद पर से एक बाहरी ताकत ने दखल देना शुरू कर दिया। लगभग ११९० ई० में मायापान नष्ट हो गया, लेकिन दूसरे शहर बने रहे। इसके बाद १०० वर्ष तक के अन्दर ही एक दूसरी जाति के लोग सामने आ गये। ये लोग मैक्सिको से आये थे और अजटेक कहलाते थे। चौहदवीं सदी के शुरू में इन लोगो ने माया देश को जीत लिया और लगभग १३२५ ई० में 'टेनोच्लि-टलन' नाम का नगर बसाया। जल्द ही यह सारे मैक्सिको की राजधानी और अजटेक साम्राज्य का केन्द्र बन गया। इस शहर की आबादी बहुत ज्यादा थी।

अजटेक राष्ट्र एक सैनिक राष्ट्र था। इन लोगो ने सैनिक बस्तियाँ बसाई। जगह-जगह छावनियाँ बनाई और देश भर में सेना के आने जाने के लिए सड़को का जाल बिछा दिया। ऐसा कहा जाता है कि वे इतने चालाक थे कि अपने मातहत राज्य को आपस में लड़ाते रहते थे। जब उनमें फूट हो जाती थी तब उनपर राज्य करना उनके लिए आसान होता था। सारे साम्राज्यो की यह बहुत पुरानी नीति रही है। रोम वाले इसे—'डिवाइड एट इमपेरा" (Divide et impera) अर्थात् 'फूट डालो और राज्य करो, कहते थे।

दूसरे मामलो में चतुर होते हुए भी अजटेक धर्म के मामले में पुरोहितों से जकड़े हुए थे, और इससे भी बुरी बात यह थी कि उनके मजहब में आदमियो की बहुत कुरबानियाँ की जाती थी। हर साल धर्म के नाम पर हजारों आदमी बड़े खौफनाक तरीके से बलिदान कर दिये जाते थे।

लगभग दो सौ बरसों तक अजटेक लोगों ने अपने साम्राज्य पर डंडे के बल पर कठोर शासन किया। साम्राज्य में जाहिरा अमन व शान्ति थी, जैसे आज ब्रिटिश शासन में हिन्दुस्तान में है। लेकिन जनता बेरहमी से चूसी और लूटी जाती थी। जो राज्य इस तरह निर्माण हो और जिसका संचालन इस तरह किया जाय, वह बहुत दिनो तक कायम नहीं रह सकता, और यही हुआ भी। सोलहवीं सदी के शुरू में, यानी १५१९ ई० में, जब अजटेक राज्य जाहिरा अपनी शक्ति और शान की सबसे ऊँची चोटी पर था, मुट्ठी भर विदेशी लुटेरो और दुस्साहसी आदमियो के हमले से भरभराकर गिर पड़ा। किसी साम्राज्य के पतन का यह एक बड़ा ही आश्चर्यजनक उदाहरण है। स्पेन-निवासी हर्नेन कोर्टे ने मुट्ठी भर सिपाहियों की मदद से इस साम्राज्य को नष्ट कर दिया। कोर्टे एक बहादुर और साहसी व्यक्ति था। उसके पास दो चीजें थीं, जो उसे बडी मदद देती थीं, बन्दूके और घोडे। मालूम होता है कि मैक्सिको साम्राज्य में घोडे नहीं थे और बन्दूके तो निश्चय ही नहीं थी। किन्तु अगर इस साम्राज्य की जडें सडी न होती तो न तो कोर्टे की हिम्मत और न उसकी बन्दूकें और घोडे किसी मतलब के निकलते। इस राज्य का ऊपरी खोल तो कायम था लेकिन अन्दर से यह सड़ गया था। इसलिए जरा-सी ठोकर से जमीन पर आगया। यह जनता के शोषण से बना था; इसलिए लोग उससे बहुत असंतुष्ट थे। इसलिए जब उसपर हमला हुआ तो साधारण जनता ने साम्राज्यवादियों की इस मुसीबत का स्वागत किया, और, जैसा कि अक्सर होता है, इसके साथ ही एक सामाजिक क्रान्ति भी आगई।

एक दफा तो कोर्टे खदेड़ दिया गया और मुश्किल से वह अपनी जान बचा सका। लेकिन वह फिर लौटा और वहाँ के कुछ लोगो की मदद से उसने फिर फतह पाई। उसने अजटेक राज्य का ही अन्त नहीं कर दिया, बल्कि यह ताज्जुब की बात है कि अजटेक राज्य के साथ-ही-साथ मैक्सिको की सारी सभ्यता लड़खड़ाकर गिर पडी और नष्ट हो गई और थोडे ही समय में उस शानदार राजधानी टेनोच्लिटलन का कोई निशान बाकी नहीं रहा। इसकी एक ईंट भी आज नहीं बची है। इसी स्थान पर स्पेनवालों ने एक गिरजाघर बनाया। माया सभ्यता के और बडे शहर भी नष्ट हो गये और यूकेतान के जंगलो ने उन्हे ढक लिया, यहाँ तक कि उनके नाम भी याद न रहे। इनमें से बहुत-से शहर आजकल पडौस के गाँवो के नामो से याद किये जाते हैं।

उनका सारा साहित्य भी नष्ट हो गया और केवल तीन किताबें बच रही हैं और उन्हे भी आज तक कोई पढ़ नहीं सका है ।

यह बता सकना असाधारण रूप से कठिन है कि एक पुरानी जाति और एक पुरानी सभ्यता, जो करीब १५०० बरस तक मौजूद रही हो, योरप की नई जाति के सम्पर्क में आते ही क्यों एकाएक खतम हो गई । ऐसा मालूम होता है कि यह सम्पर्क नहीं था, बल्कि इन लोगो के लिए कोई रोग या महामारी थी, जिसके जरासे छू देने भर से वे बिलकुल नष्ट हो गये । कुछ बातो में इनकी सभ्यता बहुत आगे थी और कुछ बातों में बहुत पीछे । उनमें इतिहास के जुदा-जुदा युगों का एक अजीब मेल पाया जाता था ।

दक्षिणी अमेरिका में, पेरू में, सभ्यता का एक दूसरा केन्द्र पाया जाता था और इस देश में 'इनका' राज्य करता था । वह एक प्रकार का दैवी राजा माना जाता था । यह एक अजीब बात है कि पेरू की यह सभ्यता, कम-से-कम अपने दिनों में, मैक्सिको की सभ्यता से टूटकर बिलकुल ही अलग हो गई थी । दोनो सभ्यतायें एक-दूसरे से बहुत दूर नहीं थी, फिर भी वे एक-दूसरे के बारे में कुछ नहीं जानती थीं और यह बात स्वयं ही यह साबित कर देती है कि वे कुछ मामलों में कितनी पिछडी हुई थीं । मैक्सिको में कोर्टे के सफल होने के बाद ही, एक दूसरे स्पेन-निवासी ने पेरू राज्य का भी अन्त कर डाला । उसका नाम पिजारो था । वह १५३० ई० में आया और उसने 'इनका' को धोखे से पकड़ लिया । दैवी राजा के पकडे जानें से लोग डर गये । पिजारो ने कुछ समय तक 'इनका' के नाम से राज्य करने की कोशिश की और उसने बहुत-सा धन वसूल कर लिया । बाद में यह आडम्बर खतम हो गया और स्पेनवालों ने पेरू को अपनें साम्राज्य का एक हिस्सा बना लिया ।

कोर्टे ने जब पहले पहल टेनोच्लिटलन का शहर देखा तो वह उसकी विशालता पर चकित हो गया । उसने योरप में इस किस्म का दूसरा शहर नहीं देखा था ।

माया और पेरू की कला के बहुत-से अवशेष मिले हैं और वे अमेरिका, खासकर मैक्सिको, के अजायबघरो में देखे जासकते हैं । इनमें एक सुन्दर कलापूर्ण परम्परा थी । कहा जाता है कि पेरू के सुनारों का काम बडे ही ऊँचे दर्जे का होता था । शिल्प के भी कुछ चिन्ह मिले है, जिनमें पत्थरो पर साँपो की बनावट खास तौर पर बहुत सुन्दर हैं । दूसरी मूर्तियाँ बीभत्सता प्रकट करने के लिए बनाई गई थीं और सचमुच उन्हे देखकर डर मालूम होता है ।

: ६० :

मोहेंजो-दारो की ओर एक छलाँग

१४ जून, १९३२

मैं अभी मोहेजो-दारो और सिन्ध की घाटी की पुरानी हिन्दुस्तानी सभ्यता के बारे कुछ पढ रहा था। इस विषय पर एक नई महत्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसमें इस विषय की सारी बातें, जो अभी तक मालूम हो सकी हैं, बताई गई हैं। यह पुस्तक उन लोगो ने तैयार की और लिखी है जिनकी देख-रेख में इस शहर की खुदाई का काम था। इन लोगो ने अपनी आँखो से इस शहर को, पृथ्वी माता के गर्भ से बाहर निकलते देखा है। मैंने अभीतक यह पुस्तक नही देखी है। मैं चाहता हूँ कि वह मुझे यहाँ मिल जाती लेकिन मैंने इसकी एक समालोचना पढी है और मैं चाहता हूँ कि इसमें दिये हुए कुछ उद्धरणो को तुम्हारे सामने भी रख दूँ। सिन्ध-घाटी की यह सभ्यता एक अद्भुत वस्तु है और जितना ही इसकी बाबत ज्यादा मालूम होता है उतना ही आश्चर्य बढ़ता है। इसलिए मैं आशा करता हूँ कि यदि हम पिछले इतिहास के वर्णन को छोड़ दें और इस खत में पाँच हजार वर्ष पीछे कूद जायँ तो तुमको कुछ ऐतराज न होगा।

मोहेजो-दारो को लोग, कम-से-कम ५००० वर्ष पुराना मानते है। फिर भी हमें पता चलता है कि मोहेजो-दारो एक सुन्दर शहर था। सभ्य और शिष्ट लोग यहाँ रहते थे। इसके पहले विकास का एक लम्बा युग जरूर गुजरा होगा। यही बात इस पुस्तक से हमें मालूम होती है। सर जान मार्शल, जिनकी देख-रेख में मोहेजो-दारो की खुदाई का काम हो रहा है, लिखते हैं:—

"एक बात जो मोहेजो-दारो और हरप्पा दोनो जगहो मे साफतौर से और निर्विवाद रूप से दिखाई देती है, यह है कि जो सभ्यता इन दो स्थानो पर मिलती है वह शैशवावस्था की सभ्यता नही है। बल्कि भारत की जमीन पर प्रौढता पाई हुई और बहुत प्राचीन किस्म की सभ्यता है, जिसके पीछे करोडो मनुष्यो का प्रयत्न छिपा हुआ है। इसलिए अब आगे ईरान, इराक और मिस्र के साथ-साथ हमे भारत की भी गणना सभ्यता के उन महत्वपूर्ण क्षेत्रो मे करनी चाहिए जहाँ सभ्यता का अकुर निकला और बढा।"

मेरा खयाल है कि हरप्पा के बारे में मैंने तुम्हे अभी कुछ नहीं बताया है। यह एक दूसरा स्थान है, जहाँ मोहेजो-दारो से मिलते-जुलते पुराने खंडहर खोदकर निकाले गये हैं। यह पश्चिमी पजाब में है। १

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिन्ध की घाटी में हम न केवल ५००० वर्ष पहले

बल्कि उससे भी हजारो वर्ष और आगे पहुँच जाते है । यहातक कि हम प्राचीनता के उस धुँधले कोहरे में खो जाते है जब पहले-पहल आदमी बसने लगे थे । जिस समय मोहेंजो-दारो की सभ्यता फूल-फल रही थी, उस समय भारत में आर्य लोग नही आये थे । किन्तु इसमें संदेह नही कि उस समय "भारत के दूसरे भाग नहीं तो कम-से कम पजाब और सिन्ध एक उच्चकोटि की और आश्चर्यजनक रूप से समान सभ्यता का आनन्द ले रहे थे । यह सभ्यता उस समय की इराक और मिस्र की सभ्यताओ से मिलती-जुलती और कई बातो में उनसे भी श्रेष्ठ थी ।"

मोहेंजो-दारो और हरप्पा की खुदाई से एक प्राचीन और मनोहर सभ्यता हमारे सामने प्रकट हो गई है । न जाने भारतभूमि के नीचे दूसरे स्थानो पर कितनी और चीजें गडी पडी है । ऐसा मालूम होता है कि यह सभ्यता भारत में काफी दूर तक प्रचलित रही होगी । वह केवल मोहेंजो-दारो और हरप्पा तक ही सीमित नही थी । फिर ये दोनो स्थान भी एक-दूसरे से काफी दूरी पर है ।

यह वह जमाना था "जिसमें पत्थर के हथियार और बर्तनो के साथ-साथ ताँबे और काँसे के हथियार और बर्तनो का उपयोग भी होता था ।" सर जान मार्शल ने सिन्ध घाटी के निवासियो के साथ उस समय के मिस्र और इराक के लोगो की तुलना करके उनका भेद और सिन्ध की घाटी के निवासियो की श्रेष्ठता बताई है । वह लिखते है—

> "अगर मुख्य-मुख्य बातो का ही जिक्र किया जाय तो पहली चीज यह मालूम होती है कि रुई के कपडो का व्यवहार इस युग मे केवल भारत तक ही परिमित था । पश्चिमी जगत् मे रुई के कपडे का प्रचार इसके दो तीन हजार वर्ष बाद हुआ, इसके अलावा इतिहास काल के पहले मिस्र या इराक या पश्चिमी एशिया के किसी भी भाग मे हमे कोई ऐसी चीज नही मिलती जो मोहेंजो-दारो के नागरिको के रहने के बडे-बडे मकानो और सुन्दर बने हुए स्नानगारो की बराबरी कर सके । उन देशो मे देवताओ के विशाल मन्दिरो तथा राजाओ के महलो और कब्रो के बनाने मे बेशुमार धन और बुद्धि खर्च की जाती थी, लेकिन बाकी जनता को मिट्टी की मामूली झोपडियो पर ही सन्तोष करना पडता था, लेकिन सिन्ध घाटी मे हमे इसका उलटा दृश्य मिलता है और यहाँ पर सब से अच्छे मकान वे होते थे, जो नागरिको के आराम के लिए बनाये गये थे ।"

आगे चलकर वह बताते है—"सिन्ध-घाटी की कला और धर्म पर स्पष्टतया उसके एक खास व्यक्तित्व की छाप है । उसमें एक अपना निरालापन है । भेड़, कुत्ते या दूसरे पशुओ की 'फीयेन्स' या मिट्टी की मूर्तियो तथा मुद्राओ या ठप्पो पर अंकित 'इंटैग्लियो' की नक्काशी के काम के जो नमूने यहाँ मिलते है उसकी शैली या मेल के दूसरे

नमूने किसी भी देश में, उस जमाने में, देखने को नही मिलते। खासतौर से पत्थर या धातु की मुद्राओं पर अंकित छोटे सींगवाले कुबडे साँडो की शक्लो की भावपूर्ण लचक और सुन्दर रूप रेखा नक्काशी के काम में शायद ही कही देखने को मिल सकती है। ये कृतियां 'ग्लिप्टिक' कला की बेजोड़ रचनायें है। इसी प्रकार हरप्पा में मिले हुए चित्र नं० १० और ११ में अंकित मनुष्यो की दो प्रतिमाओ में जो भावयुक्त लचक है वह भी यूनान के पौराणिक काल के पहले हमें कही नही मिलती। सिन्ध के लोगो के धर्म में बहुत सी ऐसी बातें है जिसके समान बातें हमें दूसरे देशो में मिल सकती हैं। यह बात सभी इतिहास के पहले काल के और ज्यादातर ऐतिहासिक धर्मो के बारे में सच कही जासकती है, लेकिन सब बातो को मिलाकर देखने से इन लोगो का धर्म इतना हिन्दुस्तानी है कि मुश्किल से ही हम उसे आज कल के हिन्दू धर्म से जुदा कह सकते हैं।"

सम्भव है, इस उद्धरण के कई शब्द तुम न समझ सको। 'फीयेन्स' का अर्थ है मिट्टी की चीजो का काम। 'इन्टैग्लियो' और 'ग्लिप्टिक' कला के अर्थ होते है—किसी कठोर वस्तु और मुख्यतः जवाहिरात पर खुदाई और नक्काशी करना।

मेरी बडी इच्छा है कि मै हरप्पा में पाई गई मूर्तियो, या कम से कम उनकी तसवीरो, को देख सकता। मुमकिन है कि किसी दिन हम और तुम हरप्पा और मोहेंजो-दारो साथ-साथ जासकें। और आँख भरकर वहाँ के दृश्यों को देख सकें। लेकिन इस दरमियान हम लोग अपना अपना काम जारी रखेंगे—तुम अपने पूना के स्कूल में और मै अपने स्कूल में, जो 'देहरादून का डिस्ट्रिक्ट जेल' कहलाता है।

: ६१ :

कारडोवा और ग्रेनाडा

१६ जून, १९३२

हम एशिया और योरप में बरसो से फिरते रहे है और ईसा से हजार वर्ष बाद तक पहुँचकर हम रुक गये है। हमने इस युग पर एक बार और भी नजर डाली। लेकिन स्पेन के उस जमाने का वर्णन हमारी इस कहानी से छूट गया है, जब उसपर अरबो का कब्जा था; इसलिए हमें एक बार और पीछे की ओर नजर डालनी चाहिए और उसे भी अपने इस चित्र में स्थान देना चाहिए।

स्पेन के बारे में थोडी-बहुत जानकारी तो तुम्हे है ही, यदि तुम्हे उसकी याद हो। ७११ ई० में अरब-सेनापति समुद्र पारकर अफरीका से स्पेन पहुँचा। उसका

नाम तरीक था और वह जिब्राल्टर (जबलुत्तरीक अर्थात् तरीक की पहाडी) पर उतरा था। दो साल के अन्दर ही अरबो ने सारा स्पेन जीत लिया। कुछ दिनो बाद उन्होने पुर्तगाल को भी अपने राज्य में मिला लिया और वे बराबर बढ़ते गये। फ्रांस पर भी उन्होनें हमला किया और सारे दक्षिण में फैल गये। उनकी इस बढ़ती हुई ताकत से फ्रैंक और दूसरी जातियाँ डर गईं और उन्होने चार्ल्स मार्टेल के नेतृत्व में मिल-जुल कर अरबों को रोकने की एक बहुत बडी कोशिश की। इसमें वे सफल हुई। फ्रांस में 'पाइटियर्स' के पास टूर्स की लड़ाई में फ्रैंको ने अरबों को हरा दिया। यह बहुत बडी हार थी और इससे अरबों का योरप जीतने का स्वप्न खत्म हो गया। इसके बाद कई बार अरब और फ्रैंक और फ्रांस की दूसरी ईसाई जातियाँ एक दूसरे से लड़ती रहीं। कभी अरब जीते और फ्रास में घुस पडे और कभी ये स्पेन खदेड़ दिये गये। शार्लमैन ने भी स्पेन में अरबो पर हमला किया था लेकिन वह हार गया। बहुत दिनो तक ताक़तो की यह बराबरी बनी रही और अरब स्पेन में राज्य करते रहे; हाँ वे आगे न बढ़ सके।

इस प्रकार स्पेन उस बडे साम्राज्य का अंग बन गया जो अफरीका से मंगोलिया की सरहद तक फैला हुआ था। लेकिन यह हालत बहुत दिनो तक क़ायम न रही। तुम्हे याद होगा कि अरब में गृह-युद्ध हुआ था और अब्बासियो ने उम्मैया खलीफो को निकाल दिया था। स्पेन का गवर्नर उम्मैया था। उसने नये अब्बासी खलीफा को खलीफा मानने से इन्कार कर दिया। इस तरह स्पेन अरब साम्राज्य से अलग हो गया और बगदाद का खलीफा बहुत दूर होने के कारण और अपनें घरू झगडो में फँसे रहने की वजह से कुछ कर-धर नही सकता था। लेकिन बगदाद और स्पेन के बीच मनमुटाव जारी रहा और ये दोनो अरब राज्य मुसीबत के समय एक दूसरे की मदद करने की बजाय एक दूसरे की मुसीबतों पर खुश होते रहते थे।

स्पेन के अरबो का अपनी मातृ-भूमि से सम्बन्ध तोड़ लेना किसी कदर जल्द-बाजी थी। वे एक दूर देश में एक विदेशी जनता के बीच में थे और चारो ओर से दुश्मनो से घिरे हुए थे। उनकी तादाद भी थोडी थी। मुसीबत व खतरे में उनकी मदद करनेवाला कोई नहीं था लेकिन उन दिनो वे आत्म-विश्वास से भर रहे थे और इन खतरो की बिल्कुल परवाह नहीं करते थे। सच तो यह है कि उन्होने उत्तर की ईसाई जातियों के निरंतर दबाव के होते हुए भी बहुत अच्छी तरह से निबाहा और अकेले ही ५०० वर्षो तक स्पेन के ज्यादातर हिस्से पर अपना राज्य कायम रखा। इसके बाद भी वे स्पेन के दक्षिण में एक छोटी सी रियासत पर २०० वर्षो तक, राज्य करते रहे। इस प्रकार वे बगदाद के बड साम्राज्य के खतम हो

जाने के बाद भी जिन्दा रहे और जब उन्होने स्पेन से अन्तिम विदा ली, उसके पहले बगदाद शहर मिट्टी में मिल चुका था।

स्पेन के हिस्सो पर अरबो का ७०० वर्षो तक राज्य करना एक बडे ताज्जुब की बात है। लेकिन इससे भी ज्यादा महत्व की बात है स्पेन के अरबो या मूरो (जैसा कि वे पुकारे जाते थे) की ऊँची सभ्यता और सस्कृति। एक इतिहास लेखक अपने उत्साह की तरग में लिख गया है :—

"मूर लोगो ने कारडोबा के उस अद्भुत साम्राज्य को सगठित किया था जो मध्यकाल के लिए एक चमत्कार था। जब सारा योरप लडाई-झगडे और वहशियो की तरह अज्ञान मे डूबा हुआ था, तब अकेले इस राज्य ने ही विद्या और सभ्यता की रोशनी को पश्चिमी दुनिया मे जलाये रखा।"

ठीक ५०० बरसो तक कुर्तुबा इस राज्य की राजधानी रहा। इसको अग्रेजी में कारडोबा, और कभी-कभी कारडोवा कहते है। मुझे आशंका है कि समय-समय पर मै एक ही नाम के कई हिज्जे करता हूँ। लेकिन अब मै बराबर कारडोबा ही लिखने की कोशिश करूगा। कारडोबा बहुत बड़ा शहर था जिसमें १० लाख आदमी रहते थे। यह एक बाग-बागीचोवाला शहर था जिस की लम्बाई १० मील थी और जिसके उपनगर २४ मील तक फैले हुए थे। कहा जाता है कि इस नगर मे ६० हजार महल और कोठियाँ थी और २ लाख छोटे मकान, ८० हजार दूकाने, ३८ सौ मसजिदें और ७ सौ सार्वजनिक स्नानागार (हम्माम) थे। मुमकिन है, इन अको में कुछ अत्युक्ति हो लेकिन इससे शहर की विशालता का कुछ अदाज लगाया जा सकता है। इस शहर में कई पुस्तकालय थे, जिनमें अमीर का 'शाही पुस्तकालय' मुख्य था। इसमें चार लाख किताबें थी। कारडोबा का विश्व-विद्यालय सारे योरप और पश्चिमी एशिया में भी मशहूर था। गरीबो के लिए बहुत सी प्रारम्भिक पाठशालायें थी जिनमें उन्हे मुफ्त शिक्षा दी जाती थी। एक इतिहास-लेखक कहता है :—

"स्पेन मे करीब-करीब सभी लोग पढना-लिखना जानते थे, जबकि ईसाई योरप मे पादरियो को छोड़कर और सब लोग, यहा तक कि ऊचे खानदान के लोग भी, बिलकुल अपढ होते थे।"

ऐसा वह कारडोबा का नगर था और बगदाद के दूसरे बडे अरबी शहर का मुकाबिला करता था। उसकी शोहरत सारे योरप मे फैली हुई थी और दसवीं सदी के एक जर्मन लेखक ने उसे 'जगत् का आभूषण' कहा है। उसके विश्व-विद्यालय में दूर-दूर के विद्यार्थी आते थे। अरब फिलासफी का असर योरप के दूसरे बडे विश्व-विद्यालयो, जैसे पेरिस, आक्सफर्ड और इटली के उत्तरी विश्व-विद्यालयो, तक

फैल गया। एवरोज या इब्नरश्द बारहवीं सदी में कारडोवा का एक मशहूर फिलासफर (दर्शनिक) हुआ है। अपनी जिंदगी के आखिरी दिनो में वह स्पेन के अमीर से लड़ बैठा और निकाल दिया गया। वह जाकर पेरिस में बस गया।

योरप के दूसरे हिस्सो की तरह स्पेन में भी एक तरह की सामंत-प्रणाली थी। वहाँ भी बड़े-बड़े और शक्तिशाली सरदार पैदा हो गये थे, जिनसे स्पेन के राजा—अमीर की अकसर लड़ाई होती रहती थी। अरब राज्य बाहरी हमलो से इतना कमजोर नही हुआ जितना इन घरेलू लड़ाई-झगडो से हो गया। इसी समय उत्तरी स्पेन में कुछ छोटी ईसाई रियासतो की ताकत बढ़ रही थी और वे अरबो को बराबर पीछे हटाती जा रही थी।

ई० सन् १००० के करीब यानी ईसवी सन् के हजार वर्षो के ठीक अन्त में, अमीर का साम्राज्य करीब-करीब सारे स्पेन पर फैला हुआ था। यहाँतक कि इसमें दक्षिणी फ्रास का भी एक छोटा-सा हिस्सा शामिल था लेकिन इसका पतन जल्दी ही हुआ और जैसा अकसर होता है, इस पतन की जड़ में अन्दरूनी और घरेलू कमजोरी थी। अपनी कला, विलासिता और बहादुरी के साथ भी अरबों की सुन्दर सभ्यता आखिर अमीरो की ही सभ्यता थी। जो गरीब थे वे गरीब ही बने रहते थे और बढ़ती हुई सम्पत्ति में उनको कोई हिस्सा न मिलता था। इसलिए बिना उलट-फेर हुए वह समाजिक प्रणाली चल नहीं सकती थी। भूखी गरीब जनता ने विद्रोह कर दिया और मजदूरो ने दंगा मचा दिया। धीरे-धीरे यह गृह-युद्ध बढ़ता गया, एक के बाद एक सूबा आजाद होता गया और अन्त में अरबो का स्पेन-साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया। हालांकि अरबो की ताकत बिखर गई थी, फिर भी वे तबतक बराबर राज्य करते रहे जबतक कि ई० सन् १२३६ में कारडोवा कैस्टाइल के ईसाई बादशाह के हाथ में पूरी तरह नहीं आगया।

अरब दक्षिण की ओर खदेड़ दिये गये, फिर भी वे बराबर सामना करते रहे। स्पेन के दक्षिण में उन्होने ग्रेनाडा नाम का छोटा-सा राज्य स्थापित कर लिया और वही बने रहे। फैलाव की दृष्टि से यह राज्य बहुत छोटा था लेकिन यह अरबी सभ्यता का एक छोटा-सा नमूना था। ग्रेनाडा का प्रसिद्ध 'अलहम्ब्र' अपनी सुन्दर महरावो, खम्भो और 'अरबेस्को'[1] के साथ, अभीतक पाया जाता है और अपने पुराने जमाने की याद दिलाता है। इसका असली नाम अरबी भाषा में 'अल-हम्र' था, जिसके मानी हैं—'लाल महल'। अरबेस्क उस सुन्दर नक्काशी को कहते है जो

१. अरबेस्क—स्पेन के अरबो अथवा 'मूरो' की अलकृत चित्रकला या मूर्तिकला। इसमे पौधो एव लताओ का चित्रण अधिक होता था।

इस्लाम से प्रभावित अरब और दूसरी इमारतो में पाई जाती है। आदमी की सूरत-शक्ल के चित्र के खीचने को इस्लाम ने कभी प्रोत्साहन नही दिया। इसलिए कारीगर लोग काल्पनिक और पेचीदा रेखाकृतियाँ बनाने लगे। अक्सर महराबो के ऊपर या दूसरी जगहो पर वे कुरान की अरबी आयतें खोदते और उनमें सुन्दर सजावट करते थे। अरबी लिपि ऐसी लिपि है जिसमें सजावट का काम आसानी से हो सकता है।

ग्रेनाडा का राज्य दो सौ बरसो तक क़ायम रहा। इस जमाने में स्पेन के ईसाई राज्य, खासकर कैस्टाइल, उसे दबाते और तंग करते रहे। कभी-कभी उसने कैस्टाइल को कर देना भी मंजूर कर लिया। अगर स्पेन के ईसाई राज्यो में आपस में फूट न होती तो शायद ग्रेनाडा का राज्य इतने दिनो तक न कायम रहता, लेकिन १४६९ ई० में इनमें से दो मुख्य ईसाई राज्यो के शासको में, यानी फर्डीनेण्ड और आइजाबेला में, विवाह हो गया। इससे कैस्टाइल, एरागोन और लायन्स तीनो मिल गये। फर्डीनेण्ड और आइजाबेला ने ग्रेनाडा के अरब साम्राज्य का अन्त कर डाला। अरब कई बरसो तक बहादुरी से लड़ते रहे और अन्त में वे ग्रेनाडा में घेरकर कैद कर लिये गये। अखीर में १४९२ ई० में भूख से तंग आकर उन्होने आत्म-समर्पण कर दिया।

बहुत से सरासीन या अरब स्पेन छोड़कर अफरीका चले गये। ग्रेनाडा के नजदीक शहर के सामने ही एक स्थान है जो आज दिन भी 'एल अल्टिमो सासपिरो डेल मोरो' (El ultımo saspıro del Moro) 'अर्थात् मूरो की अन्तिम आह' के नाम से मशहूर है।

लेकिन बहुत से अरब स्पेन में ही रह गये। इन अरबो के साथ जो सलूक हुआ, वह स्पेन के इतिहास का बड़ा ही काला हिस्सा है। उनके साथ बेरहमी की गई और उनको कत्ल किया गया। सहिष्णुता के जो वादे उनसे किये गये थे, वे बिलकुल भुला दिये गये। इसी समय स्पेन में 'इनक्विजिशन' का भीषण हथियार रोमन चर्च ने बनाया। यह वह भयंकर शस्त्र था जिससे रोमन चर्च उन तमाम आदमियो को कुचल देता था जो उसके सामने झुकने से इन्कार करते थे। यहूदी, जो सरासीनो की मातहती में खुशहाल थे, अपना धर्म बदलने के लिए मजबूर किये जाने लगे और बहुत से यहूदी जिन्दा जला दिये गये। स्त्री और बच्चो तक को नही छोड़ा गया। एक इतिहासकार लिखता है कि "विधर्मियो यानी सरासीनो को हुक्म दिया गया कि वे अपनी नफीस पोशाक छोड़ दें और अपने विजेताओ के हैट और ब्रिचेज (एक तरह का चुस्त पायजामा) को पहनाना शुरू कर दें। अपनी

भाषा, अपनी रीति, रिवाज और यहां तक कि अपने नाम भी छोड़ देने और स्पेनिश भाषा ही बोलने पर उनको मजबूर किया गया। यह भी हुक्म हुआ कि वे स्पेनवालो की तरह ही रहन-सहन रखें और अपना स्पेनिश नाम रखलें। इन जुल्मों के विरोध में विद्रोह और बलवे हुए लेकिन वे बेरहमी से कुचल दिये गये।

ऐसा मालूम होता है कि स्पेन के ईसाई नहाने-धोने के बहुत विरुद्ध थे। मुमकिन है कि वे इन बातो का विरोध सिर्फ इसलिए करते रहे हो, कि स्पेन के अरब नहाना-धोना बहुत पसन्द करते थे, और उन्होंने सारे मुल्क में बडे-बडे सार्वजनिक हम्माम बना रक्खे थे। ईसाई तो यहाँ तक बढ़ गये, कि उन्होने 'मूरो या अरबो के सुधार के लिए' हिदायतें निकाली कि "न अरब के पुरुष, न उनकी स्त्रियाँ और न दूसरा ही कोई, घर में या और कहीं नहाने-धोने पावे और उनके सब स्नानागार गिराकर नष्ट कर दिये जायँ।"

नहाने-धोने के पाप के अलावा एक दूसरा भारी जुर्म उनपर यह लगाया गया कि वे धर्म के मामलो में सहनशील होते हैं। यह एक बडी अजीब बात मालूम पड़ती है। लेकिन १६०२ ई० में वेलेशिया के आर्चबिशप ने सरासीनों को स्पेन से निकालने की सिफारिश करते हुए उनकी 'धर्मभ्रष्टता और राजविद्रोह' के बारे में जो बयान तैयार किया था, उसमें उनकी सहिष्णुता को एक खास अपराधी बताया गया है। इसका जिक्र करते हुए वह कहता है कि 'वे (अर्थात् मूर या अरब) मजहबी मामलो में अन्त करण की स्वतंत्रता की सबसे ज्यादा कद्र करते हैं; तुर्क और दूसरे सब मुसलमान भी अपनी रिआया को यही हक देते हैं।" इस तरह इन शब्दो में स्पेन के सरासीनो की, अज्ञात रूप से, कितनी अधिक तारीफ की गई है। इससे यह पता चलता है कि कि स्पेन के ईसाइयो का दृष्टिकोण कितना जुदा और अनुदार था।

लाखो सरासीन स्पेन से खदेड़ दिये गये। उनमें से ज्यादातर अफरीका और कुछ फ्रान्स चले गये। लेकिन तुम्हे यह याद रखना चाहिए कि अरब स्पेन में सात सौ बरसो तक रह चुके थे, और इस लम्बे जमाने में बहुत कुछ स्पेन की जनता में घुल-मिल गये थे। वे अरब जरूर थे लेकिन धीरे-धीरे स्पेनिश बनते जारहे थे। गालिबन् पिछले जमाने के स्पेन के अरब बगदाद के अरबो से बिलकुल जुदे थे। आज भी स्पेनिश जाति की नाड़ियो में अरबो का काफी खून बहता है।

सरासीन लोग शासक की हैसियत नहीं बल्कि बसनेवालो की हैसियत से दक्षिणी फ्रान्स और स्वीजरलैंड में भी फैल गये थे। आज दिन भी हमें 'मिडी' के फ्रान्सीसियो में कभी-कभी अरबो के चेहरे की बनावट दिखाई पड़ती है।

इस तरह स्पेन से अरबो का राज्य ही नही बल्कि उनकी सभ्यता भी खतम

हो गई । जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, एशिया में इस सभ्यता का अन्त इससे भी पहले हो चुका था । इस सभ्यता ने कई देशो और संस्कृतियो पर अपना असर डाला और अपनी कितनी ही बढ़िया यादगारे संसार में छोड़ गई । लेकिन आगे वह फिर अपने पैरो पर खडी न हो सकी ।

सरासीनो के चले जाने के बाद, फर्डीनेण्ड और आइजाबेला के शासन में स्पेन की ताकत बढती गई । कुछ ही दिनो बाद, अमेरिका का पता लग जाने की वजह से, गहरा माल इसके हाथ लगा और कुछ समय के लिए स्पेन योरप में सबसे ज्यादा शक्तिशाली देश हो गया । इसके सामने दूसरे राष्ट्र अपना सिर झुकाते थे लेकिन उसका पतन भी तेजी के साथ हुआ और बहुत जल्द ही उसका महत्व नष्ट हो गया । जब योरप के दूसरे देश उन्नति करते रहे, स्पेन अपनी जगह पर निश्चल रहा और मध्ययुग के सपने देखता रहा । उसे यह पता नही था कि तबसे दुनिया बहुत बदल गई थी ।

लेन पूल नाम के एक अंग्रेज इतिहासकार ने स्पेन के सरासीनो के बारे में लिखा है—"सदियो तक स्पेन सभ्यता का केन्द्र—कला, विज्ञान, विद्या और सुसस्कृत विवेक का केन्द्र रहा है । इतने दिनो तक योरप का कोई दूसरा देश मूरो के इस सुन्दर राज्य के बराबर नही पहुँच पाया था । फर्डीनेण्ड और आइजाबेला की थोडे दिनो की चमक-दमक और चार्ल्स का साम्राज्य मूरो के स्थायी बड़प्पन को नहीं पासका । मूरो को खदेड़ दिया गया, कुछ दिनो तक ईसाई स्पेन चॉद की तरह, उधार ली हुई रोशनी से चमकता रहा । इसके बाद ग्रहण आया और उस ग्रहण के अधेरे में स्पेन आज तक पड़ा सड़ रहा है । मूरो की सच्ची यादगार हमें स्पेन की ऊसर और उजाड़ जगहो में दिखाई देती है, जहाँ अरब लोग अपने जमाने में अंगूर, जैतून और अनाज की लहलहाती फसलें पैदा करते थे । जहा अरबो के जमाने मे, बुद्धि और विद्या फूलती-फलती थी, वहा आज मूर्खो और अज्ञानियो का निवास है । सारी कौम में मुर्दनी छागई है और लोग नीचे जारहे है, और कौमो के मुकाबिले इनका पाया बहुत नीचा हो गया है और ये इतने जलील हो गये है जितना इन्हे होना चाहिए । क्या ये बाते मूरो की सच्ची यादगार नही है ?"

इतिहास-लेखक का निर्णय कठोर है । सालभर हुए, स्पेन मे एक क्रान्ति हुई और वहाँ का राजा गद्दी से उतार दिया गया । अब वहाँ पर प्रजातंत्र राज्य है । सम्भव है, यह नवजात प्रजातंत्र पहले से अच्छा काम करे और स्पेन को फिर से दूसरे देशो की बराबरी में ले आवे ।

: ६२ :

'क्रूसेड' अर्थात् ईसाइयों के 'धर्म-युद्ध'

१९ जून, १९३२

अपने हाल के एक खत में मैंने तुम्हें बताया था कि पोप और उसकी चर्च कौंसिल ने मुसलमानो से जेरुसलम छीनने के लिए कैसे धर्म-युद्ध की घोषणा की। सेलजूक तुर्कों की बढती हुई ताकत से योरप भयभीत हो गया था; खास कर कुस्तुन्तुनिया की सरकार, जो साफ-साफ खतरे में पड़गई थी। जेरुसलम और फ़िलस्तीन के ईसाई यात्रियों पर तुर्कों के अत्याचार की कहानियो ने योरप में उत्तेजना पैदा करदी थी और लोग गुस्से से भर गये थे। इसलिए 'धार्मिक युद्ध' की घोषणा करदी गई। पोप और चर्च ने योरप के सारे ईसाइयो से अपील की कि वे 'पवित्र' नगर के उद्धार के लिए आगे बढ़ें।

इस तरह १०९५ ई० से ये 'क्रूसेड' या धर्म-युद्ध शुरू हुए और डेढ सौ बरसों से ज्यादा समय तक ईसाई धर्म और इस्लाम में, सलेब (क्रास) और हिलाल (अर्धचन्द्र) में लड़ाई जारी रही। बीच-बीच में काफी वक़्त तक लड़ाई रुकी भी रहती थी, लेकिन युद्ध की अवस्था बराबर बनी रही। ईसाई जिहादियो के दल के दल युद्ध करने के लिए और ज्यादातर उस 'पवित्र' देश में मरने के लिए जाते रहे। इन लम्बी लड़ाइयो से ईसाई जिहादियो को कोई खास फायदा नहीं पहुँचा। कुछ समय के लिए जेरुसलम ईसाई जिहादियो के हाथ में चला गया था। लेकिन बाद में फिर वह तुर्कों के हाथ में आगया और उन्हींके अधिकार में बना रहा। इस धार्मिक युद्ध का एक खास नतीजा यह हुआ कि लाखों ईसाईयों और मुसलमानो को मुसीबतें झेलनी पड़ीं और मौत के घाट उतरना पड़ा। एशिया और फ़िलस्तीन की जमीन इन्सान के खून से रंग गई।

इन दिनो बगदाद के साम्राज्य की क्या हालत थी? अभीतक उसके ऊपर अब्बासी खलीफाओं का ही अधिकार था। वे अभीतक खलीफा अर्थात् मुसलमानों के सेनापति (अमीरुल मोमनीन) कहलाते थे। लेकिन वे सिर्फ नाम के ही खलीफा थे; उनके हाथ में कोई ताकत न थी। हम देख चुके हैं कि उनका साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया और सूबे के हाकिम कैसे स्वतंत्र हो गये। गजनी के महमूद ने, जो एक शक्तिशाली बादशाह था और जिसने कई बार हिन्दुस्तान पर चढ़ाई की थी, खलीफा को धमकी दी थी कि अगर वह उसकी मर्जी के मुताबिक काम न करेगा तो नतीजा उसके हक में अच्छा न होगा। खास बगदाद में भी असली मालिक तुर्क ही थे।

इनके बाद तुर्कों की, 'सेलजूक' नाम की, दूसरी शाखा आई। उन्होने जल्दी ही अपनी ताकत बढ़ाली। वे आगे फैलते गये और कुस्तुन्तुनिया को भी जीत लिया। लेकिन खलीफा खलीफा ही बना रहा, हालाकि उसके हाथ में कोई राजनीतिक ताकत नहीं थी। उसने सेलजूक सरदारो को सुलतान की उपाधि दी और ये सुलतान ही राज्य करने लगे। इसलिए धर्म-युद्ध में भाग लेनेवाले ईसाईयो को इन्ही सेलजूक सुलतानो और उनके अनुयायियो से लड़ना पड़ता था।

योरप में इन धर्म-युद्धों की वजह से ईसाई राज्यो में सामूहिकता की भावना बढ़ी; और गैर-ईसाइयों के खिलाफ सब ईसाई एक है और उनकी अपनी एक दुनिया है, यह खयाल पैदा हुआ। सारे योरप का एक ही ध्येय और विचार था और वह यह कि विधर्मियो के हाथो से 'पवित्र' देश का उद्धार होना चाहिए। इस एक भावना ने जनता में उत्साह पैदा कर दिया था और इस महान् कार्य के लिए सैकडो आदमियो ने अपना घर-बार और धन-दौलत त्याग दी। इनमें बहुत से ऊँचे भावो से प्रेरित होकर गये थे लेकिन बहुत से तो पोप के इस वादे की लालच से भी गये थे, कि अगर वे वहां गये तो उनके पाप माफ कर दिये जायँगे। इन धर्म-युद्धो के दूसरे भी कितने ही कारण थे। रोम हमेशा के लिए कुस्तुन्तुनिया का मालिक वन जाना चाहता था। तुम्हे याद होगा कि कुस्तुन्तुनिया का धर्म रोम के धर्म से अलग था। कुस्तुन्तुनिया वाले अपने को कट्टर सम्प्रदाय (Orthodox Church) के ईसाई कहते थे। वे रोमन सम्प्रदाय से बडी नफरत करते थे और पोप को नया रईस समझते थे। पोप चाहता था कि कुस्तुन्तुनिया का यह घमंड चूर करदें और उस पर अपना कब्जा कर लें। विधर्मी तुर्कों के खिलाफ, धर्म-युद्ध की आड़ में, वह अपनी इस पुरानी लालसा को पूरा करना चाहता था। यह है राजनीतिज्ञो का और उन लोगो का ढग जो अपने को शासन-विद्या में कुशल मानते हैं। रोम और कुस्तुन्तुनिया का यह संघर्ष याद रखने लायक है क्योकि क्रूसेड के बीच में यह बराबर उठता और फूलता-फलता रहा।

इन क्रूसेडो के होने का दूसरा कारण व्यापारिक था। व्यापारी लोग, खास कर वेनिस और जिनेवा के उन्नतिशील बन्दरगाहो के सौदागर, इन युद्धो को चाहते थे क्योकि इनको व्यापार में बहुत घाटा हो रहा था; जिसकी वजह यह थी कि सेलजूक तुर्कों ने पूरब के कई तिजारती रास्तो को बन्द कर दिया था।

लेकिन आम जनता इन कारणो के वारे में कुछ नहीं जानती थी। किसी ने ये बातें नहीं बताई थी। राजनीतिज्ञ अकसर असली कारणो को छिपा रखते हैं और धर्म, न्याय, सत्य और इसी तरह की और बातो के बारे में बढ़-चढ़कर बातें किया

करते हैं। क्रूसेडों के समय में यही हाल था और यही हाल आज दिन भी है। उस समय जनता उन पर विश्वास कर लेती थी और आज भी आम लोगों का ज्यादातर हिस्सा राजनीतिज्ञो की चिकनी-चुपडी बातों पर भरोसा कर लेता है।

इन कारणो से क्रूसेडो में शामिल होने के लिए बहुत-से आदमी इकट्ठा होगये। उनमें बहुत-से अच्छे और ईमानदार आदमी थे लेकिन बहुत-से ऐसे थे जो सच्चाई से बहुत दूर थे। लूट-खसोट की उम्मीद ने ही उन्हे लड़ाई की तरफ खीचा था। क्रूसेड की फ़ौज पवित्र और धार्मिक आदमियो और ऐसे लुच्चों की ताज्जुब भरी मिलावट थी जो हर तरह के जुर्म कर सकते थे। असल में इन क्रूसेडों में हिस्सा लेने वाले सैनिको में से बहुत-से, जो अपनी समझ में एक ऊँचे आदर्श के लिए बाहर निकलते थे, बडे घृणित और जलील अपराधों के दोषी भी रहे हैं। उनमें से बहुत-से लूट-मार में ऐसे डूबे कि फ़िलस्तीन के पास तक नहीं पहुँचे। कुछने यहूदियों को रास्ते में मारना शुरू कर दिया, और कुछने अपने ईसाई भाइयो को ही कत्ल कर डाला। कभी-कभी ऐसा हुआ कि जिन-जिन ईसाई देशों से होकर ये सैनिक गुजरे वहां के ईसाई किसानो ने इनके जुल्मो और बुरे कामो से ऊबकर बगावत कर दी, इनको मार डाला और निकाल दिया।

आखिर में बुइलों के गाडफ्रे नामक एक नार्मन के नेतृत्व में क्रूसेड की सेना फ़िलस्तीन पहुँची। इसने जेरुसलम को जीत लिया। इसके बाद एक हफ़्ते तक मार-काट मची रही। हजारो लोग कत्ल कर दिये गये। इस घटना को अपनी आँखो से देखनेवाले एक फ्रांसीसी ने लिखा है—"मसजिद की बरसाती के नीचे घुटने तक खून था, और घोडे की लगाम तक पहुँच जाता था।" गाडफ्रे जेरुसलम का बादशाह हो गया।

७० बरस बाद मिस्र के सुलतान सलादीन ने जेरुसलम को ईसाइयो से फिर छीन लिया। इससे योरप की जनता फिर उत्तेजित हो उठी और कई क्रूसेड, एक के बाद दूसरे, होते रहे। इस बार क्रूसेड की सेना के साथ योरप के कई बादशाह और सम्राट् खुद आये थे। लेकिन उन्हे सफलता न मिली। वे इस बात पर आपस में ही झगडने लगे कि बड़ा कौन है और आगे कौन चले। वे एक दूसरे से ईर्षा रखते थे। क्रूसेडो की कहानी बेरहमी, नीचता, छल-कपट, भयंकर अपराधो और निर्दयतापूर्ण लड़ाइयो से भरी हुई है। लेकिन कभी-कभी इस भयानक लड़ाई में भी मानव प्रकृति की अच्छाइयों की झलक दिखाई पडी, और ऐसी घटनायें भी हुई जब दुश्मनो ने एक दूसरे के प्रति उदारता और बहादुराना भलमंसाहत का बर्ताव किया। फिलस्तीन में बाहर से आये हुए इन राजाओ में इंग्लैण्ड का राजा भी था। वह 'रिचर्ड दी लायन

हारटेड' यानी 'शेरदिल रिचर्ड' कहलाता था और अपनी शारीरिक शक्ति और बहादुरी के लिए मशहूर था। सलादीन भी बड़ा लड़ाका था और अपनी बहादुरी के लिए मशहूर था। जो क्रूसेडर सलादीन से लड़ने आये थे वे भी उसकी बहादुराना शराफत के कायल थे। एक कहानी मशहूर है कि एक बार रिचर्ड बहुत बीमार पड़ गया, उसे लू लग गई थी। जब सलादीन को इसकी खबर हुई तो उसने उसके पास पहाड़ से ताजा बर्फ भिजवाने का इन्तजाम कर दिया। आजकल की तरह उन दिनों पानी को जमा करके नकली बर्फ नहीं बनाई जा सकती थी, इसलिए पहाडो से बर्फ का इन्तजाम तेज दूतो के जरिये किया जाता था।

क्रूसेडों के समय की बहुत-सी कहानियाँ प्रसिद्ध है। शायद तुमने वाल्टर स्कॉट[1] का 'टेलिसमैन' नामक उपन्यास पढ़ा होगा।

क्रूसेडो का एक जत्था कुस्तुन्तुनिया भी पहुँचा और उसने उसपर कब्जा कर लिया। इस सेना ने पूर्वी यूनानी साम्राज्य के यूनानी साम्राट् को भगा दिया और वहाँ एक लैटिन राज्य और रोमन कैथलिक चर्च की स्थापना की। इन लोगो ने कुस्तुन्तुनिया में भी भयंकर मारकाट की और शहर का एक हिस्सा जला भी दिया। लेकिन यह लैटिन राज्य ज्यादा दिनो तक कायम न रह सका। पूर्वी रोमन साम्राज्य के यूनानी सुस्त होते हुए भी लौट आये और ५० साल के अन्दर ही उन्होंने लैटिनो को मार भगाया। कुस्तुन्तुनिया का पूर्वी साम्राज्य दो सौ बरसो तक और बना रहा। १४५३ ई० में तुर्कों ने हमेशा के लिए उसे खतम कर दिया।

क्रूसेडो द्वारा कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा कर लेना पोप और रोमन कैथलिक सम्प्रदाय की इस इच्छा को जाहिर करता है कि वे वहाँ अपना प्रभाव फैलाना चाहते थे। हालाकि मुसीबत के समय इस शहर के यूनानियो ने तुर्कों के खिलाफ रोम से सहायता माँगी थी, फिर भी उन्होने क्रूसेडो में लड़ने आनेवालो की कुछ भी मदद नहीं की। वे उनसे बडी नफरत करते थे।

लेकिन इन क्रूसेडों में सबसे भयानक क्रूसेड वह था जो 'बच्चो का क्रूसेड' के नाम से मशहूर है। बहुत बडी तादाद में बच्चो ने, खासकर फ्रान्स के और कुछ जर्मनी के बच्चो ने जोश में आकर अपने घरो को छोड़ दिया और फ़िलस्तीन जाने का निश्चय कर लिया। उनमेंसे कितने ही रास्ते में मर गये और बहुत से खो भी गये, फिर भी ज्यादातर बच्चे मार्सेलीज़ पहुँचे। वहाँ उनके साथ धोखा किया गया और

१. स्कॉट—यह अँग्रेज़ी भाषा के बहुत मशहूर उपन्यास-लेखक और कवि हो गये है। यह स्कॉटलैण्ड के रहनेवाले थे। सन् १७७१ मे उनका जन्म हुआ था और सन् १८३२ मे यह मरे। इन्होने अँग्रेजी में बहुत से उपन्यास लिखे है।

बदमाशों ने उनके उत्साह से बेजा फायदा उठाया। 'पवित्र' देश तक पहुँचा देने की झूठी लालच देकर गुलामो का व्यापार करनेवाले, इन्हे अपने जहाजो में बिठाकर मिस्र ले गये और वहाँ गुलाम के रूप में बेंच दिया।

फ़िलस्तीन से लौटते समय इंग्लैंड का बादशाह पूर्वी योरप में दुश्मनो द्वारा पकड़ लिया गया और उसको छुड़ाने के लिए एक बहुत बडी रकम देनी पडी थी। फ़्रान्स का एक राजा तो फ़िलस्तीन ही में गिरफ्तार कर लिया गया था और वह भी काफी रकम देनें पर छूटा। पवित्र रोमन साम्राज्य का एक सम्राट् फ़्रेडरिक बारबरोसा फ़िलस्तीन की एक नदी में डूबकर मर गया। इधर ज्यों-ज्यो समय बीतता गया, क्रूसेडो का आकर्षण कम होता गया। जनता उनसे ऊब गई। जेरुसलम मुसलमानो के ही हाथ में बना रहा। योरप के राजा और योरप की जनता अब जेरुसलम छीनने में और अधिक धन बरबाद करने के लिए तैयार न थी। इसके बाद जेरुसलम ७०० बरस तक मुसलमानो के पास ही रहा। थोडे ही दिन पहले, पिछले यूरोपीय महायुद्ध के समय, १९१८ ई० में एक अंग्रेज़ सेनापति ने इसे तुर्कों के हाथ से छीन लिया।

बाद के क्रूसेडो में एक क्रूसेड बडा ही दिलचस्प और गैरमामूली था। असल में इसे पुराने अर्थ में तो क्रूसेड कहना ही न चाहिए। पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय फ़िलस्तीन गया। वहाँ युद्ध करने के बजाय उसने मिस्र के सुलतान से भेंट की और लड़ने के बजाय उससे समझौता कर लिया। फ्रेडरिक असाधारण व्यक्ति था। ऐसे जमाने में, जब ज्यादातर राजा मुश्किल से पढे-लिखे होते थे, यह कई जबाने, जिनमें अरबी भी शामिल थी, जानता था। वह 'जगत का आश्चर्य' (The Wonder of the World) के नाम से मशहूर था। पोप की वह बिल्कुल परवाह नही करता था और इसलिए पोप ने उसे बहिष्कृत भी कर दिया था, लेकिन इस बहिष्कार का असर उसपर कुछ न पड़ा।

इस तरह क्रूसेडों का कोई खास नतीजा न निकला। हाँ, इस बराबर होती रहनेवाली लड़ाई ने सेलजूक तुर्को को जरूर कमज़ोर कर दिया। इससे भी बडी बात यह हुई कि सामन्त-प्रथा ने सेलजूक साम्राज्य की नींव को खोखला कर दिया। बडे-बडे सामन्त और सरदार अपने को स्वतन्त्र समझने लगे। वे एक दूसरे से लड़ते-भिड़ते रहते थे। कभी-कभी वे एक दूसरे के खिलाफ ईसाई राज्यों तक की सहायता माँगा करते थे। कभी-कभी क्रूसेडर तुर्कों की इस अन्दरूनी कमजोरी से फायदा भी उठा लेते थे। लेकिन जब कभी सलादीन की तरह कोई दबंग सुलतान होता था, इन सब की एक नहीं चलती थी।

क्रूसेडो के बारे में एक दूसरा मत भी है। यह नया मत जी० एम० ट्रेवेलियन

नाम के एक अंग्रेज इतिहासकार ने, जिन्हे तुम गैरीबाल्डी वाली किताबों के लेखक के रूप में जानती हो, पेश किया है। यह मत बड़ा दिलचस्प है। ट्रेवेलियन कहता है : "योरप में फिरसे जिन्दा हो रही शक्ति के अन्दर पूर्व के प्रति जो आम आकर्षण था, क्रूसेड उसीके धार्मिक और सैनिक रूप थे। क्रूसेडो से योरप को यह पुरस्कार नहीं मिला कि (ईसा की) 'पवित्र समाधि' (Holy Sepulchre) स्थाई तौर पर स्वतंत्र हो गई हो या ईसाई जगत् में असली एकता आगई हो। क्रूसेड की कहानी तो इन बातो का एक लम्बा प्रतिवाद है। क्रूसेड से इन सब बातों की बजाय योरप में ललित कला, कारीगरी, विलासिता, विज्ञान तथा बौद्धिक कौतूहल आया और इनमें से एक-एक चीज़ ऐसी है जिससे साधु पीटर को सख्त नफ़रत होती।"

सलादीन ११९३ ई० में मर गया, और पुराने अरब साम्राज्य का जो कुछ भाग बच रहा था वह भी धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न हो गया। पश्चिमी एशिया के कई हिस्सो में, जो छोटे-छोटे सामान्त-सरदारो के कब्जे में थे, उपद्रव होने लगे। अन्तिम क्रूसेड १२४९ ई० हुआ। उसका नेता फ्रांस का राजा लुई नवम था। वह हार गया और कैद कर लिया गया।

इसी बीच पूर्वी और मध्य एशिया में बडी-बडी घटनायें घट रही थी। चंगेज़ ख़ाँ नामक ताकतवर सरदार के नीचे मंगोल आगे बढ रहे थे और पूर्वी क्षितिज को काली घटा की तरह घेर रहे थे। क्रूसेडर और गैर-क्रूसेडर यानी ईसाई और मुसलमान दोनो ही इस हमले को इस समय डर की निगाह से देखते थे। चंगेज़ और मंगोलों का ज़िक्र हम दूसरे ख़त में करेगे।

इस खत को ख़तम करने के पहले मै एक और बात का ज़िक्र कर देना चाहता हूँ। मध्य एशिया के बुख़ारा नामक शहर में एक बहुत बड़ा अरब चिकित्सक रहता था जो एशिया और योरप दोनो में मशहूर था, उसका नाम इब्न सीना था लेकिन योरप में वह 'एवीसेना' के नाम से ज्यादा मशहूर हुआ। वह 'चिकित्सको का राजा' कहा जाता था। क्रूसेडो के शुरू होने के पहले, १०३७ ई० में वह मर गया।

मैनें इब्न सीना के नाम का ज़िक्र उसकी शोहरत की वजह से किया है। लेकिन इस बात को याद रखो कि इस सारे ज़माने में, यहाँ तक कि जब अरब साम्राज्य गिर रहा था तब भी अरबी सभ्यता पश्चिमी और मध्य एशिया के एक हिस्से में कायम रही। क्रूसेडरो से लड़ते रहने पर भी सलादीन ने बहुत-से कालेज और अस्पताल बनवाये; लेकिन यह सभ्यता जल्दी से एकाएक और पूरी तरह गिरकर ख़तम हो जानेवाली थी, क्योंकि पूरब से मंगोल बढ़े आरहे थे।

: ६३ :

क्रूसेडों के समय का योरप

२० जून, १९३२

अपने पिछले खत में हम लोगो ने ग्यारहवीं, वारहवीं और तेरहवीं सदियों में इस्लाम और ईसाई धर्म का कुछ संघर्ष देखा था। ईसाई धर्म की भावना योरप में उठ रही थी। इस समय तक ईसाई मत सारे योरप में फैल चुका था। पूर्वी योरप की रूसी वगैरा स्लाव जातियाँ सबसे पीछे ईसाई धर्म में शामिल हुई। एक रोचक कथा प्रचलित है—मै कह नही सकता कि कहाँ तक सच है—कि रूस की पुरानी जनता ने ईसाई होने के पहले अपने पुराने धर्म को बदलने और एक नये धर्म को मंजूर करने के सवाल पर बहस की थी। जिन दो नये धर्मो के वारे में उन्होने सुन रक्खा था, वे ईसाई और इस्लाम धर्म थे। इसलिए, आजकल की प्रथा के अनुसार, रूसियो ने ऐसे देशो में, जहाँ इन मतो के माननेवाले लोग थे, अपने प्रतिनिधियो को भेजा ताकि वे उनकी जाच करे और उनपर अपनी रिपोर्ट पेश करे। कहते हैं कि यह प्रतिनिधि-मण्डल पहले पश्चिमी एशिया की कुछ जगहो पर गया, जहाँ इस्लाम धर्म का प्रचार था। वाद में वे लोग कुस्तुन्तुनिया गये। कुस्तुन्तुनिया में उन्होने जो कुछ देखा उससे वे चकित हो गये। कट्टर ईसाई सम्प्रदाय की प्रार्थना बडी शान-शौकत के साथ होती थी। उसके साथ भजन और वढ़िया गाने भी होते थे, धूप और खुशबूदार चीजें जला करती थीं। पादरी और पुजारी भड़कीली पोशाक पहनकर आते थे। उत्तर के सीधे-सादे और अर्धसभ्य आदमियों पर इस पूजन-विधि का बहुत असर पड़ा। इस्लाम में इतनी तड़क-भड़क की कोई बात नहीं थी। इसलिए उन्होने ईसाई धर्म के पक्ष में अपना फैसला किया और वैसी ही रिपोर्ट अपने राजा के सामने भी पेश की। इस पर रूस के राजा और प्रजा ने ईसाई धर्म इख्तियार कर लिया और चूंकि उन्होने ईसाई धर्म को कुस्तुन्तुनिया से लिया था इसलिए वे रोम के नहीं बल्कि 'कट्टर यूनानी सम्प्रदाय' के अनुयायी हुए। बाद में भी, किसी समय, रूस ने रोम के पोप को अपना धर्म-गुरु नहीं माना।

रूस का यह धर्म-परिवर्तन क्रूसेडो के बहुत पहले हो चुका था। कहा जाता है कि एक समय बलगेरिया वाले मुसलमान हो जाने के लिए कुछ-कुछ तैयार होरहे थे लेकिन बाद में कुस्तुन्तुनिया का आकर्षण ज्यादा जोरदार साबित हुआ। उनके राजा ने एक विजेण्टाइन राजकुमारी से शादी करली और ईसाई होगया। (तुम्हे याद होगा कि विजेण्टियम कुस्तुन्तुनिया का पुराना नाम था) इसी तरह दूसरे पडोसी मुल्को ने भी ईसाई धर्म को स्वीकार करलिया था।

इन क्रूसेडों के समय योरप में क्या हो रहा था ? तुम देख ही चुकी हो कि इन धर्म-युद्धो मे शामिल होने के लिए कुछ राजा-महाराजा फ़िलस्तीन गये और उनमें के कई वहाँ आफत में फँस गये । उधर पोप रोम में बैठा-बैठा विधर्मी तुर्कों के खिलाफ 'पवित्र युद्ध' के लिए आज्ञा और अपीले जारी कर रहा था । यही दिन थे, जब पोप की ताकत अपनी चोटी पर पहुच चुकी थी । मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि किस तरह एक घमण्डी सम्राट माफी माँगने को पोप के सामने हाजिर होने के लिए कनोजा में घण्टो बर्फ में नंगे पाव खड़ा रहा था । यह वही पोप ग्रेगोरी सप्तम था जिसका पहला नाम 'हिल्डेब्रैण्ड' था और जिसने पोपो के चुनाव का एक नया तरीका जारी किया था । रोमन कैथलिक जगत् में 'कार्डिनल' सबसे बडे पुरोहित या पादरी होते थे । इनका एक सघ बनाया गया जिसे 'पवित्र संघ' (Holy College) कहते थे । यही संघ या कॉलेज एक नये पोप को चुनता था । यह तरीका १०५९ ई० में चलाया गया था और, कुछ फेर-बदल के साथ, आजतक चला आरहा है । अभी तक यह कायदा है कि जब पोप मर जाता है तब कार्डिनलो का संघ या कॉलेज तुरन्त इकट्ठा होता है और कार्डिनल लोग एक तालाबंद कमरे में बैठ जाते है और जब तक चुनाव खतम नही हो जाता तब तक न कोई उस कमरे के भीतर जासकता है और न कोई उससे बाहर ही निकल सकता है । अक्सर चुनाव में सहमत न हो सकने के कारण वे घण्टो उसी बन्द कमरे में बैठे रहते है, बाहर नही आसकते । इसलिए अन्त में वे एकमत होनें के लिए मजबूर हो जाते है । चुनाव होते ही एक खिड़की में रोशनी कीजाती है ताकि बाहर खडी और इतजार करती हुई भीड़ को मालूम हो जाय कि चुनाव होगया है ।

जिस तरह पोप चुना जाता था, उसी तरह 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का सम्राट भी चुना जाने लगा । लेकिन सम्राट बडे-बडे सामन्तो और सरदारो द्वारा चुना जाता था । इनकी तादाद सिर्फ सात थी और वे 'निर्वाचक सरदार' (Elector Princes) कहलाते थे । इस तरह सम्राट एक ही कुटम्ब से नहीं आसकता था । लेकिन व्यवहार में अकसर एक ही राज-वंश इन चुनावो में बहुत दिनो तक हावी रहता था ।

इस तरह हम देखते है कि बारहवीं और तेरहवी सदियो में होहेन्स्टाफेन वंश का साम्राज्य पर सबसे ज्यादा असर था । मेरा खयाल है कि होहेन्स्टाफेन जर्मनी में कोई छोटा कस्बा या गॉव है । शुरू में यह कुटुम्ब इसी गॉव से आया था । इसलिए उसने इस गांव के नाम पर ही अपना नाम रखलिया । होहेन्स्टाफ़ेन वंश का फ़्रेडरिक प्रथम ११५२ ई० में सम्राट हुआ । वह आमतौर से फ्रेडरिक बार्बरोसा कहलाता है । यह वही फ़्रेडरिक बार्बरोसा था जो क्रूसेड के रास्ते में डूब गया था ।

कहा जाता है कि रोमन साम्राज्य के इतिहास में फ्रेडरिक बार्बरोसा की हुकूमत सब से शानदार थी। जर्मन जनता तो उसे बहुत दिनो से अपना आदर्श वीर और अर्द्ध-दैवी व्यक्ति समझती रही है और उसके बारे में कितनी ही कहानियाँ प्रचलित हो गई हैं। लोगो का कहना है कि वह किसी पहाड़ की गहरी गुफा में सोरहा है और जब समय आयगा, वह उठेगा और अपने देश-वासियो को बचाने के लिए बाहर निकलेगा।

फ्रेडरिक बार्बरोसा बहुत दिनो तक पोप के खिलाफ़ लड़ता रहा लेकिन अन्त में पोप की ही विजय हुई और फ्रेडरिक को उसके सामने सिर झुकाना पड़ा। वह एक निरंकुश राजा था। उसके बडे सामन्त और सरदार उसे बहुत तंग करते थे। इटली में बडे-बडे नगर बढ़ रहे थे; फ्रेडरिक ने उनकी आजादी को कुचलने की कोशिश की लेकिन वह सफल नही हुआ। जर्मनी में भी, खास कर नदियो के किनारे, बडे-बडे नगर कोलोन, हैम्बर्ग, फ्रैंकफुर्त वगैरा बस रहे थे। लेकिन इनके बारे में फ़्रेडरिक की नीति दूसरी थी। उसने स्वतंत्र जर्मन नगरो की मदद की। उसने सामन्तो और सरदारो की ताकत को कम करने के लिए ही ऐसा किया था।

मैंने तुम्हे कई मौको पर यह बताया है कि राज-धर्म के बारे में प्राचीन भारतीय धारणा क्या थी? प्राचीन आर्य-काल से अशोक के समय तक, और 'अर्थ-शास्त्र' के समय से शुक्राचार्य के 'नीति-सार' तक, यह बात बार-बार कही गई है कि राजा को लोकमत के सामने सिर झुकाना चाहिए। लोकमत ही सब से बड़ा मालिक है। भारतीय सिद्धान्त यही था हालाँकि दूसरे देशो के राजाओं की तरह हिन्दुस्तान के राजा भी, अमल में, काफी स्वेच्छाचारी होते थे। इस प्राचीन भारतीय धारणा की तुलना प्राचीन योरप के खयालात से करो। उन दिनो के वकीलो की राय में सम्राट को सब अधिकार प्राप्त थे; उसकी मर्जी ही कानून थी। उनका कहना था कि "सम्राट पृथ्वी पर कानून का जिन्दा पुतला है।" फ्रेडरिक बार्बरोसा खुद कहता था कि "जनता का यह काम नहीं है कि वह राजाओ को कानून बतावे बल्कि उसका काम तो राजाओ का हुक्म मानना है।"

इस सम्बन्ध में चीनी धारणा से भी मिलान करो। वहाँ सम्राट या राजा 'स्वर्ग का पुत्र' जैसी बडी-बडी उपाधियों से पुकारा जाता था लेकिन इससे हमें धोखे में न पड़ना चाहिए। सिद्धान्त में चीन के सम्राट की हालत योरप के सर्वशक्तिमान सम्राट की हालत से बहुत भिन्न थी। एक प्राचीन चीनी लेखक, मेंग-त्सी ने लिखा है कि "जनता देश का सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण अंग है; उसके बाद जमीन और फसल के देवताओं का दर्जा है और सबसे कम महत्व शासक या राजा का है।"

इस तरह योरप में सम्राट पृथ्वी पर सर्वशक्तिमान माना जाता था। इसी ख़याल से राजाओ के ईश्वरीय अधिकारो की भावना पैदा हुई है। अमल में तो वह भी सर्वशक्तिमान होने से बहुत दूर था। उसके सामन्त और सरदार बडे फ़सादी होते थे और धीरे-धीरे हम देखते है कि नगरो में नये-नये वर्ग पैदा होने लगे थे, जो शासन में हिस्सेदार होने का दावा करते थे। दूसरी ओर पोप भी पृथ्वी पर सर्व-शक्तिमान होने का दावा करता था। और फिर जहाँ दो सर्वशक्तिमान मिले, वहाँ उपद्रव होना लाजिमी ही है।

फ़्रेडरिक बार्बरोसा के पोते का नाम भी फ़्रेडरिक था। वह थोडी ही उम्र में सम्राट बन गया और उसका नाम फ्रेडरिक द्वितीय पड़ा। यह वही आदमी था जिसे 'स्टूपर मुंडी' या 'संसार का आश्चर्य' कहा गया है। और जिसने फ़िलस्तीन जाकर मिस्र के सुल्तान के साथ दोस्ताना बातचीत की थी। अपने दादा की तरह यह भी पोप को सताता रहा और उसकी आज्ञा का निरादर करता रहा। पोप ने बदला लेने के लिए उसे समाज से बाहर निकाल दिया। यह पोपो का एक पुराना और कारगर हथियार था। लेकिन अब इसमें कुछ-कुछ ज़ंग लग रहा था। फ़्रेडरिक द्वितीय पोप के गुस्से की बिलकुल परवाह नहीं करता था और साथ ही दुनिया भी बदल रही थी। फ़्रेडरिक ने योरप के सब राजाओ के पास लम्बे-लम्बे ख़त भेजे जिनमें उसने बताया कि "राजाओ के मामले में पोप को दख़ल देने की कोई जरूरत नही है। पोप का काम धार्मिक और अध्यात्मिक मामलो की देख-रेख करना है; राजनीति में दखल देना नही।" उसने पादरियो की बेईमानी और बुराइयाँ भी बताई। वाद-विवाद में फ़्रेडरिक ने पोपो को पछाड़ दिया। उसके ये पत्र बडे रोचक है क्योंकि वे पोप और सम्राट के बीच की पुरानी शक्ति में आधुनिक भावना के पैदा होने के पहले नमूने है।

फ़्रेडरिक द्वितीय धार्मिक मामलो में बड़ा उदार था और अरबी और यहूदी फिलासफर उसके दरबार में आया करते थे। कहा जाता है कि फ़्रेडरिक के ही जरिये अरबी हिन्दसा और अलजबा (बीजगणित) योरप में पहुँचे थे। तुम्हे याद होगा कि ये असल में हिन्दुस्तान से अरब में गये थे। फ़्रेडरिक ने ही नेपल्स का विश्वविद्यालय क़ायम किया और सैलर्नो के प्राचीन विश्वविद्यालय में चिकित्साशास्त्र के एक बड़ा स्कूल कायम किया था।

फ़्रेडरिक द्वितीय ने १२१२ ई० से १२५० ई० तक राज्य किया। उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य पर से होहेन्स्टाफेन वंश का अधिकार जाता रहा। सच तो यह है कि उसकी मृत्यु के बाद करीब-करीब साम्राज्य का ही ख़ात्मा हो गया। इटली अलग हो गया; जर्मनी के टुकडे-टुकडे हो गये और वहाँ कई सालो तक भया-

नक उपद्रव मचा रहा। लुटेरे सरदार और डाकू लूट-मार करते थे और उनको कोई रोकनेवाला नही था। जर्मन जाति के लिए पवित्र रोमन साम्राज्य का भारी बोझ सहना बहुत मुश्किल था। फ्रांस और इंग्लैड में वहा के बादशाह अपनी स्थिति मजबूत कर रहे थे और बडे-बडे उपद्रवी सामान्तो और सरदारो को दबा रहे थे जर्मनी का बादशाह ही सम्राट भी था और वह पोप या इटली के शहरो से ही लड़ने में इतना फँसा रहता था कि अपने यहाँ के सरदारो को दबा नही सकता था। जर्मनी को जरूर यह सन्देह-जनक अभिमान हो सकता था कि उसका राजा सम्राट होता है। लेकिन इसके लिए उसे यह कीमत चुकानी पडी कि उसके घर में खुद कमजोरी और फूट पैदा हो गई। जर्मनी के एक और संयुक्त-राष्ट्र होने के पहले ही फ्रांस और इग्लैड ताकतवर राष्ट्र होगये थे। सैकडो बरसो तक जर्मनी में छोटे-छोटे राजा होते रहे। अभी केवल साठ ही वर्ष हुए जबकि जर्मनी संगठित हुआ लेकिन फिर भी छोटे-छोटे राजा और राजकुमार तो बने ही रहे। १९१४ के महायुद्ध ने इस झुण्ड को खत्म कर दिया।

फ़्रेडरिक द्वितीय के बाद जर्मनी में इतना उपद्रव मचा रहा कि २३ साल तक कोई सम्राट् ही नहीं चुना गया। १२७३ ई० में हैप्सबर्ग का काउण्ट, रूडाल्फ सम्राट् चुना गया। अब हैप्सबर्ग का राजवंश सामने आया, जो राज्य के साथ अन्त तक चिपका रहा लेकिन सन् १९१४ के महायुद्ध में यह राजवंश भी, शासक की हैसियत से, खतम हो गया। युद्ध के समय आस्ट्रिया-हँगरी का सम्राट् हैप्सबर्ग घराने का था, जिसका नाम फ्रासिस जोजेफ था। वह बहुत बुड्ढा था। राजगद्दी पर बैठे हुए उसे ६० बरस से ज्यादा हो चुके थे। फ्रैंज फर्डिनेण्ड उसका भतीजा और राजगद्दी का उत्तराधिकारी था; जो १९१४ में बोसनिया (बालकन प्रायद्वीप) के सिराजेवो नाम की जगह पर अपनी पत्नी के साथ कत्ल कर दिया गया था। इसी क़त्ल के करण महायुद्ध हुआ। इस युद्ध ने बहुत-सी चीजों का खा़त्मा कर दिया, जिसमें हैप्सबर्ग का पुराना राजवंश भी शामिल है।

पवित्र रोमन साम्राज्य के बारे में इतना काफी है। इस साम्राज्य के पश्चिम में फ्रास और इंग्लैंड अक्सर आपस में लड़ा करते थे, लेकिन इससे ज्यादा अपने ही बडे-बडे सरदारो से उनकी लड़ाई चलती रहती थी। जर्मनी के सम्राट् या राजा की बनिस्बत फ्रांस और इंग्लैड के बादशाह अपने सरदारो से लड़ने में ज्यादा सफल हुए; इसलिए इंग्लैड और फ्रांस और राष्ट्रों के मुकाबिले में ज्यादा संयुक्त देश होते गये और उनकी एकता ने उन्हे ताकत दी।

इसी समय इँग्लैंड में एक घटना हुई जिसके बारे में शायद तुमने पढ़ा होगा।

घटना यह थी कि सन् १२१५ ई० में किंग जॉन ने मैग्नाचार्टा पर दस्तखत किये। जॉन अपने भाई रिचर्ड, जो 'लायन हार्टेड' यानी 'शेर दिल' कहा जाता है, के बाद गद्दी पर बैठा था। वह बड़ा लालची था लेकिन साथ ही साथ कमजोर भी था। उसने हरेक आदमी को अपना दुश्मन बना लेने में ही कामयाबी हासिल की थी। इग्लैण्ड के सरदारो ने उसे टेम्स नदी के 'रनीमीड' नाम के टापू में घेर लिया और तलवार के जोर से डरा-धमकाकर मैग्नाचार्टा या 'महान् घोषणापत्र' पर उससे जबरदस्ती दस्तखत करवा लिये। मैग्नाचार्टा में उसने यह प्रतिज्ञा की थी कि वह इग्लैंड के सरदारो और जनता के कुछ अधिकारों का आदर करेगा। इंग्लैंड की राजनैतिक स्वतंत्रता की लम्बी लड़ाई में इसे पहला कदम कहना चाहिए। इस प्रतिज्ञा-पत्र में यह खास तौर पर लिखा गया था कि राजा किसी व्यापारी की सम्पत्ति या उसकी आजादी में बिना उसके बराबरवालों की राय के दखल नही दे सकता। इसी बात से जूरी की प्रथा निकली है। जिसमें अपने बराबर के लोग फैसला देते है। इस तरह हम देखते है कि इग्लैंड में बहुत पहले ही राजा के इख्तियारात कम कर दिये गये। पवित्र रोमन साम्राज्य में शासक की सर्व शक्तिमानता का जो सिद्धान्त प्रचलित था, वह उस समय भी इंग्लैंड में नही माना जाता था।

यह एक मजेदार बात है कि यह कानून, जो इंग्लैंड में आज से ७०० बरस पहले बनाया गया था, १९३२ ई० में भी ब्रिटिश राज्य में, हिन्दुस्तान पर लागू नही है। यहाँ आज भी एक व्यक्ति, वाइसराय, को आर्डीनेन्स निकालने, कानून बनाने और जनता से उसकी सम्पत्ति और स्वाधीनता छीन लेने के हक हासिल है।

मैग्नाचार्टा के बनने के थोडे ही दिनो बाद इंग्लैड में एक और बडी बात हुई। धीरे-धीरे एक राष्ट्रीय सभा का विकास होने लगा जिमें मुख्तलिफ़ शहरों से सरदार और नागरिक भेजे जाते थे। यह अग्रेजी पार्लमेण्ट की शुरूआत थी। नायको (नाइटो) और नागरिको की सभा 'कामन्स हाउस' (साधारण सभा) बन गई और बडे-बडे अमीरो, सरदारो और पादरियो से मिलकर 'लार्डस् हाउस' (सरदार-सभा) बनी। शुरू-शुरू में इस पार्लमेण्ट को नाममात्र के अधिकार थें पर धीरे-धीरे इसकी ताकत बढ़ती गई। अखीर में तो राजा और पार्लमेण्ट में इस बात पर खींचतान होने लगी कि उन दोनो में कौन बडा है ? इस झगडे में राजा की जान गई और पार्लमेण्ट निर्विवाद रूप से इंग्लैड की मालिक हो गई। लेकिन यह ताकत पार्लमेण्ट को करीब ४०० बरसो बाद—अर्थात् सत्रहवी सदी में जाकर मिली।

फ्रास में भी एक कौंसिल थी जो 'तीन रियासतो की कौंसिल' कही जाती थी। लार्ड, चर्च और जनता, ये ही तीन रियासतें थीं। जब कभी राजा की इच्छा होती थी,

इस कौंसिल की बैठक हुआ करती थी; लेकिन इसकी बैठकें बहुत कम होती थी और यह अंग्रेजी पार्लमेण्ट की तरह अधिकार पाने में सफल न हो सकी। फ़ांस में भी राजाओ की शक्ति टूटने के पहले एक राजा को अपने सिर से हाथ धोना पड़ा था।

पूरब में अब भी यूनानियों का पूर्वी रोमन साम्राज्य कायम था। अपनी जिंदगी की शुरूआत से ही यह किसी-न-किसी से लड़ाई करता रहा। और अक्सर ऐसा मालूम होता था कि अब खतम हो जायगा। फिर भी वह जिन्दा रहा। पहले वह उत्तर की बर्बर जातियो से बचा और बाद में मुसलमानों के हमले से भी उसने अपनी जान बचा ली। इस साम्राज्य पर रूसी, बलगेरियन, अरब, या सेलजूक के हमले भी हुए; लेकिन ईसाई जिहादियो का हमला सबसे ज्यादा घातक और नुकसानदेह साबित हुआ। इन ईसाई वीरो ने ईसाई कुस्तुन्तुनिया को जितना नुकसान पहुँचाया, उतना किसी विधर्मी ने नही पहुँचाया। इस आफत के बुरे असर से साम्राज्य और कुस्तुन्तुनिया का शहर फिर कभी नहीं निकल या पनप सका।

पश्चिमी योरप की दुनिया पूर्वी साम्राज्य के बारे में बिलकुल अनजान थी। वह उसकी बिल्कुल परवाह नही करती थी। उसे ईसाईयत की दुनिया का अंग नहीं कहा जासकता। उसकी भाषा यूनानी थी, जबकि पश्चिमी योरप के विद्वानो की भाषा लैटिन थी। असल में देखें तो इस गिरावट के जमाने में भी कुस्तुन्तुनिया में पश्चिम की बनिस्बत कहीं ज्यादा विद्या और ज्ञान-चर्चा थी लेकिन यह विद्या बुढ़ापे की विद्या थी जिसमें कोई ताकत या नई बाते सोचने और करने का माद्दा नही रह गया था। पश्चिम में विद्या कम थी लेकिन वह नई थी और उसमें नई बाते सोचने और करने की ताक़त थी और थोडे ही दिनो बाद यह ताकत खूबसूरत चीजो और रचनाओं के रूप में खिल उठनेवाली थी।

पूर्वी साम्राज्य में, रोम की तरह सम्राट और पोप में संघर्ष नही था। वहाँ सम्राट सर्व-शक्तिमान था और पूरी तरह स्वेच्छाचारी था। किसीकी अजादी का सवाल ही नहीं था। राजसिंहासन सबसे ज्यादा ताकतवर या सबसे ज्यादा सिद्धान्तहीन आदमी के लिए एक भेंट थी। हत्या और कपट से या मारकाट के बल पर लोग राजगद्दी हासिल कर लेते थे और जनता भेंड-बकरियो की तरह उनके हुक्मो को मानती रहती थी। उसको इस बात में कोई दिलचस्पी न थी कि कौन उस पर राज्य करता है।

पूर्वी साम्राज्य योरप के फाटक पर एक द्वारपाल की तरह खड़ा था। वह एशियाई हमलो से उसकी रक्षा करता था। कई सौ बरसो तक वह इसमें सफल होता रहा।

कुस्तुन्तुनिया को अरबवाले नही लेसके। सेलजूक तुर्क भी, हालाकि वे उसके बहुत नजदीक पहुँच गये थे, उसे नही लेसके। मंगोल भी इसके पास से होते हुए उत्तर रूस की तरफ निकल गये। अन्त में उस्मानी तुर्क आये और १४५३ ई० में कुस्तुन्तुनिया का शाही नगर उनके हाथ में आगया। इस नगर के पतन के साथ ही पूर्वी रोमन साम्राज्य का भी खातमा होगया।

: ६४ :

योरप के नगरों का अभ्युदय

२१ जून, १९३२

क्रूसेडों का जमाना, योरप में, श्रद्धा, सामूहिक आकांक्षा और विश्वास का जमाना था। जनता अपनी आये दिन की मुसीबतो से शान्ति पाने के लिए इसी श्रद्धा और विश्वास का सहारा लेती थी। उस समय विज्ञान नही था और विद्या भी बहुत कम थी क्योंकि जहाँ विश्वास का बोलबाला हो वहां विज्ञान और विद्या आसानी से फूल-फल नहीं सकते। विद्या और ज्ञान लोगो में सोचने और विचारने की ताकत पैदा कर देता है और शंका, कौतूहल और तर्क श्रद्धा के लिए कोई अच्छे साथी नही हो सकते। विज्ञान का रास्ता परख और खोज का रास्ता है। श्रद्धा का रास्ता यह नही है। आगे चलकर हम देखेंगे कि किस तरह यह श्रद्धा कमजोर पड़ गई और शंका का उदय हुआ।

लेकिन अभी तो जिस जमाने का हम जिक्र कर रहे है, उस समय श्रद्धा का जोर था और रोमन चर्च धर्म में श्रद्धा रखनेवालो का नेता बनकर अक्सर उनको चूसता रहता था। न जाने कितने हजार 'भक्त' फ़िलस्तीन मे धर्म-युद्ध करने के लिए भेजे गये जो कभी लौट कर नही आये। पोप ने योरप की उस ईसाई जनता या समूहो के खिलाफ भी क्रूसेड (धर्मयुद्ध) की घोषणा करनी शुरू करदी, जो सब बातो में उसका हुक्म मानने को तैयार नही था। पोप और चर्च ने 'डिसपेन्सेशन' और 'इंडलजेन्स' जारी कर या अक्सर उन्हे बेंचकर जनता के अंध-विश्वास का बेजा फ़ायदा उठाया। चर्च के किसी कानून या परिपाटी के भग करने की इजाजत को 'डिसपेन्सेशन' कहते थे। इस तरह जिन कानूनो को चर्च खुद बनाता था उन्हीं को खास मौको पर तोड़ने की इजाजत भी वह दे देता था। एसे नियमो के लिए ज्यादा दिनो तक लोगो के दिलो में इज्जत कायम नही रह सकती। 'इंडलजेंस' इस से भी बदतर चीज थी। रोमन चर्च के मुताबिक मृत्यु के बाद आत्मा 'परगेटरी'

नामक लोक में जाती है जो स्वर्ग और नरक के बीच में है। वहाँ पर इस दुनिया में किये हुए पापो के लिए ये आत्मायें यातना भोगा करती है; इसके बाद कहीं ये स्वर्ग को जाती है। पोप रुपया लेकर लोगो को अपना प्रतिज्ञा-पत्र दे देता था कि वे 'पेरगेटरी' से बचकर सीधे स्वर्ग को पहुँच जायँगे। इस तरह श्रद्धा के कारण चर्च भोले-भाले लोगो को लूटता था और जिन कामो को वह पाप समझता था उनसे भी पैसा पैदा कर लिया करता था। 'इंडलजेन्स' की बिक्री का रिवाज क्रूसेडो के कुछ दिन बाद शुरू हुआ। इससे बडी बदनामी फैली और बहुत से कारणो में एक कारण यह भी था जिससे लोग रोमन चर्च के खिलाफ हो गये।

यह ताज्जुब की बात है कि सीधे-सादे विश्वास और श्रद्धावाले लोग कैसी-कैसी बाते सरलता से मान लेते और सहन कर लेते है। यही वजह है कि कई देशो में धर्म एक बहुत बड़ा और बडे फायदे का रोजगार बन गया है। मन्दिरो के पुजारियों को देखो कि वे किस तरह भोले-भाले उपासको को मूँड़ने की कोशिश करते है। गंगा के घाटो पर जाओ; वहाँ तुम देखोगी कि पंडे किस तरह कुछ धार्मिक क्रियाओ को करने से तबतक इन्कार करते है, जबतक कि बेचारा ग़रीब देहाती इन्हे भेंट नही दे देता। कुटुम्ब में कुछ भी हो--चाहे बच्चा पैदा हुआ हो, शादी हो या गमी हो, पुरोहित बीच में जरूर आपड़ते है और पैसा चाहते है।

यह बात हर मजहब में है, फिर चाहे वह हिन्दू धर्म हो, चाहे ईसाई धर्म हो, चाहे इस्लाम हो या पारसी। हर मजहब का, श्रद्धालुओ के विश्वास से, पैसा पैदा करने का अपना अलग तरीका होता है। हिन्दू धर्म का तरीका बिलकुल साफ़ और खुला हुआ है। कहा जाता है कि इस्लाम में पुजारी या पुरोहित नहीं होते और पुराने जमाने में अपने अनुयायियो को धार्मिक लूट-खसोट से बचाने में इस बात से थोडी-बहुत मदद भी मिली। लेकिन बाद में खास तरह के व्यक्ति और वर्ग पैदा हो गये जो अपने को धर्म के मामलों की खासतौर पर जानकारी रखनेवाले कहने लगे जैसे आलिम, मौलवी, मुल्ला वगैरा। इन लोगो ने सीधे-सादे दीनदार मुसलमानो पर अपना रोब जमा लिया और उनको मूँड़ना शुरू कर दिया। जहाँ पर लम्बी दाढ़ी, चोटी, तिलक, फकीरी बाना या संन्यासी का गेरुआ या पीला कपड़ा पवित्रता की सनद समझा जाय, वहाँ जनता पर धाक जमाना कोई मुश्किल काम नहीं है।

यह देखकर हैरत होती है कि आदमी चतुर न होने पर भी धर्म के मामले में अंधविश्वास की वजह से कितनी दूर तक जाने को तैयार हो जाता है। शायद तुमने आगाखा का नाम सुना होगा। वह मुसलमानो के एक फिरके के प्रधान है और उनके बहुत से मालदार अनुयायी है। कहा जाता है कि पुराने जमाने के पोपों की तरह

वह आज भी धन लेकर 'इंडलजेन्स' या वैसी ही कोई चीज जारी किया करते है। लेकिन मालूम होता है कि आगाखां पोप से भी आगे बढ़ गये है। वह सचमुच फरिश्ता जिब्राईल या उसीके समान परलोक के किसी दूसरे ऊँचे अधिकारी के नाम एक पत्र लिख देते है जिसमें पत्र ले जानेवाले के साथ खास रिआयत करने का अनुरोध होता है। इस किस्म के पत्र के लिए निस्सन्देह बहुत बडी रकम देनी पड़ती है। मेरा खयाल है कि जब आदमी मर जाता है तब यह खत उसके कफन में रख दिया जाता है। जब ऐसी बातो के होते हुए भी धर्म की हस्ती बनी है तब समझना चाहिए कि उसका और श्रद्धा का लोगों पर कैसा अजीब असर है। फिर भी आगाखां खुद एक बहुत शरीफ आदमी है, और ज्यादातर पेरिस और लन्दन में रहा करते है और घुड़दौड़ के बडे शौकीन है।

अगर तुम अमेरिका जाओ, जो आज-कल सबसे आगे बढ़ा हुआ मुल्क है, तो तुम वहाँ भी देखोगी कि धर्म एक बहुत बडा रोजगार बन गया है, जो जनता के शोषण पर जीरहा है।

मै मध्य युग और श्रद्धा के जमानें से बहुत दूर भटक गया हूँ। हमें उस जमानें की तरफ फिर वापस चलना चाहिए। हम इस श्रद्धा को स्पष्ट और रचनात्मक रूप धारण करते हुए पाते हैं। ग्यारहवी-बारहवी सदियों में निर्माण का एक बड़ा ऊँचा जमाना आया। इसमें सारे पश्चिमी योरप में बडे-बडे गिरजे बन गये। एक ऐसी शिल्पकला का जन्म हुआ जैसी योरप में इसके पहले कभी नही दिखाई पडी थी। कारीगरी और हिकमत से गिरजो की भारी-भारी छतो का दबाव और बोझ इमारत के बाहर बने बडे-बडे पुश्तो पर बाँट दिया जाता था। गिरजे के भीतर पतले खम्भों को देखकर ताज्जुब होता है जो जाहिरा तौर पर ऊपर के भारी बोझ को सम्भाले हुए मालूम होते है। अरबी निर्माण-शैली की तरह इन गिरजों में भी नुकीले मेहराब होते थे। सारी इमारत के ऊपर आसमान तक पहुँचनेवाली एक मीनार होती थी। निर्माण की इस शैली को गॉथिक शैली कहते है जो योरप में फूली-फली। इसमें आश्चर्यजनक सुन्दरता थी और ऐसा मलूम होता है कि यह एक ऊँची उठती हुई श्रद्धा और आकांक्षा की प्रतिनिधि थी। सचमुच यह श्रद्धा के जमानें की नुमाइन्दा थी। ऐसी इमारतें केवल वही शिल्पकार और कारीगर बना सकते है जिन्हे अपने काम से प्रेम हो और जो एक बडे मकसद को पूरा करने के काम में आपस में सहयोग करें।

पश्चिमी योरप में इस गॉथिक शैली का विकास एक अदभुत् बात है। अव्यस्था, अराजकता, अज्ञान और असहिष्णुता के कीचड़ से यह एक खूबसूरत चीज पैदा

हुई—जैसे स्वर्ग की ओर उठती हुई प्रार्थना हो। फ्रांस, उत्तरी इटली, जर्मनी और इंग्लैंड में गॉथिक शैली के बडे-बडे गिरजे करीब-करीब एक ही साथ बने। यह कोई ठीक-ठीक नहीं जानता कि उनकी शुरूआत कैसे हुई; और न कोई उनके बनानेवालों के नाम ही जानता है। ये रचनायें जनता की सम्मिलित प्रेरणा और परिश्रम को जाहिर करती है, किसी एक शिल्पकार की नहीं। इन गिरजो की दूसरी खासियत उनकी खिड़कियो के कलईदार रंगीन शीशे थे। इन खिड़कियों पर खूबसूरत रंगो में अच्छी-अच्छी तस्वीरें बनी होती थीं और उनमें से होकर जो रोशनी आती वह गिरजो से पैदा होने वाले पवित्र और आतंक के भाव को बढ़ा देती थी।

थोडे दिन हुए मैंने अपने एक पत्र में योरप का मुकाबिला एशिया से किया था। उस वक्त हमने देखा था कि एशिया योरप से संस्कृति और सभ्यता में कही ज्यादा बढ़ा हुआ था। फिर भी हिन्दुस्तान में रचनात्मक काम बहुत ज्यादा नही होरहा था। मै यह भी कह चुका हूँ कि नई बाते सोचना और पैदा करना ही जिंदगी की निशानी है। अर्धसभ्य योरप से पैदा होनेवाली गॉथिक शिल्पकला इस बात का सबूत है कि उसमें काफी जिंदगी मौजूद थी। बदअमनी और सभ्यता की पिछडी हुई स्थिति में पैदा होनेवाली कठिनाइयों के होते हुए भी यह जिन्दगी फूट निकली और उसने अपने को जाहिर करने के लिए रास्ता ढूंढ़ लिया। गॉथिक इमारते इस बात को जाहिर करती है। आगे चलकर हम देखेंगे कि यही जिन्दगी का प्रवाह चित्रकला, स्थापत्य (पत्थर से बननेवाले मकानो और मूर्तियो की) कला और साहस के खतरनाक कामों के प्रति प्रेम वगैरा में भी फैल गया।

तुमने इन गॉथिक गिरजो में से कुछ को देखा है। मुझे मालूम नहीं कि तुम्हे उनकी याद है या नहीं। तुमने जर्मनी में कोलोन का सुन्दर गिरजा देखा था। इटली के मिलन शहर में एक बहुत खूबसूरत गॉथिक गिरजा है। एक सुन्दर गिरजा फ्रांस में चारत्रे नामक जगह पर भी है। लेकिन मै सबके नाम नही गिना सकता। ये गॉथिक गिरजे जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड और उत्तरी इटली में फैले हुए है। यह एक ताज्जुब की बात है कि खास रोम में गॉथिक शैली की कोई मार्के की इमारत नहीं है।

ग्यारहवीं और बारहवीं सदियो के इस बडे निर्माण-युग में गैर-गॉथिक शैली के गिरजे भी बनाये गये जैसे पेरिस में नात्रदेम और शायद वेनिस का सेन्ट मार्क। सेन्ट मार्क, जिसे तुमने देखा है, बिजेण्टियन शैली का एक नमूना है। इसमें पच्चीकारी का बहुत ही अच्छा काम है।

श्रद्धा का जमाना ढल गया और इसके साथ गिरजो का बनना भी कम हो गया। आदमियों के ख़याल दूसरी तरफ़ फिर गये। लोग अपने व्यापार, रोज़गार

और शहरी ज़िंदगी पर ग़ौर करने लगे। लोगों ने गिरजों की जगह शहर की दीवारें और दूसरी इमारतें बनवानी शुरू की। इस तरह हम पन्द्रहवी सदी की शुरूआत से सुन्दर गॉथिक टाउनहाल या पंचायती हाल, उत्तर और पश्चिम योरप भर में फैले हुए देखते है। लन्दन में पार्लमेण्ट की इमारते गॉथिक शैली की है लेकिन मैं यह नहीं जानता कि वे कब बनीं। इतना मुझे खयाल है कि पहले की गॉथिक इमारत जल गई थी और उसके बाद गॉथिक शैली पर ही एक दूसरी इमारत बनाई गई।

ग्यारहवीं और बारहवीं सदी के ये बडे-बडे गॉथिक गिरजे शहरों और कस्बो में ही बने। पुराने शहर ऊपर उठ रहे थे और नये तरक्की कर रहे थे। सारे योरप में तब्दीली होरही थी और सभी जगह शहरी ज़िंदगी बाढ़ पर थी। रोमन साम्राज्य के पुराने जमाने में भूमध्य सागर के किनारे चारो तरफ बडे-बडे शहर थे लेकिन जब रोम और यूनानी रोमन साम्राज्य का पतन हुआ, ये शहर भी उजड़ गये। सिवाय कुस्तुन्तुनिया के मुश्किल से योरप में कोई बड़ा शहर पाया जाता था। हाँ, स्पेन की बात जुदी थी जहाँ अरबो की हुकूमत थी। एशिया में हिन्दुस्तान, चीन और अरबी दुनिया में बडे-बडे शहर इस जमाने में मौजूद थे लेकिन योरप में यह बात नहीं थी। मालूम होता है, सभ्यता और संस्कृति साथ-साथ चलते है और योरप में रोमन व्यवस्था के टूट जाने के बहुत दिनो बाद तक इनमें से कोई चीज़ नहीं पाई जाती थी।

लेकिन अब नागरिक जीवन का फिर से उत्थान हो रहा था। इटली में ख़ास तौर से ये शहर बढ़ रहे थे। सम्राट और पवित्र रोमन साम्राज्य की आँखो में ये खटकते थे क्योंकि ये अपने कुछ अधिकारो और आजादी से हाथ धोने को तैयार नहीं थे। इटली में और दूसरी जगहो में ये शहर व्यापारी और मध्य वर्ग की बढ़ती हुई ताकत के सुबूत थे।

वेनिस, जो एड्रियाटिक समुद्र में सबसे जबर्दस्त था, आजाद प्रजातंत्र होगया था। इसके बीच फैली इसकी चक्करदार नहरो में समुद्र का पानी आता है और निकल जाता है, जिससे आज यह बड़ा खूबसूरत हो गया है; लेकिन कहते है कि शहर बनने और बसने के पहले यहाँ दलदल और तराई की जमीन थी। जब एटिला हूण तलवार और आग लेकर एक्यूलिया में आया तो कुछ लोग भागकर वेनिस की तराई में छिप गये। इन्ही लोगो ने खुद वेनिस का शहर बसाया और चूंकि यह पूर्वी रोमन साम्राज्य और पश्चिमी रोमन साम्राज्य के बीच में पड़ता था इसलिए आजाद बने रहे। हिन्दुस्तान से और पूरब के दूसरे मुल्को के साथ वेनिस का बड़ा व्यापार था। और इसके साथ दौलत भी आती थी। वेनिस ने अपनी जल-सेना बनाली और एक बडी

समुद्री ताकत वन गया। यह अमीरों का प्रजातंत्र था, जिसमें एक अध्यक्ष या राष्ट्र-पति हुआ करता था। उसे डॉजे कहते थे। जव नेपोलियन वेनिस में विजेता की हैसियत से १७९७ ई० में दाखिल हुआ तबतक यह प्रजातंत्र कायम रहा। कहते हैं कि जिस दिन नेपोलियन वहाँ दाखिल हुआ, वहाँ का डॉजे, जो वहुत बुड्ढा आदमी था, मर गया। वह वेनिस का आखिरी डॉजे था।

इटली की दूसरी तरफ जिनेवा था। यह भी समुद्री मुसाफिरों का एक वड़ा व्यापारी शहर था और वेनिस से होड़ करता था। इन दोनो शहरों के बीच में वोलोना का विश्व-विद्यालय था और पीसा, वेरोना और फ्लोरेंस के नगर थे। यह वही फ्लोरेंस था जहाँ बहुत जल्द वडे-वडे कलाकार पैदा होने वाले थे और जो मशहूर मेडिसी राज-घराने की मातहती में तेजी से चमकनेवाला था। उत्तर इटली में मिलन का शहर एक महत्वपूर्ण औद्योगिक केन्द्र हो गया था और दक्षिण में नेपल्स भी बढ़ रहा था।

फ्रांस में पेरिस, जिसे ह्यू कैपेट ने अपनी राजधानी बनाई थी, फ्रांस की तरक्की के साथ बढ़ता जाता था। पेरिस हमेशा से ही फ्रांस का मर्मस्थल और आत्मा का केन्द्र रहा है। दूसरे देशो में दूसरी राजधानियाँ हुई है लेकिन पिछले एक हजार वर्ष में पेरिस फ्रांस के जीवन पर जितना हावी रहा है, उतनी कोई दूसरी राजधानी किसी दूसरे देश पर नहीं रही। फ्रांस में दूसरे शहर भी मशहूर हुए—जैसे लायन्स, मार्सेलीज (यह बहुत पुराना बन्दरगाह था) आर्लियन्स, वोर्डियो वुलोन वगैरा।

इटली की तरह जर्मनी में भी स्वतत्र शहरों की तरक्की, खास तौरपर १३ वीं और १४ वीं सदी में, ध्यान देने के काविल है। इन शहरो की आवादी वढ़ रही थी और ज्यों-ज्यों उनकी ताकत और दौलत बढ़ती गई, वे बहादुर होते गये और उन्होने सामन्तो से लड़ाई शुरू करदी। सम्राट भी इनको प्रोत्साहन देता था क्योंकि वह इनके जरिये वडे-वडे सरदारों को दवाये रखना चाहता था। इन शहरों ने मिलकर अपनी हिफाजत के लिए वडी-वडी व्यापारिक पंचायते और संघ वना लिये। कभी-कभी ये संघ सरदारो के संघ के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर देते थे। जर्मनी के उन्नतिशील नगरो में से कुछ के नाम ये हैं—हैम्वर्ग, व्रीमेन, कोलोन फ्रेंकफुर्त, म्यूनिच, डैनजिग, न्यूरेम्वर्ग, वेसलाउ।

निदरलैंड्स में, जिसे आज हालैंड और वेलजियम कहते हैं, एण्टवर्प, ब्रूजेज और घेण्ट नाम के शहर थे; ये व्यापारिक शहर थे और इनका व्यापार वरावर वढ़ रहा था। इंग्लैण्ड में लन्दन तो था लेकिन वह योरप के महत्वपूर्ण शहरो से तिजारत, दौलत या विस्तार में मुकाविला नहीं कर सकता था। आक्सफर्ड और केम्ब्रिज के विश्वविद्यालय विद्या के केन्द्र की हैसियत से महत्वपूर्ण वनते जाते थे। योरप के

पूरब में वियेना का शहर था, जो योरप के सबसे पुराने शहरों में से एक है। रूस में मास्को, कीफ और नोवगोरॉड बडे शहर थे।

ये नये शहर, या इनमें से ज्यादातर शहर, पुराने तरीके के शाही नगरों से बिल्कुल अलग चीज थे। योरप के इन बढ़नेवाले शहरों के महत्व की वजह कोई सम्राट या बादशाह नहीं था बल्कि वह तिजारत थी, जिनपर इनका कब्जा था। इसलिए इनकी ताकत बडे सामन्तों से नहीं थी, बल्कि व्यापारीवर्ग से थी। ये व्यापारिक शहर कहलाते थे। शहरो का तरक़्क़ी करना गोया मध्यमवर्ग यानी बुर्जुआवर्ग का तरक्की करना है। यह मध्यमवर्ग, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, अपनी ताकत बढ़ाता रहा। यहाँ तक कि इसने बादशाहो और सरदारो को ललकार दिया और उनसे हुकूमत छीन ली। लेकिन यह बात तो उस जमाने के बहुत दिनों बाद हुई है, जिसपर हम इस वक़्त विचार कर रहे है।

मैने अभी कहा है कि शहर और सभ्यता साथ-साथ चलते है। शहरो की तरक्की से विद्या और आजादी की भावना बढ़ती है। जो लोग देहातो में रहते है वे बहुत दूर-दूर बसे होते है और अक्सर अन्ध विश्वासी हुआ करते है। वे प्रकृति की दया पर निर्भर करते हैं। उन्हे बडी सख्त मेहनत करनी पड़ती है; बहुत कम फुरसत मिलती है और अपने मालिकों के हुक्म के खिलाफ चलने की हिम्मत नही होती। शहरो में लोग एक बहुत बडी तादाद में साथ-साथ रहते है। इन्हे ज्यादा सभ्य जिन्दगी बिताने का, पढ़ने का, बहस-मुबाहिसा करनें, और आलोचना करने का, और विचार करने का मौका मिलता है।

इस तरह राजनैतिक हुकूमत के ख़िलाफ़, जिसके नुमाइन्दे सरदार और सामन्त होते थे और आध्यात्मिक सत्ता के ख़िलाफ़, जिसका नुमाइन्दा चर्च था, आजादी की भावना बढ़ने लगी। श्रद्धा और विश्वास का जमाना खतम हुआ और शंका की शुरूआत हुई। अब लोग चर्च और पोप की हुकूमत को आँख बन्द करके मानने को तैयार नहीं थे। हमने देखा है कि सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय ने पोप के साथ कैसा सलूक किया था। आगे हम देखेंगे कि मुखालफत की यह भावना किस तरह बढ़ती गई।

बारहवीं सदी के बाद विद्या की भी फिर से तरक्की होने लगी। योरप में पढ़े-लिखो की आम जबान लैटिन थी और लोग ज्ञान की तलाश में एक विश्वविद्यालय से दूसरे को जाया करते थे। दान्ते अलीघेरी, जो इटली का बड़ा कवि हुआ है, १२६५ ई० में पैदा हुआ था। पेट्रार्क, जो इटली का दूसरा बड़ा कवि था, १३०४ ई० में पैदा हुआ था। थोडे दिन बाद चासर, जो प्रसिद्ध अंग्रेज कवियो में सबसे पहले हुआ, इंग्लैण्ड में पैदा हुआ।

लेकिन विद्या की पुनर्जागृति से ज्यादा दिलचस्प चीज वैज्ञानिक भावना की हलकी शुरूआत थी। बाद के वर्षों में योरप में यह भावना बहुत बढ़ी। तुम्हें याद होगा, मैंने तुम्हें बताया था कि अरवो में यह भावना पाई जाती थी और इन लोगों ने इसके मुताबिक काम भी किया था। मध्ययुग में, योरप में, प्रयोग और खुले दिमाग साथ ऐसे अन्वेषण की भावना का जिन्दा रह सकना मुश्किल था। पादरियों का गिरोह इसको नहीं सह सकता था। लेकिन पादरी समुदाय के बावजूद यह भावना प्रकट होने लगी। योरप में इस वक्त एक अंग्रेज ऐसा हुआ, जिसमें सबसे पहले यह वैज्ञानिक भावना जाहिर हुई। उसका नाम रोजर वेकन था। वह अक्सफर्ड में तेरहवीं सदी में रहता था।

: ६५ :

हिन्दुस्तान पर अफ़ग़ानों का हमला

२३ जून, १९३२

कल तुम्हारे खत में खलल पड़ गया। जब लिखने बैठा तो यह भूल गया कि मैं जेल में हूँ और मेरे चारो तरफ क्या-क्या चीजें है। ख्यालों की तेज रफ़्तार के साथ मैं मध्य युग की दुनिया में पहुँच गया लेकिन उससे ज्यादा तेजी के साथ उस जमाने से मौजूदा दुनिया में खींच लाया गया और मुझे, किसी क़दर तकलीफ़ के साथ, यह बात याद दिला दी गई कि मैं जेल में हूँ। मुझे यह बताया गया कि ऊपर से हुक्म आया है कि ममी, और दिद्दाजी[1] के साथ महीने भर तक मुलाकात न होने पायगी। मुलाकात बंद होने की कोई वजह मुझे नहीं बताई गई। कैदी को वजह क्यो बताई जाय? दस दिन से वे देहरादून में ठहरी हुई है और मुलाकात की अगली बारी का इन्तिजार कर रही थीं पर अब उनका ठहरना बिलकुल बेकार होगया और अब उन्हें वापस जाना होगा। यह है वह शराफत, जो हमारे साथ की जाती है। खैर! हमें परवाह न करनी चाहिए। ये तो रोजमर्रा की बातें है। कैदखाना बहरहाल कैदखाना है। हमें यह न भूल जाना चाहिए।

इस कठोर जागरण के बाद मेरे लिए यह मुमकिन नहीं था कि मैं वर्तमान को भूलकर गुजरे हुए जमाने का ख्याल करता। लेकिन रात भर के आराम के बाद मैं अब ठीक हूँ; इसलिए फिर से शुरू करता हूँ।

अब हम हिन्दुस्तान में वापस लौट आवेगे। बहुत दिनो तक हम इस मुल्क से दूर रहे। मध्य युग के अंधेरे से बाहर निकलने लिए जिस वक्त योरप कोशिश कर रहा

१ इन्दिरा की दादी श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू

था, जब योरप के लोग सामन्त प्रथा, चारो तरफ की बद-इंतजामी और कुशासन के बोझ में पिसे जारहे थे, तब हिन्दुस्तान की क्या हालत थी ? जब पोप और सम्राट् एक-दूसरे से लड़ रहे थे, योरप के मुल्क एक शक्ल पकड़ते जारहे थे और क्रूसेडो के दरमियान इस्लाम और ईसाई प्रभुत्व से लिए लड़ रहे थे, तब हिन्दुस्तान में क्या हो रहा था ?

हम मध्य युग की शुरूआत के हिन्दुस्तान की एक झलक देख चुके हैं। हमने देखा है कि सुलतान महमूद उत्तर पश्चिम गजनी से उत्तरी हिन्दुस्तान के हरे-भरे मैदानों पर कैसे टूटा, लूटमार की और बरबादी करके वापस चला गया। महमूद के हमलो ने, हालाँकि वे बडे जबर्दस्त थे, हिन्दुस्तान में कोई बडी या ज्यादा दिनों तक टिकनेवाली तब्दीली पैदा नही की। इनसे मुल्क को, खासकर उत्तर को, बड़ा धक्का पहुँचा। महमूद गजनवी ने बहुत-सी खूबसूरत इमारतें और यादगारें नष्ट कर डालीं। लेकिन उसके (गजनी) सम्राज्य में सिर्फ सिन्ध और पंजाब का कुछ हिस्सा बाकी रहा। उत्तर के बाकी हिस्से बहुत जल्द निकल गये। दक्षिण और बंगाल से तो इन हमलों का कोई सम्बन्ध ही न था। महमूद के बाद डेढ सौ से भी ज्यादा वर्षो तक इस्लाम या मुसलमानों की विजय की बाढ़ हिन्दुस्तान में कुछ भी आगे न बढ़ सकी।

बारहवीं सदी के अखीर में, ११८६ ई० के करीब, उत्तर-पश्चिम से हमलो की एक नई लहर आई। अफगानिस्तान में एक नया सरदार पैदा हुआ। उसने गजनी पर कब्जा कर लिया और गजनवी साम्राज्य को खतम कर दिया। उसका नाम शहाबुद्दीन गोरी (गोर नाम के अफगानिस्तान के एक छोटे-से कसबे का रहनेवाला) था। शहाबुद्दीन लाहौर आया और उसपर कब्जा कर लिया। इसके बाद वह दिल्ली आया। पृथ्वीराज चौहान दिल्ली का राजा था; उसके झंडे के नीचे उत्तर हिन्दुस्तान के बहुत-से सरदार शहाबुद्दीन के खिलाफ लडे और उसको बुरी तरह हराया लेकिन यह हार थोडे ही दिनो की रही। शहाबुद्दीन दूसरे साल बहुत बडी फ़ौज लेकर वापस आया और इसबार उसने पृथ्वीराज को हराकर कत्ल कर दिया।

पृथ्वीराज अभी तक एक लोकप्रिय वीर नायक समझा जाता है और उसके बारे में बहुत से गाने और किस्से मिलते है। इनमें से सबसे मशहूर किस्सा कन्नौज के राजा जयचन्द की लड़की को भगा लेजाने का है। लेकिन इस घटना ने पृथ्वीराज को बहुत नुकसान पहुँचाया। इसकी वजह से उसके कितने ही सूरमा अनुयायियो की जानें गईं और एक शक्तिशाली राजा की दुश्मनी उसने मोल लेली। इसकी वजह से आपसी झगडो की शुरुआत हुई और हमला करनेवाले के लिए जीतना आसान हो गया।

इस तरह ११९२ ई० में शहाबुद्दीन ने पहली बार बडी विजय हासिल की, जिसकी वजह से हिन्दुस्तान में मुसलमानो की हकूमत क़ायम हुई। धीरे-धीरे हमला करने वाले पूरब और दक्षिण की तरफ़ फैलने लगे। आगे के १५० वर्षों के अन्दर, यानी १३४० तक, मुसलमानों की हुकूमत दक्षिण के वडे भाग पर फैल चुकी थी। इसके बाद दक्षिण में यह सिकुड़ने लगी। नये-नये राज्य पैदा हुए—कुछ मुसलमान और कुछ हिन्दू। इन सब में विजयनगर का हिन्दू साम्राज्य नोट करने लायक है। दो सौ वरसो तक इस्लाम, एक हद तक असफल होता रहा। फिर जब सोलहवीं सदी के बीच में अकवर महान् आया तव कहीं यह करीब-करीब सारे हिन्दुस्तान में फैल गया।

मुसलमान हमला करनेवालो के हिन्दुस्तान में आने की वजह से वहुत से परिणाम हुए। याद रखो कि ये हमला करनेवाले अफ़गान थे। ये अरब, ईरानी या पश्चिमी एशिया के उच्च कोटि के सभ्य मुसलमान न थे। सभ्यता के ख़याल से अफ़गान हिन्दुस्तानियों से पीछे थे लेकिन ताकत और जोश से भरे हुए थे और उस वक़्त के हिन्दुस्तान के मुक़ाबिले में कहीं ज्यादा जानदार थे। हिन्दुस्तान गहरे दलदल में फँसा हुआ था। उसमें तब्दीली और तरक्की का ख़याल बहुत कम रह गया था। वह पुराने तरीको और रिवाजों से चिपका हुआ था और उनमें सुधार करने या उन्हें वेहतर बनाने की कोशिश नहीं करता था। युद्ध के तौर-तरीको में भी हिन्दुस्तान पीछे था और अफ़गान लोग कही अच्छे ढंग पर संगठित थे। इसलिए साहस और त्याग के होने पर भी पुराना हिन्दुस्तान मुसलमान आक्रमणकारियों के सामने झुक गया।

ये मुसलमान बडे खौफ़नाक और ज़ालिम थे। ये एक कठोर देश से आये थे, जहाँ 'मुलायमियत' की ज्यादा कद्र नहीं थी, इसके अलावा दूसरी बात यह थी कि वे एक नये और हारे हुए मुल्क में थे और चारो तरफ़ दुश्मनो से घिरे हुए थे। ये दुश्मन किसी वक़्त बलवा कर सकते थे। इन लोगों को बलवे का डर बराबर रहा होगा और इस डर की वजह से अक्सर आदमी भयंकर और ज़ालिम बन जाता है। इसलिए जनता को पस्त कर देने के लिए कत्लेआम होते थे। इसमें एक मुसलमान के एक हिन्दू को उसके मजहब के लिए कत्ल करने की कोई बात न थी; वहाँ तो हारे हुए हिन्दुस्तानियों की आत्मा को जीते हुए विदेशियो द्वारा कुचल दिये जाने का सवाल था। इन जुल्मो और वेरहमी से भरे हुए कामो का खुलासा करते वक़्त हमेशा मजहब का नाम लिया जाता है। लेकिन यह ग़लत बात है। कभी-कभी मजहब का बहाना जरूर लिया जाता था, लेकिन असली वजह राजनैतिक और सामाजिक थी। मध्य एशिया के लोग, जिन्होने हिन्दुस्तान पर हमला किया, अपने मुल्क में भी वैसे ही वेरहम और खूँखार होते थे और मुसलमान

होने के बहुत पहले भी वे इसी तरह के थे। एक नया मुल्क जीतने के बाद उसको कब्जे में रखने का सिर्फ एक ही तरीका उन्हे मालूम था और वह ख़ौफ़ का तरीका था।

हम देखते है कि धीरे-धीरे हिन्दुस्तान ने इन खूँखार सिपाहियो को मुलायम कर दिया और उन्हे सभ्यता सिखा दी। वे समझने लगे कि हम विदेशी आक्रमणकारी नही है, बल्कि हिन्दुस्तानी है। उन्होने इस देश की स्त्रियो के साथ शादी करनी शुरू करदी और हमला करनेवाले और जिन पर हमला किया गया था, उनके बीच का फर्क कम होता गया।

तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि महमूद गजनी के पास, जो उत्तर हिन्दुस्तान को बरबाद करनेवालों में सबसे बड़ा हुआ है और जो 'काफिरो' के खिलाफ मुसलमानो का नेता समझा जाता था, एक हिन्दू फौज थी, जिसका एक हिन्दू सेनापति था। इस सेनापति का नाम तिलक था। वह तिलक और उसकी फौज को अपने साथ गजनी लेआया था और उसकी मदद से विद्रोही मुसलमानों को नष्ट किया करता था। इस तरह तुम देखोगी कि महमूद का उद्देश्य नये मुल्को को फतह करना था। जैसे हिन्दुस्तान में वह अपने मुसलमान सिपाहियों की मदद से बुतपरस्तो को कत्ल करने के लिए तैयार था, ठीक वैसे ही मध्य एशिया में हिन्दू सिपाहियो के जरिये मुसलमानो को कत्ल करने के लिए तैयार रहता था।

इस्लाम ने हिन्दुस्तान को हिला दिया। इसने ऐसे समाज में, जो गिर रहा था, तरक्की के लिए जोश और जिन्दगी भरदी। हिन्दू कला, जो दूषित और पतित होगई थी, और जो तफसील, नकल और पुनरुक्ति की वजह से बोझीली हो चली थी, उत्तर में तब्दील होने लगी। एक नई कला पैदा हो गई, जिसे हिन्दुस्तानी-मुस्लिम कला कहना चाहिए और जिसमें उत्साह था और जिन्दगी थी। पुराने हिन्दुस्तानी कारीगरों को मुसलमानो के लायें हुए नये ख़यालात से हिम्मत और रवानी यानी स्फूर्ति मिली। मुसलमान धर्म और ख़यालात की सादगी ने उस जमाने की शिल्पकारी पर असर डाला और उसमें श्रेष्ठता और सादगी पैदा कर दी।

मुस्लिम हमलो का पहला असर यहाँ के लोगो पर यह हुआ कि बहुत-से लोग दक्षिण चले गये। महमूद के हमलो और क़त्लेआम के बाद उत्तरी भारत के लोग बर्बरता, बेरहमी और विनाश को इस्लाम का अंग समझने लगे। इसलिए जब फिर हमला हुआ और उसका रोकना नामुमकिन हो गया तो कुशल शिल्पकारों और विद्वानो के झुण्ड के झुण्ड दक्षिण भारत में जा बसे। इससे दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति को बडी ताकत मिली।

दक्षिण भारत का कुछ हाल मै पहले तुम्हे बता चुका हूँ। मैने तुम्हे बताया था

कि कैसे छठी सदी के बीच से लेकर दो सौ वर्ष तक पश्चिम और मध्य भारत (महाराष्ट्र देश) में चालुक्यो की ताकत सबसे ज्यादा प्रभावशाली हो गई थी। ह्यूएनत्सांग पुलकेशिन् द्वितीय से मिला था, जो उस समय राजा था। बाद में राष्ट्रकूट आये, जिन्होने चालुक्यो को हरा दिया। आठवी सदी से दसवीं सदी के अख़ीर तक, यानी २०० वर्ष तक, दक्षिण में राष्ट्रकूटो की धाक जमी रही। सिन्ध के अरब शासकों के साथ राष्ट्रकूटो का बड़ा अच्छा ताल्लुक था। उनके राज्य में बहुतेरे अरब व्यापारी और मुसाफिर आते थे। ऐसे ही एक मुसाफिर ने अपने यात्रा-वर्णन में वहाँका कुछ हाल लिखा है। उसने लिखा है कि राष्ट्रकूटों का उस समय का राजा संसार के चार सबसे बडे सम्राटो में से एक था। उसकी राय में बग़दाद के ख़लीफा और चीन और रूम (कुस्तुन्तुनिया) के सम्राट संसार के दूसरे तीन बडे सम्राट थे। यह बयान दिलचस्प है, क्योकि इससे उस समय के एशिया में फैले लोकमत का हमें पता चलता है। किसी अरब मुसाफिर का राष्ट्रकूटो के राज्य का ख़लीफा के साम्राज्य से मुकाबिला करना, जबकि बग़दाद अपनी शान और दबदबे की चोटी पर रहा होगा, इस बात का सबूत है कि महाराष्ट्र का यह राज्य बहुत मजबूत और ताकतवर रहा होगा।

दसवी सदी, यानी ९७३ ई०, में राष्ट्रकूटो की जगह पर फिर चालुक्यों का राज्य हो गया और ये लोग २०० से भी ज्यादा बरसो, यानी ११९० ई०, तक राज्य करते रहे। इन चालुक्य राजाओ में से एक के बारे में एक लम्बी कविता मिलती है और इस कविता में बताया गया है कि उसकी स्त्री नें उसे स्वयंवर में कैसे चुना था। आर्यो की यह पुरानी रस्म इतने दिनो तक कायम थी।

हिन्दुस्तान में दक्षिण और पूर्व की तरफ़ और आगे बढ़कर तमिल देश था। यहाँ तीसरी सदी से नवीं सदी तक, यानी करीब ६०० वर्षो तक, पल्लवों का राज्य रहा और छठी सदी के मध्य से लेकर २०० वर्षों तक वे दक्षिण पर हावी रहे। तुम्हें याद होगा कि इन्हीं पल्लवो ने मलेशिया और पूर्वी द्वीपो को बसाने के लिए बेडे भेजे थे। पल्लव राज्य की राजधानी कांची या कांजीवरम् थी। यह उस वक्त एक ख़ूबसूरत शहर था और आज भी यह अपने नगर बसाने के सुन्दर और बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग के लिए मशहूर है।

पल्लवो की जगह पर दसवी सदी को शुरू में चोल लोग आगये। मैं तुम्हे राजराजा और राजेन्द्र के चोल साम्राज्य के बारे में कुछ बता चुका हूँ, जिसने बडे-बडे जहाज़ी बेडे बनवाये थे और लंका, बरमा और बंगाल जीतने के लिए निकला था। उस वक़्त की उनकी पंचायत-प्रथा, जिसमें हरेक गाँव में पंचायत के लिए चुनाव

होता था, खासतौर पर नोट करने लायक है। इस प्रथा की बुनियाद नीचे से शुरू होती थी। गाँव की पंचायते अनेक कमेटियाँ बनाती थी, और जुदे-जुदे कामों की देख-रेख करती थी और जिला की पंचायते भी चुनती थीं। फिर ये जिले की पंचायते सूबे की पंचायते बनाती। मैंने अकसर इन खतो में इस ग्राम-पंचायत-प्रणाली पर जोर दिया है, क्योंकि यही प्राचीन आर्य राज-व्यवस्था की बुनियाद थी।

जिस वक्त उत्तरी भारत पर अफ़गानो ने हमला किया, दक्षिण भारत में चोल लोगो का बोलबाला था। कुछ दिन के बाद ये गिरने लगे और एक छोटा-सा राज्य, जो पहले इनकी मातहती में था, स्वतन्त्र होगया और उसकी ताकत बढ़ने लगी। यह पांड्यो का राज्य था। इसकी राजधानी मदुरा थी और इसका बन्दरगाह कायल था। वेनिस का मशहूर यात्री मार्कोपोलो, जिसके बारे में मैं बाद को कुछ लिखूँगा, दो दफ़ा कायल गया था—एक दफ़ा ई० सन् १२८८ में और दूसरी दफा ई० सन् १२९३ में। इसने लिखा है कि यह बहुत बड़ा और भव्य शहर है, अरब और चीन के जहाजो से भरा रहता है और व्यापार के कारण गूँजता रहता है। मार्को खुद चीन से जहाज पर आया था।

मार्को ने यह भी लिखा है कि हिन्दुस्तान के पूर्वी समुद्र तट पर 'मकडी के जाले की तरह महीन' मलमल बनती थी। मार्को एक महिला, रुद्रमणी देवी का भी जिक्र करता है, जो तैलंग (तेलगू) देश की रानी थी। इसने ४० वर्ष तक हुकूमत की। मार्को ने इसकी बडी तारीफ की है।

मार्को ने एक दूसरी दिलचस्प बात हमें यह बताई है कि अरबस्तान और ईरान से समुद्र के जरिये दक्षिण हिन्दुस्तान में घोडे खूब आया करते थे। दक्षिण की आबहवा घोडो की नस्ल के लिए अच्छी नहीं थी। कहते है, हिन्दुस्तान पर हमला करनेवाले मुसलमान इसीलिए बेहतर सिपाही होते थे कि उनके पास ज्यादा अच्छे घोडे हुआ करते थे। एशिया की वे जगहे, जहाँ बढ़िया घोडे पैदा होते है, मुसलमानो के ही कब्जे में थी। इस तरह तेरहवी सदी में जब चोल राज्य का पतन हुआ, पाण्ड्य राज्य एक ताकतवर तमिल राज्य था। चौदहवी सदी के शुरू में, यानी १३१० ई० में, मुसलमानो के हमले की नोक दक्षिण तक पहुँच गई, यह नोक पांड्य राज्य के अन्दर तक घुस गई और यह राज्य तेजी के साथ गिर गया।

मैंने इस खत में दक्षिण हिन्दुस्तान के इतिहास पर एक सरसरी नजर डाली है और शायद, जो कुछ पहले कह चुका हूँ उसे दुहरा दिया है। लेकिन यह विषय जरा पेचीदा है और पल्लव, चालुक्य और चोल इन शब्दो से लोग भ्रम में फँस जाते हैं और अक्सर एक-दूसरे को मिला देते हैं। लेकिन अगर तुम सबको लेकर इसपर नजर

डालोगी तो अपने मन में इसे इतिहास के लम्बे चौडे ढांचे के अंदर मुनासिब स्थान दे सकोगी। तुम्हे याद होगा कि दक्षिण के छोटे से कोने को छोड़कर अशोक सारे हिन्दुस्तान पर, अफ़ग़ानिस्तान पर और मध्य एशिया के एक हिस्से पर राज्य करता था। उसके बाद दक्षिण में आन्ध्रों की ताक़त बढ़ी, जो ठेठ दक्षिण तक फैल गये और करीब ४०० वर्षों तक हुकूमत करते रहे। उसी वक्त के करीब कुशन लोगो का सरहदी साम्राज्य उत्तर में फैल गया था। जब तैलंगी आन्ध्रों का पतन हुआ, पूर्वी समुद्र तट पर और दक्षिण में तमिल पल्लव लोग उठे और बहुत दिनो तक उन्होने राज्य किया। इन लोगो ने मलेशिया में बस्तियाँ बसाई और ६०० वर्ष तक राज्य किया जिसके बाद चोलो के हाथ में हुकूमत आई। चोलो ने दूर-दूर के कितने ही मुल्क जीते और अपनी जल-सेना से समुद्र पर अपना कब्ज़ा रखा। ३०० वर्ष के बाद ये भी हट गये और पाण्डय राज्य सामने आया; उसकी राजधानी मदुरा सभ्यता का केन्द्र बन गई। इसका बड़ा बन्दरगाह कायल दूर-दूर के देशो के सम्पर्क में था।

इतनी बात तो दक्षिण और पूर्व के बारे में हुई। पश्चिम में महाराष्ट्र देश में चालुक्य, उनके बाद राष्ट्रकूट और राष्ट्रकूटो के बाद फिर चालुक्य हुए।

लेकिन ये तो सिर्फ नाम हैं। विचार करने की बात तो यह है कि ये राज्य कितने लम्बे-लम्बे युगो तक कायम रहे और सभ्यता के कितने ऊँचे जीने तक चढ़ गये। इन राज्यो में कोई अन्दरूनी ताकत थी जिसकी वजह से योरप के राज्यो के मुकाबिले इनमें अधिक शान्ति और स्थिरता थी। लेकिन उनका सामाजिक ढांचा पुराना हो चुका था, उसकी स्थिरता ख़तम हो चुकी थी और यह बहुत जल्द, १४वीं सदी की शुरूआत में, मुसलमानो की सेना के आने पर टूटकर गिर जानेवाला था।

: ६६ :

दिल्ली के गुलाम बादशाह

२४ जून १९३२

मैंने तुमसे सुलतान महमूद गजनवी के बारे में बताया है और कवि फिरदौसी के बारे में भी कुछ कहा है जिसने महमूद के कहने पर फारसी जबान में शाहनामा लिखा। लेकिन मैंने तुमसे अभी तक महमूद के जमाने के एक-दूसरे मशहूर आदमी के बारे में कुछ नही कहा। यह आदमी महमूद के साथ पंजाब आया था। इसका नाम अलबेरूनी था और यह बड़ा विद्वान् था। यह उस जमाने के ख़ूंख़ार और कट्टर सिपाहियों से बिलकुल जुदी तरह का आदमी था। इसने सारे हिन्दुस्तान में

सफ़र किया और इस नये मुल्क और यहाँके आदमियो को समझने की कोशिश की। इसमें हिन्दुस्तानी दृष्टिकोण को समझने की इतनी उत्सुकता थी कि इसने संस्कृत जबान सीखी और खुद हिन्दुओं की खास-खास किताबें पढ़ीं। इसने हिन्दुस्तान का दर्शनशास्त्र पढ़ा और यहाँ जिस तरह कला या विज्ञान की तालीम दी जाती थी उसे सीख लिया। भगवद्गीता इसे बहुत पसंद थी। यह दक्षिण के चोल राज्य में गया था और वहाँ की नहरो और सिंचाई का इन्तजाम देखकर उसे बहुत ताज्जुब हुआ था। इसका हिंदुस्तानी सफ़रनामा पुराने जमाने के उन बडे सफरनामों में है जो अभी तक पाये जाते हैं। कत्लेआम, विनाश और असहिष्णुता के कीचड़ के बीच वह अलग खड़ा दिखाई देता है। उसने शान्ति के साथ चीजो का अध्ययन किया, सीखने और समझनें की कोशिश की और यह जानने की पूरी कोशिश की कि सचाई कहाँ पर है।

अफगान् शहाबुद्दीन के बाद, जिसनें पृथ्वीराज को हराया था, दिल्ली में लगातार गुलाम राजा राज करते रहे। उनमे से पहला कुतुब-उद्दीन था। कुतुब-उद्दीन शहाबुद्दीन का गुलाम था लेकिन गुलाम भी ऊँचे ओहदे पर पहुँच सकते है और वह अपनी कोशिशों से दिल्ली का पहला सुलतान बन गया। उसके बाद होनेवाले कुछ सुलतान भी असल में गुलाम थे; इसीलिए यह गुलाम खानदान कहलाता है। ये लोग बडे खूँख़ार होते थे और इनकी विजय के साथ-साथ इमारतो और पुस्तकालयों का विनाश और लोगो पर अत्याचार चलता था। इन्हे इमारत बनाना बहुत पसन्द था और इमारतों के विशाल आकार या विस्तार को वे ख़ासतौर पर पसंद करते थे। कुतुब-उद्दीन ने कुतुब-मीनार बनानी शुरू की। यह वही बडी मीनार है जो दिल्ली के पास है और जिसे तुम अच्छी तरह से जानती हो। उसके वारिस अलतमश (इल्तुतमिश) ने इस मीनार को पूरा किया और उसीके पास ही कुछ सुन्दर महराब भी बनाये, जो अभी तक मौजूद हैं। इन इमारतो का करीब-करीब सारा ख़ाका पुरानी हिन्दुस्तानी इमारतो, ख़ासकर मन्दिरो, से लिया गया था। सब कारीगर भी हिन्दुस्तान के थे लेकिन, जैसा मैंने तुमसे कहा है, मुसलमानो के साथ आये हुए नये ख़यालात का इनपर बहुत असर पड़ा था।

महमूद गजनवी और उसके बाद जिस किसीने भी हिंदुस्तान पर हमला किया वही अपनें साथ हिन्दुस्तानी कारीगरो और मिस्त्रियो का एक झुण्ड अपनें साथ लेगया। इस तरह मध्य एशिया में हिन्दुस्तानी शिल्पकला का असर फैल गया।

बिहार और बंगाल को अफगानो ने बडी आसानी से जीत लिया। वे बडे हिम्मतवाले होते थे और अचानक हमला करके लोगो को हैरत में डाल देते थे और

हिम्मत का नतीजा अक्सर अच्छा होता है। अमेरिका में पिज़ारो और कार्टे की विजय की तरह बंगाल की विजय भी हमें ताज्जुब में डाल देती है।

अल्तमश के ज़माने में यानी १२११ और १२३६ ई० के बीच में ही हिन्दुस्तान की सरहद्द के उस पार एक घुआंधार बादल उठा। यह चंगेजखाँ की मातहती में बढ़ता हुआ मंगोलो का दल था। चंगेज़खाँ सिन्ध नदी तक अपने एक दुश्मन का पीछा करता हुआ आया और यहीं आकर ठहर गया। हिन्दुस्तान बच गया। इसके २०० वर्ष बाद इसीके वंश का एक दूसरा आदमी, तैमूर, हिन्दुस्तान में लूट-मार और कत्ल करने आया था। हालाँकि चंगेज़ खुद नहीं आया लेकिन बहुत से मंगोलों की हिन्दुस्तान पर हमला करके लूटमार करने की आदत-सी पड़ गई। कभी-कभी ये लाहौर तक आजाते थे और लोगो में डर पैदा कर देते थे; यहाँ तक कि कभी-कभी सुलतान भी डर जाते और रिश्वत देकर अपना पिंड छुड़ाते थे। इनमें से हज़ारो मंगोल पंजाब में ही बस गये।

सुलतानों में रज़िया नाम की एक औरत भी हुई है। यह अल्तमश की लड़की थी और बडी बहादुर और काबिल औरत थी; लेकिन अपने खूँखार अफग़ान सरदारों, और उनसे भी खूँखार मंगोलों से, जो पंजाब पर हमला करते रहते थे, उसे बडी मुसीबत उठानी पडी थी।

गुलाम बादशाह १२९० ई० में खतम हो गये। इसके बाद अलाउद्दीन खिलजी अपने चचा को, जो उसका ससुर भी था, मुलायमियत के साथ क़त्ल करके तख्त पर बैठ गया। जितने मुसलमान सरदारों पर उसे बेवफाई का शक था, उन सबको उसने क़त्ल करा दिया और यो अपना काम पूरा किया। मंगोलो की साजिश से डर कर उसनें यह हुक्म निकाला था कि 'उसके राज्य में जितनें भी मंगोल हों, सब क़त्ल कर दिये जायँ, ताकि उस खानदान का एक आदमी भी न बचे।' इस तरह दो-तीन हज़ार मंगोल, जिनमें ज्यादातर बेगुनाह थे, क़त्ल कर दिये गये। बार-बार क़त्ल और खून का ज़िक्र करना बहुत भली बात नहीं और न इतिहास के विस्तृत दृष्टिकोण से ही इनका कोई महत्त्व है, फिर भी इससे यह बात समझ में आजाती है कि उस वक्त उत्तर भारत में सभ्यता का पलड़ा झुका हुआ था और जान-माल सुरक्षित न थे। एक हद तक बर्बरता की तरफ वापसी थी। इस्लाम अपनें साथ तरक्की की बातें लाया था लेकिन अफग़ान मुसलमान अपने साथ बर्बरता का भी अंश लाये थे। बहुत से आदमी इन दोनो को एक ही समझते है लेकिन इनमें फर्क किया जाना चाहिए।

अलाउद्दीन दूसरों की तरह असहिष्णु था लेकिन मालूम होता है कि हिन्दुस्तान के इन मध्य एशियाई शासको का खयाल अब बदल रहा था। वे अब हिन्दुस्तान को

अपना घर समझने लगे थे और अपने को परदेशी नहीं समझते थे। अलाउद्दीन ने एक हिन्दू महिला से शादी की थी और उसके लड़के ने भी ऐसा ही किया था।

अलाउद्दीन के जमाने में एक अच्छी शासन-प्रणाली बनाने की कोशिश की गई। फौज के आने जाने के लिए सड़कें खास तौर से दुरुस्त की जाती थीं। अलाउद्दीन फ़ौज का ख़ास तौर से ख़याल रखता था। उसने अपनी फौज को बहुत ताकतवर बना लिया था और उसकी मदद से उसने गुजरात को और दक्षिण के बहुत बड़े हिस्से को जीत लिया। उसके सेनापति दक्षिण से बेशुमार दौलत अपने साथ लाये। कहते हैं, उनके साथ ५० हज़ार मन सोना, बहुत से मोती और जवाहरात, २० हज़ार घोड़े और ३१२ हाथी आये थे।

चित्तौड़, जिसे वीरता का घर कहना चाहिए, बहादुरी से भरा हुआ लेकिन पुराने तरीके पर चलनेवाला था। लड़ाइयों में उसका वही पुराना ढंग क़ायम था, इससे अलाउद्दीन की कुशल सेना के सामने दब गया। १३०३ ई० में चित्तौड़ लूटा गया; लेकिन लूटे जाने के पहले ही किले की स्त्रियो और पुरुषों ने पुराने तरीको के अनुसार, जौहर की भयंकर रीति पूरी कर डाली। इसके मुताबिक जब हार सामने हो और बचने का कोई रास्ता न दिखाई पड़े तो आदमियो के लिए मैदान में जाकर लड़ते हुए मर जाना और औरतो के लिए चिता में बैठकर जल जाना कर्तव्य समझा जाता था। यह रीति खासकर औरतो के लिए बड़ी खौफ़नाक थी। बेहतर होता अगर औरतें भी तलवार हाथ में लेकर निकल पड़तीं और लड़ाई में काम आ जातीं। बहरहाल गुलामी और ज़िल्लत से मौत बेहतर थी क्योंकि इस ज़माने में लड़ाई में हार जाने का मतलब ही गुलामी और ज़िल्लत था।

इधर हिन्दुस्तान के रहनेवाले यानी हिन्दू धीरे-धीरे मुसलमान हो रहे थे। पर तेज़ी से नहीं। कुछ लोगों ने अपना मजहब इसलिए बदल दिया कि इस्लाम उन्हे अच्छा लगा; कुछ लोग डर की वजह से मुसलमान हो गये, और कुछ इसलिए कि जीतने वालो की तरफ रहना अच्छा था। लेकिन तब्दीली की असली वजह आर्थिक थी। जो लोग मुसलमान नहीं हुए उन्हे जज़िया देना पड़ता था। गरीबो के ऊपर यह बहुत बड़ा बोझ था; बहुत से तो सिर्फ इस बोझ से बचने के लिए अपना मजहब तब्दील करने के लिए तैयार हो जाते थे। ऊँचे वर्ग के आदमियो में मुसलमान होने की प्रेरणा दरबार में इज्ज़त और ऊँचे ओहदो के लालच से हुआ करती थी। अलाउद्दीन का प्रसिद्ध सेनापति मलिक काफूर, जिसने दक्षिण को जीता था, हिन्दू से मुसलमान हुआ था।

मैं तुम्हें दिल्ली के एक दूसरे सुलतान का हाल बताना चाहता हूँ। यह अजीब

आदमी था। इसका नाम मुहम्मद-बिन-तुग़लक था। वह फ़ारसी और अरबी का बहुत बड़ा विद्वान् और काबिल आदमी था। उसने फ़िलासफ़ी, न्याय और यूनानी दर्शन पढ़ा था। वह कुछ गणित भी जानता था, और विज्ञान तथा चिकित्साशास्त्र का भी उसे इल्म था। वह बहादुर आदमी था और अपने ज़माने के लिहाज़ से वह विद्वत्ता का चमत्कार ही था, लेकिन इन सब बातों के होते हुए भी वह चमत्कार बेरहमी का चमत्कार था। वह बिलकुल पागल-सा था। वह अपने ही पिता को क़त्ल करके तख़्त पर बैठा था। ईरान और चीन जीतने के लिए उसके दिल में बड़े मनसूबे पाये जाते थे। स्वभावतः उसकी सारी कोशिशें, इस सिलसिले में, नाक़ामयाब रहीं।

लेकिन उसका सबसे मशहूर कारनामा यह था कि उसने अपनी ही राजधानी दिल्ली को इसलिए उजाड़ डालने का निश्चय कर लिया था कि शहर के कुछ लोगों नें गुमनाम नोटिसों में उसकी नीति पर ऐतराज़ करने की गुस्ताख़ी की थी। उसने हुक्म दिया कि राजधानी दिल्ली से दक्षिण के देवगिरि को तब्दील कर दी जाय (जो आजकल हैदराबाद रियासत में है।) इस जगह का नाम उसने दौलताबाद रखा। मकान के मालिकों को कुछ मुआवज़ा दिया गया, और इसके बाद हरेक आदमी को यह हुक्म मिला कि तीन दिन के अन्दर शहर छोड़ दे।

बहुत से आदमी शहर छोड़कर चल दिये। कुछ ऐसे थे जो छिप गये। जब इनका पता चला तो इन्हे बेरहमी के सथा सज़ा दी गई। इन सज़ा पाने वालों में से एक अन्धा था और दूसरा गठिया का रोगी था। दिल्ली से दौलताबाद का रास्ता चालीस रोज़ का था। इस कूच में लोगो की क्या हालत हुई होगी, इसका हम अन्दाज़ा लगा सकते हैं। कितनें तो रास्ते ही में ख़तम हो गये होगे।

और दिल्ली के शहर का क्या हुआ? दो बरस बाद मुहम्मद-बिन-तुगलक ने इस शहर को फिर बसाना चाहा लेकिन कामयाब न हो सका। उसने इसे, एक अपनी आँखो देखनेवाले के शब्दो में, 'बिलकुल वीरान' कर दिया था। किसी बग़ीचे को एकदम बरबाद किया जा सकता है लेकिन वीरान को फिर बगीचा बनाना आसान नहीं होता। अफरीका का मूर यात्री इब्न बतूता, जो सुलतान के साथ था, दिल्ली वापस आया और उसने लिखा है कि "यह सारी दुनिया के बड़े शहरों में से एक शहर है। जब हम इस शहर में दाख़िल हुए, हमने इसे उस हालत में पाया, जैसा बयान किया है। यह बिलकुल ख़ाली और उजड़ा हुआ था और आबादी बहुत कम थी।" दूसरे आदमी ने इस शहर के बारे में लिखा है कि यह आठ या दस मील में फैला हुआ था लेकिन "सब कुछ नष्ट हो गया था। इसकी बरबादी इतनी

मुकम्मिल थी कि शहर की इमारतों, महलों और आस-पास की आबादी में बिल्ली और कुत्ते तक नहीं रह गये थे।"

पच्चीस बरस तक यानी १३५१ ई० तक यह पागल सुलतान रहा। ताज्जुब है कि जनता अपने शासको की, नाकाबलियत, बेरहमी और बदमाशी को किस हद तक सहती है। लेकिन जनता की अधीनता और तावेदारी के बावजूद मुहम्मद-बिन-तुग़लक अपने साम्राज्य को नष्टभ्रष्ट कर डालने में सफल रहा। उसकी पागलपन की स्कीमों से और भारी टैक्सो से देश बरबाद हो गया, अकाल पडे और अन्त में बलवे होने लगे। उसकी जिन्दगी में ही, १३४० ई० के बाद, साम्राज्य के बडे-बडे हिस्से आज़ाद हो गये। बंगाल आज़ाद हो गया। दक्षिण में कई रियासतें पैदा हो गई जिनमें विजय-नगर की रियासत ख़ास थी, जो १३३६ ई० में पैदा हुई और दस बरस के अन्दर दक्षिण में बडी ताक़तवर हो गई।

दिल्ली के पास तुम अब भी तुग़लकाबाद के खँडहर देख सकती हो। इसे इसी मुहम्मद के पिता ने बसाया था।

: ६७ :

चंगेज़ ख़ां का अभ्युदय

२५ जून, १९३२

हाल के अपने कई ख़तों में मैंने मंगोलो का जिक्र किया है और यह बताया है कि उन्होने लोगों में कितना ख़ौफ पैदा कर दिया था और किस तरह बरबादी की थी। चीन में हमने मंगोलों के आने के बाद ही, संग राजवंश का क़िस्सा बंद कर दिया था। पश्चिम एशिया में भी हमारा उनका पाला पड़ा था और पुरानी प्रणाली का वहीं से ख़ातमा होगया था। हिन्दुस्तान में गुलाम बादशाह मंगोलों से बच गये फिर भी इनकी वजह से काफी हल-चल मच गई थी। मंगोलिया के इन ख़ानाबदोशों ने सारे एशिया को दबा रखा था और पस्त कर डाला था। सिर्फ एशिया ही नहीं, आधे योरप की भी यही हालत थी। ये आश्चर्यजनक लोग कौन थे, जो एकदम से फूट निकले और जिन्होने दुनिया को हैरत में डाल दिया? सीथियन, हूण, तुर्क और तातार, सभी मध्य एशिया के थे और इतिहास में उल्लेखनीय कार्य कर चुके थे। इनमें कुछ कौमें उस वक्त भी मशहूर थीं जैसे पश्चिमी एशिया में सेलजूक तुर्क, उत्तरी चीन में तातारी वग़ैरा। लेकिन मंगोलो ने अभी तक कुछ बहुत ज्यादा नहीं किया था। पश्चिमी एशिया में इनके बारे में कोई जानता भी नहीं

था। ये मंगोलिया की कई मामूली जाति के लोगों में से थे और 'किन' तातारियों की मातहती में थे जिन्होने उत्तर चीन को जीता था।

एकदम से इन लोगो में ताकत पैदा हो गई। इनकी बिखरी हुई कौम इकट्ठी हुई और एक नेता—खान महान्—चुना और उसकी मातहती और हुक्मबरदारी की कसम खाई। उसके नेतृत्व में ये पेकिंग पर टूट पडे और 'किन' साम्राज्य को खतम कर दिया। ये लोग पश्चिम की ओर भी बढे और रास्ते में जितने बडे-बडे राज्य इन्हे मिले सभी को बरबाद करडाला। ये रूस पहुँचे और उस पर कब्जा कर लिया। बाद को इन लोगो ने बगदाद का और उसके साम्राज्य का भी पूरे तौर पर नाश कर दिया और सीधे पोलैण्ड और मध्य योरप तक पहुँच गये। इनको रोकनेवाला कोई नहीं था। इत्तफाक से हिन्दुस्तान इनसे बच गया। योरप और एशिया के लोगों को, ज्वालामुखी के इस प्रवाह पर कितनी हैरत हुई होगी। यह बिलकुल किसी बडी भारी प्राकृतिक विपत्ति के समान चीज़ थी—भूकम्प की तरह—जिसके सामने मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता।

मंगोलिया के ये खानाबदोश लोग बडे मज़बूत थे। मुश्किलो से भरी ज़िन्दगी बितानेवाले ये लोग उत्तर एशिया के लम्बे-चौडे मैदानों में खीमों के अंदर रहा करते थे। लेकिन इनकी ताकत और मुश्किल ज़िन्दगी इनके लिए बहुत ज्यादा फ़ायदेमन्द न साबित हुई होती अगर इनमें एक सरदार न पैदा हो गया होता, जो बहुत ही विचित्र आदमी था। इसे चंगेज़ खां कहा गया है। यह ११५५ ई० में पैदा हुआ था और इसका असली नाम तिमोचिन था। इसका पिता येगुसी-बगातुर इसको बच्चा ही छोड़ कर मर गया था। 'बगातुर' मंगोल सरदारो का प्रिय नाम था। इसका मतलब है 'वीर' और मेरा खयाल है कि उर्दू का बहादुर शब्द इसी से निकला है।

हालाँकि चंगेज़ १० वर्ष का छोटा लड़का था और उसका कोई मददगार नहीं था फिर भी वह मिहनत करते हुए तरक्की करता गया और आखिर में कामयाब हुआ। वह कदम-कदम आगे बढ़ा, यहांतक कि अंत में मंगोलो की बडी सभा ने, जिसे 'कुरुलताई' कहते थे, उसे अपना 'खान महान्' या 'कागन' या सम्राट चुना। इससे कुछ साल पहले उसे चंगेज़ का नाम दिया जा चुका था।

'मंगोलों का गुप्त इतिहास' नाम की पुस्तक में, जो १३ वीं सदी में लिखी गई थी और १४ वीं सदी में चीन में प्रकाशित हुई, इस चुनाव का हाल इस तरह से लिखा हुआ है —"इस तरह 'चीता' नामक सम्वत् में, जब नमदे के खीमों में रहनेवाली सारी क़ौम एक आदमी की मातहती में मिल कर एक हो गई, तब

अनान नदी के निकलने की जगह पर वे सब इकट्ठा हुए और 'नौ पैरों' पर अपने 'सफ़ेद झंडे' को खड़ा करके इन लोगों ने चंगेज़ को 'कागन' की उपाधि दी।"

चंगेज़ जब 'ख़ान महान्' या 'कागन' बना, उसकी उम्र ५१ वर्ष की हो चुकी थी। यह जवानी की उम्र नहीं थी और इस उम्र पर पहुँच कर आदमी शांति और आराम चाहता है। लेकिन उसने अपनी विजय-यात्रा इस उम्र से शुरू की। यह गौर करने की बात है; क्योंकि विजेता लोग ज्यादातर अपनी जवानी में ही विजय का काम करते है। इससे हम यह नतीजा भी निकाल सकते हैं कि चंगेज़ जवानी के जोश में एशिया पर नहीं टूटा था, वह सावधान, सचेत, वृद्ध आदमी था और ठीक तौर से विचार करके और तैयारी करने के बाद ही वह हरेक बडे काम को करता था।

मंगोल लोग खानाबदोश थे। शहरो और शहरो के रंग-ढंग से भी उन्हे नफरत थी। बहुत से आदमी यह समझते हैं कि चूंकि वे खानाबदोश थे इसलिए जंगली रहे होगें; लेकिन यह ख़याल ग़लत है। हां, उन्हे शहर की बहुत-सी कलायें अलबत्ता नहीं आती थीं; लेकिन उनकी ज़िन्दगी का अपना एक अलग तरीका था और उनका संगठन बहुत पेचीदा था। लड़ाई के मैदान में अगर उन्हे बडी-बडी विजय प्राप्त होती थीं तो इसकी वजह यह नही थी कि उनकी तादाद ज्यादा थी बल्कि यह कि उनमें नियंत्रण और संगठन था और सबसे बडी बात तो यह थी कि उनका सरदार चंगेज़ बड़ा काबिल सिपहसालार था। बिना किसी शुबहे के यह बात कही जासकती है कि इतिहास में चंगेज़ सबसे बडी सैनिक प्रतिभा रखनेवाला और सबसे बड़ा सैनिक नेता हुआ है। सिकंदर और सीज़र इसके सामने नाचीज मालूम होते हैं। चगेज न सिर्फ खुद बहुत बड़ा सिपहसालार था बल्कि उसने अपने बहुत से फौजी अफसरों को तालीम देकर होशियार नेता बना दिया था। अपने घर से हजारो मील दूर होते हुए, अपने ख़िलाफ़ लोगो और दुश्मनो से घिरे रहने पर भी, वे अपने से ज्यादा तादाद की फ़ौजो पर विजय प्राप्त करते थे।

जिस वक्त चंगेज़ सामने आया एशिया और योरप का नकशा किस तरह का था? मंगोलिया के पूरब और दक्षिण चीन दो टुकडो में बँटा हुआ था। दक्षिण में संग साम्राज्य था जहाँ दक्षिणी संग शासन करते थे। उत्तर में 'किन' या 'सुनहले तातारियों' का साम्राज्य था और इसकी राजधानी पेकिंग थी। इन लोगों ने संगों को खदेड़ दिया था। पश्चिम में गोबी के रेगिस्तान पर और उसके पार हिसिया या तंगुओ का साम्राज्य था। ये लोग भी खानाबदोश थे। हिन्दुस्तान में, दिल्ली में, ग़ुलाम खानदान के बादशाहो की हुकूमत थी। ईरान और इराक में, हिन्दुस्तान की

सरहद तक फैला हुआ खारज़म या खीवा का महान् मुसलमानी राज्य था जिसकी राजधानी समरकन्द थी। इसके पश्चिम में सेलजूक थे और मिस्र और फ़िलस्तीन में सलादीन के वारिसों का राज्य था। बग़दाद के इर्द-गिर्द, सेलजूको की सरपरस्ती में ख़लीफ़ा लोग हुकूमत करते थे।

यह वह ज़माना था जब बाद के क्रूसेड चल रहे थे। होहेनस्टाफ़ेन ख़ान्दान का फ्रेडरिक द्वितीय, जिसे 'दुनिया का आश्चर्य' कहा गया है, पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट था। इंग्लैंड में मैग्नाचार्टा और उसके बाद की घटनाओं का ज़माना था। फ्रांस में लुई नवम राज्य करता था, जो क्रूसेड में गया था और वहाँ तुर्कों द्वारा पकड़ लिया गया था और जिसे फिर बहुत-सा धन देकर छुड़ाना पड़ा था। पूर्वी योरप में रूस था, जो दो राज्यों में बँटा हुआ था—उत्तर में नोवेगरॉड और दक्षिण में कीफ़। रूस और रोमन साम्राज्य के दरमियान हंगरी और पोलैंड थे। बिज़ैण्टाइन साम्राज्य कुस्तुन्तुनिया के इर्द-गिर्द फूल-फल रहा था।

चंगेज़ ने बड़ी सावधानी के साथ अपने विजय की तैयारियाँ कीं। उसने अपनी फ़ौज को अच्छी तरह लड़ाई की तालीम दी। सबसे ज्यादा इसने अपने घोड़ों को सिखाया था और इस बात का ख़ास इन्तज़ाम किया था कि एक घोड़ा मरने के बाद दूसरा घोड़ा तुरंत सिपाहियों के पास पहुँच सके, क्योंकि ख़ानाबदोशों के लिए घोड़ों से ज्यादा ज़रूरी चीज़ कोई नहीं है। इन सब तैयारियों के बाद वह पूर्व की तरफ़ बढ़ा और उत्तर चीन और मंचूरिया के 'किन' साम्राज्य को करीब-करीब ख़तम कर दिया और पेकिंग पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। उसने कोरिया जीत लिया। मालूम होता है कि वह दक्षिणी संगों से दोस्ती का रिश्ता रखता था क्योंकि इन संगों ने 'किन' लोगो के ख़िलाफ़ उसकी मदद की थी। बेचारे संग यह नहीं समझते थे कि इनके बाद उनकी बारी भी आनेवाली है। चंगेज़ ने इसके बाद तंगुओं को भी जीत लिया था।

इन विजयों के बाद चंगेज़ आराम कर सकता था। ऐसा मालूम होता है कि पश्चिम पर हमला करने की उसकी इच्छा नहीं थी। वह खारज़म के बादशाह से दोस्ती का रिश्ता क़ायम करना चाहता था लेकिन यह हुआ नहीं। एक पुरानी लैटिन कहावत है कि 'देवता लोग जिसे नष्ट करना चाहते हैं पहले उसकी बुद्धि हर लेते हैं।' खारज़म का बादशाह अपनी ही बरबादी पर तुला हुआ था और अपने नाश के लिए जो कुछ मुमकिन था, उसने किया। उसके एक सूबे के हाकिम (गवर्नर) ने मंगोल सौदागरों ने कत्ल कर दिया। चंगेज़ फिर भी सुलह चाहता था और उसने इसके लिए राजदूत भेजे कि उस गवर्नर को सज़ा दी जाय। लेकिन बेवकूफ़ शाह

घमण्डी था और अपने को बहुत-कुछ समझता था। उसने इन राजदूतों की बे-इज्जती की और उनको मरवा डाला। चंगेज के लिए इस बेइज्जती का सहना नामुमकिन था लेकिन उसने जल्दबाजी से काम नहीं लिया; सावधानी से तैयारी की और तब पश्चिम की तरफ़ अपनी फौज के साथ कूच किया।

यह कूच सन् १२१९ ई० में शुरू हुई और एशिया, और कुछ हद तक योरप, ने आँखें खोलकर इस ख़ौफनाक नजारे को देखा, जिसने बड़े भारी बेलन (रोलर) की तरह बिना किसी हिचकिचाहट ने लाखों की तादाद में आदमियों को और शहरों को कुचल डाला। ख़ारज़म का साम्राज्य खत्म हो गया। बुख़ारा का बड़ा शहर, जिसमें बहुत से महल थे और दस लाख से ज्यादा आदमी रहते थे, मिट्टी में मिला दिया गया। समरकन्द, जो राजधानी था, नष्ट हो गया और उसकी दस लाख की आबादी में सिर्फ़ ५० हज़ार लोग जिन्दा बचे। हिरात, बलख़, और दूसरे अच्छे-अच्छे शहर नष्ट हो गये। लाखों आदमी मार डाले गये। जो कारीगरी और हुनर सैकड़ो वर्षों से मध्य एशिया में फूल-फल रहे थे, ग़ायब हो गये। ईरान और मध्य एशिया में सभ्य जीवन का ख़ात्मा हो गया। जहाँ-जहाँ से चंगेज गुज़रा, वहाँ की ज़मीन वीरान होगई।

ख़ारज़म के बादशाह का लड़का जलालुद्दीन इस तूफान के ख़िलाफ़ बहादुरी से लड़ा। वह हटते-हटते सिन्धु नदी तक चला आया और वहाँ पर भी जब इस पर हमला हुआ तो वह घोड़े पर बैठा हुआ, ३० फीट नीचे सिन्धु नदी में कूद पड़ा और तैरकर इस पार निकल आया। उसे दिल्ली दरबार में आश्रय मिला। चंगेज ने वहाँ तक उसका पीछा करना मुनासिब नहीं समझा।

सेलजूक तुर्कों की और बग़दाद की खुशकिस्मती थी कि चंगेज ने इनको छोड़ दिया और वह उत्तर में रूस की तरफ़ बढ़ गया। उसने कीफ़ के ग्रैंड ड्यूक (बड़े-नवाब) को हराकर कैद कर लिया और हीसियो या तंगुओ के बलवे को दबाने के लिए पूरब की तरफ़ वापस चला गया।

चंगेज ई० सन् १२२७ में ७२ वर्ष की उम्र में मर गया। उसका साम्राज्य पश्चिम में काले समुद्र से पूर्व में प्रशान्त महासागर तक फैला हुआ था। उसमें अब भी काफी ताकत थी और वह दिन-ब-दिन बढ़ ही रहा था। इसकी राजधानी अभी तक मंगोलिया में क़राकुरम नाम का छोटा-सा क़स्बा था। ख़ानाबदोश होते हुए भी चंगेज खाँ बड़ा ही योग्य संगठन करनेवाला था और उसने अपनी मदद के लिए बहुत अच्छे मंत्री मुकर्रर कर रखे थे। उसका इतनी तेजी के साथ बननेवाला साम्राज्य उसके मरने पर नहीं टूटा।

अरब और ईरानी इतिहास-लेखकों की नज़र में चंगेज़ एक पिशाच है। उसे इन्होंने 'ख़ुदा का क़हर' कहा है। यह बतलाया गया है कि चंगेज़ बड़ा ज़ालिम आदमी था। बिला शक वह बड़ा ज़ालिम था, लेकिन इस बात में, उसमें अपने ज़माने के दूसरे बहुत से शासकों से कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं था। हिन्दुस्तान में अफ़ग़ान बादशाह, कुछ छोटे पैमाने पर, इसी तरह के थे। जब ग़ज़नी पर अफ़ग़ानों ने ११५० ई० में कब्ज़ा किया तो पुराने ख़ून का बदला लेने के लिए इन लोगों ने उस शहर को लूटा और जला दिया। "सात दिन तक लूट-मार और बरबादी जारी रही। जो मर्द मिलता कत्ल कर दिया जाता था। सब स्त्री और बच्चे क़ैद कर लिये जाते थे; महमूदी बादशाहों (यानी सुलतान महमूद के ख़ानदान वालों) के महल और मकानात, जिनका दुनिया में कोई सानी नहीं था, बरबाद कर दिये गये।" मुसलमानों का दूसरे मुसलमानों के साथ ऐसा सलूक था। यहाँ हिन्दुस्तान में जो कुछ अफ़ग़ान बादशाहों ने किया उसमें और मध्य एशिया और ईरान में की हुई चंगेज़ की विनाशपूर्ण कार्रवाई में कोई फ़र्क़ नहीं था। चंगेज़ ख़ारज़म से ख़ास तौर पर नाराज़ था, क्योंकि शाह ने उसके राजदूतों को कत्ल करवा दिया था। उसके लिए तो यह ख़ून का बदला लेने की बात थी; और जगहों पर भी चंगेज़ ने ख़ूब सत्यानाश किया था, लेकिन जितनी बरबादी मध्य एशिया में हुई, शायद दूसरी जगह नहीं हुई।

शहरों को यों बरबाद करने में चंगेज़ का दूसरा मतलब भी होता था। उसमें ख़ानाबदोशों की भावना थी और वह क़स्बों और शहरों से नफ़रत करता था। वह बड़े-बड़े मैदानों में रहना पसन्द करता था। एक दफ़ा चंगेज़ का यह ख़याल हुआ कि चीन के तमाम शहर बरबाद कर दिये जायँ तो अच्छा होगा। लेकिन ख़ुश-किस्मती कहिए कि उसने ऐसा किया नहीं। उसका ख़याल था कि सभ्यता और ख़ानाबदोशी की ज़िन्दगी को मिला दिया जाय, लेकिन यह नहीं हुआ और न हो सकता है।

तुम्हें शायद चंगेज़ ख़ाँ के नाम से यह ख़याल हो कि वह मुसलमान था, लेकिन वह मुसलमान नहीं था। यह एक मंगोल नाम है। चंगेज़ मज़हब के मामले में बड़ा सहिष्णु आदमी था। उसका अपना मज़हब शमावाद (Shamaism) था, जिसमें 'अनन्त नीले आकाश' की पूजा की जाती थी। वह चीन के ताव धर्म के सन्तों से अक्सर ख़ूब ज्ञान-चर्चा करता था। लेकिन वह ख़ुद शमा मत पर ही क़ायम रहा और जब कठिनाई में होता था तब आकाश से सलाह-मशविरा किया करता था।

तुमने इस ख़त के शुरू में पढ़ा होगा कि चंगेज़ को मंगोलों की सभा ने 'ख़ान महान्' चुना था। यह सभा असल में सामन्त-सभा थी, जनता की सभा नहीं और यों चंगेज़ इस कौम का सामन्त सरदार था।

वह पढ़ा-लिखा न था, और उसके अनुयायी भी उसी की तरह थे। शायद वह बहुत दिनों तक यह भी नहीं जानता था कि लिखने-जैसी कोई चीज होती है। संदेश जबानी भेजे जाते थे और छन्द में उपमा या कहावत के रूप में होते थे। ताज्जुब की बात तो यह है कि जबानी संदेशो से किस तरह इतने बडे साम्राज्य का कार-बार चलाया जाता था? जब चंगेज को यह मालूम हुआ कि लिखने-जैसी कोई चीज होती है तो उसने फौरन ही यह महसूस कर लिया कि वह बडी फ़ायदेमन्द होगी और उसने अपने लड़के और ख़ास-ख़ास सरदारो को इसे सीखने का हुक्म दिया। उसने यह भी हुक्म दिया था कि मंगोलों के पुराने कानून-कायदे और उसकी अपनी कहावतें भी लिख ली जायँ। ख़याल था कि उनका यह पुराना कानून हमेशा के लिए अपरिवर्तनशील है, और इसके ख़िलाफ़ कोई नहीं जा सकता। बादशाह के लिए भी इसका मानना जरूरी था, लेकिन यह अपरिवर्तनशील क़ानून अब गायब है और आजकल के मंगोलों को इसकी कोई याद नहीं।

हरेक देश और हरेक मजहब का पुराना कानून होता है और लोग समझते है है कि वह अपरिवर्तनशील कानून हमेशा कायम रहेगा। कभी-कभी लोग कहते है कि इस कानून को ख़ुदा ने भेजा है, और जाहिर है कि जो चीज ख़ुदा भेजेगा वह परि-वर्तनशील या अस्थाई नहीं समझी जा सकती, लेकिन कानून एक ख़ास स्थिति के मुआफिक बनाये जाते है, और उनकी मंशा यह होती है कि हम उनकी मदद से अपने को बेहतर बना सकें। अगर हालत बदल जाती है तो पुराने कानून कैसे काम में आसकते है। हालत के साथ कानून को भी बदलना चाहिए। नही तो ये लोहे की जंजीर की तरह हमें जकड़ रखते है जबकि दुनिया आगे बढ़ती जाती है। कोई भी कानून अपरिवर्तनशील नहीं हो सकता। क़ानून के लिए जरूरी है कि वह ज्ञान पर निर्भर हो, और ज्यों-ज्यो ज्ञान बढ़ेगा, कानून को भी उसके साथ बढ़ना पडेगा।

मैंने चंगेज ख़ां के बारे में तुम्हे कुछ बाते जरा तफ़सील के साथ बताई है जो शायद जरूरी नहीं था। लेकिन इस आदमी ने मुझे बहुत आकर्षित किया है। कितने ताज्जुब की बात है कि यह ख़ौफ़नाक, बेरहम और उद्दण्ड ख़ानाबदोश कौम का सामन्त सरदार मेरे समान एक ऐसे शान्त, अहिंसक और सादे आदमी को आकर्षित करे, जो सामन्त प्रथा की हरेक बात से नफरत रखनेवाला है।

: ६८ :

मंगोलों का दुनिया पर छा जाना

२६ जून, १९३२

जब चंगेजखां मरा, उसका लड़का ओगताई 'बड़ा खान' हुआ। चंगेज और उस जमाने के मंगोलो के मुकाबिले में वह दयावान और शान्तिप्रिय था और कहा करता था कि "हमारे कागन चंगेज ने बडी मिहनत से साम्राज्य की इस इमारत को बनाया है। अब वक़्त यह है कि हम अपने लोगों को शान्ति दें, ख़ुशहाल बनावें और उनके बोझ को हलका करे।" यहाँ देखने की बात यह है कि ओगताई किस तरह सामन्त सरदार की हैसियत से अपने वंश के बारे में सोचता था।

लेकिन विजय का युग ख़तम नहीं हुआ था और मंगोल अभी तक ताक़त और जोश में भरे हुए थे। एक बडे सिपहसालार सबूताई की मातहती में योरप पर दूसरी मर्तबा हमला हुआ। योरप के सिपहसालार और फौजें सबूताई का मुकाबिला नही कर सकती थीं। यह सबूताई दुश्मन के देश में हाल लाने के लिए पहले अपने जासूस भेजता था और इस तरह अपनी तैयारी पक्की कर लेता था। देश में दाख़िल होने के पहले वह वहाँ की राजनैतिक और सैनिक स्थिति अच्छी तरह जान लेता था। वह लड़ाई की कला का बड़ा भारी जानकार था और यूरोपियन सेनापति उसके सामने बच्चे मालूम होते थे। सबूताई सीधे रूस चला गया और सेलजूको को दक्षिण-पश्चिम बग़दाद में शान्ति से छोड़ गया। ६ वर्ष तक वह आगे बढ़ता ही गया और उसने मास्को, कीफ, पौलैंड, हंगरी और क्राकाऊ को लूटा और नष्ट किया। १२४१ ई० में मध्य-योरप के लोअर साइलेशिया में लिबनिज नाम की जगह पर पोलैण्ड और जर्मनी की फ़ौजें बिलकुल तहस-नहस कर दी गई। मालूम होता था कि सारा योरप ख़तम हो जायगा। मंगोलो को रोकने वाला कोई नहीं दिखाई देता था। फ्रेडरिक द्वितीय, जो 'ससार का चमत्कार' कहलाता था, मंगोलिया से आये हुए इस असली चमत्कार के सामने जरूर पीला पड़ गया होगा। योरप के बादशाह और शासक लोग हक्का-बक्का हो रहे थे कि एकाएक उनका कष्ट दूर होने का मौका अपने आप आगया।

ओगताई की मृत्यु हो गई और उसकी विरासत के बारे में कुछ झगड़ा हो गया, इसलिए योरप की मंगोल फौजें, जो कहीं हारी न थीं, पीछे लौट पडीं और १२४२ ई० में अपने देश को, पूरब, वापस चली गई। योरप की जान में जान आई।

इस दरमियान मुगल लोग चीन भर में फैल चुके थे। और उत्तर में 'किन' लोगों को और दक्षिण चीन में संगो को उन्होंने बिलकुल ख़तम कर दिया था। १२५२

ई० में मंगूखां 'बड़ा खान' हुआ और उसने कुबलाई को चीन का गवर्नर मुक़र्रर किया। क़राकुरम में, मंगू के दरबार में, एशिया और योरप से झुण्ड के झुण्ड लोग आया करते थे, लेकिन 'बड़ा खान', ख़ानाबदोशों की तरह, अभीतक ख़ीमों में ही रहता था। हां, खीमे बहुत सजे होते थे और वे अनेक महाद्वीपों की दौलत और लूट के माल से भरे रहते थे। सौदागर, ख़ास कर मुसलमान, आते थे और मंगोल लोग उनसे ख़ूब माल ख़रीदते थे। ज्योतिषी, कारीगर, गणितज्ञ और वे लोग जो उस ज़माने के विज्ञान के बारे में कुछ जानते थे, ख़ीमों के इस शहर में इकट्ठे हुआ करते थे। ऐसा मालूम होता था कि मानो यह खीमों का शहर सारी दुनिया पर हावी है। इस विस्तृत मंगोल साम्राज्य भर में, एक हद तक, शांति और सुप्रबन्ध था। महाद्वीपों के बीच के कारवानी रास्ते ख़ूब चलते थे और उनपर मुसाफिरों और सौदागरों का ख़ूब आना-जाना होता था। यों, एशिया और योरप एक-दूसरे के घने सम्पर्क में आगये थे।

क़राकुरम में मज़हबी आदमियों के बीच होड़ लगी हुई थी। संसार के इन विजेताओं को सभी अपने ख़ास मज़हब में मिलाना चाहते थे। जो मज़हब, इन शक्तिशाली लोगों को अपनी तरफ़ खींच लेने में कामयाब होता वह ख़ुद सर्वशक्तिमान होजाता और दूसरे मज़हबों पर हावी होजाता इसलिए सभी कोशिश में थे। पोप ने रोम से अपने प्रतिनिधि भेजे थे। नेस्टोरियन ईसाई भी, मुसलमान भी और बौद्ध भी आये थे। मंगोलों को किसी मज़हब में शामिल होने की जल्दी नहीं थी क्योंकि वे कोई बड़ी मज़हबी क़ौम के नहीं थे। पता चला है कि किसी वक़्त 'बड़ा ख़ान' ईसाई मत की तरफ झुक रहा था लेकिन वह पोप के अधिकार को मानने को तैयार नहीं था। आख़िर मंगोलों नें उन्हीं जगहों के मज़हबों को इख़्तियार कर लिया, जहां-जहाँ वे बस गये थे। इस प्रकार चीन और मंगोलिया में वे बौद्ध हो गये; मध्य एशिया में मुसलमान हो गये; और रूस और हंगरी में बहुत-से ईसाई हो गये।

रोम में, पोप के पुस्तकालय में, अभी तक 'बड़े ख़ां' (मंगू) का एक असली ख़त मिलता है, जो उसने पोप को लिखा था। यह ख़त अरबी ज़बान में है। मालूम होता है कि पोप ने नये ख़ान के पास, ओग़ताई के मरने के बाद, अपना एक एलची भेजा था और उसे सूचना की थी कि योरप पर फिर हमला न करे। ख़ान ने जवाब दिया था कि उसने योरप पर इसलिए हमला किया कि यूरोपियनों ने उसके साथ मुनासिब बर्ताव नहीं किया था।

मंगू के ज़माने में विजय और विनाश की एक और लहर भी चली। उसका भाई हलाकू ईरान का गवर्नर था। बग़दाद के ख़लीफा से वह किसी बात पर नाराज़ हो गया और उसने उसके पास एक संदेसा भेजा जिसमें उसकी वादाख़िलाफी पर उसे

फटकारा और हिदायत की कि अगर वह आइन्दा ठीक तौर से न रहेगा तो अपना राज्य खो बैठेगा। खलीफा कोई बहुत अक्लमंद आदमी नहीं था और न वह तजुर्बे से फ़ायदा उठाना ही जानता था। उसने भी सख्त जवाब दे दिया और बग़दाद में वहाँ के लोगों की एक भीड़ ने मंगोल एलचियो की बेइज्ज़ती भी की। इस पर हुलाकू का मंगोल खून उबल पड़ा। गुस्से में उसने बगदाद के ऊपर कूच कर दी और ४० दिन घेरा डालने के बाद उसपर क़ब्ज़ा कर लिया। अलिफ लैला के शहर बग़दाद का यह खातमा था। साम्राज्य के ५०० वर्ष में इस शहर में जो बेशुमार दौलत इकट्ठी हुई थी वह भी चली गई। खलीफा और उसके लड़के और रिश्तेदार कत्ल कर दिये गये। हफ्तों तक क़त्लेआम जारी रहा, यहाँ तक कि दजला (टाइग्रिस) नदी का पानी मीलो तक खून से लाल हो गया। कहते है कि १५ लाख आदमी मारे गये। कला और साहित्य के जो खज़ाने और पुस्तकालय थे, नष्ट कर दिये गये। बग़दाद बिलकुल बरबाद हो गया। पश्चिमी एशिया की नहरो की पुरानी प्रणाली भी, जो हज़ारो वर्षों से चली आती थी, हुलाकू ने नष्ट कर दी।

यही हाल एलप्पो, एलिस्सा और दूसरे शहरों का हुआ। पश्चिमी एशिया पर रात का अंधेरा छागया। उस ज़माने का एक इतिहासकार लिखता है कि यह "विज्ञान और गुण के अकाल का युग था।" फिलस्तीन को एक मंगोल फौज भेजी गई थी लेकिन मिस्र के सुलतान बेबर नें उसे हरा दिया। इस सुलतान का एक अजीब उपनाम 'बन्दूकदार' था क्योकि उसके पास बंदूकचियो का एक फ़ौजी दस्ता था। अब हम उस ज़माने तक पहुँच गये हैं, जब बन्दूको का इस्तैमाल शुरू होगया था। चीन के लोग बहुत दिनों से बारूद के बारे में जानते थे। मंगोलो ने ग़ालिबन इसे चीनियो से सीखा और यह मुमकिन है कि इन लोगो को बारूदी हथियारों की वजह से विजय में सहायता मिली हो। मंगोलो के ज़रिये ही आग्नेयास्त्र (फायर आर्म्स—बंदूके वग़ैरा) योरप में दाखिल हुए।

१२५८ ई० में बग़दाद की बरबादी से अब्बासिया साम्राज्य का जो कुछ बचा था वह भी खत्म हो गया। पश्चिमी एशिया में इस खास तरह की अरबी सभ्यता का इसे अन्त कहना चाहिए। दक्षिण स्पेन में ग्रेनाडा अभीतक अरब परिपाटी पर चल रहा था। यह भी २०० वर्ष बाद खतम होगया। अरबस्तान खुद महत्त्व में घटता गया और वहाँ के लोगो ने इसके बाद इतिहास में कोई बड़ा हिस्सा नहीं लिया। ये लोग कुछ दिनो के बाद उस्मानी तुर्की साम्राज्य के अंग बन गये। १९१४ और १८ के यूरोपीय महायुद्ध में, अंग्रेजों के उभाड़ने से, अरबों ने तुर्कों के ख़िलाफ़ विद्रोह किया था और उस वक्त से अरबस्तान कमोबेश आज़ाद है।

दो वर्ष तक कोई ख़लीफा नहीं रहा। मिस्र के सुलतान बेबर ने आखिरी अब्बासिया खलीफा के एक रिश्तेदार को ख़लीफ़ा नामज़द कर दिया लेकिन उसके पास कोई राजनैतिक अधिकार नहीं थे; वह तो सिर्फ धर्म-गुरु था। ३०० वर्ष बाद कुस्तुन्तुनिया के तुर्की सुलतान ने ख़लीफ़ा की इस उपाधि को उसके आख़िरी उपाधिधारी से ले लिया। तबसे तुर्की सुलतान ख़लीफा भी कहलाने लगे। अभी कुछ ही साल हुए, मुस्तफ़ा कमालपाशा ने सुलतान और ख़लीफा दोनों को ख़तम कर दिया।

मैं अपनी कहानी से भटक गया। 'बड़ा ख़ान' मंगू १२३९ ई० में मर गया। मरने के पहले उसने तिब्बत को जीत लिया था। उसके बाद चीन का गवर्नर कुबलाईखां 'बड़ा खान' बना। कुबलाई बहुत दिनो तक चीन में रह चुका था और उसे यह देश पसन्द था, इसलिए उसने अपनी राजधानी कराकुरम से हटाकर पेकिंग में कायम की और उसका नाम 'खानबालिक' यानी 'खान का नगर' रक्खा। कुबलाई चीन के मामलो में इतनी दिलचस्पी रखता था कि उसने अपने बडे साम्राज्य का ख्याल नहीं किया और धीरे-धीरे बडे-बडे मंगोल गवर्नर आज़ाद हो गये।

कुबलाई ने चीन की विजय पूरी करली लेकिन इस हमले में और इसके पहले के मंगोल हमलो में फ़र्क था। इसमें बेरहमी और बरबादी बहुत कम थी। चीन ने कुबलाई को ठंडा कर दिया था और उसे सभ्य बना दिया था। चीनी लोग भी इसके साथ बहुत अच्छा बर्ताव करते और उसे अपना आदमी मानते थे। कुबलाई ने ही युआन वंश, जिसे कट्टर चीनी वंश कहना चाहिए, चलाया। कुबलाई ने ही टांकिंग, अनाम और बर्मा जीतकर अपने राज्य में मिलाया था। वह जापान और मलेशिया भी जीतना चाहता था लेकिन कामयाब नहीं हुआ। क्योंकि मंगोलों को समुद्रो में सफ़र करने और लड़ने की आदत नहीं थी और उनको जहाज़ बनाना भी नहीं आता था।

मंगूखां के जमाने में, फ़्रांस के बादशाह लुई नवम की तरफ से एलची आये थे। लुई ने यह तजवीज़ की थी कि योरप की ईसाई ताकतें और मंगोल मिलकर मुसलमानो का विरोध करें। बेचारे लुई को बहुत बुरे दिन देखने पडे थे क्योंकि क्रूसेड के ज़माने में वह क़ैद कर लिया गया था। लेकिन मंगोलों को ऐसी दोस्ती में कोई दिलचस्पी नहीं थी और न उन्हे किसी जाति से धर्म की बिना पर लड़ाई करना ही अच्छा लगता था।

फिर वे योरप के छोटे-छोटे राजाओ से क्यों और किसके ख़िलाफ दोस्ती करते? उन्हें पश्चिमी यूरोपीय राज्यो या मुसलमानी राज्यों की सिपहगीरी से कोई डर नहीं था। यह इत्तिफ़ाक़ की बात थी कि पश्चिमी योरप इनसे बच गया था।

सेलजूक तुर्क इनके सामने सर झुकाते थे और खिराज देते थे। सिर्फ मिस्र का सुलतान ही ऐसा था जिसने मंगोल फौज को हराया था लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि अगर मंगोल चाहते और कोशिश करते तो उसे हरा देते। एशिया और योरप भर में, विशाल मंगोल साम्राज्य फैला हुआ था। मंगोलों की विजय के बराबर इतिहास में दूसरी विजय नहीं हुई और न इतना बड़ा साम्राज्य ही हुआ है। मंगोल उस वक्त दुनिया के बादशाह मालूम होते थे। हिन्दुस्तान उनसे आजाद था सिर्फ इसलिए कि मंगोल उस तरफ झुके नहीं थे। पश्चिमी योरप, जो हिन्दुस्तान के बराबर था, इस साम्राज्य से बाहर था लेकिन वे हिस्से सिर्फ इसलिए आजाद थे कि मंगोल लोग उधर ध्यान नहीं दे रहे थे वर्ना वे जब चाहते, इन्हे हजम कर सकते थे। तेरहवीं सदी में लोगो को ऐसा ही मालूम होता रहा होगा।

लेकिन मंगोलो की जबरदस्त ताकत कुछ घटने लगी थी और विजय करने की प्रेरणा कम होती जारही थी। तुम्हे यह न भूलना चाहिए कि उस जमाने में लोग या तो घोडे पर या पैदल चलते थे। सफर का इससे ज्यादा तेज कोई जरिया नहीं था। मंगोलिया के अपने देश से, साम्राज्य के पश्चिमी सरहद पर, योरप में जाने के लिए सेना को सफ़र में सालभर लग जाते थे, और विजय के लिए इनमें इतना उत्साह नहीं था कि वे अपने साम्राज्य में से होकर इतने लम्बे-लम्बे सफ़र करते; जब कि लूटमार की कोई गुंजाइश न थी। इसके अलावा लड़ाई में बराबर कामयाबी हासिल होते रहने और लड़ाई के दिनों में लूटमार करने की वजह से मंगोल सिपाही बहुत अमीर हो गये थे। इनमें बहुतों के पास गुलाम भी थे, इसलिए वे ठंडे पड़ गये और शान्तिमय तरीको को इख्तियार करने लगे। जिसे अपनी जरूरियात की सब चीजें हासिल होती है वह शान्ति और सुलह के ही पक्ष में हुआ करता है।

विशाल मंगोल साम्राज्य का शासन बड़ा मुश्किल काम रहा होगा इसलिए यह ताज्जुब की बात नहीं कि यह बिखरने लगा। कुबलाई खाँ १२९२ ई० में मरा। इसके बाद कोई बड़ा खान नहीं हुआ और साम्राज्य इन पांच हिस्सो में बँट गया :—

१. चीन का साम्राज्य—जिसमें मंगोलिया, मंचूरिया और तिब्बत शामिल थे। यह मुख्य भाग था और कुबलाई के युआन राजवंश के लोग इसके मालिक थे।

२. सुनहले कबीलो का (यह मुग़लो का स्थानीय नाम था) साम्राज्य। यह बिलकुल पश्चिम, रूस, पोलैंड और हँगरी में था।

३. इलखान साम्राज्य। यह ईरान, इराक और मध्य एशिया के एक हिस्से में था। इसकी बुनियाद हलाकू ने डाली थी और सेलजूक़ तुर्क इसे ख़िराज देते थे।

४. चग़ताई साम्राज्य। यह मध्य एशिया में, तिब्बत के उत्तर में, था। इसे महान् तुर्की कहते थे।

५. साइबेरियन साम्राज्य। यह मंगोलिया और 'सुनहले कबीले राज्य के बीच में था।

हालांकि इस विशाल मंगोलियन साम्राज्य के टुकडे हो गये थे लेकिन ये पाँचों टुकडे, अपनी-अपनी जगह पर खुद भी विशाल साम्राज्य थे।

: ६६ :

महान् यात्री मार्कोपोलो

२७ जून, १९३२

मैंने तुमसे क़राकुरम में 'बडे खां' के दरबार का जिक्र किया है कि मंगोलो की शोहरत और उनकी विजय की चमक-दमक से खिचकर कैसे सैकडो सौदागर, कारीगर, विद्वान और उपदेशक वहाँ इकट्ठा होने लगे थे। ये लोग इसलिए भी आते थे कि मंगोल इनको प्रोत्साहन देते थे। ये मंगोल लोग अद्‌भुत थे। बाज़-बाज बातो में बेहद क़ाबिल थे और बाज बातों में बिलकुल बच्चे। इसकी बेरहमी और भीषणता में भी, हालांकि वह दिल को दहला देती है, एक तरह का बचपन पाया जाता है और इसी बचपन की वजह से, मै समझता हूँ, ये खूँखार सिपाही किसी क़दर चित्ताकर्षक है। कई सौ बरस बाद एक मंगोल, या मुग़ल ने, जैसा कि वह हिन्दुस्तान में पुकारा जाता था, हिन्दुस्तान को जीता। इसका नाम बाबर था। उसकी माँ चंगेज़ खां के वंश की थी। हिन्दुस्तान जीतने के बाद यह काबुल और उत्तर की ठंडी-ठंडी हवा, फूलो, बग़ीचो और तरबूज़ों के लिए तरसता था। यह बहुत ही भला आदमी था और उसनें अपने संस्मरणों की जो किताब लिखी है उसकी वजह से तो यह और भी दिल को खींचनेवाला और भला आदमी मालूम होने लगता है।

इस तरह से मंगोल लोग अपने दरबार में बाहर के यात्रियो को आने के लिए प्रोत्साहन देते थे। इनमें ज्ञान की प्यास थी और ये उनसे सीखना चाहते थे। तुम्हे याद होगा, मैंने तुमको बताया था कि जैसे ही चंगेज खाँ को मालूम हुआ कि लिखनें-जैसी भी कोई चीज है उसने उसका महत्व समझ लिया और अपने अफसरो को सीखने का हुक्म दिया था। इनके दिमाग़ खुले रहते थे और ये दूसरों से सीख सकते थे। कुबलाई ख़ाँ, पेकिंग में बसने के बाद और शरीफ चीनी सम्राट् बन जाने पर, खास तौर से विदेशी यात्रियों को प्रोत्साहन देता था। उसके पास वेनिस से दो मुसाफ़िर

आये थे—एक का नाम था निकोलो पोलो, और दूसरे का मैफियो पोलो। ये लोग व्यापार की तलाश में बुखारा तक गये थे और वहाँ इनसे, ईरान में हलाकू के पास भेजे हुए कुबलाई खा के कुछ प्रतिनिधि मिले। उन लोगो ने इन दोनो सौदागरो को कारवां में शामिल होने को कहा और इस तरह से निकोलो पोलो और मेफियो पोलो बडे खॉ के दरबार में पेकिंग पहुँचे।

कुबलाई खॉ ने निकोलो और मैफियो का अच्छा स्वागत किया। उन्होंने खॉ को योरप, ईसाईधर्म और पोप के बारे में बताया। वह इनकी बातो से बहुत खुश हुआ और ऐसा मालूम होता था कि वह ईसाई धर्म की तरफ झुक रहा है। उसने १२६९ ई० में इन दोनो को योरप वापस भेजा और यह सदेशा पोप से कहलाया कि वह कुबलाई के पास १०० विद्वान, जो सातों कलाओ के जानने वाले और ईसाई-धर्म समझा सकनेवाले हो, भेज द। लेकिन ये लोग जब योरप वापस आये, उस समय पोप और योरप दोनो की हालत बुरी थी। इस किस्म के सौ आदमी थे ही नही। दो वर्ष के बाद ये लोग दो ईसाई साधुओ को साथ लेकर वापस आये लेकिन इससे ज्यादा खास बात इन्होने यह की कि अपने साथ निकोलो के नौजवान लड़के मार्को को भी ले आये।

तीनो पोलो अपने लम्बे सफर पर रवाना हुए और खुश्की के रास्ते से इन्होने एशिया की पूरी लम्बाई तय की। कितना बड़ा सफर यह था। अगर आज भी कोई उसी रास्ते पर जाय जिस पर पोलो गये थे तो क़रीब-करीब साल भर लग जायगा। पोलो ने कुछ हद तक ह्यूएनत्साग का पुराना रास्ता लिया था। वे फिलस्तीन होकर आरमीनिया आये और वहां से इराक और ईरान की खाडी पहुँचे। यहां उन्हे हिन्दुस्तान के सौदागर मिले। ईरान पार करके वे बलख पहुँचे और वहाँ से पहाडो में होते काशगर। काशगर से खुतन, खुतन से लाप-नोर झील जो चंचल झील (Wandering Lake) कहलाती है, होते और रेगिस्तान पार करते हुए चीन और पेकिंग के मैदानो में पहुँचे। उनके पास एक सबसे बड़ा पासपोर्ट था। बडे खां ने खुद सोने की तख्ती पर खुदवाकर उन्हे कहीं भी जाने का हुक्म दे रखा था।

प्राचीन रोम के जमाने में, चीन और सीरिया के बीच में, कारवान का यही पुराना रास्ता था। कुछ दिन हुए मैंने स्वीडन के मशहूर सय्याह और मुसाफिर स्वेन हेडेन का गोबी के रेगिस्तान पार करने का हाल पढ़ा है। वह पेकिंग से पश्चिम की ओर चला था। उसने रेगिस्तान पार किया और लाप-नोर की झील को छूता हुआ खुतन और उसके आगे पहुँचा। उसके पास आजकल के जमाने की सारी सहूलियतें थी। फिर भी उसे सफर में बडी परेशानी और तकलीफ हुई। फिर ७०० और १३०० वर्ष पहले, जब पोलो और ह्यूएनत्सांग ने सफ़र किया होगा, इस रास्ते की

क्या हालत रही होगी ? स्वेन हेडेन ने एक दिलचस्प खोज की है। उसने यह मालूम किया कि लाप-नोर झील का स्थान बदल गया है। बहुत दिन हुएं, चौथी सदी में, तारिन नदी ने, जो लाप-नोर में गिरती है, अपना मार्ग बदल दिया था। रेगिस्तान की बालू ने फौरन आकर उन जगहो को ढक लिया जहाँ से नदी होकर गुजरी थी। लाउलन का पुराना शहर, जो वहाँ बसा था, बाहरी दुनिया से बिलकुल अलग होगया और इसके निवासी शहर को बरबादी की हालत में छोड़कर निकल पडे। झील ने भी नदी की वजह से अपना मुकाम बदल दिया और यही हालत पुराने कारवान और व्यापारी रास्ते की हुई। स्वेन हेडेन ने देखा कि हाल ही में, कुछ ही वर्ष हुए, तारिन नदी ने फिर अपना रास्ता बदल दिया और अपने पुराने रास्ते पर चली गई। झील भी इसके पीछे-पीछे गई और आज फिर तारिन की नदी पुराने लाउलन नगर के खँडहर से होकर बह रही है और मुमकिन है कि वह पुराना रास्ता, जो १६०० वर्ष से काम में नहीं आया, फिर चलने लगे। लेकिन ऊँट की जगह पर अब मोटरें चलेंगी। इसी वजह से लाप-नोर को 'चंचल' या घूमनेवाली झील कहते है। मैंने तुमसे लाप-नोर और तारिन नदी की चंचलता का इसलिए जिक्र कर दिया कि तुम्हे मालूम हो जाय कि नदी के रास्ते में तब्दीली आजाने की वजह से बडे-बडे क्षेत्रो पर कैसे तब्दीली आजाती है और इतिहास पर कैसे असर पडता है। पुराने जमाने में मध्य एशिया में बडी घनी बस्ती थी और आदमियो के झुड के झुड उमड़-उमड़ कर पश्चिम और दक्षिण जीतने के लिए निकले थे। आज कल यह हिस्सा बिलकुल रेगिस्तान है। इसमें कोई शहर नही पाये जाते और आबादी बहुत बिखरी हुई है। शायद उस वक्त ज्यादा पानी रहा हो और यह हिस्सा बहुत बडी आबादी का पालन पोषण करता रहा हो। जैसे-जैसे मौसम खुश्क होता गया और पानी कम पड़ता गया, आबादी घटती गई।

इन लम्बे-लम्बे सफरो से एक फायदा था। मुसाफ़िरो को नई जबानो के सीखने का समय मिलता था। तीनो पोलो को वेनिस से पेकिग तक पहुँचते-पहुँचते साढ़े तीन वर्ष लग गये और इस लम्बे ज़माने में मार्को को मंगोलो की जबान और शायद चीनी भाषा को अच्छी तरह सीखने का मौक़ा मिल गया। मार्को 'बडे खाँ' का बहुत प्रिय हो गया और उसने करीब १७ साल तक उसकी सेवा की। उसे एक सूबे का गवर्नर बना दिया गया था और वह सरकारी काम पर चीन के जुदे-जुदे हिस्सो में जाया करता था। हालाकि मार्को और उसके पिता अपने देश को वापस जाने को बडे उत्सुक थे; उनको अपने घर और देश की याद सताती थी और वेनिस वापस जाना चाहते थे लेकिन खाँ की इजाजत मिलना आसान नहीं था। आखिरकार

उनको वापस जाने का मौका मिल गया। ईरान में इलखान साम्राज्य के मंगोल शासक की बीवी मर गई। वह शासक कुबलाई का चचेरा भाई था। वह फिर शादी करना चाहता था लेकिन उसकी पुरानी स्त्री ने यह वादा करा लिया था कि वह अपने फिरके के बाहर शादी न करे इसलिए आरगोन ने (कुबलाई के चचेरे भाई का यही नाम था) कुबलाई खाँ के पास पेकिंग संदेशा भेजा और उससे प्रार्थना की कि अपने ही फिरके की एक योग्य स्त्री उसके पास भेज दे।

कुबलाई खां नें एक नौजवान मंगोल राजकुमारी को चुना और तीनों पोलो को उसके साथ कर दिया क्योंकि ये लोग तजुर्बेकार मुसाफ़िर थे। ये लोग समुद्र के रास्ते दक्षिण चीन से सुमात्रा गये और वहां कुछ दिन ठहरे। सुमात्रा में उस वक्त श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य कायम था। सुमात्रा से ये लोग दक्षिण हिन्दुस्तान आये। मैं तुमको, पाण्ड्य राज्य के मशहूर बंदरगाह कायल में मार्कोपोलो के आने के बारे में पहले ही लिख चुका हूँ। राजकुमारी के साथ मार्को और दूसरे लोग हिन्दुस्तान में काफी वक्त तक ठहरे। मालूम होता है कि इन्हे कोई जल्दी नहीं थी क्योंकि इन्हे ईरान पहुँचते-पहुँचते दो वर्ष लग गये, लेकिन इस दरमियान जिसके साथ शादी होने वाली थी वह दूल्हा मर चुका था। उसने काफी इन्तिज़ार किया था। शायद उसका मरना कोई बहुत बडी आपत्ति नहीं थी। नौजवान राजकुमारी की शादी आरगोन के लड़के से हो गई, जो उसका हम उम्र था।

पोलो ने राजकुमारी को तो वहीं छोड दिया और खुद कुस्तुन्तुनिया होते हुए अपने घर गये। सन् १२९५ ई० में, यानी घर छोड़ने के २४ वर्ष बाद, वे वेनिस पहुँचे। किसीने उनको नही पहचाना। कहते हैं कि अपने पुराने दोस्तो और दूसरो पर असर डालनें के लिए उन्होने एक दावत की और जब लोग खारहे थे, उसीके बीच उन्होने अपने फटे-पुराने और रुई भरे कपडे तराश डाले। फौरन ही कीमती जवाहिरात, हीरा, लाल, पन्ना, ढेरो उनके कपडो से निकल पडे; मेहमान हैरत में आगये। फिर भी बहुत कम आदमियो ने पोलों की कहानियो पर और चीन और हिन्दुस्तान में उनके कारनामों पर यकीन किया। इन लोगो ने समझा कि मार्को और उसके पिता और चचा बढ़ाकर बातें कर रहे हैं। वेनिस के अपने छोटे-से प्रजातत्र में महदूद होने की वजह से इनको यह कल्पना ही नहीं हो सकती थी कि चीन और एशिया के देश इतने बडे और मालदार हो सकते हैं।

तीन वर्ष बाद वेनिस और जेनेवा के शहरो में लड़ाई हुई। ये दोनों समुद्री ताकते थीं और दोनो में लाग-डाँट थी। दोनो के दरमियान समुद्री लड़ाई हुई। वेनिस के लोग हार गये और जेनेवावालो ने कई हज़ार आदमियो को कैद कर

लिया। इन कैदियो में हमारे मित्र मार्कोपोलो भी थे। जेनेवा के क़ैदखाने में बैठकर मार्कोपोलो ने अपना यात्रा-वर्णन लिखा या यो कहिए, लिखाया। इस तरीके से 'मार्कोपोलो के यात्रा-वर्णन' का जन्म हुआ। अच्छे काम करने के लिए जेलखाना क्या ही उम्दा जगह है।

इस सफ़रनामे में मार्को ने खास तौर से चीन का हाल लिखा है और उन अनेक यात्राओ का भी जिक्र किया है जो उसने चीन में की थी। उसने स्याम, जावा सुमात्रा, लंका और दक्षिण हिन्दुस्तान का भी हाल लिखा है। उसने बताया है कि चीन में बडे-बडे बन्दरगाह थे, जहा पूरब के देशो से सैकडो जहाज आया करते थे और बाज-बाज जहाज तो इतने बडे होते थे कि उनमें ३००, या ४०० मल्लाह हुआ करते थे। उसने लिखा है कि चीन एक हरा-भरा और दौलतमन्द देश था जिस में अनेक शहर और कस्बे थे। "रेशमी और सुनहले कपडे और बहुत ही नफीस तापता बनते थे।" यह देश "बागो और अंगूर के बगीचो" से भरा हुआ था। सड़को पर मुसाफ़िरो के ठहरने के लिए, अच्छी-अच्छी सरायें बनी हुई थी। उसने यह भी लिखा है कि बादशाह के हुक्म और संदेश पहुँचाने के लिए खास इन्तजाम था। ये शाही संदेश या हुक्मनामे घोडो की डाक से २४ घंटे में ४०० मील तक ले जाये जाते थे और यह दरअसल बहुत अच्छी रफ्तार है। बीच-बीच में घोडे बदल दिये जाते थे। उसने यह भी बतलाया है कि चीन के लोग काला पत्थर, जिसे वे जमीन से खोदते थे, ईंधन के काम मे लाते थे। इससे साफ़ जाहिर है कि चीनी लोग कोयले की खाने खोदते थे और कोयला इस्तेमाल करते थे। कुबलाई खाँ ने कागज के नोट चला रखे थे, उनके बदले सोने के सिक्के देने का वायदा होता था, जैसे आज-कल चलते है। यह बडी दिलचस्प बात है; क्योकि इससे पता चलता है कि उसने आज-कल के तौर-तरीके पर लेन-देन का इन्तजाम कर रखा था। मार्को ने यह भी लिखा है कि प्रेस्टर जॉन नाम के शासक की मातहती में ईसाइयो की एक आबादी चीन में रहती थी। इस खबर से योरप के लोगो को बड़ा अचम्भा हुआ। शायद ये लोग मंगोलिया के पुराने नेस्टोरियन रहे हो।

मार्को ने जापान, बर्मा और हिन्दुस्तान के बारे मे भी लिखा है। बहुतसी बाते ऐसी लिखी है जो उसने खुद देखी थी, और बहुतसी ऐसी जो सुनी थी। मार्को की कहानी अभी तक भी सफ़र की अदभुत कहानी मानी जाती है। इस कहानी ने योरप के लोगो की आँखें खोल दीं। जो लोग अपने छोटे-छोटे देशो में, अपने छोटे ईर्षा और द्वेष में फँसे हुए थे, उनकी आँखो के सामने विशाल संसार की महानता, संपत्ति और चमत्कार आगया। इससे उनकी कल्पना को उत्तेजना मिली; साहस की भावना बढ़ी और लोभ-लालच में तेजी पैदा

हो गई। इससे उन्हे समुद्र-यात्रा करने का प्रोत्साहन मिला। योरप बढ़ रहा था; उसकी नई सभ्यता अपने पैरो पर खडी हो रही थी और मध्य-काल की बंदिशो को तोड़कर बाहर आरही थी। वह जिन्दगी और जोश से भर रही थी और जवानी पर आरही थी। समुद्र-यात्रा की इसी प्रेरणा की वजह से और धन तथा साहस के खतरनाक कामों की तलाश में यूरोपियन लोग इसके बाद अमेरिका पहुँचे। केप आफ गुड होप (उत्तमाशा अन्तरीप)के चारो तरफ होते हुए प्रशांत महासागर, हिन्दुस्तान, चीन और जापान पहुँचे। समुद्र दुनिया का राजमार्ग बन गया और महाद्वीपो के कारवान के बडे-बडे रास्तो का महत्व कम हो गया।

मार्को के चले आने के थोडे दिन बाद ही 'बडे खां' कुबलाई की मृत्यु हो गई। युआन राजवश, जिसका यह जन्मदाता था, इसके मरने के बाद बहुत दिन तक नहीं चला। मंगोलो की ताकत तेजी के साथ घटने लगी और विदेशियों के खिलाफ चीन में एक राष्ट्रीय लहर पैदा हो गई। ६० वर्ष के अन्दर ही मगोल दक्षिण चीन से निकाल दिये गये और नानकिंग में एक चीनी सम्राट वन वैठा। इसके १२ वर्ष बाद, १३६८ ई० में, यूआन राजवंश का विलकुल खातमा हो गया और मंगोल लोग चीन की 'वडी दीवार' के बाहर निकाल दिये गये। एक दूसरा चीनी राजवंश—ताईमिंग राजवंश—अब सामने आगया। इसने ३०० वर्ष तक चीन में राज किया। यह जमाना सुशासन, संपन्नता और सभ्यता का जमाना समझा जाता है। दूसरे देश को जीतने की या साम्राज्य बनाने की इन लोगो ने कोई कोशिश नहीं की।

चीन में मगोल साम्राज्य टूट जाने की वजह से, चीन और योरप का संपर्क भी टूट गया। खुश्की के रास्ते अब सुरक्षित नहीं रह गये थे और समुद्र के रास्तों का अभी इतना ज्यादा इस्तेमाल शुरू नहीं हुआ था।

: ७० :

रोमन चर्च का फ़ौजी बाना

२८ जून, १९३२

मैंने तुम्हे बताया है कि कुबलाईखा ने पोप के पास एक संदेसा भेजा था और कहा था कि चीन को सौ विद्वान आदमी भेज दे। लेकिन पोप इस संदेसे के मुताबिक काम नही कर सका। उस वक्त वह बुरी हालत में था। अगर तुम्हें याद हो तो यह सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय की मृत्यु के बाद का जमाना था, जबकि १२५० ई० से १२७३ ई० तक कोई गद्दी पर था ही नहीं। उस वक्त मध्य योरप की बडी बुरी हालत थी।

चारों तरफ़ बदइन्तिज़ामी थी और डाकू सरदार हर जगह लूट-मार करते फिरते थे। १२७३ ई० में हैप्सबर्ग का रूडोल्फ़ सम्राट हुआ लेकिन इससे हालत कुछ सुधरी नहीं बल्कि इटली साम्राज्य से निकल गया।

यहाँ इस समय खेल राजनैतिक अशान्ति ही नहीं थी; रोमन चर्च के दृष्टिकोण से धार्मिक अशान्ति की शुरूआत भी हो चुकी थी। लोग उतने फ़र्माबरदार नहीं रह गये थे और न चर्च के हुक्मों का ही नम्रता से पालन करते थे। लोग शंका करने लग गये थे और मजहबी मामलों में शंका ख़तरनाक चीज होती है। हम देख चुके है, सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय पोप के साथ लापरवाही का बर्ताव करता था और समाज से निकाल दिये जाने से नही डरा था। उसने पोप के साथ खतो के जरिये बहस भी शुरू कर दी थी जिसमें पोप को नीचा देखना पड़ा था। फ़्रेडरिक की तरह योरप में उस वक्त बहुत से शंका करनेवाले रहे होगे। बहुत से इस तरह के भी आदमी रहे होगे जो चाहे पोप या चर्च के अधिकारो पर शंका न भी करते रहे हो लेकिन जिन्हे चर्च के बडे आदमियो की विलासिता और दुष्टता का जीवन बुरा मालूम होता रहा होगा।

क्रूसेड की लड़ाइयाँ बदनामी और बेइज्जती के साथ ख़तम हो रही थी। इनकी शुरूआत बडी उम्मीदो और बडे उत्साह से हुई थी लेकिन इनसे कुछ मतलब न निकला। इस किस्म की नाकायाबियो से फिर प्रतिक्रिया होती है। चर्च से असन्तुष्ट होकर लोग धीरे-धीरे प्रकाश की खोज में दूसरी जगहो पर नजर दौडाने लगे। चर्च ने जोर-जबर्दस्ती से इसका बदला लिया और आतंकवाद के साधनो से आदमियो के दिमाग़ के ऊपर कब्ज़ा कायम रखना चाहा। चर्च यह बात बिलकुल भूल गया कि आदमी का दिमाग अजीब होता है और पाशविक बल इसके खिलाफ बहुत ही कमजोर हथियार है। उसने कोशिश यह की कि व्यक्तियो के और समूहो के अदर उठनेवाले ख़्यालो का गला घोट दे। उसने शका का जवाब युक्ति और दलील से न देकर डंडे और यातना से दिया।

११५५ ई० में, ब्रेशिया (इटली) के लोकप्रिय और ईमानदार उपदेशक एर्नाल्ड पर चर्च का गुस्सा उतरा। एर्नाल्ड पादरियो की विलासिता और भ्रष्टता के खिलाफ प्रचार करता था। उसे पकड़कर फाँसी पर लटका दिया गया। फिर उसकी लाश को जलाकर राख टाइबर नदी में फेंक दी गई कि कही लोग उसे यादगार की तरह न रख लें। मरते दम तक एर्नाल्ड शात और गम्भीर रहा।

पोप इस मामले में यहाँतक बढ गया था कि ईसाइयो के गिरोह-के-गिरोह को, जो धार्मिक सिद्धान्तो मे उससे जरा भी मतभेद रखता या पादरियो के तौर-तरीको की ज्यादा आलोचना करता, चर्च या समाज से बाहर निकाल देता। इन लोगो के

ख़िलाफ बाकायदा युद्ध की घोषणा कर दी जाती थी और इन पर हर किस्म की शर्मनाक बेरहमी और भीषणता का वार होता था। अलबिगुइस (या अलबिजेन्सस) लोगों के साथ, जो दक्षिण फ्रांस के टूलोज नगर के थे, और वाल्डेन्सेस के साथ, जो वाल्डो के अनुयायी थे, इसी किस्म का बर्ताव हुआ था।

इसी समय, या इससे कुछ पहले, इटली में एक आदमी रहता था, जो ईसाई धर्म के इतिहास में एक बड़ा ही आकर्षक व्यक्ति हुआ है। यह असीसी का फ्रांसिस था। यह बड़ा अमीर आदमी था लेकिन इसने अपनी अमीरी को छोड़कर गरीबी इख़्तियार करली थी और बीमारों और गरीबों की सेवा के लिए बाहर निकल पडा था। चूँकि कोढ़ी सबसे ज्यादा दुखी थे और लोग सबसे कम उनकी परवाह करते थे इसलिए खास तौर से वह उनकी सेवा में लगा रहता था। उसने एक संघ चलाया, जो बौद्ध संघ की तरह था। इसे 'सेंट फ्रांसिस का आर्डर' यानी संघ कहते हैं। यह एक जगह से दूसरी जगह प्रचार करता हुआ और लोगो की सेवा करता हुआ फिरता था और हजरत ईसा की तरह अपनी जिन्दगी बिताने की कोशिश करता था। हजारो आदमी इसके पास आते थे और बहुत से इसके शिष्य हो गये। जब क्रूसेड चल रहे थे तब यह मिस्र और फिलस्तीन गया था। हालाँकि वह ईसाई था लेकिन मुसलमान भी इस शान्त और हर-दिल-अजीज शख़्स की इज्जत करते थे और उन्होने किसी तरह से उसके काम में दस्तंदाजी नहीं की। ११८१ से १२२६ तक वह जिन्दा रहा। उसके मरने के बाद उसके संघ की चर्च के ऊँचे अफसरों से टक्कर हो गई। शायद चर्च को यह पसन्द नहीं था कि गरीबी की जिंदगी पर इतना जोर दिया जाय। ग़रीबी और सादगी से जिंदगी बिताने के इस पुराने ईसाई सिद्धान्त को चर्चवाले भूल गये थे। १३१८ ई० में मार्सेलीज में फ्रांसिस के संघ के चार साधु, काफिर होने के अपराध में, जिन्दा जला दिये गये।

कुछ साल हुए, असीसी के छोटे से शहर में संत फ्रांसिस की यादगार में एक बहुत बडा जलसा हुआ था। मुझे याद नहीं पडता कि उस साल यह जलसा क्यो किया गया। शायद यह उसके मरने का सातसौवाँ साल रहा हो।

फ्रांसिस के संघ की तरह, लेकिन भावना में उससे बिलकुल भिन्न, एक दूसरा संघ चर्च के अन्दर पैदा हुआ। उसका चलानेवाला एक स्पेन-निवासी सेण्ट डोमिनिक था। इस संघ को 'डोमिनिकन आर्डर' कहते हैं। यह संघ उग्र और कट्टर था। इन लोगो के खयाल में मजहब को कायम रखने के बडे फर्ज के सामने दुनिया की सारी चीजें फिजूल थीं। उनका खयाल था कि अगर ये फर्ज समझाने बुझाने से पूरे नहीं हो सके तो जोर जबर्दस्ती से भी काम लेना चाहिए।

मजहब में चर्च ने हिंसा और जब्र का राज्य बाकायदा और सरकारी तौर पर १२३३ में 'इन्क्विजिशन' को जारी करके शुरू किया। 'इन्क्विजिशन' एक किस्म की अदालत होती थी जो लोगो के धार्मिक सिद्धान्तो पर विचार करती थी। अगर इस अदालत की राय में लोग चर्च के धार्मिक सिद्धान्तो में पक्के साबित नही होते थे तो उनकी मामूली सजा यह थी कि वे जिन्दा जला दिये जाते थे। काफिरो यानी नास्तिकों की बाकायदा खोज होती रहती थी और उनमें से सैकडो जिन्दा जला दिये गये। जिन्दा जलानें से भी बदतर यातना पहुँचाने की प्रथायें थी ताकि काफिर लोग पुराने धर्म में वापस आजायें। बहुतेरी गरीब अभागी औरतो पर टोना-टोटका करने का अपराध लगाया जाता था और वे जिन्दा जला दी जाती थी लेकिन यह बात, खास कर इंग्लैण्ड और स्काटलैंड में, अक्सर जनता की उत्तेजित भीड करती थी। 'इनक्विजिशन' यानी मजहबी अदालत के फैसले से ऐसा नही होता था।

पोप ने एक 'धर्माज्ञा' (Edict of Faith) निकाली जिसमें हरेक आदमी को हुक्म दिया गया कि मुखबिर का काम करे। पोप ने केमिस्ट्री (रसायन शास्त्र) को शैतानी हुनर कहकर नाजायज करार दिया था, और मजा यह कि यह सारी हिंसा और अत्याचार ईमानदारी के साथ किया गया था। ये लोग ईमानदारी के साथ इस बात पर यकीन करते थे कि किसी आदमी को जिन्दा जलाकर उसकी आत्मा को और दूसरो की आत्मा को बचा रहे है! मजहबी आदमियो ने अक्सर दूसरो से अपनें खयाल जर्बदस्ती मनाने की कोशिश की है और दूसरो के हलक के नीचे अपने खयालात उतारे है और समझते रहे है कि हम जनता की सेवा कर रहे हैं। ईश्वर के नाम पर इन्होंने हत्यायें की है और लोगो की जाने ली है। और अविनाशी आत्मा को बचाने की बात करते हुए इन्होने नाशमान शरीर को भस्म कर देने में जरा भी संकोच नहीं किया है। मजहब की करतूतें बडी खराब रही है पर इस अमानुषिक बेरहमी में 'इनक्विजिशन' यानी इस मजहबी अदालत का मुकाबिला करनेवाली कोई दूसरी चीज दुनिया में नही हुई। और फिर भी यह एक ताज्जुब की बात है कि बहुत से आदमी, जो इन अत्याचारो के लिए जिम्मेदार थे, इस काम को अपने जाती फ़ायदे के लिए नहीं लेकिन इस दृढ विश्वास से कर रहे थे कि वे ठीक काम कर रहे हैं।

जब पोपो ने योरप के ऊपर खौफ़ का यह राज्य फैला रखा था तब उधर राजा और सम्राटो के ऊपर उनका जो रौब था वह दूर होता जारहा था। वे दिन चले गये थे, जब पोप सम्राट को समाज से बाहर करने की धमकी देकर और डराकर अपना ताबेदार बना लेता था। जब पवित्र रोमन साम्राज्य की बुरी हालत होगई; कोई सम्राट

नही रहा या सम्राट रोम से दूर रहे तब फ्रांस का राजा पोप के कामो में दखल देने लगा। १३०३ ई० में पोप की किसी बात से फ्रांस का राजा नाराज हो गया। उसने पोप के पास एक आदमी भेजा जो ज़बर्दस्ती पोप के महल में घुसकर पोप के सोने के कमरे में चला गया और वहाँ पर पहुंचकर उसके मुंह पर उसका अपमान किया। इस बात पर किसी देश में असन्तोष नहीं हुआ। कहाँ यह बात और कहाँ कनौजा में, नगे पैर पोप से मिलने के लिए सम्राट के घंटो खडे रहने की बात !

कुछ साल बाद, १३०९ ई० में, एक नया पोप जो फ्रांसीसी था, एविगनन (जो अब फ्रांस में है) में रहने लगा। पोप लोग यहाँ १३७७ ई० तक, फ्रासीसी बादशाहो के प्रभाव में, रहते रहे। १३७८ ई० में पोप का चुनाव करनेवाले बडे पादरियो के संघ (College of Cordinals) में मत-भेद हो गया। इसे 'महान् झगड़ा' (The Gieat Schism) कहते हैं। इनकी दो पार्टियो ने अपना-अपना पोप अलग चुन लिया। एक पोप तो रोम में रहने लगा और सम्राट और उत्तर योरप के बहुत से देश इसको मानते थे। दूसरा जो एण्टी-पोप कहलाने लगा, एविगनन में रहता था। फ्रांस का राजा और उसके कुछ साथी राजा और सरदार उसका समर्थन करते थे। ४० वर्ष तक यह हालत रही। पोप और एण्टी-पोप एक दूसरे को कोसते और समाज से बहिष्कृत करते रहे। १४१७ ई० में समझौता हो गया और दोनो पार्टियो ने मिलकर एक नया पोप चुना जो रोम में रहता था लेकिन दोनो पोपो के बीच के इस अप्रिय झगडे का असर योरप के लोगो पर बहुत ज्यादा पड़ा होगा। जब पादरी लोग, और इस संसार में ईश्वर के प्रतिनिधि लोग, इस तरह की हरकतें करते हैं तो लोग उनकी पवित्रता और ईमानदारी पर शंका करने लगते हैं। इस तरह इस झगडे की वजह से, लोगो को मजहबी अफसरो को अधी तावेदारी से बाहर निकलने में बडी मदद मिल गई। फिर भी उनको अभी काफी जोरदार धक्के की जरूरत थी।

चर्च पर वाइक्लिफ नाम के एक अंग्रेज ने खुले आम आक्षेप करना शुरू कर दिया। वह पादरी था और आक्सफर्ड में प्रोफेसर था। बाइबिल का अंग्रेजी में पहली मर्तबा तर्जुमा करने के लिए वह मशहूर है। अपनी जिन्दगी में तो वह रोम के पोप के कोप से किसी तरह बच गया। लेकिन १४१५ ई० में, मरने के ३१ वर्ष बाद, चर्च कौंसिल ने हुक्म दिया कि उसकी हड्डियां खोदकर निकाली और जला दी जायें। इस हुक्म की पाबन्दी की गई।

हालांकि वाइक्लिफ की हड्डियो को कब्र खोदकर निकाला और जला दिया गया मगर उसके खयालात को आसानी से नही दबाया जा सका। वे फैलने लगे; यहाँतक कि बोहेमिया तक, जो अब जेकोस्लोवाकिया कहलाता है, पहुँच गये और उनका असर

जॉन हस पर हुआ, जो बाद में प्रेग विश्व-विद्यालय का प्रमुख हुआ। पोप ने जॉन हस को उसके खयालात की वजह से समाज से निकाल दिया लेकिन इससे उसके शहर में उसका कुछ नहीं बिगड़ा, क्योंकि वहाँ वह बहुत लोकप्रिय था। इसलिए एक चाल चली गई। उसे कॉन्स्टेंस, जो स्वीजरलैंड में है और जहां चर्च कौंसिल की बैठक हो रही थी, बुलाया गया और सम्राट ने वादा किया कि हिफाजत से वहां पहुँचा दिया जायगा। जॉन हस गया। उससे कहा गया कि तुम अपनी गलती मान लो लेकिन उसने जवाब दिया कि जबतक मैं समझ न लूं अपनी गलती नहीं मान सकता। इसपर हिफाजत के वादे के बावजूद उन्होंने उसे जिन्दा जला दिया। यह १४१५ ई० की बात है। हस बड़ा बहादुर आदमी था और जिसे वह झूठ समझता था उसे मान लेने की बनिस्बत यातनापूर्ण मृत्यु को बेहतर समझता था। वह अन्तःकरण और भाषण की स्वतंत्रता की वेदी पर शहीद हो गया। यह जेक लोगो का एक वीर पुरुष समझा जाता है और जेकोस्लोवाकिया में इसकी यादगार की आजतक इज्जत है।

जॉन हस की शहादत बेकार नहीं गई। चिनगारी के तरह इसने बोहेमिया में इसके अनुयायियो में विद्रोह की आग जला दी। पोप ने इन लोगो के खिलाफ क्रूसेड की घोषणा की। क्रूसेड एक सस्ती चीज थी; उसमें कुछ खर्च नही होता था और ऐसे भी बदमाशो की कमी नहीं थी जो ऐसे मौको से फायदा उठाते थे। इन जिहा-दियो ने, जैसा एच० जी० वेल्स ने लिखा है, "बेगुनाह लोगो पर बुरी तरह और दिल दहलादेने वाले अत्याचार किये"। लेकिन जब हस के अनुयायियो की फौज अपना लडाई का गाना गाती हुई आई, तो ये धर्म के लिए लड़ने वाले गायब हो गये। जिस रास्ते से ये आये थे उसी रास्ते तेजी से वापस चले गये। जब तक गॉव के बेगुनाह लोगो को मारने और लूटने का काम था, इन बहादुरो ने खूब जोश दिखाया, लेकिन सगठित सेना के आने पर वे भाग गये।

इस तरह से निरंकुश और अपनेको ही सच्चा माननेवाले मजहबी लोगो के खिलाफ बलवा और विद्रोह का सिलसिल शुरू हुआ, जो सारे योरप में फैल गया, उसको एक-दूसरे के खिलाफ दो दलो में बॉट दिया और ईसाई मजहब के दो टुकडे हो गये—एक कैथलिक, दूसरा प्रोटेस्टेण्ट।

: ७१ :

अधिकारवाद के खिलाफ़ लड़ाई

३० जून, १९३२

मुझे डर है कि योरप के मजहवी लड़ाई-झगडो का वयान तुम्हे नीरस मालूम होगा। लेकिन यह वयान महत्वपूर्ण है क्योकि इससे यह पता चलता है कि आज के योरप का विकास कैसे हुआ। इसकी मदद से हम योरप को समझ भी सकते हैं। मजहबी आजादी के लिए जो लड़ाई योरप में चौदहवीं सदी में और उसके बाद बढ़ी और राजनैतिक आजादी की लड़ाई, जो इसके बाद हुई, दरअसल एक ही लड़ाई के दो पहलू हैं। इसे अधिकार या अधिकारवाद के खिलाफ युद्ध कहना चाहिए। पवित्र रोमन साम्राज्य और पैपसी (पोप राज्य) दोनो निरंकुश अधिकार के नुमाइंदे थे और आदमी की आत्मा को कुचलने कोशिश करते थे। सम्राट् 'ईश्वरीय अधिकार' से शासन करता था और पोप तो ईश्वर का प्रतिनिधि ही बना हुआ था। किसीको इस बारे में बोलने और उनके हुक्म को मानने से इन्कार करने का हक नहीं था। फरमाबरदारी बहुत बडी खासियत समझी जाती थी। निजी विवेक या बुद्धि का इस्तेमाल भी पाप माना जाता था। इसी तरह दो रास्ते बिलकुल अलग-अलग थे। एक तो आँख मूदकर तावेदारी का रास्ता था और दूसरा आजादी का। अन्तः-करण की आजादी के लिए और, इसके बाद राजनैतिक आजादी के लिए, योरप में कई सदियो तक जबर्दस्त लड़ाई होती रही। बहुत ऊँचा-नीचा देखने और बडी तक-लीफें उठाने के बाद कुछ हद तक कामयाबी हुई। लेकिन लोग ठीक उस वक्त, जब आजादी की मंजिल तक पहुँचने के लिए आपस में एक दूसरे को मुबारकवादी दे रहे थे कि उन्हे यह पता चला कि वे गलती पर हैं। जब तक आर्थिक आजादी नहीं मिलती, जब तक गरीबी मौजूद है, तब तक यह कहना सही नहीं है कि असली आजादी मिल गई। भूखे आदमी से कहना कि तुम आजाद हो, उसका मुह चिढ़ाना है। इसलिए दूसरा कदम आर्थिक आजादी की लड़ाई की तरफ बढ़ाया गया और यह लड़ाई सारी दुनिया में आज जारी है। सिर्फ एक देश के बारे में यह कहा जासकता है कि वहाँ, आमतौर पर जनता को आर्थिक आजादी मिली है और वह देश रूस है या यो कहो कि सोवियट यूनियन है।

हिन्दुस्तान में अन्तःकरण की आजादी की कोई लड़ाई नहीं हुई क्योकि बहुत ही पुराने जमाने से यह हक हिन्दुस्तान में सब लोगो को मिला हुआ था। लोगो को हक था कि चाहे जो मानें। कोई मजबूरी नहीं थी। लोगो के दिमाग़ पर असर

डालने का जरिया बहस मुबाहसा और दलीलें हुआ करती थी, लाठी-डंडा नहीं। मुमकिन है, कभी-कभी जबर्दस्ती और हिंसा की भी गई हो, लेकिन पुराने आर्य सिद्धान्त में अन्तःकरण की आजादी मानी गई थी। अजीब बात यह है कि इसका नतीजा हमेशा अच्छा नहीं हुआ। सिद्धान्त में आजादी होने की वजह से लोग उसके बारे में सजग नहीं रहे और धीरे-धीरे असलियत से गिरते हुए मजहब के आचार-विचारो, रीति-रिवाजो और झूठे विश्वासो के जाल में फँसते गये। उन्होंने एक धार्मिक मनोदशा पैदा कर दी जिसकी वजह से लोग बहुत पीछे हट गये और धार्मिक सत्ता के गुलाम हो गये। यह सत्ता किसी पोप या व्यक्ति की नहीं थी; यह सत्ता शास्त्रो या 'पवित्र ग्रंथो', रस्म-रिवाज और परम्परा की थी। इस तरह से हम अन्तःकरण की आजादी की बात-चीत करते थे और उस पर नाज करते थे, लेकिन असल में हम आजादी से बहुत दूर थे और पुरानी किताबो और रस्मो की जंजीरो में जकडे हुए थे। अधिकार और अधिकारवाद हम पर हुकूमत करता था और हमारे दिमाग पर उसीका कब्जा था। जजीरे, जो कभी-कभी हमारे शरीर को बाँधती है, काफी बुरी होती है लेकिन खयालात और तास्सुब की अदृश्य जजीरे, जिनसे हमारा मन बधा हो, उनसे कही ज्यादा खराब होती है। ये जंजीरे हम खुद ही बनाते है और गोकि हम खुद यह नहीं जानते कि हम बँधे हुए है लेकिन असल में वे हमें बडी सख्ती से जकडे होती है।

हिन्दुस्तान में मुसलमानो के हमलावर की हैसियत से आने की वजह से मजहब के मामले में किसी हद तक जोर-जबर्दस्ती का माद्दा आया। लडाई असल में जीतने और हारनेवाले के दरमियान, राजनैतिक, थी; लेकिन इसमें मजहब का रग आगया था और कभी-कभी मजहबी जुल्म हुए। लेकिन यह समझना कि इस्लाम मजहबी जुल्म का कायल था, गलती होगी। १६१० ई० में, जब अरब लोग स्पेन से निकाल दिये गये थे, तब एक स्पेनिश मुसलमान ने एक दिलचस्प तकरीर की थी। 'इन्क्विजिशन का विरोध करते हुए उसने कहा था—

"क्या हमारे विजयी पुरखो ने कभी एक दफा भी ईसाई धर्म को स्पेन से नेस्तनाबूद करने की कोशिश की, जबकि वे आसानी से ऐसा कर सकते थे? जब तुम्हारे पुरखे जंजीरे पहने हुए थे तब क्या हमारे पूर्वजो ने उन्हे अपने रस्म व रिवाज पर आजादी के साथ चलने का हक नहीं दे रखा था? अगर जबर्दस्ती मजहब में मिला लेने की कुछ घटनायें मिलती भी है तो वे इतनी कम है कि उनका बयान बेकार है। ऐसी जबर्दस्ती उन लोगो ने की है जिनकी आँखो के सामने खुदा और रसूल का डर नहीं था। अगर किसीने ऐसा किया तो इस्लाम के सिद्धान्त और शरीयत के खिलाफ किया और जो ऐसा करे वह मुसलमान कहलाने के काबिल नही

है। तुम मुसलमानो में एक भी ऐसी बाकायदा बनाई गई और खून की प्यासी अदालत नहीं पा सकते जो मज़हबी ख़यालात से विरोध होने की वजह से ज़ुल्म में तुम्हारे 'इनक्विज़िशन' की बराबरी कर सके। इसमें शक नही कि जो लोग हमारे मज़हब में आना चाहते है, हम उनको गले लगाने के लिए बिलकुल तैयार हैं; लेकिन क़ुरान पाक में इस बात की इजाज़त नहीं है कि किसी के अन्तःकरण के साथ ज़बरदस्ती की जाय।"

इस तरह, धार्मिक सहिष्णुता और आत्मा की स्वतंत्रता, जो पुराने हिन्दुस्तानी जीवन के खास पहलू थे, किसी हद तक हममें से जाते रहे। उधर योरप हमारे बराबर पहुँच गया; बल्कि लम्बी कशमकश के बाद इन्ही सिद्धान्तो को स्थिर करने में वह हमसे आगे बढ गया। आज कभी-कभी हिन्दुस्तान में मज़हबी झगडे होते हैं; हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे से लड़ते हैं और एक दूसरे को क़त्ल करते है। यह सच है कि ऐसा कभी-कभी और कहीं-कही ही होता है, और ज्यादातर हम लोग, हिन्दू और मुसलमान, दोस्ती और शान्ति के साथ, रहते हैं क्योकि हमारे असली हित और स्वार्थ एक ही हैं। किसी हिन्दू या मुसलमान का, मज़हब के नाम पर, अपने भाई से लड़ना शर्म की बात है। हमें इसे खतम कर देना चाहिए और हम जरूर खतम कर देंगे। लेकिन खास बात तो यह है कि अन्ध-विश्वास, परम्परा और रस्मरिवाज की मनोदशा के चक्कर से, जिसने मज़हब की आड़ में हमें जंजीर से बाँध रक्खा है, हम आज़ाद हो जायँ।

धार्मिक सहिष्णुता की तरह राजनैतिक आज़ादी के मामले में भी हिन्दुस्तान ने पहले अच्छी शुरुआत की थी। तुम्हे गाँवो के लोकतंत्रों या जनता की पंचायतो की याद होगी। तुम्हे खयाल होगा कि पहले पहल राजा के अधिकार किस तरह महदूद थे और योरप की तरह हिन्दुस्तान में यह नहीं माना जाता था कि राजा को 'ईश्वरीय अधिकार' मिले हुए है। हमारा सारा राजशासन गाँवों की स्वतंत्रता पर बना हुआ था। लोग इस बात की परवाह नहीं करते थे कि राजा कौन है। अगर उनकी स्थानीय आज़ादी महफ़ूज रहती थी तो उनको इस बात की परवाह नहीं होती थी कि ऊपर का अफसर कौन है; लेकिन यह खयाल खतरनाक और बेवकूफी का था। धीरे-धीरे ऊपर के अफसरो ने अपने अख्तियारात बढ़ा लिये और गाँव की आज़ादी में दखल देने लगे और एक जमाना आया कि इस देश में बिलकुल निरंकुश सम्राट् होने लगे; गाँवो की अपनी कोई सत्ता नहीं रह गई और ऊपर से नीचे तक कहीं भी आज़ादी का नामो-निशान नही रहा।

: ७२ :

मध्य युग का अंत

१ जुलाई, १९३२

आओ, हम तेरहवी से चौदहवीं सदी तक के योरप पर फिर से एक नजर डाल ले। यहाँ हमें बहुत ज्यादा अशांति, हिंसा और लड़ाई-झगड़ा मिलेगा। हिन्दुस्तान की हालत भी काफ़ी खराब थी लेकिन योरप के मुकाबिले में उसे कुछ शान्तिमय कह सकते हैं।

मंगोल-लोग योरप में बारूद लाये और अब बन्दूको का इस्तैमाल होने लगा था। राजाओ ने इससे फायदा उठाकर अपने बागी सामन्त सरदारो को पस्त करना चाहा। इस काम में उन्हे शहर के नये व्यापारी वर्ग से मदद मिली। सरदारो की यह आदत थी कि वे आपस में भी लड़ते-झगड़ते रहते थे। इसकी वजह से वे कमजोर हो गये थे। लेकिन इससे गाँववालो को भी बडी परेशानी रहा करती थी। जब राजा ताकतवर हुआ तो उसने इस आपसी लड़ाई को बन्द करवा दिया। कुछ जगहो पर गद्दी के दो विरोधी दावेदारों की वजह से घरेलू लड़ाइयाँ होती थी—जैसे इंग्लैंड में दो ख़ानदानो में झगड़ा था; एक तो यार्क का ख़ानदान, और दूसरा लैन्केस्टर का ख़ानदान। इन दोनो दलो ने गुलाब के फूल को अपना निशान बना लिया था, एक ने सफेद और दूसरे ने लाल गुलाब चुना था। इन लड़ाइयो को इसीलिए 'गुलाब के फूलो की लड़ाइयाँ' (The Wars of the Roses) कहा गया है। इन गृह-युद्धो में सामन्त सरदारो की काफी संख्या मारी गई। क्रूसेड्स में भी बहुत से सामन्त सरदार मारे गये थे। इस तरह धीरे-धीरे वे कब्जे में आगये। लेकिन इसका मतलब यह न समझना चाहिए कि अधिकार सरदारो के हाथ से निकलकर जनता के हाथ में पहुँच गये। असल में ताकत राजा की बढ़ी और आम लोग जैसे के तैसे ही रहे। हाँ, आपस के नये झगडो के कम हो जाने से इनकी हालत कुछ बेहतर जरूर हो गई। राजा धीरे-धीरे ज्यादा ताकतवर और निरंकुश शासक हो गया। राजा और नये व्यापारी वर्ग का झगड़ा अभी शुरू नहीं हुआ था।

कत्ले आम और लडाई से ज्यादा भयंकर प्लेग की वह भीषण महामारी थी जो योरप में १३४८ ई० के करीब फैली। यह महामारी सारे योरप में, रूस और एशिया माइनर से लेकर इग्लैंड तक, फैल गई, यह मिस्र, उत्तर अफ्रीका और मध्य एशिया में भी फैली और वहाँ से पश्चिम की तरफ़ बढ़ गई। इसको 'काली मौत' (Black Death) कहते थे। इसमें लाखो आदमी मर गये। इंग्लैंड की एक तिहाई आबादी खतम हो गई और चीन और दूसरे देशो में भी बहुत ज्यादा आदमी मरे। यह एक ताज्जुब की बात है कि यह बीमारी हिन्दुस्तान में नही आई।

इस भयकर आपत्ति की वजह से आबादी बहुत घट गई और जमीन जोतने के लिए काफी आदमी नहीं रह गये। आदमियो की कमी की वजह से किसानो की मजदूरी बढ़ने लगी और उनकी दयाजनक स्थिति में जरा-सा सुधार हुआ लेकिन पार्लमेण्टें जमींदार और जायदाद के मालिको के हाथ में थीं। इन लोगों ने ऐसे कानून बनाये कि लोग पुरानी तुच्छ मजदूरी पर काम करने और ज्यादा न मॉगने के लिए मजबूर हो गये। जब किसान और गरीब इतने पिसे और चूसे गये कि बात उनके सहने की शक्ति से आगे बढ़ गई, तब उन्होने विद्रोह कर दिया। सारे पश्चिमी योरप में किसानो के ये बलवे एक के बाद एक करके होते रहे। फ्रांस में १३५८ में किसानों का एक बलवा हुआ जो 'जेकेरी' (Jacquerie) के नाम से मशहूर है। इंग्लैण्ड में वेट टाइलर का बलवा हुआ जिसमें टाइलर १३८१ ई० में, अग्रेज राजा के सामने, मारा गया। ये बलवे अक्सर बडी बेरहमी के साथ दबा दिये गये। लेकिन समानता के नये खयालात धीरे-धीरे फैल रहे थे। लोग खुद अपने दिलो में पूछते थे कि हम गरीब क्यो रहे और भूखो क्यो मरे, जब कि दूसरे अमीर हैं और उनके पास हरेक चीज भरी पडी है ? क्या वजह है कि कोई सरदार कहलाये और कोई असामी या गुलाम हो ? किसी के पास नफीस कपडे क्यो जब कि दूसरों के पास शरीर ढकने के लिए काफी चिथडे भी नहीं हैं ? हुकूमत की ताबेदारी करने का पुराना खयाल, जिस पर सारी सामन्त-प्रथा की बुनियाद थी, कमजोर पड़ता जाता था इसलिए किसान बार-बार सर उठाते थे, लेकिन वे कमजोर और असंगठित थे इसलिए दबा दिये जाते थे और कुछ दिन के बाद वे फिर उठ खडे होते थे।

इँग्लेण्ड और फ़ास के बीच करीब-करीब बराबर लड़ाई होती रही। चौदहवीं सदी के शुरू से पन्द्रहवीं सदी के मध्य तक, ये दोनों मुल्क लड़ते रहे। इस लड़ाई को 'सौ वर्ष की लड़ाई' (The Hundred Years' War) कहते हैं। फ़ांस के पूरब में बरंगडी था। यह एक शक्तिशाली रियासत थी और नाम-मात्र के लिए फ़्रांस के राजा की मातहत थी। यह एक तूफानी और झगड़ालू रियासत थी और अंग्रेजों ने, फ्रांस के खिलाफ, इससे और दूसरी रियासतो से साजिश-सी करली थी। थोडे दिनो के लिए फ़ास चारो ओर से जकड गया। पश्चिमी फ़्रांस का काफी बड़ा हिस्सा, बहुत दिनों तक, अग्रेजो के कब्जे में रहा और इँग्लैंड का राजा अपने को फ़्रांस का राजा भी कहने लग गया था। जिस समय फ़्रांस की किस्मत का सितारा बहुत नीचे गिर गया था और उसके लिए कोई उम्मीद नहीं दिखाई देती थी, एक नौजवान किसान लड़की के रूप में आशा और विजय ने दर्शन दिया। तुम जीन द आर्क या जोन आफ आर्क, जिसे 'मेड आफ् आर्लियन्स' यानी आर्लियन्स की कुमारी भी कहते थे, के बारे में

थोड़ा-बहुत जानती ही हो। वह एक बहादुर औरत या ऐसी नायिका है जिसे तुम पसद करती हो। उसने अपने पस्तहिम्मत देशवासियों के दिल में विश्वास पैदा किया और बड़े-बड़े कारनामे करने के लिए उनको उत्साहित किया। उसके नेतृत्व में फ़ासीसियो ने अंग्रेज़ो को अपने देश से निकाल भगाया लेकिन इसका बदला उसे यह मिला कि 'इनक्विज़िशन' के सामने उसका मुक़दमा हुआ। अंग्रेज़ो ने पकड़कर चर्च से उसे फासी की सज़ा दिला दी और राउन के बाज़ार में १४३० ई० में इन लोगो ने उसे ज़िन्दा जला दिया। बहुत वर्षों के बाद रोमन चर्च ने अपने फ़ैसले को बदल कर जो कुछ बुरा किया था उसे सुधारना चाहा और कुछ दिनो के बाद जीन द आर्क को 'संत' की पदवी दे दी।

जीन या जोन फ़्रास और अपनी मातृभूमि को विदेशियो से बचाने की बात करती थी। बात करने का यह नया ढग था। उस वक़्त लोगो में सामन्त प्रथा के ख़याल इतने भरे थे कि वे राष्ट्रीयता का ख़याल ही नही कर सकते थे। इसलिए जीन जिस ढग से बात करती थी उससे उन्हे ताज्जुब होता था और लोग उसकी बात मुश्किल से समझ पाते थे। जीन द आर्क के ज़माने से फ़्रास में राष्ट्रीयता की हलकी-सी शुरुआत दिखाई देती है।

अंग्रेज़ो को अपने मुल्क से निकालने के बाद फ़्रास के राजा ने बरगडी की तरफ ध्यान दिया, जिसकी वजह से उसे इतनी परेशानी हुई थी। यह शक्तिशाली रियासत, आख़िरकार, काबू में आगई और १४८३ ई० में फ़्रास में शामिल कर ली गई। फ़्रास का राजा अब एक शक्तिशली बादशाह हो गया। उसने अपने सारे सामन्त सरदारो को या तो क़ाबू में कर लिया था या पस्त कर दिया था। बरगडी के फ़्रास में मिल जाने से जर्मनी और फ्रांस आमने-सामने आगये; इनकी सरहदें एक-दूसरे को छूने लगीं। लेकिन जहाँ फ़्रास में एक मज़बूत केन्द्रीय बादशाहत थी, तहाँ जर्मनी कमजोर था और कई रियासतो बँटा हुआ था।

इंग्लैण्ड भी स्काटलैंड को जीतने की कोशिश कर रहा था। यह भी एक लम्बा संघर्ष रहा है जिसमें स्काटलैंडवाले इंग्लैण्ड के ख़िलाफ फ़्रास की तरफ़दारी करते रहे। स्काटलैंडवालो ने १३१४ ई० में, राबर्ट ब्रूस की मातहती में, बैनकबर्न में, अंग्रेज़ो को हरा दिया।

इससे और पहले, बारहवी सदी में अंग्रेज़ो ने आयरलैंड को जीतने की कोशिश शुरू की। इस बात को ७०० वर्ष हो गये; उस समय से कितनी लड़ाइयाँ हुई, कितने बलवे हुए, कितनी भीषणता और भयंकरता रही फिर भी आयरलैंड का सवाल आज तक हल नही होसका। इस छोटे से देश ने विदेशी प्रभुत्व को मानने

से बराबर इन्कार किया है और पीढ़ी दर पीढ़ी लोगो ने बलवा किया और इस बात की घोषणा की है कि विदेशियो के सामने कभी सर नहीं झुकायेंगे। आयरिश समस्या का, और इसी तरह हिन्दुस्तान के सवाल का, सिवाय आजादी के दूसरा कोई हल नहीं हो सकता।

तेरहवी सदी में योरप की एक दूसरी छोटी-सी कौम, यानी स्वीजरलैंड, ने अपनी आजादी के हक का ऐलान किया। यह साम्राज्य में शामिल था और आस्ट्रियन इस पर हकूमत करते थे। तुमने विलियम टैल और उसके लड़के का किस्सा पढ़ा होगा लेकिन यह किस्सा सही नहीं है। इससे ज्यादा ताज्जुब की बात स्विस किसानों का विद्रोह है, जो उन्होने विशाल साम्राज्य के खिलाफ किया था और उसके सामने सर झुकाने से इन्कार कर दिया था। पहले तीन जिलों ने बलबा किया और १२९१ ई० में 'अमर संघ' (Everlasting League) नाम की संस्था बनाई। दूसरे जिले भी उनमें शामिल हो गये और १४९९ ई० में स्वीजरलैंड स्वतंत्र प्रजातंत्र हो गया। यह अनेक जिलो का एक फेडरेशन या संघ था और इसे 'स्विस संघतंत्र' (Swiss Confederation) कहते थे। क्या तुम्हे याद है कि पहली अगस्त को स्वीजरलैंड में हम लोगों ने कई एक पहाडों की चोटियो पर आग जलती हुई देखी थी। यह स्विस लोगों का राष्ट्रीय दिन था; यह उनकी क्रान्ति के शुरू होने के दिन की सालगिरह थी। उन दिनो यह जलती हुई आग इस बात का संकेत था कि आस्ट्रियन शासक के खिलाफ बगावत शुरू करदो।

योरप के पूर्व में कुस्तुन्तुनिया में क्या हो रहा था? तुम्हे याद होगा कि लैटिन क्रूसेडवालो ने १२०४ ई० में यूनानियो से यह शहर छीन लिया था। १२६१ ई० में यूनानियो ने इन लोगो को फिर निकाल दिया और पूर्वी साम्राज्य फिर से कायम कर लिया। लेकिन एक दूसरा और ज्यादा बड़ा खतरा सामने आरहा था।

जब मंगोल एशिया को पार करते हुए बढ़ने लगे तो ५० हजार उस्मानी तुर्क उनसे जान बचाकर भागे। ये सेलजूक तुर्क नहीं थे; ये अपने को उस्मान का वंशज कहते थे इसलिए उस्मानी तुर्क कहलाते थे। इन उस्मानियो ने पश्चिमी एशिया में सेलजूको की शरण ली। जान पड़ता है कि ज्यो-ज्यो सेलजूक तुर्क कमजोर पड़ते गये, उस्मानी ताकत में बढते गये। वे फैलते भी गये और कुस्तुन्तुनिया पर हमला करने के बजाय जैसा कि उनके पहले बहुतो ने किया था, वे उसे छोड़ गये और १३५३ ई० में एशिया को पार कर योरप चले गये। वहाँ वे तेजी से फैल गये। उन्होने बलगेरिया और सर्बिया पर कब्जा कर लिया और एड्रियानोपल को अपनी राजधानी बनाई। इस तरह से उस्मानी साम्राज्य कुस्तुन्तुनिया के दोनो तरफ,

एशिया और योरप में फैल गया। यह कुस्तुन्तुनिया के इर्द-गिर्द चारो तरफ था लेकिन कुस्तुन्तुनिया शहर इसके बाहर था। हजारो वर्षो का अभिमानी पूर्वी रोमन साम्राज्य घटकर बस अब इस शहर तक ही रह गया था। इसके अलावा कुछ और नहीं था। हालांकि तुर्क लोग पूर्वी साम्राज्य को तेजी के साथ निगलते जारहे थे फिर भी सुलतानो और सम्राटो में मित्रता बनी हुई थी और इन दोनो के खानदानो में आपस में शादी-विवाह भी होते रहते थें। आखिरकार १४५३ ई० में कुस्तुन्तुनिया भी तुर्कों के कब्जे में आगया। अब हम सिर्फ उस्मानी तुर्कों का जिक्र करेंगे क्योंकि सेलजूकों का तो अब तस्वीर में कुछ पता न था।

कुस्तुन्तुनिया का पतन, हालांकि उसकी उम्मीद बहुत दिनो से की जारही थी, एक ऐसी घटना थी जिससे योरप हिल गया क्योंकि इसका मतलब यह था कि कई हजार वर्ष का पुराना यूनानी पूर्वी साम्राज्य समाप्त हो गया। इसका मतलब यह भी था कि योरप पर मुसलमानो का दूसरा हमला होगा। तुर्क लोग फैलते गये और कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता था कि वे सारे योरप को जीत लेंगे लेकिन वियेना के फाटक पर वे रोक दिये गये।

सेण्ट सोफिया का बड़ा गिरजा, जिसे छठी सदी में सम्राट जस्टीनियन ने बनवाया था, बदल कर मसजिद कर दिया गया और उसका नाम आया सूफिया रख दिया गया। उसके खजाने की भी कुछ लूट-मार हुई। इसकी वजह से योरप में कुछ उत्तेजना भी फैली लेकिन वह कुछ कर-धर नही सकता था। सच तो यह है कि तुर्की सुल्तान कट्टर यूनानी चर्च के लिए बहुत सहिष्णु रहे यहाँ तक कि कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्जा करने के बाद सुल्तान मुहम्मद द्वितीय ने अपने को यूनानी चर्च का संरक्षक घोषित कर दिया। बाद के एक सुल्तान ने, जो 'शानदार सुलेमान' के नाम से मशहूर है, अपने को पूर्वी सम्राटो का नुमाइन्दा समझकर 'सीजर' का लकब इख्तियार कर लिया। पुरानी परम्परा की यह ताकत होती है!

जान पड़ता है कि उस्मानी तुर्कों की कुस्तुन्तुनिया के यूनानियो ने कोई मुखालिफत नही की। उन्होने देख लिया था कि पुराना साम्राज्य गिर रहा है। उन्होने पोप से और पश्चिमी ईसाइयो से तुर्को को बेहतर समझा। लैटिन क्रूसेड वालो का बुरा तजुर्बा उन्हे होचुका था। कहते हैं कि १४५३ ई० के कुस्तुन्तुनिया के आखिरी घेरे में, एक बिजैण्टाइन सरदार ने कहा था कि "पोप के मुकुट से रसूल की पगडी अच्छी है।"

तुर्कों ने एक खास फौज बनाई थी जिसे 'जॉनिसार' कहते थे। वे छोटे-छोटे ईसाई लड़को को, ईसाइयो से कर के रूप में ले लेते थे और उनको खास शिक्षा देते

थे। छोटे-छोटे बच्चों को अपने माँ-बाप से अलहदा करदेना बडी बेरहमी की बात थी लेकिन उन लड़को को इससे कुछ फ़ायदा भी होता था। उन्हें अच्छी तालीम मिलती थी और वे एक तरह के सैनिक रईस बन जाते थे। जॉनिसारियों की यह फौज उस्मानी सुल्तानो की ताकत का एक बड़ा आधार था। 'जॉनिसार' का मतलब है 'जान को निछावर करने वाला'।

इसी तरह, मिस्र में, ममलूको की भी एक फौज थी, जो जाँनिसारियो की तरह ही बनाई जाती थी। बाद में यह बहुत ताक़तवर होगई और इसमें से कई लोग मिस्र के सुलतान भी हुए।

उस्मानी सुल्तानो ने कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा करने के बाद अपने से पहले के अधिकारियो से, यानी बिजैण्टाइन सम्राटो से, विलासिता और दुराचार की बहुत-सी बुरी आदते भी सीख लीं। बिजैण्टाइन लोगो की सारी गिरी हुई साम्राज्य-प्रणाली ने इनको घेर लिया और धीरे-धीरे उनकी सारी ताकत चूस ली। कुछ दिनो तक तो वे बडे मजबूत रहे और ईसाई योरप उनसे डरता रहा। उन्होने मिस्र जीत लिया और अब्बासियो के कमजोर नुमाइंदे से उसका खलीफा का लकब छीन लिया और उस वक्त से उस्मानी सुल्तान अपने को खलीफा भी कहते रहे। आठ वर्ष हुए, मुस्तफा कमाल पाशा ने खिलाफत और सुल्तानियत दोनों को मंसूख करके इनका खातमा कर दिया।

कुस्तुन्तुनिया के पतन का दिन, इतिहास की एक बडी तारीख है। इस दिन से एक युग का खातमा और दूसरे की शुरुआत होती है। मध्य युग खतम हो जाता है, 'अंधकार युग' के हजार वर्ष समाप्त होते है और योरप में नई जिन्दगी और नया उत्साह आता हुआ दिखाई देता है। इसे पुनर्जागृति यानी रिनेसाँ (Renaissance) की शुरुआत कहते हैं। विद्या और कला का फिर से जन्म होता है; जनता लम्बी नींद से जगती हुई दिखाई देती है। लोग सदियो उस पार प्राचीन यूनान की तरफ नजर डालते है, जबकि वह अपनी शान की चोटी पर था, और उससे उत्साह और स्फूर्ति लेते है। जिन्दगी के वैराग्यपूर्ण और उदासी से भरे हुए दृष्टिकोण के प्रति, जिस पर चर्च जोर देता था, लोगो के मन में विद्रोह खड़ा होता है और उन जंजीरो को, जिससे मनुष्य की आत्मा जकडी हुई थी, लोग तोड़ फेंकते है। पुराना यूनानी सौंदर्य-प्रेम फिर पैदा होता है और योरप में फिर सुन्दर शिल्पकला, चित्रकारी और मूर्तिकला फूलती-फलती और हरी-भरी होजाती है।

कुस्तुन्तुनिया के पतन से ही ये सब बातें एक दम नही पैदा हो गई। ऐसा खयाल करना गलती होगी। तुर्कों के इस शहर पर कब्जा कर लेने से तब्दीली में जरा

तेजी आगई क्योंकि बहुत से विद्वान इसे छोड़ कर पश्चिम चले गये। वे अपने साथ इटली में यूनानी साहित्य का ख़ज़ाना ले आये और यह वही वक़्त था जब कि पश्चिम इन बातो को समझने और उनकी इज़्ज़त करने के लिए तैयार बैठा था। इस मानी में कह सकते है कि कुस्तुन्तुनिया के पतन से रिनेसॉ के आने मे कुछ मदद मिल गई।

लेकिन इस भारी तब्दीली को इसे एक छोटी-सी वजह कह सकते हैं। पुराना यूनानी साहित्य या विचार मध्य काल के इटली या पश्चिम के लिए कोई नई चीज नहीं थी, विश्वविद्यालयो में लोग इसे पढ़ते थे और विद्वान लोग इसे समझते थे लेकिन यह चन्द ही आदमियो तक महदूद था और चूकि जिन्दगी के बारे में जो खयालात फैले हुए थे उनके यह अनुकूल नहीं पड़ता था इसलिए इसका प्रचार नही हो पाता था। धीरे-धीरे जिन्दगी के नये दृष्टिकोण के लिए परिस्थिति अनुकूल हो गई क्योकि जनता के मन मे शंका की शुरुआत हो चकी थी, लोग उस वक़्त की चीज़ो से असंतुष्ट थे और ऐसी चीज़ की तलाश में थे जो उन्हे कुछ ज्यादा सतोष दे सके। जब उनके मन शंका और आशा से भर गये तो उन्होने यूनान की पुरानी फिलासफी का पता चलाया और उनके साहित्य के रस को छककर खूब पिया। तब उन्हे मालूम हुआ कि बस इसी चीज की तो उन्हे ज़रूरत थी और इस नई चीज़ को पाकर वे उत्साह से भर गये।

यह पुनर्जागृति या रिनेसाँ पहले-पहल इटली में शुरू हुई। बाद को फ्रास और इंग्लैण्ड मे गई और फिर दूसरी जगहो में फैल गई। यह सिर्फ यूनानी खयाल और यूनानी साहित्य का फिर से आविष्कार ही न था, यह इससे कही बडी और महत्वपूर्ण बात थी। योरप के हृदय के अदर ही अदर बहुत दिनो से तब्दीली का जो सिलसिला चल रहा था वही अब एक शक्ल में जाहिर हो गया। यह बेचैनी और यह तब्दीली बहुत-सी धाराओ और बहुतेरे ढगो से फूटकर बहनेवाली थी। पुनर्जागृति तो उसका सिर्फ एक रूप था।

: ७३ :

समुद्री रास्तों की खोज

३ जुलाई, १९३२

अब हम योरप की उस मजिल तक पहुँच गये है जब मध्यकालीन ससार बिखरना शुरू होता है और उसकी जगह एक नई व्यवस्था आजाती है। मौजूदा

हालत से लोगो में असन्तोष है और इस एहसास यानी अनुभूति से ही तब्दीली और तरक्की पैदा होती है। सामन्ती और मजहबी तौर-तरीके ने जिन-जिन वर्गों को चूस रक्खा था, वे सभी असन्तुष्ट थे। हमने देखा है कि किसानो के विद्रोह होने लगे थे। लेकिन किसान बहुत पीछे और कमजोर थे और बलवा करने पर भी कुछ फ़ायदा न उठा सके। उनके दिन अभीतक नहीं आये थे। असली संघर्ष पुरानी सामन्त-श्रेणी और नये जगे और उठते हुए मध्य वर्ग में, जो ताकतवर होता जाता था, था। सामन्त-प्रथा का मतलब यह था कि धन की बुनियाद जमीन है या जमीन ही धन है। लेकिन अब एक नये किस्म का धन इकट्ठा होरहा था जो जमीन से नही पैदा होता था। यह धन व्यवसाय और तिजारत से आता था और नया मध्यमवर्ग यानी बुर्जुआ वर्ग इससे फायदा उठाता था और इसी की वजह से उसकी ताकत बढ़ी थी। यह संघर्ष पुराना था। अब हम यह देखते है कि इन दोनो पार्टियो की हालत बदल गई थी और एक-दूसरे के प्रति उनके रुख भी बदल गये थे। सामन्त-प्रथा, जो अभी तक जारी थी, अपने बचाव में लगी हुई थी और मध्यवर्ग, जिसे अपनी ताकत पर भरोसा था, उसपर हमला करने लगा था। यह संघर्ष सैकडो बरसों तक जारी रहा और बुर्जुआ वर्ग की दिन-ब-दिन जीत होती गई। योरप के मुख्तलिफ देशो में इस संघर्ष की जुदी-जुदी सूरत रही है। पूर्वी योरप में बहुत कम संघर्ष था। पश्चिम में ही यह मध्यवर्ग सबसे पहले, आगे आया।

पुरानी बन्दिशो के टूट जाने की वजह से कई दिशाओ में, जैसे—विज्ञान में, कला में, साहित्य में और शिल्पकारी में, तरक्की हुई और नई-नई खोजें भी हुई। जब मनुष्य की आत्मा अपने बन्धनों को तोड़ डालती है तो हमेशा यही होता है। वह विकसित हो जाती है और फैल जाती है। इसी तरह, जब हमारा देश आजाद होगा हमारे देश वासियो का और हमारी आत्मा का विकास होगा और हम सारी दिशाओ में आगे बढ़ेंगे।

ज्यो-ज्यो चर्च का बन्धन ढीला पड़ा और वह कमजोर हो गया, लोग गिरजों पर कम खर्च करने लगे। बहुत जगहो पर खूबसूरत इमारतें बनीं। ये टाउनहालों या इसी किस्म की दूसरी इमारते थीं। गॉथिक शैली भी पीछे रह गई और एक नई शैली पैदा होने लगी।

ठीक इसी वक्त, जब पश्चिमी योरप में नई जिन्दगी भरी हुई थी, पूरब के सोने की लालच लोगो के दिलों में पैदा होने लगी। मार्कोपोलो और दूसरे मुसाफिरो की कहानियो से, जो हिन्दुस्तान और चीन में सफर कर चुके थे, योरप की कल्पना उत्तेजित हो पडी और पूर्व की अथाह सम्पत्ति की इस उत्तेजना ने बहुतों को समुद्र

की ओर खींचा। इसी वक्त कुस्तुन्तुनिया का पतन हुआ। तुर्कों ने पूरब जाने के खुश्की और समुद्री रास्तों पर क़ब्ज़ा कर रखा था और वे व्यापार को ज्यादा प्रोत्साहन नहीं देते थे। बडे-बडे सौदागर और व्यापारी इस बात से बहुत नाराज़ थे और साहसियों की नई जमात भी, जो पूरब के सोने पर दाँत लगाये बैठी थी, झल्ला रही थी। इसलिए इन लोगो ने सुनहरे पूर्व तक पहुँचने के लिए नया रास्ता खोज निकालने की कोशिश की।

स्कूल का हरएक बालक यह जानता है कि जमीन गोल है और सूर्य के चारो तरफ घूमती है। हम लोगों के लिए यह बिलकुल साफ बात है लेकिन पुराने जमाने में यह इतनी साफ नहीं थी। जो लोग ऐसा करने का खयाल करते थे या कहते थे उनसे चर्च जवाब तलब करता था और सज़ा देता था। लेकिन चर्च के डर के होते हुए भी ज्यादा-से-ज्यादा लोग इस बात को मानने लगे कि जमीन गोल है। अगर गोल है तो पश्चिम दिशा में चलने से भी चीन और हिन्दुस्तान पहुँचना मुमकिन है, ऐसा कुछ लोग सोचते थे। कुछ यह सोचते थे कि अफरीका के किनारे-किनारे घूमकर हिन्दुस्तान पहुँच सकते है। तुम्हे याद रखना चाहिए कि उस वक्त स्वेज की नहर नहीं थी और जहाज़ भूमध्यसागर से लाल समुद्र में नहीं जा सकते थे। भूमध्यसागर और लाल समुद्र के बीच व्यापार के माल-असबाव खुश्की के रास्ते से, ज्यादातर ऊँटो पर लादकर, जाते थे, और दूसरी तरफ नये जहाजो पर लदते थे। यह ढग सुविधा-जनक नहीं था। मिस्र और सीरिया पर तुर्कों का कब्ज़ा होजाने से यह रास्ता और भी मुश्किल हो गया।

लेकिन हिन्दुस्तान की दौलत की लालच से लोग उत्तेजित और आकर्षित होते रहे। खोज करने के लिए समुद्र-यात्रा में स्पेन और पुर्तगाल सबसे पहले आगे बढे। स्पेन उस वक्त ग्रेनाडा से अरबो को निकाल रहा था। एरेगान के फर्डिनेण्ड और कैस्टाइल की आइज़ाबेला के विवाह से ईसाई स्पेन सयुक्त हो गया था और ई० सन १४९२ में ग्रेनाडा अरबो के हाथ से जाता रहा। यह उस वक्त की बात है जब योरप की दूसरी तरफ, तुर्को को कुस्तुन्तुनिया पर कब्ज़ा किये हुए ५० वर्ष हो चुके थे। स्पेन फौरन ही योरप की एक बडी ईसाई ताकत बन गया।

पुर्तगालवालो ने पूर्व की तरफ जाने की कोशिश की, स्पेन वालो ने पश्चिम की तरफ। १४४५ ई० में पोर्चुगीजो ने वर्डे का अन्तरीप खोज निकाला। इसे खोज की पहली बडी मजिल कहना चाहिए। यह अन्तरीप अफरीका का आखिरी पश्चिमी कोना है। अफरीका के नकशे को देखो। तुम्हे मालूम होगा कि अगर कोई योरप से जहाज़ के ज़रिये इस अन्तरीप को जाना चाहे तो उसे दक्षिण-पश्चिम जाना होगा।

वर्डे अन्तरीप पहुँचकर फिर उसे घूमकर दक्षिण-पूर्व जाना होता है। इस अन्तरीप के मिल जाने से लोगो में बडी उम्मीदें पैदा हो गईं और वे समझने लगे कि अब अफरीका के किनारे-किनारे घूमकर हिन्दुस्तान पहुँच सकेंगे।

अफरीका का चक्कर करने में ४० वर्ष और लग गये। १४८६ ई० में बैथलम्यू डायज, जो पुर्तगाल का रहनेवाला था, अफरीका की दक्षिणी नोक तक अपना जहाज ले जासका। इस दक्षिणी नोक को ही 'केप ऑव् गुड होप' यानी उत्तमाशा अन्तरीप कहते हैं। कुछ ही बरसो के बाद एक दूसरा पोर्चुगीज, वास्को डि गामा, इस खोज से फायदा उठाकर गुडहोप के अन्तरीप होता हुआ, हिन्दुस्तान आया। वास्को डि गामा १४९७ ई० में मलाबार के किनारे, कालीकट पहुँचा।

इस तरह पोर्चुगीज हिन्दुस्तान पहुँचने की दौड़ में जीत गये। लेकिन इसी दरमियान दुनिया की दूसरी तरफ बडी-बडी बाते हो रही थीं और स्पेन को उनसे और फायदा होनेवाला था। क्रिस्टोफर कोलम्बस १४९२ ई० में अमेरिका पहुँचा। कोलम्बस जिनेवा का रहने वाला एक गरीब आदमी था। इस बात पर विश्वास करते हुए कि दुनिया गोल है वह पश्चिम की ओर जहाज ले जाकर जापान और हिन्दुस्तान पहुँचना चाहता था। उसका यह खयाल नहीं था कि उसे इस सफर में इतने दिन लग जायँगे, जितने लग गये। वह एक दरबार से दूसरे दरबार में जाता था और राजाओं से अपनी इस खोजपूर्ण समुद्र-यात्रा में मदद चाहता था। आखिरकार स्पेन के फर्डिनेण्ड और आइजाबेला मदद देने को तैयार होगये और कोलम्बस ८८ आदमियो और तीन छोटे जहाजो को लेकर रवाना हुआ। अज्ञात की ओर यह समुद्र-यात्रा असल में वीरता और साहस की यात्रा थी क्योंकि कोई यह नहीं जानता था कि आगे क्या है। लेकिन कोलम्बस के दिल में विश्वास था और वह विश्वास ठीक निकला। ६९ दिन के लगातार सफर के बाद वे जमीन पर पहुँचे। कोलम्बस ने समझा कि बस हिन्दुस्तान मिल गया लेकिन असल में यह वेस्टइण्डीज का एक टापू था। कोलम्बस कभी अमेरिका के महाद्वीप में नहीं पहुँचा और मरते वक्त तक उसका विश्वास था कि वह एशिया पहुँच गया। उसकी यह अजीब गलती आज तक कायम है। इन टापुओं को आजतक वेस्ट इण्डीज कहते है और अमेरिका के आदिम निवासियों को आजतक इंडियन या 'रेड इंडियन' कहते हैं।

कोलम्बस वापस आया और दूसरे साल और ज्यादा जहाजो को लेकर फिर गया। लोग समझते थे कि हिन्दुस्तान का नया रास्ता मालूम हो गया। इससे योरप में काफी चहल-पहल मच गई। इसके बाद ही वास्को डि गामा कालीकट पहुँचा और पूरब और पश्चिम में इन नये देशों के मिलने की खबर से योरप में और उत्तेजना फैल

गई। इन दोनो नये देशो के ऊपर कब्जा करने के दावेदार पुर्तगाल और स्पेन थे। स्पेन और पुर्तगाल के बीच झगड़ा बचाने के लिए पोप सामने आया और उसने दूसरे के बिरते पर उदारता दिखाने का निश्चय किया। १४९३ ई० में उसने एक 'बुल' (पोप की घोषणाओ और फतवों को 'बुल' कहते थे) या फतवा निकाला और अज़ोर्स के पश्चिम १०० लीग (१ लीग=३ मील) के फासले पर उत्तर से दक्षिण तक एक काल्पनिक रेखा खींच दी ओर यह घोषित किया कि इस रेखा के पूरब जितना गैर-ईसाई मुल्क है वह पुर्तगाल ले-ले और पश्चिम के मुल्क स्पेन ले ले। पोप ने योरप को छोड़कर सारी दुनिया का दान कर दिया और इस दान में पोप को कुछ भी खर्च न करना पडा। अज़ोर्स एटलाण्टिक महासागर के द्वीप है और १०० लीग यानी ३०० मील के फासले पर पश्चिम की तरफ रेखा खीचने से सारा उत्तर अमेरिका और दक्षिण अमेरिका का ज्यादातर हिस्सा पश्चिम में पड़ जाता है। इस तरह से पोप ने अमेरिका महाद्वीप स्पेन की नजर कर दिया और हिन्दुस्तान, चीन, जापान और दूसरे पूर्वी देशो को और सारे अफरीका को पुर्तगाल की भेंट कर दिया!

पुर्तगाल वालो ने जमीन के इन बडे हिस्सो पर कब्जा करना शुरू किया। यह कोई आसान बात नही थी। लेकिन वे तरक्की करते रहे और पूरब की तरफ बढ़ते गये। १५१० ई० में वे गोवा पहुँचे, १५११ में मलाया प्रायद्वीप में मलक्का पहुँचे; इसके बाद ही जावा और १५७६ ई० में चीन पहुँच गये। इसका यह मतलब नहीं है कि इन देशो पर उन्होंने कब्जा कर लिया। सिर्फ कुछ जगहो पर उन्हे पाँव रखने को जगह मिल गई। हम किसी अगले खत में इस बात की चर्चा करेंगे कि पूर्व में इन लोगो का क्या हाल रहा।

पूर्व में पोर्चुगीज लोगो में फर्डिनेण्ड मैगेलन नाम का एक आदमी था। वह अपने पोर्चुगीज मालिक से लड पडा और योरप वापस जाकर, वह स्पेन का नागरिक बन गया। गुडहोप के अन्तरीप से होकर पूर्वी रास्ते से यह हिन्दुस्तान और पूर्वी द्वीपो को जाचुका था। अब वह पश्चिमी रास्ते से अमेरिका होकर इन देशो को जाना चाहता था। शायद उसको यह मालूम था कि जिस मुल्क का पता कोलम्बस ने लगाया है वह एशिया नहीं है। बाद में १५७३ ई० में बलबोआ नाम का एक स्पेनी मध्य अमरीका में पनामा के पहाडो को पार करके प्रशान्त महासागर तक पहुँचा। किसी कारण से उसने इस समुद्र को दक्षिण समुद्र कहा और इसके किनारे पर खडे होकर उसने यह दावा किया कि यह नया समुद्र और वे तमाम देश जो इस समुद्र के किनारे बसे हैं उसके स्वामी स्पेन के राजा के कब्जे में हैं।

१५१९ ई० में मैगेलन अपने पश्चिमी समुद्री सफर पर रवाना हुआ। यह सफर

उसका सबसे बडा सफर साबित हुआ। उसके साथ ५ जहाज और २७० आदमी थे। वह एटलाण्टिक महासागर पार करके दक्षिण अमेरिका पहुँचा और वहाँ से अपने सफर को दक्षिण की तरफ जारी रखते हुए आखिर में महाद्वीप के कोने तक पहुँच गया। उसका एक जहाज तो टूटकर नष्ट होगया और दूसरे के लोग उसे छोड गये। सिर्फ तीन जहाज उसके पास बचे। इन तीन जहाजो को लेकर वह दक्षिणी अमेरिका के महाद्वीप और एक दूसरे टापू के बीच के तंग जलडमरू मध्य को पार करके दूसरी तरफ़ के खुले समुद्र में आगया। इस समुद्र को उसने पैसिफक (प्रशान्त) महासागर कहा क्योंकि अटलाण्टिक के मुकाबिले में यह ज्यादा शान्त था। प्रशान्त महासागर तक पहुँचने में उसे १४ महीने लगे। जिस जलडरूमध्य से वह गुज़रा था, वह अभीतक उसी के नाम पर 'मैगेलन का जलडमरूमध्य' कहलाता है।

आगे भी मैगेलन ने, बहादुरी के साथ, अपनी यात्रा उत्तर की तरफ जारी रखी और इसके बाद अज्ञात समुद्र में उत्तर-पश्चिम की तरफ चल पडा। उसके सफर का यह हिस्सा बडा खौफनाक था। कोई नही जानता था कि इसमें इतने दिन लग जायेंगे। करीब-करीब ४ महीने, और बिलकुल ठीक दिन जानना चाहती हो तो १०८ दिन, तक वे समुद्र के बीच में खाने-पीने की थोडी चीज़ो के साथ रहे। आखिरकार, बडी तकलीफ उठाने के बाद, वे फ़िलीपाइन द्वीप पहुँचे। वहाँ के लोगो ने उनके साथ अच्छा सलूक किया, खाने पीने के लिए दिया और आपस में एक दूसरो से उपहार-परिवर्तन किया। लेकिन स्पेनवाले बडे बदमिज़ाज और शेखीबाज थे। मैगेलन ने वहाँ के दो सरदारो की आपस की लड़ाई में भाग लिया और मारा गया। और भी कई स्पेनवालो को इन टापुओ के आदमियो ने मार डाला क्योंकि वे बडी शेखी बघारते और वहाँ के आदमियो पर शान गाँठते थे।

स्पेन के लोग स्पाइस यानी मसाले के द्वीपों की तलाश में थे, जहाँ से कि कीमती मसाले आया करते थे। वे इन्हींकी तलाश में आगे बढ़ते गये। एक दूसरे जहाज को भी छोड़ देना और उसे जला देना पडा सिर्फ दो बाकी बचे। यह निश्चय हुआ कि इनमें से एक प्रशात महासागर होकर स्पेन वापस जाय और दूसरा गुडहोप के अन्तरीप से होकर। पहला जहाज तो बहुत दूर नहीं जासका क्योंकि पुर्तगालवालो ने पकड लिया, लेकिन दूसरा जहाज, जिसका नाम 'विट्टोरिया' था, अफरीका के चारो तरफ रेंगता हुआ, रवाना होने के ठीक ३ वर्ष बाद, सेविले, जो स्पेन में है, १५२२ ई० में पहुँचा। इसमें सिर्फ १८ आदमी बच गये थे। यह सारी दुनिया की यात्रा करनेवाला पहला जहाज था।

मैंने तुमसे 'विट्टोरिया' के सफर का सविस्तार हाल बताया है क्योंकि यह

अद्‌भुत यात्रा थी। आजकल हम समुद्र बहुत आराम के पार कर लेते हैं और बड़े जहाजों पर लम्बे-लम्बे सफर करते हैं लेकिन इन शुरू के मुसाफिरों का ख़याल करो कि कैसे वे हर तरह के ख़तरे और तकलीफें बरदाश्त करते थे; अज्ञात में ग़ोते लगाते थे और उन लोगों के लिए, जो बाद को आनेवाले थे, समुद्री रास्ते की तलाश करते थे। उस ज़माने के स्पेन और पुर्तगालवाले बड़े घमण्डी, शेख़ीबाज़ और बेरहम थे लेकिन वे अद्‌भुत रूप से बहादुर थे और साहस की भावना से भरे हुए थे।

जिस वक़्त मैगेलन दुनिया के चारों तरफ घूम रहा था, कोर्टे मैक्सिको के शहर में दाख़िल हो रहा था और अज़टेक साम्राज्य को स्पेन के बादशाह के लिए जीत रहा था। मैंने तुमसे इसके बारे में, और अमेरिका की 'माया' सभ्यता के बारे में, थोड़ा-बहुत बताया है। कोर्टे १५१९ ई० में मैक्सिको पहुंचा। पिज़ारो १५३० ई० में दक्षिण अमेरिका के 'इनका' साम्राज्य में (जिसे अब पेरू कहते हैं) पहुँचा। हिम्मत और बहादुरी से, बेरहमी और फरेब से, लोगों के घरेलू झगड़ों से फायदा उठाकर कोर्टे और पिज़ारो ने दोनों पुराने साम्राज्यों का ख़ातमा कर दिया। लेकिन ये दोनों साम्राज्य बहुत पुराने हो चुके थे और बहुत-सी बातों में बड़े दकियानूसी थे। इसलिए बालू की दीवार की तरह पहले ही धक्के में भरभराकर गिर गये।

जहाँ ये बड़े-बड़े सय्याह और समुद्र-यात्री पहुँचे थे वहाँ झुंड के झुंड लोग पहुँचने लगे, जो लूटमार के लिए बेताब थे। स्पेन के अधीन अमेरिका का जितना हिस्सा था उसे इस झुंड से बहुत तकलीफ हुई। कोलम्बस के साथ भी इन लोगों ने बहुत बुरा बर्ताव किया। पेरू और मैक्सिको से स्पेन को सोने और चांदी की धारा बराबर बह रही थी। इन कीमती धातुओं की बहुत ज्यादा मात्रा स्पेन जाने लगी, जिससे योरप की आखें चकाचौंध होगई और स्पेन योरप का प्रभावशाली राज्य बन गया। यह सोना और चाँदी योरप के दूसरे देशों को भी गया और इस तरह से पूरब की पैदावार ख़रीदने के लिए उनके पास बहुत ज्यादा दौलत हो गई।

स्पेन और पुर्तगाल की कामयाबी से और देशों के लोगों की कल्पना, ख़ासकर फ़्रांस, इंग्लैण्ड, हालैण्ड और उत्तरी जर्मन शहरों के लोगों की कल्पना, जग गई। पहले इन लोगों ने इस बात की बड़ी कोशिश की कि उत्तर से एशिया और अमेरिका पहुँचने का यानी नार्वे के उत्तर से होकर पूर्व जाने का और ग्रीनलैण्ड होकर पश्चिम जाने का—कोई रास्ता ढूंढ़ ले। लेकिन वे नाकामयाब रहे और पुराने ही रास्ते से उन्हें जाना पड़ा।

वह ज़माना भी क्या ही अद्‌भुत रहा होगा जब कि दुनिया का दरवाज़ा खुलता हुआ दिखाई देता था और उसमें ख़ज़ाने और आश्चर्यजनक चीज़ें नज़र पड़ती रही

होगी, नई-नई बातो का बराबर पता चलता जाता था और नये महाद्वीप, नये समुद्र, अथाह संपत्ति सामने थी। जरूरत सिर्फ इतनी थी कि लोग उसे खोलने का जादू भरा मंत्र पढ़ दें और वह उनके हाथ आजाय। उस जमाने की हवा में ही जादू का असर रहा होगा।

दुनिया अब तंग जगह हो गई है और इसमें खोज की गुंजाइश नही रही; कम-से-कम अभी तो ऐसा मालूम होता है। लेकिन ऐसा है नहीं क्योंकि विज्ञान ने बडे-बडे नये क्षेत्र खोल दिये है जिनमें खोज की जरूरत है और साहसपूर्ण कामो के लिए भी काफी गुंजाइश है—खास करके आजकल के हिन्दुस्तान में।

: ७४ :

मंगोल साम्राज्य का विध्वंस

९ जुलाई, १९३२

मैंने तुमको कई दिनो से खत नहीं लिखा। मै तो इसके लिए बहुत इच्छुक और तैयार था लेकिन मेरे दाहिने हाथ की सबसे छोटी उँगली (कनिष्ठिका) इसके लिए तैयार नहीं थी। यह छोटी-सी चीज कुछ दिनों से अपने मन की हो गई है और बहुत लिखना पसंद नही करती। जब मै तुम्हे पिछला खत लिख रहा था तब, करीब एक हफ्ता हुआ, इसने बाकी हाथ से असहयोग करना शुरू कर दिया। मुझे उस खत को खतम करने में बडी दिक्कत हुई। यह इतना जिद करने लगी और अपने मन की बात करने पर उतारू हो गई कि मैंने उसकी सनक के आगे झुक जाने का निश्चय किया और कुछ समय के लिए लिखना बंद कर दिया। मैंने इसे आराम दे दिया था और अब मै लिखना शुरू करता हूँ। इस वक़्त तो यह ठीक काम कर रही है लेकिन मुझे डर है कि भविष्य में यह शायद मुझे परेशान करेगी।

मैंने तुम्हे बताया है कि मध्य युग कैसे गुज़र गया; योरप में नई भावना कैसे पैदा हुई और नई ताकत कैसे आई, जो कई रास्तो से फूट निकली। योरप नई चीजें सोचने, खोजने और बनाने के कामो में तेजी से भिड़ गया था। अपने छोटे-छोटे देशो में सदियो तक बंद रहने के बाद वहाँ के रहनेवाले जैसे फूट निकले और बडे-बडे समुद्रो को पार करके दुनिया के कोने-कोने में पहुँचने लगे। वे अपनी ताकत में पूरा भरोसा रखकर विजयी की हैसियत से बाहर निकले और इसी भरोसे से उनमें हिम्मत पैदा होगई और वे अद्भुत काम करने लगे।

लेकिन तुम्हे यह आश्चर्य जरूर हुआ होगा कि यह तब्दीली कैसे पैदा हुई।

१३वी सदी के बीच में मंगोल एशिया और योरप के मालिक थे। पूर्वी योरप उनके कब्जे में था; पश्चिमी योरप उन महान् और जाहिरा अजेय सिपाहियों के सामने थर्राता था। बडे खां के किसी सिपहसालार के सामने योरप के राजा और सम्राट क्या चीज थे ?

२०० वर्ष बाद, कुस्तुन्तुनिया के राजनगर पर और दक्षिण-पूर्वी योरप के काफी हिस्से पर, उस्मानी तुर्कों का कब्जा हो गया था। मुसलमानो और ईसाइयो में ८०० वर्ष की लड़ाई के बाद वह बड़ा तोहफा, जिसके लिए अरब और सेलजूक तुर्क ललचाया करते थे, उस्मानियो के हाथ में आया था। उस्मानी सुलतान इतने से सतुष्ट न हुए और पश्चिम पर ही नही बल्कि रोम पर भी लालच-भरी निगाह डालने लगे। उन्होने जर्मन (पवित्र रोमन) साम्राज्य और इटली को धमकाया; हंगरी को जीत लिया और वियेना की दीवारो और इटली की सरहद तक पहुँच गये। पूर्व में उन्होने बगदाद को अपने साम्राज्य में मिला लिया और दक्षिण में मिस्र को जीत लिया। सोलहवीं सदी के मध्य में सुलतान सुलेमान, जिसे 'शानदार' का लकब मिला था, इस विशाल तुर्की साम्राज्य पर राज करता था। समुद्र में भी उसकी जल-सेना सबसे श्रेष्ठ थी।

फिर यह तब्दीली कैसे हुई ? योरप मंगोलो की आफ़त से कैसे बचा ? तुर्की खतरे से उसने अपनी जान कैसे बचाई ? कैसे उसने न सिर्फ अपनी ही जान बचाई बल्कि खुद दूसरो पर चढ़ दौड़ने लगा और दूसरों के लिए खतरा बन गया ?

बहुत दिनों तक योरप को मंगोलो की घुड़कियाँ नही सहनी पडी। वे खुद ही एक नये खान का चुनाव करने के लिए वापस चले गये और फिर लौट कर नहीं आये। पश्चिमी योरप मंगोलो की मातृभूमि से बहुत दूर था। शायद यह बात भी हो कि यह मुल्क झाडियो और जगलो से भरा था इसलिए उन्हे अच्छा न लगा हो क्योंकि वे खूब खुले मैदानों और घाटियो के रहनेवाले थे। बहरहाल पश्चिमी योरप मगोलो से बच गया—अपनी किसी बहादुरी की वजह से नहीं बल्कि मगोलो की लापरवाही और उनके दूसरे काम में लगे रहने की वजह से। पूर्वी योरप में वे कुछ ज्यादा दिन रहे जबतक कि उनकी (मगोल) ताकत धीरे-धीरे बिखर न गई।

मैं तुमको पहले ही बता चुका हूँ कि १४५२ ई० में तुर्कों द्वारा कुस्तुन्तुनिया की विजय यूरोपियन इतिहास में एक ऐसी घटना मानी जाती है जिससे इतिहास का रुख् बदल जाता है। सुभीते के ख्याल से यह कह सकते हैं कि उस वक्त से मध्य काल खतम हुआ और नई भावना और नई जागृति ('रिनेंसां') आई, जो अनेक सोतो से वह निकली। इसी तरह ठीक उसी वक्त, जब तुर्क योरप को दबोचनेवाले थे

और तुर्कों को कामयाबी का काफी मौका था, योरप के पैर जम गये और उसने अपने अन्दर ताकत पैदा कर ली। तुर्क पश्चिमी योरप में थोडे अरसे तक बढ़ते गये और जब वे बढ़ रहे थे, यूरोपियन नाविक नये-नये देशो और समुद्रों की तलाश कर रहे थे और पृथ्वी के चारों तरफ चक्कर लगा रहे थे। सुलतान सुलेमान के जमाने में, जिसने १५२० से १५६६ ई० तक राज किया, तुर्की साम्राज्य वियेना से बगदाद और काहिरा (कैरो) तक फैल गया था लेकिन इसके आगे वे नहीं बढ़ सके। तुर्क लोग कुस्तुन्तुनिया के यूनानियो की पुरानी कमज़ोरियो और दुराचारपूर्ण रस्म-रिवाजो में फँसते जाते थे। इधर योरप की ताकत बढ़ती जाती थी; उधर तुर्क अपनी पुरानी ताकत खोते जाते थे और कमजोर होते जाते थे।

पुराने ज़माने में भ्रमण करते-करते हमने देखा था कि एशिया ने योरप पर कई बार हमला किया। एशिया पर योरप ने भी कुछ हमले किये हैं लेकिन उनका कोई महत्व नही था। सिकन्दर एशिया पार करता हुआ हिन्दुस्तान आया था लेकिन इससे कोई खास नतीजा न निकला। रोमन लोग इराक के आगे कभी नहीं बढ़े। इसके मुकाबिले में, योरप पर बहुत पुराने ज़माने से एशियाई क़ौमों का बराबर हमला होता रहा है। एशियाई हमलो में, योरप पर उस्मानी तुर्कों का हमला आखिरी हमला समझना चाहिए। हम देखते हैं कि धीरे-धीरे पलड़ा उलट जाता है और योरप तेज़ और ताकतवर बन जाता है। यह तब्दीली सोलहवीं सदी के बीच में पैदा होती है। अमेरिका, जिसका पता हाल ही में चला था, योरप के सामने बहुत जल्द पस्त हो गया। लेकिन एशिया ज्यादा कठिन समस्या साबित हुई। २०० वर्ष तक यूरोपियन लोग एशियाई महाद्वीप के अनेक हिस्सो में पैर जमाने की कोशिश करते रहे और अठारहवी सदी के मध्य तक एशिया के कुछ हिस्सो पर हावी हो गये। कुछ लोग, जो इतिहास नहीं जानते, समझते हैं कि योरप ने हमेशा एशिया पर राज किया है। योरप की यह शान बहुत हाल की है और जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, अब स्थिति बदलती जारही है और इसकी ताकत गिरती हुई दिखाई देरही है। पूरब के तमाम देशो में नये खयालात लहरे मार रहे हैं और बडे-बडे आन्दोलन, जिनका उद्देश्य आजादी हासिल करना है, योरप की प्रभुता को ललकार कर जड़ से हिला रहे हैं। इन कौमी खयालो से भी ज्यादा विस्तृत और गहरे समाजवाद के नये खयालात हैं जो सारे साम्राज्यवाद और शोषण का खातमा कर देना चाहते हैं। भविष्य में यह सवाल नही रहेगा कि योरप एशिया पर हावी है या एशिया योरप पर या एक देश दूसरे का शोषण करता है।

यह एक लम्बी भूमिका होगई। अब हम फिर मंगोलो की चर्चा करेंगे। उनकी

किस्मत के पीछे-पीछे चलकर हमें देखना है कि उनकी क्या दशा हुई। तुम्हे याद होगा कि कुबलाईखाँ आखिरी बड़ा खा था। १२९२ ई० में उसकी मौत के बाद वह विशाल साम्राज्य, जो एशिया में कोरिया से लेकर योरप में हंगरी और पोलैंड तक फैला हुआ था, पाँच साम्राज्यो में बँट गया। ये पाँचो साम्राज्य अपनी-अपनी जगह पर भी बडे-बडे साम्राज्य थे। मैंने अपने एक पिछले खत में इन पांचो के नाम दे दिये हैं।

इन पांचो में चीन का साम्राज्य सब-से बड़ा और ताकतवर था, उसमें मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत, कोरिया, अनाम, टार्गाकग, और बरमा के कुछ हिस्से शामिल थे। युवान खानदान (जो कुबलाई का खानदान था) इस साम्राज्य का अधिकारी हुआ। लेकिन बहुत दिनों के लिए नही। बहुत जल्दी दक्षिण में इसके टुकडे टूट-टूटकर निकलने लगे और, जैसा मैंने तुम्हे बताया है, १३६८ ई० में, कुबलाई के मरने के ७६ वर्ष बाद, यह खानदान खतम हो गया और मंगोल लोग भगा दिये गये।

बहुत दूर पश्चिम में, 'सुनहरे कबीलो' (Golden Hordes) का साम्राज्य था। इन लोगों का क्या ही अच्छा नाम था। रूसी सरदारों ने कुबलाई की मृत्यु के बाद २०० वर्ष तक इन लोगो को कर दिया। इस जमाने के अखीर में, यानी १४८० ई० में, साम्राज्य किसी कदर कमजोर पड़ रहा था। और मास्को के ग्रांड ड्यूक ने, जो रूसी सरदारो का प्रमुख बन बैठा था, कर देनें से इन्कार कर दिया। उस ग्राड ड्यूक का नाम महान् आइवन था। रूस के उत्तर में नवगोरोड का पुराना प्रजातंत्र था, जिस पर व्यापारियो और सौदागरों का अधिकार था। आइवन ने प्रजातंत्र को हरा कर अपने राज में मिला लिया। इसी दरमियान कुस्तुन्तुनिया तुर्कों के हाथ में पहुँच चुका था और पुराने सम्राटो का कुटुम्ब वहांसे भगा दिया गया था। आइवन ने इस पुराने राज-घरानें की एक लड़की से शादी करली और इस बात का दावा करनें लगा कि वह उस राजवंश का है और पुराने बिजैण्टियम का वारिस है। रूसी साम्राज्य, जो १९१७ की क्रान्ति में हमेशा के लिए खतम हो गया, इसी आइवन महान् की मातहती में, पर इस तरीके पर, शुरू हुआ। इसके पोते ने, जो बड़ा बेरहम था और इसीलिए 'भयंकर आइवन' (Ivan, the Terrible) कहलाता था, अपने लिए 'ज़ार' का लकब ले लिया जिसका अर्थ—सीजर या सम्राट होता था।

इस तरह मंगोल हमेशा के लिए योरप से हट गये। सुनहरे कबीलो और मध्य एशिया के दूसरे मगोल साम्राज्यों का क्या हुआ, इसे जानने में हमें मगजपच्ची करने की जरूरत नही है। मैं उनके बारे में ज्यादा जानता भी नही हूँ; लेकिन एक आदमी पर हमें जरूर ध्यान देना चाहिए।

वह आदमी तैमूर है, जो दूसरा चंगेज़ खां बनना चाहता था। वह अपने को चंगेज़ के खानदान का बताता था लेकिन असल में तुर्क था। वह लँगड़ा था, इसलिए तैमूरलंग कहलाता था। वह अपने बाप की जगह पर १३६९ ई० में समरकंद का शासक बना। इसके बाद ही उसने अपनी बेरहमी और विजय की यात्रा शुरू कर दी। वह बहुत बड़ा और होशियार सिपहसालार था, लेकिन पक्का वहशी भी था। मध्य एशिया के मंगोल लोग, इस दरमियान में मुसलमान हो चुके थे और तैमूर ख़ुद भी मुसलमान था लेकिन मुसलमानों के साथ वह ज़रा भी मुलायमियत नहीं दिखाता था। जहाँ-जहाँ वह पहुँचा उसने तबाही और बरबादी फैलादी। आदमियो के सरों के बडे-बडे ढेर देख कर वह बड़ा खुश होता था। पूर्व में दिल्ली से, पश्चिम में एशिया-माइनर तक, उसने लाखो आदमी कत्ल करा दिये। और इन कत्ल हुए लोगो के ककालों को वह 'पिरेमिड' की शक्ल में सजवाया करता था।

चंगेज़ खां और उसके मंगोल बेरहम और बरबादी करने वाले थे पर उनके ज़माने में दूसरे भी इसी तरह के हुआ करते थे; लेकिन तैमूर उन सब से बुरा था। बेमतलब की और पैशाचिक बेरहमी में उसका मुकाबिला करनेवाला कोई दूसरा नहीं। कहते हैं कि किसी जगह पर उसने २००० ज़िंदा आदमियो की एक मीनार बनवाई और उन्हे ईंट और गारे से चुनवा दिया।

हिन्दुस्तान की दौलत ने इस वहशी को अपनी तरफ खींचा। अपने सिपह-सालारो और सरदारों को हिन्दुस्तान पर हमला करने के लिए राज़ी करने में इसे कुछ कठिनाई हुई। समरकद में एक बडी सभा हुई, जिसमें सरदारो ने हिन्दुस्तान जाने पर इसलिए ऐतराज़ किया कि वहां गर्मी बहुत पड़ती है। अख़ीर में तैमूर ने वादा किया कि वह हिन्दुस्तान में ठहरेगा नहीं, लूट-मार करके वापस चला आयेगा। तैमूर ने अपनी बात कायम रखी।

तुम्हे याद होगा कि उत्तरी हिन्दुस्तान पर उस वक्त मुसलमानी राज्य था। दिल्ली में एक सुलतान राज्य करता था लेकिन यह मुसलमान राज कमज़ोर था और सरहद के मंगोलो से बराबर लड़ाई करते-करते इसकी कमर टूट गई थी इसलिए जब तैमूर मगोलो की फौज लेकर आया तो उसका कोई बड़ा मुकाबिला नहीं हुआ और वह कत्लेआम करता और कंकालो का पिरेमिड बनाता हुआ आराम के साथ आगे बढ़ता गया। हिन्दू और मुसलमान दोनो कत्ल किये गये; उनमें कोई फर्क नहीं किया गया। जब क़ैदी बहुत ज्यादा हो जाते तो वह उनके क़त्ल का हुक्म दे देता था और लाखो आदमी मार डाले जाते थे। कहते हैं कि एक जगह पर हिन्दू और मुसलमान दोनो ने मिलकर राजपूतों की जौहर की रस्म अदा की थी यानी मरने के

लिए मैदानेजग में उतर पडे थे। लेकिन भीषणता की इस कहानी को दोहराते रहने की जरूरत नही है। रास्ते भर वह यही करता गया। तैमूर की फौज के पीछे-पीछे अकाल और महामारी चलती थी। दिल्ली में वह १५ दिन तक रहा और उसने इस बडे शहर को कसाईखाना बना दिया। बाद में काश्मीर को लूटता हुआ वह समरकंद वापस लौट गया।

हालाँकि तैमूर वहशी था, पर वह समरकंद में और मध्य एशिया में दूसरी जगहो पर खूबसूरत इमारते बनवाना चाहता था इसलिए उसने, जैसा सुलतान महमूद ने पुराने जमाने में किया था, हिन्दुस्तान के बडे-बडे कारीगर, राजगीर और मिस्त्रियो को इकट्ठा किया और उन्हे अपने साथ ले गया। इनमें से जो सब से अच्छे राजगीर और कारीगर थे उन्हें उसने अपनी नौकरी मे रख लिया; दूसरो को पश्चिमी एशिया के खास-खास शहरो में भेज दिया। इस तरह इमारते बनाने की कला की एक नई तर्ज पैदा हुई।

तैमूर के जाने के बाद दिल्ली मुर्दों का शहर बन गया था। अकाल (कहर) और महामारी जोरो के साथ चल रही थी। दो महीने तक न कोई राजा था, न सगठन, न व्यवस्था। बहुत कम लोग वहाँ रह गये थे। जिस आदमी को तैमूर ने दिल्ली का वाइसराय मुकर्रर किया था. वह भी मुलतान चला गया था।

इसके बाद तैमूर ईरान और इराक़ में तबाही और बरबादी फैलाता हुआ पश्चिम की तरफ बढ़ा। अंगोरा में १४०२ ई० में उस्मानी तुर्को की एक बडी फौज के साथ इसका मुक़ाबिला हुआ। अपने सैनिक कौशल से इसने तुर्कों को हरा दिया। लेकिन समुद्र उसके लिए बडी जबर्दस्त रोक थी इसलिए यह बासफोरस पार न कर सका और योरप उससे बच गया।

तीन वर्ष बाद १४०५ ई० में, जबकि वह चीन की तरफ बढ़ रहा था, तमूर मर गया। उसीके साथ उसका लम्बा-चौडा साम्राज्य भी बिखर गया, जो क़रीब-करीब सारे पश्चिमी एशिया भर में फैला हुआ था। उस्मानी तुर्क, मिस्रवाले और सुनहरे कबीलेवाले इसे खिराज देते थे। तैमूर का रण-कौशल अदभुत था, और यही उसकी योग्यता थी। साइबेरिया के बर्फिस्तान में उसकी रणयात्रा बहुत असाधारण रही है। असल में वह एक जगली खानाबदोश था; उसने कोई संगठन नही बनाया और न चगेज़ की तरह उसने साम्राज्य चलाने के लिए अपने पीछे कोई काबिल आदमी ही छोडे। इस तरह, तैमूर का साम्राज्य उसीके साथ खतम हो गया और बरबादी और कत्लेआम की सिर्फ यादगार बाकी बची। मध्य एशिया में उन लोगो में जो विजयी की हैसियत से यहाँ से गुजरे है, चार आदमी अभी तक याद किये जाते है—सिकन्दर, सुलतान महमूद, चंगेज खां और तैमूर।

तैमूर ने उस्मानी तुर्कों को हराकर हिला दिया लेकिन वे बहुत जल्द फिर पनप गये और ५० वर्ष के अन्दर, यानी १४५३ में, उन्होंने कुस्तुन्तुनिया पर कब्ज़ा कर लिया।

अब हमें मध्य एशिया से विदा ले लेनी चाहिए। सभ्यता के पलडे में वह हलका पड़ जाता है और उसकी तरफ कोई ध्यान नहीं देता। वहाँ कोई ऐसी बात नहीं होती जिसपर हम ध्यान दें। सिर्फ पुरानी सभ्यताओं की यादगार बाक़ी रह जाती हैं, जिन्हें आदमी ने अपने हाथ से नष्ट कर दिया। प्रकृति भी उसके प्रति कठोर होगई और धीरे-धीरे वहाँकी आबहवा ज्यादा खुश्क होगई और उसमें लोगों का बसना मुश्किल होता गया।

हमें मंगोलों से भी विदा ले लेनी चाहिए। हाँ, उनकी एक शाखा का ख़याल रखना पडेगा जो बाद को हिन्दुस्तान में आई और जिसने यहाँ एक बड़ा और मशहूर साम्राज्य क़ायम किया। लेकिन चंगेज़ और उसके खानदानवालों का साम्राज्य बिखर गया। मंगोल फिर अपने छोटे-छोटे सरदारों की मातहती में वापस चले जाते हैं और अपनी पुरानी कौमी आदतों को इख़्तियार कर लेते हैं।

छोटी अंगुली में फिर तकलीफ़ शुरू हो रही है इसलिए अब मैं ख़तम करता हूँ।

: ७५ :

हिन्दुस्तान में एक कठिन समस्या का समाधान

१२ जुलाई, १९३२

मैंने तुमको तैमूर के बारे में, उसके कत्लेआम और सरों के ढेर (पिरेमिड) के बारे में बताया है। यह सब कितनी बीभत्स और वहशियाना बात मालूम होती है। हमारे इस सभ्य युग में ऐसी बात नहीं हो सकती। लेकिन इस बात को भी निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते, क्योंकि हाल ही में हमने देखा है और सुना है कि हमारे ज़माने में क्या हो सकता है। चंगेज़खां और तैमूर द्वारा किया हुआ जान और माल का नुकसान, गोकि बहुत ज्यादा था, फिर भी १९१४–१८ के महायुद्ध में हुई बरबादी के मुकाबिले में वह बिलकुल तुच्छ जँचता है और मंगोलों की हरेक बेरहमी की बराबरी करने के लिए भीषणता के नमूने, आज-कल के ज़माने में भी, मिल सकते हैं।

फिर भी इसमें कोई शक नहीं कि चंगेज़ और तैमूर के ज़माने से आज हमने सैंकड़ों बातों में तरक्की की है। यही नहीं कि उस ज़माने से ज़िन्दगी कहीं ज्यादा

बन गई है, बल्कि वह ज्यादा सम्पन्न भी है। प्रकृति की बहुतेरी ताकते खोज निकाली गई है; उनको समझने की कोशिश की गई है और उन्हे इन्सान के फ़ायदे के लिए काम में लाया गया है। बिला शक दुनिया आज ज्यादा सभ्य और संस्कृत है। फिर हम लड़ाई के जमाने में जगली क्यो बन जाते है? इसकी वजह यह है कि लड़ाई खुद ही अपनी जगह पर सभ्यता और संस्कृति का प्रतिवाद या इन्कार है। युद्ध का सभ्यता और संस्कृति से सिर्फ इतना ताल्लुक है कि यह सभ्य लोगो के दिमाग की मदद से ज्यादा-से-ज्यादा ताकतवर और खौफनाक हथियार तैयार कराता है। जब लड़ाई शुरू होती है तो बहुत-से आदमी, जो इसमें शामिल होते है, जानबूझकर अपने को जोश की खौफनाक हालत में पहुँचा देते है। जो कुछ सभ्यता ने उन्हे सिखाया है उसमें से बहुतेरी बाते वे भूल जाते है, वे सचाई और जिन्दगी की वज़ेदारी को भुला देते है और हज़ारो वर्ष पुराने अपने जंगली पुरखो-जैसे बन जाते है। फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है कि लड़ाई जब कभी छिड़ती है तो खौफनाक बन जाती है।

अगर कोई अजनबी दूसरी दुनिया से इस दुनिया में लड़ाई के जमाने में आजाय तो वह क्या कहेगा? मान लो कि उसने हमें और हमारी दुनिया को सिर्फ लड़ाई के वक्त ही देखा, शान्ति और सुलह के जमाने में नही। वह सिर्फ लड़ाई के आधार पर हमारे बारे में अपनी राय कायम करेगा और इस नतीजे पर पहुँचेगा कि हम लोग बेरहम, सगदिल और जगली है; कभी-कभी त्याग और साहस दिखा देते है, लेकिन आम तौर पर हमारी जिन्दगी में कोई नेक पहलू नही; सिर्फ एक जबर्दस्त ख्वाहिश है कि एक दूसरे को कत्ल करे और बरबाद करे। वह हमारे बारे मे गलत राय कायम करेगा और हमारी दुनिया के बारे में गलत खयाल बना लेगा, क्योकि वह एक ख़ास वक़्त पर, जो हमारे कुछ ज्यादा अनुकूल नही, हमारा सिर्फ़ एक पहलू ही देखेगा।

इसी तरह अगर हम पुराने जमाने के बारे में सिर्फ़ लड़ाई और कत्ल का ख़याल करते हुए, राय कायम करेगे तो वह गलत होगी। बदकिस्मती से लड़ाई और कत्ल की तरफ हमारा ध्यान बहुत ज्यादा खिच जाता है और लोगो की रोजमर्रा की जिन्दगी हमें नीरस मालूम होती है। इतिहास-लेखक इसके बारे में क्या लिखे? इसलिए इतिहास-लेखक किसी लड़ाई या युद्ध के ऊपर टूट पड़ता है और उसीके बारे में बहुत कुछ लिख डालता है। इसमें शक नही कि हम लड़ाइयो को न भूल सकते है और न उनके बारे में उदासीन हो सकते है लेकिन हमें यह भी न चाहिए कि हम उन्हे उतना महत्व दे दें जितने के वे मुस्तहक नहीं। हमें पुराने जमाने पर मौजूदा जमाने के लिहाज से

नजर डालनी चाहिए और उस जमाने के आदमियो के बारे में उसी तरह सोचना चाहिए जिस तरह हम अपने बारे में देखते और सोचते हैं । तभी हमें उनकी ज्यादा इन्सानी झलक मिल सकेगी और हम समझेंगे कि लोगो की रोजमर्रा जिन्दगी और खयालात ही असल में महत्व रखते हैं; कभी-कभी होने वाली लड़ाइयाँ नहीं । इस बात का याद रखना बहुत जरूरी है क्योंकि तुम्हे इतिहास की किताबें लड़ाइयो के हाल से भरी मिलेंगी । मेरे ये खत भी अक्सर उसी तरफ बहक जाते हैं । असली वजह इसकी यह है कि पुराने जमाने के लोगो की रोजमर्रा की जिन्दगी के बारे में लिखना मुश्किल है । मुझे इसके बारे में काफी जानकारी नहीं है ।

जैसा हमने देखा है, तैमूर हिन्दुस्तान पर आनेवाली सबसे बडी बलाओ में एक था । उन भयंकर बातो और कामो को सोचकर, जिसे उसने, जहाँ-जहाँ गया वहाँ किया, रोंगटे खडे हो जाते हैं । फिर भी दक्षिण हिन्दुस्तान पर उसका जरा भी असर नही पडा था । यही बात पूर्वी, पश्चिमी और मध्य हिन्दुस्तान के बारे में भी थी । आजकल का संयुक्त प्रान्त भी उसकी चोट से क़रीब-करीब बच गया था, सिवाय इसके कि देहली और मेरठ के नजदीक उत्तर के छोटे-से हिस्से पर, कुछ असर पड़ा था । दिल्ली शहर के अलावा पंजाब ही ऐसा सूबा था जो तैमूर के हमले से ज्यादा बरबाद हुआ । पंजाब में भी असल बरबादी उन लोगों की हुई जो तैमूर के रास्ते में पडे । पंजाब के ज्यादातर लोग बिना विघ्न के अपने रोजमर्रा के काम में लगे रहे । इसलिए हमें इस बात से होशियार रहना चाहिए कि हम हमलो और लड़ाइयों के महत्व को बढ़ाकर न कहे ।

चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदियों के हिन्दुस्तान को देखो । दिल्ली की सुलतानियत सिकुड़ती जाती थी, यहाँ तक कि तैमूर के आने पर बिलकुल खतम हो गई । सारे हिन्दुस्तान में बहुत-सी बडी-बडी आजाद रियासतें थी । इन पर ज्यादातर मुसलमानो का कब्जा था लेकिन विजयनगर की एक ताकतवर हिन्दू रियासत भी दक्षिण में थी । इस समय तक इस्लाम हिन्दुस्तान के लिए अजनबी या नई चीज नहीं रह गया था; उसके पाँव यहाँ अच्छी तरह से जम गये थे । शुरू के अफ़ग़ान हमला करने वालों और गुलाम बादशाहो की भयकरता और बेरहमी ठंडी पड़ चुकी थी और मुसलमान बादशाह अब उतने ही हिन्दुस्तानी थे जितने कि हिंदू थे । उनका बाहरी मुल्कों से कोई रिश्ता नही रह गया था । मुख्तलिफ रियासतो में लड़ाइयाँ होती थीं, लेकिन ये लड़ाइयाँ राजनैतिक थीं, मजहबी नहीं । कभी-कभी मुसलमान रियासत हिन्दू फौज रखती और हिन्दू रियासत मुसलमान फ़ौज रखती थी । मुसलमान बादशाह अक्सर हिन्दू औरतो से शादी करते थे । वे हिन्दुओ को वजीर

बनाते थे और ऊँचे-ऊँचे ओहदे देते थे। जीते और हारे या शासक और शासित का कोई ख़याल न था। सच तो यह है कि ज्यादातर मुसलमान, जिनमें चन्द शासक भी शामिल है, हिन्दुस्तानी थे। जो मुसलमान हो गये थे, उनमें बहुत से तो दरबार से रिआयत मिलने या आर्थिक फ़ायदे की उम्मीद में मुसलमान हो गये थे। मजहब बदल देने पर भी वे अपने पुराने रस्म-रिवाज से चिपटे हुए थे। बहुत-से मुसलमान शासको ने जबरदस्ती मुसलमान बनाने की कोशिश की लेकिन इसमें भी लक्ष्य ज्यादातर राजनैतिक था क्योंकि यह समझा जाता था कि मुसलमान जनता ज्यादा वफ़ादार रिआया होगी। लेकिन मजहब बदलने में जबरदस्ती बहुत मदद नही देती थी। असली असर आर्थिक होता है। जो मुसलमान नही थे, उनको जजिया देना पड़ता था, इसलिए बहुत से इससे बचने के लिए मुसलमान हो गये।

लेकिन ये सब बातें शहरो की है, गाँवों पर बहुत कम असर पड़ता था और लाखों देहाती अपने पुराने रास्ते पर चलते रहते थे। यह सच बात है कि अब सरकारी अफ़सरो नें गाँव की जिन्दगी में पहले से ज्यादा दख़ल देना शुरू कर दिया था और गाँव की पंचायतो के जो अधिकार पहले थे, अब नही रह गये थे। फिर भी पचायते जारी रही। वे ग्रामीण जीवन की केन्द्र और रीढ थी। सामाजिक दृष्टि से और धर्म और रस्म-रिवाज के मामलो में गाँव में बिलकुल तब्दीली नहीं आई। हिन्दुस्तान, जैसा तुम जानती हो, आज तक लाखो गाँवो का देश है। शहर और कस्बे तो सिर्फ सतह के ऊपर ही ऊपर रहते है; असली हिन्दुस्तान उस वक़्त भी और आज भी ग्रामीण हिन्दुस्तान था और है। ग्रामीण हिन्दुस्तान को इस्लाम बहुत ज्यादा बदल नहीं सका।

इस्लाम के आने की वजह से हिन्दू धर्म को दो तरीको से धक्का पहुँचा और ताज्जुब तो यह है कि ये दोनो तरीके एक दूसरे के ख़िलाफ़ थे। एक बात तो यह हुई कि वह ज्यादा कट्टर और संकीर्ण हो गया। वह सख़्त पड़ गया और हमलो से बचनें के लिए तंग दायरे के अन्दर घुस गया। जात-पाँत का बन्धन ज्यादा मजबूत हो गया और परदा ज्यादा आम हो गया। दूसरी बात यह हुई कि जात-पांत, कट्टरता और संकीर्णता के खिलाफ एक अन्दरूनी विद्रोह पैदा हो गया और हिंदू धर्म में सुधार के लिए बहुतेरी कोशिशें हुई।

इतिहास भर में शुरू के जमाने से ही हिन्दू धर्म में सुधारक पैदा होते रहे है, जिन्होनें इसकी बुराइयो को मिटाने की कोशिश की है। बुद्ध सबसे बडे सुधारक थे और मैंने तुमसे शंकराचार्य का जिक्र किया ही है, जो आठवी सदी में हुए थे। तीन सौ वर्ष बाद ग्यारहवीं सदी में एक दूसरे सुधारक पैदा हुए जो चोल साम्राज्य के अन्तर्गत

दक्षिण के रहनेवाले और शंकर के विरोधी मत के माननेवाले थे। इनका नाम रामानुज था। शंकर शैव थे और बुद्धि के मानने वाले थे; रामानुज वैष्णव थे और भक्ति के मानने वाले थे। रामानुज का असर सारे हिन्दुस्तान में फैल गया। मैंने तुम्हे बताया है कि सारे इतिहास-भर में हिंदुस्तान, संस्कृति की दृष्टि से, एक रहा है; राजनैतिक दृष्टि से चाहे इस देश में कई एक परस्पर लड़नेवाली रियासते क्यो न रही हो। जब भी कोई महापुरुष पैदा हुआ या आन्दोलन चला, राजनैतिक सीमाओ का कुछ भी खयाल न करते हुए वह सारे देश मे फैल गया।

जब इस्लाम हिन्दुस्तान में बस गया, हिन्दू और मुसलमान, दोनो, में नये किस्म के सुधारक पैदा होने लगे। वे इन दोनो मजहवो में जो बातें एक थी उन पर जोर देते और दोनो मजहबों के बुरे रस्म-रिवाजों पर हमला करते थे और दोनो मजहवो को नजदीक लाने की कोशिश करते थे। इस तरह दोनों का सामञ्जस्य या मेल करने की कोशिश हुई। यह एक मुश्किल काम था क्योकि दोनों तरफ वैमनस्य और तास्सुब काफी था। लेकिन हम देखेंगे कि इस किस्म की कोशिश एक के बाद दूसरी सदी में बराबर की गई है। कुछ मुसलमान शासको ने, और खासकर महान अकबर ने भी इस सामञ्जस्य या दोनों की अच्छी बातो को मिलाने की कोशिश की।

इस सामञ्जस्य का प्रचार करनेवाले पहले मशहूर सुधारक रामानन्द थे। वह जात-पाँत के खिलाफ प्रचार करते थे और उसकी परवाह नहीं करते थे। कबीर नाम के एक मुसलमान जुलाहे उनके शिष्य थे, जो बाद को उनसे भी ज्यादा मशहूर हुए। रामानद चौदहवीं सदी में दक्षिण भारत में हुए थे। कबीर बहुत लोक-प्रिय हो गये। तुम जानती होगी कि हिन्दी में उनके भजन बहुत मश-हूर है और उत्तर के दूर-दूर के गाँवों में भी गाये जाते है। वह न हिन्दू थे, न मुसलमान। वह हिन्दू मुसलमान दोनों थे या दोनो के बीच के थे। उनके अनुयायी दोनों मजहबो के और सब जाति के लोग हुआ करते थे। कहते है कि जब वह मरे उनका बदन एक चादर से ढक दिया गया। उनके हिन्दू शागिर्द चाहते थे कि जलाने के लिए ले जायें; मुसलमान शागिर्द दफन करना चाहते थे। इसलिए उनमें बहस-मुबाहिसा होने लगा और झगड़ा शुरू हुआ लेकिन इतने में किसी ने चादर उठा ली और वह शरीर, जिसके लिए वे झगड़ रहे थे, उसके नीचे से गायब था। कुछ ताजे फूल जरूर उस जगह पर मिले। मुमकिन है यह कहानी बिलकुल काल्पनिक हो लेकिन है बहुत सुन्दर।

कबीर के कुछ दिनो बाद उत्तर में एक दूसरे बडे सुधारक और धार्मिक नेता

पैदा हुए। इनका नाम गुरु नानक था और इन्होने सिक्ख धर्म चलाया। इनके बाद सिक्खों के दस गुरु हुए। आखिरी गुरू गुरु गोविन्दसिंह थे।

हिन्दुस्तान के धर्म और संस्कृति के इतिहास में एक दूसरा नाम भी बहुत मशहूर है, जिसका मैं यहाँ जिक्र करना चाहूँगा। वह नाम चैतन्य का है। चैतन्य सोलहवी सदी के शुरू में बंगाल के एक मशहूर विद्वान हुए। उन्होने एकाएक यह निश्चय कर लिया कि उनका ज्ञान और काबलियत सब फिजूल की चीज है और उसे छोड़ दिया। वह भक्ति के मार्ग पर चल पडे और बहुत बडे भक्त होगये। वह सारे बगाल में अपने शिष्यों को लेकर भजन गाते फिरते थे। उन्होने भी एक वैष्णव सम्प्रदाय चलाया और अभी तक बंगाल में उनका बहुत ज्यादा असर है।

यह तो हुई धार्मिक सुधार और मेल की बात। जीवन के दूसरे हिस्सो में भी इसी तरह का मेल या इख्तिलात का काम कभी, जान में और कभी अनजान में, जारी था। एक नई संस्कृति, एक नई भवन-निर्माण कला और एक नई जबान पैदा हो रही थी। लेकिन याद रक्खो कि ये सब बाते गाँव के बनिस्बत शहरों में, खासकर साम्राज्य की राजधानी दिल्ली और सूबो और रियासतो की बडी राजधानियो में ज्यादा थी। सबसे ऊपर बादशाह होता था। वह इतना निरंकुश था, जितना पहले कभी भी न रहा होगा। पुराने हिन्दुस्तानी शासको की निरंकुशता रोकने के लिए कितनी ही बंदिशें और रस्म-रिवाज थे। नये मुसलमान बादशाहों के लिए इस किस्म की कोई चीज न थी। गोकि सिद्धान्त रूप से इस्लाम में कही ज्यादा समता है और, जैसा हमने देखा है, गुलाम भी सुलतान बन सकता था, फिर भी बादशाहो की निरंकुशता और उनके अधिकार बढ़ने लगे। निरंकुशता की इससे ज्यादा हैरत में डालनेवाली मिसाल और कहाँ मिल सकती है कि पागल तुगलक अपनी राजधानी दिल्ली से दौलताबाद ले जाय?

गुलाम रखने का रिवाज भी खासकर सुलतानों में बहुत बढ गया था। लड़ाइयो में गुलाम पकड़ने की खास तौर से कोशिशें की जाती थीं। इनमें भी कारीगर और राजगीर ज्यादा कीमती समझे जाते थे। बाकी लोग सुलतान की गारद में भरती कर लिये जाते थे।

नालन्द और तक्षशिला के महान् विश्व-विद्यालयो का क्या हुआ? बहुत दिन से इनका नामनिशान जाता रहा था। लेकिन नये किस्म के विश्वविद्यालय बहुत से पैदा हो गये थे। इनको 'टोल' कहते थे और इनमें पुरानी सस्कृत विद्या पढाई जाती थी। वे अप-टु-डेट (जमाने की सबसे ताजी चलन के मुताबिक) नहीं थे। वे गुजरे जमाने में रहते थे और संभवतः संकीर्णता और प्रतिक्रिया को भावना कायम रखते थे। बनारस बहुत दिनो से इस किस्म का एक बहुत बड़ा केन्द्र रहा है।

मैंने ऊपर हिन्दी में कबीर के भजनो का जिक्र किया है। उससे मालूम होता है कि पन्द्रहवीं सदी में हिन्दी न सिर्फ आम जनता की जबान थी बल्कि वह एक साहित्यिक भाषा भी बन गई थी। संस्कृत बहुत दिनो से जिन्दा जबान न रह गई थी। यहाँतक कि कालिदास और गुप्त राजाओ के जमाने में भी वह सिर्फ विद्वानों की ही जबान थी। साधारण लोग प्राकृत बोलते थे, जो संस्कृत की एक बिगडी हुई शक्ल थी। धीरे-धीरे संस्कृत की दूसरी पुत्रियाँ, हिन्दी, बंगाली, मराठी और गुजराती, बढ़ने लगीं। बहुत-से मुसलमान लेखक और कवियो ने हिन्दी में रचनायें कीं। जौनपुर के एक मुसलमान बादशाह ने पंद्रहवीं सदी में, महाभारत और भागवत को संस्कृत से बँगला में अनुवाद कराया था। दक्षिण के बीजापुर के मुसलमान राजाओं का हिसाब-किताब मराठी में रखा जाता था। इस तरह से हम देखते है कि पंद्रहवीं सदी में संस्कृत से पैदा होनेवाली ये जबाने काफी तरक्की कर चुकी थी। दक्षिण की द्रविड भाषायें—जैसे तमिल, तेलगू, मलयालम और कन्नड इनसे कहीं पुरानी थीं।

मुसलमानी दरबार की जबान फारसी थी। ज्यादातर पढ़े-लिखे आदमी, जिन्हे दरबार से या सरकारी दफ्तर से कोई सरोकार था, फारसी पढ़ते थे। इस तरह हिन्दुओ की काफी तादाद फारसी पढ़ती थी। धीरे-धीरे बाजारो में और सिपाहियों के बीच एक नई जबान पैदा हो गई, जिसे उर्दू कहने लगे। उर्दू के मानी है 'लश्कर'। असल में उर्दू कोई नई जबान नही थी, हिन्दी पर एक नई पोशाक पहना दी गई थी। इसमें फारसी के शब्द ज्यादा होते थे वर्ना यह बिलकुल हिन्दी ही थी। यह हिन्दी-उर्दू जबान या जैसा कि कभी-कभी कहा जाता है यह हिन्दुस्तानी जबान सारे उत्तर और मध्य हिन्दुस्तान में फैल गई। आज भी इसे मामूली फेर-फार से पंद्रह करोड आदमी बोलते है। और इससे कहीं ज्यादा लोग इसे समझते है। इस तरह तादाद के खयाल से यह दुनिया की बडी जबानों में से एक है।

स्थापत्यशिल्प या इमारते बनाने की कला में नई-नई शैलियो का विकास हुआ। और दक्षिण के बीजापूर और विजयनगर में, गोलकुंडा में, अहमदाबाद में (जो उस समय एक बड़ा खूबसूरत शहर था लेकिन आज नहीं है) और जौनपुर में (जो इलाहाबाद के नजदीक है) बहुतेरी खूबसूरत इमारते बनीं। क्या तुम्हे याद है कि हम हैदराबाद के पास गोलकुण्डा के पुराने खँडहरो को देखने गये थे? हम उस विशाल किले पर चढ़ गये थे और वहाँ से हमने देखा था कि हमारे नीचे पुराना शहर, उसके महल और बाज़ार सब टूटी-फूटी हालत में बिखरे हुए है।

इस तरह जब राजा लोग आपस में झगड़ते और एक दूसरे को बरबाद करने की कोशिश में लगे हुए थे, हिन्दुस्तान में बहुत सी ताकतें चुपचाप, सामञ्जस्य

ओर मेल के लिए बराबर कोशिश कर रही थीं; ताकि हिन्दुस्तान के रहनेवाले शान्तिपूर्वक रह सकें और अपनी ताकतों को मिलजुल कर तरक्की और बेहतरी के कामों में लगा सकें। सदियो की कोशिश के बाद उनको काफी कामयाबी हासिल हुई लेकिन यह काम पूरा नहीं होने पाया था कि बिगड़ गया और जिस रास्ते से हम आगे बढ़े थे उसी पर कुछ दूर वापस आगये। फिर हमें आज उसी रास्ते पर चलना है और अच्छी-अच्छी बातो के मेल के लिए कोशिश करनी है। लेकिन इस मर्तबा हमें अपनी बुनियाद ज्यादा मजबूत करनी होगी। हमें इस मर्तबा आज़ादी और सामाजिक समता की बुनियाद पर रचना करनी चाहिए जिससे यह दुनिया के बेहतर तरीके के अनुकूल पडे। तभी यह कायम रह सकती है।

सैकडों वर्षों तक हिन्दुस्तान के बडे-बडे दिमाग धर्म और संस्कृति के इस सामञ्जस्य और मेल की पहेली में डूबे रहे हैं। हिन्दुस्तान का दिमाग इस बात में इतना फँसा रहा है कि राजनैतिक और सामाजिक आज़ादी बिलकुल भूल गई और ठीक उसी वक़्त योरप कितनी ही बातों में आगे बढ़ गया और हिन्दुस्तान बेदम, मुर्दा-सा, जिन्दगी की दौड़ में पीछे रह गया।

मैंने तुम्हे बताया है कि एक वक़्त था जब हिन्दुस्तान विदेशी बाज़ारों पर अपना काबू रखता था क्योंकि रसायन विद्या में वह बहुत आगे था। हिन्दुस्तान रंग बना लेता था, फौलाद पर पानी चढ़ा लेता था और इसी तरह की दूसरी बहुत-सी बातें थी। हिन्दुस्तान के जहाज़ दूर-दूर देशो को माल-असबाब ले जाते थे। जिस ज़माने का हम जिक्र कर रहे है, उससे बहुत पहले हिन्दुस्तान ये बाते खो चुका था। सोलहवीं सदी में नदी फिर पूरब की तरफ वापस बहने लगी। पहले तो, शुरू में, क़तरा-कतरा टपकता रहा लेकिन धीरे-धीरे यह बढ़ गया—यहाँ तक कि वह एक विशाल धारा के रूप में बदल गई।

: ७६ :

दक्षिण भारत के राज्य

१४ जुलाई, १९३२

आओ, हिन्दुस्तान पर फिर एक नज़र डाले और साम्राज्यो और राज्यो के बदलते हुए दृश्यो को देखें। ये किसी बडी या बहुत ज्यादा लम्बी सिनेमा के फिल्म की ख़ामोश तस्वीरों की तरह हमें एकके बाद दूसरी, आती हुई दिखाई देंगी।

तुम्हे शायद पागल सुलतान मुहम्मद तुगलक की बात याद होगी और यह भी

याद होगा कि वह दिल्ली का साम्राज्य के तोड़ने में कैसे कामयाब रहा। दक्षिण के बड़े सूबे निकल गये और वहाँ नये राज्य बन गये। इन राज्यों में विजयनगर की हिन्दू रियासत और गुलबर्गा की मुसलमान रियासत खास थी। पूर्व में गौड़ का सूबा, जिसमें बंगाल और बिहार शामिल था, एक मुसलमान शासक की मातहती में आज़ाद हो गया।

मुहम्मद का वारिस उसका भतीजा फ़ीरोज़शाह हुआ। वह अपने चचा से ज्यादा समझदार और रहमदिल था; लेकिन उसमें भी असहिष्णुता थी। फ़ीरोज़ एक कुशल शासक था और उसने अपने राज्य में बहुत सुधार किये। वह दक्षिण या पूर्व के खोये हुए सूबो को फिर से न पा सका, लेकिन साम्राज्य के बिखरने का जो सिलसिला शुरू हो गया था उसे उसने ज़रूर रोक दिया। उसे नये शहर, महल, मसजिदें, बागीचे बनाने का बहुत शौक था। दिल्ली के नज़दीक फ़ीरोज़ाबाद और इलाहाबाद से थोड़े फ़ासले पर के जौनपुर शहर उसीके बसाये हुए हैं। उसने जमना में एक बड़ी नहर बनवाई थी और बहुत-सी पुरानी इमारतों की, जो टूट रही थी, मरम्मत करवाई थी। उसे अपने इस काम पर बहुत नाज़ था और वह उन नई इमारतो की, जिन्हे उसने बनवाया था, और पुरानी इमारतो की, जिनकी उसने मरम्मत करवाई थी, एक लम्बी फ़ेहरिस्त छोड गया है।

फ़ीरोज़शाह की माँ राजपूत स्त्री थी। उसका नाम बीबी नैला था और वह एक बड़े राजा की लड़की थी। कहते है कि उसके पिता ने पहले फ़ीरोज़ के बाप के साथ उसका विवाह करने से इनकार कर दिया था। इस पर लड़ाई शुरू हुई। नैला के देश पर हमला हुआ और वह बरबाद कर दिया गया। बीबी नैला को जब मालूम हुआ कि उसके लिए ही उसकी प्रजा की यह हालत हो रही है तो वह बहुत परेशान हुई और उसने निश्चय किया कि अपने को फ़ीरोज़शाह के पिता के हवाले करके इस तकलीफ को खतम कर दे और अपनी प्रजा को बचा ले। इस तरह फ़ीरोज़शाह में राजपूती खून था। तुम देखोगी कि राजपूत स्त्रियो और मुसलमान शासको में इस किस्म के विवाह अक्सर हुआ करते थे। इसकी वजह से एकदेशी भावना की तरक्की में ज़रूर मदद मिली होगी।

फ़ीरोज़शाह, ३७ वर्ष के लम्बे समय तक राज करने के बाद, १३८८ ई० में मर गया। फौरन ही दिल्ली साम्राज्य का ढांचा, जिसे उसने जोड़ रखा था, टुकड़े-टुकड़े हो गया। कोई केन्द्रीय सरकार न रह गई और छोटे-छोटे शासक सब जगह राज्य करने लगे। बदइन्तज़ामी और कमज़ोरी के इसी युग में तैमूर उत्तर से आया था। फ़ीरोज़शाह की मृत्यु के ठीक १० वर्ष बाद उसने दिल्ली को करीब-करीब

कतल कर दिया । बहुत धीरे-धीरे यह शहर पनपा; ५० वर्ष बाद फिर एक सुलतान की मातहती मे एक केन्द्रीय सरकार की राजधानी बन गया। लेकिन वह छोटी-सी रियासत थी और दक्षिण, पश्चिम और पूर्वी हिन्दुस्तान के बडे-बडे राज्यो से उसका कोई मुकाबिला नही था । सुलतान अफगान थे । वे वडे हलके दरजे के लोग थे; यहाँ तक कि उन्हींके अफगानी सरदार उनसे ऊब गये थे। और आखिरकार परेशान होकर उन सरदारो ने एक विदेशी को अपने यहाँ राज्य करने के लिए बुलाया। यह विदेशी बाबर था । वह तैमूर के वंश का था और उसकी मां चँगेजखाँ के खानदान से थी । उस वक्त वह काबुल का शासक था । उसने हिन्दुस्तान आने के निमंत्रण को खुशी से मंजूर कर लिया और अगर उसे यह निमत्रण न मिला होता तब भी आया होता ! दिल्ली के नजदीक, पानीपत के मैदान में, १५२६ ई० में, बाबर ने हिन्दुस्तान का साम्राज्य जीता । एक विशाल साम्राज्य पैदा हुआ, जिसे हिन्दुस्तान का मुगल साम्राज्य कहते है । दिल्ली को फिर शोहरत मिली और वह साम्राज्य की राजधानी बन गई । लेकिन इस बात पर विचार करने के पहले हमें हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सो पर नजर डालनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि इन डेढ़सौ वर्षों में, जब दिल्ली नीचे की तरफ जारही थी, और जगहो में क्या घटनायें हो रही थीं।

इस जमाने में हिन्दुस्तान में छोटी-छोटी बहुत-सी रियासते थीं । नये बसे हुए जौनपुर में, मुसलमानों की एक छोटी-सी रियासत थी जिस पर शरकी बादशाह राज्य करते थे । यह रियासत कोई बडी या ताकतवर नहीं थी, और राजनैतिक दृष्टि से भी उसका कोई महत्व नही था। लेकिन पन्द्रहवी सदी में करीब सौ वर्ष तक वह धार्मिक सहिष्णुता और संस्कृति का बड़ा भारी केन्द्र थी । जौनपुर के मुसलमानी कालेज सहिष्णुता के इन खयालो को फैलाते थे और जौनपुर के एक शासक ने तो हिन्दू और मुसलमानों के बीच सामञ्जस्य और मेल की भी कोशिश की थी, जिसका जिक्र मैं अपने पिछले खत में कर चुका हूँ। कला और नफीस इमारतो और इसी तरह से हिन्दी और बंगाली जैसी देश की उन्नतिशील भाषाओ को प्रोत्साहन दिया जाता था। उस बढी हुई असहिष्णुता के बीच में जौनपुर की छोटी और चन्दरोजा रियासत विद्वत्ता, संस्कृति और सहिष्णुता का आश्रय स्थान होने की वजह से मशहूर है ।

पूरब की तरफ इलाहाबाद की सरहद तक फैला हुआ गौडो का बड़ा राज्य था, जिसमें बिहार और बंगाल दोनो शामिल थे । गौड़ का नगर एक बन्दरगाह था, जिससे हिन्दुस्तान के समुद्री किनारे के शहरो का समुद्र के जरिये सम्पर्क था । मध्य हिन्दुस्तान में, इलाहाबाद के पश्चिम, करीब-करीब गुजरात तक फैला हुआ मालवा

का राज्य था, जिसकी राजधानी मॉडव थी। मांडव शहर भी था और किला भी। वहाँ बहुत-सी सुन्दर और विशाल इमारते बनी जिनके खंड्हरो को देखने के लिए अभी तक लोग जाते हैं।

मालवा के उत्तर-पश्चिम राजपूताना था, जिसमें बहुत-सी राजपूत रियासते खासकर चित्तौड़ की—थीं। चित्तौड़, मालवा और गुजरात में अक्सर लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। चित्तौड दूसरी दोनो शक्तिशाली रियासतो के मुकाबिले में छोटा था। लेकिन राजपूत लोग हमेशा बहादुर सिपाही रहे हैं और तादाद में कम होने पर भी अक्सर उनकी जीत हुई है। चित्तौड के राणा ने मालवा पर इस, तरह की फतेह हासिल करने पर चित्तौड़ में एक 'विजयस्तम्भ' बनवाया था। मांडव के सुलतान ने भी इस खयाल से कि कही पीछे न रह जायें मांडव में एक ऊँची मीनार बनवाई। चित्तौड की मीनार अभी तक कायम है, माडव की गायब हो गई है।

मालवा के पश्चिम में गुजरात था। वहा पर एक बड़ा जबरदस्त राज्य कायम हुआ। इसकी राजधानी अहमदाबाद थी। अहमदाबाद को सुलतान अहमदशाह ने बसाया था। वह बहुत बड़ा शहर हो गया और उसकी आबादी क़रीब १० लाख तक पहुँच गई। इस शहर में बडी खूबसूरत इमारते बनीं और कहते है कि ३०० वर्षतक, यानी पंद्रहवीं सदी से अठारहवीं सदी तक, अहमदाबाद दुनिया के सबसे अच्छे शहरो में से एक था। यह एक विचित्र बात है कि इस शहर की जामी मस्जिद रानपुर के जैन मन्दिर से, जिसे चित्तौड़ के राणा ने इसी जमाने में बनवाया था, बहुत मिलती है। इससे जाहिर होता है कि हिन्दुस्तान की पुरानी शिल्प कला पर नये खयालात का असर किस तरह पड़ रहा था और नई शिल्पकला किस प्रकार पैदा हो रही थी। यहाँ फिर तुम्हे कला के क्षेत्र में सामञ्जस्य और मेल के उदाहरण दिखाई देंगे, जिसका जिक्र मैं पहले कर चुका हूँ। आज भी अहमदाबाद में इनमें से कई नफीस पुरानी इमारते मिलती हैं जिनमें पत्थर की खुदाई का अद्भुत काम है। लेकिन नया तिजारती शहर, जो इन इमारतो के चारो तरफ बस गया है, बड़ा वीभत्स है और उसके अन्दर से गुजरते समय आँख बन्द करलेने की इच्छा होती है।

यही वक़्त था जब पोर्चुगीज हिन्दुस्तान आये। तुम्हे याद ही होगा कि गुडहोप के अन्तरीप का फेरा लगाकर वास्को डि गामा ही पहले-पहल हिन्दुस्तान आया था। १४९८ ई० में वह दक्षिण के कालीकट मुकाम पर पहुँचा। इसके पहले भी बहुत-से यूरोपियन हिन्दुस्तान आचुके थे, लेकिन वे सिर्फ व्यापारी की हैसियत से या महज सफर करने के लिए आये थे। पोर्चुगीज अब दूसरे खयाल से आये। इनके दिलो में अभिमान और आत्म-विश्वास भरा था और पोप ने पूर्वी दुनिया का बैनामा

इनके नाम लिख ही दिया था। ये लोग विजय के इरादे से आये थे। शुरू में इनकी तादाद कम थी लेकिन धीरे-धीरे ज्यादा जहाज आने लगे और इन्होने समुद्र तट के गोआ जैसे कुछ शहरो पर कब्जा भी कर लिया, लेकिन पोर्चुगीज लोग हिन्दुस्तान में कुछ ज्यादा न कर सके। वे देश के अन्दर कभी भी घुस न पाये; लेकिन हिन्दुस्तान पर समुद्र से हमला करनेवाले पहले यूरोपियन यही थे। इनके बहुत दिनों के बाद फ़्रान्सीसी और अंग्रेज आये। इस तरह से समुद्र का रास्ता खुल जाने पर हिन्दुस्तान की सामुद्रिक कमजोरी मालूम हो गई। दक्षिण भारत के पुराने राज्य कमजोर पड़ गये थे और उनका ध्यान खुश्की के खतरों की तरफ ही लगा हुआ था।

गुजरात के सुलतानों ने समुद्र पर भी पोर्चुगीजो का मुकाबिला किया। उन्होने उस्मानी तुर्को से मिलकर पुर्तगाली जल-सेना को हरा दिया लेकिन बाद में पोर्चुगीज जीत गये और समुद्र पर उनका कब्जा हो गया। उसी वक़्त दिल्ली के मुग़ल बादशाहों के डर से गुजरात के सुलतानो ने पोर्चुगीजो से सुलह करली लेकिन पोर्चुगीजो ने बाद में उन्हे धोखा दिया।

दक्षिण हिन्दुस्तान में चौदहवीं सदी की शुरुआत में दो बडी सल्तनते उठ खडी हुई थी। एक गुलबर्गा, जिसे बहमनी सल्तनत कहते थे और दूसरी उसके दक्षिण में विजयनगर। बहमनी सल्तनत सारे महाराष्ट्र क्षेत्र में और कर्नाटक के कुछ हिस्सों में फैली हुई थी। यह डेढ सौ बरस से ज्यादा समय तक कायम रही लेकिन इसका इतिहास बहुत कमीना है। असहिष्णुता, हिंसा, हत्या और सुलतानो और सरदारों में विलासिता का खूब जोर था और आम जनता बडी मुसीबत में थी। सोलहवीं सदी की शुरुआत में अपनी घोर अयोग्यता की वजह से बहमनी सल्तनत बिखर गई और उसके पांच टुकडे हो गये—बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुंडा, बीदर और बरार।

विजयनगर की रियासत को बनें करीब २०० वर्ष हो चुके थे और उस समय भी वह खूब अच्छी हालत में थी। इन ६ राज्यो के बीच अक्सर लड़ाइयाँ हुआ करती थीं और हरेक रियासत दक्षिण का मालिक बनने की पूरी कोशिश करती थी। उनमें आपस में हर तरह की गुटबंदी होती और टूटती और बार-बार बदलती रहती थी। कभी-कभी कोई मुसलमान राज्य हिन्दू राज्य से लड़ता था; कभी मुसलमान और हिन्दू राज्य मिलकर किसी दूसरे मुसलमान राज्य से लड़ते थे। यह संघर्ष बिलकुल राजनैतिक था और जब कभी कोई एक राज्य ज्यादा ताकतवर हो जाता था तो दूसरे राज्य उसके खिलाफ़ मिलकर संगठित हो जाते थे। अखीर में विजयनगर की ताकत और दौलत को देखकर मुसलमान रियासतो ने उसके खिलाफ़ एका कर लिया और १५६५ ई० में, तालीकोटा की लड़ाई में उन्होने इसे बिलकुल हरा दिया।

विजयनगर का साम्राज्य ढाई सदी के बाद खतम होगया और यह विशाल और शानदार शहर बिलकुल तबाह हो गया।

पर कुछ ही दिन बाद इन विजयी रियासतो के बीच आपस में झगड़ा उठ खड़ा हुआ और वे एक दूसरे से लड़ने लगीं और बहुत दिन न बीतने पाये थे कि दिल्ली के मुगल साम्राज्य के पंजे में सब-की-सब आगई। इनको दूसरी मुसीबत पोर्चुगीजों से उठानी पडी, जिन्होने गोवा पर १५१० ई० में कब्जा कर लिया था। गोवा शहर बीजापुर राज्य में था। वहाँ से उनको निकालने की हरचन्द कोशिश करने पर भी वे गोवा में डटे रहे और उनका नेता अलबुकर्क, जिसको 'पूर्व के वाइसराय' का बड़ा ख़िताब मिला था, शर्मनाक बेरहमी के काम करता रहता था। पोर्चुगीजों ने लोगों को कतल करवा दिया; औरतो और बच्चो को भी नही छोड़ा। तब से आज तक वे गोवा में मौजूद है।

उन दक्षिण रियासतों में, खासकर विजयनगर, गोलकुंडा और बीजापुर में, बडी सुन्दर इमारते बनी। गोलकुंडा तो आज खंडहर हो गया; बीजापुर में अभी तक इनमें से कई नफीस इमारते मौजूद हैं; विजयनगर मिट्टी में मिला दिया गया और अब उसका नाम-निशान भी नहीं है। इसी जमाने में हैदराबाद का शहर गोलकुंडा के नजदीक बसाया गया। कहा जाता है कि बाद में दक्षिण के राजगीर और कारीगर उत्तर की तरफ चले गये और उन्होंने आगरा के ताजमहल के बनाने में मदद दी।

एक दूसरे के धर्म के प्रति आमतौर पर उदारता के होते हुए भी कभी-कभी असहिष्णुता और तास्सुब की लहर उठती थी; लड़ाइयो में ख़ौफ़नाक कत्ल और बरबादी हुआ करती थी। फिर भी याद रखने की दिलचस्प बात यह है कि बीजापुर की मुसलमान रियासत में हिन्दू घुड़सवार फ़ौज थी, और विजयनगर की हिन्दू रियासत में मुसलमान फौज के कई दस्ते थे। काफी ऊँचे पाये की सभ्यता पाई जाती थी। लेकिन सारा टीमटाम अमीरों तक महदूद था। खेत में करनेवाला आदमी इससे बिलकुल अलग था। वह गरीब था, और जैसा हमेशा होता है अमीरो की विलासिता का बोझ बरदाश्त करता था।

: ७७ :

विजयनगर

१५ जुलाई, १९३२

अपने पिछले खत मे दक्षिण के जिन राज्यो की चर्चा हमने की है, उनमें विजयनगर का इतिहास सबसे लम्बा है। ऐसा हुआ कि बहुत-से विदेशी यात्री वहाँ आये और इस राज्य और शहर का हाल लिख गय है। निकोलो काण्टी नाम का एक इटैलियन १४२० ई० में आया था। हेरात का अब्दुर-रज्जाक मध्य एशिया से बडे खा के दरबार से १४४३ ई० में आया था। पाईज़ नाम का एक पोर्चुगीज़ १५२२ ई० में इस शहर में आया और इसी तरह और भी बहुत-से मुसाफिर आये। हिन्दुस्तान का एक इतिहास भी है जिसमें दक्षिण हिन्दुस्तान की रियासतो, खासकर बीजापुर, का हाल है। इस इतिहास को अकबर के ज़माने में फरिश्ता ने फारसी में लिखा था। जिस युग की हम चर्चा कर रहे है उससे थोडे ही दिन बाद यह किताब लिखी गई। उस ज़माने के इतिहास अक्सर तास्सुब से भरे हुए है और बातो को बढ़ा-चढ़ा कर लिखते है। लेकिन उनसे मदद बहुत मिलती है। काश्मीर की 'राजतरगिणी' को छोड-कर मुसलमानो के पहले के ज़माने का कोई इतिहास नही मिलता इसलिए फरिश्ता का इतिहास एक बडी अनोखी बात थी। दूसरो ने इसके बाद लिखा।

अनेक विदेशी यात्रियो ने विजयनगर का जो हाल लिखा है उससे इस शहर की एक निष्पक्ष और सच्ची तस्वीर सामने आजाती है। उन कमबख्त लडाइयों के हाल से, जो अक्सर होती रहती थी, हमें उतना पता नही चलता जितना इन बयानो से चलता है इसलिए मै तुम्हे वे बाते बताऊँगा जो इन लोगो ने लिखी है।

१३३६ ई० के करीब विजयनगर की बुनियाद पडी। यह शहर दक्षिण भारत में कर्नाटक प्रदेश में था। हिन्दू रियासत होने की वजह से दक्षिण में मुसलमान राज्यो के सताये हुए लोग काफी तादाद में इस शहर में जाकर आश्रय लेते थे। यह बहुत तेजी से बढ़ने लगा। चन्द ही साल में यह रियासत दक्षिण में सबसे ताकतवर होगई और उसकी राजधानी पर उसकी दौलत और खूबसूरती की वजह से लोगो का ध्यान जाने लगा। विजयनगर दक्षिण में सबसे प्रभावशाली राज्य हो गया।

फरिश्ता ने इसकी दौलत का ज़िक्र किया है और १४०६ ई० में, जब गुलबर्गा का एक मुसलमान बहमनी बादशाह विजयनगर की एक राजकुमारी से शादी करने आया था तब, राजधानी की क्या हालत थी, यह भी बयान किया है। फरिश्ता कहता है कि सड़क के ऊपर ६ मील तक सोने के कपडे, मखमल और इसी किस्म की कीमती चीजें बिछाई गई थी। यह धन की कितनी भयंकर और दूषित फजूलखर्ची थी।

१४२० ई० में इटैलियन निकोलो काण्टी आया। उसने लिखा है कि शहर का घेरा साठ मील था, इसका क्षेत्र इतना बड़ा इसलिए था कि इसमें बहुत-से बगीचे थे। काण्टी की यह राय थी कि विजयनगर का शासक या राय (जैसा कि वह कहलाता था) उस वक्त हिन्दुस्तान का सबसे शक्तिशाली राजा था।

इसके बाद मध्य एशिया से अब्दुर-रज्जाक आया। विजयनगर जाते हुए इसने मंगलौर के पास एक अद्भुत मन्दिर देखा जो खालिस गले हुए पीतल का बना हुआ था। वह १५ फुट ऊँचा था और नीचे ३० फुट लम्बा और ३० फुट चौड़ा था। और ऊपर जाकर बेलूर में उसने एक दूसरे मंदिर को देखकर और भी ताज्जुब जाहिर किया। उसने इस मंदिर का हाल नही लिखा क्योकि उसे डर था कि अगर वह लिखेगा तो लोग उसपर यह "इल्जाम लगायेंगे कि अत्युक्ति करता है।" इसके बाद वह विजयनगर पहुँचा और उसको देखकर उसका दिल बाग-बाग होगया। उसने लिखा है--"यह शहर ऐसा है कि सारी दुनिया में किसी जगह पर इसकी बराबरी का शहर न तो आँखो ने देखा, न कानो ने सुना।" बाजारो के बारे में वह लिखता है--"हरेक बाजार के कोने पर ऊँचे मेहराबदार फाटक और शानदार गैलरी है लेकिन राजा का महल इन सबसे ऊँचा है।" "बाजार बहुत लम्बे-चौडे है खूबसूरत और खुशबूदार ताजे फूल इस शहर में हमेशा मिलते है और रोजाना इस्तेमाल की जरूरी चीज समझे जाते है, जिनके बिना मानो लोग जिन्दा नहीं रह सकते। हरेक पेशे के व्यापारी और कारीगरो की दूकान एक ही जगह है। जौहरी लोग अपने लाल, मोती और पन्ना खुल्लमखुल्ला बाजार में बेचते है।" अब्दुर-रज्जाक ने आगे चलकर लिखा है कि "इस मनोहर क्षेत्र में, जिसमें राजा का महल है, बहुत-सी नहरे और सोते बहते है, जिनकी नालियाँ कटे हुए और चमकदार पत्थरो की बनी हुई है। यह देश इतना घना बसा हुआ है कि थोडी-सी जगह में इसके बारे में कुछ बता सकना नामुमकिन है।" और इसी तरह से वह बयान करता जाता है। १५वी सदी के मध्य में आया हुआ मध्य एशिया का यह यात्री विजयनगर की शान में बडी प्रशसा के शब्द कह गया है।

यह हो सकता है कि अब्दुर-रज्जाक ने बहुत से बडे-बडे शहरो को न देखा हो इसलिए जब उसने विजयनगर देखा तो हक्का-बक्का हो गया लेकिन बाद में आनेवाला यात्री काफी सफर किया हुआ आदमी था। यह पेज नाम का पोर्चुगीज १५२२ ई० में आया था। यह वही समय था जब इटली में पुनर्जागृति (रिनैसाँ) का असर बढ़ रहा था और इटली के शहरो में खूबसूरत इमारते बन रही थी। पेज को इटली के इन शहरो का पता था इसलिए उसकी शहादत बहुत कीमती है। उसने लिखा है

कि विजयनगर का "शहर रोम के बराबर बड़ा है और देखने में बहुत सुन्दर मालूम होता है।" उसने विस्तारपूर्वक इस शहर की अद्भुत बाते बयान की है और इसकी अनेक झीलो, सोतो और फल के बग़ीचो की खूबसूरती के बारे में लिखा है। उसने लिखा है कि "दुनिया भर में यह सबसे भरा-पुरा शहर है ' '' इस शहर की हालत वैसी नहीं है जैसी अक्सर और शहरो की होती है, जहाँ सामान नहीं मिलता या अक्सर कम पड़ जाया करता है। यहाँ हरेक चीज़ भरी पडी है।" इसने राजमहल में एक कमरा देखा था। यह कमरा "सारा हाथी दाँत का बना हुआ था। दीवारे ऊपर से नीचे तक और कमरा सबका सब हाथी दाँत का था और लकडी के खम्भों की चोटियो पर गुलाब और कमल के फूल थे जो सबके सब हाथी दाँत के बने हुए थे। और ये सब इतनी खूबसूरती से बनाये गए थे कि इनसे बेहतर नही हो सकता था। यह सब इतना सुन्दर है कि इस तरह का दूसरी जगह मुश्किल से मिलेगा।"

पेज़ ने अपनी यात्रा के समय के विजयनगर के राजा का भी बयान किया है। यह दक्षिणी भारत के इतिहास में बड़ा प्रसिद्ध राजा हुआ है और उसकी सिपहगिरी, दुश्मनो के लिए उसकी दरियादिली, साहित्य की सहायता, लोकप्रियता और उसकी उदारता की तारीफ दक्षिण में अभी तक की जाती है। इसका नाम कृष्णदेव राय था। उसने १५०९ से १५२९ तक यानी २० वर्ष राज्य किया। पेज़ ने उसकी लम्बाई, उसकी शकल-सूरत और उसके रंग का भी बयान किया है। वह गोरा था। "लोग इससे बहुत डरते है और यह इतना अच्छा राजा है जितना होना मुमकिन है। यह खुशमिज़ाज और बड़ा हँसमुख है। विदेशियों की इज्ज़त करता है; उनका आदरपूर्वक स्वागत करता है और जो कुछ उनकी हालत होती है उसके बारे में पूछता है।" राजा के अनेक खिताबों के बयान करने के बाद पेज़ लिखता है—"लेकिन सच तो यह है कि वह हरएक चीज़ में इतना निपुण और संपूर्ण है कि जो कुछ उसके पास है वह उसके ऐसे आदमी के लिए कुछ भी नही।"

यह तारीफ असल में बहुत ज्यादा हो गई। विजयनगर का साम्राज्य इस वक्त सारे दक्षिण और पूर्वी समुद्री किनारे तक फैला हुआ था। इसके अन्दर मैसूर, ट्रावनकोर और आजकल के मद्रास का सारा सूबा आ जाता था।

इसके अलावा मै एक बात और बताऊंगा। ई० सन् १४०० के करीब शहर में अच्छा पानी लाने के लिए बहुत बडी नहरे बनाई गई थीं। एक नदी सारी की सारी बाँध दी गई थी और उसका पानी एक जगह इकट्ठा कर दिया गया था और इसी जगह से १५ मील लम्बी नहर के जरिये, जो पहाड़ को काट कर बनाई गई थी, शहर को पानी ले गये थे। विजयनगर इस तरह का था। इसे अपनी दौलत और

खूबसूरती पर नाज़ था और अपनी ताकत पर ज़रूरत से ज्यादा भरोसा था। किसी को यह खयाल भी नहीं था कि इस शहर और साम्राज्य के आखिरी दिन इतने नज़दीक हैं। पेज़ के आने के ४३ वर्ष बाद एकदम से खतरा पैदा हो गया। दक्षिण की दूसरी रियासतें विजयनगर से जलती थी, इसलिए इसके खिलाफ एक दूसरे से मिल गईं और इसको बरबाद करने का उन्होंनें निश्चय कर लिया। उस वक्त भी विजयनगर ग़लती से अपने पर विश्वास करता रहा पर जल्द ही उसका अन्त हो गया और यह अन्त अपनी भीषणता में सम्पूर्ण था।

जैसा मैंने तुमसे बताया है, १५६५ ई० में रियासतों के इस गुट ने विजयनगर को हरा दिया। भारी कत्लेआम हुआ और बाद को यह विशाल नगर लूट लिया गया। तमाम सुन्दर इमारतें, मन्दिर और महल बरबाद कर दिये गये। पत्थर की मूर्तियाँ और सुन्दर खुदाई का काम सब नष्ट हो गया। जितनी चीज़ें जलाई जा सकती थीं, जलादी गईं। उस वक्त यह शहर यहाँ तक बरबाद किया गया कि खंडहरों के ढेर हो गये। एक अंग्रेज इतिहासज्ञ कहता है कि दुनिया के इतिहास में शायद ही कभी ऐसी तबाही, और यो एकाएक, की गई होगी, जिसमें एक विशाल नगर जो एक दिन इतना सम्पन्न और भरपूर हो, जिसमें अमीर और मेहनती लोग खूब बसे हों, और जो दूसरे ही दिन पराजित हो जाय, लूटा जाय और खंडहर बना दिया जाय और वहशियाना कत्लेआम और भीषणता के ऐसे दृश्य हो कि जिनका बयान करना नामुमकिन है!

: ७८ :

मज्जापहित और मलक्का का मलेशिया साम्राज्य

१७ जुलाई, १९३२

हम लोगो ने मलेशिया और पूर्वी द्वीपो के बारे में बहुत कम ध्यान दिया है और इनके बारे में लिखे हुए भी बहुत दिन हो गये। मैंने उलटकर देखा तो मुझे मालूम हुआ कि मैंने अपने ४६ नम्बर के खत में इनके बारे में कुछ लिखा था। उस वक़्त से ३१ ख़त हमने लिख डाले और अब ७८वे ख़त तक पहुँचे हैं। हरेक देश को बराबर-बराबर एक सीध में रखना भी मुश्किल होता है।

आज से ठीक दो महीने पहले मैंने जो कुछ तुम्हें लिखा था, तुम्हें याद है? क्या कम्बोडिया, अंगकोर, सुमात्रा और श्रीविजय याद है? क्या तुम्हे कम्बोडिया का साम्राज्य याद है, जो हिन्दी-चीन में पुरानी हिन्दुस्तानी बस्तियों से बढ़कर, कई सौ वर्षों में, एक बड़ा राज्य हो गया था? और तब इस साम्राज्य पर प्रकृति ने कठोरता

के साथ और अचानक चोट की और इस नगर और साम्राज्य को खतम कर दिया। यह सन् १३०० ई० की बात है।

करीब-क़रीब इसी कम्बोडियन साम्राज्य के वक़्त में एक दूसरा बड़ा साम्राज्य समुद्र के उस पार सुमात्रा के टापू में था। लेकिन श्रीविजय साम्राज्य बनाने की दौड़ में कुछ देर में शामिल हुआ था और कम्बोडिया के बाद भी बना रहा। इसका अन्त भी एकाएक हुआ लेकिन इसका खातमा क़ुदरत ने नहीं बल्कि आदमी ने किया। ३०० वर्ष तक श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य फूला-फला। पूर्व के सारे टापुओं पर उसका कब्ज़ा था और कुछ दिनों तक तो उसने हिन्दुस्तान, लंका और चीन में भी अपने पैर रखने की जगह निकाल ली थी। यह व्यापारिक साम्राज्य था और तिजारत इसका ख़ास काम था, लेकिन उसी समय जावा द्वीप के पूर्वी हिस्से में एक दूसरा साम्राज्य उठ खड़ा हुआ। यह हिन्दू राज्य था जिसने श्रीविजय के सामने सर झुकाने से इनकार कर दिया।

नवीं सदी के शुरू से चार सौ वर्ष तक पूर्वी जावा के इस राज्य को श्रीविजय की बढ़ती हुई ताकत परेशान करती रही, लेकिन इसने अपनी आज़ादी कायम रक्खी और साथ ही पत्थर के बहुत-से सुन्दर मन्दिर बनवाये। इन मन्दिरों में सब से मशहूर मन्दिर, जिसे बोरोबुदर भी कहते हैं, अभी तक पाया जाता है और बहुत-से यात्री इसे देखने जाते हैं। श्रीविजय के अधिकार से बच जाने के बाद पूर्वी जावा खुद ज़बर्दस्ती करने लगा और अपने पुराने प्रतिद्वन्द्वी श्रीविजय के लिए उलटा एक ख़तरा बन गया। दोनों व्यापारिक राज्य थे। व्यापार के लिए समुद्रों को पार करना पड़ता था, इसलिए उनका एक-दूसरे से झगड़ा होता रहता था।

मेरा दिल चाहता है कि जावा और सुमात्रा की इस होड़ का आजकल की ताक़तों में होनेवाली होड़ से, जैसे जर्मनी और इंग्लैण्ड की होड़ से, मुकाबिला करूँ। जावा ने यह समझकर कि श्रीविजय को रोकने का और अपनी तिजारत के बढ़ाने का सिर्फ़ एक ही उपाय यह है कि अपनी समुद्री ताकत बढ़ाई जाय, अपनी जल-सेना ख़ूब बढ़ा ली। बड़े-बड़े जंगी बेड़े भेजे जाते थे लेकिन वर्षों तक इनका मुकाबिला दुश्मनों से नहीं होता था। इस तरह जावा बढ़ता चला गया और दिन-दिन ज़बरदस्त होने लगा। तेरहवीं सदी के अख़ीर में एक शहर बसाया गया जिसका नाम मज्जापहित था और यह बढ़ते हुए जावा की राजधानी होगया।

यह जावा राज्य इतना गुस्ताख और घमण्डी होगया था कि इसने 'बड़े खान' कुबलाई के एलचियों को, जो ख़िराज लेने के लिए यहाँ भेजे गये थे, अपमानित किया। यही नहीं कि ख़िराज न दिया हो, बल्कि एक एलची के माथे पर अपमान-

जनक सन्देशा गोद-गोदकर लिख दिया गया। मंगोल खां के साथ इस तरह का खेल करना बहुत ही खतरनाक और बेवकूफी की बात थी। इसी तरह के संदेश से चिढकर चगेज ने मध्य एशिया को तबाह कर दिया था और बाद को हलाकू ने बगदाद को ऐसी ही बेइज्जती की वजह से बरबाद किया था। फिर भी जावा के छोटे टापूवाले राज्य ने इस तरह की बेइज्जती की। जावा वालों की खुशकिस्मती थी कि मंगोल लोग बहुत कुछ ठंडे पड़ गये थे और उन्हे विजय की कोई इच्छा नहीं थी। समुद्री लड़ाई भी उन्हे बहुत पसन्द न थी; उन्हे तो ठोस जमीन पर ज्याद मजबूती मालूम होती थी। फिर भी कुबलाई ने जावा के अपराधी राजा को सजा देने के लिए फौज भेजी। चीनियो ने जावा वालो को हरा दिया। और राजा को मार डाला लेकिन उन्होने ज्यादा नुकसान नही किया। चीनी मंगोलो मे कितनी तब्दीली आगई थी!

चीनी हमले की वजह से मज्जापहित साम्राज्य, अन्त में, जैसा आगे चलकर हम देखेंगे, ज्यादा मजबूत हो गया। क्योकि चीनियों ने जावा में बन्दूको का प्रचार कर दिया और शायद यह बन्दूको की ही वजह थी, जिससे मज्जापहित को आगे चलकर लड़ाइयो में कामयाबी हुई।

मज्जापहित का साम्राज्य फैलता गया। इसकी तरक्की अचानक या बेतुके ढग से नहीं हो रही थी। साम्राज्य के विस्तार का काम राज्य की तरफ़ से संगठित किया गया था और कुशल जल-सेना और फौज इसमें मदद करती थी। विस्तार के इस जमाने में महारानी सुहिता रानी थीं। शासन बहुत ही केन्द्रित और कुशल था। पश्चिमी इतिहास-लेखकों ने लिखा है कि टैक्स, चुंगी और विदेशी व्यापार पर कर और मालगुजारी की प्रणाली बहुत अच्छी थी। सरकार के अलग-अलग महकमे थे—जैसे उपनिवेश का महकमा, व्यापार का महकमा, सार्वजनिक स्वास्थ्य और हित का महकमा, देश के अन्दरूनी इन्तजाम का महकमा और लड़ाई महकमा। एक सबसे ऊँची अदालत (सुप्रीम कोर्ट) थी जिसमें दो प्रधान और सात जज हुआ करते थे। ब्राह्मण पुरोहितो को बहुत अख्तियार थे, लेकिन राजा इनपर अपना अंकुश रखता था।

इन महकमों से, और इनके नामो से भी, हमें कुछ हद तक कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र की याद आती है। लेकिन उपनिवेश का महकमा नया था। मुल्क के अन्दरूनी इन्तजाम के महकमे का वजीर 'मन्त्री' कहलाता था। इससे यह जाहिर होता है कि हिन्दुस्तानी संस्कृति और परिपाटी इन द्वीपो में दक्षिणी हिन्दुस्तान के पल्लवो की पहली बस्ती बसने के १२ सौ वर्ष बाद तक कायम रही। यह तभी हो सकता है जब सम्पर्क बराबर बना रहा हो और इसमें शक नही कि इस प्रकार का सम्पर्क व्यापार के जरिये बना हुआ था।

—

चूँकि मज्जापहित एक व्यापारिक साम्राज्य था इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि निर्यात और आयात व्यापार अच्छी तरह से संगठित रहे हो। निर्यात उस व्यापार को कहते हैं, जिसमे माल विदेशो को भेजा जाता है और आयात उस व्यापार को कहते हैं जिसमें बाहर के देशो से अपने मुल्क मे माल आता है। यह व्यापार खास तौर से हिन्दुस्तान, चीन और उसके अपने उपनिवेशो से हुआ करता था। लेकिन जब तक श्रीविजय से लड़ाई रहती थी, उसके साथ या उसके उपनिवेशों के साथ, व्यापार मुमकिन नही था।

जावा का राज्य कई सौ वर्षो तक रहा लेकिन मज्जापहित साम्राज्य का मशहूर युग १३३५ से १३८० तक हुआ है। ठीक ४५ वर्ष तक। इसी जमाने में, १३७७ ई० में, श्रीविजय पर क़ब्ज़ा हुआ और उसको बरबाद कर डाला गया। अनाम, स्याम और कम्बोडिया से मज्जापहित की दोस्ती थी।

मज्जापहित की राजनगरी बहुत सुन्दर और सम्पन्न थी। शहर के बीचो-बीच शिव का बहुत बड़ा मन्दिर था। इसके अलावा बहुत-सी शानदार इमारते थी। सच तो यह है कि मलेशिया के सारे हिन्दुस्तानी उपनिवेशो ने सुन्दर इमारते बनाने में कमाल हासिल किया था। जावा में और भी बडे-बडे शहर और बन्दरगाह थे।

यह साम्राज्यवादी राज्य अपने पुराने दुश्मन श्रीविजय के तबाह होने के बाद ज्यादा दिनतक जिन्दा नही रहा। घरेलू झगडे शुरू हो गये और चीन से भी लड़ाई हो गई। इसकी वजह से चीनियो की विशाल जल-सेना जावा आई। उपनिवेश धीरे-धीरे टूटते गये। १४२६ ई० में बड़ा भारी अकाल पड़ा और दो वर्ष बाद मज्जापहित साम्राज्य नहीं रह गया। फिर भी यह एक स्वतन्त्र राज्य की हैसियत से ५० वर्ष और कायम रहा। इसके बाद मलक्का के मुसलमान राज्य ने इस पर कब्ज़ा कर लिया। इस तरह से मलेशिया की पुरानी हिन्दुस्तानी बस्तियो से पैदा होने वाले साम्राज्यो में से तीसरा साम्राज्य खतम हुआ। अपने छोटे खतो में हमने बडे-बडे युगो का हाल लिखा है। ईसाई सन् की करीब-करीब शुरूआत में पहली बार हिन्दुस्तान से बस्तियाँ बसाने के लिए लोग यहाँ आये थे और इस वक्त हम पन्द्रहवीं सदी में हैं। इस तरह हमने इन उपनिवेशो या बस्तियों के इतिहास के १४०० वर्षों का सिंहावलोकन किया है। हमने जिन तीन साम्राज्यवादी राज्यो, यानी कम्बोडिया, श्रीविजय और मज्जापहित पर, अलग-अलग खास तौर से गौर किया है, वे सब कई सौ वर्षो तक कायम रहे। इन लम्बे युगो को याद रखना अच्छा होगा क्योंकि इससे उन रियासतों की कुशलता और मजबूती का कुछ पता चल जाता है। सुन्दर स्थापत्य-शिल्प से उन्हे विशेष प्रेम था और व्यापार उनका खास पेशा था। वे हिन्दुस्तानी

सस्कृति की परिपाटी कायम रखे हुए थे और चीनी संस्कृति की बहुत-सी बातों को भी उन्होने बडी अच्छी तरह मिला लिया था।

तुम्हे यह याद होगा कि इन तीनों हिन्दुस्तानी उपनिवेशो के अलावा, जिनका हमने जिक्र किया है, और भी बस्तियां थीं लेकिन हम हरेक पर अलग-अलग विचार नहीं कर सकते, और न दो पडौसी देशों यानी बरमा और स्याम के बारे में ही कुछ ज्यादा कर सकते है। इन दोनो देशो में भी बडे ताकतवर राज्य बने और कला की भी काफी तरक्की हुई। दोनों में बौद्ध-धर्म फैला। मंगोलो ने एक दफा बरमा पर हमला किया था लेकिन स्याम पर चीनवालों ने कभी हमला नहीं किया। बरमा और स्याम दोनों चीन को खिराज देते थे लेकिन यह एक किस्म की भेंट थी, जिसे कोई इज्जत करने वाला छोटा भाई बडे भाई के सामने पेश करता है। इस खिराज के बदले छोटे भाइयो के पास चीन से बहुत कीमती नजरे आती थीं।

बरमा पर मंगोलो का हमला होने के पहले वहां की राजधानी पगान थी। यह शहर उत्तर बरमा में था। २०० वर्षों से ज्यादा समय तक यह शहर राजधानी रहा। कहते है, यह बड़ा खूबसूरत शहर था और अंगकोर के अलावा कोई दूसरा शहर इसका मुकाबिला नहीं कर सकता था। आनन्द मन्दिर इसकी सबसे अच्छी इमारत थी। दुनिया भर में यह बौद्ध स्थापत्य-शिल्प के सबसे खूबसूरत नमूनों में समझा जाता है। इसके अलावा भी बहुत-सी शानदार इमारते थीं। सच तो यह है कि पगान शहर के खँडहर आज भी देखने में सुन्दर है। पगान का शानदार जमाना ग्यारहवीं से तेरहवीं सदी तक था। इसके बाद बरमा में कुछ झगड़ा-फिसाद शुरू हुआ और उत्तर बरमा दक्षिण बरमा से अलग हो गया। सोलहवीं सदी में दक्षिण में एक बड़ा राजा पैदा हुआ और उसनें बरमा को फिर मिलाकर एक कर दिया। उसकी राजधानी पेगू में थी, जो दक्षिण में है।

मुझे उम्मीद है कि बरमा और स्याम के इस मुख्तसर और अचानक जिक्र से तुम घपले में न पड़ जाओगी। हम मलेशिया और इण्डोनेशिया के इतिहास के एक अध्याय के अन्त तक पहुँच गये है। और मै अपना सिंहावलोकन पूरा कर लेना चाहता हूँ। अभी तक जमीन के इन हिस्सो के ऊपर जितने खास-खास प्रभाव पडे, फिर चाहे वे राजनैतिक रहे हो या सांस्कृतिक, हिन्दुस्तान या चीन से आये थे। जैसा मैंने तुमको बताया है, एशिया महाद्वीप के दक्षिण-पूर्वी देशों यानी बरमा, स्याम और हिन्दी-चीन पर चीन का ज्यादा प्रभाव पड़ा था। मलाया प्रायद्वीप और दूसरे टापुओ पर हिन्दुस्तान का ज्यादा असर पड़ा था।

अब एक नया असर और पैदा होता है। यह असर अरबो का था। बरमा और

स्याम पर यह असर नहीं पड़ा लेकिन मलाया और उसके टापू इसके प्रभाव में आगये और बहुत जल्द एक मुसलमान साम्राज्य पैदा हो गया।

अरब व्यापारी इन टापुओ में हजार वर्षो से आते थे और वहाँ बस भी गये थे, लेकिन वे सौदागरी में लगे रहते थे और हुकूमत के काम-काज में दखल नही देते थे। चौदहवीं सदी में अरब मजहबी उपदेशक अरबस्तान से आये और उन्हे कामयाबी हुई, खास तौर से चन्द स्थानीय शासकों को मुसलमान बनाने में।

इसी दरमियान राजनैतिक तब्दीलिया शुरू हो गई थी। मज्जापहित फैल रहा था और श्रीविजय को दबा रहा था। जब श्रीविजय का पतन हुआ, बहुत से लोग भागकर मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण में जा बसे और वहाँ उन्होंने मलक्का नाम का शहर बसाया। यह शहर और रियासत तेजी से बढ़ी और १४०० ई० में मलक्का बड़ा शहर हो गया था। मज्जापहित के जावा लोगो को उनकी रियाया पसन्द नहीं करती थी। जैसा आमतौर पर साम्राज्यवादी कौमो का तरीका है, ये लोग जालिम होते थे, इसलिए बहुत-से लोग मज्जापहित में रहने के बजाय मलक्का की नई रियासत में बसना ज्यादा पसन्द करने लगे। स्याम भी इस वक्त किसी कदर जबर्दस्ती कर रहा था। इस तरह से मलक्का बहुत-से लोगो का आश्रय बन गया। इन लोगो में मुसलमान और बौद्ध दोनों थे। यहाँ के शासक पहले बौद्ध थे लेकिन बाद को मुसलमान हो गये।

मलक्का की नई रियासत को एक तरफ जावा से और दूसरी तरफ स्याम से खतरा था। इसने टापुओ की दूसरी छोटी-छोटी मुसलमान रियासतों से समझौता और दोस्ती करने की कोशिश की। इसने चीन से भी रक्षा के लिए मदद माँगी। उस वक्त मिंग लोग, जिन्होंने मंगोलों को हराकर खदेड़ दिया, चीन पर राज्य करते थे। यह गौर करने की बात है कि मलेशिया की छोटी-छोटी मुसलमान रियासतों ने एक साथ ही चीन से मदद माँगी। इससे जाहिर होता है कि ताकतवर दुश्मनो ने इन्हें जरूर धमकियाँ दी होंगी।

चीन ने मलेशिया के देशो से दोस्ती की पर साथ ही उनसे दूर रहने की नीति हमेशा बरती। वह विजय के लिए भी उत्सुक नही था। उसका खयाल था कि इन देशों से उसे कोई फायदा नहीं हो सकता लेकिन वह इन्हें अपनी सभ्यता सिखाने के लिए तैयार था। मिंग सम्राट ने इस पुरानी नीति को बदल देना चाहा और वह इन देशों में ज्यादा दिलचस्पी लेने लगा। लेकिन जान पड़ता है कि उसने जावा और स्याम की जबरदस्ती की नीति को पसंद नही किया। इसलिए इनको बन्दिश में रखने के वास्ते और चीन की ताकत को दूसरों पर जाहिर करने के लिए उसने एक

बहुत बडी जल-सेना एडमिरल यानी जल सेनापति चेंग-हो की मातहती में भेजी। इस बेडे में कई जहाज ४०० फ़ीट लम्बे थे।

चेग-हो ने कई सफर किये और करीब-करीब सभी टापुओं—फ़िलिपाइन, जावा, सुमात्रा, मलाया प्रायद्वीप वगैरा में गया। वह सीलोन भी आया और उसे जीत कर उसके राजा को चीन पकड़ ले गया। अपने आखिरी सफर में वह ईरान की खाडी तक गया था। चौदहवी सदी की शुरूआत में चेंग-हो की इन यात्राओं से उन देशो पर बहुत असर पडा, जहॉ-जहॉ वह गया था। हिन्दू मज्जापहित और बौद्ध स्याम को दबाने के लिए उसने जान-बूझकर इस्लाम को प्रोत्साहन दिया और मलक्का की रियासत उसकी विशाल जल-सेना के साये में बहुत मजबूती से कायम हो गई। चेग-हो की मंशा बिलकुल राजनैतिक थी, धर्म से इसका कोई ताल्लुक न था। वह खुद बौद्ध था।

इस तरह मलक्का की रियासत मज्जापहित के दुश्मनो का नेता बन गई। इसकी ताकत बढ़ने लगी और इसने धीरे-धीरे जावा के उपनिवेशो पर कब्जा करना शुरू कर दिया। १४७८ ई० में मज्जापहित शहर पर भी उसका कब्जा हो गया। इसके बाद इस्लाम शहर का और दरबार का मजहब बन गया, लेकिन गाँवो में, हिन्दुस्तान की तरह, पुराना धर्म और रस्म व रिवाज कायम रहे।

मलक्का का साम्राज्य श्रीविजय और मज्जापहित के साम्राज्यो की तरह बहुत दिनो तक कायम रह सकता था और महान हो सकता था, लेकिन इसे मौका न मिला। चन्द ही वर्षो में, यानी १५११ ई० में, पोर्चुगीजों ने उसमें दखल देना शुरू कर दिया और उन्होनें मलक्का पर कब्जा भी कर लिया। इस तरह चौथे की जगह पाँचवाँ साम्राज्य आगया और वह भी बहुत दिनो तक जिन्दा न रह सका। इतिहास में पहली मर्तबा पूर्वी समुद्रो में योरप जबर्दस्त और हावी हो गया।

: ७६ :

योरप पूर्वी एशिया को हड़पना शुरू करता है

१९ जुलाई, १९३२

हमने अपना आखिरी खत उस मौके पर खतम किया था, जब मलेशिया में पोर्चुगीज लोग आगये थे। तुम्हे याद होगा कि मैंने तुम्हे कुछ दिन पहले बताया था कि समुद्र के रास्ते कैसे मालूम किये गये और पुर्तगाल और स्पेन के लोगो में पहले पूर्व पहुँचने के लिए कैसी दौड़-सी मची थी। पुर्तगाल पूर्व की तरफ गया था और स्पेन

पश्चिम की तरफ़। पुर्तगाल अफ़रीका के इर्द-गिर्द घूमकर हिन्दुस्तान पहुँच गया। स्पेन ने गलती से अमेरिका का पता चला लिया और बाद को वह दक्षिण अमेरिका के इर्द-गिर्द घूमकर मलेशिया पहुँचा। अब हम अपनी कुछ बातों को मिलाकर मलेशिया की अपनी कहानी आगे बढ़ा सकते हैं।

शायद तुम्हे मालूम हो कि मसाले (मिर्च वग़ैरा) गरम मुल्क में यानी उन देशो में, जो भूमध्य रेखा के नजदीक है, पैदा होते है। योरप में मसाले बिलकुल नही होते। दक्षिण हिन्दुस्तान और लंका में कुछ होते है लेकिन ये मसाले ज्यादातर मलेशिया द्वीप से, जिन्हे मलक्का कहते हैं, आते हैं। असल में इन टापुओ को ही 'मसाले के टापू' कहते हैं। बहुत पुराने जमाने से योरप में इन मसालों की बहुत माग थी और वे बराबर भेजे जाते थे। योरप पहुँचते-पहुँचते इनकी कीमत बहुत बढ़ जाती थी। रोमन लोगों के जमाने में काली मिर्च सोने के बराबर बिकती थी। हालांकि मसाले इतने कीमती होते थे और पश्चिम में उनकी इतनी मांग थी लेकिन योरप इनके मँगाने का खुद कोई इन्तजाम नहीं करता था। बहुत दिनों तक मसाले का व्यापार हिन्दुस्तानियों के हाथ में था। फिर अरबों के हाथ में आगया। यह मसाले की लालच थी कि पोर्चुगीज और स्पेन के लोग एक दिशा की ओर आगे बढ़ते चले गये, यहाँ तक कि मलेशिया में आकर मिल गये। पोर्चुगीज इस खोज में आगे थे, क्योंकि स्पेन के लोग रास्ते में अमेरिका में फँस गये और बहुत मुनाफे से फँसे रहे।

इसके बाद ही वास्को डि गामा गुडहोप के अन्तरीप से होता हुआ हिन्दुस्तान पहुँचा। बहुत से पोर्चुगीज जहाज इसी रास्ते आये और पूर्व की तरफ आगे बढ़ गये। उसी वक्त मसाले और दूसरी चीजो का व्यापार मलक्का के नये साम्राज्य के हाथ में था। इसलिए पोर्चुगीज इस साम्राज्य से और अरब व्यापारियो से आम तौर पर संघर्ष में आगये। पोर्चुगीजों के वाइसराय अलबुकर्क ने १५११ ई० में मलक्का पर कब्जा कर लिया और मुसलमानी तिजारत का खातमा कर दिया। योरप का व्यापार अब पोर्चुगीजो के हाथ में आगया और इनकी राजधानी लिस्बन योरप-भर में मसालो और दूसरे पूर्वी मालो की बडी-भारी व्यापारिक मंडी बन गई।

यह बात नोट करने लायक है कि अलबुकर्क अरबों का बड़ा जालिम और बेरहम दुश्मन था। फिर भी वह पूर्व की दूसरी व्यापारिक जातियो के साथ दोस्ती रखने की कोशिश करता था। तमाम चीनियों के साथ, जिनके सम्पर्क में वह आता, वह खास तौर से शराफत से पेश आता था। जिसका नतीजा यह हुआ कि चीन में पोर्चुगीजो के बारे में बहुत अच्छे ख्यालात फैल गये। शायद अरबो के साथ उसकी दुश्मनी की वजह यह थी कि अरब लोग पूर्वी व्यापार के बाजार पर हावी थे।

इस दरमियान मसाले के टापुओ की तलाश जारी रही। मैगेलन, जिसने बाद को प्रशांत महासागर पार किया और दुनिया के चारों तरफ घूमा था, उस जहाजी बेड़े का एक सभासद था जिसने मलक्का खोज निकाला था। ६० वर्ष तक योरप के मसाले के व्यापार में पोर्चुगीजों का कोई प्रतिद्वन्द्वी नही था। १५६५ ई० में स्पेन ने फिलीपाइन टापुओ पर कब्जा कर लिया और इस तरह से पूर्वी समुद्र पर एक दूसरी यूरोपियन ताकत का उदय हुआ। लेकिन स्पेन की वजह से पोर्चुगीजों के व्यापार में कोई खास फरक नही आया क्योंकि स्पेन के लोग व्यापारी नहीं थे। ये लोग पूर्व को अपने सैनिक और उपदेशक भेजते थे। पोर्चुगीजो का मसाले के व्यापार पर एकछत्र अधिकार हो गया। यहाँतक कि ईरान और मिस्र को भी पोर्चुगीजो के जरिये ही मसाला मिलता था। पोर्चुगीज किसी दूसरे को मसाले के इन टापुओं से सीधे व्यापार करने की इजाजत नहीं देते थे। इस तरह पुर्तगाल दौलतमन्द हो गया लेकिन उसने उपनिवेश बढ़ाने की कोई कोशिश नहीं की। तुम जानती हो कि पुर्तगाल छोटा-सा देश है। उसके यहां बाहर भेजने के लिए भी काफी आदमी नही थे। इस छोटे-से देश ने १०० वर्ष तक, यानी सारी सोलहवी सदी-भर पूर्व में जो कुछ किया, उसे देख कर बड़ा ताज्जुब होता है।

इस दरमियान स्पेन के लोग फिलिपाइन से चिपके रहे और जितना पैसा मुमकिन था, कमाने की कोशिश करते रहे। जबर्दस्ती खिराज लेने के अलावा इनका कोई दूसरा काम नहीं था। पूर्वी समुद्र में संघर्ष बचाने के लिए उन्होने पोर्चुगीजो से सुलह करली थी। स्पेन की सरकार फिलिपाइन को इस बात की इजाजत नहीं देती थी कि वह स्पेनिश अमेरिका से व्यापार कर सके, क्योंकि उसे डर था कि मैक्सिको और पेरू का सोना और चाँदी खिचकर पूर्व चला जायगा। सिर्फ एक जहाज साल भर में आता था। इसको 'मनिल्ला गैलियन' कहते थे और तुम समझ सकती हो कि इसके सालाना आमद की फिलिपाइन के स्पेनी लोग कितनी बेचैनी के साथ इन्तजार करते थे। २४० वर्ष तक यह 'मनिल्ला गैलियन' अमेरिका और द्वीपों के बीच प्रशांत महासागर पार करके आया-जाया करता था।

योरप में स्पेन और पुर्तगाल की इन कामयाबियो को देखकर दूसरी कौमें जलकर खाक हुई जारही थीं। जैसा हमें बाद को मालूम होगा, उस वक़्त स्पेन योरप पर हावी था। इँग्लैण्ड अव्वल दर्जे की ताकत न था। निदरलैंड में यानी हालैंड और बेलजियम के एक हिस्से में स्पेन की एक हुकूमत के खिलाफ बलवा हो गया था। अंग्रेज स्पेन से डाह रखने के कारण डच लोगो से हमदर्दी रखते थे। और उन्हें निजी तौर से मदद देते थे। इनके कुछ जल सैनिक खुले समुद्रो में जहाजों

पर डाका मारा करते थे और स्पेन के उन जहाजों को लूट लिया करते थे जो अमेरिका से खजाना लेकर स्पेन जाते थे। इस खतरनाक लेकिन फायदेमंद काम का नेता सर फ्रांसिस ड्रेक था।

१५७७ ई० में ड्रेक पाँच जहाजों को लेकर स्पेन के उपनिवेशों को लूटने के लिए निकला। लूट में तो वह कामयाब रहा लेकिन उसके चार जहाज तबाह हो गये। उसका सिर्फ एक जहाज 'गोल्डन हिन्द' प्रशांत महासागर में पहुँचा और ड्रेक 'गुडहोप' अंतरीप होता हुआ इँग्लैण्ड वापिस आया। इस तरह से उसने 'गोल्डन हिन्द' में सारी दुनिया का चक्कर लगा लिया। 'गोल्डन हिन्द' 'मैगेलन विक्टोरिया' के बाद दूसरा जहाज था जिसने पृथ्वी की परिक्रमा की थी। इस परिक्रमा में तीन वर्ष लगे।

स्पेन के जहाजों का लूटना बहुत दिन जारी नही रह सका और इंग्लैंड और स्पेन में बहुत जल्द लड़ाई छिड़ गई। डच तो स्पेन से लड़ाई कर ही रहे थे, पुर्त्तगाल भी इस लड़ाई में फंस गया क्योंकि कुछ वर्षों से स्पेन और पुर्त्तगाल पर एक ही राजा राज करता था। अपनी खुशकिस्मती से और दृढ़ता के कारण इँग्लैंड इस लड़ाई में फतेहमंद हुआ जिससे योरप को बड़ी हैरत हुई। स्पेन ने ब्रिटेन को जीतने के लिए जंगी जहाजो का बेड़ा भेजा था। इसको 'अजेय आर्मेडा' (Invincible Armada) कहते थे। तुम्हे याद होगा कि यह बेड़ा डूब गया था लेकिन अभी तो हम पूर्व की बातें कर रहे है।

अंग्रेज और डचो ने दूर के पूर्वी देशो पर धावा बोल दिया और स्पेन और पुर्त्तगाल के लोगों पर हमला किया। स्पेन वाले सब फिलीपाइन में जमा थे और उसकी आसानी से हिफाजत कर सकते थे, लेकिन पोर्चुगीजो को बहुत धक्का पहुँचा। उनका पूर्वी साम्राज्य ६ हजार मील तक, लाल समुद्र से लेकर मलक्का तक, जगह-जगह फैला हुआ था। ये लोग ईरान की खाडी में अदन के पास और लंका में बसे हुए थे और भारतीय सागर से किनारे पर कितनी ही जगहो में, मलाया में और सारे पूर्वी टापुओ में इनकी बस्तियाँ थी। धीरे-धीरे इनका पूर्वी साम्राज्य नष्ट हो गया। इनके शहर और इनकी बस्तियाँ एक-एक करके या तो डचो को या अँग्रेजो को मिल गई। मलक्का भी १६४१ ई० मे इनके हाथ मे निकल गया। हिन्दुस्तान में और दूसरी जगहो पर दो-चार चौकियाँ इनके पास रह गई। पश्चिमी हिन्दुस्तान मे गोवा इन्ही का है और पोर्चुगीज अभी तक वहाँ है। गोवा अब पोर्चुगीज लोकतंत्र का, जो कुछ साल पहले ही बना है, एक हिस्सा है। अकबर ने गोवा लेना चाहा था लेकिन वह कामयाब नहीं हुआ।

इस तरह, पुर्तगाल पूर्वी इतिहास से गायब हो जाता है। इस छोटे-से देश ने

बहुत बड़ा कौर अपने मुह मे रख लिया था, उसे निगल न सका। निगलने की कोशिश में पस्त हो गया। स्पेन फिलिपाइन में चिपका रहा लेकिन पूर्वी मामलों में वह कोई खास हिस्सा नहीं ले रहा था। पूर्व के बेशकीमत और फायदेमंद व्यापार पर अब इंग्लैण्ड और हालैण्ड का कब्जा था। इन दोनो देशों ने इस काम के लिए दो व्यापारिक कम्पनियाँ बनवाई थी। इंग्लैण्ड में रानी एलिजाबेथ ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को १६०० ई० में एक चार्टर यानी अधिकार पत्र दिया था। दो वर्ष बाद डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी कायम हुई। ये दोनो कम्पनियाँ व्यापार के लिए थी। हालांकि दोनों निजी कम्पनियां थीं लेकिन इन्हे अक्सर सरकारी मदद मिलती थी। इनकी सबसे ज्यादा दिलचस्पी मलेशिया के मसाले के व्यापार में थी। हिन्दुस्तान उस वक्त मुगल सम्राटो के मातहत एक ताकतवर देश था, जिसे नाराज करने की किसी की हिम्मत नहीं पड़ती थी।

डच और अंग्रेज अक्सर एक दूसरे से लड़ते भी थे। आखिरकार अंग्रेज पूर्वी द्वीपो से अलग हो गये और हिन्दुस्तान पर ज्यादा ध्यान देने लगे। विशाल मुगल साम्राज्य उस वक्त कमजोर पड़ रहा था। इसलिए विदेशियों को मौका मिल गया। हम आगे चलकर देखेंगे कि किस तरह से दुस्साहसी लोग इंग्लैड और फ्रांस से आये और जालसाजी, धोखेबाजी और लड़ाई करके इस बिखरते हुए साम्राज्य के हिस्सों पर कब्जा करने की कोशिश की।

: ८० :

चीन में शान्ति और समृद्धि का युग

२२ जुलाई, १९३२

इन्दु बेटी, मुझे मालूम हुआ कि तुम बीमार थी और मुमकिन है अभीतक बीमार हो। जेल के अन्दर खबरों के पहुँचने में देर लग जाती है। मैं तुम्हारी मदद के लिए यहाँ से कुछ भी नहीं कर सकता। तुम्हे अपनी खबरदारी खुद ही करनी पडेगी। लेकिन मैं तुम्हारी याद करता रहूँगा। कितने ताज्जुब की बात है कि हम सब किस तरह से फैले हुए हैं। तुम पूना में हो; ममी इलाहाबाद में बीमार है, और हममें से बाकी मुख्तलिफ जेलो के अन्दर पडे हुए है।

कुछ दिनो से इन खतो के लिखने में मुझे कुछ कठिनाई होने लगी है। तुम से बात-चीत करने का बहाना कायम रखना आसान काम नहीं था। मुझे खयाल आता है कि तुम पूना में बीमार पडी हो और किसे मालूम मैं तुमको फिर कब देख सकूँगा।

हमारे मिलने के पहले न जाने कितने महीने या वर्ष बीत जायँगे और इस दरमियान तुम कितनी बढ़ जाओगी !

लेकिन बहुत ज्यादा सोच-विचार करना, ख़ास कर जेल में, अच्छा नही। मुझे अपने को सम्भाल लेना चाहिए और थोडी देर के लिए आज को भूल कर गुज़रे हुए कल का खयाल करना चाहिए।

हम लोग मलेशिया में थे और हमनें वहाँ एक अजीब घटना घटती देखी। योरप एशिया में ज़बर्दस्त होता जा रहा था। पोर्चुगीज़ आये, फिर स्पेन के लोग आये और बाद को अंग्रेज़ और डच आये; लेकिन इन यूरोपियन लोगों की हरकतें बहुत दिनो तक मलेशिया और टापुओ के अन्दर ही महदूद रहीं। पश्चिम की तरफ मुगलो की हुकूमत में एक मजबूत हिन्दुस्तान था। उत्तर में चीन था, जो अपनी हिफाज़त अच्छी तरह कर सकता था। इसलिए हिन्दुस्तान और चीन में यूरोपियन लोगो ने दखल नहीं दिया।

मलेशिया से चीन सिर्फ एक कदम पर है। अब हमें वहाँ चलना चाहिए। युआन राजवंश, जिसे मंगोल कुबलाई खाँ ने चलाया था, ख़तम हो गया था। १३६८ ई० में लोगो ने बगावत करके बची-खुची मंगोल फौजों को भी चीन की 'बडी दीवार' के उस पार भगा दिया था। इस विद्रोह का नेता हाँग-वू था, जो एक गरीब मज़दूर का लड़का था और जिसे बहुत कम शिक्षा मिली थी। लेकिन ज़िन्दगी की बडी पाठशाला का वह बड़ा अच्छा विद्यार्थी था। यह बड़ा सफल नेता निकला और बादको बड़ा अक़्लमन्द शासक हुआ। सम्राट होते हुए भी वह अभिमान और अहंकार से फूल नहीं उठा बल्कि सारी ज़िन्दगी उसने इस बात को याद रखा कि मै एक गरीब का लड़का हूँ। वह तीस वर्ष तक राज्य करता रहा। लोग आज भी उसके राज्य की याद इसलिए करते है कि उसने जन-साधारण की, जिनमें से वह उठा था, हालत सुधारने के लिए बराबर कोशिश की। अख़ीर वक़्त तक उसने अपनी ज़िन्दगी की सादगी कायम रखी।

हॉग-वू नये मिग राजवंश का पहला सम्राट था। उसका लड़का युग-लो भी बड़ा शासक हुआ है। वह १४०२ से १४२४ ई० तक सम्राट रहा लेकिन इन चीनी नामो से मैं तुम्हे परेशान न करूँगा। बहुत से अच्छे शासक हुए लेकिन जैसा कि अकसर होता है, पतन होने लगा। लेकिन हम सम्राटों को भूल जायें और इस ज़माने के चीन के इतिहास पर गौर करे। यह बहुत ही रौशन ज़माना था और उसमें विशेष मनोहरता पाई जाती थी। 'मिग' के मानी ही चमकदार या 'रौशन' के हैं। मिग ख़ानदान २७६ वर्षो तक, यानी १३६८ से १६४४ ई० तक रहा।

तमाम राजवंशो मे यह राजवंश खास तौर से चीनी कहा जा सकता है। इनके जमाने में चीनियो को अपनी प्रतिभा के विकास का पूरा मौका मिला। यह वह जमाना है जबकि घरेलू और वैदेशिक शान्ति रही। वैदेशिक नीति में कोई उग्रता नही दिखाई गई और न साम्राज्य बढ़ाने के खतरनाक काम ही किये गये। आस-पास के मुल्को से दोस्ती थी; सिर्फ उत्तर में खानाबदोश तातारियो से कुछ खतरा था। बाकी की पूर्वी दुनिया के लिए चीन एक ऐसे बडे भाई के बराबर था, जो बुद्धिमान, सभ्य, प्रिय था और जिसे अपनी श्रेष्ठता का मान था; पर जो सब छोटे भाइयो की भलाई चाहता था और उन्हे अपनी सभ्यता और संस्कृति सिखाने और उसमें हिस्सा देने के लिए तैयार था। दूसरे देश उसकी तरफ आशा और आदर से देखते थे। कुछ जमाने तक जापान ने भी चीन का प्रभुत्व माना और शोगन, जो जापान पर शासन करता था, अपने को मिग सम्राटो के मातहत मानता था। कोरिया और इण्डोनेशियन द्वीपो से, जैसे सुमात्रा, जावा वगैरा से और हिन्दी-चीन से, खिराज आता था।

युँग-लो के राज-काल में ही एडमिरल यानी जलसेनापति चेग-हो की मातहती में वह बड़ा सैनिक बेडा मलेशिया गया था। तीस वर्ष तक चेग-हो सारे पूर्वी समुद्रो का चक्कर लगाता रहा और ईरान की खाडी तक पहुँच गया। यह द्वीप-राज्यों को डराने की साम्राज्यवादी कोशिश मालूम पड़ती है। जाहिरा तौर से विजय का या किसी दूसरे फायदे का कोई इरादा नही था। स्याम और मज्जापहित की बढ़ती हुई ताकत की वजह से शायद युंग-लो ने यह बेडा भेजा हो। पर वजह चाहे जो रही हो, इस बेडे से बहुत बडे नतीजे निकले। इसने मज्जापहित और स्याम की बाढ़ को रोक दिया; मलक्का के नये मुसलमानी राज्य को बढ़ाया और चीनी संस्कृति को सब जगह पूर्व और इण्डोनेशिया भर में फैला दिया।

चूँकि चीन और पडोसी देशो में दोस्ती थी, घरेलू मामलो पर ज्यादा ध्यान दिया जा सकता था। शासन अच्छा था और टैक्सो को कम करके किसानो का बोझ कम कर दिया गया था। सड़को, नहरों, जलमार्गों और तालाबो में सुधार किया गया। खराब फसल और अकाल के लिए सार्वजनिक खत्तियाँ कायम करने का इन्तजाम किया गया। सरकार ने नोट चलाया और इस तरह-से साख बढ़ाकर व्यापार की तरक्की और माल के विनिमय में मदद पहुँचाई। नोट खूब इस्तेमाल होते थे और ७० फीसदी टैक्स नोट की सूरत मे ही दिये जाते थे।

इस जमाने का सांस्कृतिक इतिहास और भी उल्लेखनीय है। चीनी लोगो की कौम बहुत काल से कला-कुशल और सभ्य कौम रही है। मिंग युग के अच्छे शासन

और कला को प्रोत्साहन देने की वजह से जनता की आत्मा विकसित हो उठी। शानदार इमारते बन गईं और मिंग युग के चीनी के बर्तन और सुन्दर चित्र अपनी कारीगरी और नफीस काट के लिए मशहूर है। ये चित्र उन चित्रो का मुकाबिला करते हैं जो इन्ही दिनों इटली 'रिनैसाँ' की स्फूर्ति में पैदा कर रहा था।

पंद्रहवी सदी के अखीर में चीन दौलत, उद्योग-धंधे और सभ्यता में योरप से आगे था। सारे मिंग युग में जितना आनन्द और कला-सम्बन्धी प्रवृत्ति चीन के लोगों में थी योरप के किसी देश में नहीं थी, और याद रक्खो कि यह वही जमाना है जब योरप में रिनैसाँ का युग चल रहा था।

कला की दृष्टि से मिंग युग के अच्छी तरह से मशहूर होने की एक वजह यह भी है कि उस जमाने के नफीस कामों के अनेक नमूने आज भी मिलते है। उस जमाने की बडी-बडी यादगारे पाई जाती है। लकडी और हाथी-दाँत की खुदाई का काम बहुत ही बढ़िया है। चीनी बर्तन और पीतल के कलश बहुत बढिया होते थे। मिंग युग के अखीर में कला के कामों में विस्तार को ज्यादा महत्व दिया जाने लगा जिसकी वजह से खुदाई और चित्रो की सुन्दरता कम हो गई।

इसी जमाने में पोर्चुगीज जहाज पहले-पहल चीन आये। वे १५१६ ई० में कैण्टन पहुँचे। अलबुकर्क चीनियों का खास तौर से खयाल रखता था और जिन चीनियो से मिलता था उनसे बड़ा अच्छा बर्ताव करता था। इसकी वजह से चीन में इन लोगो के बारे में बहुत अच्छी रिपोर्ट पहुँची थी। इसलिए पोर्चुगीज जब चीन पहुँचे तो उनका बड़ा स्वागत हुआ लेकिन बहुत जल्द उन्होने कई तरह की शरारते शुरू कर दी और कई जगह पर क़िले बना लिये। चीन की सरकार को इस जंगलीपन पर बड़ा ताज्जुब हुआ। उसने कोई जल्दबाजी नही की लेकिन अख़ीर में सब को बाहर निकाल दिया। तब पोर्चुगीजो ने समझा कि उनका मामूली तरीका चीन में फायदेमंद नही हुआ। इसलिए वे ज्यादा शान्त और ठडे हो गये और १५५७ ई० में कैण्टन के नजदीक बसने के लिए इजाज़त लेली। तभी उन्होने 'मकाओ' बसाया।

पोर्चुगीजो के साथ ईसाई उपदेशक या पादरी आये। इनमें से सेंट फ़्रांसिस जेवियर एक बहुत ही मशहूर पादरी था। वह हिन्दुस्तान में बहुत दिनो तक रहा और कितने ही ईसाई कालेज उसके नाम पर अभी तक मिलेगे। वह जापान भी गया था। जमीन पर उतरने की इजाज़त मिलने के पहले ही एक चीनी बन्दरगाह में वह मर गया। चीनी लोग ईसाई उपदेशको को प्रोत्साहन नही देते थे। पर दो जेसुइट पादरियो ने, बौद्ध विद्यार्थी के वेष में अपने को छिपाकर, वर्षो तक चीनी भाषा पढी। वे कनफ्यूशियन धर्म के बडे विद्वान् हो गये और वैज्ञानिक होने की शोहरत

भी उन्हे मिली। इनमे से एक का नाम मैटियो रिक्की था। वह बड़ा क़ाबिल और अद्‌भुत विद्वान् था और इतना होशियार था कि उसने सम्राट् को भी अपने पक्ष में कर लिया। बाद को उसने अपना असली रूप ज़ाहिर कर दिया। उसकी कोशिश से ईसाई धर्म की चीन में पहले से अच्छी हालत होगई।

डच सत्रहवीं सदी के शुरू में 'मकाओ' आये। उन लोगो ने व्यापार करने की इजाज़त माँगी लेकिन उनके और पोर्चुगीज़ों के बीच में बहुत वैमनस्य था और पोर्चुगीज़ो ने इस बात की बडी कोशिश की कि चीनी डच लोगो के ख़िलाफ हो जायँ। पोर्चुगीज़ो ने चीनियो से कहा कि डच बडी खूँख़ार और जहाज़ों पर डाका डालने वाली कौम हैं इसलिए चीनियो ने इजाज़त नही दी। कुछ दिनों के बाद डचों ने अपने शहर बटाविया से, जो जावा में था, एक बड़ा जंगी जहाज़ों का बेड़ा मकाओ को भेजा और बेवकूफी से मकाओ पर ज़बरदस्ती कब्ज़ा करने की कोशिश की लेकिन चीनी और पोर्चुगीज़ उनसे कहीं ज्यादा मज़बूत थे।

डचो के पीछे-पीछे अंग्रेज़ भी गये लेकिन उनको कोई कामयाबी नही हुई। चीन के व्यापार मे उनको मिंग युग के ख़तम होने पर मौका मिला है।

मिंग युग दुनिया की तमाम अच्छी और बुरी चीज़ो की तरह सत्रहवीं सदी के मध्य में ख़तम हुआ। तातारियो का छोटा-सा बादल उत्तर में उठा और बढ़ता गया यहाँ तक कि उसका साया चीन पर भी पड़ने लगा। तुम्हे 'किन' या सुनहले तातारियो की याद होगी। उन्होने संगो को भगा दिया था और बाद में वे खुद मंगोलो के ज़रिये खदेड़ दिये गये थे। इन्ही किन लोगो का भाई-बन्द एक नया कबीला उत्तर चीन में, जहाँ आज मंचूरिया बसा है, उठ खड़ा हुआ। वे अपने को मंचू कहते थे। इन्हीं मंचू लोगो ने ही अखीर में मिंगो से हुकूमत अपने हाथ में ले ली।

लेकिन अगर चीन में दलबन्दी और फूट न होती तो मंचू लोगो को चीन के जीतने में बडी दिक्कते पड़तीं। हरेक देश में, चीन हिन्दुस्तान वगैरा सब जगहो पर, विदेशी हमलो के कामयाब होने की वजह यही रही है कि देश कमज़ोर था और लोग आपस में ही लड़ते रहते थे। इसी तरह चीन में भी सारे देश मे झगडे-फिसाद हुए। शायद बाद के मिंग सम्राट नालायक और बेईमान थे या आर्थिक अवस्था ऐसी रही हो कि जिससे सामाजिक क्रान्ति हो जाय। मंचुओ के ख़िलाफ लड़ना भी बहुत खर्चीला और एक किस्म का बोझ हो गया। सब जगहो पर डाकू नेता पैदा होने लगे। और इनमें जो सबसे बड़ा था वह कुछ दिनो तक सम्राट भी रहा। मिंगो का सेनापति, जो मचुओ के खिलाफ लड़ रहा था, वू-सान-क्वी था। वह इस मुश्किल में फँसा था कि डाकू सम्राट और मचुओ के बीच क्या किया जाय। मूर्खता-वश

और शायद धोखे से उसने डाकुओं के खिलाफ मंचुओं से मदद माँगी। मंचू लोगों ने खुशी के साथ मदद दी और पेकिंग में रह गये। वू-सान-क्वी ने, यह देखकर कि अब मिंगों का पक्ष बिलकुल कमजोर हो गया है, देश का साथ छोड़ दिया और हमला करने वाले विदेशी मंचुओं से मिल गया।

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि यह वू-सान-क्वी आज तक चीन में नफरत की निगाह से देखा जाता हो और चीनी लोग इसे अपने इतिहास का सबसे बड़ा विश्वासघाती समझते हों। देश की रक्षा की जिम्मेदारी लेकर फिर वह दुश्मन से मिल गया और दक्षिणी सूबों को गुलाम बनाने के काम में दुश्मनों की अमली तौर पर मदद की। मंचुओं ने उसे उन्ही सूबो का वाइसराय बना दिया, जिन्हे जीतने में वू-सान-क्वी ने मदद दी थी और इस तरह से उसकी खिदमतों के लिए उसे इनाम दिया गया।

सन् १६५० में मंचुओ ने कैण्टन नगर को भी जीत लिया और चीन की फतेह पूरी होई। शायद वे इसलिए भी जीत गये कि वे चीनियों से बेहतर सिपाही थे। शायद शांति और समृद्धि के लम्बे युग के कारण चीनी लोग सैनिक दृष्टि से कमजोर पड़ गये थे लेकिन मंचुओ की विजय की तेजी के दूसरे कारण भी थे। वे चीनियो को खुश रखने और अपने में मिलाने की पूरी कोशिश करते थे। पुराने जमाने में तातारी लोगो के हमलो के साथ-साथ कत्लेआम और बेरहमी भी हुआ करती थी पर इस मौके पर चीनी अफसरो को मिलाने की सब तरह से कोशिश की गई और इन्ही अफसरो को ऊँचे-ऊँचे ओहदो पर नियुक्त किया गया। इस प्रकार चीनी अफसर बड़े-बड़े पदो पर थे; शासन का पुराना तरीका भी, जो मिगो के जमाने में चलता था, बदला नहीं गया। प्रणाली वही बनी रही सिर्फ ऊपर की हुकूमत में तब्दीली होगई थी।

लेकिन दो बाते खास थी, जिनसे मालूम होता था कि चीनी लोग विदेशी हुकूमत की मातहती में हैं। एक तो खास-खास मुकामो पर मंचू फौजें रख दीगई थीं और दूसरे लम्बी चोटी रखने का मंचुओं का रिवाज हरेक चीनी के लिए जरूरी कर दिया गया था जो उनकी गुलामी का निशान था। हम लोगो में से बहुत-से समझते हैं कि हमेशा से चीनियो में लम्बी चोटी रखने का रिवाज रहा है; लेकिन असल मे यह रिवाज चीनियो में बिलकुल न था। यह गुलामी का वैसा ही एक चिन्ह था जैसे कई चिन्ह बहुत-से हिन्दुस्तानी आज भी इख्तियार किये हुए हैं और उनके पीछे छिपी हुई शर्म और गिरावट को महसूस नहीं करते। अब चीनियों ने लम्बी चोटी रखना छोड़ दिया है।

इस तरह चीन का मिग युग खतम हुआ। ताज्जुब होता है कि ३०० वर्ष के अच्छे शासन के बाद यह इतनी तेजी से गिर क्यो गया? अगर यह अच्छा शासन था तो बलवे क्यो होते थे और अन्दरूनी झगडे क्यो थे? मंचूरिया से विदेशों के

हमले क्यों नहीं रोके जा सके? शायद बाद को सरकार जालिम हो गई और यह भी हो सकता है कि ऐसी सरकार जो रिआया को बच्चों की तरह समझे, क़ौम को कमजोर कर देती है। बच्चों के लिए और क़ौम के लिए भी यह अच्छा नहीं होता कि उन्हें हमेशा गोद में खिलाते रहें।

हर शख़्स को यह ताज्जुब हो सकता है कि चीन, जो इस जमाने में सभ्यता में इतना ऊँचा हो गया था, दूसरी दिशाओं, जैसे विज्ञान खोज, वग़ैरा में आगे क्यों न बढ़ा? योरप के लोग उससे बहुत पीछे थे। फिर भी तुम यह देखोगी कि रिनैंसां के जमाने में वे (योरप के लोग) स्फूर्ति, साहस और जिज्ञासा के भाव से भरे थे। इन दोनों का मुकाबिला इस तरह किया जा सकता है कि इनमें एक तो अधेड़ उम्र के सभ्य आदमी की तरह था जो शान्ति का जीवन चाहता हो, नये साहस के कामों में जिसे उत्सुकता न हो और न वह अपने रोजमर्रा के कार्यक्रम में किसी क़िस्म का विघ्न पसन्द करता हो; जो कला और प्राचीन पुस्तकों के पढ़ने में दिन भर लगा रहता हो और दूसरा एक नौजवान लड़के की तरह था जो किसी कदर अनगढ़ हो, लेकिन जिसमें जिज्ञासा और स्फूर्ति खूब पाई जाती हो और जो सब जगहों पर साहस की तलाश में रहे। चीन में सौन्दर्य बहुत है लेकिन यह तीसरे पहर का या शाम के वक्त का शान्त और स्थिर सौन्दर्य है।

: ८१ :

जापान अपने को बन्द कर लेता है

२३ जुलाई, १९३२

चीन से हम जापान जा सकते हैं और रास्ते में थोडी देर के लिए कोरिया में ठहर सकते हैं। मंगोलो ने कोरिया में अपना अधिकार जमा रक्खा था। उन्होंने जापान पर भी हमला करने की कोशिश की, लेकिन कामयाबी नहीं हुई। कुबलाई खां ने कई जंगी जहाजी बेडे जापान भेजे लेकिन वे सब भगा दिये गये। मंगोलों को समुद्र पर कभी अनुकूलता महसूस नहीं हुई। वे कुदरती तौर पर खुश्की के आदमी थे। टापू होने की वजह से जापान उनकी पकड़ में आने से बच गया।

मंगोलो के चीन से खदेड़ दिये जाने के थोडे ही दिन बाद कोरिया में एक क्रान्ति हुई और वे शासक जिन्होंने मंगोलो की मातहती इख्तियार कर ली थी, निकाल दिये गये। इस बगावत का नेता ई-ताई-जो नाम का एक देशभक्त कोरियन था। वह वहाँ का नया शासक बनाया गया। उसने एक राजवंश चलाया जो कि ५००

वर्षों से ज्यादा वक्त तक यानी १३९२ से हाल तक कायम रहा और उसका खातमा कुछ ही साल पहले हुआ, जब जापान ने कोरिया को अपने राज्य में मिला लिया। सिओल राजधानी बनाया गया था और वह तबसे आज तक है। हम कोरिया के इन ५०० वर्षों के इतिहास में प्रवेश नहीं कर सकते। कोरिया, या चोसन, जैसा कि यह फिर कहलाने लगा था, क़रीब-क़रीब स्वतन्त्र मुल्क की हैसियत से बना रहा लेकिन चीन का साया उसपर पड़ता रहा और वह अक्सर चीन को ख़िराज भी देता था। जापान से कई दफ़ा लड़ाइयाँ हुई और कई मौकों पर कोरिया कामयाब रहा लेकिन आज दोनों का कोई मुकाबिला नही। जापान एक विशाल और ताकतवर साम्राज्य है और साम्राज्यवादी क़ौमो में जो बुराइयां पाई जाती है वे सब उसमें मौजूद है। बेचारा कोरिया इस साम्राज्य का छोटा-सा हिस्सा है, जिसका जापानी लोग शासन और शोषण करते है और जो असहाय-सा पर बहादुरी के साथ अपनी आजादी के लिए लड़ रहा है। लेकिन यह तो हाल का इतिहास है और हम अभी तक बहुत पुराने ज़माने की चर्चा कर रहे थे।

तुम्हे याद होगा कि जापान में, बारहवी सदी के आख़िरी हिस्से में, शोगन असली शासक हो गया था। सम्राट तो नाम-मात्र के लिए हुआ करता था। पहली शोगनशाही, जिसे 'कामकुरा शोगनशाही' कहते है, करीब डेढ़ सौ वर्षो तक रही और उसनें देश में योग्यता और शान्तिपूर्वक शासन किया। उसके बाद जैसा आम तौर पर होता है, शासक राजवंश का पतन शुरू हुआ। इसके साथ-साथ बदइन्तजामी, विलासिता और गृहयुद्ध आये। सम्राट मे, जो अपने अधिकारो को काम में लाना चाहता था, और शोगन में झगडे हुए। सम्राट् नाकामयाब रहा और साथ-ही-साथ पुरानी शोगनशाही भी ख़तम हो गई। १३१८ ई० में शोगनो के एक नये खानदान की शुरूआत हुई। उसे 'अशीकागा शोगनशाही' कहते है और वह २३५ वर्ष तक चलती रही। लेकिन यह लड़ाई-झगडो का ज़माना था। यह क़रीब-करीब वही ज़माना था जब चीन में मिग लोग राज कर रहे थे। इस घराने के एक शोगन की यह जबर्दस्त ख़्वाहिश थी कि मिगो से दोस्ती करले और वह इस हद तक गया कि उसने मिग सम्राट की मातहती क़बूल कर ली। जापानी इतिहास-लेखक जापान के प्रति इस अपमान पर बहुत नाराज हुए है और उन्होंने इस आदमी की ख़ूब लानत-मलामत की है।

चीन के साथ स्वभावतः बडी दोस्ती थी और जापान में चीनी संस्कृति के बारे में, जो उस समय मिगो की अध्यक्षता में विकसित हो रही थी, एक नई दिलचस्पी पैदा हो गई। हरेक चीज का अध्ययन किया जाता था और उसकी तारीफ होती थी; चित्रकला, कविता, गृहनिर्माण शिल्प, फिलासफी, और युद्ध-शास्त्र सभी के बारे

में यही बात थी। इस जमाने में दो मशहूर इमारतें बनीं। एक 'किनकाकूजी' यानी सोने का मण्डप और दूसरी 'जिनकाकूजी' यानी चांदी का मण्डप।

कला की उन्नति और विलासिता के साथ-साथ किसानों को बहुत ज्यादा तकलीफ और मुसीबत थी। उनपर बहुत ज्यादा टैक्स था और गृह-युद्धों का सारा बोझा ज्यादातर उन्हीं बेचारों पर पड़ता था। हालत दिन-ब-दिन खराब होती गई; यहाँतक कि केन्द्रीय सरकार का कोई भी असर राजधानी के बाहर नहीं रह गया।

१५४२ ई० में, जब कि ये लड़ाइयाँ चल रही थीं, पोर्चुगीज आये। याद रखने की दिलचस्प बात यह है कि ये ही लोग जापान में पहले-पहल बन्दूक तथा दूसरे आग्नेयास्त्र (Fire Arms) लाये थे। यह एक अजीब-सी बात मालूम होती है; क्योंकि चीन में बहुत दिन पहले से ये चीजें पाई जाती थी और योरप में चीन से ही मंगोलो के जरिये ये चीजें पहले-पहल पहुँची थी।

आखिरकार जापान को इस १०० वर्ष के पुराने घरेलू युद्ध से तीन आदमियो ने बचा लिया। इनमें एक नारबुनागा जो एक 'दाइम्यो' या रईस, दूसरा हिदेयोशी जो एक किसान और तीसरा तोकूगावा आयेयासू जो एक बहुत बड़ा सरदार या रईस था। सोलहवीं सदी के खतम होते-होते सारा जापान फिर एक सूत्र में बँध गया था। किसान हिदेयोशी जापान के सबसे काबिल राजनीतिज्ञों में से एक हुआ है। लेकिन कहते हैं कि वह बहुत बदसूरत था—छोटे क़द और चपटे मुँह का बनमानुष-जैसा।

जापान को एक सूत्र में बाँधने के बाद इन लोगों की समझ में यह बात नहीं आई कि इतनी बडी फौज को लेकर क्या किया जाय। इसलिए कोई दूसरा काम न पाकर उन्होंने कोरिया के ऊपर हमला कर दिया; लेकिन बहुत जल्द उनको पछताना पड़ा। कोरिया के लोगों ने जापान की जल-सेना को हरा दिया और जापान और कोरिया के बीच के समुद्र पर हावी हो गये। यह कामयाबी कोरियावालो को एक नये किस्म के जहाज की वजह से हुई जिसकी छत लोहे की चद्दरो की और कछुये की पीठ की तरह हुआ करती थी। इन जहाजो को 'कच्छप नौका' कहते थे। ये जहाज इच्छानुसार आगे-पीछे खेये जा सकते थे। इन नावो ने जापान के जंगी जहाजों को नष्ट कर दिया।

ऊपर बताये हुए तीसरे आदमी, तोकूगावा आयेयासू ने गृह-युद्ध से बहुत फ़ायदा उठाया। वह बड़ा मालदार हो गया और जापान के सातवे हिस्से पर इसकी मिल-कियत हो गई। उसीने अपनी रियासत के बीचोबीच यैदो नाम का शहर बसाया। यही शहर बाद को टोकियो हो गया। १६०३ ई० में आयेयासू शोगन बन गया और इस तरह से तीसरी और आखिरी शोगनशाही शुरू हुई जिसका नाम 'तोकूगावा शोगनशाही' था और जो २५० वर्ष से ज्यादा रही।

इसी दरमियान पोर्चुगीजो ने अपना व्यापार एक छोटे पैमाने पर जारी रक्खा। करीब ५० वर्षों तक उनका कोई यूरोपियन प्रतिद्वन्द्वी नहीं था क्योंकि स्पेनवाले १५९२ ई० में आये और डच और अंग्रेज इसके भी बाद आये। सेंट फ़्रांसिस जेवियर नें १५४९ ई० में इस देश में ईसाई धर्म की शुरुआत की। जेसुइट लोगों को प्रचार करने की इजाजत दी गई और उनको प्रोत्साहन भी दिया जाता था। असल में इसकी वजह राजनैतिक थी क्योंकि बौद्ध बिहार या मठ षड्यन्त्रों के अड्डे समझे जाते थे। इस वजह से इन भिक्षुओं को दबाया जाता था और ईसाई उपदेशकों के साथ रिआयत की जाती थी। लेकिन बहुत जल्द जापानियो ने यह अनुभव कर लिया कि ये (ईसाई) उपदेशक ख़तरनाक हैं। फ़ौरन ही उन्होने अपनी नीति बदल दी और इनको बाहर निकालने की कोशिश करने लगे। १५८७ ई० में ईसाइयों के ख़िलाफ़ एक डिग्री यानी राजाज्ञा निकाली गई, जिसमें इस बात का ऐलान किया गया कि जो ईसाई उपदेशक २० दिन के अन्दर जापान से बाहर न चला जायगा, उसको फाँसी की सजा दी जायगी। यह डिग्री व्यापारियो के खिलाफ नही थी। उसमें यह बता दिया गया था कि ईसाई व्यापारी रह सकते और व्यापार कर सकते हैं लेकिन अगर वे अपने जहाज में किसी मिशनरी को लायँगे तो जहाज और माल दोनो जब्त कर लिये जायँगे। यह डिग्री शुद्ध राजनैतिक कारणो से ही जारी की गई थी। हिदेयोशी को सन्देह हो गया था कि खतरा आनेवाला है। उसने समझा कि मुमकिन है ये ईसाई उपदेशक और उनके जरिये ईसाई बने हुए दूसरे लोग राजनैतिक दृष्टि से ख़तरनाक हो जायँ, और उसका ख़याल गलत नहीं था।

थोडे ही दिनो बाद एक घटना ऐसी हुई, जिससे हिदेयोशी को पूरा यकीन हो गया कि उसका भय सही था और वह बहुत नाराज हो गया। तुम्हे याद होगा कि 'मनिल्ला गैलियन' जहाज साल मे एक दफा फिलीपाइन और स्पेनिश अमेरिका के बीच मे आया-जाया करता था। तूफ़ान ने एक दफा इसे बहाकर जापानी किनारे पर पहुँचा दिया। स्पेनिश कप्तान ने स्थानीय जापानियो को दुनिया का नक़्शा दिखाकर और उसमें स्पेन के राजा का विस्तृत साम्राज्य बताकर उन्हे डराना चाहा। लोगो ने कप्तान से पूछा कि स्पेन ने इतना बड़ा साम्राज्य कैसे पाया। उसने जवाब दिया कि यह तो मामूली-सी बात है। पहले ईसाई मिशनरी गये और जब वहाँ बहुत से ईसाई हो गये तो फ़ौज भेजी गई कि नये ईसाइयो से मिलकर वह वहाँ की सरकार को उलट दे। इसकी रिपोर्ट जब हिदेयोशी को पहुँची तो वह बहुत खुश नहीं हुआ। बल्कि ईसाई मिशनरियो के और भी खिलाफ हो गया। उसने 'मनिल्ला गैलियन' को तो जाने दिया लेकिन कुछ मिशनरियों और नये ईसाई हुए जापानियो को कत्ल करा दिया।

जब आयेयासू शोगन हुआ तो वह विदेशियो से ज्यादा दोस्ती रखने लगा। विदेशी व्यापार की तरक्की करने के में उसे बडी दिलचस्पी थी। खासकर अपने बन्दरगाह येदो से वह विदेशी व्यापार बढ़ाना चाहता था। लेकिन आयेयासू की मृत्यु के बाद ईसाइयो पर अत्याचार फिर शुरू हुआ। मिशनरी लोग जबरदस्ती निकाल दिये गये और जो जापानी ईसाई हो गये थे उनको ईसाई धर्म छोड़ने पर मजबूर किया गया। व्यापार की नीति भी बदल दी गई क्योकि जापानी लोग विदेशियों की राजनैतिक चालों से बहुत डरे हुए थे। वे किसी भी तरह से विदेशियों को देश से बाहर रखना चाहते थे।

जापानियों की इस प्रतिक्रिया को हम समझ सकते हैं। हमें यह बात आश्चर्य में डाल देती है कि जापानी लोग इतनी कुशाग्र बुद्धि के थे कि उन्होने साम्राज्यवाद के भेड़िये को मजहब की भेड़ की खाल में भी पहचान लिया हालांकि उन्हें यूरोपियन लोगों से बहुत कम पाला पड़ा था। बाद के जमाने में दूसरे देशों में यूरोपियन लोगों ने अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए किस तरह मजहब से बेजा फायदा उठाया, इसे हम अच्छी तरह जानते हैं।

और अब इतिहास में एक अजीब चीज शुरू हुई। जापान का दरवाजा बन्द कर दिया गया। जानबूझ कर अलग रहने की और दूसरो से दूर रहने की नीति इख्तियार की गई और एक दफा इख्तियार करने के बाद इस नीति को पूरी-पूरी तरह निभाया गया। अँग्रेजो ने यह देखकर कि वहाँ उनका कोई स्वागत नहीं करता, १६२३ ई० में जापान जाना ही बन्द कर दिया। इसके साथ स्पेन के लोगों को, जिनको सबसे ज्यादा खौफनाक समझा जाता था, देश से निकाल दिया गया। यह क़ानून बना दिया गया कि व्यापार के लिए सिर्फ गैर-ईसाई ही विदेश जा सकते हैं और वे भी फिलीपाइन्स नहीं जा सकते। आखिरकार १२ वर्ष बाद, १६३६ ई० में, जापान पर पूरे तौर पर मुहर लग गई। पोर्चुगीज भी निकाल दिये गये और सारे जापानी, ईसाई या ग़ैर-ईसाई, किसी भी काम के लिए विदेश जाने से रोक दिये गये। इस क़ानून के मुताबिक कोई भी जापानी जो विदेश में रहता रहा हो, जापान वापस नहीं आ सकता था। आने पर उसे फांसी की सजा देने का विधान था। सिर्फ़ चन्द डच रह गये पर उनको भी सख्त हुक्म था कि वे बन्दरगाह न छोड़ें और देश के अन्दर न जायें। १६४१ ई० में ये डच भी वहाँ से हटा कर, एक छोटे से द्वीप नागासाकी बन्दरगाह, में रख दिये गये जहाँ वे बिल्कुल कैदी की तरह रहा करते थे। इस तरह से पहले पोर्चुगीजों के आने के ठीक ९९ वर्ष बाद जापान सारे वैदेशिक सम्पर्क से अलग हो गया और उसने अपने को बंद कर लिया।

१६४० ई० में एक पोर्चुगीज जहाज आया, जिसमें एलची थे और वे व्यापार को फिर से शुरू करने की दरख्वास्त लेकर आये थे। लेकिन कुछ हुआ नहीं। जापानियों ने एलचियों और जहाज के बहुतेरे मल्लाहों को मार डाला। कुछ मल्लाहो को जिन्दा छोड़ दिया ताकि वे वापस जाकर ख़बर दे दें।

२०० वर्ष से ज्यादा समय तक जापान ने अपने को दुनिया से बिलकुल अलग रक्खा। वह अपने पडोसी चीन और कोरिया से भी अलग रहा। कुछ डच जो उस द्वीप में रहते थे और थोड़े चीनी, जिन पर कडी नजर रहती थी, बस यही बाहरी दुनिया से उनके सम्पर्क के जरिये थे। अपने को इस तरह से अलहदा कर लेना बडी ग़ैर-मामूली बात है। लिखित इतिहास के किसी भी युग में या किसी भी देश में इस तरह का दूसरा उदाहरण नही पाया जाता। रहस्यमय तिब्बत और मध्य अफरीका भी अपने पडोसियों से काफ़ी सम्पर्क रखते थे। अपने को अलहदा कर लेना बहुत ख़तरनाक चीज होती है, व्यक्ति के लिए भी और देश के लिए भी। लेकिन जापान इससे जिन्दा निकल आया और उसको आन्तरिक शान्ति मिली। और लम्बी-लम्बी लड़ाइयों के बुरे असर से वह बच गया। और अखीर में जब सन् १८५३ ई० में उसने अपने दरवाजे और अपनी खिड़कियां खोली तो उसने ग़ैर-मामूली काम करके दिखला दिया। वह तेजी के साथ आगे बढ़ा और जो समय खो चुका था उसकी पूर्ति कर ली। दौड़ में यूरोपियन कौमों को पकड़ लिया और उन्हीं के खेल में उन्हे हरा दिया।

इतिहास की कोरी रूप-रेखा कितनी नीरस होती है और जो शक्लें उस रूप-रेखा के बीच में चलती हुई दिखाई देती है, वे कितनी दुबली-पतली और निर्जीव नजर आती हैं। फिर भी कभी-कभी जब हम पुराने जमाने की कोई किताब पढ़ते है, मुर्दा भूतकाल में भी जान आ जाती है और रंग-मंच हमारे नजदीक आजाता हैं। हम देखते हैं कि रंग-मंच के ऊपर जीते जागते, ईर्ष्या-द्वेष और प्रेम में भरे स्त्री पुरुष डोलने लगते है। मैंने पुराने जापान की एक सुन्दर स्त्री के बारे में एक किताब पढ़ी है। उस स्त्री का नाम मुरासाकी था और वह कई सौ वर्ष पहले हुई थी जबकि ये, गृह-युद्ध जिनका जिक्र हमने आज के ख़त में किया है, नही हुए थे। उसने जापान के सम्राट के दरबार में अपनी जिन्दगी का लम्बा-चौड़ा हाल लिखा है। जब मैंने इस बयान का कुछ अंश पढ़ा जिसमें उसकी दिलपसंद ज़बान और दरबार की फिज़ूल और बेकार बातों और अनेक प्रेम-कथाओ का हाल भरा हुआ है, तो यह मुरासाकी मेरे लिए एक बडी सच्ची चीज़ बन गई और पुराने जापानी दरबार की कलापूर्ण किन्तु सीमित दुनिया की एक साफ़-साफ़ तस्वीर मेरी आंखों के सामने आ गई।

: ८२ :

योरप में खलबली

४ अगस्त १९३२

कई दिन होगये, मैंने तुम्हे खत नही लिखे; मुझे लिखे हुए करीब दो हफ्ते तो जरूर हो गये होगे। जेल-खाने में भी, बाहरी दुनिया के समान, आदमी की चित्त की हालत (Moods) बदलती रहती है। पिछले दिनों मुझे भी इन पत्रों के प्रति, जिन्हे सिवाय मेरे और दूसरा नहीं देखता-पढ़ता, कोई खास उत्साह नहीं रह गया। ये खत नत्थी करके रख दिये जाते है और उस वक्त तक, शायद महीनो या वर्षों तक, इन्तजार करेंगे, जब तुम उन्हें देख पाओगी। महीनों और बरसों बाद ! जब हम फिर मिलेंगे और एक दूसरे को अच्छी तरह देखेंगे और मुझे यह देखकर हैरत होगी कि तुममें कितनी तब्दीली आगई है और तुम कितनी बढ़ गई हो ? उस वक्त हमें बहुत-सी बातें और काम करने होगे और तुम इन खतों पर बहुत कम ध्यान दोगी। उस वक्त तक इन खतों का ढेर लग जायगा और मेरी जेल की जिन्दगी के सैकडों घण्टे इन खतो को लिखने में लग चुके होगे !

लेकिन फिर भी मै इन खतो को जारी रखूंगा और लिखे हुए खतों के ढेर को बढाता रहूंगा। शायद तुम्हे भी इनमें दिलचस्पी हो; मुझे तो दिलचस्पी है ही।

हम कुछ दिन से एशिया में रह रहे है और हमने हिन्दुस्तान, मलेशिया, चीन और जापान में उसकी कहानी का सिलसिला जारी रखा है। हमने योरप को, ठीक उस वक्त, जब वह जग रहा था और उसकी कहानी दिलचस्प हो रही थी, एकाएक छोड़ दिया था। उसमें 'रिनैसां' का आगमन हो चुका था और योरप का पुनर्जन्म हो रहा था; बल्कि यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि उसका नया जन्म हो रहा था क्योंकि सोलहवीं सदी में जिस योरप का विकास हो रहा था वह किसी पुराने युग की प्रतिमा नहींथी। यह बिलकुल ही नई चीज थी। अगर पुरानी चीज कहें भी तो यह मानना पडेगा कि उसपर का गिलाफ बिलकुल नया था।

योरप में हर जगह खलबली और बेचैनी दिखाई देती थी और चारों ओर से घिरी हुई चीजें एकाएक फूटकर बाहर निकल रही थीं। कई सौ वर्ष तक सामन्त-प्रथा पर बना हुआ एक सामाजिक और आर्थिक ढांचा सारे योरप में फैला हुआ था और उसने योरप को अपने पंजे में दबा रखा था। कुछ दिनों तक इस खोल की वजह से तरक्की रुकी रही लेकिन कई जगहो पर यह खोल फटने लगा। कोलम्बस, वास्को डि गामा और समुद्री रास्तों का पता चलानेवाले दूसरे लोगो ने इस खोल को फाड़ डाला और

अमेरिका और पूर्व के देशो से आई हुई स्पेन और पुर्तगाल की बेशुमार दौलत से योरप की आँखें चकाचौंध हो गईं और तब्दीली में तेजी आगई। योरप अपने तंग दायरे से बाहर देखने लगा और दुनिया के बारे में विचार करने लगा। संसारव्यापी व्यापार और हुकूमत की बडी-बडी सम्भावनायें सामने खुल गईं। मध्यमवर्ग के लोग अधिक ताकतवर होगये और पश्चिम योरप में सामन्त प्रथा दिन-दिन विघ्न साबित होती गई।

सामन्त-प्रथा पुरानी चीज हो चुकी थी। बेरहमी के साथ किसानों का खून चूसना इस प्रणाली का सार था। किसानों से जबरदस्ती बेगार ली जाती थी। तरह-तरह की नजर और नजराने मालिक को देने पड़ते थे और वह मालिक ही न्यायाधीश यानी इन्साफ़ करनेवाला भी हुआ करता था। किसानों की मुसीबते इतनी ज्यादा थीं कि, जैसा कि हमने देखा है, किसानो के बलवे और किसानों की लड़ाइयाँ अक्सर हुआ करती थीं। किसानों की ये लड़ाइयाँ फैलने लगीं और अक्सर होने लगीं। योरप के बहुत-से हिस्सो में आर्थिक क्रान्ति हो गई। सामन्तशाही की जगह बुर्जुआ या मध्यमवर्ग के लोग आगये। इस आर्थिक क्रान्ति की कामयाबी की वजह किसानों की बग़ावत ही थी।

लेकिन यह ख़याल न करना कि ये तब्दीलियाँ फौरन हो गईं। इनमें बहुत दिन लगे और पचासों बरस तक ये गृह-युद्ध योरप में जारी रहे। इन लड़ाइयों की वजह से योरप का बहुत बड़ा हिस्सा वीरान हो गया। सिर्फ़ किसानों की बग़ावतें ही नहीं हुईं बल्कि, जैसा आगे चलकर हम देखेंगे, प्रोटेस्टेण्टों और कैथलिक लोगो में मजहबी लड़ाइयाँ भी हुईं; आजादी के लिए क़ौमी लड़ाइयाँ भी छिडी—जैसे निदरलैंड में, और बादशाह के निरंकुश अधिकारो के ख़िलाफ़ 'बुर्जुआ' या मध्यमवर्ग के लोगों ने भी बलवे किये। ये सब बातें तुम्हे घपले की और पेचीदा मालूम होती होगी। जरूर ये पेचीदा और घपले की चीजें है लेकिन अगर हम बडी-बडी घटनाओं और आन्दोलनो को नजर में रखें तो कुछ जरूर समझ सकेंगे।

पहली याद रखने की बात यह है कि किसान बडी तकलीफ और मुसीबत में थे और इसी वजह से किसानो की लड़ाइयाँ हुईं। दूसरी याद रखने की बात यह है कि मध्यमवर्ग पैदा हो गया था और उपज की शक्तिया बढ़ रही थीं। चीजो के बनाने में ज्यादा मजदूर लगाये जाते थे और व्यापार भी ज्यादा हो गया था। तीसरी बात याद रखने की यह है कि चर्च सबसे बड़ा जमींदार था। उसका जमींदारी में बहुत बड़ा स्वार्थ फैला हुआ था इसलिए उसकी यही इच्छा रहती थी कि सामन्तशाही क़ायम रहे। चर्च, किसी किस्म की ऐसी तब्दीली नही चाहता था जिससे उसकी जायदाद और दौलत का बहुत बड़ा हिस्सा उनके हाथ से निकल जाय। इस तरह, जब रोम में मजहबी बग़ावत फैली तो आर्थिक क्रान्ति ने भी उसीका साथ दिया।

इस महान् आर्थिक क्रान्ति के साथ-साथ या इसके बाद, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक, हर तरह की तब्दीलियाँ होने लगी। अगर तुम सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के योरप पर दूर से और विस्तृत नजर डालो तो तुम्हारी समझ में यह बात आजायगी कि ये सारी प्रवृत्तियाँ, आन्दोलन और तब्दीलियाँ कैसे एक दूसरे के साथ गुथी हुई और मिली-जुली थीं। आमतौर पर इस जमाने की तीन तहरीकों पर खास जोर दिया जाता है—'रिनैसाँ' या पुनर्जागरण, 'रिफार्मेशन' या सुधार और 'रेवोल्यूशन' या क्रान्ति। लेकिन याद रखो कि इन सब के पीछे आर्थिक मुसीबत और हलचल छिपी हुई थी जिसकी वजह से आर्थिक क्रान्ति पैदा हुई और आर्थिक क्रान्ति ही सारी तब्दीलियो में सबसे महत्वपूर्ण हुई है।

'रिनैसाँ' असल में विद्या का पुनर्जन्म था, जिसमें कला, विज्ञान, साहित्य और यूरोपियन भाषाओं में तरक्की हुई। 'रिफार्मेशन' यानी सुधार आन्दोलन रोमन चर्च के खिलाफ एक बग़ावत थी। वह चर्च की बदचलनी के खिलाफ जनता का विद्रोह था। इसके अलावा वह पोप के खिलाफ़ योरप के राजाओं की बग़ावत भी थी, जो पोप के इस दावे को मानने से इन्कार कर रहे थे कि वह इन लोगों पर शान जमा सकता है। तीसरे वह चर्च को अन्दर से सुधारने की एक कोशिश थी। 'रेवोल्यूशन' यानी क्रान्ति, राजाओं पर अंकुश रखने के लिए और उनके अधिकारों को सीमित कर देने के वास्ते, बुर्जुआ या मध्यमवर्ग का एक राजनैतिक संघर्ष था।

इन सब तरीको के पाछे एक दूसरी बात भी छिपी थी—छपाई। तुम्हे याद होगा कि अरबो ने कागज बनाना चीनियों से सीखा था और योरप ने अरबों से सीखा। फिर भी कागज को सस्ता और काफी मात्रा में बनते-बनते बहुत दिन लग गये। पन्द्रवीं सदी के अखीर में योरप के बहुतेरे हिस्सों, हालैड, इटली, इंग्लैड, हंगरी वगैरा, में किताबें छपने लग गई थीं। खयाल तो करो कि कागज और छपाई के पहले दुनिया किस तरह की रही होगी। आज हम लोग कागज और किताब और छपाई के इतने आदी हो गये हैं कि इस बात की कल्पना भी मुश्किल है कि इन चीजो के बिना भी दुनिया हो सकती है। छपी हुई किताबो के बग़ैर ज्यादा आदमियो को सिर्फ लिखना-पढ़ना तक सिखाना भी क़रीब-क़रीब नामुमकिन है। पहले किताबो को मेहनत के साथ हाथ से नकल करना पड़ता था, फिर भी वे कुछ ही आदमियों के पास पहुँच सकती थीं। पढ़ाई जबानी हुआ करती थी और विद्यार्थी हरेक चीज जबानी याद कर लेते थे। यह बात तुम अभी तक पुराने किस्म के मकतबों और पाठशालाओं में पाओगी।

कागज और छपाई के आजाने से बहुत बड़ी तब्दीली हो गई। छपी हुई स्कूली

और दूसरी किताबें सामने आईं। बहुत जल्दी ही लिखने-पढ़ने वालों की तादाद बढ़ गई। जितना ही लोग पढ़ने लगे, उतना ही ज्यादा सोचने लगे (लेकिन जहाँ तक गम्भीर पुस्तकों का सम्बन्ध है वहीं तक यह बात सही है। आज कल जो बहुत ज्यादा रद्दी किताबें निकल रही हैं उनके बारे में नहीं) और जितना ज्यादा आदमी सोचता है, उतना ही ज्यादा वह मौजूदा हालात की छान-बीन करता है और उन पर ऐतराज़ करता है। इसका नतीजा अक्सर यह होता है कि वर्तमान प्रणाली को लोग चुनौती देने लगते हैं। अज्ञान तब्दीली से हमेशा डरता है। वह अज्ञात वस्तु से डरता है इसलिए वह अपनी जानी-बूझी लीक पर ही चलना पसंद करता है, चाहे उसमें उसे कितनी ही मुसीबत क्यों न हो। वह अपने अन्धेपन में गिरता पड़ता और लुढ़कता हुआ, किसी तरह चलता है। लेकिन ठीक तौर से पढ़नें या अध्ययन करने से कुछ ज्ञान हो जाता है और किसी क़दर आँखें खुल जाती हैं।

कागज़ और छपाई के कारण आँखों के इस प्रकार खुल जाने की वजह से ही इन बड़ी तहरीकों में, जिनका अभी हम ज़िक्र कर चुके है, बड़ी मदद मिली। पहले-पहल बाइबिल छपी और बहुत से आदमी, जिन्होंने बाइबिल को सिर्फ़ लैटिन भाषा में सुना था, अब अपनी ही ज़बान में पढ़ सकते थे। इस तरह पढ़ने की वजह से वे हरेक बात के जानने और समझने की कोशिश करने लगे और पादरियों से किसी क़दर आज़ाद हो गये। स्कूल की किताबें भी बहुत बड़ी तादाद में छपने लगीं। इसके बाद हम योरप की ज़बानों को तेज़ी के साथ तरक्की करते देखते हैं। अभी तक तो लेटिन ने उन्हें दबा रखा था।

इस ज़माने में योरप के इतिहास में बहुत बड़े-बड़े आदमी हुए हैं। उनसे हमारा बाद में परिचय होगा। हमेशा, जब कभी, किसी देश या महाद्वीप ने अपनी खोल को, जिसकी वजह से उसकी तरक्की रुकी हुई थी, तोड़ फेंका है तो वह कई दिशाओं में आगे बढ़ निकला है। इस बात को हम योरप में पाते है और इस युग का यूरोपियन इतिहास सब से ज्यादा दिलचस्प और शिक्षाप्रद है। क्योंकि इसी ज़माने में आर्थिक और दूसरी बड़ी तब्दीलियां हुईं। हिन्दुस्तान के या चीन के इसी युग के इतिहास का योरप से मुक़ाबिला करो। जैसा मैंने तुमको बताया है, ये दोनों देश उस वक्त योरप से बहुत-सी बातों में आगे थे। फिर भी हम हिन्दुस्तान और चीन के इतिहास में अकर्मण्यता और उसीके मुकाबिले में इस युग के यूरोपियन इतिहास में अद्भुत प्रयत्नशीलता देखते हैं। हिन्दुस्तान और चीन में बड़े-बड़े आदमी और बड़े-बड़े महाराजा हुए। संस्कृति का पाया बहुत ऊँचा था लेकिन जनता, ख़ास तौर से हिन्दुस्तान में, बिलकुल अकर्मण्य और निर्जीव हो रही थी। कोई भी राजा हो

उन्हे कोई ऐतराज नहीं हुआ करता था। इस बात का उनको आदी बना दिया गया था और हुक्म मानने के इतने आदी होगये थे कि हुकूमत का मुकाबिला करना उनके लिए नामुमकिन था। इसलिए उनका इतिहास, कहीं-कहीं दिलचस्पी होते हुए भी, सार्वजनिक आन्दोलनों के इतिहास की जगह शासकों और घटनाओं का बयान ही ज्यादा है। मै नहीं कह सकता कि यह बात चीन के बारे में कहाँ तक सही है लेकिन हिन्दुस्तान के लिए तो यह बात कई सौ वर्षों से सही है। इस युग में हिन्दुस्तान में जितनी बुराइयाँ आईं, हमारे देश-वासियों की इसी दुर्भाग्यपूर्ण अवस्था के कारण थीं।

हिन्दुस्तान में एक दूसरी प्रवृत्ति यह देखी जाती है कि लोग पीछे देखना चाहते है, आगे नहीं। वे उस ऊँचाई की तरफ देखते है जिस पर कभी वे थे; उस ऊँचाई की तरफ नहीं, जिस पर उनको आगे पहुँचना है। इस तरह हमारे देशवासी गुजरे हुए जमाने के लिए लम्बी-लम्बी सांसें लेते रहे और आगे बढ़ने की बजाय जो कोई भी आया उसका हुक्म मानते रहे। असल में साम्राज्य अपनी ताकत पर उतना नहीं निर्भर करते जितना उन लोगों की गुलाम तबीयत पर, जिनके ऊपर वे हुकूमत करते है।

: ८३ :

'रिनैसाँ' या पुनर्जागरण

५ अगस्त, १९३२

उस हलचल और मुसीबत से, जो सारे योरप मे फैल रही थी, रिनैसाँ या पुनर्जागरण का सुन्दर फूल पैदा हुआ। पहले यह इटली की जमीन में उगा। लेकिन अपनी पुष्टि और बाढ़ के लिए वह सदियो का फासला पारकर पुराने यूनान की तरफ उम्मीद की निगाह से देखता था। यूनान से इसने सौन्दर्य का प्रेम सीखा और इस शारीरिक सौन्दर्य में इसने एक नई चीज जोड़ दी जो ज्यादा गहरी थी। जो मन से पैदा हुई थी और आत्मा से सम्बन्ध रखती थी। यह नागरिक उन्नति थी और उत्तर इटली के शहरो ने इसे आश्रय दिया। फ्लोरेंस खास तौर से प्रारम्भिक 'रिनैसाँ' का घर रहा है।

तेरहवीं और चौदहवीं सदियों में फ्लोरेंस ने इटैलियन भाषा के दो महान् कवि, दान्ते और पेट्रार्क, पैदा किये थे। मध्य काल में यह योरप की आर्थिक राजधानी बन गया था, जहाँ बड़े-बड़े महाजन इकट्ठा होते थे। यह मालदार और ऐसे

लोगों का छोटा-सा लोकतन्त्र था, जिनकी बहुत तारीफ़ नहीं की जा सकती और जो खुद अपने महापुरुषों के साथ अक्सर बुरा बर्ताव करते थे। इस शहर को 'सनकी-फ्लोरेंस' के नाम से पुकारा गया है। लेकिन महाजनों, अत्याचारियों और निरंकुश लोगों के होते हुए भी इस शहर ने पन्द्रहवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में तीन मशहूर आदमी पैदा किये—ल्यूनार्डो द विंसी, माइकेल एंजेलो और राफेल। ये तीनों बहुत बड़े कलाकार और चित्रकार हुए हैं। ल्यूनार्डो और माइकेल एंजेलो, दूसरी बातों में भी महान् थे। माइकेल एंजेलो अद्‌भुत मूर्तिकार था। ठोस संगमरमर से विशाल मूर्तियाँ गढ़कर निकालता था। वह बहुत बड़ा स्थापत्य शिल्पकार भी था। रोम का सेन्ट पीटर का विशाल गिरजा मुख्यतः उसीने निर्माण किया था। उसने बहुत लम्बी, क़रीब ९० वर्ष की, उम्र पाई और अपने मरने के दिन तक सेन्ट पीटर के गिरजे के बनाने में मेहनत करता रहा। वह दुखिया था और चीज़ों की गहराई में घुसकर किसी-न-किसी चीज़ की तलाश किया करता था। वह हमेशा सोचता रहता था और हमेशा अद्‌भुत काम करने की कोशिश करता था। एक दफ़ा उसने कहा था कि "चित्र सर से बनाये जाते हैं, हाथ से नहीं।"

इन तीनों में उम्र में सबसे बड़ा ल्यूनार्डो था और कई बातों में सबसे अद्‌भुत भी था। सच तो यह है कि वह अपने ज़माने का सबसे अद्‌भुत आदमी था और याद रखो कि यह वह युग था कि जिसमें अनेक महापुरुष हुए। चित्रकार और प्रतिमाकार तो वह था ही, पर साथ ही वह बड़ा विचारक और वैज्ञानिक भी था। हमेशा प्रयोग करता था, हमेशा चीज़ों के मूल में धँसने की कोशिश करता था और यह जानने की फ़िक्र में रहता था कि किसी बात की असली वजह क्या है। वह उन महान् वैज्ञानिकों में से था जिन्होंने शुरू-शुरू में अर्वाचीन विज्ञान की बुनियाद डाली थी। उसने कहा है—"कृपालु प्रकृति इस बात की कोशिश में रहती है कि तुम दुनिया में हर जगह कुछ-न-कुछ सीखो।" उसने जो कुछ पढ़ा था, खुद ही पढ़ा था। ३० वर्ष की उम्र में उसनें लैटिन और गणित का अध्ययन खुद ही शुरू किया। वह एक बड़ा इंजीनियर भी हो गया और उसीने पहले-पहल इस बात का पता चलाया कि आदमी के शरीर में खून गर्दिश करता है। वह मनुष्य-शरीर की बनावट पर मोहित था। उसनें कहा है—"बुरी आदत और छोटी बुद्धि के अनगढ़ आदमी इस काबिल नहीं कि मनुष्य-शरीर जैसी एक पेचीदा हड्डी-पंजर से बनी खूबसूरत मशीन उन्हें दी जाय, उनको तो एक थैला मिलना चाहिए जिससे वे खाना निकाल लें और उसे फिर बाहर करदें क्योंकि वे लोग भोजन की नालियों के सिवा और क्या हैं?" वह गोश्त नहीं खाता था और जानवरों से बड़ी मुहब्बत करता था। उसकी एक आदत यह थी कि वह

बाज़ार से पिंजड़े के अन्दर बन्द चिड़ियों को ख़रीद लेता और फ़ौरन उन्हें छोड़ देता था।

ल्यूनार्डो की कोशिशों में से सबसे अद्भुत् कोशिश यह थी कि वह हवा में उड़ना चाहता था। उसे कामयाबी तो नहीं हुई। लेकिन कामयाबी की तरफ बहुत-दूर तक बढ़ा जरूर था। उसके प्रयोगों और सिद्धान्तों पर अमल करने वाला उसके बाद कोई दूसरा नहीं हुआ। अगर उसके बाद उसी की तरह दो-तीन आदमी और हो गये होते तो शायद आजकल का हवाई जहाज़ आज से दो या तीन सौ वर्ष पहले ही बन चुका होता। यह अद्भुत और विचित्र आदमी १४५२ से १५१९ ई० तक जिन्दा रहा। कहते हैं कि उसका जीवन क्या था "प्रकृति के साथ वार्तालाप-सा था।" वह हर वक्त सवाल पूछता रहता और प्रयोग करके उसके जवाब मालूम करता रहता था। वह हमेशा आगे बढ़ता जाता था और भविष्य को पकड़ने की कोशिश करता था।

मैंने फ्लोरेंस के इन तीनों आदमियों के बारे में विस्तार से लिख दिया, खासकर ल्यूनार्डो के बारे में क्योंकि मैं उसे बहुत पसन्द करता हूँ। फ्लोरेंस के लोकतंत्र का इतिहास बहुत दिलचस्प या शिक्षाप्रद नहीं है। उसमें तरह-तरह की बेईमानियाँ और साज़िशें होती रहती थीं और वहाँ ज़ालिम और बदमाश शासक पैदा होते रहे। लेकिन फ्लोरेंस बहुत-सी बातों के लिए माफ किया जा सकता है; यहाँतक कि महाजनों के लिए भी उसे माफी मिल सकती है क्योंकि उसने अनेक महापुरुष पैदा किये। इन सुपुत्रों का साया अभी तक फ्लोरेंस पर है और जिस वक्त कोई इस खूबसूरत शहर की सड़कों पर होकर गुजरता है और मध्यकालीन पुलों के नीचे से मनोहर आर्नो को बहते हुए देखता है तो उसके ऊपर जादू-सा छा जाता है और गुज़रा हुआ ज़माना साफ-साफ और ज़िन्दा होकर सामने आ जाता है। कहीं दान्ते आँखों के सामने से गुज़रता है और कहीं बीएट्रिस, जिससे वह मुहब्बत करता था, सामने से गुज़रती है और अपने पीछे एक हल्की खुशबू उड़ाती हुई चली जाती है। ल्यूनार्डो भी तंग गलियों में टहलता हुआ दिखाई देता है—विचार में निमग्न और जीवन और कुदरत के रहस्यों की तलाश में डूबा हुआ।

इस प्रकार रिनैसां इटली में पन्द्रहवीं सदी में फूला-फला और वहाँ से धीरे-धीरे पश्चिमी देशों को फैल गया। बड़े-बड़े कलाकारों ने पत्थर और कनवैस में जान डालने की कोशिश की और योरप के अजायबख़ाने और चित्रमंदिर उनकी बनाई हुई तस्वीरों और मूर्तियों से भरे हुए हैं। सोलहवीं सदी के अख़ीर में इटली में कला में होनेवाली जागृति गिरने और ख़तम होने लगी। सत्रहवीं सदी में हालैण्ड में बड़े-बड़े चित्रकार पैदा हुए। इनमें रैंमब्रैण्ड सबसे मशहूर है। स्पेन में इसी समय

वेलेस्क्वीज नाम का चित्रकार हुआ। लेकिन अब मैं तुम्हारे सामने ज्यादा नाम न रक्खूँगा। उनकी तादाद बहुत ज्यादा है। अगर तुमको महान् चित्रकारों में दिलचस्पी हो तो चित्रालयों में जाकर उनकी बनाई हुई तस्वीरों को देखो। उनके नाम से कोई खास मतलब नहीं। हमें उनका सन्देश तो उस कला और सौन्दर्य में मिलता है जिसे उन्होंने जन्म दिया।

इस जमाने में, यानी पंद्रहवी से सत्रहवी सदी के बीच, विज्ञान को भी धीरे-धीरे तरक्की हुई और उसने अपनी जड़ मजबूत कर ली। चर्च से उसे सख़्त लड़ाई करनी पडी क्योंकि चर्च यह नहीं चाहता था कि लोग विचार और प्रयोग करे। उसके ख़याल में तो विश्व का केन्द्र पृथ्वी थी और सूरज पृथ्वी के चारों तरफ घूमता था और तारे आसमान में अपनी जगह पर जडे हुए थे। जो कोई इसके खिलाफ़ कहता, वह काफ़िर समझा जाता था और उसे मजहबी अदालत (इनक्वीजिशन) सजा देती थी। फिर भी कोपरनिकस नाम के एक पोलैण्ड-निवासी ने इस विश्वास को चुनौती दी और साबित किया कि जमीन सूरज के चारों तरफ घूमती है। इस तरह उसने विश्व के अर्वाचीन सिद्धान्तों की बुनियादी रखी। वह १४७३ से १५४३ ई० तक जिन्दा रहा और किसी वजह से अपने बाग़ी और विधर्मी उसूलों के लिए चर्च के गुस्से से बच गया। उसके बाद जो हुए, उनकी किस्मत इतनी अच्छी नहीं थी। जोर्डानो ब्रूनो नाम के इटैलियन को १६०० ई० में रोम में चर्च ने इसलिए जिन्दा जलवा दिया कि वह इस बात पर जोर देता था कि दुनिया सूरज के चारो तरफ घूमती है और सितारे ख़ुद भी सूरज है। इसके जमाने में गैलीलियो भी हुआ जिसने दूरबीन ईजाद की थी। उसे भी चर्च ने धमकी दी लेकिन वह ब्रूनो की तरह बहादुर नहीं था और उसने अपनी बात वापस ले लेना ज्यादा मुनासिब समझा। उसने पादरियो की मण्डली के सामने अपनी गलती और बेवकूफी मान ली और कह दिया कि पृथ्वी ही विश्व का केन्द्र है और सूरज उसके चारों तरफ़ घूमता है। फिर भी उसे प्रायश्चित्त करने के लिए कुछ दिनों तक जेल में रहना पड़ा था।

सोलहवी सदी के मशहूर वैज्ञानिकों में हारवे भी था। उसने पूरी तौर से यह साबित कर दिया कि ख़ून गर्दिश करता है। सत्रहवीं सदी में विज्ञान के सबसे बडे आदमियों में एक शख़्स पैदा हुआ जिसका नाम आइज़क न्यूटन था। वह बहुत बड़ा गणितज्ञ था। उसीने 'लॉ ऑफ् ग्रेविटेशन' यानी पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का पता लगाया जिससे उसने यह बताया कि चीजें जमीन पर क्यों गिरती हैं। इस तरह उसने कुदरत का एक बड़ा रहस्य खोज निकाला।

इतनी बात, या इतनी थोडी-सी बात तो विज्ञान के बारे में हुई। इस जमाने में

साहित्य भी आगे बढ़ा। नई भावना ने जो सब जगह फैली हुई थी, यूरोपियन भाषाओं पर भी बहुत असर डाला था। ये जबानें कुछ दिन से मौजूद थीं और हमने देखा है कि इटैलियन भाषा ने अच्छे-अच्छे कवि भी पैदा किये थे। इंग्लैण्ड में चाँसर[1] हुआ। लेकिन लैटिन, जो पादरियों और विद्वानों की भाषा थी, इन सब पर हावी थी। ये भाषायें गँवारू यानी 'वरनाक्यूलर' कहलाती थीं। आश्चर्य है, यह शब्द अभी तक कुछ लोग हिन्दुस्तानी जबानों के लिए इस्तैमाल करते हैं। इन जबानों में लिखना शान के खिलाफ समझा जाता था। लेकिन नई भावना ने, काग़ज़ और छपाई ने, इन भाषाओं को प्रोत्साहन दे दिया। इटैलियन भाषा पहले-पहल मैदान में आई, फिर फ्रेंच, अंग्रेज़ी और स्पेनिश और सबसे आखिर में जर्मन। फ्रांस में चन्द नौजवान लेखकों ने सोलहवीं सदी में इस बात का पक्का इरादा कर लिया कि लैटिन में न लिखकर अपनी भाषा में ही लिखेंगे, अपनी ही 'गँवारू भाषा' की तरक्की करेंगे ताकि अच्छे-से-अच्छे साहित्य की यह उचित माध्यम बन सके।

कुछ दिन हुए, मैं इन नौजवान फ्रांसीसी लेखकों में से एक के—योआकिम दु बेले के—किसी निबन्ध या मज़मून का एक उद्धरण पढ़ रहा था। इस मज़मून का नाम है—'La Deffense et Illustration de la Langue Francoyse' (फ्रेंच भाषा का समर्थन और व्याख्या)। मैंने इसे पढ़कर महसूस किया कि हिन्दुस्तान में आज हालत इसके बिलकुल खिलाफ़ है हालांकि हमारा पक्ष कहीं ज़ोरदार है। फ्रांसीसी भाषा आज बड़ी सुन्दर भाषा हो गई है। इसका साहित्य बहुत बड़ा है और इसमें बारीक-से-बारीक भाव और अर्थ को जाहिर करने की ताकत आ गई है। लेकिन योआकिम के जमाने में फ्रांसीसी उन्नत नहीं थी। वह दरअसल 'गँवारू भाषा' थी। लेकिन हमारी जबानें हिन्दी और उर्दू, बंगला, मराठी और गुजराती काफी पुरानी और उन्नत हैं और इनमें बहुत अच्छा साहित्य पाया जाता है, चाहे यह साहित्य उतनी तरह का न हो जितनी तरह का यूरोपियन जबानों में है। द्रविड़ भाषायें इनसे भी पुरानी और सम्पन्न हैं। इसलिए अपनी प्रवृत्तियों और मनोदशाओं को ज़ाहिर करने के लिए हमारे पास बना बनाया माध्यम मौजूद है। इसलिए यह मुनासिब है कि हम इनके इस्तेमाल के लिए ज़ोर दें और विदेशी भाषा के इस्तेमाल को किसी तरह के ग़रूर की बात न समझें। तुम कहोगी कि मैं भी कितना धोखेबाज़ आदमी हूँ। मैं खुद वही करता हूँ जिसके खिलाफ तुम्हें उपदेश देता हूँ! मैं ये खत अंग्रेज़ी में क्यों लिखता हूँ? इसलिए कि मेरी अपनी शिक्षा दूषित रही है। मैं चाहता हूँ कि मैं हिन्दी आसानी से

१. चाँसर—अंग्रेज़ी भाषा का आदि कवि। इसकी लिखी 'कैंटरबरी टेल्स' बहुत मशहूर है। यह १३४० ई० पैदा हुआ था और १४०० में मरा।

लिख सकूं। लेकिन अब भविष्य मे मैं ज्यादा कर्तव्यपरायण होने की कोशिश करूँगा।

इस तरह से योरप की भाषाओं ने तरक्की की और उनमें ताक़त पैदा हुई। तरक्की करके ये इतनी अच्छी भाषायें होगई, जितनी आज हम इन्हे देखते हैं। इंग्लैण्ड में १५६४ से १६१६ तक मशहूर नाटककार शेक्सपियर हुआ। उसके बाद ही सत्रहवीं सदी में 'पैरेडाइज लास्ट' का रचयिता अन्धा कवि मिल्टन हुआ। फ्रांस में सत्रहवी सदी में डेस्कार्टे नाम का फ़िलासफ़र और मॉलियर नाम के नाटककार हुए। मॉलियर पेरिस के सरकारी थियेटर 'फ्रांसीसी प्रहसन मंडली' का जन्मदाता था। शेक्सपियर के ही जमाने में स्पेन का सरवेटीज़ हुआ, जिसने 'डान क्विक्सॉट' नाम की मशहूर किताब लिखी है।

एक दूसरे नाम का भी मै जिक्र करूगा, इसलिए नहीं कि वह महान् है बल्कि इसलिए कि वह मशहूर है। वह मैकियावेली का नाम है, जो फ्लोरेन्स का रहनेवाला था। वह पंद्रहवीं और सोलहवीं सदी का मामूली राजनीतिज्ञ था लेकिन उसने 'प्रिन्स' (राजा) नाम की एक किताब लिखी जो बहुत मशहूर हुई। इस किताब से उस जमाने के राजाओं और राजनीतिज्ञों की मानसिक दशा की झलक मिल जाती है। मैकियावेली ने लिखा है कि सरकार के लिए मजहब की जरूरत है, इसलिए नहीं कि आदमी सदाचारी बने, बल्कि इसलिए कि उनपर हुकूमत की जासके, उनको मस्त रखा जासके। किसी शासक का यह कर्तव्य भी हो सकता है कि वह ऐसे मज-हब का भी समर्थन करे जिसे वह झूठ समझता हो। मैकियावेली ने लिखा है :—
"राजा को जानना चाहिए कि एक ही साथ हैवान और इंसान का, शेर और लोमड़ी का पार्ट कैसे अदा किया जा सकता है। उसे न तो अपने वादे का पालन करना चाहिए और न वह कर ही सकता है, जबकि वैसा करने से उसका नुक़सान होता हो······। मै इस बात के कहने का दावा करता हूँ कि हमेशा ईमानदार रहना बहुत नुकसानदेह होता है, लेकिन सदाचारी, श्रद्धालु, दयावान का आडम्बर कायम रखने में फ़ायदा है। सद्गुणो का दिखावा बनाये रखने से ज्यादा फ़ायदेमंद और दूसरी चीज़ नहीं।"

कितनी बुरी बात है! जितनी ज्यादा बदमाशी करे उतना ही बेहतर वह राजा होगा। जब औसत राजा के मन की योरप में उस वक्त यह हालत थी तो कोई ताज्जुब नही कि वहाँ झगडे और फ़िसाद कायम रहे! लेकिन इतनी दूर जाने की क्या ज़रूरत है? आजकल की साम्राज्यवादी क़ौमें भी मैकियावेली के राजा की तरह ही बर्ताव करती हैं। सदाचार के आडम्बर के नीचे लालच, बेईमानी और सिद्धान्तहीनता छिपी रहती है; सभ्यता के मुलायम दस्तानें में हैवान का ख़ूनी पंजा छिपा रहता है।

: ८४ :

'प्रोटेस्टेण्टों' की बग़ावत और किसानों की लड़ाई

८ अगस्त, १९३२

मैं तुमको पन्द्रहवीं सदी से लेकर सत्रहवीं सदी तक के योरप के बारे में पहले ही कई ख़त लिख चुका हूँ। मध्य युग के गुज़रने, किसानों की मुसीबत, मध्यमवर्ग (बुर्ज़ुआ) के उदय, अमेरिका, और पूर्व तक जाने के समुद्री रास्तो की खोज और योरप में कला, विज्ञान और भाषाओ की तरक़्क़ी के बारे में मैंने कुछ-न-कुछ तुमको बता दिया है। लेकिन तस्वीर की रूप-रेखा पूरी करने लिए मुझे इस ज़माने की बाबत अभी बहुत कुछ कहना बाकी है। याद रखो कि मेरे दो आखिरी खत और वह खत जो मैं समुद्री रास्तो के बारे में लिख चुका हूँ, यह खत जो लिख रहा हूँ और शायद आगे लिखे जानेवाले एक-दो खत और, ये सब योरप के इसी ज़माने का बयान करते है। हालांकि मैं मुख़्तलिफ़ तहरीकों और कामो के बारे में जुदा-जुदा लिख रहा हूँ लेकिन ये सब बाते कमोबेश, एक ही ज़माने में हुई और आपस में, एक-दूसरे पर असर भी डालती रहीं

'रिनैसाँ' के ज़माने के पहले से ही रोमन चर्च मे गड़गड़ाहट सुनाई दे रही थी। योरप के राजाओ और जनता दोनों ने चर्च के गैरमुनासिब बर्ताव को महसूस करना शुरू कर दिया था, वे गुर्राने और शंका करने लगे थे। तुम्हे याद होगा कि सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय ने पोप से बहस करने की भी जुर्रत की थी और समाज-बहिष्कार की ज़रा भी परवा न की थी। इस शंका और नाफ़रमानी से रोम (पोप) चिढ़ गया और उसने इस नई नास्तिकता को कुचल देने का फैसला कर लिया। इसी मतलब से 'इनक्विज़िशन' जारी किया गया और योरप भर में ये शंका और तर्क करनेवाले, नास्तिक या क़ाफ़िर करार दिये जाकर और औरते टोना-टटका की मुजरिम कहकर जलाई गई। प्रेग के जॉन हस को धोखे से जाल में फँसा कर जला दिया गया; इसपर उसके बोहेमिया के अनुयायियो ने बगावत का झण्डा खड़ा किया। रोमन चर्च के खिलाफ इस बगावत की नई भावना—'स्पिरिट'—को 'इनक्विज़िशन' का खौफ और जुल्म भी दबा न सका। वह फैलती ही गई और इसमें शक नही कि इसके साथ ही किसानो का असन्तोष भी शामिल हो गया, जो चर्च से, उसकी ज़मींदाराना हैसियत में, उनको था। बहुत जगह राजाओ ने भी खुदग़र्ज़ी के ख़ातिर बगावत की इस भावना को बढ़ाया। उनकी ईर्ष्या और लालच से भरी आँखें, चर्च की विशाल सम्पत्ति पर लगी हुई थीं। इसी वक़्त किताबो और बाइबिलो की छपाई से भीतर-ही-भीतर सुलगती हुई आग को मदद मिल गई।

सोलहवीं सदी की शुरुआत में, जर्मनी में, मार्टिन लूथर पैदा हुआ जो आगे चलकर रोम के खिलाफ़ इस बगावत का एक बड़ा नेता होने वाला था। वह एक ईसाई पादरी था। एक बार वह रोम गया और वहाँ चर्च के भ्रष्टाचार और विलासिता को देखकर उसको बडी नफ़रत हुई। बहस और झगड़ा बढ़ता गया, यहाँ तक कि रोमन चर्च के दो टुकडे हो गये और पश्चिमी योरप, राजनैतिक और मजहबी, दोनो मामलो में दो दलो में बँट गया। पूर्वी योरप और रूस का पुराना कट्टर यूनानी चर्च इस झगडे से अलग ही रहा। जहाँ तक उसका ताल्लुक था वह नये मत की कौन कहे, रोम को भी सच्चे धर्म से बहुत दूर समझता था।

इस तरह 'प्रोटेस्टेण्ट' बगावत शुरू हुई। इसे प्रोटेस्टेण्ट इसलिए कहा गया कि *यह रोमन चर्च की ही बहुतेरी बातों के खिलाफ 'प्रोटेस्ट' यानी विरोध करता था।* तभी से पश्चिमी योरप में ईसाई धर्म के दो खास हिस्से रहे हैं—रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट। लेकिन प्रोटेस्टेण्ट भी कितने ही सम्प्रदायो या उपविभागो में बँट गये है।

चर्च के खिलाफ इस आन्दोलन या तहरीक को 'रिफार्मेशन' कहते है। असल में यह चर्च की निरंकुश सत्ता और भ्रष्टाचार के खिलाफ एक सार्वजनिक बगावत थी। इसके साथ ही बहुत से राजाओ की यह ख्वाहिश थी कि पोप का उन पर हुक्म चलाना हमेशा के लिए बन्द हो जाय। वे उनके राजनैतिक मामलो में पोप की दस्तंदाजी से बहुत चिढ़े हुए थे। इसके अलावा रिफार्मेशन का एक तीसरा पहलू भी था और वह यह कि बहुत-से वफादार चर्चवाले भी चर्च की बुराइयो को दूर करने के लिए अन्दर से कोशिश कर रहे थे।

शायद तुम्हे चर्च के दो संघो—फ्रांसिस्कन और डोमिनिकन—की याद होगी। जब मार्टिन लूथर की ताकत बढ़ रही थी, करीब-करीब उसी जमाने में, सोलहवी सदी में एक नया चर्च-संघ चलाया गया। इस संघ को लोयोला के रहनेवाले इग्नेशियस नाम के एक स्पेनवासी ने चलाया था। उसने इसका नाम 'सोसायटी ऑफ जीसस' यानी जीसस का सघ रखा। इसके सदस्य जेसुइट कहलाये। मैं पहले इन जेसुइटो के चीन और पूर्व के सफर करने का जिक्र कर चुका हूँ। यह 'जीसस-संघ' एक बडी महत्वपूर्ण जमात थी। रोमन चर्च और पोप की सेवा के लिए ऐसे आदमी तैयार करना इसका उद्देश्य था जो अपना सारा वक्त इस काम (उनकी सेवा) में लगा सके। वह बडी सख्त तालीम देता था और वह इतना कामयाब हुआ कि उसने चर्च के बडे ही काबिल और श्रद्धालु सेवक पैदा किये। ये सेवक लोग चर्च के प्रति इतने श्रद्धालु थे कि वे बिना कोई तर्क या सवाल किये अन्धे की तरह उसका

हुक्म मानते थे और उन्होंने अपना सब कुछ उसकी भेंट कर दिया। यदि चर्च को कोई फ़ायदा हो तो वे ख़ुशी से अपनी कुरबानी देने को तैयार रहते थे। यहाँ तक कि उनके बारे में यह मशहूर था कि जहाँतक चर्च की सेवा का सवाल है, उनको कोई काम करने में किसी तरह की हिचकिचाहट नहीं थी। जिस किसी भी काम से चर्च की भलाई हो वह सब उनके ख़याल में मुनासिब था।

ये महत्त्वपूर्ण लोग रोमन चर्च के लिए सबसे बड़े मददगार साबित हुए। उन्होंने न सिर्फ चर्च का नाम और उसका संदेश दूर-दूर के देशों तक पहुँचाया बल्कि योरप में चर्च की इज्जत और वकत भी बढ़ा दी। कुछ तो सुधार की अन्दरूनी हलचल की वजह से, और ख़ास तौर से प्रोटेस्टेण्ट बगावत के खौफ से, रोम में भ्रष्टाचार बहुत कम हो गया। इस तरह 'रिफार्मेशन' ने चर्च को दो हिस्सों में बाँट दिया और साथ ही कुछ दूर तक अन्दर से भी उसे सुधारने में कामयाब हुआ।

ज्यो-ज्यो प्रोटेस्टेण्ट बगावत बढ़ी, योरप के बहुतेरे राजा-महाराजा एक न एक पक्ष का साथ देने लगे। कुछ ने एक पक्ष लिया, कुछ ने दूसरे का पक्ष लिया। इसमें उनका कोई धार्मिक या मजहबी उद्देश्य नहीं था। इसमें ज्यादातर राजनीति थी और ज्यादा से ज्यादा फायदा उठाने का इरादा था। उस वक्त 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का सम्राट हैप्सबर्ग खानदान का चार्ल्स पंचम था। अपने दादा और पिता की शादी की वजह से विरासत में उसे एक बड़ा साम्राज्य मिल गया था जिसमें आस्ट्रिया, जर्मनी (नाम मात्र को), स्पेन, नेपल्स और सिसली, निदरलैण्ड और स्पेनिश अमेरिका शामिल थे। उन दिनो शादी करके दहेज या विरासत के जरिये, अपना साम्राज्य बढ़ाने का तरीका योरप में खूब चल निकला था। इसी वजह से, न कि अपनी किसी काबलियत की वजह से, चार्ल्स आधे से ज्यादा योरप पर राज्य करता था और कुछ वक़्त के लिए तो वह एक बहुत बड़ा आदमी हो गया था। उसने प्रोटेस्टेण्टो के ख़िलाफ पोप की मदद करने का फैसला किया। 'रिफार्मेशन' का ख़याल ही साम्राज्य के खयाल से कुछ मेल नही खा सकता था। लेकिन बहुत-से छोटे-छोटे जर्मन राजाओं या जागीरदारो ने प्रोटेस्टेण्टो का साथ दिया और सारे जर्मनी में, रोमन और लूथरन ये, दो दल बन गये। इसका स्वाभाविक नतीजा यह हुआ कि जर्मनी में गृह-युद्ध छिड़ गया।

इंग्लैण्ड में बार-बार शादियाँ करने वाले बादशाह हेनरी अष्टम ने पोप के ख़िलाफ प्रोटेस्टेण्टों का, या यो कहो कि खुद अपना, साथ दिया। उसकी आँखें चर्च की सम्पत्ति पर लगी हुई थीं, इसलिए रोम से सम्बन्ध तोड़कर उसने गिरजो, मठों और धर्मालयो की सारी कीमती जमीन जब्त कर ली। पोप से सम्बन्ध तोड़ने का

एक निजी कारण यह भी था कि वह अपनी पत्नी को तलाक देकर दूसरी औरत से शादी करना चाहता था।

फ़्रांस में कुछ अजीब ही हालत थी। वहाँ बादशाह का प्रधान मंत्री मशहूर कार्डिनल (बड़ा पादरी) रिशेल्यू था और असली शासक वही था। रिशेल्यू ने फ़्रांस को रोम और पोप के पक्ष में रक्खा और अपने यहाँ प्रोटेस्टेण्टो का ख़ूब दमन किया। लेकिन राजनीति की जालसाज़ी तो देखो कि उसीने जर्मनी में प्रोटेस्टेण्टो और प्रोटेस्टेण्ट सिद्धान्तो को उत्तेजन दिया। उसका मतलब यह था कि इससे जर्मनी में गृहयुद्ध हो जायँ, वह कमज़ोर हो जाय और वहाँ फूट पड़ जाय। फ़्रांस और जर्मनी की एक दूसरे के प्रति यह दुश्मनी योरप के इतिहास में बराबर, एक सिलसिले से, शुरू से अंत तक चलती गई है।

लूथर एक महान् प्रोटेस्टेण्ट था और उसने रोम की सत्ता की मुख़ालफ़त की। लेकिन यह ख़याल न कर लेना कि वह धर्म के मामले में सहिष्णु था; वह उतना ही असहिष्णु था जितना पोप, जिससे वह लड़ रहा था। इस तरह मालूम होता है कि 'रिफ़ार्मेशन' से योरप में कोई मज़हबी आज़ादी नहीं आई। इसने एक नये ढंग के धर्मान्ध पैदा कर दिये—'प्यूरिटन' (कट्टर—ईसाई धर्म का एक पंथ) और काल-विनिस्ट। कालविन प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन के बाद के नेताओं में से एक था। उसमे संगठन करने का काफ़ी माद्दा था और कुछ दिनो तक उसने जेनेवा के शहर पर अपना अधिकार जमा रखा। क्या तुम्हे जेनेवा के पार्क में बना हुआ 'रिफार्मेशन' का वह बड़ा स्मारक याद है, जिसकी दीवारे दूर-दूर तक फैली है और जिसमे कालविन और दूसरे लोगो की मूर्तियाँ है? कालविन इतना असहिष्णु था कि उसने बहुत से लोगो को सिर्फ इसलिए जलवा दिया था कि वे उससे सहमत नहीं होते थे और 'फ़्री थिंकर्स' यानी स्वतंत्र विचारक थे।

लूथर और प्रोटेस्टेण्टो की आम लोगो ने भी ख़ूब मदद की क्योंकि उनमें रोमन चर्च के खिलाफ बड़ा जबर्दस्त असंतोष था। जैसा मै तुमसे कह चुका हूँ। किसान लोग बडी मुसीबत में थे और बार-बार दगे होते थे। ये दंगे बढ़कर जर्मनी में किसान-युद्ध की सूरत में तब्दील हो गये। बेचारे गरीब किसान उस प्रणाली के ख़िलाफ उठ खड़े हुए जो उनको पीस रही थी और बहुत ही मामूली और न्यायोचित अधिकारो की माँग की—यानी यह कि असामी या दास प्रथा (Serfdom) उठा दी जाय और उन्हे मछली मारने और शिकार करने के हक दिये जायँ। लेकिन इन मामूली हको को मंजूर करने से भी इन्कार कर दिया गया और जर्मनी के सामन्तो ने उनको दबाने के काम में सब तरह की बर्बरता का इस्तेमाल किया। और उस

महान् सुधारक, लूथर, का क्या रुख था ? क्या उसने गरीब किसानो का साथ दिया और उनकी न्यायोचित मॉगो का समर्थन किया ? उसने यह सब कुछ नही किया, वल्कि किसानो की मॉग पर कि असामी या दास प्रथा तोड़ दी जाय उसने कहा-- "इससे तो सब आदमी बराबर हो जायँगे और ईसा का आध्यात्मिक राज्य एक ऊपरी दुनियावी राज्य में तब्दील हो जायगा। असंभव ! पृथ्वी पर कोई राज्य लोगों की असमता के बगैर टिक नही सकता। कुछ को आज़ाद, दूसरो को गुलाम, कुछ को शासक, दूसरो को रिआया रहना ही पडेगा।" उसने किसानो को श्राप दिया और बरबाद कर देने का हुक्म दिया। "इसलिए जो लोग भी काबिल हो, उनको (किसानो को) पामाल करदो, उनको सबके सामने खुल्लमखुल्ला या गुप्तरूप से कत्ल करो या छुरा भोक दो और याद रखो कि एक बागी से बढ़कर जहरीला, घृणित और पिशाच कोई नहीं है। तुम उसे ज़रूर मार डालो, जैसे तुम पागल कुत्ते को मार डालते हो। अगर तुम उस पर टूट नहीं पडोगे तो वह तुम्हारे और सारे देश पर टूट पडेगा।" एक मजहबी नेता और सुधारक के मुँह से निकलने वाले ये कैसे सुन्दर शब्द हैं !

इन सब बातो से साफ हो जाता है कि स्वतन्त्रता और मुक्ति की सारी बाते सिर्फ बडे लोगो के लिए थी, आम लोगो के लिए नही। करीब-करीब हरेक युग में आम जनता की जिन्दगी जानवरो से कुछ ज्यादा बेहतर नही रही हैं। लूथर के मुताबिक उनकी यही जिन्दगी जारी रहनी चाहिए क्योकि स्वर्ग या खुदा ने उनके लिए वैसा ही कायदा बना रखा है। रोम के खिलाफ प्रोटेस्टेण्ट बगावत के बढ़ने और कामयाब होने को एक बडी वजह जनता की बुरी आर्थिक हालत और मुसीबत थी। बगावत ने उसका फायदा उठा लिया लेकिन जब यह खयाल पैदा हुआ कि कही ये किसान बहुत आगे न बढ़ जायें और अपनी गुलामी से छुटकारा पाने की मॉग न कर बैठें (और यह कोई छोटी बात थी !) तो प्रोटेस्टेण्ट नेता उनको कुचलने के लिए राजा और सामन्तो से मिल गये। बेचारी गरीब जनता के दिन अभी दूर थे। नया जमाना, जो क्षितिज पर उदय हो रहा था, 'बुर्जुआ' या मध्यमवर्ग के लोगो का जमाना था। सोलहवीं और सत्रहवीं सदियो के सघर्षों और लड़ाइयो के बीच, इस वर्ग को, अनिवार्य रूप से, पर कदम-कदम, उठता हुआ देखा जा सकता है।

जहॉ कहीं भी यह बढ़ता हुआ 'बुर्जुआ' वर्ग काफी शक्तिमान् था, वहॉ-वहॉ प्रोटेस्टेण्ट मत फैल गया। प्रोटेस्टेण्टो में भी कई सम्प्रदाय थे। इंग्लैण्ड में बादशाह खुद चर्च का प्रधान—'धर्म का रक्षक' Defender of the Faith—बन गया और वहॉ चर्च अमली तौर पर बिलकुल चर्च नहीं रह गया बल्कि सरकार का एक महकमा हो गया। तब से 'चर्च आफ इंग्लैण्ड' (इंग्लैण्ड के चर्च) की वही हालत है।

दूसरे मुल्कों, खास तौर से जर्मनी, स्वीज़रलैण्ड और निदरलैण्ड, में दूसरे सम्प्रदायों का ज़ोर बढ़ा। कालविन सम्प्रदाय खूब फैला, क्योंकि वह 'बुर्जुआ' या मध्यम वर्ग के विकास के अनुकूल था। मज़हबी मामलों में कालविन भयंकर रूप से असहिष्णु था। नास्तिकों पर तरह-तरह के जुल्म किये जाते और उनको जला दिया जाता था और श्रद्धालुओं पर पूरा अनुशासन (पाबन्दी) था। लेकिन व्यापार के मामले में, रोमन शिक्षा के खिलाफ़, उसकी शिक्षा बढ़ते हुए उद्योग-धंधों और व्यापार के ज्यादा अनुकूल थी। व्यापार में फायदे की नीति को आशीर्वाद दिया जाता था और साख को प्रोत्साहन दिया जाता था। इस तरह नये 'बुर्जुआ' या मध्यमवर्ग ने पुराने धर्म का नया संस्करण अंगीकार कर लिया और हलके मन से दौलत पैदा करने में लग गया। उन्होंने सामन्त सरदारों के खिलाफ़ अपनी लड़ाई में आम जनता का उपयोग कर लिया था और अब, जब सरदारों पर उनको फतह मिल चुकी थी, उन्होंने जनता की उपेक्षा की या उसकी छाती पर चढ़ बैठे।

लेकिन अब भी 'बुर्जुआ' या मध्यम वर्ग को बहुतेरी मुसीबतों का सामना करना बाकी था। अभी बादशाह उनके रास्ते का काँटा था। बादशाह ने सामन्तों से लड़ने में शहर के आदमियों और व्यापारियों की मदद की थी। अब सामन्त बिलकुल कमज़ोर और बेदम हो गये तो बादशाह की ताकत बहुत बढ़ गई। अब वही स्थिति पर हावी था। उसके और मध्यम वर्गों के बीच का संघर्ष अभी शुरू नहीं हुआ था और आगे आनेवाला था।

: ८५ :

सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के योरप में तानाशाही

२६ अगस्त, १९३२

मैं फिर बड़ा लापरवाह हो गया। इन खतों को लिखे हुए मुझे बहुत समय हो गया है। यहाँ मुझसे न तो कोई जवाब तलब करने वाला है और न कोई बढ़ावा ही देने वाला है। इसीलिए मैं अक्सर ढीला पड़ जाता हूँ और दूसरे कामों लग जाता हूँ। अगर हम साथ होते तो शायद यह बात न होती। क्यों ठीक है न? लेकिन अगर तुम और मैं एक दूसरे से बात-चीत कर सकते तो मुझे इन खतों के लिखने की जरूरत ही क्यों पड़ती?

पिछले खतों में मैंने तुम्हें योरप के उस ज़माने का हाल लिखा था जबकि वहाँ बड़ी गड़बड़ थी और बड़ा परिवर्तन हो रहा था। उन खतों में सोलहवीं और

सत्रहवीं सदी के महत्वपूर्ण परिवर्त्तनो का जिक्र किया गया था। ये परिवर्त्तन उस आर्थिक क्रांति के साथ या बाद में आये जिसने मध्य युग का खात्मा करके बुर्जुआ वर्ग को ऊपर चढ़ाया था। आखिरी खत में मैंने पश्चिमी योरप के ईसाई साम्राज्य के टूटने और दो फिरको प्रोटेस्टेन्ट और रोमन कैथलिक में बँट जाने का जिक्र किया था। इन दोनो फिरको की धार्मिक लड़ाई का खास मैदान जर्मनी बना हुआ था, क्योंकि वहाँ दोनो दल करीब-करीब बराबर की जोड़ के थे। पश्चिमी योरप के दूसरे देश भी कुछ हद तक इस लड़ाई में उलझे हुए थे। लेकिन इंग्लैण्ड योरप की इस मजहबी लड़ाई से अलग था। अपने बादशाह हेनरी के राज्य में इस देश ने बिना किसी अन्दरूनी फिसाद के रोम से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया और अपना निजी चर्च स्थापित कर लिया जो कैथ-लिक और प्रोटेस्टेण्ट चर्चो के बीच का था। हेनरी मजहब की कुछ भी परवाह नहीं करता था। उसे चर्च की जमींदारियो की जरूरत थी; वह उसने ले ली। वह दूसरी शादी करना चाहता था सो वह भी उसने करली। इस तरह रिफार्मेशन का खास नतीजा यह हुआ कि राजा और बादशाह पोप के हथकंडो से बरी हो गये।

जिस वक्त 'रिनैसाँ' और 'रिफ़ार्मेशन' के ये आन्दोलन और आर्थिक उफान योरप के नकशे को बदल रहे थे उस वक्त वहाँ कैसी राजनैतिक घटनायें हो रही थीं? सोलहवी और सत्रहवीं सदियो में योरप का नकशा किस तरह का था? इन दो सौ वर्षो में योरप का नकशा दरअसल बदलता जारहा था। इसलिए हमें सोलहवी सदी के शुरू के नकशे पर गौर करना चाहिए।

दक्षिण-पूर्व में तुर्क लोग कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्जा जमाये हुए थे और उनका साम्राज्य हंगरी की तरफ बढ़ रहा था। दक्षिण पश्चिमी कोने में अरब विजेताओ के वंशज, मुस्लिम सरासीन लोग, ग्रेनेडा से खदेड़कर बाहर निकाल दिये गये और स्पेन फर्डिनेण्ड तथा आइजाबेला के सम्मिलित शासन में एक ईसाई ताक़त बनकर उठ चुका था। स्पेन में ईसाइयो और मुसलमानों की सदियो की मुठभेड़ ने स्पेन निवा-सियो को अपने कैथलिक मजहब से बडे जोश और कट्टरता के साथ चिपके रहने को मजबूर कर दिया था। स्पेन में खौफनाक 'इनक्विजिशन' की जड़ जम गई थी। अमे-रिका की खोज के घमंड और उससे मिलनेवाली दौलत की वजह से स्पेन योरप की राजनीति में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लेने लगा था।

नकशे पर फिर निगाह दौडाओ। इंग्लैंड और फ्रास लगभग वैसे ही थे जैसे कि वे आज है। नकशे के बीच में एक साम्राज्य था जो बहुत-सी जर्मन रियासतो में बँटा हुआ था, इनमें से हरेक करीब-करीब स्वतंत्र था। राजाओं, ड्यूको, पादरियों, निर्वाचको वग़ैरा की मातहत छोटी-छोटी रियासतो का यह एक अजीब झुण्ड था।

इसमें खास इख्तियारात वाले कुछ नगर भी थे और उत्तर के व्यापारिक नगरो ने मिलकर एक संघ भी बना लिया था। इसके बाद स्वीजरलैंड का प्रजातन्त्र था जो असल में स्वतंत्र था लेकिन अभी तक जाहिरा तौर से स्वतन्त्र माना नहीं गया था। वेनिस का प्रजातन्त्र और उत्तर इटली के और भी कई प्रजातन्त्र नगर थे। रोम के चारो ओर पोप की जमीदारी थी, जो 'पैपल स्टेट्स' कहलाती थी। इसके दक्षिण में नेपल्स और सिसली के राज्य थे। पूर्व में जर्मन साम्राज्य और रूस के बीच में पोलैंड और हंगरी का बड़ा राज्य था जिसपर उस्मानी तुर्कों को छाया पड़ रही थी। पूर्व में 'सुनहले फ़िरकें' मंगोलो के चंगुल से निकलकर एक शक्ति-शाली राज्य बन रहे थे। उत्तर और पश्चिम में कुछ और भी देश थे।

सोलहवी सदी के शुरू में योरप की यह हालत थी। ई० सन् १५२० में चार्ल्स पंचम बादशाह हुआ। यह हैप्सवर्ग खानदान का था और जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है, स्पेन, नेपल्स और सिसिली के राज्य और निदरलैंड की विरासत इसके हाथ लग गई। यह एक अजीब बात है कि कुछ बादशाहो की शादियो की वजह से योरप के बहुत से देशों और राष्ट्रो के स्वामी ही बदल गये। करोडो जनता और बडे-बडे देश विरासत में मिल गये। कहीं-कहीं वे दहेज में दिये गये। बम्बई का टापू इसी तरह इंग्लैंड के एक बादशाह चार्ल्स द्वितीय को उसकी स्त्री ब्रैगेंजा (पुर्तगाल)की कैथ-राइन के साथ दहेज में मिला था। इसलिए चतुराई के साथ शादियाँ करके हैप्सबर्गो ने एक साम्राज्य इकट्ठा कर लिया और चार्ल्स पंचम इसका अधिकारी हुआ। यह एक बहुत साधारण आदमी था और खासतौर पर इसलिए मशहूर था कि वह खूब खाता था। लेकिन उस वक़्त तो अपने बडे साम्राज्य के कारण वह योरप में बडा जब-रदस्त जँच रहा था।

जिस साल चार्ल्स सम्राट् हुआ, उसी साल सुलेमान उस्मानी साम्राज्य का स्वामी हुआ। इसके जमाने में यह साम्राज्य पूर्वी योरप की ओर खूब बढ़ा। तुर्क लोग ठेठ वियेना के दरवाजो तक पहुँच गये मगर इस सुन्दर पुराने शहर को जीतने में जरा-सी कसर रह गई। लेकिन हैप्सबर्ग सम्राट् उनके रोब में आगया और उसने सुलेमान को कर के रूप में धन देकर उससे पिंड छुड़ाना ही ठीक समझा।

पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट् का तुर्की के सुलतान को कर देना जरा गौर करने की बात है। सुलेमान 'प्रतापी सुलेमान' के नाम से मशहूर है। उसने सम्राट् का खिताब अपने आप ले लिया क्योंकि वह अपने आपको पूर्व बिजेण्टाइन सीजरों का प्रतिनिधि समझता था।

सुलेमान के समय में कुस्तुन्तुनिया में इमारतें बनाने का काम बडे जोरों से हुआ।

बहुत-सी सुन्दर मसजिदें बनवाई गई । इटली में कलाओ का जैसा पुनर्जीवन हो रहा था वैसा ही पूर्व में भी होता हुआ नजर आरहा था । कलाओ की यह जागृति सिर्फ कुस्तुन्तुनिया में ही नही थी बल्कि ईरान और मध्य-एशिया के खुरासान में भी बडे सुन्दर चित्र बनाये जारहे थे ।

हम देख चुके हैं कि किस तरह उत्तर-पश्चिम से बाबर ने आकर हिन्दुस्तान में एक नया राजघराना कायम किया । यह ई० सन् १५५६ की बात है, जब चार्ल्स पंचम योरप में सम्राट था और सुलेमान कुस्तुन्तुनिया में राज कर रहा था । बाबर और उसके योग्य वारिसो के बारे में हमें अभी बहुत-कुछ कहना है । यहां तो सिर्फ यह बात ध्यान में रखने की है कि बाबर खुद 'रिनेसा' के राजाओ के ढंग का राजा था । लेकिन वह उस वक्त के यूरोपियन नमूनो से कही अच्छा था । वह एक खतरनाक कामो में दिलचस्पी लेनेवाला बहादुर सूरमा था, जिसे साहित्य और कला से बड़ा प्रेम था । उस समय इटली में भी ऐसे राजा थे जो साहसी और साहित्य और कला के प्रेमी थे और जिनके राजदरबारो में ऊपरी तड़क-भड़क और शान-शौकत भी थी । फ्लोरेंस का मेडीसी और बोर्जिया खानदान मशहूर थे । लेकिन इटली के ये राजा लोग, और उस वक्त योरप के भी ज्यादातर राजा, मैकियावैली के सच्चे अनुयायी थे । ये धर्म-अधर्म का विचार न करनेवाले, साजिश करनेवाले और स्वेच्छाचारी थे और अपने विरोधियो का काम तमाम करने के लिए जहर का प्याला और कातिल का छुरा भी इस्तेमाल करते थे । सूरमा बाबर की इस गिरोह से तुलना करना वैसे ही अनुचित है, जैसे इनके टुच्चे राजदरबारो की दिल्ली या आगरे के मुगल सम्राटों—अकबर, शाहजहां वगैरा—के दरबार से तुलना करना खयाल से बाहर की बात है । कहा जाता है कि ये मुगल दरबार बडे शानदार थे और शायद इनके जैसी शान-शौकत और तड़क-भड़क के दरबार कभी रहे ही नही ।

योरप का जिक्र करते-करते, हम, अनजाने ही, हिन्दुस्तान की बातो को ले बैठे । लेकिन मै तुम्हे यह बतलाना चाहता था कि योरप के 'रिनैसाँ' के समय हिन्दुस्तान और दूसरे देशो में क्या हो रहा था ? उस समय तुर्की, ईरान, मध्य-एशिया और हिन्दुस्तान में भी कला सम्बन्धी जागृति हो रही थी । चीन में मिंग राजाओ का शान्तिमय और सुखमय जमाना था जब कि कला और कारीगरी बहुत ऊँचे दर्जे पर पहुँच चुकी थी । लेकिन रिनैसाँ-काल की यह सारी कला, शायद चीन को छोड़कर, बहुत-कुछ दरबारी कला थी । यह प्रजा की कला न थी । इटली में कुछ मुख्य-मुख्य कलाकारो के मरने के बाद, जिनमें से कइयों के नाम मैं लिख चुका हूँ, पिछले रिनैसाँ-युग की कला बिलकुल नीचे दर्जे की और मामूली बन गई ।

इस तरह सोलहवी सदी का योरप कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट राजाओ के बीच में बँटा हुआ था। उस वक्त राजाओं की गिनती थी, रैयत की नही। इटली, आस्ट्रिया, फ्रास, और स्पेन कैथलिक थे; जर्मनी आधा कैथलिक और आधा प्रोटेस्टेण्ट था; इंग्लैंड सिर्फ इसलिए प्रोटेस्टेण्ट था कि उसके बादशाह की ऐसी मर्जी थी; और चूँकि इंग्लैंड प्रोटेस्टेण्ट था इसलिए आयर्लैण्ड के लिए कैथलिक बने रहने की काफी वजह थी, क्योकि इंग्लैड उसे जीतने और तंग करने की कोशिश करता था। लेकिन यह कहना सिर्फ एक हद तक ही सही है कि प्रजा का मजहब किसी गिनती में ही न था। अन्त में जाकर जनता के मज़हब का भी असर पड़ता था और इसके कारण बहुत-सी लड़ाइयाँ और क्रान्तियाँ हुई है। मज़हबी पहलू को राजनैतिक या आर्थिक पहलुओ से अलग करना मुश्किल है। मेरे ख़याल से, मैं तुम्हे पहले यह बतला चुका हूँ कि रोम के खिलाफ़ प्रोटेस्टेण्टो की बग़ावत खास तौर पर वहीं हुई जहाँ नया व्यापारी-वर्ग जोर पकड़ रहा था। इससे हम समझ सकते है कि धर्म और व्यापार के बीच सम्बन्ध था। इसी तरह बहुतसे राजा लोग धार्मिक सुधार-आन्दोलन से इसलिए डरते थे कि कही इसकी आड़ में गदर न फैल जाय और उनका अधिकार न छिन जाय। अगर कोई आदमी पोप के धार्मिक शासन को नामंजूर करने के लिए तैयार हो जाता, तो क्या उसके लिए यह मुमकिन न होता कि वह बादशाह या राजा के राजनैतिक शासन को भी न माने? बादशाहों के लिए यह नियम बड़ा ख़तरनाक था। वे अभीतक यही मानते थे कि उनको राज्य करने का अधिकार परमात्मा की तरफ़ से मिला हुआ है। प्रोटेस्टेण्ट राजा भी इस विचार को छोड़ने के लिए तैयार न थे।

इस तरह, बावजूद रिफार्मेशन के, योरप में बादशाहो का बोलबाला था और वे सर्वशक्तिमान थे। पहले कभी वे इतने स्वेच्छाचारी न थे, क्योकि बडे-बडे माण्डलिक सरदार और सामन्त उनपर दबाव डालते रहते थे और अक्सर उनकी सत्ता को भी मानने से इन्कार कर देते थे। व्यापारी और मध्यम वर्ग के लोग इन माण्डलिक सरदारो से खुश न थे और न बादशाह ही इनको पसंद करता था। इसलिए व्यापारी और कृषक-वर्ग की मदद से बादशाह ने सरदारो को दबा दिया और खुद बहुत शक्तिशाली बन बैठा। हालाकि मध्यम-वर्ग ने अपनी ताकत और अपना महत्व बहुत बढ़ा लिया था, मगर अभी वह इतना ताकतवर नहीं हुआ था कि बादशाह के कामों में दख़ल देसके। लेकिन थोडे ही अर्से के बाद मध्यम-वर्ग बादशाह के बहुत से कामो का विरोध करने लगा। खासकर उसने बार-बार लगाये जानेवाले भारी करो का और धर्म के मामलों में दखल देने का विरोध किया। बादशाह को

ये बाते बिल्कुल अच्छी न लगी। वह इस बात से बहुत चिढ़ा कि इन लोगो ने उसके किसी भी काम का विरोध करने की हिम्मत की। इसलिए उसने इनको जेल में ठूंस दिया और दूसरी सजायें भी दी। उन दिनो कैद की सजा बादशाह की मर्जी पर निर्भर होती थी, जैसा कि आजकल हिन्दुस्तान में है, क्योकि हम अंग्रेज सरकार के आगे सर झुकाने से इन्कार करते हैं। बादशाह व्यापार में भी दखल देता था। इससे हालत और भी बिगड़ती गई और बादशाह का विरोध बढ़ने लगा। बादशाहो की तानाशाही को दबाने के लिए उनके खिलाफ मध्यम-वर्ग की यह लड़ाई सदियो तक चलती रही और इसे खत्म हुए ज्यादा अर्सा नहीं हुआ। कई बादशाहो के सर उड़ा दिये जाने के बाद कहीं जाकर बादशाहो के दैवी अधिकार का खयाल हमेशा के लिए खत्म हो गया और बादशाह अपनी असली जगह पर पहुँचा दिये गये। कुछ देशों में यह जीत जल्दी हो गई और कुछ में देर से। आगे के पत्रो में हम इस लड़ाई के उतार-चढ़ाव का जिक्र करेंगे।

लेकिन सोलहवी सदी में योरप में करीब-करीब सब जगह बादशाह की धाक थी—पूरे तौर पर नही बल्कि क़रीब-करीब। तुम्हे याद होगा कि स्वीजरलैण्ड के गरीब पहाडी किसानो ने हैप्सबर्ग के बादशाह का मुकाबिला करने की हिम्मत दिखलाई थी और अपनी आजादी हासिल करली थी। इस तरह मनमानी तानाशाही के यूरोपियन समुद्र में स्वीजरलैण्ड का छोटा-सा कृषक प्रजातन्त्र राज्य एक टापू के समान था जिसमें बादशाहो के लिए कोई जगह न थी।

जल्द ही एक दूसरे देश—निदरलैण्ड—में भी मामले ने तूल पकड़ा और जनता और धर्म की आजादी की लड़ाई लडी जाकर फ़तह हासिल करली गई। यह एक छोटा-सा देश है, लेकिन यह लड़ाई बडी जबरदस्त थी, क्योकि यह उस जमाने में योरप की सबसे जबरदस्त शक्ति—स्पेन—के खिलाफ लडी गई थी। इस तरह निदरलैण्ड ने योरप को रास्ता बतलाया। इसके बाद इंग्लैण्ड में भी जनता की आजादी के लिए एक लड़ाई हुई, जिसमें एक बादशाह को अपने सिर से हाथ धोना पड़ा और उस वक्त की पार्लमेंट की जीत हुई। इस तरह निदरलैण्ड और इंग्लैण्ड ने तानाशाही के खिलाफ मध्यमवर्ग की लड़ाई में सबसे आगे कदम बढ़ाया और चूंकि इन मुल्को में मध्यमवर्ग की जीत हुई इसलिए नई परिस्थितियो का फायदा उठाकर ये और देशों से आगे बढ़ गये। दोनो ने, आगे चलकर, शक्तिशाली जहाजी बेडे बनाये; दोनों ने दूर-दूर देशों से व्यापार कायम किया और दोनो ने एशिया में साम्राज्य की नींव रक्खी।

इन खतो में अभीतक हमने इंग्लैण्ड के बारे में ज्यादा नहीं लिखा है।

लिखने के लिए कुछ था भी नही; क्योकि इंग्लैण्ड योरप का कोई महत्त्वपूर्ण देश नहीं था। लेकिन अब एक तब्दीली आती है और जैसा कि आगे बतलाया जायगा, इंग्लैंड बडी तेजी के साथ आगे बढ़ता है। हम 'मैग्नाचार्टा', पार्लमेण्ट की शुरुआत, किसानों में असंतोष और शाही खानदानो के आपसी झगडों का जिक्र कर चुके है। इन लड़ाइयो मे बादशाहो के हाथ से खून और हत्यायें आमतौर पर हुईं। माण्डलिक सरदारों और सामन्तो की एक बहुत बडी संख्या लड़ाइयो में काम आई, जिससे उनका बल बहुत घट गया। उन्होने तानाशाही का खूब अभिनय किया। आठवाँ हेनरी टच्यूडर था और उसकी लड़की एलिजाबेथ भी टच्यूडर थी।

सम्राट पंचम चार्ल्स के बाद साम्राज्य के टुकडे-टुकडे हो गये। स्पेन और निदरलैण्ड उसके पुत्र द्वितीय फिलिप के हिस्से में आये। उस वक्त सबसे ताकतवर बादशाहत होने की वजह से स्पेन सारे योरप के ऊपर सिर उठाये हुए था। तुम्हे याद होगा कि पेरू और मैक्सिको उसके कब्जे में थे और अमेरिका से सोने की नदी उसके पास चली आ रही थी। लेकिन कोलम्बस, कोर्टे और पिजारो की जन्मभूमि होकर भी स्पेन नई परिस्थितियो से फायदा नहीं उठा सका। व्यापार में उसे कोई दिलचस्पी नही थी। उसे अगर परवा थी तो ऐसे धर्म की जो बड़ा ही कट्टर और बेरहम था। सारे देश में इनक्विजिशन की तूती बोलती थी और काफिर कहे जानेवालो को दिल दहलानेवाली तकलीफें दी जाती थीं। समय-समय पर बडे आम जलसे किये जाते थे और इन 'क़ाफिर' स्त्री-पुरुषों के झुंड-के-झुड बादशाह, शाही खानदान, राजदूतो और हजारों मनुष्यो के सामने बडी-बडी चिताओ पर जिन्दा जला दिये जाते थे। सबके सामने जिन्दा जलाने के काम को धार्मिक कार्य कहा जाता था। इस तरह की बातें आज कितनी खौफनाक और खूंख़ार मालूम पडती है। पर इस जमाने का योरप का इतिहास हिंसा, खूँख्वारी, वहशियाना बेरहमी और मजहबी कठमुल्लेपन से इस कदर भरा हुआ है कि उसपर यकीन करना मुश्किल है।

स्पेन का साम्राज्य ज्यादा दिनो तक न टिक सका। छोटे-से हालैण्ड की बहादुरी ने उसे बिल्कुल हिला डाला। कुछ दिनो बाद, सन् १५८८ ई० में, इंग्लैंड को जीतने की कोशिश बिल्कुल बेकार गई और स्पेन की फौजो को ले जानेवाला 'अजेय आर्मेडा' इंग्लैण्ड तक पहुँच भी न सका। समुद्री तूफ़ान ने उसे तहस-नहस कर डाला। इसमें ताज्जुब की कोई बात नही है, क्योकि 'आर्मेडा' का कमाण्डर समुद्र या जहाजो के बारे में कुछ न जानता था। दरअसल उसने बादशाह फिलिप द्वितीय के पास जाकर यह प्रार्थना भी की थी कि उसे इस काम का भार न सौंपा जाय क्योंकि उसे समुद्री लड़ाई के बारे में कुछ भी जानकारी न थी और वह अच्छा

नाविक भी न था। लेकिन बादशाह ने जवाब दिया कि स्पेन के जहाजी बेड़े का सचालन तो खुद ईसा मसीह करेगे।

इस तरह धीरे-धीरे स्पेन का साम्राज्य गायब होता गया। चार्ल्स पंचम के ज़माने में यह कहा जाता था कि उसके साम्राज्य में सूरज अस्त नही होता। यही कहावत आजकल के एक अभिमानी और मद में चूर साम्राज्य के बारे में भी अक्सर दोहराई जाती है।

: ८६ :

निदरलैण्ड की आज़ादी की लड़ाई

२७ अगस्त, १९३२

पिछले खत में मैंने तुम्हे बतलाया था कि सोलहवी सदी में करीब-क़रीब सारे योरप में बादशाहो का कितना ज़ोर हो गया था। इंग्लैण्ड में ट्यूडर थे और स्पेन और आस्ट्रिया में हैप्सबर्ग थे। रूस, जर्मनी और इटली के ज्यादातर हिस्सों में स्वेच्छाचारी राजाओं का राज्य था। फ्रांस में खासतौर पर ऐसा राजा था जिसकी हुकूमत बिलकुल निजी और मनमानी थी, यानी सारा साम्राज्य बादशाह की करीब-करीब व्यक्तिगत जायदाद समझा जाता था। कार्डिनल रिशलू नाम के एक बडे योग्य मंत्री ने फ्रांस और उसकी बादशाहत को मजबूत बनाने में बडी मदद की। फ़ास का हमेशा यह खयाल रहा है कि उसकी ताकत और हिफाज़त जर्मनी की कमज़ोरी में है। इसलिए रिशलू ने, जो खुद एक कैथलिक पादरी था और फ़ांस में प्रोटेस्टेण्टो को बडी बेरहमी से कुचल रहा था, जर्मनी में प्रोटेस्टेण्टो को उलटा उकसाया। ऐसा करने का उद्देश्य यह था कि जर्मनी में अन्दरूनी लड़ाई-झगडे और अशान्ति बढ़े, जिससे वह कमज़ोर हो जाय। यह नीति कामयाब भी खूब हुई। जैसा कि आगे ज़िक्र किया जायगा, जर्मनी में बडे ज़बरदस्त घरेलू झगडे पैदा हो गये, जिन्होने देश का सत्यानाश कर दिया।

फ्रांस मे भी सत्रहवी सदी के बीच में गृह-युद्ध हुआ, जो फ़्रॉद का युद्ध कहलाता है। लेकिन बादशाह ने उमरावो और व्यापारियो दोनो को कुचल दिया। उमरावो के हाथ से कुछ ताकत तो रह ही नहीं गई थी, लेकिन अपनी तरफ मिलाये रखने के लिए बादशाह ने उन्हे बहुत-सी सहूलियते देदीं। उनको क़रीब-करीब कुछ भी टैक्स न देनें पड़ते थे। उमराव लोग और पादरी दोनो ही टैक्सो से बरी थे। टैक्सो का सारा बोझ आम जनता और खासकर किसानो पर पड़ता था। इन गरीब

अभागों को चूसकर जो धन इकट्ठा किया जाता था उससे बड़े-बड़े आलीशान महल बनाये गये और बड़े ठाठ-बाट का दरबार बादशाह के नजदीक पैदा हो गया। पेरिस के पास जो वर्साई नगर है उसका तुमको ख़याल होगा। वहाँके आलीशान महल, जिनको देखने के लिए आजकल लोग जाते हैं, सत्रहवी सदी में फ्रांस के किसानो के खून से बने थे। वर्साई स्वेच्छाचारी और खुदमुख्तार बादशाहत का नमूना समझा जाता था, और इसमें कुछ भी ताज्जुब की बात नहीं कि इसी वर्साई ने फ्रांस की उस राज्य-क्रान्ति की नींव डाली जिसने तमाम बादशाहत का ही खात्मा कर दिया। लेकिन उन दिनो राज्य-क्रान्ति फिर भी बहुत दूर थी। उस समय चौदहवाँ लुई बादशाह था, जो 'महान् बादशाह' कहलाता था, और यह वह 'सूरज' था जिसके चारो तरफ दरबार के ग्रह चक्कर लगाते रहते थे। उसने ७२ साल के लम्बे समय तक, यानी १६४३ से १७१५ ई० तक, राज्य किया और उसका प्रधान मंत्री मैजारिन नामक एक दूसरा बड़ा कार्डिनल था। ऊपर-ऊपर तो बड़ा राग-रंग और विलास था और साहित्य, विज्ञान और कला पर शाही कृपा थी, लेकिन शान-शौकत की इस पतली चादर के नीचे बड़ी गरीबी, तकलीफ और तड़प थी। वह ज़माना सुन्दर नकली बालों और लैस के कफो तथा कीमती पोशाको का था, लेकिन जिस शरीर पर ये चीज़ें पहनी जाती थी उसे शायद ही कभी नहलाया जाता था और वह मैल और गन्दगी से भरा रहता था।

हम सबपर शान-शौकत और तड़क-भड़क का बड़ा असर पड़ता है, इसलिए अगर अपने शासन-काल में चौदहवे लुई ने योरप पर अपना काफ़ी सिक्का जमा लिया था तो इसमें ताज्जुब की कोई बात नही है। वह बादशाहो में नमूना समझा जाता था और दूसरे उसकी नकल करने की कोशिश करते थे। लेकिन यह 'महान बादशाह' आखिर था क्या? मशहूर अंग्रेज़-लेखक कार्लाइल ने लिखा है—"अपने चौदहवे लुई पर से बादशाहत का चोगा उतार दो तो सिवा, एक भद्दी दो जडो वाली मूली के, जिसमें अजीब तौर से सिर बना दिया गया हो, और कुछ नहीं रहता।" यह बयान भोंडा ज़रूर है, मगर शायद बहुत से लोगो—क्या राजा और क्या प्रजा—पर लागू हो सकता है।

चौदहवे लुई का इतिहास हमको १७१५ ई० यानी अठारहवी सदी के शुरू तक ले आता है। इस समय तक योरप के दूसरे मुल्को में बहुत-कुछ हो गया था और इनमें से कुछ घटनायें तो हमारे लिए ध्यान देने लायक हैं।

निदरलैंड की स्पेन के खिलाफ़ बगावत का हाल मैं तुमको बतला चुका हूँ। उनकी यह बहादुराना लड़ाई अच्छी तरह गौर करने लायक है। जे० एल० मोटले नामक एक अमेरिकन ने आज़ादी की इस लड़ाई का मशहूर इतिहास लिखा है, जो बड़ा रोचक और दिलचस्प है। साढे तीन सौ वर्ष पहले योरप के इस छोटेसे कोने

में जो कुछ हुआ उसके इस हृदय-स्पर्शी वर्णन से ज्यादा दिलचस्प कोई उपन्यास मैं नहीं जानता। इस किताब का नाम 'राइज़ ऑफ दि डच रिपब्लिक' है[1] और मैंने इसे जेल में पढ़ा है। जेल के बाहर शायद ही मुझे इसे पढ़ने का वक्त मिलता। इसके लिए मुझे जेल को कितना धन्यवाद देना चाहिए!

निदरलैण्ड में हालैण्ड और बेल्जियम दोनो शामिल है। इनका नाम ही यह बतलाता है कि ये नीची जमीन में है। इनके बहुत-से हिस्से समुद्र की सतह से दर-असल नीचे है और उत्तरी समुद्र के पानी को रोकनें के लिए बडे-बडे बाँध और और दीवारे बनाई गई है। इन्हे 'डाइक' कहते है। ऐसे देश के निवासी, जहाँ उनको हमेशा समुद्र से लड़ना पड़ता है, जन्म से ही मजबूत और निडर मल्लाह होते है और समुद्र-यात्रा करनेवाले अक्सर व्यापार का पेशा करनें लगते है। इसलिए निदरलैण्ड के निवासी व्यापारी हो गये। वे ऊनी कपडे और दूसरी चीजें तैयार करने लगे और पूर्वी देशों के गरम मसाले भी ले जाने लगे नतीजा यह हुआ कि ब्रुग्स, घेण्ट और खासकर एण्टवर्प जैसे मालदार और तिजारती शहर वहाँ खडे हो गये। जैसे-जैसे पूर्वी देशो से व्यापार बढ़ता गया वैसे-वैसे इन शहरो की दौलत भी बढ़ती गई और सोलहवीं सदी में एण्टवर्प योरप का व्यापारिक केन्द्र या राजधानी बन गया। कहते है कि उसकी मंडी में रोज पाँच हजार व्यापारी इकट्ठे होकर आपस में सौदा करते थे; उसके बन्दर में एकसाथ ढाई हजार जहाज लंगर डाले रहते थे। रोजमर्रा करीब-करीब पांच सौ जहाज वहाँ आते-जाते थे। इन्ही व्यापारी वर्गों के हाथ में इन शहरो के शासन की बागडोर थी।

यह व्यापारियो की ठीक ऐसी जाति थी जो 'रिफार्मेशन' के नये धार्मिक खयालो की ओर झुक सकती थी। यहाँ पर खासकर उत्तरी भागों में, प्रोटेस्टेण्ट मत फैलने लगा। विरासत के इत्तफाक से हैप्सबर्ग का पाँचवाँ चार्ल्स और उसके बाद उसका पुत्र दूसरा फिलिप निदरलैण्ड का राजा हुआ। इन दोनो में से कोई भी किसी भी तरह की राजनैतिक या मजहबी आजादी को सहन नही कर सकता था। फ़िलिप ने शहरो के अधिकारियो को और नये मत को कुचल डालना चाहा। उसने एल्वा के ड्यूक को गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा, जो अपनी बेरहमी और ज़ुल्म के लिए मशहूर हो गया है। 'इनक्विजिशन' कायम हुआ और एक 'खूनी मजलिस' बनाई गई जिसने हजारो को जिन्दा जला दिया, या फांसी पर लटका दिया।

यह एक बडी लम्बी कहानी है, जिसे मैं यहाँ बयान नहीं कर सकता। जैसे-जैसे

१ यह पुस्तक हिन्दी मे 'नरमेध' के नाम से सस्ता साहित्य मण्डल से प्रकाशित हुई है। इसकी कीमत १।।) है।

स्पेन का अत्याचार बढ़ता गया, उसका मुक़ाबिला करने की ताकत भी लोगो मे बढ़ती गई। उनमें प्रिंस विलियम ऑफ ऑरेञ्ज, जो विलियम दि साइलेन्ट (शात विलियम) भी कहलाता है, नामक एक ऐसा बड़ा और बुद्धिमान नेता पैदा हुआ, जिसका मुकाबिला एल्वा का ड्यूक नही कर सकता था। १५६८ ई० में "इनक्विजिशन' ने, कुछ थोडेसे आदमियो के सिवा, निदरलैण्ड के सारे निवासियो को काफिर करार देकर मौत की सजा दे दी। यह एक अजीब और इतिहास मे लासानी फैसला था,जिसने तीन-चार लाइनो में ही तीस लाख आदमियों को इतना बड़ा दण्ड दे दिया।

शुरू में तो यह लड़ाई निदरलैण्ड के अमीरों और स्पेन के बादशाह के बीच ही चलती मालूम पडी। दूसरे देशो में बादशाह और अमीरो की जो लड़ाइयाँ चल रही थीं, उन्ही जैसी यह भी थी। एल्वा ने उनको कुचल डालने की कोशिश की और बहुत-से अमीरो को ब्रसेल्स में फांसी पर चढ़ना पड़ा। इन फॉसी दिये जानेवालो में से काउण्ट एग्मौंट नामक एक लोकप्रिय और मशहूर अमीर भी था। इसके बाद एल्वा को जब रुपये की तंगी मलूम पड़ने लगी तो उसने नये-नये भारी टैक्स लगाने की कोशिश की। इससे जब व्यापारी-वर्ग की जेबो पर असर पड़ा तो उन लोगो ने बगावत करदी। इसके साथ-साथ कैथलिक और प्रोटेस्टेण्टों के बीच भी झगड़ा चल रहा था।

स्पेन एक बड़ा जबरदस्त राज्य था, जिसे अपने बड़प्पन का बड़ा घमण्ड था; उधर बेचारे निदरलैण्ड में सिर्फ़ व्यापारियो और बेदम और फिजूल-खर्च अमीरो के कुछ सूबे थे। दोनो में कोई बराबरी न थी। लेकिन फिर भी इनको दबाना स्पेन के लिए मुश्किल हो गया। बार-बार कत्लेआम होते रहते थे; नगरों के तमाम निवासियो को मौत के घाट उतार दिया जाता था। आदमियो को कत्ल करने के मामले में एल्वा और उसके सेनापति चंगेज खा और तैमूर की बरावरी कर रहे थे। कभी तो वे इन मंगोलो से भी आगे बढ़ जाते थे। एल्वा एक के बाद दूसरे शहर पर घेरा डाल रहा था और शहर के युद्ध-कला से अनजान पुरुष और अक्सर औरते भी एल्वा के सैनिको से जल और थल पर तब-तक लड़ते थे जबतक कि भोजन का अभाव उनके लिए लड़ाई जारी रखना नामुमकिन न कर देता था। स्पेन की गुलामी इख्तियार करने के बदले अपनी जिन्दगी की तमाम कीमती चीजो के विनाश को बेहतर समझकर हालैंड-निवासियो ने 'डाइक' तोड़ डाले, जिससे उत्तरी समुद्र के पानी की बाढ़ स्पेन की फौजो को डुबो दे और उन्हे देश से बाहर निकाल दे। जैसे-जैसे लड़ाई गहरी होती गई वैसे-ही-वैसे उसमें कडाई भी आती गई और दोनो पक्ष बहुत ही ज्यादा बेरहम हो गये। सुन्दर हार्लेम नगर का घेरा एक मार्के की घटना

है। इन लोगो ने आखिरी दम तक शहर की रक्षा की। लेकिन अन्त वही हुआ—हस्व-मामूल स्पेन के सैनिको द्वारा कत्लेआम और लूटपाट। इसी तरह अल्कमार का घेरा भी है, लेकिन यह नगर 'डाइक' तोड़ने से बच गया। और लीडन को जब दुश्मनों ने घेर लिया तो भूख और महामारी से हजारो आदमी मर गये। लीडन के पेडो में एक भी हरा पत्ता बाकी न रहा था। लोगो ने सब खा डाले। घरो पर जूठन के टुकडों के लिए स्त्री और पुरुष भुखमरे कुत्तो तक से छीना-झपटी करते लेकिन फिर भी वे लडे जाते थे और शहर की दीवारों पर से सूखकर काँटा हुए और भूख से अधमरे लोग दुश्मन को चुनौती देते थे और स्पेनवालो से कहते थे कि वे चूहे, कुत्ते और चाहे जो कुछ खाकर जिन्दा रहेगे लेकिन हार न मानेगे। "और जब हमारे सिवा कुछ भी बाकी न रहेगा तो यकीन रक्खो कि हममें से हरेक अपने बायें हाथ को खा डालेगा और दाहिने हाथ को विदेशी जालिमो से अपनी औरतों, अपनी आजादी और अपने धन की रक्षा करने के लिए बचा रक्खेगा। अगर परमात्मा भी नाराज होकर हमें विनाश की गोद में छोड़ दे और सारी आसाइशें हमसे छीन ले तो भी हम तुमको भीतर घुसने से रोकने के लिए हमेशा मुस्तैद रहेगे। जब हमारी आखिरी घडी आ जायगी तो हम खुद अपने ही हाथों से शहर में आग लगा देंगे और पुरुष, स्त्रियाँ, बच्चे सब एकसाथ आग में जलकर मर जायँगे, बजाय इसके कि हम अपने घरों को भ्रष्ट होने और अपने हको को कुचल जाने दें।"

लीडन के निवासियो में ऐसा उत्साह था। लेकिन जैसे दिन-पर-दिन बीतते जाते और कही से मदद की सूरत नजर नही आती थी वैसे ही उनकी मायूसी भी बढ़ती जाती थी। आखिर उन्होने हालैंड की जागीरो के अपने दोस्तों को संदेश भेजा। इन जागीरो ने यह जबरदस्त फैसला किया कि लीडन को शत्रुओ के हाथ में जाने देने से यह बेहतर है कि अपने प्यारे देश को पानी में डुबो दिया जाय। "खोये हुए देश से डूबा हुआ देश अच्छा है।" और उन्होने घोर संकट में पडे हुए अपने साथी शहर को यह जवाब भेजा—"ऐ लीडन, हम तुझे संकट में छोड़ने की बनिस्बत यह बेहतर समझेंगे कि हमारा सारा देश और हमारी सारी सम्पत्ति समुद्र की लहरो से नष्ट हो जाय।"

आखिरकार एक के बाद दूसरा 'डाइक' तोड़ दिया गया और हवा की मदद पाकर समुद्र का पानी भीतर घुस गया और उसके साथ हालैंड के जहाज खाना और सहायता लेकर पहुँचे। इस नये दुश्मन समुद्र से डरकर स्पेन के सैनिक जल्दी मे भाग खडे हुए। इस तरह लीडन बच गया और उसके निवासियो की वीरता की यादगार में सन् १५७५ ई० में लीडन का विश्वविद्यालय कायम किया गया, जो तबसे आज तक मशहूर है।

बहादुरी और ख़ौफ़नाक क़त्ल की ऐसी कितनी ही कहानियाँ है। सुन्दर एण्टवर्प में बड़ा भयकर कत्लेआम और लूटमार हुई जिसमें आठ हज़ार आदमी मारे गये। इसे 'स्पेन-कोप' (Spanish Fury) कहा जाता था।

लेकिन इस जबरदस्त लड़ाई में हालैण्ड ने ही ज्यादातर हिस्सा लिया, निदरलैण्ड के दक्षिणी हिस्से ने नही। स्पेन के शासक घूस और दबाव से निदरलैण्ड के बहुत-से अमीरों को अपनी तरफ़ मिला लेने में कामयाब हो गये और उनके ज़रिये उन्हीके देशवासियो को कुचलवाया। उनको इस बात से बडी मदद मिली कि दक्षिण में प्रोटेस्टेण्टो से कैथलिको की तादाद बहुत ज्यादा थी। उन्होने कैथलिको को मिलाने की कोशिश की और कुछ हद तक वे कामयाब भी हो गये। और भला अमीर-उमरा! यह कहते हुए शर्म लगती है कि इन लोगो में से बहुत-से स्पेन के बादशाह से अपने लिए दौलत और रुतबे हासिल करने की खातिर देश-द्रोह और धोखेबाज़ी में कितने नीचे गिर गये थे! भले ही उनके कामो से देश जहन्नुम में चला जाय! फूट डालकर हुकूमत करने की साम्राज्यो की यह पुरानी नीति है। हमने यहाँ अपने देश मे भी इस नीति का पूरी तरह अमल में लाया जाना देखा है। बहुतसे लोग इसके फन्दे में फँस गये है और बहुत-से हिन्दुस्तानियो ने देश को धोखा देने का काम किया है।

निदरलैण्ड की एक आम सभा में भाषण देते हुए विलियम ऑफ ऑरेञ्ज ने कहा था—"निदरलैण्ड को कुचलने वाले कुछ निदरलैण्ड के लोग ही है। एल्वा के ड्यूक को जिस ताक़त का घमड है वह अगर तुम्हारी ही—निदरलैण्ड के नगरो की—दी हुई नहीं है, तो कहाँ से आई? उसके जहाज़, रसद, धन, हथियार, सैनिक, ये सब कहाँ से आये? निदरलैण्ड के लोगो के पास से।"

इस तरह, आख़िरकार, स्पेन वाले निदरलैण्ड के उस हिस्से को अपनी ओर मिला लेने में कामयाब हुए जो आज मोटे तौर पर बेलजियम कहलाता है। लेकिन हरचन्द कोशिश करने पर भी वे हालैण्ड को क़ाबू में न लासके। यहाँ यह बात ख़ास तौर पर गौर करने लायक है कि लड़ाई के दौरान में, करीब-क़रीब उसके खतम होने तक, हालैण्ड ने स्पेन के फिलिप द्वितीय की मातहती से कभी इन्कार नहीं किया। वे उसे अपना बादशाह मानने के लिए तैयार थे, बशर्ते कि वह उनके हको को मान लेता। लेकिन आख़िरकार उनको उससे सम्बन्ध तोड़ना ही पडा। उन्होने अपने महान् नेता विलियम के सिर पर ताज रखना चाहा, लेकिन उसने इन्कार कर दिया। इस तरह परिस्थिति ने उनको, अपनी इच्छा के विरुद्ध, प्रजातन्त्र बनने के लिए मजबूर किया, हालांकि उस जमाने में राज-परम्परा का बहुत जोर था।

हालैण्ड की यह लड़ाई कितने ही वर्षों तक चली। सन् १६०९ ई० में कही जाकर हालैंड आजाद हुआ। लेकिन निदरलैण्ड में असली लड़ाई १५६७ से १५८४ ई० तक रही। स्पेन का फिलिप द्वितीय जब विलियम आफ ऑरेन्ज को हरा न सका तो उसने उसे एक हत्यारे के जरिये मरवा डाला। उसकी हत्या के लिए उसने एक सार्वजनिक इनाम का ऐलान किया। उस जमाने में योरप की नैतिकता ऐसी ही थी। विलियम को मारने की कितनी ही कोशिशें नाकामयाब हुई। १५८४ ई० में छठवीं वार की कोशिश में कामयाबी हुई, और यह महापुरुष—जो हालैंड भर में 'पिता विलियम' के नाम से पुकारा जाता था—मारा गया; लेकिन उसका काम खतम हो चुका था। बलिदान और कष्टों की भट्ठी में से निकलकर डच रिपब्लिक (हालैण्ड का प्रजातन्त्र राष्ट्र) तैयार हो गई थी। बेरहम और स्वेच्छाचारी शासकों का मुकाबिला करने से हरेक देश और जाति को फ़ायदा पहुँचता है। इससे नसीहत मिलती है और ताकत बढती है। मजबूत और स्वावलम्बी हालैंड बहुत जल्दी एक बडी समुद्री ताकत बन गया और बहुत दूर पूर्व तक उसका साम्राज्य फैल गया। बेलजियम, जो हालैंड से अलग हो गया था, स्पेन के ही कब्जे में रहा।

योरप की इस तस्वीर को पूरा करने के लिए अब हमें जर्मनी की तरफ देखना चाहिए। यहाँ १६१८ से १६४८ ई० तक एक जबरदस्त घरेलू झगड़ा रहा, जो 'तीस साल का युद्ध' कहलाता है। यह लडाई कैथलिक और प्रोटेस्टेण्टों के बीच हुई और जर्मनी के छोटे-छोटे राजा और निर्वाचक आपस में, और साम्राट् से भी, लडे; और फ़्रांस के कैथलिक बादशाह ने प्रोटेस्टेण्टो को शह दी, सिर्फ इसलिए कि यह गड़बडी जरा बढ़ जाय। आखिरकार स्वीडन का बादशाह गस्टावस अडोल्फ़स—जो 'उत्तर का शेर' कहलाता था—चढ़कर आया और उसने सम्राट को हराकर प्रोटेस्टेण्टों को बचा लिया। लेकिन जर्मनी का सत्यानाश हो चुका था। पैसे के गर्जी सैनिक लुटेरे बन गये थे। उन्होंने चारों तरफ लूट-खसोट मचा रक्खी थी। यहाँतक कि फौजों के सेनापति भी सिपाहियो की तनख्वाह या खूराक के लिए पैसा न रहने पर लूटमार करने लगे। और खयाल करो कि यह सब लगातार तीस साल तक होता रहा! कत्लेआम, सत्यानाश और लूटमार साल-दर-साल चलते रहे। ऐसी हालत में व्यापार बिलकुल नही हो सकता था, और न खेतीबाडी ही हो सकती थी। इसलिए दिन पर दिन खाने की चीजें कम होती गई और फाकाकशी बढ़ने लगी। और इसका लाजिमी नतीजा यह हुआ कि डाकू बढ़ने लगे और लूटमार ज्यादा होने लगी। जर्मनी एक तरह से पेशेवर और पैसे के गर्जी सिपाहियो का क्रीड़ास्थल बन गया।

आखिरकार यह लडाई खतम हुई—जबकि शायद लूटने के लिए कुछ भी

बाकी न रहा। लेकिन जर्मनी को यह नुकसान पूरा करने और अपनी हालत सुधारने में बहुत लम्बा वक्त लगा। १६४८ ई० में 'वेस्टफ़ैलिया' की सुलह के जरिये इस घरेलू लड़ाई का खातमा हो गया। इससे पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् एक परछाई-भर रह गया और उसमें कुछ भी ताकत न रही। फ़ांस ने एक बड़ा टुकड़ा, आल्सस, ले लिया, जिसपर दो सौ वर्ष से अधिक उसका कब्जा रहा। बाद में उसे यह टुकड़ा फिर ले उठे हुए जर्मनी को लौटाना पड़ा। लेकिन १९१४-१८ ई० के यूरोपीय महायुद्ध के बाद फ्रांस नें इसे फिर ले लिया। इस तरह इस सुलह से फ्रांस को फायदा हुआ। लेकिन अब जर्मनी में एक दूसरी ताक़त पैदा होगई, जो आगे चलकर फ्रांस के रास्ते का काँटा बन गई। यह प्रशिया था, जिसपर 'हॉयनज़ॉलर्न' का घराना राज्य करता था।

वेस्टफ़ैलिया की सुलह ने, आखिरकार, स्वीजर्लैण्ड और हालैण्ड के प्रजातन्त्रों को मान लिया।

मैंने तुमको कैसी लड़ाइयो, हत्याओ, लूटमार और मजहबी कट्टरपन की कहानी सुनाई है। लेकिन यही उस रिनेसां के बाद का योरप था, जिसमें कला और साहित्य ने इतनी तरक्की की थी। मैंने योरप का मुकाबिला एशिया के देशो से किया है और उस नई जिन्दगी का जिक्र किया है जो उस वक्त योरप में हिलोरे मार रही थी। इस नई जिन्दगी को कोई भी मुसीबतों के बीच आगे बढ़ते हुए देख सकता है। नये बालक और नये युग का जन्म बड़ी तकलीफो के साथ हुआ करता है। जब जड़ में आर्थिक खोखलापन हो तो उसके ऊपर समाज और राजनीति दोनो डावाडोल होने लगते है। योरप की यह नई जिन्दगी बिलकुल स्पष्ट है। लेकिन इसके चारो ओर कितना जंगली आचरण है! उस जमाने का यह उसूल था—"झूठ बोलने की विद्या ही राज्य की विद्या है।" उस वक्त का सारा वातावरण ही धोखेबाजियो और साजिशो, हत्या और अत्याचार से भरा था, और ताज्जुब तो यह होता है कि लोग इसे बर्दाश्त किस तरह करते थे!

: ८७ :

इंग्लैण्ड ने अपने बादशाह का सिर उड़ा दिया

२९ अगस्त, १९३२

अब हम कुछ वक्त इंग्लैड के इतिहास को देंगे। अभीतक हमने ज्यादातर इसे दरगुजर किया है क्योंकि मध्यकालीन युग में वहाँ कोई ऐसी खास बात नही

हुई। यह देश फ्रांस और इटली से भी पिछड़ा हुआ था। हाँ, ऑक्सफर्ड-विश्वविद्यालय बहुत पहले एक विद्या का केन्द्र मशहूर हो चुका था और कुछ दिन बाद केम्ब्रिज की भी शोहरत होगई। वाइक्लिफ, जिसके बारे में मैं पहले लिख चुका हूँ, ऑक्सफर्ड की ही देन था।

इंग्लैंड के प्रारंभिक इतिहास में खास दिलचस्पी की चीज पार्लमेण्ट का विकास है। शुरू से ही अमीर-उमरा की यह कोशिश थी कि बादशाह के अधिकारों को महदूद कर दिया जाय। १२१५ ई० में मैग्नाचार्टा बना। इसके कुछ दिन बाद पार्लमेण्ट की शुरुआत दिखलाई पड़ती है। शुरू-शुरू की ये बातें अधकचरी-सी थीं। उस वक्त जो बड़े-बड़े अमीर-उमरा और पादरी थे वही बढ़ते-बढ़ते हाउस ऑफ लार्ड्स (लार्डसभा) के रूप में संगठित हो गये। लेकिन आखिरकार सबसे महत्वपूर्ण जो चीज बनी वह थी एक चुनी हुई कौंसिल, जिसमें नाइट लोग, छोटे-छोटे जमींदार और शहरों के कुछ नुमाइन्दे शामिल थे। यही चुनी हुई कौंसिल बढ़कर आगे "हाउस ऑफ कॉमन्स" (कॉमन्स सभा) की शक्ल में तब्दील हो गई। ये दोनो कौंसिले या सभायें जमींदारों और धनवान लोगों की थीं। कॉमन्स सभा के लोग भी कुछ दौलतमन्द जमींदारों और व्यापारियो के नुमाइन्दे थे।

कॉमन्स सभा के हाथ में कुछ भी ताकत नहीं थी। वे लोग बादशाह के पास अर्जियाँ भेजते थे और लोगों की शिकायतें पेश करते थे। धीरे-धीरे वे टैक्सों के मामले में भी दखल देने लगे। उनकी मर्जी के बिना नये टैक्सों का जारी करना या वसूल करना बहुत मुश्किल था; इसलिए बादशाह ने ऐसे टैक्स लगाने के बारे में उनकी मंजूरी लेने का रिवाज शुरू कर दिया। आमदनी पर अधिकार हमेशा एक बड़ी ताकत होती है, इसलिए पार्लमेण्ट और खास कर कॉमन्स सभा का जैसे-जैसे यह अधिकार बढ़ता गया वैसे ही वैसे उसकी ताकत और उसकी शान भी बढ़ती गई। अक्सर कॉमन्स सभा और बादशाह में मतभेद होने लगे। लेकिन फिर भी पार्लमेण्ट एक कमजोर चीज थी और ट्यूडर शासक, जैसा कि मैं पहले बतला चुका हूँ, करीब-करीब स्वेच्छाचारी राजा थे। लेकिन ट्यूडर लोग चालाक थे और वे पार्लमेण्ट से लड़ाई मोल लेना बचा जाते थे।

इंग्लैंड योरप की खौफनाक मजहबी लड़ाइयों से बचा रहा। मजहबी झगड़ों, दंगे-फिसादों और कट्टरपन की बहुत ज्यादती रही, और औरतों की एक बड़ी तादाद जिन्दा जला दी गई, क्योंकि उन्हें जादूगरनियाँ समझा गया था। लेकिन योरप के मुकाबिले में इंग्लैंड में फिर भी, शान्ति रही। आठवें हैनरी के राज्यकाल में यह समझा जाने लगा कि इंग्लैंड ने प्रोटेस्टेण्ट मत को मान लिया है। देश में बहुत-से कैथलिक

जरूर थे, मगर बहुत-से कट्टर प्रोटेस्टेण्ट भी थे। लेकिन नया 'चर्च ऑफ इंग्लैंड' कुछ-कुछ इन दोनों के बीच का था; और हालांकि वह अपने को प्रोटेस्टेण्ट कहता था मगर प्रोटेस्टेण्ट की बनिस्बत कैथलिक ज्यादा था, और सच पूछें तो वह राज्य का एक महकमा था जिसका हाकिम खुद बादशाह था। हाँ, रोम और पोप से रिश्ता बिलकुल टूट चुका था और बहुत-से 'एन्टी-पोपरी' (पोप-विरोधी) दंगे हुए। रानी एलिजाबेथ (यह आठवे हैनरी की लड़की थी) के वक्त मे पूर्वी देशों और अमेरिका के जो नये समुद्री रास्ते खुले और व्यापार की नई-नई गुंजाइशें हुई उन्होंने बहुत-से लोगो को अपनी तरफ खीचा। स्पेन और पुर्तगाल के जहाजियों की कामयाबी से खिचकर और दौलत मिलने के लालच से इंग्लैंड ने भी समुद्र का रास्ता पकड़ा। सर फ्रांसिस ड्रेक वगैरा शुरू में समुद्री डाकू बन गये और अमेरिका से आनेवाले स्पेन के जहाजो को लूटने लगे। इसके बाद ड्रेक ने दुनिया का चक्कर लगाने के लिए जबरदस्त यात्रा की। सर वाल्टर रैले ने एटलांटिक समुद्र को पार करके उस देश के पूर्वी किनारे पर उपनिवेश या बस्तियाँ बसाने की कोशिश की जिसे आज युनाइटेड स्टेट्स या संयुक्त राष्ट्र, अमेरिका कहते है। वर्जिन (अविवाहित) रानी एलिजाबेथ की तारीफ में इसे वर्जिनिया नाम दिया गया। रैले ही पहला आदमी था जो अमेरिका से तमाखू पीने का रिवाज योरप में लाया। इसके बाद स्पेनिश आर्मेडा आया और इस घमंड-भरे हौसले के पूरी तौर पर नाकामयाब हो जाने से इंग्लैंड को बहुत-कुछ उत्साह मिला। इन बातों का बादशाह और पार्लमेण्ट के झगडे से कोई ताल्लुक नहीं है, सिवा इसके कि लोगो का ध्यान इन बातो में लग गया और देश से बाहर के मामलो की तरफ़ बँट गया। लेकिन ट्यूडरो के जमाने में भी भीतर-ही-भीतर आग सुलग रही थी।

एलिजाबेथ का जमाना इंग्लैंड के सबसे अच्छे जमानो में से है। एलिजाबेथ एक महान् रानी थी और उसके वक्त में इग्लैंड में बहुत-से बडे-बडे काम करनेवाले पैदा हुए। लेकिन इस रानी और उसके साहसी सूरमाओ से भी बढ़कर थे इस पीढ़ी के कवि और नाटककार, और अमर विलियम शेक्सपीयर इन सबसे भी ऊपर है। इसके नाटक सारी दुनिया में मशहूर है, हालाँकि निजी तौर पर इसके बारे में हम बहुत कम जानते है। यह उन लेखको के उस चमकनेवाले समूह में से एक था जिसने अंग्रेजी भाषा के भडार को बेशुमार बेशकीमत हीरो से भर दिया है, जो हमारे दिल की कली को खिला देते है। एलिजाबेथ के जमाने की छोटी-छोटी गीत-कविताओ में भी एक विशेष रस है जो औरो में नहीं पाया जाता। ये बडी सीधी और मीठी जबानो में बड़े मजे के साथ गाई जाती है और रोजमर्रा की बाते एक

निराले ही ढंग से बयान करती है। इस ज़माने का ज़िक्र करते हुए लिटन स्ट्राची नामक एक अंग्रेज़ समालोचक हमको बतलाता है कि "एलिज़ाबेथ-काल के इन महान् व्यक्तियों की ऊँची और सुन्दर भावना ने इंग्लैंड को एक ही पीढ़ी में जादू के जैसी नाटकों की ऐसी गौरव से भरी विरासत भेंट की है जो दुनिया में आजतक बेजोड़ है।"

भारत में अकबर महान् की मौत के ठीक दो वर्ष पहले, १६०३ ई० में, एलिज़ाबेथ की मौत हुई। उसके बाद स्कॉटलैंड का तत्कालीन राजा गद्दी पर बैठा, क्योंकि वारिसों में वही सबसे नज़दीकी रिश्तेदार था। वह पहला जेम्स हुआ और इस तरह इंग्लैंड और स्कॉटलैंड का एक सम्मिलित राज्य बन गया। जिस बात को इंग्लैंड खून-खराबी से न पासका वही शान्ति-पूर्वक होगई। जेम्स राजाओं के दैवी अधिकार का हामी था और पार्लमेण्ट को पसन्द नहीं करता था। वह एलिज़ाबेथ की तरह होशियार भी नहीं था और जल्दी ही पार्लमेण्ट और उसके बीच झगड़ा पैदा हो गया। इसीके राज्य-काल में इंग्लैंड के बहुतसे कट्टर प्रोटस्टेण्ट अपनी जन्मभूमि को हमेशा के लिए छोड़ गये और अमेरिका में बसने के लिए १६२० ई० में 'मेफ्लावर' नामक जहाज से रवाना हो गये। वे जेम्स प्रथम की मनमानी की मुख़ालफत करते थे और नये 'चर्च ऑफ इंग्लैंड' को नापसन्द करते थे, क्योंकि वे उसे काफी तौर पर प्रोटेस्टेण्ट नहीं समझते थे। इसलिए वे अपने घर और देश को छोड़ गये और अटलांटिक समुद्र के पार नये जंगली देश के लिए रवाना हुए। वे उत्तरी किनारे के एक मुकाम पर उतरे, जिसे उन्होंने न्यू प्लेमाउथ का नाम दिया। उनके बाद और भी कितने ही लोग पहुँचे और धीरे-धीरे पूर्वी किनारे पर इन बस्तियों की तादाद बढ़ते-बढ़ते तेरह तक पहुँच गई। ये बस्तियाँ बाद में मिलकर 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका' यानी अमेरिका का संयुक्त राष्ट्र बन गई। लेकिन यह तो अभी बहुत बाद की बात है।

जेम्स प्रथम का पुत्र था चार्ल्स प्रथम। १६२५ ई० में उसके गद्दी पर बैठने के बाद, मामला बहुत बिगड़ गया। इसलिए १६२८ ई० में पार्लमेण्ट ने उसको एक 'पिटीशन ऑफ राइट' यानी अधिकारों का प्रार्थनापत्र पेश किया जो इंग्लैंड के इतिहास में एक महत्वपूर्ण खरीता है। इस अर्जी में कहा गया था कि बादशाह स्वेच्छाचारी शासक नहीं है। वह गैरकानूनी तौर पर न तो प्रजा पर टैक्स लगा सकता है और न उसे गिरफ्तार करवा सकता है। वह सत्रहवीं सदी में भी वह बात नहीं कर सकता था जो आज बीसवीं सदी में हिन्दुस्तान का अँग्रेज़ वाइसराय कर सकता है—यानी आर्डिनेन्स जारी करना और प्रजा को जेल में डाल देना।

जब उसको यह बतलाया गया कि उसे क्या करना चाहिए, क्या नहीं तो चार्ल्स ने खीझकर पार्लमेण्ट को तोड़ दिया और उसके बिना ही शासन करने लगा। लेकिन

कुछ ही वर्ष बाद उसे रुपये की इतनी तंगी महसूस हुई कि दूसरी पार्लमेण्ट बुलानी पड़ी। पार्लमेण्ट के बिना चार्ल्स ने जो कुछ किया उसपर लोग बहुत नाराज़ थे और नई पार्लमेण्ट तो उससे लड़ाई मोल लेने का मौका ही ताक रही थी। दो साल में ही, १६४२ ई० में, गृह-युद्ध शुरू हो गया जिसमें एक तरफ तो था बादशाह, जिसकी मदद पर बहुत से अमीर-उमरा और फौज का ज्यादातर हिस्सा था, और दूसरी तरफ थी, पार्लमेण्ट, जिसके मददगार थे धनी व्यापारी और लंदन के नागरिक। कई वर्षों तक यह लड़ाई चलती रही, और आखिकार पार्लमेण्ट की तरफ एक बड़ा भारी नेता, ओलिवर क्रॉमवैल, उठ खड़ा हुआ। वह बड़ा ज़बर्दस्त संगठन करनेवाला, कड़ा अनुशासन रखनेवाला और अपने उद्देश्य में कट्टर विश्वास रखनेवाला था। कार्लाइल[१] ने क्रॉमवैल के बारे में लिखा है—"लड़ाई के मायूसी पैदा करनेवाले ख़तरों में, युद्धक्षेत्र की विकट परिस्थितियों में, और उस वक़्त जब कि सब निराश हो जाते थे, उसके भीतर उम्मीद की रोशनी, दहकती हुई आग की तरह चमकती थी।" क्रॉमवैल ने एक नई फौज का संगठन किया—इसको 'लौह शरीर' (Ironsides) कहते थे—और उसको अपने खुद के अनुशासित उत्साह और जोश से भर दिया। पार्लमेण्ट की फौज के 'प्यूरिटन्स' (पवित्रता के पालकों) ने चार्ल्स के 'कैवैलियर्स' (घुड़-सवारों) का मुकाबिला किया। आख़िरकार क्रामवैल की जीत हुई और बादशाह चार्ल्स पार्लमेण्ट का कैदी हो गया।

पार्लमेण्ट के बहुत से मेम्बर अब भी बादशाह से समझौता करना चाहते थे, लेकिन क्रॉमवैल की फ़ौज इस बात को सुनना भी नही चाहती थी और इस फौज के एक अफसर कर्नल प्राइड ने बेधड़क पार्लमेण्ट भवन में घुसकर ऐसे मेम्बरो को निकाल बाहर किया। इस घटना को 'प्राइड्स पर्ज' यानी प्राइड की सफाई कहा जाता है। यह उपाय बड़ा सख्त था और पार्लमेण्ट का गौरव बढ़ानेवाला न था। अगर पार्लमेण्ट ने बादशाह की मनमानी का विरोध किया तो ख़ुद पार्लमेण्ट की सेना ही एक दूसरी ऐसी ताकत बन गई जो ख़ुद पार्लमेण्ट की कानूनी बातो की परवाह नहीं करती थी। क्रान्तियाँ इसी तरह हुआ करती हैं।

कॉमन्स सभा के बचे हुए मेंबरो ने—जिनको 'रम्प पार्लमेण्ट' का नाम दिया गया था—लार्ड सभा के विरोध करने पर भी चार्ल्स पर मुक़दमा चलाने का फैसला

१. कार्लाइल—यह अंग्रेजी भाषा का बहुत बड़ा इतिहास और निबंध-लेखक होगया है। अपने समय के साहित्यिक, धार्मिक और राजनैतिक विचारो पर उसका बड़ा भारी प्रभाव था। यह स्कॉटलैण्ड का रहनेवाला था। इसका समय १७९५ से १८८१ है।

कर लिया और उसे 'ज़ालिम, देश-द्रोही, हत्यारा और देश का शत्रु' क़रार देकर फाँसी की सज़ा दे दी। १६४७ ई० में इस शख्स का, जो उनका बादशाह रह चुका था और राजाओं के दैवी अधिकार की बात करता था, लंदन के 'व्हाइट हॉल' में सिर उड़ा दिया गया।

राजा लोग भी उसी तरह मरते हैं जिस तरह मामूली आदमी मरते हैं। इतिहास बतलाता है कि इनमें से बहुतो की मौत बडी भयंकर हुई है। मनमानी और बादशाहत ये गुप्त हत्याओ और हत्याओ को जन्म देते हैं और इंग्लैंड के बादशाहों ने अबतक काफी गुप्त हत्यायें करवाईं थी। लेकिन एक चुनी हुई सभा का अपने आपको अदालत मानने की हिम्मत करना, बादशाह का न्याय करना, उसे फाँसी की सज़ा देना और फिर उसका सिर उड़वा देना, एक बिलकुल नई और हैरत में डालने वाली बात थी। यह एक निराली बात है कि अंग्रेज़ों ने, जो हमेशा से कट्टर और तब्दीलियो के ख़िलाफ रहे है, इस तरह से इस बात का उदाहरण पेश कर दिया कि एक बेरहम और देशद्रोही राजा के साथ कैसा बर्ताव किया जाना चाहिए। लेकिन यह काम सारी अंग्रेज़ जाति का नहीं समझना चाहिए जितना कि क्रॉमवैल के अनुयायियों (Ironsides) का।

इस घटना से योरप के बादशाहो, सीज़रो, राजाओ और छोटे-मोटे शाही खान-दान वालो को बड़ा धक्का पहुँचा। अगर आम लोग इतने दुस्साहसी हो जायें और इंग्लैंड के उदाहरणो पर चलने लगें तो उनका क्या हाल होगा? अगर बस चलता तो इनमें से बहुत से इंग्लैंड पर हमला करके उसे कुचल डालते, लेकिन इंग्लैंड की बागडोर उस वक्त किसी निकम्मे बादशाह के हाथों में न थी। पहली दफ़ा इंग्लैंड एक प्रजातन्त्र बना था और उसकी हिफाज़त करने के लिए क्रॉमवैल और उसकी फौज तैयार थी। क्रॉमवैल क़रीब-करीब डिक्टेटर था। वह 'लार्ड-प्रोटैक्टर' यानी रक्षक स्वामी कहलाता था। उसकी कडी और अच्छी हुकूमत में इंग्लैंड की ताकत बढ़ने लगी और उसके जहाज़ी बेडे ने हालैंड, फ़्रान्स और स्पेन के बेडों को खदेड़ दिया। पहली ही बार इंग्लैंड योरप की एक ख़ास समुद्री ताकत बन गया।

लेकिन इंग्लैंड का यह प्रजातन्त्र ज्यादा दिन नहीं टिका, चार्ल्स प्रथम की मौत के बाद ग्यारह वर्ष भी न बीतने पाये कि १६५८ ई० में क्रॉमवैल की मृत्यु हो गई और दो वर्ष बाद प्रजातन्त्र का भी अन्त हो गया। चार्ल्स प्रथम का पुत्र, जिसने भागकर दूसरे देशो में शरण ली थी, इंग्लैण्ड लौट आया। उसका स्वागत किया गया और चार्ल्स द्वितीय के नाम से उसे गद्दी पर बिठाया गया। यह दूसरा चार्ल्स एक कमीना और चरित्रहीन आदमी था और बादशाहत को वह ख़ाली एक मौज उड़ाने का साधन समझता था। लेकिन वह चतुर इतना था कि पार्लमेण्ट का ज्यादा विरोध

नही करता था। असल में फ़्रान्स का बादशाह उसे छिपे-छिपे धन की मदद देता था। क्रॉमवैल के वक्त में इंग्लैंड ने योरप में जो नाम पैदा किया था वह गिर गया और हालैंड का जहाजी बेड़ा टेम्स नदी तक में घुसकर अंग्रेजी बेडे को आग लगा गया।

चार्ल्स द्वितीय के बाद उसका भाई जेम्स द्वितीय गद्दी पर बैठा और उसने फौरन ही पार्लमेण्ट से झगड़ा ठान लिया। जेम्स कट्टर कैथलिक था और पोप की ताकत को इंग्लैंड में कायम करना चाहता था। लेकिन मजहब के बारे में अंग्रेज लोगो के विचार चाहे जैसे रहे हो—और ये विचार काफी धुँधले भी थे—लेकिन उनमें से ज्यादातर लोग पोप और पोपलीला के बिलकुल खिलाफ़ थे। इस फैली हुई विचारधारा के खिलाफ़ जेम्स कुछ भी न कर सका। उल्टा पार्लमेण्ट की नाराजगी मोल लेने की वजह से उसे जान बचाने के लिए फ़्रान्स भाग जाना पड़ा।

एकबार फिर पार्लमेण्ट ने बादशाह पर फ़तेह पाई, लेकिन इसबार बिलकुल शान्ति के साथ और बिना घरेलू लड़ाई-झगडे के। बादशाह तो भाग ही चुका था। देश बिना बादशाह का हो गया था। लेकिन अब इंग्लैण्ड दुबारा प्रजातन्त्र होनेवाला नहीं था। कहा जाता है कि अंग्रेज अपने ऊपर एक स्वामी चाहता है और इससे भी ज्यादा वह शाही शान-शौकत और तड़क-भडक से प्रेम करता है। इसलिए पार्लमेण्ट को एक नये बादशाह की तलाश हुई और उनको उसी ऑरेञ्ज के घराने का एक बादशाह मिल गया जिसने सौ वर्ष पहले स्पेन के खिलाफ निदरलैण्ड की उस बडी आजादी की लड़ाई का नेतृत्व करने के लिए 'विलियम दि साइलैण्ट' को पैदा किया था। इस वक्त एक दूसरा ऑरेञ्ज का शहजादा विलियम था, जिसने अंग्रेजी शाही घराने की मेरी से विवाह किया था। बस, विलियम और मेरी १६८८ ई० में इंग्लैण्ड के संयुक्त शासक बना दिये गये। अब तो पार्लमेण्ट ही सबसे बडी शक्ति थी और पार्लमेण्ट में भेजे हुए नुमाइन्दो के जरिये जनता के हाथ में राज्य शक्ति देनेवाली इंग्लैण्ड की राज्यक्रान्ति पूरी हो चुकी थी। उसदिन से आजतक किसी भी ब्रिटिश बादशाह या बेगम की यह हिम्मत नहीं हुई है कि पार्लमेण्ट की सत्ता को मानने से इन्कार करे। लेकिन सीधे तौर पर विरोध या इन्कार करने के अलावा भी साजिश करने और दबाव डालने के सैकडो तरीके हो सकते हैं, और कई ब्रिटिश बादशाहों ने इन उपायो का सहारा लिया है।

पार्लमेण्ट का पूरा अधिकार हो गया था। लेकिन यह पार्लमेण्ट थी क्या? यह खयाल न करना कि वह इंग्लैण्ड के लोगो की नुमाइन्दा थी। वह तो उनके एक छोटे से हिस्से की नुमाइन्दा थी। जैसा कि उसके नाम से जाहिर होता है, लार्ड सभा तो लार्डो या बडे-बडे जमीदारों और पादरियों की नुमाइन्दा थी; और कॉमन्स सभा ऐसे

दौलतमन्द आदमियों की सभा थी जोकि या तो जमीन-जायदादों के मालिक थे या बड़े-बड़े व्यापारी। वोट देने का अधिकार बहुत कम लोगों को था। आज से सौ वर्ष पहले तक इंग्लैण्ड में कितने ही 'जेबी निर्वाचन क्षेत्र' (Pocket Boroughs) थे यानी ऐसे निर्वाचन क्षेत्र जो किसी-न-किसी की जेब में ही रहते थे। सारे निर्वाचन क्षेत्र में मेम्बर को चुननेवाले सिर्फ एक या दो ही वोटर होते थे! कहा जाता है कि १७९३ ई० में कॉमन्स सभा के ३०६ मेम्बरों का चुनाव सिर्फ १६० वोटरों ने किया था। ओल्ड-सारम नाम की एक जमीदारी से दो मेम्बर पार्लमेण्ट में भेजे जाते थे। इससे तुमको मालूम होगा कि ज्यादातर जनता को वोट देने का हक न था और पार्लमेण्ट में उनके नुमाइन्दे बिलकुल न थे। कॉमन्स सभा आम लोगों की सभा होने का दावा नहीं कर सकती थी। वह उन मध्यम वर्गों की भी प्रतिनिधि नहीं थी जो नगरों में बनते जारहे थे। वह तो सिर्फ जमीदार वर्ग और कुछ धनी व्यापारियों की प्रतिनिधि थी। पार्लमेण्ट की सीटें बाकायदा बेची और खरीदी जाती थीं और रिश्वतखोरी का बाजार खूब गर्म था। ये सब बातें सौ वर्ष पहले यानी ठेठ १८३२ ई० तक होती थीं, जब कि बड़े आन्दोलन के बाद 'रिफार्म बिल' (शासन-सुधार कानून) पास हुआ और कुछ ज्यादा लोगों को वोट देने का हक मिला।

हम देखते हैं कि बादशाह पर पार्लमेण्ट की फतेह का मतलब था मुट्ठीभर धनवानों की फतेह। असल में इंग्लैण्ड पर हुकूमत करनेवाले यही मुट्ठीभर जमींदार थे जिनमें इक्के-दुक्के व्यापारी भी शामिल थे। बाकी के तमाम वर्गों का, जिनसे कि लगभग सारा राष्ट्र बना हुआ था, इसमें कुछ भी हाथ न था।

इसी तरह तुमको यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि स्पेन से आजादी की महान लड़ाई के कारण हॉलैण्ड का जो प्रजातन्त्र राज्य बना वह भी धनवानों का ही प्रजातन्त्र था।

विलियम और मेरी के बाद मेरी की बहिन एनी इंग्लैण्ड की रानी हुई। १७१४ ई० में जब उसकी मृत्यु हुई तो आगे कौन राजा बनाया जाय, इस पर फिर कुछ दिक्कत हुई। आखिरकार पार्लमेण्ट को बादशाह चुनने के लिए जर्मनी जाना पड़ा। उन्होंने एक जर्मन को चुना, जो उस वक्त हनोवर का शासक था, और उसे इंग्लैण्ड का जार्ज प्रथम बना दिया। शायद पार्लमेण्ट ने उसे इसलिए चुना कि वह कमअक्ल था और जरा भी चतुर न था, और एक बेवकूफ बादशाह रखने में कम खतरा था बनिस्बत एक ऐसा चतुर बादशाह रखने के जो पार्लमेण्ट के कामों में टाँग अड़ावे। जार्ज प्रथम अंग्रेजी तक न बोल सकता था; अंग्रेजी बादशाह अंग्रेजी जबान तक से अपरिचित था। उसका लड़का भी, जो जार्ज द्वितीय हुआ, शायद ही कुछ

अंग्रेजी जानता हो। इस तरह इंग्लैण्ड में 'हनोवर का घराना' (House of Honover) या हनोवर का शाही खानदान, क़ायम किया गया जो आजतक वहाँ राज कर रहा है। इसे राज्य करना नहीं कहा जासकता क्योंकि राज्य और शासन तो पार्लमेण्ट करती है। चार जार्जो के बाद विलियम चतुर्थ हुआ। उसके बाद तिरसठ साल के लम्बे समय तक विक्टोरिया का राज रहा और उसके बाद एडवर्ड सप्तम हुआ। इस श्रेणी में अन्तिम नम्बर जार्ज पंचम का है जो आजकल इंग्लैण्ड के बादशाह हैं[1]।

सोलहवी और सत्रहवी सदियों में आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड के बीच बहुत गड़-बड़ और झगड़ा रहा। आयर्लैण्ड को जीतने की कोशिश और बगावत और हत्यायें, एलिजाबेथ और जेम्स प्रथम के शासन-काल में बराबर जारी रहीं। आयर्लैण्ड के उत्तर में, अल्स्टर में जेम्स ने बहुत सी जमीन-जायदाद जब्त करली और स्कॉटलैण्ड से प्रोटेस्टेण्टों को लाकर वहाँ बसा दिया। तब से ये प्रोटेस्टेण्ट प्रवासी वहीं है और इनके कारण आयर्लैण्ड के दो टुकडे हो गये है; आयर्लैण्ड वासी और स्कॉटलैण्ड के प्रवासी, या रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेंण्ट। दोनों के बीच में बडी कट्टर दुश्मनी रही है और इग्लैण्ड ने तो इस फूट से फायदा उठाया ही है। हमेशा से ही राज्य करनेवाले फूट डालकर शासन करने की नीति में विश्वास रखते है। आजकल भी आयर्लैण्ड के सामने सबसे बडी समस्या अल्स्टर की है।

इंग्लैण्ड की घरेलू लड़ाई के जमाने में आयर्लैण्ड में अंग्रेजो की बहुत हत्यायें हुईं। क्रॉमवैल ने इसका बदला आयर्लैण्ड के निवासियो की हत्यायें करके निकाला। इस बात को आयर्लैण्ड वाले आजतक बडे गुस्से के साथ याद करते है। इसके बाद और लड़ाई हुई, समझौता हुआ और इनको अंग्रेजो ने तोड़ भी डाला— आयर्लैण्ड की तकलीफो का यह इतिहास बड़ा लम्बा और दु.ख-भरा है।

यह जानकर तुम्हें शायद दिलचस्पी होगी कि गुलिवर्स ट्रैवल्स[2] का लेखक जोनाथन स्विफ्ट इसी जमाने में यानी १६६७ से १७४५ ई० में हुआ था। इस मशहूर किताब का बाल-साहित्य में बड़ा ऊँचा स्थान है, लेकिन वास्तव में वह तत्का-लीन इंग्लैण्ड पर एक कड़ुआ निन्दोपाख्यान यानी कहानी के बहाने उस जमाने की

१. १९३६ ई० मे जार्ज पचम की मौत के बाद उनके पुत्र एडवर्ड अष्टम गद्दी पर बैठे लेकिन छ महीने बाद ही उन्होन एक साधारण महिला के प्रेम के कारण गद्दी छोड़दी और अब उनका छोटा भाई जार्ज षष्टम इग्लैंड का बादशाह है।

२. 'गुलिवर्स ट्रैवल्स'—मे डाक्टर गुलिवर की यात्राओ का बडा दिलचस्प बयान है। एकबार वह एक-एक इच के मनुष्यो के देश मे जापहुँचा और दूसरी बार ५०—६० फ़ीट लम्बे मनुष्यो के देश मे।

स्थिति की निन्दा है। 'रॉबिन्स क्रूसो'[२] का लेखक डेनियल डिफो भी स्विफ्ट के ही वक्त में हुआ था।

: ८८ :

बाबर

३ सितम्बर, १९३२

आज हम फिर हिन्दुस्तान की तरफ आते हैं। हमने योरप को काफ़ी समय दिया है और, कई पत्रो में, गड़बड़, लड़ाई-झगडो और युद्धो की गहराई को जानने और सोलहवी और सत्रहवी सदियों में वहाँ क्या हो रहा था, यह समझने की कोशिश की है। मैं नहीं जानता कि योरप के इस ज़माने के बारे में तुम्हारे क्या विचार हुए होंगे। तुम्हारे ख़याल चाहे जो कुछ हों, पर वे ज़रूर मिले-जुले होंगे, और इसमें ताज्जुब की भी कोई बात नहीं है, क्योंकि उस वक़्त योरप एक बड़ा अजीब और झमेलों से भरा देश हो रहा था। लगातार जंगली लड़ाइयाँ, मज़हबी कट्टरपन और बेरहमी, जिसका उदाहरण इतिहास में दूसरी जगह मिलना मुश्किल है, बादशाहों की मनमानी और 'दैवी अधिकार', नीचे गिरे हुए अमीर लोग, और जनता का शर्मनाक तौर पर चूसा जाना। चीन इससे सदियो आगे बढ़ा हुआ मालूम होता था—वह एक सुसंस्कृत, कलामय, सहनशील और क़रीब-क़रीब शान्तिमय देश था। फूट और गिरावट होते हुए भी हिन्दुस्तान बहुत-सी बातो में इससे अच्छा था।

लेकिन इंग्लैंड का भी एक दूसरा और ख़ुशनुमा पहलू दिखाई पड़रहा था। आधुनिक विज्ञान की शुरूआत नज़र आरही थी और लोगो में आज़ादी की भावना ज़ोर पकड़कर बादशाही राज्यसिंहासनो को डावॉडोल कर रही थी। इनकी और बहुत-सी दूसरी हलचलो की वजह, पश्चिम और उत्तर-पश्चिम के देशो का तिजारती और औद्योगिक विकास था। बड़े-बड़े शहर बस रहे थे जो दूर देशो से व्यापार करने वाले सौदागरों से भरे थे और कारीगरो की औद्योगिक हलचल के शोर से गूँज रहे थे। सारे पश्चिमी योरप में 'शिल्प-संघ' (Craft Guilds) यानी शिल्पकारो और कारीगरों के संघ बन रहे थे। यही व्यापारी और औद्योगिक वर्ग 'बुर्जुआ' यानी नया मध्यम वर्ग कहलाया। यह वर्ग बढ़ा तो सही लेकिन इसके रास्ते में बहुत-सी

२. 'राबिन्सन क्रूसो' अंग्रेज़ी की एक बड़ी मशहूर और दिलचस्प किताब है। इसमें एक मल्लाह की कहानी है जिसने लगभग बीस वर्ष अकेले ही एक टापू पर बिताये थे और अपने लिए सब तरह की सहूलियतें इकट्ठी करली थीं।

राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक रुकावटें आईं। राजनैतिक और सामाजिक संगठन में पुरानी सामन्तशाही के निशान अब भी बाकी थे। यह प्रणाली बीते हुए जमाने की थी। वह इस जमाने से मेल नही खाती थी और व्यापार और उद्योग में रुकावट भी डालती थी। सामन्त-सरदार तरह-तरह के टोल और टैक्स वसूल करते थे जिनसे व्यापारी वर्ग को झुँझलाहट पैदा होती थी। इसलिए मध्यमवर्ग ने सामन्तो के अधिकार छीननें की कोशिश करनी शुरू की। बादशाह भी इन सामन्त सरदारो से नाराज था क्योंकि ये लोग उसकी ताकत में भी दखल देना चाहते थे। इसलिए इन सामन्त सरदारो के खिलाफ बादशाह और मध्यवर्ग दोनों मिलकर एक हो गये और उनके असली प्रभाव को मिटा दिया। नतीजा यह हुआ कि बादशाह और भी ज्यादा ताकतवर और स्वेच्छाचारी हो गया।

इसी तरह यह भी महसूस किया गया कि उस जमाने में पश्चिमी योरप की धर्म-संस्था और व्यापार करने के बारे में जो मजहबी खयालात फैले हुए थे वे भी व्यापार और उद्योग की तरक्की में रुकावट डाल रहे थे। खुद मजहब का बहुत-सी बातो में सामन्तशाही से ताल्लुक था और जैसा कि मैं तुमको बतला चुका हूँ, 'चर्च' सब से बड़ा सामन्त सरदार था। बहुत साल पहले कितने ही आदमी और गिरोह रोमन चर्च की आलोचना करने और उसकी हस्ती से इन्कार करने के लिए उठ खडे हुए थे। लेकिन वे कुछ तब्दीली न करा सके। मगर अब सारा बढ़ता हुआ मध्यमवर्ग तब्दीली चाहता था इसलिए सुधार की तहरीक ने बड़ा जोर पकड़ लिया।

ये सब तब्दीलियाँ, और इनके अलावा कितनी ही दूसरी तब्दीलियाँ, जिन पर एक साथ हम पहले विचार कर चुके हैं, उस क्रांति के अलग-अलग पहलू और रुख थे जिसने मध्यमवर्ग को सबसे आगे बढ़ा दिया। पश्चिमी योरप के सब देशो में करीब-करीब यही बात हुई होगी, लेकिन अलग-अलग मुल्को में वह अलग-अलग वक्त में हुई। इस वक्त और इसके बहुत दिन बाद तक भी, उद्योग-धंधो के लिहाज से पूर्वी योरप बहुत-पिछड़ा हुआ था। इसलिए वहाँ कोई तब्दीली न हुई।

चीन और हिन्दुस्तान में शिल्प-सघ थे और शिल्पकारो और कारीगरो की एक बडी भारी तादाद थी। उद्योग-धंधे आगे बढ़े हुए थे और पश्चिमी योरप की बनिस्बत तो बहुत बढ़े हुए थे। लेकिन अभी यहाँ विज्ञान का उतना विकास नहीं था जितना योरप में था और न यहाँ योरप जैसी आम जनता के लिए आजादी की लहर थी। दोनो देशो में मजहबी आजादी और नगरो, गाँवो और गिल्डो यानी सघो में स्थानीय स्वतंत्रता का रिवाज पुराना था। बादशाह की ताकत और मनमानी की लोगों को जरा भी परवाह न थी जबतक कि ये चीजें उनके स्थानीय मामलो में दखल न

डालती हो। दोनो देशो ने एक सामाजिक संगठन बना लिया था, जो बहुत दिनो तक टिका रहा और जो योरप के ऐसे किसी भी सगठन से ज्यादा टिकाऊ था। शायद इस संगठन के टिकाऊपन और मजबूती ने ही तरक्की को रोक रक्खा था। हमने देखा है कि हिन्दुस्तान में फूट और गिरावट का नतीजा यह हुआ कि उत्तरी हिस्से पर मुगल बाबर ने कब्ज़ा कर लिया। मालूम होता है कि लोग आज़ादी की पुरानी आर्य भावना को बिलकुल भूल गये थे और चापलूस बनकर किसी भी शासक की मातहती स्वीकार कर लेते थे और यहाँतक कि मुसलमान भी, जो देश में एक नई ज़िन्दगी लेकर आये थे, मालूम होता है, उतने ही पतित और चापलूस हो गये जितने दूसरे लोग।

इस तरह योरप, उस ज़िंदगी और जोश से भरा हुआ था जिसका पुरानी पूर्वी सभ्यता में अभाव था, और धीरे-धीरे इनसे आगे बढ़ता जा रहा था। उसके निवासी ससार के कोने-कोने में फैल रहे थे। व्यापार और धन की लालच ने उसके जहाज़ियों को अमेरिका और एशिया की ओर खींच लिया था। दक्षिण-पूर्वी एशिया में पुर्तगाल वालो ने मलक्का के अरब साम्राज्य का खातमा कर दिया था। उन्होने हिन्दुस्तान के किनारे-किनारे और पूर्वी समुद्रो में सब जगह चौकियाँ बिठला दी थीं। लेकिन जल्द ही उनके मसालो के व्यापार के प्रभुत्व को हॉलैंड और इंग्लैंड, इन दो नई ताकतो ने छीनना शुरू कर दिया। पुर्तगालवाले पूर्व से खदेड दिये गये और उनका पूर्वी साम्राज्य और व्यापार खतम हो गया। कुछ हद तक हालैंड ने पुर्तगाल की जगह लेली और बहुत से पूर्वी टापुओ पर कब्ज़ा कर लिया। १६०० ई० में रानी एलिज़ाबेथ ने लंदन के व्यापारियो की एक कम्पनी, 'ईस्ट इंडिया कम्पनी', को हिन्दुस्तान में तिजारत करने का फरमान दिया और दो साल बाद 'डच ईस्ट-इडियन कम्पनी' बनी। इस तरह योरप का एशिया को हड़प करने का युग शुरू होता है। बहुत दिनो तक तो यह मलाया और पूर्वी टापुओ तक ही महदूद रहा। मिग राजाओ और सत्रहवीं सदी के बीच में राज करने वाले मंचुओ के शासन-काल में चीन योरप से ज्यादा ताक़तवर था। जापान तो इतना आगे बढ गया कि उसने १६४१ ई० में सब विदेशियो को बाहर निकाल दिया और अपने देश को बाहरवालो के लिए बिलकुल बन्द कर दिया। और हिन्दुस्तान में क्या हुआ ? हिन्दुस्तान की कहानी को हम बहुत पीछे छोड़ आये है इसलिए अब इस कमी को पूरा करना चाहिए। जैसा कि हम देखेंगे, नये मुगल खानदान की मातहत हिन्दुस्तान एक ताक़तवर राज्य बन गया। योरप के हमले का उसे कुछ भी खतरा न था। लेकिन समुद्र पर योरप का कब्ज़ा पहले ही हो चुका था।

इसलिए अब हम हिन्दुस्तान की तरफ़ वापस आते हैं। योरप, चीन, जापान और मलेशिया में हम सत्रहवीं सदी के अख़ीर तक आपहुँचे हैं। हम अठारहवीं सदी के किनारे पर हैं। लेकिन हिन्दुस्तान में अभी तक हम सोलहवीं सदी के शुरू में ही हैं जब कि बाबर यहाँ आया था।

१५२६ ई० में दिल्ली के कमज़ोर और कमीने अफ़गान सुलतान पर बाबर की विजय से हिन्दुस्तान में एक नया ज़माना और नया साम्राज्य—मुगल साम्राज्य—शुरू होता है। बीच में थोड़े समय को छोड़कर यह १५२६ से १७०७ ई० तक यानी १८१ वर्ष तक रहा। ये वर्ष उसकी ताकत और शासन के थे, जबकि हिन्दुस्तान के महान मुग़ल की कीर्त्ति सारे एशिया और योरप में फैल गई थी। इस घराने के छः महान बादशाह हुए, जिनके बाद यह साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े होगया और मराठे, सिख, वग़ैरा ने उसमें से रियासतें बांट लीं। इनके बाद अंग्रेज़ आये जिन्होंने केन्द्रीय शक्ति के विनाश और देश में फैली हुई गड़बड़ से फायदा उठाकर धीरे-धीरे अपना सिक्का जमा लिया।

मैं बाबर के बारे में पहले ही कुछ कह चुका हूँ। चंगेज़ ख़ां और तैमूर के ख़ानदान का होने की वजह से इसमें कुछ-कुछ उनका बड़प्पन और लड़ने की क़ाबलियत थी। लेकिन चंगेज़ के ज़माने से अब तक मंगोल लोग बहुत सभ्य हो गये थे और बाबर जैसा लायक, क़ाबिल और दिलपसंद आदमी उस ज़माने में मिलना मुश्किल था। उसमें जाति-द्वेष बिलकुल न था, न मज़हबी कट्टरता थी और न उसने अपने पुरखों की तरह विनाश ही किया। वह कला और साहित्य का पुजारी था और ख़ुद भी फ़ारसी का कवि था। वह फूलों और बाग़ों से प्रेम करता था और हिन्दुस्तान की गर्मी में उसे अक्सर अपने देश मध्य एशिया की याद आजाती थी। अपने संस्मरणों में उसने लिखा है—"फ़रगना में बनफ़शा के फूल बड़े सुन्दर होते हैं; वह तो गुलेलाला और गुलाब का ढेर है।"

अपने पिता की मृत्यु पर जब बाबर समरकन्द का राजा हुआ तब वह सिर्फ़ ग्यारह वर्ष का बालक था। यह काम आसान न था। उसके चारों तरफ़ दुश्मन थे। इसलिए जिस उम्र में छोटे लड़के और लड़कियाँ स्कूल जाते हैं, उस उम्र में उसे तलवार लेकर लड़ाई के मैदान में जाना पड़ा। उसकी राजगद्दी छिन गई, लेकिन उसने फिर से उसे फतह किया और अपनी तूफ़ानी ज़िन्दगी में उसे कई दिक़्क़तें उठानी पड़ीं। इस पर भी वह साहित्य, कविता और कला का अभ्यासी रहा। महत्वाकांक्षा ने उसे आगे बढ़ने को मजबूर किया। काबुल को जीत कर वह सिंध नदी पार करके हिन्दुस्तान में आया। उसके साथ फौज तो थोड़ी-सी थी

लेकिन उसके पास नई तोपें थीं, जो उन दिनों योरप और पश्चिमी एशिया में काम में लाई जा रही थीं। अफ़गानो की जो बडी भारी फ़ौज उससे लड़ने आई वह इस छोटी सी लेकिन अच्छी तरह सिखाई हुई फौज और उसकी तोपो के आगे तहस-नहस हो गई और विजय बाबर के हाथ लगी। लेकिन उसकी मुसीबतों का खातमा नहीं हुआ और कितनी ही बार उसके नसीब का पलड़ा डाँवाडोल होगया था। एक बार जब वह बहुत खतरे मे था तो उसके सिपहसालारो ने उसे वापस भाग चलने की सलाह दी। लेकिन वह बडी जीवटवाला था और उसने कहा कि वापस भाग जाने से तो वह मौत को बेहतर समझता है। वह शराब से प्रेम करता था। लेकिन इस जिन्दगी और मौत के सवाल के वक्त उसने शराब छोड़ देने का निश्चय किया और अपने सब प्याले तोड़ डाले। इत्तफाक से वह जीत गया और उसने शराब छोड़ने की अपनी प्रतिज्ञा को आखिर तक निभाया।

हिन्दुस्तान में आने के चार वर्ष बाद ही बाबर की मृत्यु हो गई। लेकिन ये चार वर्ष लड़ाई-झगडो में ही बीते और उसे जरा भी आराम न मिला। वह हिन्दुस्तान के लिए एक परदेशी ही रहा और यहाँ के बारे में कुछ न जान सका। आगरे में उसने एक खूबसूरत राजधानी की नींव डाली और कुस्तुन्तुनिया से एक मशहूर कारीगर को बुलवाया। यह वह जमाना था जब शानदार सुलेमान कुस्तुन्तुनिया में इमारते बनवा रहा था। सीनन एक मशहूर उस्मानी (तुर्की) शिल्पकार था। उसने अपने खास शागिर्द यूसुफ को हिन्दुस्तान भेजा।

बाबर ने अपने सस्मरण लिखे है और इस दिलचस्प किताब में बाबर की मनुष्यता की अन्दरूनी झलक मिलती है। उसने हिन्दुस्तान और उसके जानवरो, फूलो, पेड़ों, फलो का वर्णन किया है, यहाँ तक कि मेढको को भी नही छोड़ा है! वह अपने वतन के खरबूजो, अंगूरो और फूलो के लिए रोता है। वह हिन्दुस्तानियो के बारे में बडी मायूसी जाहिर करता है। उसके कहने के मुताबिक तो हिन्दुस्तानियों के पक्ष में कोई बात ही नहीं है। शायद चार वर्षों तक लड़ाइयों में फँसा रहने के कारण वह हिन्दुस्तानियो को पहचान न सका और इस नये विजेता से सभ्य वर्गवाले दूर-दूर भी रहे। शायद एक अजनबी आदमी दूसरे देश के निवासियो की जिन्दगी, और सभ्यता के साथ आसानी से हिलमिल भी नही सकता है। जो कुछ भी हो, उसे न तो अफ़गानो में—जो कुछ दिनों से हिन्दुस्तान में राज कर रहे थे—और न ज्यादातर हिन्दुस्तानियो में ही कोई अच्छी बात नजर आई। वह एक कुशल निरीक्षक था और एक विदेशी की पक्षपात से भरी दृष्टि का खयाल रखते हुए भी उसके बयान से मालूम होता है कि उत्तर भारत की हालत उस वक्त बहुत खराब थी। वह दक्षिण भारत की तरफ़ बिलकुल न जासका।

बाबर ने लिखा है—"हिन्दुस्तान का साम्राज्य बड़ा लम्बा-चौड़ा घना बसा हुआ और मालदार है। उसकी पूर्व, दक्षिण, और पश्चिम की सरहदो पर समुद्र है। उसके उत्तर में काबुल, गजनी और कन्धार है। सारे हिन्दुस्तान की राजधानी दिल्ली है।" यह बात ध्यान में रखने लायक है कि बाबर सारे हिन्दुस्तान को एक देश समझता था हालाँकि जब वह यहाँ आया था तब देश कई राज्यो में टुकडे-टुकडे हो रहा था। हिन्दुस्तान के एक ही देश होने का खयाल इतिहास में शुरू से चला आरहा है।

हिन्दुस्तान का वर्णन करते-करते बाबर लिखता है:

"यह एक बहुत ही खूबसूरत मुल्क है। हमारे देशो के मुकाबिले मे यह एक दूसरी ही दुनिया है। इसके पहाड और नदियाँ, इसके जगल और मैदान, इसके जानवर और पौवे, इसके निवासी और उनकी ज़बाने, इसकी हवा और बरसात, सब एक अलग ही तरह के हैं· · सिंध को पार करते ही जो देश, पेड, पत्थर, खानाबदोश कबीले और लोगो के रस्म और रिवाज दिखलाई पडते है वे ठेठ हिन्दुस्तान के ही है। साँप तक दूसरी तरह के है ·· हिन्दुस्तान के मेंढक गौर करने लायक है। हालाँकि ये उसी जाति के हैं जिस जाति के हमारे यहाँ होते है, लेकिन ये पानी की सतह पर छ-सात गज तक दौड सकते है।"

इसके बाद वह हिन्दुस्तान के जानवरो, फूलो, पेडो और फलो की एक सूची देता है। और इसके बाद वह यहाँ के रहनेवालो का वर्णन करता है:—

"हिन्दुस्तान के देश में इसे अच्छा कहने के लिए आराम की कोई भी चीजें नही है। यहाँ के निवासी खूबसूरत नही हैं। उनको दोस्तो में मिल बैठने की खूबियो का या दिल खोलकर एक दूसरे से मिलने का या आपसी घरू बर्ताव का कुछ भी इल्म नहीं है। उनमें न तो प्रतिभा है, न दिमाग़ की सूझ, न आचरण की नम्रता, न दया या सहानुभूति, न दस्तकारी के कामो का ढाचा बनाने और उनको अच्छी तरह करने की काबलियत और कला कौशल की सूझ, न नकशे और मकानात बनाने की योग्यता या ज्ञान। उनके यहाँ न तो अच्छे घोडे है, न अच्छा मांस, न अंगूर और न खरबूजे, न अच्छे फल, न बर्फ, न ठंडा पानी, न बाजारों में अच्छा खाना और रोटी, न हम्माम (स्नानागार) न कॉलेज, न मोमबत्तियाँ, न मशाले, यहाँ तक कि शमादान भी नहीं है।" इसपर यह पूछने को तबियत हो उठती है कि आखिर उनके यहाँ है क्या? मालूम होता है जिस वक़्त बाबर ने ये बाते लिखी उस वक़्त वह शायद बिलकुल दिक आगया होगा।

बाबर कहता है—"हिन्दुस्तान की सबसे बडी अच्छाई यह है कि वह बहुत बडा देश है और यहाँ सोना और चाँदी खूब है।· · ·हिन्दुस्तान में एक सहूलियत की बात यह भी है कि यहाँ हर पेशे और व्यापार के लोग बहुतायत से और चाहे जितने

मिलते हैं। किसी काम या धंधे के लिए गिरोह का गिरोह तैयार मिलता है जिनके यहाँ वही काम-धंधा हजारों वर्षों से, पुश्त-दरपुश्त चला आरहा है।"

बाबर के संस्मरणों से मैंने कुछ लम्बे बयान यहाँ दिये हैं। ऐसी किताबो के जरिये हमको किसी व्यक्ति के बारे में जो बाते मालूम होती हैं वे किसी दूसरे वर्णन से नहीं मालूम हो सकतीं।

१५३० ई० में ४९ वर्ष की उम्र में बाबर की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के बारे में एक मशहूर किस्सा है। उसका लड़का हुमायूँ बीमार पड़ा और कहते हैं कि उसकी मुहब्बत में बाबर अपनी जिंदगी भेंट करने के लिए तैयार होगया, बशर्ते कि उसका पुत्र अच्छा हो जाय। कहते हैं कि हुमायूँ बीमारी से अच्छा होगया और उसके अच्छा होने के कुछ ही दिन बाद बाबर की मौत होगई।

बाबर की लाश को लोग क़ाबुल ले गये और वहाँ उसी बाग़ में उसे दफनाया जो बाबर को बहुत पसंद था। जिन फूलो के लिए वह तरसता था, अन्त में वह उन्ही के पास वापस चला गया।

: ८६ :

अकबर

४ सितम्बर, १९३२

अपने सेनापतित्व और अपनी सैनिक योग्यता के बल पर बाबर ने उत्तर हिन्दुस्तान का बहुत-सा भाग जीत लिया। उसने दिल्ली के अफगान सुलतान को हरा दिया और बाद में चित्तौड़ के बहादुर राणा साँगा—जो राजपूत इतिहास का एक मशहूर योद्धा है—के नेतृत्व में लड़नेवाले राजपूतों को हराया। यह एक ज्यादा मुश्किल काम था। लेकिन इससे भी ज्यादा मुश्किल काम वह अपने पुत्र हुमायूँ के लिए छोड़ गया। हुमायूँ बहुत सभ्य और विद्वान था लेकिन अपने पिता की तरह बहादुर न था। उसके नये साम्राज्य में सब जगह गड़बड़ फैल गई और आख़िर में १५४० ई० में, बाबर की मृत्यु के दस वर्ष बाद, शेरखां नामक बिहार के एक अफगान सरदार ने उसे हराकर हिन्दुस्तान के बाहर निकाल दिया। इस तरह दूसरा मुग़ल बादशाह इधर-उधर छिपता हुआ और बड़ी मुसीबतें झेलता हुआ मारा-मारा फिरने लगा। इसी दर-दर मारे फिरने की हालत में, नवम्बर सन् १५४२ ई० में, राजपूताना के रेगिस्तानो में, उसकी स्त्री को एक लड़का पैदा हुआ। रेगिस्तान में पैदा हुआ यह लड़का आगे जाकर अकबर के नाम से मशहूर हुआ।

हुमायूँ भागकर ईरान पहुँचा और वहाँ के बादशाह शाह तामस्प (तहमास्प) ने उसे शरण दी। इस अर्से में उत्तरी भारत में शेरखां का दबदबा खूब फैला और उसने शेरशाह के नाम से पाँच वर्ष तक राज्य किया। इस थोड़े से समय में ही उसने बतला दिया कि वह बहुत काबिल आदमी था। वह बड़ा जबरदस्त संगठन करनेवाला था और उसका शासन फुरतीला और बहुत योग्य था। अपनी लड़ाइयों के बीच में भी उसने किसानो पर टैक्स लगाने की एक नई और अच्छी लगान प्रणाली जारी करने का समय निकाल लिया। वह एक सख्त और कठोर व्यक्ति था लेकिन हिन्दुस्तान के सारे अफ़ग़ान बादशाहों में, और दूसरे बादशाहो में भी, वह सबसे योग्य और अच्छा था। लेकिन जैसाकि अक्सर योग्य स्वेच्छाचारी शासको का हाल हुआ करता है—वह खुद ही सारे शासन का कर्त्ता-धर्त्ता था—इसलिए उसकी मृत्यु के बाद सारा ढांचा टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो गया।

हुमायूँ ने इस गड़बड़ से फ़ायदा उठाया और १५५६ ई० में वह एक फौज लेकर ईरान से लौटा, उसकी जीत हुई और सोलह वर्ष बाद वह फिर दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। लेकिन वह ज्यादा दिन राज न कर सका। छ महीने बाद ही वह जीने पर से गिरकर मर गया।

शेरशाह और हुमायूँ के मकबरो का मुकाबिला करने से एक दिलचस्प बात मालूम होती है। अफगान शेरशाह का मकबरा बिहार में सहसराम में है और यह इमारत उसीकी तरह कठोर, मजबूत और शाही बनावट की है। हुमायूँ का मकबरा दिल्ली में है। यह एक चमकदार और खूबसूरत इमारत है। इन पत्थर की इमारतो से सोलहवीं सदी के इन दो साम्राज्य के लिए लड़नेवालो के बारे में बहुत-कुछ अन्दाज लगाया जासकता है।

अकबर उस वक्त तेरह वर्ष का था। अपने दादा की तरह इसे भी राजगद्दी बहुत जल्दी मिल गई। बैरमखा, जिसे खानबाबा भी कहते है, इसका निगहबान और रक्षक था। लेकिन चार ही वर्षो में अकबर इस निगहबानी और दूसरे के इशारे पर चलने से तग आगया और उसने राज की बागडोर अपने हाथों में ले ली।

१५५६ ई० से १६०५ ई० तक, यानी करीब पचास वर्ष तक, अकबर ने हिन्दुस्तान पर राज किया। यह जमाना योरप में निदरलैण्ड के विद्रोह का और इग्लैड में शेक्सपीयर का था। अकबर का नाम हिन्दुस्तान के इतिहास में जगमगा रहा है और कुछ बातो में वह हमें अशोक की याद दिलाता है। यह एक अजीब बात है कि ईसा से तीन सौ वर्ष पहिले का एक बौद्ध सम्राट और ईसा के बाद सोलहवी सदी के हिन्दुस्तान का एक मुसलमान बादशाह, दोनो एक ही तरह से और करीब-

करीब एक ही आवाज में बोल रहे हैं। ताज्जुब नहीं कि यह खुद हिन्दुस्तान की ही आवाज हो, जो उसके दो महान पुत्रों के जरिये से बोल रही हो। अशोक के बारे में हम सिर्फ उतना ही जानते हैं जितना उसने खुद पत्थरों पर खुदा हुआ छोड़ा है। लेकिन अकबर के बारे में हम बहुत-कुछ जानते हैं। उसके दरबार के दो इतिहास लिखनेवालों ने बडे लम्बे बयान लिखे हैं, और जो विदेशी उससे मिलने आये थे—खासकर जेसुइट[1] लोग, जिन्होंने उसे ईसाई बनाने की बहुत कोशिश की थी—उन्होंने भी लम्बे-चौडे हाल लिखे हैं।

यह बाबर की तीसरी पीढ़ी में था। लेकिन मुग़ल लोग अभी इस देश के लिए नये थे। वे विदेशी समझे जाते थे और उनका अधिकार उनकी फौजी ताकत के बल पर था। अकबर के राज नें मुग़ल खानदान की जड़ जमादी और उसको खास हिन्दुस्तान की जमीन का और उसके खयालो को बिलकुल हिन्दुस्तानी बना दिया। इसीके राज्य-काल में योरप में 'महान् मुग़ल' (Great Mughal) का खिताब काम में लाया जाने लगा। वह बहुत स्वेच्छाचारी था और उसकी ताकत को कोई रोकनेवाला न था। उस वक़्त हिन्दुस्तान में राजा के अधिकारो को कम करने की कोई चर्चा तक नहीं थी। खुशकिस्मती से अकबर एक अक़्लमन्द स्वेच्छाचारी राजा था और वह हिन्दुस्तान के लोगों की भलाई के लिए दिन-रात कोशिश करता रहता था। एक तरह से तो वह हिन्दुस्तान में राष्ट्रीयता का जन्मदाता समझा जासकता है। ऐसे समय में, जबकि देश में राष्ट्रीयता का कुछ भी निशान न था और धर्म लोगों को एक-दूसरे से अलग कर रहा था, अकबर ने जुदा-जुदा मजहबों के दावों का खयाल न करके एक आम हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता के खयाल को अधिक महत्त्व दिया। वह अपनी कोशिश में पूरी तरह कामयाब तो नहीं हुआ, लेकिन यह ताज्जुब की बात है कि वह कितना आगे बढ़ गया और उसकी कोशिशो को कितनी ज्यादा कामयाबी मिली।

लेकिन फिर भी जो कुछ कामयाबी अकबर को मिली वह सब बिना किसी की मदद के ही नहीं थी। जबतक कि ठीक मौका न आगया हो और वातावरण सहायक न हो तब तक कोई भी बडे काम में सफल नहीं हो सकता। एक बड़ा आदमी खुद आपना वातावरण पैदा करके जमाने को जल्दी बदल सकता है। लेकिन

१ जेसुइट—जेसुइट शब्द जीसस (ईसामसीह) से बना है। १५३९ ई० मे एक 'सोसाइटी ऑफ जीसस' बनाई गई थी जिसके मेम्बर जेसुइट कहलाते थे। ये लोग दुनिया मे घूमते फिरते थे और इनका सरदार 'ब्लैक-पोप' कहलाता था, हालाँकि ये अपना धर्मगुरु पोप को ही मानते थे।

वह बड़ा आदमी खुद भी तो जमाने और उस वक्त के वातावरण का ही फल होता है। इसी तरह अकबर हिन्दुस्तान के उस जमाने का फल था।

पिछले एक ख़त में मैंने तुमको बतलाया था कि जिन दो संस्कृतियो (तहज़ीबों) और मज़हबो का इस देश में साथ आपड़ा था उन दोनो के एकीकरण या मेल के लिए उस वक़्त हिन्दुस्तान में कैसी अन्दरूनी ताक़ते काम कर रही थीं। मैंने तुम को गृह-शिल्प की नई शैली और हिन्दुस्तानी भाषाओं ख़ासकर उर्दू या हिन्दुस्तानी के विकास के बारे में लिखा था। और मै तुमको रामानन्द, कबीर और गुरुनानक जैसे सुधारक और धार्मिक नेताओ के बारे में भी बतला चुका हूँ जिन्होने इस्लाम और हिन्दू-धर्म के एक से पहलुओ पर जोर देकर और उनके बहुत-से रस्म-रिवाज की निन्दा करके दोनो मज़हबों को एक-दूसरे के नज़दीक लाने की कोशिश की थी। उस वक्त एकीकरण या मेल का यह ख़याल चारो तरफ फैला हुआ था। और अकबर ने, जिसका दिमाग़ बहुत जल्दी प्रभावित होनेवाला और नई अच्छी-अच्छी बातों को पकड़ने वाला था, इसको जरूर इख्तियार किया होगा और बहुत-कुछ उसके मुताबिक काम किया होगा। असल में वह इसका खास सरक्षक हो गया था।

एक राजनीतिज्ञ की हैसियत से भी वह इसी नतीजे पर पहुँचा होगा कि उसकी और कौम की ताकत इसी एकीकरण या मेल से बढ़ सकती है। वह एक बहुत बहादुर योद्धा और काबिल सेनानायक था। अशोक की तरह वह लड़ाई से नफ़रत नहीं करता था। लेकिन तलवार की विजय से वह प्रेम की विजय को अच्छी समझता था और यह भी जानता था कि ऐसी विजय ज्यादा टिकाऊ होती है। इसलिए वह पक्का इरादा करके इस कोशिश में लगा कि हिन्दू सरदारो और हिन्दू जनता का प्रेम प्राप्त करे। उसने गैर मुस्लिमो से वसूल किया जानेवाला जज़िया, और हिन्दू-तीर्थ यात्रियों पर लगाया जानेवाला टैक्स बन्द कर दिया। उसने खुद अपनी शादी एक राजपूत सरदार की लड़की से की; बाद में उसने अपने लड़के का विवाह भी एक राजपूत लड़की से किया; और उसने ऐसी मिश्रित शादियो को प्रोत्साहन दिया। उसने अपने साम्राज्य के सबसे ऊँचे ओहदो पर राजपूत सरदारो को तैनात किया। उसके सबसे बहादुर सिपहसालारो और सबसे काबिल वज़ीरो और गवर्नरो में कितने ही हिन्दू थे। राजा मानसिंह को तो उसने कुछ दिनो के लिए काबुल तक का गवर्नर बनाकर भेजा था। असल में राजपूतों और अपनी हिन्दू प्रजा को खुश करने के लिए कभी-कभी तो वह इतना आगे बढ़ जाता था कि मुसलमान प्रजा के साथ अक्सर अन्याय हो जाता था। बहरहाल वह हिन्दुओ का प्रेम जीतने में कामयाब हुआ और उसकी नौकरी और उसे इज्जत देने के लिए चारो तरफ से करीब-क़रीब सब राजपूत लोग इकट्ठे

होने लगे, सिवाय राणा प्रताप के जिसने कभी सिर नहीं झुकाया। राणा प्रताप ने अकबर को नाममात्र के लिए भी अपना सम्राट मानने से इन्कार कर दिया। लड़ाई में हार जाने पर भी उसने अकबर का दास होकर ऐश-आराम की जिन्दगी बिताने के बनिस्बत जंगल में भटकना अच्छा समझा। जिन्दगी भर यह राजपूत दिल्ली के महान् सम्राट् से लड़ता रहा, और उसके सामने सिर झुकाना मंजूर नहीं किया। इस बाँके राजपूत की यादगार राजपूताने की एक बेशकीमती धरोहर है और इसके नाम के साथ कितनी ही कहानियाँ जुड़ गई हैं।

इस तरह अकबर ने राजपूतो को अपनी तरफ कर लिया और वह जनता का प्यारा हो गया। वह पारसियों और उनके दरबार में आनेवाले जेसुइट पादरियों तक के प्रति बड़ा उदार था। लेकिन इस उदारता की वजह से और मुस्लिम शरियत से कुछ-कुछ लापरवाह होने की वजह से मुसलमान लोग उससे नाराज हो गये और उसके खिलाफ कई बलवे उठ खड़े हुए।

मैंने अकबर की बराबरी अशोक से की है। लेकिन इस मुकाबिले से तुम कहीं धोखे में न पड़ जाना। बहुत-सी बातो में वह अशोक से बिलकुल जुदा था। वह बड़े लम्बे-चौड़े मनसूबे रखने वाला था, और अपनी जिन्दगी के आखिरी दिनो तक अपने साम्राज्य बढ़ाने का इरादा करता रहा और मुल्क जीतता रहा। जेसुइट लोगो ने लिखा है कि वह

> "होशियार और तेज दिमाग वाला था, वह फैसले करने मे बड़ा सच्चा, मामलो मे बहुत समझदार, और इन सबके अलावा रहमदिल, मिलनसार और उदार था। इन गुणो के साथ उसमे ऐसे लोगो की हिम्मत भी थी जो बड़े-बड़े जोखिम के कामो को उठाते है और पूरा करते है। वह बहुत-सी बातो में दिलचस्पी रखता था, और उनके बारे मे जानने का इच्छुक रहता था, उसे न सिर्फ फौजी और राजनैतिक बातो का ही बल्कि कला-कौशल का भी काफी इल्म था ''। जो लोग उसके व्यक्तित्व पर हमला करते थे उनपर भी इस राजा की दया और नम्रता की रोशनी फैलती रहती थी। उसे गुस्सा बहुत कम आता था और अगर कभी आता था तो उस वक्त वह गुस्से से पागल हो जाता था; लेकिन उसका यह गुस्सा ज्यादा देर तक न टिकता था।"

याद रहे कि यह बयान किसी चापलूस मुसाहब का नहीं है, लेकिन एक विदेशी अजनबी का है, जिसे अकबर पर गौर करने के काफी मौके मिलते थे।

शारीरिक दृष्टि से अकबर अपूर्व ताकतवाला और फुर्तीला था और वह जंगली और खूंखार जानवरो के शिकार से ज्यादा किसी चीज से प्रेम नहीं करता था। एक सिपाही की हैसियत से तो वह इतना बहादुर था कि उसे अपनी जान तक की बिलकुल पर-

वाह न थी। उसकी आश्चर्यभरी ताकत का अंदाजा आगरे से अहमदावाद तक के उस मशहूर सफ़र से लगाया जा सकता है जो उसने नौ दिन में पूरा किया था। गुजरात में वलवा हो गया था और अकबर एक छोटी-सी फ़ौज के साथ राजपूताने के रेगिस्तान को पार करके साढ़े चारसौ मील की दूरी तय करके वहाँ जा धमका। यह एक गैर-मामूली काम था। यह वतलाने की जरूरत नहीं है कि उस जमाने में न तो रेलें थीं और न मोटरें।

लेकिन इन गुणों के अलावा महान पुरुषों में कुछ और भी होता है; उनमें एक तरह की आकर्षण-शक्ति होती है जो लोगों को उनकी तरफ खींचती है। अकबर में यह व्यक्तिगत आकर्षण शक्ति और जादू बहुत ज्यादा था; जेसुइट लोगों के अद्भुत बयान के मुताबिक उनकी आकर्षक आंखें "इस तरह झिलमिलाती थीं जिस तरह सूरज की रोशनी में समुद्र।" फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है, यदि यह पुरुष हमको आज तक आकर्षित करता हो और उसका बहादुराना और शाही व्यक्तित्व उन लोगों के बहुत ऊपर दिखलाई पड़ता हो जो सिर्फ बादशाह हुए हैं?

विजेता की दृष्टि से अकबर ने सारे उत्तर भारत और दक्षिण को भी जीत लिया था। उसने गुजरात, बंगाल, उड़ीसा, काश्मीर, और सिंध अपने साम्राज्य में मिला लिये। मध्य भारत और दक्षिण भारत में भी उसकी विजय हुई और उसने खिराज वसूल किया। लेकिन मध्य प्रान्त की रानी दुर्गावती को हराकर उसने अच्छा नहीं किया। यह रानी एक बहादुर और न्यायप्रिय रानी थी और उसने अकबर को कुछ नुकसान नहीं पहुँचाया था। लेकिन महत्वाकांक्षा और साम्राज्य को बढ़ाने की ख्वाहिश इन छोटी-मोटी बातों की बिलकुल परवाह नहीं करती है। दक्षिण में भी उसकी फौजों ने अहमदनगर की रानी (दरअसल वह रानी न थी बल्कि राज की देख-रेख करने के लिए 'रीजेंट' थी) मशहूर चांदबीबी से लड़ाई लड़ी। इस औरत में दिलेरी और काबलियत थी और उसने युद्ध में जो लोहा लिया उसका असर मुगल फौज पर इतना पड़ा कि उन्होंने अच्छी शर्तों पर उसके साथ सुलह मंजूर करली। बदकिस्मती से कुछ दिन बाद उसके ही कुछ असन्तुष्ट सिपाहियों ने उसे मार डाला।

अकबर की फौजों ने चित्तौड़ पर भी घेरा डाला। यह राणा प्रताप से पहले की बात है। जयमल ने बड़ी बहादुरी से चित्तौड़ की रक्षा की। उसके मारे जाने पर भयंकर 'जौहर' व्रत फिर हुआ और चित्तौड़ जीत लिया गया।

अकबर ने अपने चारों तरफ बहुत से योग्य सहायक इकट्ठा कर लिये जो उसके प्रति बड़े वफ़ादार थे। इनमें मुख्य फैजी और अबुलफजल दो भाई थे, और एक था

बीरबल जिसके बारे में अनगिनती कहानियाँ कही जाती है। अकबर का अर्थ-मंत्री था टोडरमल। इसीने लगान के सारे तरीके को बदल दिया था। तुम्हे यह जानकर आश्चर्य होगा कि उन दिनो जमींदारी प्रथा न थी और न जमींदार थे, न ताल्लुकेदार। रियासत खुद किसानों या रैयत से लगान वसूल करती थी। यही प्रणाली आजकल रैयतवारी प्रणाली कहलाती है। आज कल के जमींदार अंग्रेजो के बनाये हुए है।

जयपुर का राजा मानसिंह अकबर के सबसे काबिल सिपहसालारो में से था। अकबर के दरबार में एक और मशहूर आदमी था—गवैयो का सिरताज तानसेन, जिसे आज हिन्दुस्तान के सारे गवैये अपना गुरू मानते है।

शुरू में अकबर की राजधानी आगरा थी, जहां उसने किला बनवाया। इसके बाद उसने आगरे से १५ मील दूर फतहपुर-सीकरी में एक नया शहर बसाया। उसने यह जगह इसलिए पसन्द की कि यहाँ शेख सलीम चिश्ती नाम के एक मुस्लिम संत रहते थे। यहाँ उसने एक आलीशान शहर बनवाया जो उस वक्त के एक अँग्रेज मुसाफिर के लफ्जो में "लन्दन से ज्यादा आलीशान" था और यही पन्द्रह वर्ष से ज्यादा उसके साम्राज्य की राजधानी रहा। बाद में उसने लाहौर को अपनी राजधानी बनाया। अकबर का दोस्त और मत्री अबुल फजल लिखता है—"बादशाह सलामत आलीशान इमारतो के नकशे सोचते है और दिमाग के काम को मिट्टी और पत्थर का जामा पहिना देते है।"

फतहपुर-सीकरी और उसकी खूबसूरत मस्जिद, उसका जबरदस्त बुलंद दरवाजा और बहुत-सी दूसरी आलीशान इमारते आज भी मौजूद है। यह शहर उजड़ गया है और उसमें किसी तरह की हलचल अब नहीं है; लेकिन उसकी गलियों में और उसके चौडे सहनो में एक मिटे हुए साम्राज्य के भूत चलते हुए मालूम पड़ते है।

हमारा मौजूदा इलाहाबाद शहर भी अकबर का बसाया हुआ है लेकिन जगह यह जरूर बहुत पुरानी है और प्रयाग नगर तो रामायण के युग से चला आरहा है। इलाहाबाद का किला अकबर का बनवाया हुआ है।

एक नये साम्राज्य को जीतने और उसे मजबूत बनाने में अकबर को जिन्दगी भर कोशिश करनी पडी होगी। लेकिन इसके अन्दर अकबर का एक और विचित्र गुण नजर आता है। यह थी उसकी असीम ज्ञान पिपासा—दुनिया की वस्तुओं को जाननें की इच्छा और उसकी सत्य की खोज। जो कोई किसी भी विषय को समझा सकता था, उसे बुलाया जाता था। अलग-अलग मजहबों के लोग इबादतखाने में उसके चारो तरफ बैठते थे और इस महान बादशाह को अपने धर्म में शामिल करने

की आशा रखते थे। वे अक्सर एक दूसरे से झगड़ पड़ते थे और अकबर बैठा-बैठा उनकी बहस सुनता रहता और उनसे बहुत-से सवाल करता रहता था। उसे शायद यह विश्वास हो गया था कि सत्य का ठेका किसी खास धर्म या फिरके ने नहीं ले रक्खा है और उसने यह ऐलान कर दिया था कि वह धर्म में सबके साथ सहिष्णुता के सिद्धान्त को मानता है।

उसके राज्यकाल के इतिहास-लेखक बदायूनी[1] ने, जो ऐसे बहुत से जलसो में शामिल होता रहा होगा, अकबर का बड़ा मजेदार बयान लिखा है, जो मैं यहां देना चाहूंगा। बदायूनी खुद एक कट्टर मुसलमान था और वह अकबर की इन कार्रवाइयो को बिलकुल नापसन्द करता था। वह कहता है—"जहांपनाह हरेक की राय इकट्ठी करते थे, खासकर ऐसे लोगो की जो मुसलमान नही थे, और उनमें से जो उनको अच्छी लगती उन्हें रख लेते और जो उनके मिजाज के खिलाफ़ और उनकी इच्छा के विरुद्ध जातीं उन सबको फेंक देते थे। शुरू बचपन से जवानी तक और जवानी से बुढ़ापे तक, जहॉपनाह बिलकुल अलग-अलग तरह की हालतो में से और सब किस्म के मजहबी कायदो और फिरक़ो के विश्वासो में से गुजरे है, और जो कुछ किताबो में मिल सकता है उस सबको उन्होने चुनाव करने के उस विचित्र गुण से, जो खास उन्हींमें पाया जाता है, इकट्ठा किया है और खोज करने की उस भावना से इकट्ठा किया है, जो मुस्लिम शरियत के बिलकुल खिलाफ़ है। इस तरह उनके दिल के आईने पर किसी मूल सिद्धान्त के आधार पर एक विश्वास का नकशा खिंच गया है और उनपर जो-जो असर पड़े है उनका नतीजा यह हुआ कि उनके दिल में पत्थर की लकीर की तरह यह जबर्दस्त यक़ीन पैदा होता ओर जमता गया है कि सब मजहबो में समझदार आदमी है और सब जातियो में संयमी विचारक और अद्भुत शक्तिवाले आदमी है। अगर कोई सच्चा ज्ञान इस तरह हर जगह मिल सकता हो तो सत्य किसी एक ही मजहब में बन्द होकर कैसे रह सकता है? . . ."

तुम्हे याद होगा कि इस जमाने में योरप में मजहबी मामलो में बडी जबर्दस्त असहिष्णुता फैली हुई थी। स्पेन, निदरलैण्ड और दूसरे देशो में इनक्विजिशन का दौर-दौरा था और कैथलिक और कोलविनिस्ट दोनो एक दूसरे को सहन करना बड़ा भारी पाप समझते थे।

१. बदायूनी—इसका पूरा नाम मिर्जा अब्दुल कादिर बदायूनी (बदायूँ का रहनेवाला) था। इसने मुगल साम्राज्य का इतिहास लिखा है जिसके हरेक पन्ने पर इसके कट्टरपन की छाप है। यह हिन्दुओ से बहुत चिढता था।

अकबर ने वर्षों तक सब धर्मों के आलिमों से अपनी धर्म-चर्चा और बहस जारी रक्खी, लेकिन आख़िर में वे उकता गये और उन्होंने अकबर को अपने-अपने मज़हब में मिला सकने की उम्मीद बिलकुल छोड़ दी। जब हरेक मज़हब में सच्चाई का कुछ न कुछ हिस्सा था तो वह उनमें से किसी एक को कैसे चुन सकता था? जेसुइट लोगो के लिखे मुताबिक वह कहा करता था—"चूंकि हिन्दू लोग अपने धर्म को अच्छा समझते हैं और इसी तरह मसलमान और ईसाई भी समझते हैं; तो फिर हम इनमें से किसको अपनावे?" अकबर का सवाल बड़ा मानी रखनेवाला था लेकिन जेसुइट लोग इससे चिढ़ते थे और उन्होंने अपनी किताब में लिखा है—"इस बादशाह में हम उस नास्तिक की सी आम गलती देखते हैं जो बुद्धि को विश्वास का गुलाम बनाने से इनकार करता है और जिस बात की गहराई को उसका कमज़ोर दिमाग न पा सके उसे सच न कबूल करता हुआ उन मामलों को अपने अधकचरे फ़ैसले पर छोड़कर सन्तुष्ट हो जाता है, जो इन्सान की सबसे ऊँची विचार शक्ति की हद से भी बाहर है।" अगर नास्तिक की यही परिभाषा है तो जितने ज्यादा नास्तिक हो उतना ही अच्छा!

अकबर का उद्देश्य क्या था, यह साफ नही मालूम पड़ता। क्या वह इस सवाल को खाली राजनैतिक निगाह से देखता था? सबके लिए एक राष्ट्रीयता ढूंढ निकालने के इरादे से कही वह भिन्न-भिन्न मज़हबो को ज़बरदस्ती एक ही रास्ते में तो नही डालना चाहता था? क्या अपने उद्देश्य और उसकी तालाश में वह धार्मिक था? मै नहीं जानता। लेकिन मेरा ख्याल है कि वह मज़हबी सुधारक की बनिस्वत राजनीतिज्ञ ज्यादा था। उसका उद्देश्य चाहे जो रहा हो, उसने वाकई एक नये मज़हब 'दीने इलाही' का ऐलान कर दिया जिसका पीर वह खुद था। दूसरी बातो की तरह मज़हबी मामलो में भी उसकी मनमानी में कोई दखल नहीं दे सकता था और उसके आगे लेटना, कदम चूमना वगैरा की-क़वायद करनी पड़ती थी। यह नया मज़हब चला नही। इसने तो उलटा मुसलमानो को चिढ़ा दिया।

अकबर हुकूमतपरस्ती का तो खास पुतला था। फिर भी यह सोचने में मज़ा आता है कि उदार राजनैतिक विचारो का उस पर क्या असर हुआ होता। अगर मज़हबी आज़ादी थी तो लोगों को कुछ राजनैतिक आज़ादी क्यो न हो? विज्ञान की तरफ वह ज़रूर खूब खिंचा होता। बदकिस्मती से ये खयालात, जिन्होंने उस वक़्त योरप के कुछ लोगो को हैरान करना शुरू कर दिया था, उस ज़माने के हिन्दुस्तान में चालू नहीं हुए थे। छापेखानों का भी उस ज़माने में कोई इस्तेमाल नहीं नज़र आता। इसलिए शिक्षा का दायरा बहुत छोटा था। यह जानकर तुमको

सचमुच ताज्जुब होगा कि अकबर बिलकुल अनपढ़ था, यानी वह बिलकुल पढ़-लिख नही सकता था। लेकिन फिर भी वह बहुत ऊँचे दर्जे का शिक्षित था। और किताबें पढ़वा कर सुनने का बड़ा भारी शौकीन था। उसके हुक्म से बहुत सी संस्कृत किताबो का फारसी में तर्जुमा किया गया।

यह भी एक मार्के की बात है कि उसने हिन्दू विधवाओं के सती होने के रिवाज को बन्द करने का हुक्म निकाला था और लड़ाई के कैदियों को गुलाम बनाये जाने की भी मनाई कर दी थी।

चौंसठ साल की उम्र में, क़रीब पचास वर्ष राज करने के बाद, अक्तूबर सन् १६०५ ई० में अकबर की मृत्यु हुई। उसकी लाश आगरे के पास सिकन्दरे में एक खूबसूरत मकबरे में दफन की हुई है।

यह ख़त बहुत ही लम्बा हो गया है। यह उन बयानो का कसूर है जो मैंने इसमें उद्धृत किये हैं। लेकिन मैं एक बात और कहना चाहता हूँ। अकबर के राज्यकाल में उत्तर हिन्दुस्तान—काशी में—एक आदमी हुआ जिसका नाम युक्तप्रान्त के हरेक ग्रामीण की जबान पर है। वहाँ वह इतना मशहूर है और इतना लोकप्रिय है जितना अकबर या दूसरा कोई बादशाह नहीं हो सकता। मेरा मतलब तुलसीदास से है जिन्होने हिन्दी में रामचरित मानस या रामायण लिखी है।

: ९० :

भारत में मुग़ल साम्राज्य का पतन

९ सितम्बर, १९३२

मेरी इच्छा होती है कि अकबर के बारे में मैं तुमको कुछ और बतलाऊँ लेकिन इस इच्छा को दबाना पड़ेगा। मगर पोर्चुगीज पादरियो के बयानो में से कुछ और बातें यहाँ देने के लोभ को मैं नहीं रोक सकता। उनकी राय मुसाहिबो की राय से बहुत ज्यादा कीमती है और यह बात भी ध्यान में रखने की है कि जब अकबर ईसाई न बना तो उसकी तरफ़ से उनको बहुत निराशा हुई थी। फिर भी वे लिखते है कि "वह दरअसल एक बड़ा बादशाह था; क्योंकि वह जानता था कि अच्छा शासक वही हो सकता है, जो अपनी रिआया की फरमाबरदारी, इज्जत, मुहब्बत और डर सब साथ पासके। यह बादशाह सब का प्यारा था, बड़े आदमियों पर सख्त, छोटे आदमियों पर मेहरबान, और सब लोगो के साथ—चाहे वह ऊँच हो या नीच, पड़ोसी हों या अजनबी, ईसाई हों या मुसलमान या हिन्दू—एकसाँ इन्साफ़

करता था, इसलिए हरेक आदमी यही समझता था कि बादशाह उसीके पक्ष में है।" जेसुइट लोग आगे कहते हैं—"अभी वह राजकीय मामलों में मशगूल है या अपनी प्रजा को मुजरा दे रहा है तो दूसरे ही क्षण वह ऊँटो के बाल कतरता हुआ या पत्थर फोड़ता हुआ या लकडी काटता हुआ या लोहा कूटता हुआ नजर आता था; और इन सब कामो को वह इतनी होशियारी से करता था मानो खुद अपने ही खास पेशे को कर रहा हो।" हालांकि वह एक शक्तिशाली और स्वेच्छाचारी राजा था लेकिन वह मजदूरी को अपनी शान के खिलाफ नहीं समझता था, जैसा कि आजकल के कुछ लोग खयाल करते हैं।

आगे चलकर हमको यह बतलाया गया है कि "वह बहुत थोड़ा खाना खाता था और साल में सिर्फ तीन या चार महीने ही माँस खाता था . । सोने के लिए वह बडी मुश्किल से रात के तीन घंटे निकालता था । उसकी याद्दाश्त ग़जब की थी। उसके हजारो हाथी थे लेकिन वह सबके नाम जानता था; अपने घोडों के, हिरनों के और कबूतरों के नाम भी उसे याद थे!" इस अद्भुत स्मरणशक्ति पर मुश्किल से भरोसा किया जासकता है और शायद इस बारे में कुछ बढ़ाकर भी लिखा गया हो। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि उसका दिमाग अद्भुत था। "हालांकि वह पढ़ लिख नहीं सकता था लेकिन अपनी बादशाहत में होने वाली तमाम बातें उसे मालूम थीं।" और "उसकी ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा" इतनी जबरदस्त थी कि वह "सब बाते एक साथ सीखने की कोशिश करता था, जैसे भूखा आदमी सारे भोजन को एक ही लुकमे में निगल जाना चाहता हो।"

ऐसा था यह अकबर। लेकिन वह स्वेच्छाचारिता का पुतला था और हॉलाकि उसने प्रजा को बहुत कुछ महफूज कर दिया था और किसानो पर से करों का बोझ भी हलका कर दिया था, लेकिन उसके दिमाग़ में यह बात न आई थी कि शिक्षा और तालीम के जरिये आम लोगो की जिन्दगी को ऊँचा उठावे। वह जमाना हर जगह स्वेच्छाचारिता का था, मगर दूसरे स्वेच्छाचारी राजाओ के मुकाबिले में अकबर बादशाह और उसका व्यक्तित्व बडी शान के साथ चमकते हैं।

हालाकि अकबर बाबर की तीसरी पीढ़ी में था लेकिन हिन्दुस्तान में मुग़ल राजघराने की नींव डालनेवाला असल में यही था। चीन के कुबलाई खां के युआन राजघराने की तरह, अकबर के बाद मुग़ल बादशाहो का एक हिन्दुस्तानी राजवंश बन गया। अकबर ने अपने साम्राज्य को मजबूत बनाने के लिए जो बडी भारी मेहनत की थी उसका नतीजा यह हुआ कि उसका राजघराना उसकी मृत्यु के बाद सौ वर्ष से ज्यादा राज्य करता रहा।

अकबर के बाद तीन और काबिल बादशाह हुए लेकिन उनमें कोई ग़ैर मामूली बात नही थी। जब कोई बादशाह मरता तो उसके पुत्रो में राजगद्दी के लिए बडे शर्मनाक लड़ाई-झगडे होते। महलो की साजिशें और विरासत की लड़ाइयाँ होती थीं। पुत्रो का पिताओं से विद्रोह, भाइयो का भाइयो से विद्रोह, क़त्ल और रिश्तेदारो की आँखें फोड़ना---मतलब यह कि स्वेच्छाचारिता और निरंकुश शासन के साथ जितनी शर्मनाक बातें हो सकती हैं वे सब होती थी। शान-शौकत और तड़क-भड़क ऐसी थी जिसकी बराबरी कही न थी। तुम्हे याद होगा कि यह वह जमाना था जब फ़्रांस में चौदहवाँ लुई, जो दुनिया का चमत्कार कहलाता था, राज करता था जिसने वर्साई बनवाया था और जिसका दरबार शान-शौकतवाला था। लेकिन मुग़ल के ऐश्वर्य के मुकाबिले में लुई की शान-शौकत फीकी जँचती थी। शायद ये मुग़ल बादशाह उस जमाने के बादशाहों में सब से ज्यादा मालदार थे। लेकिन फिर भी कभी-कभी अकाल, महामारी और रोग फैल जाते थे और बेशुमार आदमियों को खा जाते थे, जबकि दूसरी तरफ़ बादशाही दरबार आराम से मौज मारता था।

अक़बर के ज़माने की धर्मो की सहिष्णुता उसके पुत्र जहांगीर के राज्य में भी जारी रही, लेकिन फिर यह धीरे-धीरे गायब होती गई और ईसाईयो और हिन्दुओ को थोड़ा बहुत तग किया जाने लगा। बाद में, औरंगजेब के राज्य में, हिन्दुओ के मन्दिरों को तोड़कर और बदनाम जज़िया टैक्स को दुबारा जारी करके हिन्दुओ पर ज़ुल्म करने की जान-बूझकर कोशिश की गई। साम्राज्य की जो नींव अकबर ने इतनी मेहनत से डाली थी वह इस तरह एक-एक पत्थर करके खोद डाली गई और साम्राज्य एकदम भहराकर गिर पड़ा।

अकबर के बाद जहाँगीर गद्दी पर बैठा जो उसकी राजपूत रानी का पुत्र था। उसने कुछ हद तक अपने पिता की रस्म को जारी रक्खा लेकिन शायद उसे हुकूमत की बनिस्बत कला और चित्रकारी और बागों तथा फूलों में ज्यादा दिलचस्पी थी उसके यहाँ बडी चित्रशाला या आर्ट-गैलरी थी। वह हर साल काश्मीर जाता था और मेरे खयाल से श्रीनगर के पास शालिमार और निशात नाम के मशहूर बाग़ इसी ने लगवाये थे। जहाँगीर की बेगम---या यो कहो कि उसकी बहुतसी बेगमो से एक बेगम सुन्दरी नूरजहाँ थी जिसके हाथो मे राज की असली ताकत थी। ऐतमादुद्दौला की कब्र पर खूबसूरत इमारत जहाँगीर के ही राज में बनी थी। जब कभी मैं आगरे जाता हूँ तो शिल्प-कला के इस रत्न को देखने की कोशिश करता हूँ ताकि उसकी सुन्दरता से अपनी आँखो को तृप्त कर सकूँ।

जहाँगीर के बाद उसका पुत्र शाहजहाँ गद्दी पर बैठा और उसने तीस वर्ष यानी

१६२८ से १६५८ तक राज्य किया। यह फ्रांस के चौदहवें लुई का समकालीन था और इसके राज्य में जहाँ मुग़लो की शान शौकत सबसे ऊँची चोटी पर पहुँच गई, वहाँ उसकी गिरावट के भी बीज नज़र आने लगे थे। बादशाह के बैठने के लिए बेशक़ीमती जवाहरात से जड़ा हुआ मशहूर तख्त-ताऊस बनाया गया और इसीके राज्य में आगरे में जमना के किनारे 'सुन्दरता का स्वप्न' वह ताजमहल बना। शायद तुम्हे मालूम होगा कि यह उसकी प्यारी बेगम मुमताजमहल का मकबरा है। शाहजहाँ ने बहुत से ऐसे काम किये जिनसे उसकी इज्ज़त और शान को बट्टा लगता है। वह मजहब के मामले में असहिष्णु था और जब दक्षिण गुजरात में जोरो का अकाल पड़ा तो उसनें अकाल-पीड़ितो की मदद के लिए कुछ भी न किया। उसकी रिआया की इस कम्बख़्ती और गरीबी के मुकाबिले में उसके धन और ऐश्वर्य—दौलत और हश्मत बड़े घृणित मालूम पड़ते है। फिर भी पत्थर और संगमरमर में उसने सुन्दरता के जो आश्चर्य छोड़े है उनकी वजह से शायद उसकी बहुत-सी बातें माफ़ की जासकती है। इसीके वक़्त में मुगल शिल्प-कला अपनी चोटी पर पहुँची थी। ताज के अलावा इसने आगरे की मोती मस्जिद, दिल्ली की जामा मस्जिद, और दिल्ली के महलो में 'दीवाने आम' और 'दीवाने खास' बनवाये। इन इमारतो में ऊँचे दरजे की सादगी है और इनमें से कुछ तो बड़ी विशाल, सुडौल और मनोहर है और अपनी ख़ूबसूरती में परियो के समान हैं।

लेकिन परिस्तान की इस ख़ूबसूरती के पीछे उस रिआया की बढ़ती हुई गरीबी थी जिससे इन महलों के लिए पैसा वसूल किया जाता था, जब कि उनमें से बहुत-से बेचारो के पास रहने को मिट्टी के झोंपड़े भी न थे। निरंकुश स्वेच्छाचारिता का बोलबाला था और सम्राट या उसके वाइसराय और हाकिमो को नाराज़ करनेवालो को ख़ौफनाक सजायें दी जाती थीं। दरबार की साजिशों में मैकियावैली के उसूल काम में लाये जाते थे। अकबर की दरियादिली, सहिष्णुता और अच्छी राज्य-व्यवस्था गुज़री हुई बात होगई थी। घटनायें विनाश की ओर ले जारही थीं।

इसके बाद महान मुगल खानदान का आखरी आदमी औरंगज़ेब आया। उसने अपने शासन की शुरुआत अपने पिता को जेलखाने में डालकर की। उसने १६५९ से १७०७ ई० तक ४८ वर्ष राज्य किया। वह अपने दादा जहाँगीर की तरह न तो कला और साहित्य से प्रेम करता था और न उसे अपने पिता शाहजहाँ की तरह शिल्प-कला से प्रेम था। वह तो एक पक्का ज़ाहिद यानी तपस्वी और कट्टर मुसलमान था, जो अपने मज़हब के सिवा और किसी मज़हब को सहन नहीं करता था। औरंगज़ेब बहुत सादामिज़ाज और करीब-करीब संन्यासी था। उसने हिन्दुओ पर जुल्म

करने की नीति जानबूझ कर इख्तियार की। जानबूझ कर ही उसने अकबर की, सबको खुश रखने और सबको मिलाने की, नीति को उलट दिया और इस तरह जिस नीव पर अभीतक साम्राज्य टिका हुआ था उसको बिलकुल हटा दिया। उसने हिंदुओ पर जजिया टैक्स फिर लगा दिया। जहाँतक होसका हिन्दुओं से सब ओहदे छीन लिये। जिन राजपूत सरदारो ने अकबर के वक्त से इस राजघराने की मदद की थी उन्हींको उसने नाराज करके राजपूतो से लड़ाई मोल ले ली। उसने हजारो हिन्दू मन्दिरों को बरबाद करवा दिया और पुराने जमाने की कितनी ही इमारतें धूल में मिला दी गई। जहाँ एक ओर दक्षिण में उसका साम्राज्य बढ़ रहा था, बीजापुर और गोलकुंडा उसके कब्जे में आगये थे और दूर दक्षिण से उसे खिराज मिलने लगा था, वहाँ दूसरी ओर इस साम्राज्य की नीव ढीली होकर दिन-पर-दिन कमजोर होती जा रही थी और चारों तरफ़ दुश्मन पैदा होरहे थे। जजिया के विरोध में हिन्दुओ की तरफ से जो अर्जी उसे पेश की गई थी उसमें लिखा था कि यह कर "इन्साफ़ के खिलाफ़ है, यह नीति के भी खिलाफ है क्योंकि यह देश को निर्धन कर देगा, इसके अलावा यह एक बिलकुल नई बात है और हिन्दुस्तान के नियमो को भंग करती है।" साम्राज्य की जो हालत हो रही थी उसके बारे में उसमें लिखा था—"जहाँपनाह के राज में बहुत से लोग साम्राज्य के खिलाफ़ हो गये है जिसका लाजमी नतीजा यह होगा कि और भी हिस्से हाथ से निकल जावेंगे क्योकि सब जगह बेरोक-टोक मारकाट और लूट-खसोट का बाजार गरम हो रहा है। आपकी रिआया पैरो तले रौंदी जाती है। आपके साम्राज्य का हरेक सूबा गरीब होता जारहा है, आबादी कम हो रही है और मुसीबते बढ़ती जारही है।"

आम लोगो में फैली हुई यह मुसीबत और गरीबी उन भारी तब्दीलियो की शुरूआत थी जो अगले पचास-साठ वर्षों में हिन्दुस्तान में होने वाली थीं। औरंगजेब की मृत्यु के बाद महान् मुगल साम्राज्य का एकदम और पूरी तौर पर विनाश इन्ही तब्दीलियो में से एक था। बडी-बडी तब्दीलियो और बडी-बडी तहरीकों के असली कारण आर्थिक हुआ करते हैं। हम देख चुके है कि योरप और चीन के बडे-बडे साम्राज्यो के पतन के शुरू में, और साथ-साथ, आर्थिक गिरावट हुई और बाद में क्रान्ति होगई। यही हाल हिन्दुस्तान में हुआ।

जिस तरह तमाम साम्राज्यो का पतन हुआ करता है, उसी तरह मुगल साम्राज्य का पतन उसीकी अन्दरूनी कमजोरियो की वजह से हुआ। वह बिल्कुल टुकडे-टुकडे हो गया। लेकिन हिन्दुओं में जो विद्रोह की भावना पैदा हो रही थी और जो औरंगजेब की नीति की वजह से उबलने पर आगई थी, उससे इस सिलसिले में

बडी मदद मिली। मगर यह खास तरह की मजहबी हिन्दू राष्ट्रीयता औरंगजेब के राज्य से पहले ही जड़ पकड़ चुकी थी और बहुत मुमकिन है कि कुछ-कुछ इसीकी वजह से औरंगजेब इतना कड़वा और असहिष्णु हो गया हो। मराठे और सिक्ख इस हिन्दू जागृति की तेज नोक थे और, जैसा कि मै अगले खत में लिखूंगा, मुगल साम्राज्य का खातमा इन्हींके हाथो से हुआ। लेकिन इस क़ीमती विरासत से वे कुछ फायदा न उठा सके। जब कि ये लोग आपस में लड़ रहे थे, अँग्रेज चुपचाप चालाकी के साथ घुस आये और लूट का माल हड़प कर गये।

तुमको यह जानकर दिलचस्पी होगी कि जब मुग़ल सम्राट फ़ौज के साथ सफ़र करते थे तो उनका शाही डेरा किस तरह का होता था? वह एक बड़ा जबरदस्त मजमा होता था जिसका घेरा तीस मील और आबादी करीब पांच लाख होती थी! इस आबादी में सम्राट के साथ चलने वाली फौज तो होती ही थी लेकिन उसके अलावा इस चलते-फिरते भारी शहर में लाखो दूसरे लोग और सैकडो बाजार होते थे। इन्ही चलते-फिरते डेरो में उर्दू यानी 'लश्कर' की जबान का विकास हुआ।

मुगल काल के बहुत-से चित्र अब भी मिलते हैं जो बडे सुन्दर और बारीक हैं। सम्राटो की तसवीरो की तो एक पूरी चित्रशाला ही मिलती है। बाबर से लगा कर औरंगजेब तक तमाम बादशाहों के व्यक्तित्व को ये तसवीरे बडी खूबी के साथ प्रकट करती हैं।

मुगल सम्राट दिन में कम से कम दो बार झरोखे में से लोगों को दर्शन दिया करते थे और अर्जियाँ लिया करते थे। जब १९११ ई० में अंग्रेज सम्राट जार्ज पंचम दिल्ली में ताजपोशी के दरबार के लिए हिन्दुस्तान आये थे तो उनका भी मुजरा इसी तरह करवाया गया था। अँग्रेज लोग समझते है कि हिन्दुस्तान का राज्य उनको मुगलो से विरासत में मिला है और इसलिए वे शान-शौकत और बेहूदा तड़क-भड़क में मुगलों की नकल उतारने की कोशिश करते हैं। मैं तुमको पहले बतला चुका हूँ कि अँग्रेज बादशाह को मुगल शासको का ख़िताब 'कैसरे हिन्द' तक दे दिया गया है। आजकल भी दुनिया भर में इतनी शान-शौकत और नुमायशी ठाठ-बाट शायद और कहीं न मिले, जितना हिन्दुस्तान में अँग्रेजी वाइसराय के व्यक्तित्व के साथ लगा हुआ है।

मैंने अभी तक तुम्हे यह नही बतलाया है कि पिछले मुगल बादशाहो का विदेशियो के साथ कैसा ताल्लुक था। अकबर के दरबार में पोर्चुगीज पादरियों पर खास मेहरबानी रहती थी और योरप की दुनिया के साथ अकबर का जो कुछ भी सम्पर्क था, वह इन्हींके जरिये था। अकबर इनको योरप की सबसे ताक़तवर क़ौम समझता

था क्योंकि समुद्र पर इनका कब्ज़ा था। अँग्रेज़ो का उस वक़्त पता भी न था। अकबर की गोआ लेने की बड़ी इच्छा थी और उसने उस पर हमला भी किया मगर काम-याबी न मिली। मुग़ल लोग समुद्र-यात्रा को पसंद नहीं करते थे और जहाज़ी शक्ति के सामने उनकी दाल न गलती थी। यह एक विचित्र बात है क्योंकि उस ज़माने में पूर्व बंगाल में जहाज़ बनाने का काम ज़ोरो से चल रहा था। लेकिन ये जहाज़ ज़्यादातर माल लादने के काम के थे। समुद्र पर मुकाबिला करने की यह लाचारी मुग़ल साम्राज्य के पतन की एक वजह बतलाई जाती है। अब जहाज़ी ताक़त का ज़माना आगया था।

जब अँग्रेज़ लोगो ने मुग़ल दरबार में आने की कोशिश की तो पोर्चुगीज़ो को उनसे डाह हुई और उन्होने जहांगीर के कान उनके ख़िलाफ भरने में कोई कसर न उठा रक्खी। लेकिन इंग्लैंड के जेम्स प्रथम का एलची सर टामस रो १६१५ ई० में किसी तरह जहांगीर के दरबार में जापहुँचा। उसने सम्राट से बहुत-सी सहूलियतें हासिल कर लीं और ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापार की जड़ जमा दी। इसी अर्से में अँग्रेज़ी बेडे ने हिन्दुस्तान के समुद्र में पुर्तगाल के बेडे को हरा दिया। इंग्लैंड का सितारा आसमान में ऊँचा चढ़ रहा था और पुर्तगाल का सितारा पश्चिम में डूब रहा था। डच लोगो और अंग्रेज़ों ने धीरे-धीरे पोर्चुगीज़ो को पूर्वी समुद्रो से बाहर निकाल दिया और तुम्हे याद होगा कि मलक्का का बड़ा बन्दरगाह भी १६४१ ई० में डच लोगो के हाथ आगया था। १६२९ ई० में हुगली में शाहजहाँ और पोर्चुगीज़ो के बीच लड़ाई हुई। पोर्चुगीज़ बाक़ायदा ग़ुलामो का व्यापार करते थे और लोगो को ज़बरदस्ती ईसाई बना रहे थे। पोर्चुगीज़ो ने बडी बहादुरी से रक्षा की लेकिन मुग़लो ने हुगली पर कब्ज़ा कर लिया। छोटा-सा पुर्तगाल देश बार-बार की इन लड़ाइयो से थक गया। उसने साम्राज्य के लिए लड़ना-झगड़ना छोड़ दिया; लेकिन वह गोआ और दूसरी कई जगहो से चिपका रहा और आज भी इन जगहों पर उसका क़ब्ज़ा है।

इसी दौरान में अँग्रेज़ो ने मदरास और सूरत के पास, हिन्दुस्तान के समुद्रतट के नगरो में, कारख़ाने खोल दिये। ख़ास मदरास की नींव उन्होने १६३९ ई० में डाली। १६६२ ई० मे इंग्लैंड के बादशाह चार्ल्स द्वितीय ने पुर्तगाल की कैथराइन ऑफ़ ब्रैगैन्ज़ा के साथ शादी की और बम्बई का टापू उसे दहेज में मिला। कुछ दिनो बाद उसने इसे बहुत सस्ते दाम में ईस्ट इडिया कम्पनी के हाथ बेच दिया। यह घटना औरँगज़ेब के राज्य काल में हुई। पोर्चुगीज़ो के ऊपर फ़तेह पाने के नशे में चूर ईस्ट इंडिया कंपनी ने यह सोचकर कि मुग़ल साम्राज्य कमज़ोर होता जा रहा है, १६८५ ई० में हिन्दुस्तान में ज़बरदस्ती अपना राज्य बढ़ाने की कोशिश की।

लेकिन नुकसान उठाना पड़ा। इंग्लैंड से लड़ाई के जहाज़ दौड़े हुए आये और औरंगजेब के राज्य में पूर्व में बंगाल पर और पश्चिम में सूरत पर हमले किये गये। लेकिन अभी मुग़लों में उनको पूरी तरह हरा देने की ताक़त थी। अँग्रेजो ने इससे सबक लिया और आगे के लिए वे बहुत सावधान होगये। औरंगजेब की मृत्यु पर भी, जबकि मुगल-शक्ति जाहिरा तौर पर नष्ट होरही थी, बहुत वर्षो तक कोई बड़ा हमला करने से पहले आगा-पीछा सोचते रहे। १६९० ई० में जॉब चार्नौक नाम के एक अँग्रेज़ ने कलकत्ता शहर की नींव डाली। इस तरह मदरास, बम्बई और कलकत्ता इन तीनो शहरो की स्थापना अँग्रेजो के हाथो से हुई और शुरू-शुरू में ये शहर अंग्रेजो की ही मेहनत से बढे।

अब फ़्रांस ने भी हिन्दुस्तान में कदम रक्खा। एक फ़्रांसीसी व्यापारी कम्पनी बनी और १६६८ ई० में उसने सूरत और दूसरी कई जगहो में कारखाने खोले। कुछ साल बाद उसने पांडिचरी शहर ख़रीद लिया जो पूर्वी तट पर सबसे महत्वपूर्ण व्यापारिक बन्दरगाह बन गया।

१७०७ ई० में करीब नब्बे वर्ष की बडी उम्र में औरंगजेब की मृत्यु हुई। उसकी छोडी हुई शानदार सम्पत्ति यानी हिन्दुस्तान को हथियाने के लिए लड़ाई-झगडों की शुरूआत हुई। इन झगडनेवालों में एक तो खुद उसकी ही नाकाबिल औलाद और बडे-बडे हाकिम थे; उधर मराठे और सिक्ख थे; दूसरी तरफ उत्तर-पश्चिम सीमा के पार के लोग दाँत लगाये हुए थे; और समुद्र पार के दो शक्तिशाली राष्ट्र अँग्रेज और फ्रांसीसी थे। ऐसी हालत में बेचारे हिन्दुस्तान के लोगो का तो परमात्मा ही मालिक था!

: ९१ :

सिक्ख और मराठे

१२ सितम्बर, १९३२

औरंगजेब की मृत्यु के बाद के सौ वर्षो में हिन्दुस्तान अजीब तौर से टुकडे-टुकडो में बँटा रहा। उसकी हालत एक सैरबीन की तरह हो रही थी जिसमें हर वक़्त तब्दीलियाँ होती रहती थी लेकिन देखने में वे कोई ख़ूबसूरत न थीं। ऐसा जमाना ले-भग्गुओ के या ऐसे लोगो के काम का होता है, जो साधनो और उपायो की परवाह नहीं करते और मौके को हाथ से न निकलने देने के लिए दुस्साहसी होने के अलावा भले-बुरे का भी कुछ विचार नहीं करते। इसलिए सारे हिन्दुस्तान में इस

तरह के ले-भग्गू पैदा होगये। इनमें ख़ास हिन्दुस्तान के रहने वाले थे, उत्तर-पश्चिम के देशो से आने वाले थे, और वे लोग थे जो अंग्रेजो और फ्रांसीसियों की तरह समुद्र पार से आये। हरेक आदमी या गिरोह अपना-अपना उल्लू सीधा करना चाहता था और दूसरो को भट्टी में झोंकने के लिए तैयार था। कभी-कभी दो मिलकर तीसरे को खतम कर देते थे लेकिन बाद में ये दोनो आपस में ही लड़ मरते थे। रियासते छीनने के लिए, जल्दी से मालदार बनने के लिए और लूटमार करने के लिए जी तोड़कर कोशिशें हो रही थीं। लूट-मार ज्यादा-तर खुल्लम-खुल्ला और बेशर्मी के साथ होती थी; लेकिन कभी-कभी व्यापार के पतले परदे से भी ढकी रहती थी। और इस सब के पीछे था खिसकता हुआ मुग़ल साम्राज्य, जो 'चेशायर की बिल्ली'[१] की तरह गायब हो रहा था और जिसकी मुस्कराहट भी बाक़ी न रही थी। बेचारे नाम-मात्र के बादशाह को या तो पेन्शन दे दी जाती थी या वह दूसरो का क़ैदी हो जाता था।

लेकिन ये सब उथल-पुथल और उफान, और तोड़-मरोड़ उस क्रान्ति के बाहरी लक्षण थे जो भीतर ही भीतर हो रही थी। पुरानी आर्थिक रूढ़ियाँ टूट रही थीं; सामन्तशाही के दिन पूरे हो गये थे और वह भी ख़तम हो रही थी। देश में जो नई हालतें पैदा होरही थी, यह उनके अनुकूल न थी। ये ही घटनायें हम योरप में देख चुके हैं और व्यापारी वर्ग की तरक्की भी देख चुके हैं, जिसे स्वेच्छाचारी शासकों ने रोक दी थी। सिर्फ़ इँग्लैंड में, और कुछ हद तक हॉलैंड में, बादशाहो पर लगाम लगादी गई थी। जिस वक़्त औरंगज़ेब गद्दी पर बैठा उस वक्त इँग्लैंड में वह थोड़े दिन टिकने-वाला प्रजातन्त्र शासन था जो चार्ल्स प्रथम की फाँसी के बाद बना। और औरंगज़ेब के ही राज्यकाल में जेम्स द्वितीय के भाग जाने से और १६८८ ई० में पार्लमेण्ट की विजय से इँग्लैंड की क्रान्ति पूरी हुई। इँग्लैंड में जो पार्लमेंट-जैसी एक आधी लोक सत्तावाली कौंसिल थी उससे इस लड़ाई में बहुत मदद मिली। वह एक ऐसी चीज थी जो सामन्त सरदारों के और बाद में बादशाह के ख़िलाफ़ खड़ी हो सकती थी।

योरप के बहुत से दूसरे देशो में और ही तरह की हालते थी। फ्रांस में अभी तक औरगज़ेब का समकालीन महान् सम्राट चौदहवाँ लुई, औरंगजेब के राज्यकाल के अन्त तक था, और उससे भी आठ वर्ष बाद मरा। वहाँ करीब-करीब अठारहवीं सदी के अखीर तक स्वेच्छाचारी शासन जारी रहा जब तक कि फ्रास की, इतिहास में मशहूर, राज्य क्रान्ति के रूप में जबरदस्त उफान नहीं आगया। जर्मनी में, जैसा कि

१. 'एलिस इन दि वडरलैंड' नामकी कहानी की पुस्तक मे वयान की हुई एक कल्पित बिल्ली जो सदा मुस्कराती रहती थी।

हम देख चुके हैं, सत्रहवी सदी बडी खौफनाक गुजरी। इसी सदी में 'तीससाल की लड़ाई' हुई जिसने देश के टुकडे-टुकडे करके उसका सत्यानाश कर दिया।

अठारहवीं सदी में हिन्दुस्तान की हालत का मुकाबिला कुछ-कुछ जर्मनी की उस हालत से किया जा सकता है जो वहाँ तीस साल की लड़ाई के जमाने में थी। लेकिन यह मुकाबिला ज्यादा आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। दोनो देशो में आर्थिक संकट पैदा होरहा था और पुराना सामन्त वर्ग अपना महत्व खो चुका था। हालाँकि हिन्दुस्तान में सामान्तशाही आखरी सांसें ले रही थी लेकिन उसका खातमा बहुत दिनो तक नहीं हुआ। और करीब-करीब मर चुकने पर भी उसके ऊपरी चिन्ह बने ही रहे। असल में आज दिन भी हिन्दुस्तान में और योरप के कुछ हिस्सो में सामन्तशाही के बहुत से पुराने निशान बाकी है।

इन आर्थिक तब्दीलियो का नतीजा यह हुआ कि मुगल साम्राज्य टूट गया, लेकिन इस मौके से फ़ायदा उठाकर अधिकार छीनने के लिए कोई मध्यमवर्ग मौजूद न था। इंग्लैण्ड की तरह इन वर्गो का नेतृत्व करनेवाला कोई संगठन या कौंसिल भी न थी। हद दरजे के निरंकुश शासन ने आम लोगो को बहुत-कुछ चापलूस बना दिया था और आजादी के जो कुछ भी पुराने खयालात थे, वे सब भुलाये जाचुके थे। लेकिन, जैसाकि आगे चलकर इसी खत में जिक्र किया जायगा, कुछ-कुछ सामन्त वर्ग ने, कुछ-कुछ मध्यमवर्ग ने और कुछ-कुछ किसानो ने अधिकार छीनने की कोशिशें कीं और इनमें से कुछ कोशिशें कामयाबी के नजदीक भी पहुँच गई। ध्यान देने की खास बात यह है कि सामंतशाही के खातमे और अधिकार हाथ में लेने को तैयार मध्यमवर्ग के विकास के बीच में, मालूम होता है, अन्तर पड़ गया। जब इस तरह का अन्तर पड़ जाता है तो जरूर गड़बड़ और उथल-पुथल होती है, जैसा कि जर्मनी में हुआ। यही हाल हिन्दुस्तान में भी हुआ। छोटे-मोटे बादशाह और राजा देश पर अपना-अपना कब्जा जमाने के लिए लड़ने लगे लेकिन वे सब एक सडी हुई प्रणाली के नुमाइंदे थे इसलिए उनकी नींव मजबूत न थी। उनको एक नये ही वर्ग के लोगो से लड़ना पड़ा जो इंग्लैंड के मध्यमवर्ग के नुमाइंदे थे और उन्हीं दिनों अपने देश में विजय प्राप्त कर चुके थे। समाजिक क्षेत्र में इस अंग्रेजी मध्यम वर्ग का स्थान सामन्त वर्ग से ऊँचा था क्योकि वह संसार की तरक्की करती हुई नई परस्थिति के मुआफिक था; उसका सगठन ज्यादा अच्छा और कारगर था; उसके पास ज्यादा अच्छे हथियार और औजार थे जिनके जरिये वह अधिक कारगर तरीकों से लड़ सकता था और समुद्र पर भी उसका कब्जा था। हिन्दुस्तान के सामन्त राजाओ का इस नई ताकत से मुकाबिला करना नामुमकिन था और वे एक-एक करके इससे हारते गये।

इस खत की यह भूमिका काफी लम्बी हो गई। अब हमको जरा पीछे चलना चाहिए। औरंगज़ेब के शासन के पिछले दिनों में आम लोगों के जो बलवे हुए और हिन्दुओं में जो धार्मिक राष्ट्रीयता का ख़याल दुबारा पैदा हुआ, उनका ज़िक्र मैं अपने आखरी खत में और इस ख़त में भी कर चुका हूँ। अब मैं इस बारे में कुछ और बतलाऊंगा। मुगल साम्राज्य के अलग-अलग हिस्सों में उस वक़्त कुछ-कुछ धार्मिक रूपवाले सार्वजनिक आन्दोलन शुरू होते दिखलाई पड़ने लगे थे। कुछ समय तक तो ये आन्दोलन शान्तिमय रहे; राजनीति से इनका कोई ताल्लुक न था। हिन्दी, मराठी, पंजाबी वग़ैरा देशी ज़बानों में गीत और धार्मिक भजन बने जिन का प्रचार भी खूब हुआ। इन गीतों और भजनों से जनता में जागृति पैदा हो गई। लोकप्रिय धर्मोपदेशकों के पीछे बहुत से धार्मिक मत बन गये। आर्थिकप रिस्थितियो के दबाव ने जल्द ही इन मतो का ध्यान राजनैतिक सवालो की तरफ़ खींचा; शासक वर्ग यानी मुगल साम्राज्य से झगड़ा होने लगा। नतीजा यह हुआ कि इन मतों के दबाने की कोशिश की गई। इस ज़ुल्म ने शान्तिमय धार्मिक मतो को सैनिक बिरादरी के रूप में बदल दिया। इस तरह सिक्खो और कई दूसरे फ़िरकों का विकास हुआ। मराठो का इतिहास ज्यादा पेचीदा है लेकिन वहाँ भी असल में यही दिखलाई पड़ता है कि मजहब और राष्ट्रीयता ने मिलकर मुग़लो के ख़िलाफ़ तलवार उठाई। मुगल साम्राज्य का नाश अंग्रेजों के हाथों से नहीं हुआ बल्कि इन धार्मिक राष्ट्रीय आन्दोलन और ख़ासकर मराठो की वजह से हुआ। इन आन्दोलनों के बढ़ने में औरंगज़ेब की असहिष्णु नीति से कुदरती तौर पर मदद मिली। यह भी मुमकिन है कि अपने शासन के ख़िलाफ इस बढ़ती हुई धार्मिक जागृति ने औरंगज़ेब को और भी चिढ़ा दिया हो और असहिष्णु बना दिया हो।

१६६९ ई० में ही मथुरा के जाट किसानों ने बलवा कर दिया। बार-बार उनको दबाया गया लेकिन वे तीस साल तक, जबतक औरंज़ेब की मृत्यु न हो गई, बार-बार सिर उठाते रहे। याद रहे कि मथुरा आगरे के बहुत नज़दीक है, इसलिए ये बलवे राजधानी के पास ही हुए थे। दूसरा बलवा सतनामियों ने किया जो मामूली लोगों का एक मजहबी फिरका था। इसलिए यह भी ग़रीब आदमियों का विद्रोह था और सरदारो, हाकिमो वग़ैरा की बगावत से बिलकुल जुदा था। उस ज़माने का एक मुग़ल अमीर तंग आकर इनके बारे में लिखता है कि यह "ख़ून के प्यासे नीच बाग़ियो का एक गिरोह था जिसमें सुनार, बढ़ई, भंगी, चमार और दूसरे नीच लोग शामिल थे।" उसकी राय में ऐसे 'नीच लोगो' का अपने से बडो के ख़िलाफ बगावत करना बडी शर्म की बात थी।

अब हम सिक्खो की तरफ़ आते है और उनके इतिहास का बयान कुछ समय पहले से शुरू करेंगे। तुम्हे याद होगा कि मैंने तुमको गुरु नानक के बारे में बतलाया था। इनकी मृत्यु बाबर के हिन्दुस्तान में आने के कुछ ही साल बाद होगई। वह उन लोगो में से थे जिन्होने हिन्दू धर्म और इस्लाम को एक ही तख्ते पर लाने की कोशिश की। इनके बाद तीन 'गुरु' और हुए जो इन्हीं की तरह शान्तिप्रिय थे और सिर्फ मजहबी मामलो में ही दिलचस्पी रखते थे। अकबर ने चौथे गुरु को अमृतसर के तालाब और सुनहरे मन्दिर के लिए ज़मीन दी थी। तबसे अमृतसर सिक्ख धर्म का केन्द्र बन गया है।

इसके बाद पाँचवे गुरु अर्जुन सिंह हुए जिन्होने ग्रन्थ साहब का संकलन किया, जो कहावतो और भजनो का संग्रह है और सिक्खों का पवित्र धर्म-ग्रन्थ माना जाता है। एक राजनैतिक जुर्म की सजा में जहाँगीर ने अर्जुनसिंह को बडी बेरहमी से कत्ल करवा डाला। सिक्खो की जिन्दगी की घडी बस यहीं से बदल गई। गुरू के साथ जुल्म और बेरहमी के इस बर्ताव से वे लोग आग हो उठे और उन्होंने तलवार उठाली। छठवे गुरु हरगोविंद की मातहती में वे एक सैनिक बिरादरी बन गये और राज्य-शक्ति से टक्करे लेने लगे। गुरु हरगोविंद खुद दस साल तक जहाँगीर की क़ैद में रहे। नवे गुरु तेगबहादुर हुए। ये औरंगजेब के राज्य में थे। औरंगजेब ने इनको इस्लाम कबूल करने का हुक्म दिया और इन्कार करने पर इनको कत्ल करवा डाला। दसवे और आखिरी गुरु गोविंदसिंह थे। उन्होने सिक्खो को एक ताकतवर सैनिक जाति बना दिया, जिसका मुख्य उद्देश्य दिल्ली के बादशाह का मुकाबिला करना था। ये औरंगजेब की मृत्यु से एक साल बाद मरे। इनके बाद से अबतक कोई गुरु न हुआ। कहते है कि गुरु के अधिकार अब सारी सिक्ख जाति में है, जो 'खालसा' यानी 'स्वीकृत' या 'विशिष्ट' कहलाती है।

औरंगजेब के मरने के कुछ ही दिन बाद सिक्खो ने बगावत कर दी। इसको दबा तो दिया गया लेकिन सिक्ख लोग अपनी ताकत बढ़ाते रहे और पंजाब में स्थिति को मजबूत बनाते रहे। आगे चलकर, इस सदी के अखीर में, पंजाब में रणजीतसिंह के अधीन एक सिक्ख रियासत पैदा होनेवाली थी।

ये सब बग़ावते मुसीबत पैदा करने वाली जरूर थीं मगर मुग़ल सम्राज्य को असली खतरा दक्षिण-पश्चिम में मराठो की बढ़ती हुई ताकत से था। शाहजहाँ के राज्य में भी शाहजी भोसले नाम के एक मराठा सरदार ने काफी तंग किया था। वह पहले तो अहमद नगर की रियासत और बाद में बीजापुर रियासत में अफ़सर रहा था। लेकिन मराठो का गौरव और मुगल साम्राज्य को थर्रा देने वाला अगर कोई था तो वह इसका पुत्र

शिवाजी था, जिसका जन्म १६२७ ई० में हुआ था। वह उन्नीस वर्ष का भी न हुआ था कि उसने लूट-मार शुरू करदी और पूना के पास पहली ही बार एक किला जीत लिया। वह एक बाहादुर सिपहसालार, छापे मारकर लड़ाई करने में पूरा होशियार नायक और जोखिम उठाने वाला था। उसने बहादुर और मजबूत पहाड़ियो का एक गिरोह इकट्ठा कर लिया जो उसपर जान देता था। इनकी मदद से उसने बहुत से किलों पर कब्ज़ा कर लिया। बीजापुर ने उसके ख़िलाफ़ एक सिपहसालार भेजा जिसे उसने मार डाला। औरंगज़ेब के सिपहसालारो का तो उसने नाक में दम कर दिया। १६६५ ई० में उसने अचानक सूरत पर धावा बोल दिया, जहाँ अंग्रेज़ों का कारख़ाना था, और शहर को लूट लिया। बातो में आकर वह आगरे में औरंगज़ेब के दरबार में भी गया, लेकिन जब उसके साथ एक आज़ाद राजा का-सा बर्ताव नहीं किया गया तो उसने इसमें अपनी हतकइज्ज़ती और अपना अपमान समझा। उसे वहाँ कैद कर लिया गया लेकिन वह छूटकर भाग निकला। फिर भी औरंगज़ेब ने उसे राजा का ख़िताब देकर अपनी तरफ़ मिलानें की कोशिश की।

लेकिन शिवाजी ने फिर लड़ाई का रास्ता इख्तियार कर लिया और दक्षिण के मुगल हाकिम तो उससे इतने डर गये कि वे अपनी हिफ़ाज़त करने के लिए उसे धन देनें लगे। यही इतिहास में मशहूर 'चौथ', यानी लगान का चौथा अंश, थी जिसे मराठे लोग जहाँ जाते वहीं वसूल करते थे। इस तरह मराठों की ताकत तो बढती गई और दिल्ली का साम्राज्य कमज़ोर होता गया। १६७४ ई० में शिवाजी ने रायगढ़ में बडी शान-शौकत के साथ अपनी तख़्तनशीनी का जलसा किया। १६८० ई० में, उसकी मृत्यु तक, बराबर उसकी जीते जारी रहीं।

तुम्हे मराठा देश के केन्द्र पूना शहर में रहते कुछ वक़्त हो गया है और तुम्हे मालूम पड़ गया होगा कि वहाँ के लोग शिवाजी से कितना प्रेम करते हैं और उसकी कितनी पूजा करते हैं। जिस मज़हबी और राष्ट्रीय जागृति का जिक्र मै अभी कर चुका हूँ, उसका यह प्रतिनिधि था। आर्थिक संकट और आम जनता की बुरी हालत ने ज़मीन तैयार करदी थी, और रामदास और तुकाराम नामक दो मराठी सन्त कवियो ने अपनी कविता और भजनो से इसमें खाद डाल दी। इस तरह मराठा लोगों को जागृति और एकता हासिल हुई और उसी समय उनका नेतृत्व करके फतह हासिल करने के लिए एक बड़ा और होशियार नेता पैदा हो गया।

शिवाजी के पुत्र संभाजी को मुगलो ने बेरहमी के साथ मरवा डाला लेकिन कुछ धक्कों के बाद मराठों की ताकत फिर बढ़ने लगी। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य हवा में गायब होने लगा। सारे हाकिम राजधानी से अपना ताल्लुक

तोड़कर आज़ाद बन बैठे। बंगाल अलग हो गया। यही हाल अवध और रुहेलखण्ड का हुआ। दक्षिण में वज़ीर आसफ जाह ने एक राज्य कायम किया, जो आजकल रियासत हैदराबाद कहलाता है। मौजूदा निज़ाम आसफ जाह के ख़ानदान के हैं। औरंगज़ेब के मरने के बाद सत्रह वर्ष के भीतर ही साम्राज्य क़रीब-क़रीब खतम हो गया। लेकिन दिल्ली और आगरा में, बिना साम्राज्य के, नाम मात्र के कई बादशाह एक के बाद एक गद्दी पर बैठते रहे।

जैसे-जैसे साम्राज्य कमज़ोर हुआ वैसे-ही-वैसे मराठो की ताक़त बढ़ती गई। उनका प्रधान मंत्री, जो पेशवा कहलाता था, राजा को भी पीछे ढकेलकर असली अधिकारी बन बैठा। पेशवाओ की गद्दी, जापान के शोगनो की तरह, पुश्तैनी मानी जानी लगी और राजा की कोई वक़त न रही। दिल्ली का बादशाह इतना कमज़ोर हो गया कि उसने सारे दक्षिण में चौथ वसूल करने के मराठो के अधिकार को मंजूर कर लिया। पेशवा को इतने पर भी संतोष न हुआ और उसने गुजरात, मालवा और मध्य भारत पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। १७३७ ई० में उसकी फौजें ठेठ दिल्ली के फाटक पर जा पहुँचीं। ऐसा मालूम होता था कि हिन्दुस्तान पर सिर्फ मराठो का ही अधिकार होनेवाला है। सारे देश में उनकी धाक थी। लेकिन १७३९ ई० में उत्तर-पश्चिम की तरफ से अचानक एक हमला हुआ जिसने ताकत की तराज़ू का पलड़ा उलट दिया और उत्तर भारत के नकशे को ही बदल दिया।

यह खत काफी लम्बा हो गया है और अब मैं इसे खतम करना चाहता हूँ। हिन्दुस्तान के इतिहास के इस युग के बारे में जितना मै लिखना चाहता था उससे ज्यादा लिख गया। लेकिन लाचार होकर मुझे इस बयान को अगले पत्र में जारी रखना पड़ेगा।

: ९२ :

हिन्दुस्तान में अपने प्रतियोगियों पर अंग्रेज़ों की विजय

१३ सितम्बर, १९३२

हम देख चुके हैं कि दिल्ली के मुगल साम्राज्य की हालत बहुत ख़राब थी। असल में यह कहा जा सकता है कि साम्राज्य के लिहाज से तो उसका कोई निशान ही बाकी न था। लेकिन दिल्ली और उत्तरी हिन्दुस्तान का इससे भी अधिक पतन होनेवाला था। जैसा कि मैं तुम्हे बतला चुका हूँ, हिन्दुस्तान में उन दिनो ले-भग्गुओ

का बोलबाला था। उत्तर-पश्चिम से अचानक एक लुटेरों के सरदार ने आकर धावा बोल दिया और बहुत सी खून-खराबी और लूट-मार करके वह बेशुमार दौलत लेकर चम्पत हो गया। यह नादिरशाह था जो ईरान का शाह बन बैठा था। वह शाहजहाँ के बनवाये हुए मशहूर तख्त ताऊस को भी साथ ले गया। यह भयंकर हमला १७३९ ई० में हुआ और इसने उत्तर भारत को बरबाद कर दिया। नादिरशाह ने अपने राज्य की सरहद ठेठ सिन्ध नदी तक बढ़ाली। इस तरह अफ़ग़ानिस्तान हिन्दुस्तान से अलग होगया। महाभारत और गंधार के जमाने से लगाकर भारत के सारे इतिहास में अफ़ग़ानिस्तान का हिन्दुस्तान से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। लेकिन अब वह बिलकुल अलग हो गया।

सत्रह वर्ष के भीतर दिल्ली पर एक और लुटेरा चढ़कर आया। यह अहमदशाह दुर्रानी था जो अफ़गानिस्तान में नादिरशाह का वारिस हुआ था। लेकिन इन हमलो के होते हुए भी मराठो की ताकत लगातार बढ़ती ही गई और १७५८ ई० में पंजाब पर भी उनका कब्ज़ा हो गया था। उन्होने इन सब जीते हुए हिस्सो पर कोई संगठित सरकार कायम करने की कोशिश नही की। वे तो अपनी मशहूर 'चौथ' वसूल कर लेते थे और राज्य का भार वही के लोगो पर छोड़ देते थे। ऐसे उनको एक तरह से दिल्ली का सारा साम्राज्य विरासत में मिल गया। लेकिन इसके बाद ही गाडी बिलकुल रुक गई। उत्तर-पश्चिम से दुर्रानी फिर चढ़ आया और उसने १७६१ ई० में पानीपत के पुराने लड़ाई के मैदान में औरों की मदद से मराठो की एक बडी फ़ौज को बुरी तरह हराया। अब दुर्रानी तमाम उत्तरी हिन्दुस्तान का मालिक बन बैठा और उसे रोकने वाला कोई न था। लेकिन विजय के इस समय में उसे खुद अपने ही आदमियो में फ़िसाद और बग़ावत का सामना करना पड़ा और वह अपने देश को वापस लौट गया।

कुछ दिनो तक तो ऐसा मालूम होता था कि मराठो के तरक़्की के दिन पूरे हो गये और उनकी कोई गिनती न रही। जिस बडे पुरस्कार को वे जीतना चाहते थे वह उनके हाथ से निकल गया। लेकिन उन्होने धीरे-धीरे अपनी हालत फिर सुधार ली और वे एक बार फिर हिन्दुस्तान के अन्दर सबसे जबर्दस्त अन्दरूनी ताकत बन गये। मगर इसी अर्से में, जैसा कि मै आगे बताऊँगा, इससे भी ज्यादा जबर्दस्त दूसरी शक्तियाँ प्रकट हुई और हिन्दुस्तान के भाग्य का निबटारा कुछ सदियो तक के लिए हो गया। इसी समय में कई मराठे सरदार पैदा हो गये, जो पेशवा के मातहत समझे जाते थे। इनमें सबसे मुख्य ग्वालियर का सिन्धिया था बड़ौदा का गायकवाड़ और इन्दौर का होल्कर भी इन्हींमें से थे।

अब जिन घटनाओं का मैंने ऊपर इशारा किया है, हमें उनपर आना चाहिए। दक्षिणी हिन्दुस्तान में इस जमाने की खास घटना अँग्रेज़ों और फ्रांसीसियो की लड़ाई है। अठारहवीं सदी में योरप में इंग्लैंड और फ्रांस की अक्सर मुठभेड़ होती रहती थी और उनके प्रतिनिधि हिन्दुस्तान में भी लड़ते थे। लेकिन कभी-कभी योरप में दोनों देशो में बाकायदा सुलह होने पर भी हिन्दुस्तान में ये लडते रहते थे। दोनो तरफ दुस्साहसी और भले-बुरे का विचार न करनेवाले ले-भगू थे, जिनकी सबसे बडी ख्वाहिश थी धन और शक्ति प्राप्त करना, इसलिए आपस में इनमें बड़ा जबर्दस्त मुकाबिला रहता था। फ्रांसीसियो के दल में उस समय सबसे जोरदार आदमी डुप्ले था और अँग्रेज़ो में क्लाइव। डुप्ले ने दो रियासतो के आपसी झगडो में दखल देने का फायदेमन्द खेल शुरू किया। पहले तो वह अपने शिक्षित सैनिक किराये पर देदेता और बाद में रियासत हड़प जाता। फ़्रांसीसियो का प्रभाव बढ़ने लगा, लेकिन अँग्रेज़ो ने भी बहुत जल्दी उसकी तरकीबों और तरीक़ो को अपना लिया और उससे भी आगे बढ़ गये। भूखे गिद्धो की तरह दोनो दल कही की गड़बडी की ताक में रहते थे और उस वक़्त ऐसी गड़बडें काफी मिल भी जाती थीं। दक्षिण में जब कभी विरासत के बारे झगड़ा होता तो शायद अँग्रेज़ एक दावेदार की और फ़्रांसीसी दूसरे की तरफ़दारी करते दिखाई पड़ते थे। पन्द्रह साल के लड़ाई-झगडे (१७४६-१७६१ ई०) के बाद अँग्रेज़ो ने फ़्रांसीसियो पर फ़तह पाई। हिन्दुस्तान पर हाथ पर हाथ मारने का साहस करने वाले इन लोगो को इंग्लैंड की पूरी मदद मिलती थी; लेकिन डुप्ले और उसके साथियो को फ्रांस से ऐसी कोई मदद नही मिली। इसमें कोई ताज्जुब की बात नही हैं। हिन्दुस्तान में रहने वाले अँग्रेज़ो की पीठ पर ब्रिटिश व्यापारी लोग और ईस्ट-इडिया कम्पनी के दूसरे शेयर-होल्डर यानी हिस्सेदार थे और वे लोग पार्लमेण्ट और सरकार पर दबाव डाल सकते थे; लेकिन फ़्रासीसियो के ऊपर उस वक़्त पन्द्रहवाँ लुई (महान् साम्राट् चौदहवे लुई का पोता) था, जो मज़े के साथ सत्यानाश की ओर दौड़ रहा था। समुद्र पर अंग्रेज़ों का जो कब्ज़ा था, उससे भी उनको बडी मदद मिली। अंग्रेज़ो और फ़्रासीसी दोनो ही हिन्दुस्तानी सैनिकों को, जो सिपाही कहलाते थे, फौजी तालीम देते थे, और चूँकि इन सिपाहियो के पास देशी फौजो से अच्छे हथियार होते थे और इनका अनुशासन भी उनसे अच्छा होता था, इसलिए इनकी बडी भारी माँग रहती थी।

बस, अँग्रेज़ो ने हिन्दुस्तान में फ़्रासीसियो को हरा दिया और चन्द्रनगर तथा पाडि-चरी नाम के फ़्रांसीसी शहरो को बिलकुल तहस-नहस कर डाला। यह बरबादीऐसी हुई कि दोनो जगह एक भी मकान या उसकी छत बाकी न रहे। इस वक़्त से फ़्रांसीसियो

का हिन्दुस्तान की रंगभूमि से खिसकाना जारी हो गया। बाद में उन्होंने पॉडिचरी और चन्द्रनगर हासिल कर लिये और आज भी ये शहर उनके कब्जे में हैं। लेकिन उनका महत्व कुछ नहीं है।

इस जमाने में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों की युद्ध भूमि सिर्फ हिन्दुस्तान तक ही सीमित न थी। योरप के अलावा वे कनाडा और दूसरी जगहों में भी लड़े। कनाडा में भी अँग्रेजों की जीत हुई। लेकिन थोड़े दिन बाद ही इंग्लैंड अमेरिका के उपनिवेशों से हाथ धो बैठा और फ्रांस ने इन उपनिवेशों को मदद देकर अँग्रेजों से अपना बदला ले लिया। लेकिन इन सब बातों के बारे में हम आगे के किसी खत में विस्तार के साथ विचार करेंगे।

फ्रांसीसियों को निकाल बाहर करने के बाद अंग्रेजों के रास्ते में और क्या रुकावटें रह गईं थीं? पश्चिम में, मध्य भारत में और कुछ हद तक उत्तर में भी मराठे तो थे ही। हैदराबाद का निजाम भी था लेकिन वह किसी गिनती में न था। हाँ, दक्षिण में एक नया और ताकतवर विरोधी हैदरअली था। वह पुराने विजय-नगर साम्राज्य के बचे-खुचे टुकड़ों का, जिनसे आजकल की मैसूर रियासत बन गई है, स्वामी बन बैठा। उत्तर में बंगाल सिराजुद्दौला नाम के एक बिलकुल निकम्मे आदमी के कब्जे में था। दिल्ली का साम्राज्य तो, जैसाकि हम देख चुके है, एक खयाल ही खयाल रह गया था। लेकिन काफी मजेदार बात यह है कि १७५६ ई० तक यानी नादिरशाह के हमले के, जिसने केन्द्रीय सरकार की परछाई तक खत्म कर दी थी, बहुत वर्षों बाद तक भी अँग्रेज लोग दिल्ली साम्राज्य को अपनी मातहती के चिन्ह-रूप नजराने भेंट करते रहे। तुम्हे याद होगा कि औरंगजेब के समय में एक बार बंगाल में अँग्रेजों ने सिर उठाने की कोशिश की थी लेकिन वे बुरी तरह हारे थे और इस हार ने उनका जोश इस तरह ठंडा कर दिया था कि दुबारा हिम्मत करने के लिए वे बहुत दिन तक आगा-पीछा सोचते रहे, हालाँकि उत्तर की हालत तो मानो खुल्लम-खुल्ला किसी दिलेर आदमी को न्यौता दे रही थी।

क्लाइव नाम के एक अँग्रेज, जिसकी उसके देश-वासी एक जबरदस्त साम्राज्य बनाने वाले की हैसियत से बहुत तारीफ करते है, ऐसा ही हौसले वाला आदमी था। अपने व्यक्तित्व और अपने कार्यों से वह बतलाता है कि साम्राज्य किस तरह निर्माण किये जाते हैं। वह बड़ा साहसी, जोखिम उठानेवाला, हद दरजे का लालची था और अपने इरादे के सामने वह जालसाजी और धोखेबाजी से भी नहीं चूकता था। बंगाल का नवाब सिराजुद्दौला, जो अँग्रेजों की बहुत-सी कार्रवाइयों से चिढ़ गया था, अपनी राजधानी मुर्शिदाबाद से चढ़कर आया और उसने कलकत्ते पर

कब्जा करलिया। कही जानेवाली 'काल-कोठरी' की दुखद घटना, कहते हैं, इसी समय हुई थी। किस्सा यो बतलाया जाता है कि नवाब के अफसरो ने बहुत से अँग्रेजों को रात में एक छोटी-सी दम घोटने वाली कोठरी में बन्द कर दिया और रात भर में उनमें बहुत से दम घुटकर मर गये। यह काम बिला शक जंगली और दिल दहलानें वाला है लेकिन यह सारा किस्सा एक ऐसे आदमी के बयान पर निर्भर है जो ज्यादा विश्वास के योग्य नहीं समझा जाता। इसलिए बहुत से लोगों का खयाल है कि यह सारा किस्सा ज्यादातर झूठा है और, जो कुछ भी हो, बढ़ाकर जरूर बयान किया गया है।

नवाब ने कलकत्ते पर कब्जा करके जो कामयाबी हासिल की उसका बदला क्लाइव ने ले लिया। लेकिन इस साम्राज्य-निर्माता ने नवाब के वजीर मीर जाफर को देश-द्रोह करने के लिए घूस देकर और एक जाली दस्तावेज, जिसका किस्सा बहुत लम्बा हैं, बनाकर बदला लेने का अपना निराला ढंग इख्तियार किया। जाल-साजी और धोखे के जरिये रास्ता साफ करके क्लाइव ने १७५७ ई० में नवाब को प्लासी की लड़ाई में हरा दिया। जैसी लड़ाइयाँ हुआ करती हैं उनके मुकाबिले में यह लड़ाई छोटी थी, और इसे तो असल में क्लाइव ने, अपनी साजिशो से, लड़ाई शुरू होने के पहले ही, क़रीब-क़रीब जीत लिया था। लेकिन प्लासी की इस छोटी-सी लड़ाई का नतीजा बहुत बड़ा निकला। इसने बंगाल की किस्मत का फैसला कर दिया, और हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज्य की शुरुआत अक्सर प्लासी से ही मानी जाती है। छल-कपट और जालसाजी की इस शर्मनाक नीव पर हिन्दुस्तान का ब्रिटिश साम्राज्य बनाया गया। लेकिन सब साम्राज्यो और साम्राज्य बनाने वालो का क़रीब-क़रीब यही ढंग होता है।

भाग्य चक्र का यह अचानक परिवर्त्तन बंगाल के ले-भगू और लालची अँग्रेजो के सरदार के कारण हुआ। वे बंगाल के स्वामी बन बैठे और उनके हाथ रोकने वाला कोई न रहा। बस, क्लाइव को अगुआ बनाकर उन्होने बंगाल के खजाने पर हाथ मारना शुरू किया और उसे बिलकुल खाली कर डाला। क्लाइव ने क़रीब २५ लाख रुपये नक़द खुद अपनी नजर किये और इतनें पर भी संतोष न करके कई लाख रुपये साल की आमदनी की एक बडी कीमती जागीर भी हड़प कर ली। बाकी के सब अँग्रेज लोगों ने भी इसी तरह अपना 'हर्जाना वसूल किया'। दौलत हासिल करने के लिए बडी छीना-झपटी मची और ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियो का लालच और विवेक तो सब बाँधो को पाकर गया। अँग्रेज लोग बंगाल के नवाब-निर्माता बन गये और अपनी मर्जी के माफिक नवाबो को बदलने लगे। हरेक तबादले के साथ घूस

और बेशकीमत नज़राने चलते थे। शासन की ज़िम्मेदारी उनपर न थी, यह तो बेचारे बदले हुए नवाब का काम था; उनका काम तो था जल्दी से जल्दी धनवान बन जाना।

कुछ वर्ष बाद, १७६४ ई० में, अँग्रेज़ों ने बक्सर में एक और लड़ाई जीती जिसका नतीजा यह हुआ कि दिल्ली का नाम मात्र का बादशाह भी उनकी शरण में आगया। उन्होने उसे पेन्शन दे दी। अब बंगाल और बिहार में अँग्रेजो का अटल प्रभुत्व हो गया। देश से जो अपार धन वे लूट रहे थे उससे उनको संतोष न हुआ और उन्होंने रुपया बटोरने के नये-नये तरीके निकालने शुरू किये। देश के अन्दरूनी व्यापार से उनको कुछ लेना-देना नहीं था। लेकिन अब वे उन ज़कातों को, जो देशी माल के व्यापारियो को देनी पड़ती थीं, दिये बिना ही व्यापार करने पर उतारू होगये। भारत की कारीगरी और व्यापार पर अँग्रेजों की यह पहली चोट थी।

उत्तर हिन्दुस्तान में अँग्रेजों की स्थिति अब ऐसी होगई थी कि ताक़त और दौलत तो उनके हाथ में थी लेकिन ज़िम्मेदारी उनपर कुछ भी न थी। ईस्ट-इंडिया कपनी के व्यापारी लुटेरो को यह पता लगाने की ज़रूरत न थी कि ईमानदारी के व्यापार और खुल्लम-खुल्ला लूट-मार में क्या फ़र्क है। यह वह ज़माना था जब अँग्रेज़ लोग हिन्दुस्तान से मालामाल होकर इंग्लैंड लौटते थे और 'नबॉब' कहलाते थे। अगर तुमने थैंकरे का 'वैनिटीफ़ेयर'[१] पढ़ा है तो उसमें आये हुए ऐसे ही एक घमंडी आदमी का तुमको खयाल होगा।

राजनैतिक जोखिम और गड़बड़ें, वर्षा की कमी, और अंग्रेजो की हड़पने की नीति वग़ैरा इन सब कारणों का नतीजा यह हुआ कि १७७० ई० में बँगाल और बिहार में एक बड़ा भयंकर अकाल पड़ा। कहा जाता है कि इन प्रान्तो की एक-तिहाई से ज्यादा आबादी ख़तम हो गई। इस दिल दहलाने वाली संख्या का ख़याल तो करो! कितने लाख आदमी भूख से तड़प-तड़प कर मर गये। प्रान्त के प्रान्त उजाड़ हो गये और वहाँ जंगल पैदा हो गये जिन्होने उपजाऊ खेतो और गाँवो को बरबाद कर दिया। भूख से मरनेवालो की मदद के लिए किसीने कुछ न किया। नवाब के पास न तो ताकत थी, न अधिकार और न प्रवृत्ति। ईस्ट इंडिया कम्पनी के पास ताकत और अधिकार तो थे लेकिन वे कोई ज़िम्मेदारी या मदद देनें की तरफ़ झुकाव महसूस न करते थे। उनका काम तो रुपया इकट्ठा करना और मालगुज़ारी वसूल करना था और उन्होने यह काम अपनी जेबें भरने के लिए इतनी काबलियत और ख़ूबी के साथ किया कि तुम्हें ताज्जुब होगा कि भयंकर अकाल के बावजूद भी उन्होने बचे हुए

१. वैनिटीफ़ेयर—थैंकरे का लिखा हुआ अँग्रेजी का एक मशहूर उपन्यास। थैंकरे अग्रेजी भापा का मशहूर उपन्यासकार होगया है।

लोगों से मालगुज़ारी की पूरी रकम वसूल करली ! असल में उन्होंने तो मालगुज़ारी से भी ज्यादा वसूली करली और सरकारी रिपोर्ट के मुताबिक यह काम उन्होंने 'ज़ोर-ज़बर्दस्ती के साथ' किया । महान् विपत्ति से बचे हुए भूख से अधमरे और कम्बख़्त लोगों से जो यह ज़बरदस्ती के साथ और अत्याचारपूर्ण वसूली की गई उसकी हैवानियत यानी अमानुषिकता को पूरी तरह ख़याल में लाना भी मुश्किल है ।

बंगाल में और फ़्रांसीसियों पर फ़तेह हासिल कर चुकने पर भी दक्षिण में अंग्रेज़ों को बडी दिक्क़तों का सामना करना पड़ा । आखिरी फ़तेह मिलने से पहले उनको कई बार हारना और बेइज्ज़त होना पड़ा । मैसूर का हैदरअली उनका कट्टर दुश्मन था । वह एक काबिल और ख़ूँख़ार सेनानायक था और उसने अंग्रेजी फ़ौजों को बार-बार हराया । १७६९ ई० में उसने ठेठ मदरास के किले के नीचे अपने माफ़िक सुलह की शर्तें लिखवालीं । दस साल बाद उसे फिर बहुत बडी कामयाबी मिली और उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र टीपू सुलतान अंग्रेज़ों की राह का काँटा बन गया । टीपू को पूरी तौर पर हराने में मैसूर की दो लड़ाइयाँ और हुई । बहुत से साल लग गये और तब फिर मौजूदा मैसूर महाराजा का एक पूर्वज अंग्रेज़ों की छत्रछाया में राजा बनाकर गद्दी पर बिठलाया गया ।

१७८२ ई० में दक्षिण में मराठों ने भी अंग्रेज़ों को हराया । उत्तर में ग्वालियर के सिन्धिया की तूती बोलती थी और दिल्ली का बेचारा गरीब बादशाह उसकी मुट्ठी में था ।

इसी अर्से में इंग्लैंड से वॉरन हेस्टिंग्स भेजा गया । वह यहाँ का पहला गवर्नर-जनरल हुआ । ब्रिटिश पार्लमेंट अब हिन्दुस्तान के मामलों में दिलचस्पी लेने लगी । हेस्टिंग्स हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ शासकों में सबसे बड़ा माना जाता है, लेकिन उसके शासनकाल में भी सरकारी इन्तज़ाम बहुत बिगड़ा हुआ और बुराइयों से भरा हुआ मशहूर था । हेस्टिंग्स के ज़रिये बहुत सा रुपया ऐंठे जाने के कई उदाहरण मशहूर हैं । जब हेस्टिंग्स इंग्लैंड लौटा तो हिन्दुस्तान के शासन के बारे में पार्लमेंट के सामने उस पर मुकदमा चलाया गया लेकिन बहुत दिन मुकदमा चलने के बाद वह बरी कर दिया गया । पहले क्लाइव की भी पार्लमेंट ने निन्दा की थी और वह असल में आत्महत्या करके मरा । इस तरह इन लोगों की निन्दा करके या इन पर मुकदमे चलाकर इंग्लैंड ने अपनी आत्मा को सन्तुष्ट कर लिया लेकिन दिल ही दिल में वह इनकी तारीफ़ करता था और इनकी नीति से फायदा उठाने के लिए हरदम तैयार था । क्लाइव और हेस्टिंग्स भले ही निन्दा के पात्र बने, लेकिन ये लोग साम्राज्य बनानेवालों के नमूने हैं, और जब तक गुलाम कौमों पर ज़बरदस्ती साम्राज्य लादे जाँयगे और उनको चूसा जायगा,

तब तक ऐसे लोग आगे आवेंगे और बहुत से लोग उनकी तारीफ़ भी करेगे। चूसने की तरकीबें अलग-अलग युगों में भले ही बदलती रहे लेकिन तत्व वही रहता है। पार्लमेंट ने क्लाइव की निन्दा भले ही करदी हो लेकिन इन लोगो ने लंदन के ह्वाइट हाल में, इंडिया ऑफिस के बाहर, सामने ही, उसकी एक मूर्त्ति खडी कर रक्खी है; भीतर भी उसकी आत्मा आजतक मौजूद है और भारत में ब्रिटिश नीति पर असर डालती रहती है।

हेस्टिंग्स ने अंग्रेजो के मातहत कठपुतली के समान हिन्दुस्तानी राजाओ को रखने की नीति शुरू की। भारतीय रंगमंच पर सोने में मढ़े हुए और बेवकूफ महाराजाओं और नवाबो की जो भीड़ की भीड़ जो आज अंकड़ती फिरती है और लोगों को बुरी मालूम होती हैं, उसका कुछ-कुछ श्रेय हमें हेस्टिंग्स को देना पडेगा।

हिन्दुस्तान में जैसे-जैसे ब्रिटिश साम्राज्य बढ़ा वैसे ही वैसे मराठो, अफ़ग़ानो, सिक्खो, बर्मनो वग़ैरो से बहुत सी लड़ाइयाँ हुई। लेकिन इन लड़ाइयों के बारे में एक ताज्जुब की बात यह थी कि हालाँकि ये इँग्लैंड के फ़ायदे के लिए लडी गई थी लेकिन इनका खर्चा हिन्दुस्तान को देना पड़ा। इँग्लैंड के रहनेवालों पर कुछ भी बोझ न पड़ा। उन्होने तो मजे से फायदा उठा लिया।

याद रहे कि हिन्दुस्तान पर ईस्ट इंडिया कंपनी, जो एक व्यापारी कंपनी थी, राज्य कर रही थी। ब्रिटिश पार्लमेंट का अधिकार बढ़ रहा था लेकिन ज्यादातर हिन्दुस्तान की क़िस्मत व्यापारी लुटेरो के एक गिरोह के हाथो में थी। शासन अधिकांश में व्यापार था और व्यापार अधिकांश में लूट थी। इनके बीच में भेद की बडी बारीक रेखा थी। कंपनी अपने हिस्सेदारो को हर साल १००, १५०, और २०० फ़ी सदी से ऊपर जबरदस्त मुनाफ़े बाँटती थी। इसके अलावा हिन्दुस्तान में उसके एजेंट अपने लिए अच्छी रकमें बना लेते थे, जैसा कि हम क्लाइव के मामले में देख चुके है। कंपनी के कर्मचारी व्यापारी ठेके भी ले लेते थे और इस तरह बहुत जल्द बेशुमार दौलत बटोर लेते थे। हिन्दुस्तान में कंपनी की हुकूमत इस तरह की थी।

: ९२ :

चीन का एक बड़ा मंचू राजा

१५ सितम्बर १९३२

मैं बिलकुल घबरा गया हूँ और मेरी समझ मे नही आता कि क्या करूँ। बडी भयानक खबर यह आई है कि बापू ने अनशन करके प्राण दे देने का इरादा

कर लिया है। मेरी छोटी-सी दुनिया, जिसमें उन्होंने इतनी बड़ी जगह घेर रक्खी है, कॉप रही है और टूटकर गिरने को हो रही है और मुझे चारो तरफ अंधेरा और सुनसान नजर आरहा है। एक साल से ज्यादा हुआ तब मैंने उनको आखरी बार हिन्दुस्तान से पश्चिम लेजाने वाले जहाज के डेक पर खड़े हुए देखा था और उनकी वह तसवीर रह-रह कर मेरी आँखो के आगे आजाती है। क्या उन्हे अब मैं दुबारा नही देखूंगा ? जब मुझे शंका होगी और नेक सलाह की जरूरत होगी या जब मैं दुख और रंज में होऊंगा और मुझे प्रेमपूर्ण तसल्ली की जरूरत होगी तब मैं किसके पास जाऊंगा ? जब हमारा प्यारा सरदार, जिसने हमको स्फूर्ति दी है और जो हमारा रहनुमा रहा है, चला जायगा तो हम सब क्या करेंगे ? हाय ! हिन्दुस्तान एक बदकिस्मत देश है जो अपनें महान पुरुषो को इस तरह मरने देता है; और हिन्दुस्तान के लोग गुलाम है और उनके दिमाग भी गुलामो के से है जो खुद अपनी आजादी को तो भूल बैठे है और जरा-जरा सी न-कुछ बातो पर झगड़े-टटे करते रहते है।

मेरी तबियत लिखनें को बिलकुल नहीं कर रही है और मैंनें तो खतों के इस सिलसिले को खतम तक कर देने पर विचार कर लिया है। लेकिन यह एक बेवकूफी की बात होगी। इस कोठरी में पड़ा-पड़ा मै क्या कर सकता हूँ, सिवाय इसके कि पढ़ूं, लिखूं, और विचार करूँ और जब उकता जाऊँ और बेकरार होजाऊँ तो तुम्हारा ख़याल करूँ, तुमको पत्र लिखने से ज्यादा तसल्ली मुझे और किस बात में मिल सकती है ? रंज और आँसू इस दुनिया में कोई अच्छे साथी नहीं है। बुद्ध ने कहा है कि "समुद्र में जितना पानी है उससे भी ज्यादा आँसू बह चुके है", और यह कमबख्त दुनिया जब तक ठीक-ठिकाने पर आवेगी तब तक नमालूम कितने आँसू और बहाये जाँयगे। हमारा कर्त्तव्य अभी तक हमारे सामने पड़ा है। वह बड़ा काम हमको अब भी बुला रहा है, और जब तक वह काम पूरा न हो जाय तब तक हमको या हमारे पीछे आनेवालो को चैन नहीं मिल सकता। इसलिए मैंने अपने मामूली रोजमर्रा के कामो को जारी रखने का इरादा कर लिया है और मै पहले की तरह तुमको खत लिखता रहूँगा।

मेरे आख़िरी कुछ ख़त हिन्दुस्तान के बारे में थे और जो बयान मैंने लिखा है उसका पिछला हिस्सा शानदार नहीं है। हिन्दुस्तान चारों खाने चित्त पड़ा था और हरेक लुटेरे और ले-भग्गू का शिकार हो रहा था। पूर्व में उसके बड़े भाई चीन की हालत इससे बहुत अच्छी थी और अब हमें चीन की तरफ ही चलना चाहिए।

तुम्हे याद होगा कि मैंने तुमको मिग युग के खुशहाल दिनो का हाल लिखा था और यह बतलाया था कि किस तरह उसमें ख़राबियां और फूट घुस गई और चीन

के उत्तरी पडौसी मचुओ ने हमला करके उसे जीत लिया। इस आधे विदेशी राजवश के राज्य में चीन बहुत ताक़तवर होगया और दूसरो पर हमले तक करने लगा। मंचू लोग एक नई ताकत लेकर आये, और जहाँ एक ओर वे चीन के घरू मामलो में कम-से-कम रुकावटें डालते थे, वहाँ वे अपनी फालतू ताकत को उत्तर, पश्चिम और दक्षिण की तरफ अपना साम्राज्य बढ़ाने में खर्च करते थे।

एक नया राजघराना शुरू-शुरू मे अक्सर थोडे से काबिल राजा पैदा करता है और बाद में नालायको से उसका खातमा हो जाता है। इसी तरह मंचुओं में भी कुछ ग़ैर-मामूली योग्यतावाले और निपुण राजा और राजनीतिज्ञ पैदा हुए। काग-ही दूसरा सम्राट हुआ। जब यह गद्दी पर बैठा तो इसकी उम्र सिर्फ ८ वर्ष की थी। ६१ वर्ष तक वह ऐसे साम्राज्य का बादशाह रहा जो अपने जमाने की दुनिया के किसी भी साम्राज्य से बड़ा और ज्यादा आबाद था। लेकिन इतिहास में उसका महत्त्व इस वजह से नही है, और न उसकी सैनिक योग्यता के कारण है। उसका नाम अमर हुआ है उसकी राजनीतिज्ञता और उसके असाधारण साहित्यिक कामो के कारण। वह १६६१ से १७२२ ई० तक सम्राट रहा, यानी चौव्वन वर्ष तक वह फ्रांस के महान सम्राट चौदहवे लुई का समकालीन रहा था। इन दोनों ने बहुत ही लम्बे अर्से तक राज्य किया, और एक रिकार्ड क़ायम करने की इस दौड़ में ७२ वर्ष राज्य करके लुई ने बाजी मारली। इन दोनो का मुक़ाबिला करना मजेदार बात है लेकिन यह मुक़ाबिला सब तरह से लुई को ही नीचा गिरानेवाला है। उसने अपने देश का सत्यानाश कर दिया और भारी कर्जो का बोझ उसके सिर पर लादकर उसे बिलकुल कमजोर बना दिया। मजहबी मामलो में भी वह असहिष्णु था। कांग-ही कन्फ्यूशियस का पक्का अनुयायी था लेकिन वह दूसरे मजहबो के प्रति उदार था। उसके राज्य में, और असल में पहले चार मंचू सम्राटो के राज्य में, मिग संस्कृति से कोई छेड़-छाड़ नही की गई। उसका ऊँचा आदर्श बना रहा और कुछ हद तक तो उसमें तरक्की भी हुई। उद्योग-धंधे, कला-कारीगरी, साहित्य और शिक्षा उसी तरह चलते रहे जैसेकि मिग राजाओ के जमाने में थे। चीनी मिट्टी के अद्भुत बरतनो का बनना जारी रहा। रंगीन छपाई की खोज हुई और ताबे पर खुदाई का काम जेसुइट लोगो से सीखा गया।

मचू राजाओ की नीतिकुशलता और कामयाबी का भेद इस बात में था कि वे चीन की सस्कृति के पूरे हामी बन गये थे। चीन के विचारो और संस्कृति को अपना कर भी उन्होने कम सभ्य मंचुओ की ताकत और क्रियाशीलता को खोया नही। इस तरह से कांग-ही एक गैर-मामूली और अजीब खिचडी था यानी दर्शन और साहित्य का लगन के साथ अध्ययन करने वाला और संस्कृति के कामो में डूबा

हुआ, और बड़ा काबिल सिपहसालार । उसे मुल्क जीतने का जरा ज्यादा शौक था । वह साहित्य और कला-कौशल का कोई दिखाऊ प्रेमी न था । उसके साहित्यिक कार्यो में से नीचे लिखी तीन किताबो से तुम उसकी गहरी दिलचस्पी और विद्वत्ता का कुछ अन्दाजा लगा सकती हो, जो उसकी सलाह से और ज्यादातर खुद उसीकी देखरेख में तैयार की गईं थीं ।

तुम्हे याद होगा कि चीनी भाषा में चिन्ह (शब्द-संकेत) है, अक्षर नही हैं । कांग-ही ने चीनी भाषा का एक कोष तैयार करवाया । यह एक जबर्दस्त ग्रंथ था जिसमें चालीस हजार से ज्यादा चिन्ह थे और उनके प्रयोग बतलाने वाले कितने ही वाक्यांश यानी जुमले थे । आजतक भी उसकी जोड़ का कोई ग्रंथ नही है ।

कांग-ही के उत्साह ने हमको जो एक और ग्रंथ दिया, वह था एक बड़ा भारी सचित्र विश्वकोष—यानी कई सौ जिल्दो में पूरा होनेवाला एक अद्भुत ग्रंथ । यह एक पूरा पुस्तकालय था, इसमें हरेक बात का बयान था, हरेक विषय पर लिखा गया था । कांग-ही की मृत्यु के बाद यह ग्रन्थ तांबे के उठाऊ छापो से छापा गया ।

जिस तीसरे महत्वपूर्ण ग्रंथ का मै यहाँ जिक्र करूँगा, वह था सारे चीन के साहित्य का निचोड़ यानी ऐसा कोष जिसमें शब्दो और पुस्तकों के अंशो का संग्रह और उनका मुकाबिला किया गया था । यह भी एक गैर-मामूली काम था क्योंकि इस-के लिए सारे चीनी साहित्य का गहरा अध्ययन जरूरी था । कवियो, इतिहास लेखको और निबन्ध लेखको की पूरी-पूरी रचनाये इस ग्रंथ में दी गई थी ।

कांग-ही ने और भी कितने ही साहित्यिक काम किये । लेकिन किसी पर भी असर डालने के लिए ये तीन ही काफ़ी है । इनमें से किसी की भी टक्कर का ऐसा कोई आधुनिक ग्रंथ मेरी निगाह में नही आता, सिवाय उस बडी 'ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी' के जिसे बनाने में कितने ही विद्वानो ने पचास वर्ष से ज्यादा मेहनत की और जो अभी कुछ वर्ष हुए पूरी हुई है ।

कांग-ही ईसाई धर्म और ईसाई मिशनरियो के प्रति काफी उदार था । वह विदेशो के साथ तिजारत बढ़ाने की कोशिश करता था और उसने चीन के सारे बन्दर-गाह इसके लिए खोल दिये थे । लेकिन उसे जल्दी ही पता लग गया कि योरप के लोग बदमाशी करते हैं और उनपर निगाह रखने की जरूरत है । उसे यह शक हो गया, जिसके लिए काफी सबूत थे, कि मिशनरी लोग चीन को आसानी से जीत लेने के लिए अपने-अपने देश की सरकारो के साम्राज्यवादियों के साथ साजिश कर रहे हैं । इसका नतीजा यह हुआ कि उसने ईसाई धर्म के प्रति अपनी उदारता के भावो को बदल दिया । बाद में कैण्टन के चीनी फौजी अफसर से जो रिपोर्ट मिली उससे उसके

शुबहों के काफी सबूत मिले। इस रिपोर्ट में बतलाया गया कि फिलिपाइन और जापान में योरप की सरकारो और उनके सौदागरो और मिशनरियों के बीच में कितना गहरा ताल्लुक था। इसलिए इस अफसर ने यह सिफ़ारिश की थी कि हमलो और विदेशियों की साजिशो से साम्राज्य को बचाने के लिए विदेशी व्यापार पर पाबन्दी लगाई जाय और ईसाई धर्म के प्रचार को रोका जाय।

यह रिपोर्ट १७१७ ई० में पेश की गई थी। पूर्वी देशो में विदेशियों की साजिशों पर और उनके इन इरादों पर यह काफ़ी रोशनी डालती है, जिनकी वजह से इन देशों को विदेशी व्यापार कम करना पड़ा और ईसाई धर्म के प्रचार को रोकना पड़ा। तुम्हे शायद याद होगा कि जापान में भी ऐसी ही एक घटना हुई थी जिसके कारण देश को दूसरों के लिए बन्द कर दिया गया था। अक्सर यह कहा जाता है कि चीनी और दूसरे लोग पिछडे हुए और अज्ञान है और ये विदेशियो से नफ़रत करते है और उनकी तिजारत के रास्ते में दिक्कतें पैदा करते है। पर हमने इतिहास का जो सिंहावलोकन किया है उससे तो यह साफ़ जाहिर हो जाता है कि बहुत पुराने जमाने से हिन्दुस्तान चीन और दूसरे देशों के बीच काफ़ी तिजारत होती थी। विदेशियो या विदेशी व्यापार से नफ़रत करने का कोई सवाल ही न था। सच तो यह है कि बहुत वर्षो तक तो विदेशी मंडियो पर हिन्दुस्तान का ही क़ब्जा रहा। जब विदेशी व्यापारियो के रिसाले खुल्लम-खुल्ला पश्चिमी योरप की ताक़तो के साम्राज्य को बढ़ाने के काम में लाये जाने लगे, तभी जाकर पूर्व में उनको शक और शुबहे की नजर से देखा जाने लगा।

कैण्टन के अफ़सर की रिपोर्ट पर चीन की बडी राज्यसभा (Chinese Grand Council of State) ने विचार करके उसे मंजूर कर लिया। इसका नतीजा यह हुआ कि सम्राट कॉग-ही ने उसके मुताबिक कर्रवाई करके विदेशी व्यापार और पादरियो के प्रचार पर सख्त पाबन्दी लगाने के हुक्म जारी किये।

अब मैं थोडी देर के लिए खास चीन को छोड़कर तुम्हें एशिया के उत्तर की ओर, यानी साइबेरिया, ले जाना चाहता हूँ और यह बतलाना चाहता हूँ कि वहाँ क्या हो रहा था। साइबेरिया का लम्बा-चौड़ा मैदान सुदूर पूर्व के चीन को पश्चिम के रूस से मिलाता है। मैं कह चुका हूँ कि चीन का मंचू साम्राज्य बड़ा लम्बा-चौड़ा था। इसमें मंचूरिया तो शामिल था ही, लेकिन यह मंगोलिया और उसके परे तक भी फैला हुआ था। सुनहरे कबीले के मंगोलो को बाहर निकालकर रूस भी एक मजबूत केन्द्रीय राज्य बन गया था और पूर्व में साइबेरिया के मैदानो की तरफ बढ़ रहा था। ये दोनो साम्राज्य अब साइबेरिया में आकर मिलते है।

एशिया में मंगोलों का तेजी के साथ कमजोर होकर नष्ट होजाना इतिहास की अजीब घटना है। ये लोग, जिनका डंका सारे एशिया और योरप में बजता था और जिन्होंने चंगेज खाँ और उसके वारिसों के राज्य में उस वक्त की दुनिया का ज्यादातर हिस्सा जीत लिया था, अपना नाम तक खो बैठे। तैमूर के राज्य में कुछ दिनों तक इन्होंने फिर सिर उठाया था लेकिन उसका साम्राज्य उसीके साथ खतम होगया। उसके बाद उसके खानदान के कुछ लोग, जो तैमूरिया कहलाते थे, मध्य एशिया में हुकूमत करते रहे और हमको मालूम है कि उनके दरबारों में चित्रकला की एक मशहूर शैली ईरानी कला का प्रचार हुआ। हिन्दुस्तान में आने वाला बाबर तैमूर के ही खानदान का था। लेकिन तैमूरिये राजाओं के होते हुए भी रूस से लगाकर अपनी जन्मभूमि मंगोलिया तक सारे एशिया में मंगोल जाति गिरकर अपनी सारी ताकत खो बैठी। उसने ऐसा क्यों किया, यह कोई नहीं बतला सकता। कुछ लोगों की राय है कि आबहवा का इसमें कुछ हाथ है, और लोगों की दूसरी राय है। जो कुछ भी हो, आज तो इन पुराने विजेताओं और आक्रमणकारियों पर खुद ही इधर-उधर से हमले हो रहे हैं।

मंगोल साम्राज्य के टूट जाने के बाद करीब-करीब दो सौ वर्षों तक एशिया में होकर जानेवाले खुश्की के रास्ते बन्द रहे। सोलहवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में रूसवालों ने जमीन के रास्ते चीन को एलची भेजे। उन्होंने मिंग सम्राटों से राजनैतिक रिश्ता कायम करने की कोशिश की लेकिन कामयाब न हुए। थोड़े दिन बाद ही 'यरमक' नाम के एक रूसी डाकू ने कज्जाकों का एक गिरोह लेकर यूराल पहाड़ को पार किया और एक छोटे से राज्य सिबिर को जीत लिया। साइबेरिया का नाम इसी राज्य के नाम से निकला है।

यह घटना १५८१ ई० की है। इस तारीख से रूसी लोग पूर्व की तरफ लगातार आगे ही बढ़ते गये यहाँ तक कि लगभग पचास वर्ष में वे प्रशांत महासागर तक पहुँच गये। जल्द ही आमूर की घाटी में उनकी चीनियों से मुठभेड़ हुई। दोनों में लड़ाई हुई जिसमें रूसवालों की हार हुई। १६८९ ई० में दोनों देशों में नरखिन्स की सुलह हुई। सरहदें तय कर दी गईं और व्यापार का इन्तजाम किया गया। योरप के एक देश के साथ चीनवालों की यह पहली सुलह थी। इस सुलह से रूस का आगे बढ़ना तो रुक गया लेकिन कारवानों के व्यापार में बड़ी भारी तरक्की हुई। उस जमाने में महान् पीटर (पीटर दि ग्रेट) रूस का जार था और वह चीन से नजदीकी सम्बन्ध कायम करने का इच्छुक था। उसने कॉंग-ही के पास दो बार एलची भेजे और बाद में चीन के दरबार में एक दायमी एलची मुकर्रर कर दिया।

चीन में तो बहुत पुराने जमाने से ही विदेशी एलची या राजदूत आते रहते थे। शायद मै किसी ख़त में जिक्र कर चुका हूँ कि रोमन सम्राट मार्कस ऑरेलियस एण्टोनियस ने ईसा के बाद दूसरी सदी में एक राजदूत मंडल भेजा था। यह भी दिलचस्पी की बात है कि जब १६५६ ई० में हालैंड और रूस के राजदूत-मंडल चीन के दरबार में पहुँचे तो वहाँ उन्होने 'महान् मुगल' के एलची देखे। ये जरूर शाहजहाँ के भेजे हुए होगे।

: ६४ :

चीनी सम्राट का अंग्रेज़ बादशाह को पत्र

१६ सितम्बर, १९३२

मालूम होता है कि मंचू सम्राट गैरमामूली तौर पर लम्बी उम्र वाले होते थे। कांग-ही का पोता शियन-लुंग चौथा सम्राट हुआ। इसने भी १७३६ से १७९६ तक, यानी साठ वर्ष के बहुत ही लम्बे अर्से तक, राज्य किया। दूसरी बातो में भी यह अपने दादा के ही जैसा था। इसकी भी ख़ास दिलचस्पी दो बातो में थी, साहित्यिक कार्य और साम्राज्य की वृद्धि। इसने हिफाजत करने लायक सब साहित्यिक ग्रथो की बडी भारी खोज करवाई। इनको इकट्ठा किया गया और बडी बारीकी के साथ इनकी फेहरिस्त बनाई गई। इसके लिए फेहरिस्त लफ्ज ठीक नही है क्योकि हरेक ग्रथ के बारे में जितनी भी बातें मालूम हो सकीं वे सब लिखी गईं और साथ ही उनकी आलोचना भी जोड़ दी गई। शाही पुस्तकालय की यह बडी फेहरिस्त, जिसमें किताबो का जिक्र था, चार हिस्सो में थी—कन्फ्यूशियन धर्म-सम्बन्धी; इतिहास, दर्शन और सामान्य साहित्य। कहा जाता है कि इस जोड़ का ग्रंथ दुनिया में और कही नही है।

इसी जमाने में चीनी उपन्यासो, छोटी कहानियो और नाटको की तरक्की हुई और ये बडे ऊँचे दर्जे तक जापहुँचे। यह बात ध्यान देने लायक है कि उन दिनो इग्लैण्ड में भी उपन्यास का विकास हो रहा था। चीनी के बरतनो और चीनी कला की दूसरी खूबसूरत चीजो की योरप में माँग थी और इनकी तिजारत का तार बंध रहा था। चाय के व्यापार की शुरुआत और भी दिलचस्प है। यह पहले मंचू सम्राट के जमाने में शुरु हुआ। इंग्लैण्ड में चाय शायद दूसरे चार्ल्स के जमाने में पहुँची थी। अंग्रेज़ी के मशहूर डायरी यानी दिनचर्या लिखने वाले सेम्युएल पेपीज की डायरी में १६६० ई० में सबसे पहले 'टी' (एक चीनी पेय) पीने के बारे में एक

लिखावट है। चाय के व्यापार में बडी जबरदस्त तरक्की हुई और दो सौ वर्ष बाद, १८६० ई० में अकेले फूचू नाम के चीन के बन्दरगाह से, एक मौसम में, दस करोड़ पौंड चाय बाहर भेजी गई। बाद में दूसरे स्थानों में भी चाय की खेती होने लगी, और जैसा कि तुमको मालूम है, आजकल हिन्दुस्तान और सीलोन (लंका) में चाय बहुतायत से पैदा होती है।

शियन-लुंग ने मध्य एशिया में तुर्किस्तान को जीतकर और तिब्बत पर कब्जा करके अपना साम्राज्य बढ़ाया। कुछ वर्ष बाद, १७९० ई० में, नेपाल के गुरखो ने तिब्बत पर चढ़ाई की। इस पर शियन लुंग ने न केवल गुरखो को तिब्बत से ही मार भगाया बल्कि हिमालय के ऊपर होकर नेपाल तक उनका पीछा किया और नेपाल को चीनी साम्राज्य की मातहती कबूल करने को मजबूर किया। नेपाल की यह फतेह एक मार्के की बात है। चीन की फौज का तिब्बत और फिर हिमालय को पार करना और गुरखो जैसी लड़ाकू जाति को, खास उन्हींके घर में, हरा देना एक ताज्जुब की बात है। सिर्फ २२ वर्ष बाद, १८१४ ई० में, ऐसी घटना हुई कि हिन्दुस्तान के अंग्रेजो का नेपाल से झगड़ा हो गया। उन्होने नेपाल को एक फ़ौज भेजी लेकिन उसे बडी दिक्कतों का सामना करना पड़ा, हालांकि उसे हिमालय को पार नहीं करना पड़ा था।

शियन-लुग के राज के आखिरी साल यानी १७९६ ई० में, जो साम्राज्य सीधा उसके कब्जे में था उसमें, मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत और तुर्किस्तान शामिल थे। उसकी सत्ता को माननेवाली मातहत रियासते थीं कोरिया, अनाम, स्याम और बरमा। लेकिन देश विजय और सैनिक कीर्ति की लालसा बडे खर्चीले खेल है। इनमें बड़ा भारी खर्चा होता है और टैक्सो का भार बढता जाता है। यह भार सबसे ज्यादा ग़रीबो पर ही पड़ता है। उस वक्त आर्थिक तब्दीलियाँ भी होरही थीं जिससे असन्तोप की आग और भी बढी। देशभर में राज्य के विरुद्ध गुप्त समितियाँ कायम हो गईं। इटली की तरह चीन भी गुप्त समितियों के लिए काफी मशहूर रहा है। इनमें से कुछ के नाम भी मजेदार थे, जैसे श्वेतकमल समिति (व्हाइट लिली सोसाइटी), दैवीन्याय समिति (सोसाइटी ऑफ डिवाइन जस्टिस); श्वेत पख समिति (व्हाइट फैदर सोसाइटी); स्वर्ग और पृथ्वी की समिति (हैवन ऐन्ड अर्थ सोसाइटी)।

सब तरह की पाबन्दियो के होते हुए भी विदेशी व्यापार साथ-साथ बढ़ रहा था। इन पाबन्दियो के कारण विदेशी व्यापारियों में बड़ा भारी असन्तोष था। व्यापार का सबसे बड़ा हिस्सा ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ में था, जिसने कैण्टन तक पैर फैला रक्खे थे, इसलिए पाबन्दियाँ सबसे ज्यादा इसीको अखरती थीं। जैसा

कि हम आगे के खतों में देखेंगे, यह जमाना वह था जबकि औद्योगिक क्रान्ति के नाम से पुकारी जाने वाली क्रान्ति शुरू हो रही थी और इंग्लैंड इसका अगुआ बन रहा था। भाप का एंजिन ईजाद हो चुका था और नये तरीकों और मशीनों के इस्तेमाल से काम आसान हो रहा था और पैदावार बढ़ रही थी—खासकर सूती माल की। यह जो फालतू माल बन रहा था उसका बिकना भी लाजमी था, इसलिए नई-नई मण्डियाँ तलाश की जाती थी। इंग्लैंड बड़ा खुशकिस्मत था कि ठीक इसी वक़्त हिन्दुस्तान उसके कब्जे में था जिससे वह यहाँ अपने माल को जबरदस्ती बिकवाने का इंतजाम कर सकता था, जैसाकि उसने असल में किया भी। लेकिन वह चीन के व्यापार को भी हथियाना चाहता था।

इसलिए १७९२ ई० में ब्रिटिश सरकार ने लार्ड मैकार्टनी के नेतृत्व में एक राजदूत मंडल पेकिंग भेजा। उस समय तीसरा जार्ज इंग्लैंड का बादशाह था। शियन-लुंग ने उसको दरबार में मुलाकात के लिए बुलाया और दोनो ओर से नजराने दिये-लिये गये। लेकिन सम्राट ने विदेशी व्यापार पर लगी हुई पुरानी पाबन्दियों में कुछ भी हेर-फेर करने से इनकार कर दिया। शियन-लुंग ने जो जवाब तीसरे जार्ज को भेजा था वह बड़ा मजेदार खरीता है और मैं उसमें से एक लम्बा हिस्सा यहाँ देता हूँ। उसमें लिखा है :—

> "......ऐ बादशाह, तू बहुत से समुद्रो की सीमा से परे रहता है, फिर भी हमारी सभ्यता से कुछ फायदा उठाने की नम्र इच्छा से प्रेरित होकर तूने एक राजदूत मडल भेजा है जो बाइज्जत तेरी अर्जी लेकर आया है.....। अपनी भक्ति का सबूत देने के लिए तूने अपने देश की बनी हुई चीजे भेट में भेजी है। मैंने तेरी अर्जी या प्रार्थनापत्र को पढा है जो दिली अल्फाज उसमे लिखे हैं उनसे मेरे प्रति तेरी आदरपूर्ण विनम्रता प्रकट होती है, जो काबिल तारीफ है।' ......
>
> "सारी दुनिया पर राज्य करते होते हुए, मेरी निगाह मे केवल एक ही मकसद है यानी आदर्श शासन कायम करना और राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यो पर अमल करना, आश्चर्यभरी और बेशकीमत चीजो से मुझे दिलचस्पी नही है। मुझे..... तेरे देश की बनी हुई चीजो की जरूरत नही है। ऐ बादशाह, तुझे मुनासिब है कि मेरी भावनाओ का आदर करे और भविष्य में इससे भी ज्यादा श्रद्धा और राज्यभक्ति दिखलावे, ताकि तू सदा हमारे राज्यसिंहासन की छत्रछाया मे रहकर अपने देश के लिए आगे को शान्ति और सुख प्राप्त करे' ...।
>
> "डर से कापते हुए आज्ञापालन कर और लापरवाही मत कर!"

तीसरे जार्ज और उसके मन्त्रियो ने जब यह उत्तर पढ़ा होगा तो वे जरा सकते में आगये होंगे! लेकिन जिस ऊँची सभ्यता में स्थिर विश्वास और जिस ताक़त

के बड़प्पन का पता इस जवाब से मिलता है, उसका पाया असल में टिकाऊ न था। मंचू सरकार मज़बूत दिखलाई पड़ती थी और शियन-लुंग के राज्य में वह मज़बूत थी भी। लेकिन उसकी जड़ें तब्दील होती हुई माली हालत की वजह से खोखली होती जा रही थीं। जिन गुप्त समितियो का मैंने ज़िक्र किया है वे इसी असन्तोष को बतलानेवाली थीं। असली दिक्कत यह थी कि देश को इन नई आर्थिक तब्दीलियो के अनुकूल नहीं बनाया जारहा था। दूसरी तरफ़ पश्चिम के देश इन नई तब्दीलियो के अगुआ थे। वे बड़ी तेज़ी के साथ आगे बढ़ रहे थे और दिन-पर दिन ताक़तवर होते जाते थे। सम्राट शियनलुंग ने इंग्लैंड के तीसरे जार्ज को जो बड़ा घमंड-भरा जवाब भेजा था। उसके बाद सत्तर साल भी न बीतने पाये थे कि इंग्लैंड और फ़्रांस ने चीन को नीचा दिखा दिया और उसके घमंड को मिट्टी में मिला दिया।

चीन के बारे का यह क़िस्सा तो मै अपने दूसरे ख़त में बयान करूँगा। १७९६ ई० में, शियन लुंग की मृत्यु पर, हम अठारहवीं सदी के करीब-करीब अखीर तक पहुँच जाते है। लेकिन इस सदी के ख़तम होने से पहले अमेरिका और योरप में बहुत सी ग़ैर-मामूली घटनायें हो चुकी थीं। असल में योरप में होने वाली लड़ाइयो और गड़बड़ो के ही कारण करीब-क़रीब पच्चीस वर्ष तक चीन में योरप का असर कम होता रहा। इसलिए अगले ख़त में हम योरप की तरफ़ रुख़ करेंगे और अठारहवीं सदी के शुरू से कहानी का सिलसिला शुरू करेंगे और हिन्दुस्तान तथा चीन की घट-नाओ से उसका मेल मिलावेंगे।

लेकिन इस खत को ख़त्म करने के पहले मैं पूर्व में रूस की तरक्की का हाल तुमको बतलाऊँगा। रूस और चीन में १६८९ ई० में जो नरखिन्स्क की सुलह हुई, उसके बाद करीब डेढ़सौ वर्ष तक पूर्व में रूस का असर बढ़ता ही गया। १७२८ ई० में वाइटस बेरिंग नाम के एक डेनमार्क के कप्तान ने, जो रूस में नौकर था, एशिया और अमेरिका को अलग करने वाले जलडमरूमध्य (आबनाय) की खोज की। शायद तुम जानती हो कि यह डमरूमध्य आज भी उसके नाम पर बेरिंग का जल-डमरूमध्य कहलाता है। बेरिंग समुद्र को पार करके अलास्का जा पहुँचा और उस देश को रूस के मातहत होने का एलान कर दिया। अलास्का समूरो[1] के लिए ख़ास-तौर पर मशहूर है और चूंकि समूर की खालो की चीन में बड़ी भारी मांग थी इस-लिए रूस और चीन के बीच समूर की खालो की एक ख़ास तिजारत का सिलसिला क़ायम

१ समूर—अलास्का (उत्तरी अमेरिका) मे एक लोमड़ी होती है जिसके बाल बहुत मुलायम होते है। इसकी खाल के गुलूबन्द बनते है जो बडे कीमती होते हैं। अंग्रेजी मे समूर के बालो को फर (Fur) कहते है।

हो गया। अठारहवी सदी के अखीर में समूर की खालो वगैरा की माँग चीन में इस कदर बढ़ गई कि रूस इनको कनाडा की हडसन खाडी से इंग्लैड के रास्ते मंगवाकर साइबेरिया में बैकाल झील के पास कियाख्ता की समूर की खालों की वडी भारी मंडी को रवाना करने लगा। ये समूर की खालें कितना जबरदस्त रास्ता तय करके आती थीं।

जरा तब्दीली के लिए यह खत इस तरह के और खतो से छोटा हो गया है। मुझे उम्मीद है कि यह परिर्वन तुम पसन्द करोगी।

: ९५ :

अठारहवीं सदी के योरप में विचारों की लड़ाई

११ सितम्बर, १९३२

अब हम वापस योरप की तरफ चलेगे और उसके बदले हुए भाग्य पर ग़ौर करेगे यह उन जबरदस्त तब्दीलियों की शुरूआत का वक़्त है जिनका असर संसार के इतिहास पर पड़ा। इन तब्दीलियों को समझने के लिए हमको चीजो की भीतरी तह में झॉकना पडेगा और यह जानने की कोशिश करनी पडेगी कि लोगो के दिमाग़ में क्या-क्या बातें चक्कर लगा रही थी। क्योंकि जो कुछ क्रिया हमको दिखलाई पड़ती है वह विचारो और इच्छाओं, तआस्सुबो (पक्षपात) और अन्ध विश्वासो, उम्मीदों और खतरो की गुत्थी का नतीजा होती है; और जब तक कि हम किसी काम के साथ-साथ उसके कारणो पर विचार न करें तब तक उस काम को यो ही समझना मुश्किल हो जाता है। लेकिन यह आसान बात नहीं है, और अगर मैं इस काबिल भी होऊँ कि इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाओ को ढालने वाले इन कारणो और उद्देश्यो पर अच्छी तरह लिख सकूं, तो भी मैं यह कभी न चाहूँगा कि इन खतो को और भी ज्यादा नीरस और उकता देनेवाला बनादूं। मुझे डर रहता है कि कभी-कभी किसी विषय के बारे में या किसी खास खयाल के बारे में जोश ही जोश में मैं जरूरत से ज्यादा गहराई में न पहुँच जाऊँ। लेकिन मै लाचार हूँ। तुम्हे यह बर्दाश्त करनी पडेगी। फिर भी हम इन कारणो की ज्यादा गहराई में नही जा सकते। लेकिन इनको छोड़ देना भी परले दरजे की बेवकूफी होगी; और अगर हम ऐसा करें भी तो इतिहास की कशिश या आकर्षण और खासियत से महरूम रह जावेगे।

सोलहवीं सदी और सत्रहवीं सदी के पहले आधे हिस्से में योरप में जो उथल-पुथल और हलचले मचीं उनपर हमने विचार कर लिया है। सत्रहवीं सदी के बीच

के समय में (१६४८) वैस्ट फैलिया की सुलह हुई जिससे उस भयानक 'तीस साला लड़ाई' का खातमा हो गया। एक साल बाद ही इंग्लैंड की घरेलू लड़ाई खतम हो गई और चार्ल्स प्रथम का सर उड़ा दिया गया। इसके बाद कुछ-कुछ शान्ति का जमाना आया। योरप बिलकुल पस्त हो गया था। अमेरिका और दूसरी जगहो के उपनिवेशो में व्यापार से योरप को धन मिलने लगा जिससे कुछ मदद मिली और जुदे-जुदे गिरोहो की आपसी तनातनी कम हुई।

१६८८ में इंग्लैंड में वह शान्तिपूर्ण क्रान्ति हुई जिसने दूसरे जेम्स को निकाल बाहर किया और पार्लमेण्ट को विजयी बना दिया। असली लड़ाई तो पार्लमेण्ट ने चार्ल्स प्रथम के खिलाफ गृह-युद्ध में जीती थी। क्रांति ने तो खाली उसी नतीजे पर मुहर लगा दी जो चालीस साल पहले तलवार के जोर से हासिल हुआ था।

इस तरह इंग्लैंड में बादशाह का महत्व कम हो गया। लेकिन योरप में, सिवाय स्वीजरलैंड और हॉलैंड-जैसे कुछ छोटे-छोटे मुल्को के हालत इससे उलटी थी। वहाँ तो अभी आजाद और निरंकुश राजाओ का बोलबाला था और फ्रांस के महान बादशाह चौदहवे लुई को आदर्श मानकर उसकी नकल की जाती थी। योरप में सत्रहवीं सदी करीब-करीब चौदहवे लुई की ही सदी थी। योरप के राजा लोग पूरी शान-शौकत और बेवकूफी के साथ मनमानी मौज कर रहे थे, आगे आनेवाली अपनी बुरी हालत की उनको कोई फिक्र न थी और न वे इंग्लैण्ड के चार्ल्स प्रथम पर जो बीती उससे ही सबक लेना चाहते थे। उनका दावा था कि देश की सारी ताकत और सारी दौलत उनकी ही है और देश तो मानो उनकी निजी जागीर है। चारसौ वर्ष से ज्यादा हुए तब इरैस्मस नामके हालैंड के एक विद्वान ने लिखा था:—"बुद्धिमानो को तमाम चिड़ियो में से एक ईगल (उकाब या गरुड़) ही बादशाही का नमूना नजर आया है, जो न तो सुन्दर है, न सुरीला, न खाने लायक, बल्कि मांसभक्षी, भुक्खड़, सबकी घृणा का पात्र, सबसे बुरा, नुकसान पहुँचाने की बहुत बडी ताकत रखनेवाला और नुकसान पहुँचाने की इच्छा रखने में सब से बढ़कर है।" आज बादशाहो का करीब-करीब लोप हो चुका है और जो कुछ बचे है, वे पुराने जमाने के चिन्ह मात्र है, उनके हाथ में कुछ भी ताकत नहीं है। अब हम उनको दरगुजर कर सकते है। लेकिन उनकी जगह दूसरे और उनसे ज्यादा खतरनाक आदमियो ने लेली है और नये युग के इन साम्राज्यवादियों तथा लोहे और तेल और चाँदी और सोने के बादशाहो की ठीक अलामत अब भी ईगल ही है।

योरप की बादशाहतें मजबूत केन्द्रीय रियासतें बन गईं। राजा और सरदार की पुरानी सामन्तशाही खतम हो चुकी थी या होरही थी। देश के एक इकाई और

एक हस्ती होने का नया ख़याल इसकी जगह ले रहा था। रिशेल्यू और मैज़ेरिन नाम के दो बड़े क़ाबिल मंत्रियों के समय में फ़्रांस इसका अगुआ बना। इस तरह राष्ट्रीयता का और कुछ हद तक देशभक्ति का उदय हुआ। धर्म, जो अभी तक इन्सान की जिन्दगी की सबसे महत्वपूर्ण चीज़ थी, अब अपना महत्त्व खोने लगा और उसकी जगह नये विचारों ने ले ली, जैसा कि मैं इसी ख़त में आगे चलकर बतलाऊँगा।

सत्रहवीं सदी इस कारण और भी ज्यादा महत्वपूर्ण है कि उसमें आधुनिक विज्ञान की नींव रक्खी गई और सारी दुनिया का व्यापार खुल गया। इस बड़े भारी नये बाज़ार ने कुदरती तौर पर योरप की पुरानी माली हालत को डाँवाडोल कर दिया और इसके बाद योरप, एशिया और अमेरिका में जो कुछ भी हुआ वह तभी समझ में आसकता है जब इस नये बाज़ार को नज़र के सामने रक्खा जाय। बाद में विज्ञान की तरक्की हुई और इसने दुनिया-भर के बाज़ार की माँग को पूरा करने के साधन पैदा कर दिये।

अठारहवीं सदी में उपनिवेश और साम्राज्य बढ़ाने की दौड़ का, जो ख़ासकर इंग्लैंड और फ़्रांस के बीच चली, नतीजा यह हुआ कि न सिर्फ योरप में ही बल्कि कनाडा और, जैसाकि मैं लिख चुका हूँ, हिन्दुस्तान में भी, लड़ाई चेत गई। सदी के बीच में इन लड़ाइयों के बाद फिर एक शान्ति का ज़माना आया। योरप की ऊपरी सतह शान्त और हलचल से सूनी नज़र आने लगी। योरप के सारे शाही दरबार बड़े ही विनीत, सभ्य और नफ़ीस महिलाओ और पुरुषो से भरे थे। लेकिन यह शान्ति सिर्फ़ ऊपरी सतह पर थी। भीतर ही भीतर खलबली और हलचल मच रही थी और नये ख़याल तथा नई भावनायें लोगो के दिमाग़ को परेशान कर रही थीं, और शानदार दरबारियों और कुछ ऊपर के वर्गो को छोड़कर बाकी के ज्यादातर लोगो को बढ़ती हुई गरीबी के कारण, दिन पर दिन ज्यादा मुसीबते झेलनी पड़ रही थीं। इसलिए अठाहरवी सदी के पिछले हिस्से में योरप में जो शान्ति नज़र आती थी वह बड़ी धोखा देनेवाली थी; वह तो आनेवाले तूफ़ान की सूचक थी। १७८९ ई० की १४ वीं जुलाई को योरप की सबसे बड़ी बादशाहत की राजधानी पेरिस में तूफान की शुरुआत हुई। इस तूफान में यह बादशाहत और सैकड़ों ही दूसरे पुराने और घुने हुए रिवाज और अधिकार बह गये।

इस तूफान और बाद में होनेवाली तब्दीली की तैयारी फ़्रांस और कुछ-कुछ योरप के दूसरे देशो में भी, बहुत दिनो से नये विचारों के ही कारण हो रही थी। सारे मध्य युग में योरप में मजहब का ही दौरदौरा था। बाद में, रिफार्मेशन के ज़माने में भी, यही हालत रही, हरेक सवाल पर, चाहे वह राजनैतिक हो या

आर्थिक, मजहबी पहलू से विचार किया जाता था। मजहब एक संगठित चीज था और उसका मतलब था पोप और चर्च के दूसरे ऊँचे अफसरो की मर्जी। समाज का संगठन बहुत कुछ ऐसा ही था, जैसा हिन्दुस्तान में जातियो का। शुरू-शुरू में जाति का मतलब था समाज के धन्धो या कामो के मुताबिक होनेवाला बँटवारा। मध्ययुग में समाज के सम्बन्ध में लोगो के जो ख़याल थे उनकी जड़ यही पेशों के मुताबिक बने हुए सामाजिक वर्ग थे। हरेक वर्ग में, हिन्दुस्तान की हरेक जाति की तरह, बराबरी की भावना थी। लेकिन किन्हीं दो या ज्यादा जातियों के बीच में यह बराबरी की भावना न थी। समाज का सारा ढांचा ही इस असमानता की नींव पर खड़ा था और कोई इस पर ऐतराज करनेवाला न था। इस बँटवारे से जिनको तकलीफ़ होती थी उनसे कहा जाता था कि "इसका इनाम तुमको स्वर्ग में मिलेगा।" इस तरह मजहब इस अन्याय से भरे हुए सामाजिक ढांचे को बनाये रखने की कोशिश करता था और परलोक की बात करके लोगों का ध्यान इस तरफ से हटाने की कोशिश करता था। अमानतदारी या ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त जो कहलाता है उसका भी यह मजहब प्रचार करता था, यानी उसके मुताबिक दौलतमंद आदमी एक तरह से ग़रीब आदमी का अमानतदार था; जमींदार अपनी जमीन को काश्तकार की 'अमानत' की तरह रखता था। एक बडी बेतुकी स्थिति को समझाने का चर्च का यह तरीका था। इससे अमीरो का कुछ बनता-बिगड़ता न था और गरीबो को कोई आराम न पहुँचता था। भूखे पेट में भोजन की जगह ख़ाली स्थानपन की बातो से काम नही चल सकता।

कैथलिको और प्रोटेस्टेण्टो की सख्त मजहबी लड़ाई, कैथलिक और कालविन के अनुयायियो—दोनो—की असहिष्णुता, और इनक्विजिशन, ये सब इस कट्टर मजहबी और जातिगत दृष्टिकोण के ही नतीजे थे। जरा इसका विचार तो करो! कहा जाता है कि योरप में प्यूरिटनों ने लाखो स्त्रियों को जादूगरनी बतलाकर ज़िन्दा जला डाला। विज्ञान के नये खयालात को दबाया जाता था क्योंकि ये चर्च के मत के ख़िलाफ थे। जीवन को बिलकुल स्थिर और प्रगतिहीन समझा जाता था, तरक्की का कोई सवाल न था।

सोलहवीं सदी के बाद ये खयाल हमको धीरे-धीरे बदलते हुए मालूम होते है। विज्ञान का उदय होता है और मजहब का सब चीजो को जकड़ने वाला शिकंजा ढीला पड़ जाता है; राजनीति और अर्थशास्त्र मजहब से अलग समझे जाते है। कहते है कि सत्रहवीं और अठारहवी सदियो में बुद्धिवाद की, यानी अंधविश्वास के मुकाबिले में तर्क की बढ़ती होती है। यह माना जाता है कि सहिष्णुता की विजय दरअसल

काण्ट्रैक्ट' यानी सामाजिक शर्तनामा है और इस मशहूर वाक्य से शुरू होती है (मैं याददाश्त से लिख रहा हूँ): "Man is born free but is everywhere in chains." यानी "मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र है, लेकिन वह सब जगह जंजीरो में जकड़ा हुआ है।"

रूसो एक जबरदस्त शिक्षा-प्रचारक भी था और उसके बतलाये हुए शिक्षा के बहुत से नये तरीक़े आज भी स्कूलो में बरते जाते हैं।

अठारहवीं सदी में फ्रांस में वाल्टेयर और रूसो के अलावा और भी बहुत से प्रसिद्ध विचारक और लेखक हुए। मैं सिर्फ माण्टेस्क्यू[1] के नाम का जिक्र और करूँगा जिसने 'एस्प्रित दी लोई' नामकी किताब लिखी। पेरिस में इसी के समय में एक विश्व कोष भी प्रकाशित हुआ जो दिदरोत और राजनैतिक और सामाजिक विषयो के दूसरे विद्वान् लेखकों के लेखों से भरा पड़ा था। फ्रास दार्शनिकों और विचारको से भरा हुआ नजर आता था। इतना ही नहीं, इनकी पुस्तकें भी खूब पढ़ी जाती थीं और यह इसमें कामयाब हो गये कि हजारो मामूली लोग इन्हींकी तरह सोचने और ख़याल करने लगे और इनके मतों पर बात-चीत करने लगे। इस तरह फ़ांस में एक ऐसा जोरदार लोकमत पैदा हो गया जो धार्मिक असहिष्णुता और राजनतिक और समाजिक रिआयतों के ख़िलाफ़ था। लोगो पर आजादी की अस्पष्ट इच्छा का एक भूत-सा सवार हो गया। लेकिन अजीब बात तो यह है कि न तो जनता ही और न दार्शनिक लोग ही बादशाह से पिंड छुड़ाना चाहते थे। उस वक़्त प्रजातन्त्र की भावना सब लोगों में न थी, और जनता तो यही उम्मीद करती थी कि उसे प्लेटो के दार्शनिक बादशाह से मिलता जुलता एक आदर्श राजा मिले जो उनकी तकलीफ़ो को दूर करे और उनको न्याय और थोडी बहुत स्वाधीनता दे दे। जो कुछ भी हो, दार्शनिको ने ऐसा ही लिखा है। इस बारे में शक होने लगता है कि आख़िर पीड़ित जनता बादशाह से कितनी मुहब्बत करती थी!

इंग्लैण्ड में फ़्रास की तरह का राजनैतिक विचारो का कोई विकास नही हुआ। कहा जाता है कि अंग्रेज राजनैतिक जन्तु नही है। लेकिन फ्रांसीसी हैं। इसके अलावा १६८८ ई० की क्रान्ति ने भी तनातनी को कुछ कम कर दिया था। लेकिन कुछ वर्ग अब भी बहुतेरी सुविधाओ और रिआयतो का उपभोग कर रहे थे। नई

१. माण्टेस्क्यू---(१६८९--१७५५) फ्रास का प्रसिद्ध विचारक, तत्ववेत्ता और इतिहासकार। १७४८ ई० मे इसकी मशहूर किताब 'Esprit des Lois' प्रकाशित हुई, जिससे उसके गहरे अध्ययन का पता लगता है। यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि उस जमाने मे भी, १८ महीने के अन्दर उसके २२ सस्करण हो गये। उसके विचारो के कारण चर्च ने उस पर जबर्दस्त आक्रमण किया था।

आर्थिक परिस्थितियों, जिनके बारे में जल्दी ही किसी अगले खत में मैं तुमको लिखूंगा, और व्यापार और अमेरिका तथा हिन्दुस्तान की उलझनों में अंग्रेजों का दिमाग लगा हुआ था। जब सामाजिक तनातनी बहुत बढ़ गई तो एक काम चलाऊ-समझौते ने विस्फोट या धड़ाके के खतरे को दूर कर दिया। फ्रांस में इस तरह के समझौते की गुंजाइश न थी, और इसीलिए उथल-पुथल हो गई।

यह भी ध्यान देने की बात है कि इंग्लैण्ड में आधुनिक उपन्यास का विकास अठारहवीं सदी के बीच में हुआ। 'गुलिवर्स ट्रैवल्स' और 'रॉबिन्सन क्रूसो' अठारहवीं सदी के शुरू में लिखे गये थे, जैसा कि मैं पहले ही बतला चुका हूँ। इनके बाद असली उपन्यास निकले। इस वक्त इंग्लैण्ड में पाठकों का एक नया गिरोह पैदा हुआ।

अठारहवी सदी में ही गिबन नाम के एक अंग्रेज ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'डिक्लाइन एण्ड फॉल ऑफ दि रोमन एम्पायर' यानी रोमन साम्राज्य का ह्रास और पतन लिखा। रोमन साम्राज्य का बयान करते वक्त अपने किसी पिछले खत में मैं इस बात और इस किताब का जिक्र कर चुका हूँ।

: ९८ :

महान् परिवर्त्तनों के पहले का योरप

२४ सितम्बर, १९३२

हमने अठारहवी सदी मे योरप के, और खासकर फ्रांस के, स्त्री-पुरुषो के दिलो में जरा झांकने की कोशिश की है। यह सिर्फ एक झांकी रही है जिसने हमको कुछ खयालात की बढती और पुराने विचारो से उनकी लड़ाई का दृश्य दिखलाया है। अभी तक हम परदे के पीछे रहे है, लेकिन अब हम योरप की रंगभूमि के पात्रो पर निगाह डालेंगे।

फ्रांस में बुड्ढा चौदहवाँ लुई आखिरकार १७१५ ई० में मरने में कामयाब हो ही गया। वह कई पीढ़ियो तक जिन्दा रहा और उसके बाद उसका पोता, पंद्रहवे लुई के नाम से, गद्दी पर बैठा। फिर एक ५९ वर्ष की लम्बी हुकूमत चली। इस तरह चौदहवे और पंद्रहवे लुई, फ्रांस के इन दो सिलसिलेवार बादशाहो ने, कुल १३१ वर्ष तक राज किया।

चीन के दो मंचू बादशाह कांग-ही और शियन लुग, हरेक ने साठ-साठ वर्ष राज किया, लेकिन ये एकके बाद दूसरा यानी एक सिलसिले से नही हुए और इन दोनो के बीच में एक तीसरे का भी राज रहा।

असाधारण लम्बे वक़्त के अलावा पंद्रहवें लुई का शासन खास तौर पर शर्मनाक बुराइयों और षड्यंत्रों के लिए मशहूर है। राज्य की सारी दौलत बादशाह के ऐश-आराम में ख़र्च होती थी। सब दरबारी लोग अपने-अपने आदमियों का ख़ूब फ़ायदा करवाते थे जिससे फ़िज़ूलख़र्ची बढ़ गई थी। जो दरबारी स्त्री या पुरुष बादशाह को खुश कर लेते उनको मुफ्त की ज़मींदारियाँ और फ़ालतू ओहदे बख्शे जाते थे, जिनका मतलब था बिना मेहनत की आमदनी। और इन सबका भार जनता पर ज्यादा ही ज्यादा बढ़ता जाता था। निरंकुशता, अयोग्यता, और अनाचार, बड़े मज़े से हाथ मिलाये हुए आगे बढ़ रहे थे, फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है अगर सदी के ख़तम होते न होते वे अपने रास्ते के किनारे पर पहुँच गये और गहरी खाई में जा गिरे? ताज्जुब तो यह है कि रास्ता इतना लम्बा निकला और गिरावट इतनी देर बाद हुई। पंद्रहवाँ लुई जनता के इन्साफ़ और बदले से बच गया; इनका मुक़ाबिला तो उसके वारिस सोलहवें लुई को १७७४ ई० में करना पड़ा।

अपनी अयोग्यता और कमीनेपन के बावजूद भी पंद्रहवें लुई को राज्य में उसकी एकमात्र सत्ता के बारे में कोई संदेह न था। उसके पास सब कुछ था और उसे अपनी मर्ज़ी के मुताबिक करने से रोकनेवाला कोई न था। पेरिस में १७७६ ई० में एक सभा के सामने बोलते हुए उसने जो शब्द कहे थे वे सुनने लायक हैं :—

'C'est en ma personne seul que re'side l'antorite souveraine C'est a moi seul qu appartient le pouvoir lejislatif sans dependance et sans partage. L'ordre public tout entier emane de moi, j en suis le guardien supreme Mon peuple n'est qu'un avec moi, les droits et les interets de la nation, dont on ose, faire un corps separe du monarque. sont necessairement unis avec les miens et ne reposent qu'-entre mes mains"

यानी "राज्य-सत्ता पूरे तौर पर सिर्फ मेरे ही व्यक्तित्त्व में निवास करती है.....। सिर्फ मुझको ही, बिना किसी का सहारा या मदद लिये, कानून बनाने का पूरा हक है। प्रजा की शान्ति का एकमात्र स्रोत मैं ही हूँ, मैं ही उसका सबसे बड़ा रक्षक हूँ। मेरी प्रजा की मुझसे अलहदा कोई हस्ती नहीं है, राष्ट्र के अधिकार और हित, जो कुछ लोगों के दावे के मुताबिक बादशाह से कोई अलग चीज़ है, वे ज़रूरी तौर पर मेरे ही अधिकार और हित है और मेरी ही मुट्ठी मे रहते हैं।"

अठारहवीं सदी के ज्यादातर हिस्से में फ़्रांस का राजा इस तरह का था। कुछ दिनों तक तो योरप में उसका दबदबा मालूम होने लगा था। लेकिन बाद में दूसरे राजाओं और राष्ट्रों की महत्वाकांक्षाओं से उसकी मुठभेड़ हुई और उसे हार माननी पड़ी। फ़्रांस के कुछ पुराने प्रतियोगियों का भी योरप के स्टेज पर कोई ज़ोरदार पार्ट

न रहा। लेकिन उनकी जगह फ्रांस की ताकत का मुकाबिला करने के लिए और दूसरे पैदा हो गये। थोड़े दिन की शहंशाही शानशौकत भुगतकर घमंडी स्पेन योरप में, और दूसरी जगहो में भी, नीचे गिर गया। लेकिन अमेरिका और फ़िलिपाइन, टापुओ में बड़े-बड़े उपनिवेश अब भी उसके क़ब्ज़े मे थे। आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग भी जिन्होने साम्राज्य के शिरोमणि होने का और उसके ज़रिये योरप की नेतागिरी का ठेका-सा ले रक्खा था, अब पहले जैसे महत्वपूर्ण नही रह गये थे। आस्ट्रिया अब साम्राज्य की अगुआ रियासत नही थी; एक दूसरी रियासत प्रशिया आगे बढ़ गई थी और आस्ट्रिया की बराबरी करने लगी थी। आस्ट्रिया की राजगद्दी की विरासत के लिए लड़ाइयां हुई और बहुत दिनो तक मेरिया थेरेसा नाम की एक महिला ने उसको घेर रक्खा।

तुम्हे याद होगा कि १६४८ ई० की वेस्टफेलिया की सन्धि ने प्रशिया को योरप की महत्वपूर्ण शक्ति बना दिया था। वहाँ पर हॉहेनज़ॉलर्न का घराना राज कर रहा था और दूसरे जर्मन राजवंश, आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग के घराने, की सत्ता का मुकाबिला करने के लिए तैयार हो रहा था। छियालीस वर्ष यानी १७४० से १७८६ ई० तक प्रशिया पर फ्रेडरिक ने राज किया जो फ़ौजी कामयाबी के कारण 'ग्रेट' यानी महान् कहलाता है। योरप के दूसरे राजाओ की तरह यह भी एक स्वेच्छाचारी राजा था लेकिन उसने दार्शनिक का चोगा पहन लिया था और वाल्टेयर से दोस्ती करने की कोशिश की थी। उसने एक ताकतवर फौज तैयार कर ली थी और वह एक होशियार और कामयाब सिपहसालार था। वह अपने आपको 'बुद्धिवादी' कहता था और सुनते है कि वह कहा करता था कि "हरेक को यह छुट्टी रहनी चाहिए कि जिस तरह वह चाहे स्वर्ग प्राप्त करे।"

सत्रहवीं सदी के बाद से योरप मे फ़्रास की सस्कृति का बोलबाला रहा। अठारहवी सदी के बीच के समय में तो इसने और भी ज़ोर पकड़ा और वाल्टेयर को सारे योरप में बडी भारी शोहरत मिली। असल मे कुछ लोग तो इस सदी को 'वाल्टे-यर की सदी' कहते हैं। योरप के तमाम राजदरबारो में, यहाँतक कि पिछड़े हुए सेंट पीटर्सबर्ग में भी, फ्रेंच साहित्य पढ़ा जाता था और सभ्य और शिक्षित लोग फ्रेंच भाषा में लिखना और बोलना पसन्द करते। मसलन प्रशिया का फ्रेडरिक महान् करीब-करीब हमेशा फ्रेंच भाषा मे ही लिखता और बोलता था। उसने तो फ्रेंच भाषा में कविता भी लिखने की कोशिश की और यह चाहा था कि वाल्टेयर उसे, उसके लिए, ठीक कर दिया करे।

प्रशिया के पूर्व में रूस था, जिसका एक बडी ताकत की सूरत में बढना शुरू

होगया था। चीन के इतिहास का बयान करते वक्त हम लिख चुके है कि किस तरह रूस साइबेरिया को पार करके प्रशान्त महासागर तक जापहुँचा और उसे पार करके अलास्का तक भी पहुँच गया। सत्रहवी सदी के अखीर में रूस में महान पीटर नामक ताकतवर राजा का राज्य था। रूस मे जो बहुत से पुराने मंगोलियन रिश्ते और खयालात बहुत दिनो से घुसे थे पीटर उनका खातमा करना चाहता था। वह रूस को ऐसा बनाना चाहता था जिसे आजकल लोग 'वेस्टरनाइज'[1] करना यानी पश्चिमीकरण कहते है। इसलिए उसने पुरानी परम्पराओं से भरी हुई पुरानी राजधानी मॉस्को को छोड दिया और अपने लिए एक नया शहर और राजधानी बसाई। यह उत्तर में नेवा नदी के किनारे और फिनलैंड की खाडी के मुहाने पर था। इसका नाम सेंट पीटर्सबर्ग था। यह शहर सुनहरी गुम्बजोंवाले मॉस्को से बिलकुल जुदा था; वह ज्यादातर पश्चिमी योरप के बडे शहरो के जैसा था। पीटर्सबर्ग पश्चिमीकरण का चिन्ह बन गया और रूस योरप की राजनीति में ज्यादा हिस्सा लेने लगा। शायद तुम्हे मालूम होगा कि पीटर्सबर्ग नाम अब नही रहा है। पिछले बीस वर्षों में उसका नाम दो बार बदला है। पहली बार उसका नाम बदल कर पेट्रोग्रेड किया गया और दूसरी बार लेनिनग्रेड हुआ। आज कल यही नाम चालू है।

पीटर महान ने रूस मे बहुत-सी तब्दीलियाँ कीं। मै यहा पर उनमें से एक का जिक्र करूँगा, जो तुम्हे दिलचस्प मालूम होगी। उसने स्त्रियो को घरो में बन्द रखने के रिवाज का, जिसे 'टैरम' कहते थे, और जो उन दिनो रूस में जारी था, खातमा कर दिया। पीटर का ध्यान हिन्दुस्तान की तरफ भी था। और वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हिन्दुस्तान के महत्व को समझता था। उसने अपने वसीयत-नामे में लिखा है:—"याद रक्खो कि हिन्दुस्तान का व्यापार सारी दुनिया का व्यापार है, और जो उसको मुट्ठी में रख सकता है वही योरप का डिक्टेटर होगा।" हिन्दुस्तान की सल्तनत हासिल करने के बाद इंग्लैंड की ताकत में जो एकदम तरक्की हुई उससे पीटर के आखिरी शब्दो की सचाई साबित हो जाती है। हिन्दुस्तान की लूट से इंग्लैंड को गौरव और धन मिला जिससे कई पीढियो तक वह ससार की सबसे बडी ताकत बना रहा।

एक तरफ एशिया और आस्ट्रिया तथा दूसरी तरफ रूस के बीच में पोलैंड था। वह एक पिछडा हुआ देश था जहाँ के किसान बहुत गरीब थे। वहा कोई व्यापार और उद्योग-धन्धे न थे और न बडे-बडे शहर थे। उसका विधान भी अजीब-सा था।

१. 'वेस्टरनाइज' करना अर्थात् पश्चिम जैसा बनाना, अर्थात पश्चिम (योरप) की सभ्यता को अपनाना।

जिसमें बादशाह तो चुना हुआ होता था और ताकत सामन्त सरदारो के हाथो में रहती थी। जैसे-जैसे आसपास के देश ताकतवर होते गये, पोलैंड कमजोर होता गया। प्रशिया, रूस और आस्ट्रिया तीनो ही उसे हडपना चाहते थे।

लेकिन वह पोलैंड का ही राजा था जिसने १६८३ ई० में वियेना पर आखिरी हमला करनेवाले तुर्कों को मार भगाया था। उस्मानी तुर्क फिर सिर न उठा सके। उनकी ताकत पूरी हो चुकी थी और पलड़ा धीरे-धीरे पलट रहा था। आगे से वे अपना बचाव करने में ही रहे और धीरे-धीरे योरप में तुर्की साम्राज्य कम होने लगा। लेकिन जिस जमाने का हम जिक्र कर रहे है, यानी अठारहवी सदी के पहले आधे हिस्से में टर्की दक्षिण-पूर्वी योरप का एक शक्तिशाली देश था, और उसका साम्राज्य बाल्कन की रियासतो से लगाकर हँगरी के पार पोलैंड तक फैला हुआ था।

दक्षिण में इटली कई राज्यो में बँटा हुआ था और योरप की राजनीति में उसकी कोई गिनती न थी। पोप का पहले वाला दबदबा नही रहा था और राजा और बादशाह उसकी इज्जत तो करते थे लेकिन राजनैतिक मामलो में उसे पूछते भी न थे। धीरे-धीरे योरप में एक नया ढग यानी बडी शक्तियो का ढग, पैदा होरहा था। जैसा कि मै बतला चुका हूँ, ताकतवर एक-सत्तात्मक या केन्द्रीय राज्य राष्ट्र या राष्ट्रीयता के खयाल की बढ़ती में मदद दे रहे थे। लोग अपने-अपने देशो का विचार एक खास तरीके से करने लगे थे जो आजकल तो बहुत फैल गया है लेकिन इस जमाने के पहले एक गैर-मामूली बात थी। फ्रांस, इंग्लैंड या ब्रिटैनिया, इटैलिया और इस तरह की दूसरी सूरते जाहिर होने लगीं। ये राष्ट्र के प्रतीक या निशान-से मालूम होने लगे। कुछ दिन बाद, उन्नीसवीं सदी में, ये शक्ले लोगो के दिमाग में मूर्त्तिमान होने लगीं और उनके दिलो पर एक अजीब तौर से असर डालने लगीं। ये देश नई देवियाँ बन गये जिनकी वेदी पर हरेक देश-भक्त को पूजा करनी पड़ती है और जिसके नाम पर और जिसके लिए देश-भक्त लोग लड़ते हैं और एक दूसरे की हत्या करते हैं। तुम जानती हो कि 'भारत-माता' की भावना किस तरह हम लोगो को प्रेरित करती है और किस तरह लोग इस स्वर्गीय और खयाली मूर्ति के लिए खुशी-खुशी मुसीबते झेलते हैं और मर मिटते हैं। दूसरे देशो के लोग भी अपनी मातृभूमि के लिए इसी तरह के खयाल रखते थे। लेकिन यह सब तो बाद की बातें हैं। अभी तो मै तुमको यह बतलाना चाहता हूँ कि अठारहवी सदी में राष्ट्रीयता और देश-प्रेम की इस भावना का अंकुर पैदा हुआ। फ्रासीसी दार्शनिको ने इस प्रगति को बढ़ाया और फ्रास की जबर्दस्त राज्य-क्रान्ति ने इस भावना पर मुहर लगा दी।

ये राष्ट्र 'शक्तियां' थे। बादशाह आते-जाते रहते थे लेकिन राष्ट्र बना

रहता था। इन ताक़तों में से कुछ धीरे-धीरे दूसरी ताक़तों से ज्यादा महत्व-पूर्ण बन गई। मसलन अठारहवीं सदी के शुरू में फ्रांस, इंग्लैंड, आस्ट्रिया, एशिया और रूस बिलाशक 'बडी ताकते' थी। स्पेन की तरह कहने भर को कुछ और भी ताकतें बडी थीं लेकिन उनका पतन हो रहा था।

इंग्लैंड बहुत तेजी के साथ धन और महत्व में बढ़ रहा था। एलिज़ाबेथ के वक्त तक वह योरप के खयाल से कोई महत्व-पूर्ण देश न था और दुनिया के लिहाज से तो और भी कम था। उसकी आबादी थोडी थी; शायद उस वक़्त वह साठ लाख से ज्यादा न थी, जो आज लन्दन की आबादी से भी कम है। लेकिन प्यूरिटन क्रान्ति और बादशाह पर पार्लमेण्ट की विजय के बाद इंग्लैंड ने अपने आपको नई परिस्थितियो के मुताबिक बना लिया और वह आगे बढने लगा। स्पेन से पिंड छुडाने के बाद हालैंड ने भी ऐसा ही किया।

अठारहवीं सदी में अमेरिका और एशिया में उपनिवेशो के लिए छीना-झपटी मची। इसमें योरप की कई ताक़तो ने हिस्सा लिया मगर असली मुकाबिला सिर्फ इंग्लैंड और फ़्रांस इन दोनो में ही रहा। इस दौड़ में, अमेरिका में भी और हिन्दुस्तान में भी, इंग्लैंड बहुत आगे बढ़ा हुआ था। पंद्रहवे लुई के अयोग्य शासन में होने के अलावा फ्रांस, योरप की राजनीति में बहुत ज्यादा लिपटा हुआ था। १७५६ से १७६३ ई० तक योरप, कनाडा और हिन्दुस्तान में भी इन दोनो ताकतो में तथा औरो में भी इस बात का निपटारा करने के लिए लड़ाई मची कि इन देशो का मालिक कौन हो। यह लड़ाई 'सात साल की लड़ाई' कहलाती है। इसका कुछ हिस्सा हम हिन्दुस्तान में देख चुके है जिसमें फ़्रांस की हार हुई थी। कनाडा में भी इग्लैंड की विजय हुई। योरप में इंग्लैंड ने वह नीति चली जिसके लिए वह मशहूर हो चुका है, यानी पैसा देकर अपनी ओर से दूसरो को लडवाना। फ्रेडरिक महान इंग्लड का दोस्त था।

इस सात वर्ष की लड़ाई का नतीजा इंग्लैंड के लिए बहुत फायदेमन्द रहा। हिन्दुस्तान और कनाडा, दोनो ही देशों में उसका कोई भी यूरोपियन प्रतियोगी बाक़ी न रहा। समुद्र पर भी उसका दबदबा कायम हो गया। इस तरह इंग्लैंड की ऐसी हालत होगई कि वह अपने साम्राज्य को मजबूत करे और बढावे और ससार की एक बडी ताकत बन जाय। प्रशिया का महत्व भी बढा।

इस लड़ाई-झगडे से योरप फिर पस्त हो गया और देश भर में फिर कुछ शान्ति नजर आने लगी। लेकिन यह शान्ति प्रशिया, आस्ट्रिया और रूस को पोलैंड की रियासत हड़प जाने से न रोक सकी। पोलैंड की ऐसी हालत न थी कि इन

ताकतो से लड़ता, इसलिए ये तीनो भेड़िये उस पर टूट पडे और बार-बार उसके हिस्से बाटकर पोलैंड के आजाद मुल्क का खातमा कर दिया। १७७२, १७९३ और १७९५ ई०, में तीन बार बँटवारा हुआ। पहले बँटवारे के बाद पोलैण्ड के लोगों ने, जो पोल कहलाते है अपने देश को सुधारने और मजबूत बनाने के लिए जबरदस्त कोशिश की। उन्होने पार्लमेण्ट कायम की और कला और साहित्य का उद्धार हुआ। लेकिन पौलैंड के चारो तरफ के निरंकुश राजाओं के मुँह खून लग चुका था और वे रुकनेवाले न थे। इसके अलावा पार्लमेण्टो से उनको नफरत थी। इसलिए पोल लोगो के देश प्रेम और महान् योद्धा को सियस्को के नेतृत्व में बहादुरी के साथ लड़ने पर भी, १७९५ ई० में योरप के नक्शे पर पोलैंड का निशान बाकी न रहा। उस वक्त उसका खातमा तो हो गया लेकिन पोल लोगों ने अपने देश-प्रेम को जिन्दा रक्खा और आजादी का स्वप्न देखते ही रहे। एक सौ बीस वर्ष बाद उनका स्वप्न सच्चा हुआ और योरप के महायुद्ध के बाद पोलैंड फिर एक आजाद देश की शकल में प्रकट हुआ।

मै लिख चुका हूँ कि अठारहवी सदी के पिछले आधे हिस्से में योरप में थोडी-बहुत शान्ति थी। लेकिन वह ज्यादा दिन न टिक सकी क्योकि वह ज्यादातर ऊपरी सतह पर ही थी।। उस सदी में जो बहुत-सी घटनायें हुई उनको भी मै बतला चुका हूँ। लेकिन असल में अठारहवीं सदी तीन घटनाओ यानी तीन क्रान्तियों, के लिए मशहूर है, और इन सौ वर्षो में योरप में और जो कुछ भी हुआ वह इन तीन घटनाओ के सामने तुच्छ मालूम होता है। ये तीनों क्रान्तियाँ इस सदी के आखिरी पच्चीस वर्षो में हुई। ये क्रान्तियाँ तीन तरह की थीं—राजनैतिक, औद्योगिक और सामाजिक। राजनैतिक क्रान्ति अमेरिका में हुई। यह वहा के अँग्रेजी उपनिवेशों की बगावत थी जिसका नतीजा यह हुआ कि 'युनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका' यानी अमेरिका का सयुक्त राज्य का स्वाधीन प्रजातन्त्र बना जो हमारे आज के जमाने में इतना शक्तिशाली होने वाला था। औद्योगिक क्रान्ति इग्लैंड में शुरू हुई। वहा से पहले तो वह पश्चिम योरप के देशो में फैली; और फिर दूसरे देशों में। वह एक शान्तिमय लेकिन बहुत गहरी क्रान्ति थी और सारी दुनिया की जिन्दगी पर जितना इसका असर हुआ उतना आज तक इतिहास में लिखी हुई किसी भी घटना का नहीं हुआ। इसका नतीजा हुआ भाप और बड़ी मशीन और आखिर में उद्योगवाद की उन अन-गिनती शाखाओ का आगमन, जो आज हम अपने चारो तरफ देख रहे हैं। फ्रांस की महान क्रान्ति सामाजिक क्रान्ति थी जिसने फ्रास में न केवल राजाओं का ही खातमा कर दिया बल्कि बहुत से विशेषाधिकारो यानी रियायतो को भी खतम कर दिया और

नये-नये वर्गो को आगे ला खडा किया । इन तीनो क्रान्तियो पर हम जरा खुलासा तौर से अलग-अलग विचार करेगे ।

हम देख चुके है कि इन परिवर्त्तनो की शुरुआत से पहले योरप में बादशाहतो का जोर था । इँग्लैड और हालैड में पार्लमेण्ट तो थी लेकिन उनकी नस अमीर-उमरा के हाथ में थी । कानून बनाये जाते थे तो धनवानों के लिए, उनके माल, अधिकारो और विशेषाधिकारो की हिफाजत के लिए । शिक्षा भी सिर्फ धनवान और विशेषाधिकार वाले लोगो के लिए थी । असल में खुद सरकार ही इन लोगो के लिए थी । उस जमाने की सबसे बडी समस्या गरीबों की समस्या थी । हालांकि ऊपर के लोगों की हालत में कुछ सुधार हुआ लेकिन गरीबो की मुसीबतें वैसी ही बनी रही, बल्कि ज्यादा बढ गई ।

अठारहवी सदी भर में योरप के राष्ट्र गुलामो का बेरहम और शर्मनाक व्यापार करते रहे । वैसे तो योरप में गुलामी खत्म हो चुकी थी हालाँकि काश्तकार लोगो की हालत, जिन्हे 'सर्फ' या असामी कहते थे, गुलामो से अच्छी न थी । लेकिन अमेरिका की खोज के बाद पुराना गुलामो का व्यापार बडी बेरहमी की शक्ल में फिर चेत गया । स्पेन और पुर्तगाल वालों ने इस तरह शुरूआत की कि वे अफरीका के किनारो पर से हबशियो को पकड़-पकड़ कर अमेरिका ले जाते थे और उनसे खेती-बाडी का काम लेते थे । इस बहुत ही शर्मनाक व्यापार में इंग्लैड ने भी भरपूर हिस्सा लिया । अफरीका के लोगो की भयानक मुसीबतो का और जैसे जानवरो की तरह शिकार करके उनको पकड़ा जाता था और जजीरो से कसकर अमेरिका को लादा जाता था, उसका कुछ भी अन्दाजा लगाना तुम्हारे लिए या हममें से किसी के लिए बहुत मुश्किल है । हजारों तो सफर खत्म होने पहले ही चल बसते थे । इस दुनिया में जितने लोगो ने मुसीबतें झेली है उनमें सबसे ज्यादा मुसीबतो का भार शायद हबशियों पर ही पड़ा है । उन्नीसवी सदी में गुलामी की प्रथा का कानूनन खातमा हुआ और इंग्लैड इस बात में अगुआ रहा । अमेरिका में इस सवाल का निपटारा करने के लिए एक गृह-युद्ध हुआ । आज अमेरिका के संयुक्त राज्य में बसने वाले करोडो हबशी इन्हीं गुलामों की सन्तान है ।

मैं इस खत को यह बतलाकर एक अच्छी बात के साथ खतम करूँगा कि इस सदी में जर्मनी और आस्ट्रिया में संगीत की बडी भारी तरक्की हुई । तुम जानती हो कि योरप के सगीत के नेता जर्मन लोग है । इनमें से कुछ बडे-बडे सगीतज्ञों के नाम सत्रहवीं सदी में भी दिखाई पड़ते है । दूसरे देशो की तरह ही योरप में भी सगीत करीब-करीब मजहबी कामों का अंग था । धीरे-धीरे ये अलग होने लगे और संगीत

मज़हब से भिन्न एक अलग ही कला बन गया। मोज़ार्ट और बीथोवन—ये दो नाम अठारहवीं सदी में रोशन होते हैं। दोनों बालगन्धर्व थे। दोनों ही असाधारण योग्यता वाले राग-लेखक थे। यह अजीब बात है कि बीथोवन, जो शायद पश्चिम का सबसे महान् राग-लेखक माना जाता है, बिलकुल बहरा हो गया था और जिस अद्भुत संगीत की रचना उसने दूसरों के लिए की उसे वह खुद न सुन सका। लेकिन उस संगीत को पकड़ने से पहले उसके हृदय ने ज़रूर उसे गाकर सुनाया होगा।

: ९७ :

बड़ी मशीन का आगमन

२६ सितम्बर, १९३२

अब हम उस चीज का वर्णन करेंगे जो औद्योगिक क्रान्ति कहलाती है। इसकी शुरूआत इंग्लैंड में हुई और इंग्लैंड में ही हम संक्षेप में इस पर गौर करेंगे। मैं इसके लिए कोई ठीक सन् नहीं बतला सकता क्योंकि यह तब्दीली जादू की तरह किसी खास वर्ष में नहीं हुई। लेकिन फिर भी वह काफी तेज़ी के साथ हुई और अठारहवीं सदी के बीच से लगाकर आगे के सौ वर्ष से कम वक्त में ही उसने ज़िंदगी की सूरत बदलदी। इन खतों में तुमने और मैंने, दोनों ने, दुनिया की शुरूआत से लगा कर हज़ारों वर्ष के इतिहास के सिलसिले का सिंहावलोकन किया है और बहुत सी तब्दीलियाँ हमारी निगाह में आई हैं। लेकिन ये सब तब्दीलियाँ, जो कि कभी-कभी बहुत बड़ी-बड़ी भी हुईं, लोगों की जिन्दगी और रहन-सहन के ढंग को हकीकत में बदल नहीं सकीं। अगर सुकरात या अशोक या जूलियस सीज़र हिन्दुस्तान में अकबर के दरबार में अचानक चले आते, या अठारहवीं सदी के शुरू में इंग्लैंड या फ्रांस में आते, तो बहुत से परिवर्त्तन उनकी नज़र में आते। इनमें से कुछ परिवर्त्तनों को वे पसन्द करते और कुछ को नापसन्द। लेकिन सरसरी तौर पर, कम से कम बाहर से, वे दुनिया को पहचान लेते, क्योंकि खयालात में तो बहुत फर्क मालूम होता। और जहाँ तक ऊपरी बातों से ताल्लुक है वे अपने को बिलकुल अजनबी नहीं महसूस करते। अगर वे सफ़र करना चाहते तो घोड़े पर या घोड़ा-गाड़ी पर करते, जैसाकि अपने ज़माने में किया करते थे; और सफर में वक्त भी करीब-करीब उतना ही लगता।

लेकिन इन तीनों में से एक भी अगर हमारे ज़माने की दुनिया में आजायँ तो उन्हें बड़ा ज़बरदस्त अचम्भा होगा। और शायद यह अचम्भा उन्हें तकलीफदेह भी मालूम हो। वह देखेंगे कि आजकल लोग तेज़ से तेज़ घोड़े से भी ज़्यादा तेज़ी

के साथ, या शायद कमान से छूटे हुए तीर से भी ज्यादा तेजी के साथ, सफर करते हैं। रेल, स्टीमर, मोटर और हवाईजहाज में वे अद्भुत तेजी के साथ सारी दुनिया में दौडते फिरते हैं। फिर उसकी दिलचस्पी तार, टेलीफोन, बेतार के तार, छापेखानो से प्रकाशित होनेवाली अनगिनती किताबों, अखबारो, और सैकडों दूसरी चीजो में होगी जो सब अठारहवी सदी और उसके बाद की औद्योगिक क्रान्ति के लाये हुए उद्योग के नये तरीको के नतीजे हैं। सुकरात या अशोक या जूलियस सीजर इन नये तरीकों को पसन्द करेगे या नापसन्द, यह मैं नही कह सकता, लेकिन इसमें शक नहीं कि वे उनको अपने जमाने के तरीको से बिलकुल भिन्न पावेगे।

औद्योगिक क्रान्ति ने दुनिया को बडी मशीन दी। उसने मशीन-युग या यांत्रिक युग की शुरुआत की। पहले भी मशीनें जरूर थी, लेकिन इतनी बडी नही, जितनी नई मशीनें। मशीन है क्या ? वह इनसान को उसके काम में मदद देनेवाला बड़ा औजार है। आदमी औजार बनानेवाला जन्तु कहा जाता है और अपनी जिन्दगी के शुरू से वह औजार बनाता रहा है और उनको अच्छा बनाने की कोशिश करता रहता है। दूसरे जानवरों पर, जिनमें से बहुत से उससे ज्यादा ताकतवर थे, उसका दबदबा औजारो के ही कारण हुआ था। औजार या हथियार उसके हाथ का ही बढा हुआ रूप है; या उसे तीसरा हाथ भी कह सकते है। मशीन औजार का बढ़ा हुआ रूप है। औजार और मशीन ने मनुष्य को पशुजगत से ऊपर उठा दिया। इन्होने मनुष्य-समाज को कुदरत की गुलामी से छुड़ाया। औजार और मशीन की मदद से इन्सान के लिए चीजें बनाना आसान हो गया। वह ज्यादा चीजें बनाने लगा और फिर भी उसे ज्यादा फुरसत रहने लगी। और इसका नतीजा यह हुआ कि सभ्यता की कलाओ, विचारो और विज्ञान की उन्नति हुई।

लेकिन बडी मशीन और उसके सब मददगार निरी बरकते ही नही साबित हुए। अगर इसने सभ्यता की तरक्की मे मदद दी है तो लड़ाई और बरबादी के खौफनाक हथियारो को ईजाद करके वर्बरता को बढ़ाने में भी मदद की है। अगर इसने चीजो की इफरात या बहुतायत के साथ पैदा किया है तो यह इफरात जनता के लिए नहीं बल्कि कुछ थोडे से लोगो के लिए हुई है। इसने तो दौलतमंदो के ऐश-आराम और गरीबों की गरीबी के अन्तर को पहले से भी ज्यादा बढा दिया है। यह इनसान का औजार और सेवक होने के बजाय उसका स्वामी बनने का दावा करने लगी है। एक तरफ तो इसने सहयोग, संगठन. मुस्तैदी वगैरा गुण सिखाये है, दूसरी तरफ लाखो की जिन्दगी को एक ऐसी नीरस दिनचर्या वाला और ऐसा भार बना दिया है जिसमें जरा भी सुख और आजादी नही है।

लेकिन मशीन से जो बुराइयाँ पैदा हुई हैं उनके लिए हम उस बेचारी को क्यों दोष दें? दोष तो इन्सान का है जिसने उसका गलत इस्तेमाल किया है, और समाज का है जिसने उससे पूरा फ़ायदा नहीं उठाया। यह तो ध्यान में भी नहीं आसकता कि दुनिया या कोई देश, औद्योगिक क्रान्ति से पहले के जमाने को लौट जावे; और यह बात न तो जरूरी मालूम होती है, न अक्लमदी की कि हम लोग कुछ बुराइयों से छुटकारा पाने के लिए उद्योगवाद की लाई हुई बेशुमार फायदेमंद चीजों को फेंक दें। चाहे जो हो, मशीन तो अब आगई और यहीं बनी रहेगी। इसलिए हमारे सामने सवाल यही है कि उद्योगवाद की फायदेमंद चीजों को रखले और उससे पैदा होनेवाली बुराइयों से पिंड छुड़ावे। इससे पैदा होनेवाली दौलत से हमको फायदा उठाना चाहिए लेकिन इस बात का खयाल रखना चाहिए कि यह दौलत उन लोगों में बराबर-बराबर बँट जाय जो उसे पैदा करते हैं।

इस खत में मेरा इरादा तुमको इंग्लैण्ड में होनेवाली औद्योगिक क्रान्ति के बारे में कुछ बतलाने का था। लेकिन जैसी कि मेरी आदत है, मैं असली बात से अलग हट गया हूँ और उद्योगवाद के प्रभावों की विवेचना करने लगा हूँ। मैंने तुम्हारे सामने वह सवाल रख दिया है जो आज लोगों को तंग कर रहा है। लेकिन आजतक आ पहुँचने से पहले हमको कल की बातों का वर्णन करना है; उद्योगवाद के नतीजों पर विचार करने से पहले हमको यह अध्ययन करना है कि वह कब और कैसे आया। मैंने यह भूमिका इतनी लम्बी इसलिए की है कि तुमको इस क्रान्ति का महत्त्व बता सकूँ। यह कोई खाली राजनैतिक क्रान्ति न थी जिससे सबसे ऊपर के राजा और शासक बदल गये हों। यह ऐसी क्रान्ति थी जिसका असर सब वर्गों पर और असल में हर आदमी पर पड़ा। मशीन और उद्योगवाद की विजय का मतलब था मशीन पर कब्जा रखने वाले वर्गों की विजय। जैसा कि मैं बहुत पहले बता चुका हूँ, राज्य वही वर्ग करता है जो उपज यानी पैदावार के साधनों पर कब्जा रखता है। पुराने जमाने में उपज का मुख्य साधन सिर्फ़ जमीन थी, इसलिए जो लोग जमीन के मालिक यानी ज़मींदार थे, उन्हींका राज्य था। सामन्तशाही के ज़माने में भी यही हाल रहा। इसके बाद जमीन के अलावा दूसरी तरह का धन प्रकट हुआ और जमींदार वर्ग के लोगों की ताकत पैदावार के नये साधनों के मालिकों में बँटनी शुरू होगई। इसी वक्त बड़ी मशीन का आगमन होता है जिससे उसपर कब्ज़ा रखनेवाले वर्ग कुदरती तौर पर आगे आजाते हैं और हुकूमत करने लगते हैं।

इन ख़तों के सिलसिले में कई बार मैं तुमको बतला चुका हूँ कि शहरों के बुर्जुआ यानी मध्यमवर्गों का महत्त्व किस तरह बढ़ा और किस तरह वे सामन्त सरदारों से

कशमकश करते रहे और कही-कही कुछ हदतक विजयी भी हुए। मैंने तुमको सामन्त-शाही की बरबादी का हाल बतलाया है और शायद तुम्हारे दिल में यह खयाल पैदा कर दिया है कि इस नये बुर्जुआ या मध्यम वर्ग ने उसकी जगह ले ली। अगर ऐसा है तो मै अपनी गलती दुरुस्त करना चाहता हूँ क्योकि मध्यमवर्ग बहुत धीरे-धीरे ताकत हासिल करके ऊँचा चढ़ा और यह तरक्की इस जमाने में नही हुई जिसका हम जिक्र कर रहे है। फ्रास में महान क्रान्ति ने और इंग्लैण्ड में इसी तरह की क्रान्ति के डर ने कही जाकर मध्यमवर्ग को ताकत हासिल करने का मौका दिया। इंग्लैण्ड की १६८८ ई० की क्रान्ति का नतीजा यह हुआ कि पार्लमेण्ट की विजय हो गई, लेकिन तुम्हे याद होगा कि खुद पार्लमेण्ट भी लोगो की, खासकर जमीदारो की, एक छोटी-सी तादाद की नुमाइन्दा थी। शहरो के कुछ बडे-बडे व्यापारी उसमें भले ही घुस जाते हो, लेकिन असल में व्यापारी वर्ग, यानी मध्यमवर्ग के लिए उसमें कोई गुजाइश न थी।

इसलिए राजनैतिक ताकत उन लोगो के हाथो में थी जो जमींदारियो के मालिक थे। इंग्लैण्ड में ऐसा ही था और दूसरे देशो में तो और भी ज्यादा था। जमीं-दारी पिता से पुत्र को विरासत में मिलती थी। इस तरह राजनैतिक ताकत भी एक पुश्तैनी विरासत बन गई। मै इंग्लैण्ड के 'जेबी निर्वाचन क्षेत्रो' (Pocket Boroughs) यानी पार्लमेण्ट में प्रतिनिधि भेजनेवाले ऐसे चुनाव-क्षेत्रों के बारे में पहले ही लिख चुका हूँ जिनमें सिर्फ कुछ गिने-चुने चुनाव करनेवाले होते थे। ये गिने-चुने निर्वाचक मामूली तौर पर किसी के मातहत होते थे और इसलिए वह चुनाव क्षेत्र उसकी जेब में समझा जाता था। ऐसे चुनाव लाजमी तौर पर खाली एक तमाशा होते थे; खूब रिश्वतें चलती थीं और वोट और पार्लमेण्ट की सीटें खूब बिकती थी। उन्नतिशील मध्यमवर्ग के कुछ दौलतमन्द लोग इस तरह से पार्लमेण्ट की सीट खरीद सकते थे। लेकिन जनता के लोग दोनो में से एक तरफ भी निगाह नही डाल सकते थे। उनको विरासत (उत्तराधिकार) में तो कोई विशेषाधिकार या शक्ति मिलती ही न थी, और यह भी जाहिर है कि वे ताकत खरीद भी नही सकते थे। इसलिए जब धनवान और विशेषाधिकार वाले लोग उनपर बैठकर उनको चूसते थे तो वे कर ही क्या सकते थे ? पार्लमेण्ट में या पार्लमेण्ट के मेम्बरो के चुनाव मे भी उनकी कोई आवाज न थी। अधिकारी लोग उनके बाहरी प्रदर्शनो तक से बहुत नाराज होते थे और उनको जबर्दस्ती दबा दिया जाता था। वे असंगठित, कमजोर और असहाय थे। लेकिन जब जुल्म और मुसीबतो का प्याला पूरा भर गया तो वे न्याय और शान्ति को भूलकर दंगा कर बैठे। इस तरह इंग्लैण्ड में अठारहवी सदी में दगो का खूब जोर रहा। जनता की माली हालत आम तौर पर बहुत खराब थी। छोटे-

मोटे काश्तकारो को नुकसान पहुँचा कर और उन्हे चूसकर बडे-बडे जमीदार अपनी रियासते बढ़ाने की कोशिशें कर रहे थे, जिससे यह हालत और भी बिगड़ती जारही थी। गाँवो की मुश्तरका जमीन भी हड़प ली जाती थी। ये सब बातें आम लोगो की मुसीबतों को बढानेवाली थी। राज्यशासन मे कोई आवाज न होने मे भी सब लोग नाराज थे और कुछ ज्यादा आजादी के लिए दबी-दबी सी माँग भी करते थे।

फ्रास में तो हालत और भी खराब थी जिसका नतीजा यह हुआ कि वहाँ राज्य-क्रान्ति हो गई। इग्लैंड में बादशाह का महत्व कुछ नही रहा था और ताकत ज्यादा लोगो के हाथ मे आगई थी। इसके अलावा इंग्लैंड में फ्रांस की तरह ऐसे राजनैतिक विचारों का विकास भी नही हुआ था। इसलिए इंग्लैंड एक बडे भारी विस्फोट या धड़ाके से बच गया और वहाँ परिवर्तन ज़रा धीरे-धीरे हुए। इसी अर्से में उद्योगवाद और नये आर्थिक संगठन के कारण होनेवाली तब्दीलियो ने इस चाल को तेज कर दिया।

अठारहवी सदी में इग्लैंड की यही राजनैतिक परिस्थिति थी। खासकर विदेशी कारीगरो के आ बसने से इंग्लैड घरू उद्योग-धधो में बहुत आगे बढ़ गया। योरप की मजहबी लड़ाइयो ने बहुत से प्रोटेस्टेण्टो को अपना देश और घर छोड़कर इंग्लैड में शरण लेने के लिए मजबूर किया। जिस वक्त स्पेनवाले निदरलैंड की बगावत को दबाने की कोशिश कर रहे थे उस समय बहुत से कारीगर निदरलैंड से भाग कर इंग्लैंड आगये। कहा जाता है कि इनमें से तीस हजार इग्लैंड के पूर्वी हिस्से में बस गये और रानी एलिजाबेथ ने उनको इस शर्त पर वहाँ बसने की आज्ञा दी कि हरेक घर में एक अग्रेज 'अप्रेन्टिस' (काम सीखने वाला) नौकर रक्खा जाय। इससे इग्लैंड को अपने कपडा बुनने के उद्योग को बनाने में मदद मिली। जब यह उद्योग जम गया तो अग्रेजो ने निदरलैंड के बने हुए कपडो का इंग्लैंड में आना रोक दिया। उधर निदरलैंड अभी तक आजादी की गहरी लडाई में लगा हुआ था जिससे उनके उद्योग-धधो को नुकसान पहुँच रहा था। नतीजा यह हुआ कि जहाँ पहले निदरलैंड के कपडो से भरे हुए जहाज के जहाज इग्लैंड जाया करते थे, वहाँ बहुत जल्दी यह रफ्तनी बन्द ही नही हो गई बल्कि उल्टे अंग्रेजी कपडे निदरलैंड के लिए रवाना होने लगे और इसकी तादाद बढती ही गई।

इस तरह बेलजियम के वॉलून लोगो ने अग्रेजो को कपडा बुनना सिखाया। बाद में फ्रास से हयूजीनॉट, यानी भागे हुए प्रोटेस्टेण्ट, आये और इन्होंने अग्रेजो को रेशमी कपड़ा बुनना सिखाया। सत्रहवी सदी के पिछले आधे हिस्से में योरप के बहुत से होशयार कारीगर इग्लैंड चले आए और अंग्रेज लोगो ने इनसे बहुत-से धन्धे सीखे, जैसे, कागज, कॉच, चाभी के खिलौने, तथा जेबी और दीवार की घडियाँ बनाना।

इस तरह इंग्लैंड, जो अभी तक योरप का एक पिछड़ा हुआ देश था, महत्व और धन में बढ़ने लगा। लन्दन की भी बढ़ती हुई और वह सौदागरो और व्यापारियों की बढ़ती हुई आबादीवाला एक काफी महत्वपूर्ण बन्दरगाह बन गया। एक दिलचस्प कहानी से हमको पता लगता है कि सत्रहवी सदी के शुरू में ही लन्दन एक बड़ा-भारी बन्दरगाह और व्यापार का केन्द्र था। इंग्लैंड का बादशाह पहला जेम्स, जो पहले चार्ल्स का, जिसका कि सर उड़ा दिया गया था, पिता था, राजाओ की निरंकुशता और दैवी अधिकार को पूरी तरह मानने वाला था। वह पार्लमेण्ट को और लन्दन के इन कल के व्यापारियों को पसन्द नहीं करता था। और उसने गुस्से में आकर लन्दन के नागरिको को अपनी राजधानी ऑक्सफोर्ड लेजाने की धमकी दी। लन्दन के लॉर्ड मेयर पर इस धमकी का कुछ भी असर न हुआ। और उसने कहा—"मुझे उम्मीद है कि हिज़ मैजेस्टी हमारे लिए टेम्स नदी तो छोड जाने की मेहरबानी करेगे!"

पार्लमेण्ट की मदद पर यही दोलतमद व्यापारी वर्ग था और इसीने चार्ल्स प्रथम के साथ होने वाली लड़ाई में उसको खूब रुपया दिया था।

इग्लैंड में जिन उद्योग-धंधो की तरक्की हुई ये सब घरू-धंधे या ग्राम-उद्योग कहलाते हैं। यानी कारीगर या दस्तकार लोग ज्यादातर अपने घरों में या छोटे-छोटे गिरोहों में काम करते थे। हरेक धन्धे के दस्तकारों की 'गिल्ड' या समितियाँ होती थीं जो हिन्दुस्तान की बहुत सी जातियो से मिलती थी लेकिन जातियो का-सा मजहबी पहलू उनमें न होता था। दस्तकारो के उस्ताद या मिस्तरी शागिर्द बनाते थे और उनको अपना हुनर सिखलाते थे। जुलाहो के निजी करघे होते थे, कातनेवाले निजी चरखे रखते थे। कताई का खूब प्रचार था और यह काम लड़कियाँ और औरते फालतू वक्त में किया करती थीं। कहीं-कही छोटे-छोटे कारखाने होते थे जहाँ बहुत से करघे इकट्ठे कर लिये जाते थे और जुलाहे मिलकर काम करते थे। लेकिन हरेक बुनकर अपने करघे पर अलग ही काम करता था, और चाहे वह इस करघे पर अपने घर ही काम करता या दूसरे बुनकरो और उनके करघो के साथ किसी दूसरी जगह काम करता, इन दोनो बातो में दर असल कोई फर्क न था।

उस जमाने में उद्योग-धन्धो का यह घरू दर्जा सिर्फ इंग्लैण्ड में ही नहीं बल्कि हरेक देश में, जहाँ उद्योग-धन्धे होते थे, तरक्की कर रहा था। मसलन हिन्दुस्तान में ये घरू उद्योग-धन्धे बहुत बढ़े-चढ़े हुए थे। इग्लैण्ड में घरू उद्योग-धन्धो का करीब-करीब बिलकुल खातमा होगया है लेकिन हिन्दुस्तान में अब भी बहुत-से मौजूद हैं। हिन्दुस्तान में बडी मशीन और घरू करघा दोनो साथ-साथ चल रहे हैं, और इनकी

समानता और भिन्नता की तुलना की जा सकती है। तुम जानती हो कि जो कपड़ा हम पहनते है वह खादी है। यह हाथ-कता और हाथ-बुना है, और इसलिए बिलकुल हिन्दुस्तान की कच्ची झोपड़ियो में बना हुआ है। बापू और हमारी कांग्रेस हाथ-कताई की उन्नति पर बहुत जोर देते है और कोशिश करते रहे है कि यह हमारे किसानों के फालतू वक्त का धन्धा बन जाय क्योकि उनके पास बहुत-सा वक्त फालतू रहता है। असल में पुराने जमानें में हिन्दुस्तान मे ही नही बल्कि इंग्लैण्ड और दूसरे देशो में भी यह फालतू समय का ही धन्धा था।

नये यात्रिक आविष्कारो या मशीन की ईजाद ने इग्लैड के घरू उद्योग-धन्धो की काया ही पलट कर दी। मशीनें आदमी का काम दिन-पर-दिन करने लगीं और उनके जरिये कम मेहनत से ज्यादा माल पैदा करना बहुत आसान होगया। ये ईजादें अठारहवीं सदी के बीच में शुरू हुई; इनका वर्णन हम अगले ख़त में करेंगे। यह ख़त पहले ही लम्बा हो गया है।

मैंने मुख्तसर में अपने खादी आन्दोलन का जिक्र किया है। इसके बारे यहाँ मैं ज्यादा नहीं लिखना चाहता। लेकिन मैं तुमको बतला देना चाहता हूँ कि यह आन्दोलन या चरखा बडी मशीन से मुकाबिला करने के लिए नही है। बहुत से इस गलती में पड़ जाते हैं और यह खयाल करने लगते है कि चरखे का अर्थ है मध्य युग को लौट जाना और मशीनो और उद्योग-वाद के सब नतीजो को रद्दी समझकर फेंक देना। यह सब ग़लती की बात है। हमारा आन्दोलन न तो उद्योगवाद के ख़िलाफ है और न मशीनो और कारखानो के। हम तो चाहते है कि हिन्दुस्तान को दुनिया की सबसे अच्छी चीजें मिले और जहाँ तक हो सके बहुत जल्दी मिले। लेकिन हिन्दुस्तान की मौजूदा हालत को, और खासकर अपने किसानो की भयंकर गरीबी को देखते हुए, जोर देकर कहते हैं कि वे अपने फ़ालतू वक्त में चरखा कातें। इस तरह वे न सिर्फ कुछ हदतक अपनी हालत सुधारते है बल्कि विदेशी कपडे पर हमारी उस निर्भरता को भी कम करते है जिसकी वजह से हमारे देश का रुपया बाहर चला जाता है।

: ६८ :

इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति की शुरूआत

२७ सितम्बर, १९३२

अब मैं तुमको कुछ यान्त्रिक आविष्कारो के बारे में लिखना चाहता हूँ, जिनकी वजह से उत्पत्ति या पैदावार के तरीको में बड़ा जबर्दस्त फर्क पड़ गया। आज जो

हम उनको किसी मिल या कारखाने में देखते है तो वे बडे आसान मालूम पड़ते है। लेकिन पहले-पहल उनका खयाल करना और उनको ईजाद करना बडी मुश्किल बात थी। सबसे पहला आविष्कार १७३८ ई० मे हुआ जब 'के' नामक आदमी ने कपड़ा बुनने की सरकवाँ ढरकी (फ्लाई शटल) की खोज की। इस आविष्कार से पहले बुनकर के हाथ की ढरकी का धागा लम्बे फैले हुए ताने के तारो में सरकाया जाता था। सरकवाँ ढरकी के जरिये यह काम बहुत जल्दी होने लगा जिससे बुनकर दूना माल तैयार करने लगा। इसका मतलब यह था कि अब बुनकर पहले से बहुत ज्यादा सूत काम मे ला सकता था। सूत की इस बढ़ती हुई माँग को पूरा करने मे कातने वालो को बडी दिक़्कत हुई और वे भी अपनी पैदावार बढ़ाने की कुछ तरकीब निकालने की कोशिश करने लगे। १७६४ ई० मे हारग्रीव्ज ने कातने की 'जेनी' आविष्कार करके इस समस्या को कुछ-कुछ हल कर दिया। इसके बाद रिचार्ड आर्कराइट और दूसरे लोगो ने और-और आविष्कार किये, जलशक्ति का और बाद में भाप की ताक़त का इस्तेमाल होने लगा। शुरू में ये सब आविष्कार सूती कपडे के उद्योग में काम में लाये गये और सूती कारखाने या मिले धड़ा-धड़ बनने लगी। इसके बाद इन नये तरीको को उपयोग में लानेवाला ऊनी कपडो का उद्योग था।

इसी अर्से में १७६५ ई० में जेम्सवाट ने भाप का इंजन बनाया। यह एक बडी भारी घटना थी और इसका नतीजा यह हुआ कि कारखानो को चलाने में भाप का इस्तेमाल होने लगा। इन नये कारखानो के लिए कोयले की जरूरत पडी इसलिए कोयले के उद्योग की तरक्की हुई। कोयले के इस्तेमाल से लोहा गलाने के यानी कच्चे लोहे को गला कर शुद्ध धातु अलग करने के नये तरीके ईजाद हुए। इस पर लोहे का उद्योग बडी तेजी से बढने लगा। नये-नये कारखाने कोयले की खानो के पास बनाये जाने लगे क्योकि वहाँ कोयला सस्ता पड़ता था।

इस तरह इग्लैड में तीन बडे उद्योगो—कपड़ा, लोहा और कोयला—का विकास हुआ और कोयले के क्षेत्रो और दूसरी माकूल जगहो में कारखाने खडे होने लगे। इंग्लैड की काया ही पलट गई। हरे-हरे खुशनुमा देहातो के बजाय अब बहुत सी जगहो पर ये नये कारखाने पैदा हो गये जिनकी लम्बी-लम्बी चिमनियाँ धुआँ उगल कर आसपास अँधेरा करने लगी। कोयलो के ऊँचे टीलो और कूडे-कचरे के ढेरो से घिरे हुए ये कारखाने देखने में ख़ूबसूरत नहीं मालूम होते थे। इन कारखानो के पास बनने वाले औद्योगिक नगर भी कोई ख़ूबसूरती की चीज न थे। वे तो किसी तरह खडे कर लिये गये थे, क्योकि मिल-मालिको का तो असली मकसद था रुपया बनाते रहना। ये नगर भद्दे, बडे और गंदे थे ओर भूखो मरते

मजदूरो को इनके सिवा कोई चारा न था, और इन कारखानो की बुरी और नुकसानदेह हालत में भी उनको काम करना पड़ता था।

तुम्हे याद होगा कि मैं तुमको बडे जमींदारो के जरिये छोटे-छोटे काश्तकारो के चूसे जाने और बेकारी के बढ़ने के बारे में लिख चुका हूँ, जिससे इंग्लैंड में दंगे हुए और अशान्ति पैदा हुई। शुरू-शुरू में इन नये तरीको ने हालत और भी खराब कर दी। खेती-बाडी को नुकसान पहुँचा और बेकारी बढ़ने लगी। असल में जैसे ही कोई नई खोज होती, वैसे ही उसका नतीजा यह होता कि हाथ के काम की जगह मशीनें ले लेती। उसका फल यह होता था कि बहुत बार मजदूर लोग नौकरी से निकाल दिये जाते थे, जिससे उनमें बहुत असन्तोष पैदा हो जाता था। इनमें से बहुत से तो मशीनो से नफरत करने लगे और उनको तोड़ डालने की भी कोशिश करने लगे। ये लोग 'मशीन तोड़नेवाले' कहलाने लगे।

योरप में मशीन-तोड़ाई का एक लम्बा इतिहास है जो सोलहवी सदी से शुरू होता है जब कि जर्मनी में एक मामूली मशीन का करघा ईजाद हुआ। इटली के एक पादरी की १५७९ ई० में लिखी एक पुरानी पुस्तक में इस करघे के बारे में लिखा है कि डैनजिग की नगर-सभा ने "इस डर से कि यह आविष्कार सैकडों कारीगरो को दर-दर का भिखारी बना देगा, मशीन को नष्ट करवा दिया और ईजाद करनेवाले को चुपचाप गला घोटकर या पानी में डुबोकर मरवा डाला!" इस अविष्कारक का इस तरह झट-पट खातमा कर दिये जाने पर भी सत्रहवीं सदी में यह मशीन फिर प्रकट हुई और इसके कारण सारे योरप में दगे-फिसाद हुए। इसके इस्तेमाल को रोकने के लिए कितनी ही जगह क़ानून बनाये गये और कही-कहीं तो बीच बाजार में सब लोगो के सामने इसमें आग लगाई गई। अगर यह मशीन जिस समय ईजाद हुई थी उसी समय इस्तेमाल में आजाती तो मुमकिन है इसके बाद दूसरे आविष्कार होते और मशीन-युग जरा जल्दी आजाता। लेकिन सिर्फ यही बात कि इसका इस्तेमाल नहीं किया गया यह साबित करती है कि उस वक्त परिस्थितियाँ इसके अनुकूल न थी। जब माकूल वक़्त आगया तो इंग्लैंड में बहुत से दंगे-फिसाद होने पर भी मशीन की सत्ता कायम हो गई। मजदूरो की मशीन के प्रति नाराजगी स्वाभाविक थी। लेकिन धीरे-धीरे वे जान गये कि कुसूर मशीन का न था, बल्कि उस तरीके का था जिससे वह थोडे से लोगो के फ़ायदे के लिए काम में लाई जाती थी। लेकिन अब हमको इंग्लैंड में मशीन और कारखानो के विकास की तरफ लौटना चाहिए।

नये कारख़ाने बहुत से घरू उद्योगो और घर पर काम करनेवालो को निगल

गये। इन घर पर काम करनेवालो के लिए यह मुमकिन न था कि मशीन का मुकाबिला करते। इसलिए या तो उनको अपने पुराने हुनर और धंधों को छोड़कर उन्हीं कारखानों में मजदूरी तलाश करनी पड़ती थी, जिनसे वे नफ़रत करते थे, या बेकारों में शामिल होना पड़ता था। घरू उद्योगों का विनाश एकदम तो नहीं हुआ। लेकिन हुआ काफ़ी तेजी के साथ। सदी के अन्त तक, यानी क़रीब १८०० ई० तक, बहुत से बडे-बडे कारखानें नजर आने लगे। तीस साल बाद इंग्लैण्ड में स्टीफेन-सन के 'रॉकेट' नामक प्रसिद्ध इंजन के साथ भाप से चलनेवाली रेलें शुरू हुई। इस तरह से सारे देश में और करीब-करीब हर तरह के उद्योग-धन्धों में और जिन्दगी के हरेक काम में मशीन दिन-पर-दिन तरक्की करती गई।

यह एक दिलचस्प बात है कि सारे आविष्कारक, जिनमें से कइयो का जिक्र मै कर चुका हूँ, दस्तकारों की जमात में पैदा हुए थे। इसी वर्ग में से शुरू-शुरू के बहुत से औद्योगिक नेता निकले। लेकिन उनके आविष्कारों और उनके कारण पैदा होने वाले कारखानों के ढंग का नतीजा यह हुआ कि मालिक और मजदूर के बीच की खाई और भी ज्यादा चौडी हो गई। कारखाने का मजदूर मशीन का सिर्फ़ एक किर्रा बन गया और उन जबर्दस्त आर्थिक शक्तियों के हाथ में असहाय हो गया जिनको वह समझ तक नहीं सकता था; उनपर काबू पाना तो दूर रहा। दस्तकार और कारीगर को सबसे पहले खटका तो तभी हुआ था जब उसे पता लगा कि नये कारखाने उन लोगों से मुकाबिला कर रहे है और चीजें इतनी सस्ती बनाकर बेच रहे हैं, जितनी सस्ती अपने सादे और पुराने औजारो से घर पर बनाकर बेचना उनके लिए मुमकिन न था। अपना कोई कसूर न होते हुए भी उनको अपनी दूकाने बन्द करनी पडीं। अगर वे अपने ही हुनर को नहीं चला सकते थे तो नये काम में कामयाबी हासिल करना तो दूर की बात थी। बस वे बेकारों की फ़ौज में शामिल हो गये और भूखो मरने लगे। अंग्रेजी कहावत है कि "भूख मिल-मालिक का ड्रिल-सारजैण्ट[1] है", और इसी भूख ने आखिर इन कारीगरो को नौकरी की तलाश में नये कारखानों के दरवाजों पर ला पटका। मालिको ने उनके साथ दया का बर्ताव नहीं किया। उन्होने इनको काम तो दिया लेकिन सिर्फ कौडी भर मजदूरी पर, जिसके लिए इन कम्बख्त मजदूरो को कारखानो में अपना खून पानी कर देना पड़ता था। औरते और छोटे-छोटे बच्चे तक भी, दम घोट देने वाली और तन्दुरुस्ती को नुकसान पहुँचाने वाली जगहों में, दिन रात पिसते थे। यहां तक कि उनमें से बहुत से तो थकान के

१. ड्रिल-सारजैण्ट—फौज को ड्रिल कराने वाला अफसर जिसकी आज्ञा पर फ़ौज चलती है।

मारे बेहोश हो कर गिर पड़ते थे। लोग कोयले की खानो के ठेठ भीतर सारे-सारे दिन काम करते थे और महीनो तक उनको सूरज के दर्शन न होते थे।

लेकिन यह ख़याल न कर बैठना कि यह सब मालिको की बेरहमी का ही नतीजा था। वे जान-बूझकर बेरहम कभी न थे; कुसूर तो उस प्रणाली का था। वे तो जिस तरह हो अपना व्यापार बढ़ाना चाहते थे और दुनिया की दूर-दूर की मंडियो को दूसरे देशो के क़ब्ज़े से छीनना चाहते थे, और ऐसा करने के लिए वे सब कुछ करने को तैयार थे। नये कारखानो के बनाने में और मशीन ख़रीदने में बहुत रुपया ख़र्च होता है। यह रुपया तभी वापस मिलता है, जब कारखाना चालू हो जाय और उसका माल बाजार में बिकने लगे। इसलिए नये कारखाने बनाने के लिए इन कारखानों के मालिको को किफायत से चलना पड़ता था और जब माल बिककर रुपया आ भी जाता था तो भी वे नये-नये कारखाने बनाते ही चले जाते थे। इंग्लैंड में तेज़ी से कारखाने बनने के कारण ये लोग दुनिया के दूसरे देशों से आगे थे और वे इससे फ़ायदा उठाना चाहते थे—और असल में उन्होने फ़ायदा उठाया भी। बस अपना व्यापार बढ़ाने और ज्यादा धन कमाने की धुन में वे उन बेचारे मजदूरो का ख़ून चूसते थे जिनकी मेहनत उनका दौलत पैदा करने का ज़रिया थी।

उद्योग-धन्धों का यह नया तरीका बलवानो के द्वारा निर्बलो को चूसने के लिए खास तौर पर इख्तियार किया गया था। सारे इतिहास में हम बलवानो द्वारा निर्बलों को चूसा जाता देखते है। कारखानो की प्रणाली ने इसे और भी आसान कर दिया। कानून में वहाँ गुलामी नहीं थी लेकिन हकीकत में भूखो मरनेवाला मजदूर, कारखाने की मजदूरी का गुलाम, पुराने जमाने के गुलामो से अच्छी हालत में न था। कानून बिलकुल मालिको का ही साथ देता था। मज़हब भी उन्हींके साथ था और ग़रीबो से कहता था कि इस जन्म में अपनी बदकिस्मती को बरदाश्त करोगे तो अगले जन्म में तुमको परमात्मा की तरफ से इसका मुआवज़ा मिलेगा। असल में अधिकारी वर्गों ने बडी सुभीते की फिलासफी बना ली थी कि समाज के लिए ग़रीबो का होना जरूरी है और इसलिए कम मजदूरी देना बिलकुल नेक काम है। अगर अच्छी मजदूरी दी जायगी तो गरीब लोग मौज उडाने की कोशिश करेगे और कडी मेहनत न करेगे। ख़यालात का यह तरीका बड़ा तसल्ली देने वाला और फायदेमन्द था। क्योंकि कारखाने के मालिको और दौलतमन्द दूसरे लोगो के दुनियावी स्वार्थों के साथ यह फिट बैठ जाता था।

इन युगो का बयान बड़ा दिलचस्प और शिक्षाप्रद है। इससे कितनी जानकारी हासिल होती है। हम देख सकते है कि आर्थिक मामलो और समाज पर उत्पत्ति के इन

यांत्रिक या बडी-बडी मशीनो से काम लेने के कायदो का कितना जबरदस्त असर पड़ता है। सारा सामाजिक तख्ता ही उलट जाता है; नये-नये वर्ग आगे आते है और अधिकार प्राप्त करते जाते है; कारीगरो का वर्ग कारखानो का मजदूरी कमानेवाला वर्ग बन जाता है। साथ-ही-साथ नई आर्थिक बातें धर्म और नीति के बारे में भी लोगो के विचारों को नये सांचे में ढाल देती है। आम लोगों के विश्वास उनके हितों या वर्ग की भावनाओ के साथ-साथ दौड़ते हैं, और जब उनको अधिकार मिल जाय तो वे अपने हितो की हिफ़ाजत करने के लिए क़ानून बनाने में पूरी सावधानी रखते है। अलबत्ता यह सब नेकी की दिखावट के साथ किया जाता है और यह यकीन दिलाया जाता है कि कानून की तह में सिर्फ़ मनुष्य जाति की भलाई करने का ही उद्देश्य है। हम हिन्दुस्तानियो को हिन्दुस्तान के अंग्रेज वाइसराय और दूसरे अफसरो से ऐसी नेक बाते क़ाफी तौर पर सुनने को मिलती रहती है। हमसे हमेशा कहा जाता है कि हिन्दुस्तान की भलाई के लिए वे लोग कितनी मेहनत करते है। लेकिन दूसरी तरफ वे आर्डिनेंसों और तलवारों के जोर से राज करते है और हमारे देशवासियो के कलेजे का खून चूसते है। हमारे जमींदार लोग कहते है कि वे काश्तकारो से कितनी मुहब्बत रखते है, लेकिन उनको चूसने और उनसे कसकर लगान वसूल करने में वे जरा भी नहीं हिचकते, यहाँतक कि उन बेचारो के पास सिवाय भुखमरे शरीरो के और कुछ नहीं छोड़ते। हमारे पूंजीपति और बडे-बडे मिल मालिक मजदूरों के प्रति अपनी सदिच्छाओ का विश्वास दिलाते है, लेकिन यह सदिच्छा अच्छी मजदूरी या मजदूरो के लिए अच्छी हालत के रूप में जाहिर नहीं होती। सारे मुनाफ़े नये-नये महल बनवाने में खर्च हो जाते हैं; मजदूरों की कच्ची झोंपड़ियों को सुधारने में नही।

ताज्जुब है कि लोग अपने आपको और दूसरो को किस कदर धोखा देते हैं, अगर ऐसा करने में उनका फायदा होता हो। इसीलिए हम अठारहवी सदी और उसके बाद के अंग्रेज मालिकों को मजदूरो की हालत सुधारने की सारी कोशिशो में अडंगा डालते हुए पाते हैं। उन्होंने कारखानो के बारे में कानून बनाये जाने और मजदूरों के रहन-सहन का सुधार किये जाने पर भी ऐतराज किया और यह मानने से इनकार किया कि दुःख के इन कारणों को दूर करना समाज का फ़र्ज है। वे तो इस खयाल से अपने आपको तसल्ली देते रहते थे कि सिर्फ निकम्मे लोग ही मुसीबत उठाते है। कुछ भी हो, वे तो मजदूरों को अपने-जैसा आदमी भी नहीं समझते थे। उन्होने 'दखल न देने' (Laissez-Faire) की एक नई फिलासफी निकाली, यानी वे चाहते थे कि अपने व्यापार में वे जो मन में आवे सो करे और सरकार उसमें कोई दखल न दे। दूसरे देशों से पहले चीजें बनाने के कारखाने खुल जाने के कारण वे

आगे बढ़ चुके थे और अब तो वे सिर्फ यही चाहते थे कि रुपया कमाने के लिए उनको खुली छुट्टी मिल जावे। 'लेसे-फेयर' क़रीब-करीब एक दैवी मत बन गया जिसके बारे में यह माना जाता था कि अगर इससे कोई फायदा उठा सकता तो यह हरेक को बराबर मौका देने वाला था। आगे बढ़ने के लिए हरेक स्त्री-पुरुष को बाक़ी संसार से लड़ना पड़ता था और अगर इस लड़ाई में बहुत-से काम आ जाते थे तो इसमें हर्ज क्या था ?

इन खतों के दौरान में मै तुमको मनुष्यो में आपसी सहयोग की उन्नति के बारे में लिख चुका हूँ, जो सभ्यता का आधार रहा था। लेकिन 'लेसे-फेयर' और नये पंजीवाद ने 'जगल का नियम' या मत्स्य-न्याय[१] चालू कर दिया। कार्लाइल ने इसे 'पिग-फिलासफी' यानी शूकर-नीति का नाम दिया है। जिन्दगी और व्यापार का यह नया कायदा किसने बनाया ? मजदूरों ने तो नही ही। उन बेचारों की तो सुनता ही कौन था। इसके बनाने वाले तो ऊँचे वर्ग के कामयाब मिल-मालिक थे, जो बेहूदी भावनाओ के नाम पर अपनी कामयाबी में किसी तरह की दस्तंदाजी नहीं चाहते थे। बस आज़ादी और जायदाद के अधिकार की दुहाई देकर वे इसकी भी मुखालफत करते थे कि लोगों के खानगी मकानों की कानून के जोर से सफाई कराई जाय और माल में मिलावट करना रोका जाय।

मैंने अभी पूंजीवाद शब्द का प्रयोग किया है, किसी न किसी रूप में पूंजीवाद बहुत दिनो से सब देशो में चला आ रहा था, यानी इकट्ठा किये हुए धन से तिजारत की जाती थी। लेकिन बडी मशीन और उद्योगवाद के प्रचार का नतीजा यह हुआ कि कारखानो में माल तैयार करने के लिए बहुत ज्यादा रुपये की जरूरत पड़ने लगी। यह 'औद्योगिक पूंजी' कहलाती थी और पूंजीवादी शब्द आज कल उस आर्थिक प्रणाली के लिए काम में लाया जाता है, जो औद्योगिक क्रान्ति के बाद पैदा हुई। इस प्रणाली के मुताबिक पूंजीपति यानी पूंजी के मालिक, कारखानो का नियंत्रण करते थे और मुनाफा उठाते थे। औद्योगीकरण यानी बडे-बडे कल-कारखाने खुलने के साथ-साथ, सिवाय आज कल सोवियट यूनियन[२] के या शायद एक-दो दूसरे देशो के, पूंजीवाद

१ मत्स्य-न्याय—बलवानो के द्वारा निर्बलो के नाश का नियम, जिसके अनुसार मनुष्य के सिवा संसार के सब प्राणी आचरण करते है। जगल मे छोटे जानवरों को बडे जानवर मार कर खा जाते है और उनसे बडे उनको मार कर खा जाते है। इसलिए यह 'जगल का नियम' भी कहलाता है।

२ सोवियट-यूनियन—रूस का नाम 'आजकल यूनियन ऑफ सोशलिस्ट सोवियट रिपब्लिक्स' (यू० एस० एस० आर०) है। इसे ही सोवियट यूनियन भी कहते हैं।

सारी दुनिया में फैल गया। पूंजीवाद अपनी शुरुआत के दिनों से ही अमीर और ग़रीब के भेद पर ज़ोर देता रहा है। उद्योग-धन्धो के यन्त्रीकरण यानी मशीन की शक्ति से माल की उपज बहुत ज्यादा बढ़ गई और इसलिए धन भी खूब पैदा होने लगा। लेकिन यह नया धन एक छोटी सी जमात की ही जेब में जाता था— यानी नये उद्योगों के मालिकों की जेबो में। मजदूर गरीब के ग़रीब ही बने रहे। इंग्लैड में मजदूरों की हालत बहुत ही धीरे-धीरे सुधरी, और वह भी ज्यादातर हिन्दुस्तान तथा दूसरे देशों को लूट की बदौलत। लेकिन व्यवसाय के मुनाफे में मजदूरों का हिस्सा बहुत कम था। औद्योगिक क्रान्ति और पूंजीवाद ने पैदावार के सवाल को हल कर दिया। लेकिन जो नया धन पैदा हुआ उसके बंटवारे का सवाल इनसे हल न हुआ। और धनिकों और ग़रीबों की पुरानी कशमकश सिर्फ जारी ही न रही बल्कि और भी तेज़ हो गई।

औद्योगिक क्रान्ति अठारहवीं सदी के दूसरे आधे हिस्से में हुई। यह वही जमाना था जबकि अँग्रेज लोग हिन्दुस्तान और कनाडा में लड़ाइयाँ लड़ रहे थे। यही 'सात साल की लड़ाई' का भी जमाना था। इन घटनाओं का एक दूसरी पर जबर्दस्त असर पड़ा। ईस्ट इंडिया कम्पनी और उसके नौकर-चाकरो (तुम्हे क्लाइव का नाम याद होगा) ने प्लासी की लड़ाई के बाद बहुत दिनों तक जो रुपया हिन्दुस्तान से लूटा उस से इन नये उद्योग-धन्धो को चालू करने में बडी मदद मिली। मैं इस ख़त में पहले लिख चुका हूँ कि औद्योगीकरण शुरू-शुरू में बडे खर्चे का काम है। इसमें जो रुपया फँस जाता है, कुछ दिन तक उससे फ़ायदा नहीं मिलता। अगर बहुत-सा धन हाथ में न आजाय, चाहे कर्ज़े से या दूसरी तरह से, तो जबतक व्यवसाय चल न निकले और रुपया न पैदा करने लगे तबतक उसका नतीजा ग़रीबी और मुसीबत ही होता है। यह खास तौर पर इंग्लैण्ड की खुशकिस्मती थी कि ठीक जिस वक्त उसे अपने उद्योग-धन्धो और कारख़ानों को कायम करने के लिए बेहद रुपये की ज़रूरत हुई तभी उसे यह धन हिन्दुस्तान से मिल गया।

इन नये कारखानो के बन जाने पर नई जरूरते पैदा हुईं। कारखानो को बनी हुई चीजें तैयार करने के लिए कच्चे माल की जरूरत हुई। मसलन कपड़ा बनाने के लिए रुई की जरूरत थी। इससे भी ज्यादा जरूरत थी नई-नई मंडियो की, जिनमें कारखानो में तैयार किया हुआ नया माल खपाया जा सके। कारखाने पहले जारी करके इंग्लैड दूसरे देशों से आगे बढ़ा हुआ था। लेकिन इस पेशकदमी के होते हुए भी उसे ऐसी मंडियां मुश्किल से मिलतीं ज्हाँ माल आसानी से खपाया जा सकता। एक बार फिर हिन्दुस्तान ने, अपनी मर्जी के बिलकुल खिलाफ, इंग्लैड की

यह दिक्कत दूर करदी। हिन्दुस्तान में अंग्रेजों ने हिन्दुस्तानी उद्योग-धन्धों का सत्यानाश करने और हिन्दुस्तान पर विलायती कपड़ा लादने के लिए सब तरह की चालबाजियों से काम लिया। इसका ज्यादा हाल मैं आगे बतलाऊँगा। यहाँ यह बात खास तौर पर ध्यान देने की है कि अंग्रेजों ने जो हिन्दुस्तान पर कब्जा कर रक्खा था और उसको जबरदस्ती अपनी स्कीमों में 'फिट' कर लिया था, इससे इँग्लैंड की औद्योगिक क्रान्ति को बहुत मदद मिली।

उन्नीसवीं सदी में उद्योगवाद सारी दुनिया में फैल गया और पूंजीवादी उद्योग दूसरे देशों में भी उसी आम लाइन पर तरक्की करता गया जो इंग्लैंड में तय हो चुकी थी। पूंजीवाद ने लाज़मी तौर पर एक नये साम्राज्यवाद को जन्म दिया क्योंकि हर जगह माल तैयार करने के लिए कच्चे माल की और तैयार माल को खपाने के लिए मंडियों की माँग बढ़ने लगी। मंडियों और कच्चा माल प्राप्त करने का सबसे आसान तरीका यही था कि उस देश पर कब्जा कर लिया जाय। बस, ज्यादा शक्तिशाली देशों में आपस में नये उपनिवेशों के लिए बड़ी जबरदस्त छीना-झपटी होने लगी। इस बारे में भी हिन्दुस्तान पर कब्जा होने और अपनी समुद्री ताकत की वजह से इँग्लैंड आगे बढ़ा हुआ था। लेकिन साम्राज्यवाद और उसके नतीजों के बारे में मुझे आगे चलकर कुछ कहना है।

औद्योगिक क्रान्ति का नतीजा यह हुआ कि अँग्रेजी दुनिया पर लंकाशायर के बड़े-बड़े कपड़ा बनाने वालों, और लोहे के मालिकों और खान के मालिकों का दबदबा दिन-पर-दिन बढ़ता ही गया।

: ९९ :

अमेरिका का इंग्लैंड से विच्छेद

२ अक्तूबर, १९३२

अब हम अठारहवी सदी की दूसरी महान् क्रान्ति पर विचार करेंगे,—यानी अमेरिकन उपनिवेशों का इंग्लैंड से विद्रोह। यह तो खाली राजनैतिक क्रान्ति थी, जो न तो औद्योगिक क्रान्ति जैसी महत्त्वपूर्ण थी, जिस पर हम विचार कर चुके हैं, और न उस फ्रांस की राज्यक्रान्ति जैसी थी जो इसके थोड़े ही दिनों बाद होनेवाली थी और जिसने योरप की सामाजिक नींव को ही हिला डाला। लेकिन फिर भी अमेरिका में होनेवाला यह राजनैतिक परिवर्त्तन महत्त्वपूर्ण था और इससे बड़े-बड़े नतीजे निकलने वाले थे। उस वक्त जो अमेरिकन उपनिवेश आजाद हो गये थे वे आज बढ़कर दुनिया

के सबसे ताकतवर, सबसे मालदार और, औद्योगिक दृष्टि से, सबसे ज्यादा उन्नतिशील देश बन गये हैं।

तुम्हे 'मे-फ्लावर' जहाज़ का नाम याद है जो १६२० ई० में थोड़े से प्रोटेस्टेण्टों को इंग्लैंड से अमेरिका ले गया था ? वे जेम्स प्रथम की मनमानी को नापसन्द करते थे; और उसके मजहबी ख्यालात को भी। इसलिए ये लोग, जो तबसे 'पिल्ग्रिम-फादर्स' (यात्री-पूर्वज) कहलाते है, इंग्लैंड की ज़मीन को हमेशा के लिए सलाम करके अटलांटिक समुद्र के पार एक अजनबी देश को चले गये। उनका इरादा यह था कि वहाँ ऐसा उपनिवेश कायम करें जिसमें उनको ज्यादा आज़ादी रहे। वे उत्तर में उतरे और उस जगह का नाम उन्होंने न्यू-प्लाइमाउथ रक्खा। उत्तरी अमेरिका के समुद्री किनारे के दूसरे हिस्सों में इनसे पहले भी प्रवासी लोग जा बसे थे। इनके बाद बहुत से लोग और जा पहुँचे और पूर्वी किनारे पर उत्तर से लगाकर दक्षिण तक बहुत से छोटे-छोटे उपनिवेश कायम हो गये। वहाँ कैथेलिक उपनिवेश थे; इंग्लैंड से आये हुए 'कैवेलियर' सरदारो के कायम किये हुए उपनिवेश थे; और 'क्वेकर'[1] उपनिवेश थे—पैनसिलवेनिया शहर का नाम पैन नाम के क्वेकर नेता के ऊपर ही पड़ा है। वहाँ हालैंड के लोग भी बसते थे, जर्मन और डेनमार्क के निवासी भी, और कुछ फ्रांस वाले भी। इनमें सभी देशो के निवासी मिले हुए थे लेकिन सबसे ज्यादा तादाद अंग्रेज प्रवासियो की थी, हालैंडवालो ने एक शहर बसाया और उसका नाम न्यू-एमस्टर्डम रक्खा। जब बाद में यह अंग्रेज़ो के हाथ में आया तो उन्होने इसका नाम बदल कर न्यू-यार्क कर दिया जो आजकल इतना मशहूर है।

अंग्रेज प्रवासी इँग्लैंड के बादशाह और पार्लमेण्ट को मानते रहे। बहुत से लोगो ने अपने घर इसलिए छोड़े थे कि वे इँग्लैंड में अपनी हालत से बेज़ार थे और बादशाह या पार्लमेण्ट के बहुत से कामो को नापसन्द करते थे। लेकिन उनकी सम्बन्ध-विच्छेद करने की ख़ाहिश बिलकुल न थी। दक्षिण के उपनिवेश, जिनमें कैवैलियर लोग और बादशाह के समर्थको का ज़ोर था, इँग्लैंड से और भी ज्यादा चिपके हुए थे। ये सब उपनिवेश अपने-अपने हाल में मस्त थे और इनमें आपस में कोई ऐसी बात न थी जो सबमें एक-सी पाई जाती हो। अठारहवी सदी तक पूर्वी किनारे पर तेरह उपनिवेश

१ क्वेकर—१६४९ ई० मे विलियम फाक्स ने एक 'सोसाइटी ऑफ फ्रेन्ड्स' (मित्र-मण्डली) कायम की थी जिसका उद्देश्य मज़हब के ढकोसलो को छोड़ देना और शान्ति स्थापित करना था। इन लोगों का मुँह-बोला नाम 'क्वेकर' पड गया। अमेरिका मे इस सोसायटी का संगठन विलियम पैन ने किया था। क्वेकर लोगो का जबरदस्त अन्तर्राष्ट्रीय और सामाजिक प्रभाव रहा है।

थे, और ये सब इँग्लैंड के मातहत थे। उत्तर में कनाडा था और दक्षिण में स्पेन का इलाका। इन तेरहों उपनिवेशो में जितनी हालैंड या डेनमार्क वालों की बस्तियाँ थीं वे सब इन्हींमें मिल गई थीं और अंग्रेजों के क़ब्जे में थी। लेकिन याद रहे कि ये सब उपनिवेश किनारे पर ही और किनारे के पास ही भीतर की तरफ थे। इनके परे पश्चिम में प्रशान्त महासागर तक विशाल देश फैला हुआ था जो आकार में इन तेरहो उपनिवेशो से करीब दस गुना बड़ा था। इन इलाको में कोई यूरोपियन प्रवासी बसे हुए न थे। इनमें तो 'रेड-इंडियनों[1]' के जुदे-जुदे कबीले और जातियाँ बसती थीं और ये उन्हींके कब्जे में थे। इनमें मुख्य 'आइरोकोइस' थे।

अठारहवीं सदी के बीच में, जैसाकि तुम्हे ख़याल होगा, सारी दुनिया में इंग्लैण्ड और फ्रांस की कशमकश चली थी। यह 'सात साल की लड़ाई' (१७५६ से १७६३ ई० तक) कहलाती है जो सिर्फ योरप में ही नही बल्कि हिन्दुस्तान और कनाडा में भी चली। इंग्लैण्ड की जीत हुई और फ़्रांस को कनाडा उसके हवाले करना पड़ा। इस तरह अमेरिका से फ़्रांस का टिकट कट गया और उत्तरी अमेरिका के सारे उपनिवेश इंग्लैण्ड के कब्जे में आगये। कनाडा के सिर्फ क्यूबेक प्रान्त में ही कुछ फ़्रेंच लोगों की आबादी थी; बाकी उपनिवेशो में अंग्रेज ही ज्यादा थे। ताज्जुब की बात है कि क्यूबेक अभी तक 'ऐंग्लो-सैक्सन'[2] आबादी से घिरा हुआ फ़्रेंच भाषा और संस्कृति का एक टापू-सा है। क्यूबेक प्रान्त के सबसे बडे शहर मॉन्ट्रील (मॉन्ट रायल का अपभ्रंश) में, मैं समझता हूँ, इतने फ्रेंच भाषा बोलनेवाले लोग हैं, जितने पेरिस के सिवा और किसी शहर में नहीं होगे।

पिछले किसी खत में मै उस गुलामो के व्यापार का जिक्र कर चुका हूँ जो योरप के देशो ने अफरीका से हब्शी मजदूरो को पकड़-पकड़ कर अमेरिका लाने के लिए चला रक्खा था। यह भयानक और जंगली व्यापार ज्यादातर स्पेनवालों, पुर्त-गाल वालो और अंग्रेजो के हाथ में था। अमेरिका में मजदूरो की जरूरत थी, खासकर दक्षिणी रियासतो में जहाँ तमाखू की खेती खूब होने लगी थी। अमेरिका के बाशिन्दे

१ रेड-इंडियन—कोलम्बस जब हिन्दुस्तान की तलाश मे निकला तो अमेरिका जापहुँचा। वहाँ के निवासियो को देखकर उसने उनको हिन्दुस्तानी समझा और तभी से उनको 'इंडियन' कहा जाने लगा। लेकिन जब मालूम हुआ कि ये लोग हिन्दुस्तानी न थे तो उनका तांबे जैसा रंग होने के कारण 'रेड-इंडियन' का नाम दे दिया गया। ये लोग अब भी थोडी-बहुत तादाद में उत्तरी अमेरिका में पाये जाते है।

२ ऐंग्लो सैक्सन—इंग्लैण्ड के निवासी ऐंग्लो-सैक्सन जाति के माने जाते है। कहते है कि पहले-पहल जर्मनी के सैक्सनी प्रान्त से लोग यहाँ आकर बसे थे।

'रेडइंडियन' कहलानेवाले लोग, खाना-बदोश थे और एक जगह टिककर नहीं रहना चाहते थे। इसके अलावा उन्होंने गुलामों की तरह काम करने से भी इन्कार किया। वे झुकनेवाले न थे; बरबाद हो जाना उन्होंने बेहतर समझा, और बाद में वे तबाह हो भी गये। उनका करीब-करीब खातमा कर दिया गया और नई परिस्थितियों में वे जिन्दा न रह सके। इन लोगों में से, जो किसी वक्त सारे महाद्वीप में बसे हुए थे, आज बहुत कम बाकी बचे हैं।

चूंकि रेड-इंडियन लोग तो खेतों में काम करने के लिए मजबूर नहीं किये जा सके, और मजदूरों की बड़ी भारी जरूरत थी, इसलिए अफ़रीका के कम्बख्त, निवासियों को भयंकर नर-आखेट (मनुष्यो के शिकार) के ज़रिये पकड़ा जाता था, और जिस तरह उनको समुद्र पार भेजा जाता था, उसकी बेरहमी पर यकीन करना मुश्किल है। ये अफ़रीका के हबशी वर्जिनिया, कैरोलिना और जॉर्जिया की दक्षिणी रियासतों को भेजे जाते थे जहाँ इनकी टोलियाँ बनाकर इनसे ज्यादातर तमाखू के बड़े-बड़े खेतों (प्लैन्टेशन) में काम लिया जाता था।

उत्तरी रियासतो में दशा इससे जुदी थी। 'मे-फ्लावर' जहाज़ में आये हुए 'पिल्ग्रिम फादर्स' की पुरानी कट्टर परम्परायें अभीतक चल रही थीं। वहाँ छोटे-छोटे खेत थे, दक्षिण की तरह बड़े-बड़े 'प्लैन्टेशन' न थे। इन खेतों में गुलामों या बड़ी तादाद में मज़दूरों की ज़रूरत न थी। चूंकि नई ज़मीन की कमी न थी, इसलिए हरेक आदमी की ख्वाहिश यही रहती थी कि अपना निजी खेत रखकर आज़ाद बना रहे। इसलिए इन बसनेवालों में बराबरी का भाव बढ़ने लगा।

इस तरह हम इन उपनिवेशों में दो आर्थिक प्रणालियों का विकास देखते हैं; एक तो उत्तर में, जो छोटे-छोटे खेतो और समानता के कुछ-कुछ भावो पर निर्भर थी, और दूसरी दक्षिण में, जिसका आधार बड़े-बड़े प्लैन्टेशन और गुलामी था। रेड-इंडियनों के लिए इन दोनों में से किसी में भी जगह न थी। इसलिए ये लोग, जो इस देश के आदिम निवासी थे, धीरे-धीरे पश्चिम की तरफ खदेड़ दिये गये।

इंग्लैण्ड के बादशाह और बहुतसे अंग्रेज़ जमींदारों का इन उपनिवेशों में, खास कर दक्षिण में, बहुत रुपया फँसा हुआ था। वे इनसे जितना फायदा हो सके, उठाने की कोशिश करते थे। सात साल की लड़ाई के बाद अमेरिका के उपनिवेशो से रुपया वसूल करने के लिए खासतौर पर कोशिश की गई। अंग्रेजी पार्लमेण्ट, जिसमें जमींदारो की ही तूती बोलती थी, उपनिवेशों को चूसने को तैयार बैठी थी और उसने बादशाह का साथ दिया। टैक्स लगा दिये गये और व्यापार पर पाबन्दियाँ लगा दी गईं। तुम्हें याद होगा कि इसी ज़माने में हिन्दुस्तान में भी अंग्रेज़ों के ज़रिये बंगाल की

जबरदस्त लूट शुरू हो गई थी और हिन्दुस्तान के व्यापार के रास्ते में रुकावटें डाली गई थीं।

प्रवासी लोगो ने इन पाबन्दियो और नये टैक्सो की मुख़ालफ़त की, लेकिन 'सात साल की लड़ाई' में जीत होने के बाद ब्रिटिश सरकार को अपनी ताकत का इतना भरोसा हो गया था कि उसने इनकी मुख़ालफत की ज़रा भी परवा न की। उधर सात साल की लड़ाई से प्रवासियो ने भी बहुत-सी बातें सीख ली थीं। अलग-अलग रियासतों या उपनिवेशों के लोग आपस में मिले और एक दूसरे को जानने-पहचानने लगे। वे शिक्षित अंग्रेज़ी फौजो के साथ फ्रेंच फौजों के ख़िलाफ लड़ चुके थे और लड़ने के तरीकों और युद्ध के ख़ौफनाक खेल से वाकिफ हो गये थे। इसलिए अपनी तरफ से ये प्रवासी लोग भी इस बात को सीधी तरह मानने के लिए तैयार न थे, जिसे वे अन्यायपूर्ण और अपने प्रति ज्यादती समझते थे।

१७७३ ई० में जब ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इंडिया कम्पनी की चाय जबरन उनके सिर पटकनी चाही तो मामला काबू से बाहर हो गया। ईस्ट इंडिया कम्पनी में इग्लैंड के बहुतसे मालदारों के हिस्से थे, जिससे वे उसके फायदे में बहुत दिल-चस्पी रखते थे। सरकार इन्हीं लोगो की मुट्ठी में थी, और शायद खुद सरकार के मेम्बर लोग भी ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापार में दिलचस्पी रखते थे। इसलिए सरकार ईस्ट इंडिया कंपनी को अमेरिका चाय भेजने और वहाँ उसे बेचने की सहूलियत देकर व्यापार को मदद पहुँचाने की कोशिश करती थी। लेकिन इससे उपनिवेशो के चाय के स्थानीय व्यापार को धक्का पहुँचा और लोग बहुत नाराज़ हुए। इसलिए इस विदेशी चाय के बायकाट का निश्चय किया गया। १७७३ ई० में जब ईस्ट इंडिया कंपनी की चाय बोस्टन पर उतारी जाने लगी तो उसे रोका गया। कुछ प्रवासी लोग रेड-इंडियनो का भेष बनाकर माल के जहाज़ पर चढ़ गये और चाय को समुद्र में फेंक दिया। यह काम खुल्लमखुल्ला एक बडी भारी सहानुभूति रखनेवाली भीड के सामने किया गया। यह एक चुनौती थी, जिसका नतीजा यह हुआ कि बागी उपनिवेशो और इंग्लैंड के बीच लड़ाई ठन गई।

इतिहास की घटनायें ठीक उसी तरह दुबारा कभी नहीं होतीं, लेकिन फिर भी यह अजीब बात है कि कभी-कभी वे कितनी मिलती-जुलती होती हैं। बोस्टन में १७७३ ई० में चाय के समुद्र में फेंके जाने की यह घटना बडी मशहूर हो गई है। यह 'बोस्टन टी-पार्टी' कहलाती है। ढाई साल हुए, जब बापू ने अपनी नमक की लड़ाई और दाँडी की महान् यात्रा और नमक पर धावे शुरू किये थे तो अमेरिका के बहुत-से लोगों को 'बोस्टन टी-पार्टी' का ख़याल आगया था और वे इस नई 'साल्ट-पार्टी'

(नमक-दल) का उससे मुक़ाबिला करने लगे थे। लेकिन असल में इन दोनों में बहुत फ़र्क था।

डेढ़ साल बाद, १७७५ ई० में, इंग्लैंड और उसके अमेरिकन उपनिवेशों के बीच लड़ाई ठन गई। उपनिवेश किस बात के लिए लड़ाई लड़ रहे थे? आज़ादी के लिए नहीं, न इंग्लैंड से अलहदा होने के लिए। यहाँतक कि जब लड़ाई शुरू हो गई और दोनों तरफ़ ख़ून बह चुका तब भी प्रवासियों के नेता, इंग्लैंड के तीसरे जार्ज को 'मोस्ट ग्रेशस सॉवरेन' (महा कृपालु राजा) मानते रहे और अपने आपको उसकी वफ़ादार रिआया समझते रहे। यह बात बड़ी दिलचस्प है, क्योंकि ऐसी बातें तुम्हे बहुत बार होती हुई दिखाई देंगी। हॉलैंड में स्पेन का दूसरा फिलिप बादशाह कहलाता था हालांकि उसकी फ़ौजों के साथ ज़बरदस्त लड़ाई छिडी हुई थी। बहुत वर्षो की लड़ाई के बाद कहीं जाकर हॉलैंड को मजबूर होकर अपनी आज़ादी का ऐलान करना पड़ा। हिन्दुस्तान में भी बहुत वर्षो तक शंका और हिचकिचाहट और औपनिवेशिक स्वराज्य (डोमीनियन स्टेटस) की भावना से खिलवाड़ करने के बाद हमारी राष्ट्रीय महासभा (इंडियन नैशनल कांग्रेस) ने पहली जनवरी १९३० ई० को मुकम्मल आज़ादी यानी पूर्ण स्वराज्य के हक में ऐलान किया। अब भी कुछ लोग ऐसे हैं जो, मालूम होता है, आज़ादी के ख़याल से घबराते हैं और हिन्दुस्तान में औपनिवेशिक शासन की बातचीत करते हैं। लेकिन इतिहास हमको यह बतलाता है और हॉलेंड और अमेरिका के उदाहरण स्पष्ट कर देते हैं कि ऐसी जद्दोजहद का नतीजा सिर्फ़ आज़ादी ही हो सकता है।

१७७४ ई० में, उपनिवेशों और इंग्लैंड के बीच लड़ाई छिड़ने से कुछ ही दिन पहले, वाशिंगटन ने कहा था कि उत्तरी अमेरिका का कोई समझदार आदमी आज़ादी नहीं चाहता है। और यही वाशिंगटन अमेरिका के प्रजातन्त्र का सबसे पहला राष्ट्रपति होने वाला था। १७७४ ई० में, लड़ाई छिड़ जाने के बाद, औपनिवेशिक कांग्रेस के छियालीस प्रमुख नेताओं ने वफादार रिआया की हैसियत से बादशाह जार्ज तृतीय के पास यह प्रार्थनापत्र भेजा कि शान्ति कायम की जाय और जो 'ख़ून की नदी' वह चुकी है वह रोकी जाय। इंग्लैंड और उसकी अमेरिकन संतान के बीच में दुबारा मेल और मुहब्बत कायम करने की उनकी दिली ख्वाहिश थी। वे तो सिर्फ किसी तरह का औपनिवेशिक शासन चाहते थे और वाशिंगटन के लफ़्ज़ो में उन्होंने ऐलान किया था कि कोई भी समझदार आदमी आजादी नहीं चाहता। यह 'ओलिव-ब्रांच[1] पिटीशन' (शान्ति की प्रार्थना) कहलाने लगी। ये शब्द कितने

१ 'ओलिव-ब्रांच'—(जैतून के पेड़ की डाली) योरप में जैतून का पेड़

परिचित मालूम होते है ! आज हिन्दुस्तान में यही आवाज बार-बार सुनाई पड़ती है।

लेकिन सालभर भी न बीतने पाया था कि इस प्रार्थनापत्र पर दस्तख़त करने-वालो में से पच्चीस ने एक दूसरे ही खरीते पर दस्तख़त किये—वह थी 'स्वाधीनता की घोषणा'।

जाहिर है कि उपनिवेशो ने कोई आजादी के लिए लड़ाई नहीं छेडी थी। उनकी शिकायते तो टैक्सों और व्यापार पर पाबन्दियो के बारे में थीं। वे लोग उन-पर उनकी मर्जी के खिलाफ टैक्स लगाने के पार्लमेण्ट के हक को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उनकी मशहूर पुकार यह थी कि 'प्रतिनिधित्व नहीं तो टैक्स नहीं' (No taxation without representation) क्योंकि ब्रिटिश पार्लमेण्ट में उनका प्रतिनिधित्व न था।

इन प्रवासियों के पास कोई फ़ौज तो न थी, लेकिन एक बड़ा देश जरूर था, जिसमें वे जरूरत पड़ने पर पीछे हटकर शरण ले सकते थे। उन्होने एक फौज तैयार की और वाशिंगटन उसका सिपहसालार हुआ। उनको कुछ कामयावी भी मिली, और फ़्रास भी अपने पुराने दुश्मन इंग्लैंड से बदला निकालने का अच्छा मौका देखकर इन उपनिवेशो से मिल गया। स्पेन ने भी इंग्लैंड के ख़िलाफ़ लड़ाई का ऐलान कर दिया। अब इंग्लैंड का पासा हलका हो गया, लेकिन लड़ाई बहुत वर्षों तक चलती रही। १७७६ ई० में उपनिवेशो का मशहूर 'स्वाधीनता का घोषणापत्र' प्रकट हुआ। १७८२ ई० में लड़ाई ख़तम हो गई और १७८३ ई० में सब लड़नेवालो ने पेरिस के सुलहनामे पर दस्तख़त कर दिये।

इस तरह अमेरिका के ये तेरह उपनिवेश एक स्वाधीन प्रजातन्त्र बन गये, जिनको 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका' (अमेरिका का संयुक्त राज्य) का नाम दिया गया। लेकिन बहुत दिनो तक इन राज्यो में आपसी फूट बनी रही और हरेक राज्य अपने आपको करीब-करीब आजाद समझता रहा। सबकी एक राष्ट्रीयता का ख़याल बहुत धीरे-धीरे पैदा हुआ। यह एक बहुत बड़ा देश था जो पश्चिम की तरफ़ फैलता ही जारहा था। यह वर्तमान संसार का सबसे पहला बड़ा प्रजातन्त्र था—छोटा-सा स्वीजरलैंड उस जमाने का एक दूसरा असली प्रजातन्त्र था। हॉलैंड प्रजातन्त्र जरूर था, लेकिन वह धनवालो के हाथ में था। इंग्लैंड खाली एक सल्तनत ही न था बल्कि वहांकी पार्लमेण्ट एक छोटे-से धनवान जमींदार वर्ग के हाथो में थी। इसलिए यूनाइटेड स्टेट्स (संयुक्तराज्य) का प्रजातन्त्र एक नये तरह का देश था। योरप और

शान्ति का चिन्ह समझा जाता है। इसलिए जैतून के पेड की डाली पेश करने का मतलब होता है शान्ति का प्रस्ताव करना।

एशिया की तरह उसका पुराना इतिहास कुछ नहीं था। सामन्तशाही का भी वहां कोई निशान न था, सिवाय दक्षिण में प्लैण्टेशन-प्रणाली और गुलामी के। वहाँ पुश्तैनी अमीर-उमरा न थे। इसलिए 'बुर्जुवा' यानी मध्यमवर्ग की तरक़्की के रास्ते में कोई रुकावटें न थीं और उसने तेजी के साथ तरक़्की की। आजादी की लड़ाई के वक़्त यहाँ की आबादी चालीस लाख से भी कम थी। दो साल पहले, १९३० ई० में, यह १२ करोड़ ३० लाख के क़रीब थी।

जॉर्ज वाशिंगटन संयुक्त राज्य का पहला राष्ट्रपति हुआ। यह वर्जिनिया राज्य का एक बड़ा भारी जमींदार था। उस जमाने के और महापुरुष, जो प्रजातन्त्र की नींव जमानेवाले समझे जाते जाते हैं, टॉमस पेन, बेञ्जामिन फ्रैंकलिन, पैट्रिक हैनरी, टॉमस जैफरसन[1], जॉन ऐडम्स[2], और जेम्स मैडीसन[3] है। बैञ्जामिन फ़्रैंकलिन खास तौर पर प्रसिद्ध पुरुष हुआ है। यह बड़ा भारी वैज्ञानिक था। बच्चों की पतंगें उड़ाकर इसने यह साबित कर दिया कि बादलों की कौंध और बिजली एक ही चीज है।

१७७६ ई० की प्रजातन्त्र की घोषणा में यह कहा गया था कि "जन्म से सब मनुष्य बराबर है।" अगर छानबीन की जाय तो यह बयान पूरी तौर पर सही नहीं है, क्योंकि कुछ कमजोर है, कुछ बलवान है, कुछ दूसरों से ज्यादा जहीन (चतुर) और योग्य है। लेकिन इस बयान की तह में जो ख़याल है वह बिलकुल साफ और तारीफ़ के लायक़ है। प्रवासी लोग योरप की सामन्तशाही की असमानताओं से छुटकारा पाना चाहते थे। यह अकेली ही बहुत आगे बढ़ी हुई चीज थी। शायद 'स्वाधीनता की घोषणा' की रचना करने वालों में से बहुतों पर वाल्टेयर और रूसो वग़ैरा फ्रांस की अठारहवीं सदी के दार्शनिको और विचारकों का असर पड़ा था।

"सब लोग जन्म से बराबर हैं"—लेकिन फिर भी वहाँ बेचारा हबशी था, एक ग़ुलाम, जिसके कुछ भी हक़ न थे। उसे कौन पूछता था? विधान की रचना में वह किस तरह फिट होता था? वह फिट नहीं होता था, और आजतक भी फिट नहीं हो सका है। बहुत साल बाद उत्तर और दक्षिण के राज्यों में जबर्दस्त गृह-युद्ध हुआ, जिसका नतीजा यह निकला कि ग़ुलामी की प्रथा तोड़ दी गई। लेकिन हबशियो का सवाल अमेरिका में अभीतक मौजूद है।

१. जैफरसन—(१७४३-१८२६), अमेरिका का तीसरा राष्ट्रपति।

२. एडम्स (१७३५-१८२६); अमेरिका दूसरा राष्ट्रपति।

३. मैडीसन—(१७५१-१८३६) अमेरिका का चौथा राष्ट्रपति।

: १०० :

बैस्तील का पतन

७ अक्तूबर, १९३२

हम मुख्तसर में अठारहवीं सदी की दो क्रान्तियो का बयान कर चुके है। इस ख़त में मै तुमको तीसरी यानी फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बारे में कुछ बतलाऊँगा। तीनों क्रान्तियों में फ्रान्स की इस क्रान्ति ने सबसे ज्यादा हलचल मचाई। इंग्लैंड में शुरू होनेवाली औद्योगिक क्रान्ति बहुत ज्यादा महत्वपूर्ण थी, लेकिन वह धीरे-धीरे आई और बहुत-से लोगों की तो वह निगाह में भी न आ सकी। उस समय उसका असली महत्व कोई महसूस नहीं करता था। लेकिन इसके ख़िलाफ फ्रांस की राज्य-क्रान्ति आश्चर्य-चकित योरप पर एकदम बिजली की तरह गिर पडी। योरप अभीतक बहुतसे राजाओ और बादशाहो के कब्जे में था। पुराने पवित्र रोमन साम्राज्य की हस्ती मिट चुकी थी, लेकिन काग़ज़ी तौर पर वह अब भी कायम था और उसकी प्रेतात्मा का साया अब भी योरप पर पड़ रहा था। राजाओ और बादशाहो तथा दरबारो और राजमहलो की इस दुनिया में, आम जनता की तह में से, यह अजीब और ख़ौफनाक जीव निकल पड़ा जिसने सडे हुए रीति-रिवाजो और ख़ास रिआयतों और हकों की ज़रा भी परवा न की और जिसने एक बादशाह को तख़्त से गिराया तो दूसरो की भी ऐसी ही हालत कर डालने का डर दिखलाया। फिर इसमें क्या आश्चर्य है, अगर योरप के बादशाह तथा विशेषाधिकारो वाले तमाम लोग उस जनता की इस बगावत के आगे थर्राने लगे, जिसको उन्होने इतने दिनो तक न-कुछ समझकर कुचला था ?

फ्रांस की राज्यक्रान्ति ज्वालामुखी पहाड़ की तरह फट पडी। लेकिन क्रान्तियाँ और ज्वालामुखी पहाड़ बिना कारण या बिना बहुत दिनो की तैयारी के एकाएक नहीं फूट पड़ते। हम एकाएक होनेवाले विस्फोट (धड़ाके) को देखकर ताज्जुब करते हैं; लेकिन ज़मीन की सतह के नीचे युगों तक बहुत-सी ताकते आपस में टकराया करती हैं और आग में सुलगा करती हैं। अख़ीर में ऊपर की पपडी उसको ज्यादा देर दबाकर नहीं रख सकती और ये ज्वालायें आकाश तक उठनेवाली विकट लपटो के साथ फूट पड़ती हैं और पिघला हुआ पत्थर (लावा) पहाड़ पर से नीचे की तरफ बहने लगता है। ठीक इसी तरह वे ताकते, जो आख़िरकार क्रान्ति की शकल में ज़ाहिर होती हैं, समाज की सतह के नीचे बरसों तक खेला करती है। पानी गरम करने पर उबलता है, लेकिन तुम जानती हो कि गरम होते-होते बाद में वह उबाल

आने की हालत पर पहुँचा है। भावनायें और आर्थिक परिस्थितियाँ क्रान्तियों का कारण होती हैं। बेवकूफ़ राज्याधिकारी लोग, जिनको ऐसी कोई बात दिखलाई नहीं पड़ती जो उनके विचारो से मेल न खाती हो, यह ख़याल करते हैं कि क्रान्तियाँ भड़कानेवालो के कारण होती है। भड़कानेवाले वे लोग होते है जो मौजूदा हालतों से असन्तुष्ट होते है और तब्दीली चाहते है और उसके लिए कोशिश करते हैं। हरेक क्रान्ति के युग में इनकी बहुतायत होती है; वे तो खुद ही उस ज़माने की उथल-पुथल और असन्तोष का परिणाम होते हैं। लेकिन हज़ारों और लाखो आदमी ख़ाली एक भड़कानेवाले के इशारे पर ही नहीं नाचने लगते है। ज़्यादातर लोग हिफ़ाज़त को सबसे अच्छी चीज समझते है; जो-कुछ उनके पास है उसे वे छिन जाने के ख़तरे में नहीं डालना चाहते। लेकिन जब आर्थिक हालते ऐसी हो जाती है कि इनकी रोज़मर्रा की मुसीबते बढ़ती जाती है और जिन्दगी एक असह्य बोझ हो उठती है, तो कमज़ोर से कमज़ोर भी ख़तरा उठाने के लिए तैयार हो जाते हैं। तभी जाकर वे भड़कानेवाले की आवाज़ पर कान देते है, जो उनको अपनी मुसीबत से छुड़ाने का रास्ता बतलाता हुआ मालूम होता है।

अपने बहुत से ख़तों में मैं जनता की मुसीबतों और किसानों की बग़ावतो का ज़िक्र कर चुका हूँ। एशिया और योरप के हरेक देश में किसानों के ऐसे बलवे हुए है जिनकी वजह से बहुत ख़ून-ख़राबी और कठोर दमन हुआ है। किसानो को उनकी मुसीबतो ने बग़ावत करने के लिए मजबूर किया है, लेकिन आम तौर पर उनको अपने उद्देश्य का साफ़ तौर पर इल्म न था। ख़यालात की इस अस्पष्टता यानी विचारधारा के अभाव के कारण उनकी कोशिशें ज़्यादातर बेकार गईं। फ्रांस की राज्यक्रान्ति में हम एक नई बात देखते है, कम-से-कम इतने बडे पैमाने पर, और वह है क्रान्ति करने की आर्थिक प्रेरणा के साथ-साथ विचारो का मेल। जहाँ ऐसा मेल होता है वहीं क्रान्ति होती है, और असली क्रान्ति जिन्दगी और समाज की सारी रचना—राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक—पर असर करती है। अठारहवी सदी के आख़िरी वर्षों में हम फ्रांस में यही होता हुआ पाते है।

मैं तुमको फ्रांस के बादशाहो के ऐश-आराम, अयोग्यता, दुराचार और आम जनता को पीस डालनेवाली ग़रीबी के बारे में पहले ही लिख चुका हूँ। इस तरह आर्थिक परिस्थितियाँ ज़रूरी तौर पर विस्फोट का सामान तैयार कर रही थीं। फ्रांस-की जनता के हृदय में जो उथल-पुथल मच रही थी उसका भी कुछ ज़िक्र कर चुका हूँ; और उन नये ख़यालात का भी, जिनकी शुरुआत वाल्टेयर, रूसो और मॉतेस्क्यू और दूसरे लोगों ने की थी। यानी आर्थिक मुसीबत और विचारधारा का निर्माण

ये दो क्रियायें साथ-साथ चल रही थीं और आपस में एक-दूसरी पर क्रिया और प्रतिक्रिया कर रही थीं यानी असर डाल रही थीं। किसी क़ौम की विचारधारा को बनाने में बहुत वक़्त लगता है क्योंकि नये ख़यालात बहुत धीरे-धीरे छन-छनकर लोगों के पास पहुँचते हैं, और पुराने रिवाजों और ख़यालों को छोड़ देने के लिए बहुत कम लोग उत्सुक रहते हैं। बहुत बार ऐसा होता है कि जबतक कोई नई विचारधारा कायम हो, और लोग आख़िरकार नये तरह के ख़यालों को अपनाने में कामयाब हों, तबतक ख़ुद वे ख़याल ही पुराने पड़ जाते हैं। यह बड़ी दिलचस्पी की बात है कि अठारहवीं सदी के फ्रेंच दार्शनिकों के विचार योरप के पूर्व-औद्योगिक (बड़ी-बड़ी मशीनों और कारख़ानों के पहले के ज़माने) के आधार पर बने हुए थे; और फिर भी क़रीब-क़रीब ठीक उसी वक़्त इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति शुरू हो रही थी, जो उद्योग-धन्धों और ज़िन्दगी को इस क़दर बदल रही थी कि हक़ीक़त में वह बहुतसे फ़्रांसीसी उसूलों की जड़ ही खोखली कर रही थी। औद्योगिक क्रान्ति का विकास असल में बाद में हुआ और फ्रेंच विचारक क़ुदरती तौर पर यह कल्पना न कर सके कि आगे क्या होनेवाला था। लेकिन फिर भी बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों के आने की वजह से उनके विचार, जिनपर फ़्रांस की राज्यक्रान्ति की विचारधारा ज़्यादातर निर्भर थी, पुराने हो चुके थे।

जो कुछ भी हो, यह ज़ाहिर है कि फ्रेंच दार्शनिकों के इन ख़यालों और उसूलों का राज्यक्रान्ति पर बड़ा ज़बरदस्त असर पड़ा। आम जनता की हलचलों और बग़ावतों के बहुत-से उदाहरण पहले हो चुके थे; अब हमारे सामने जगी हुई जनता के आन्दोलन का, या यों कहिए कि जानकारी के साथ आगे बढ़नेवाली जनता की तहरीक का, महत्वपूर्ण उदाहरण था। फ़्रांस की इस महान् राज्यक्रांति का महत्व इसी कारण है।

मैं बतला चुका हूँ कि १७१५ ई० में पंद्रहवाँ लुई अपने दादा चौदहवे लुई का वारिस हुआ और इसने ५९ वर्ष तक राज किया। कहते हैं कि वह कहा करता था—"आप मुये तो डूब गई दुनिया" (Apres moi le deluge) और इसीके मुताबिक वह बर्त्ताव भी करता था। बड़े मज़े के साथ वह अपने देश को गड्ढ़े में गिरा रहा था। उसने इंग्लैंड की क्रान्ति और वहाँ के बादशाह का सिर उड़ा दिये जाने की घटना से भी कुछ नसीहत न ली। उसके बाद, १७७४ ई० में उसका पोता सोलहवाँ लुई गद्दी पर बैठा जो बड़ा बेवकूफ और बुद्धिहीन था। उसकी रानी मेरी एन्तोइनेत थी जो आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग सम्राट की बहन थी। यह भी बिलकुल बेवकूफ थी; लेकिन उसमें एक तरह की ज़िद की ताकत थी जिससे सोलहवाँ लुई बिलकुल उसकी मुट्ठी में था। उस

में 'बादशाहो के दैवी अधिकार' की भावना लुई से भी ज्यादा थी, और वह आम लोगों से नफरत करती थी। इन दोनों, पति और पत्नी, ने सल्तनत के खयाल को लोगो के लिए घृणापूर्ण बनाने में कोई कसर न रक्खी। राज्यक्रान्ति शुरू होने के बाद तक भी फ़्रास के लोगो का सल्तनत के सवाल के बारे मे कोई सुलझा हुआ खयाल न था, लेकिन लुई और मेरी एन्तोइनेत ने अपने कारनामों से प्रजातन्त्र को अनिवार्य कर दिया। लेकिन इनसे ज्यादा बुद्धिमान लोग भी कुछ नही कर सकते थे। ठीक इसी तरह १९१७ ई० में रूस की राज्यक्रान्ति शुरू होनें से पहले रूस के जार और जारीना ने अजीब बेवकूफी का बर्त्ताव किया था। लैटिन की एक प्रसिद्ध कहावत इन पर ठीक तरह लागू होती है—"परमात्मा जिसका नाश करना चाहता है उसको पहले पागल बना देता है।" (quem deus peidere vult, prius dementat) बिलकुल ऐसी ही कहावत संस्कृत में भी है—'विनाशकाले विपरीत बुद्धि.'

बादशाहत और डिक्टेटरशिप ज्यादातर फौजी शान-शौकत के सहारे खडी रहती हैं। जब कभी देश में गड़बड़ पैदा होती है तो बादशाह या सरकार का गुट्ट लोगो का ध्यान उस तरफ़ से हटाने के लिए बाहर के देशो में अपनी फौजी किस्मत आजमाने की सोचते है। लेकिन फ़्रास में इन फ़ौजी किस्मत-आजमाइयो का नतीजा अच्छा नही रहा था। सात साल की लड़ाई में फ़्रास की पराजय हुई और सल्तनत को धक्का लगा। दिवालियापन की दिन-पर-दिन नौबत आ रही थी। अमेरिका की आजादी की लड़ाई में फ़्रास ने जो हिस्सा लिया उससे खर्चा और भी बढ़ गया। यह सब रुपया कहाँ से आता? अमीर-उमरा और पादरियो को खास हक मिले हुए थे। वे बहुत से टैक्सो से बरी थे और अपनी खास रिआयतो को जरा भी नही छोड़ना चाहते थे। लेकिन न सिर्फ कर्ज चुकाने के लिए बल्कि राजदरबार की फिजूलखर्ची के लिए भी रुपया तो वसूल होना ही चाहिए था। जनता की या आम लोगो की कौन परवा करता था? फ्रांस की राज्यक्रान्ति पर लिखनेवाले कार्लाइल नाम के एक अंग्रेज लेखक ने इनका जो बयान किया है वह मैं तुमको बतलाना चाहता हूँ। तुम देखोगी कि उसकी अपनी ही एक खास शैली है, लेकिन उसके बयान अक्सर बहुत असर पैदा करने वाले होते है:

"श्रमजीवियो पर फिर आफत आ रही है। बड़े दुर्भाग्य की बात है क्योंकि इनकी तादाद दो-ढाई करोड़ है। जिनको हम एक तरह के सक्षिप्त, अस्पष्ट—हैवानी लेकिन धुधले, बहुत दूर के—ढेर मे इकट्ठा करके कमीन, या ज्यादा इन्सानियत से, 'जनता' कहते है। सचमुच जनता; लेकिन फिर भी यह अजीब बात है कि अगर अपने खयाल को दौड़ाकर आप इनके साथ-साथ सारे फ्रास मे, इनकी मिट्टी की मड़ैयो मे, इनकी कोठरियो और झोपड़ियो मे, चले तो मालूम होगा कि

जनता सिर्फ अलग-अलग व्यक्तियो की ही बनी हुई है। इसके हरेक व्यक्ति का अपना अलग-अलग दिल है और तकलीफे है, वह अपनी ही खाल मे खड़ा है, और अगर आप उसे नोचेगे तो खून बहने लगेगा।"

यह वर्णन १७८९ ई० के फ्रांस पर ही नही बल्कि १९३२ ई० के हिन्दुस्तान पर कितनी अच्छी तरह लागू होता है! क्या हममें से बहुत से लोग हिन्दुस्तान की जनता को, बीसियो करोड़ किसानो और मजदूरो को, एक में मिलाकर, उनको एक दुखी और एकदम वहशी नहीं समझते? वे लोग लम्बे अरसे से बोझा ढोनेवाले जानवर रहे है और अब भी है। हम उनके साथ हमदर्दी दिखलाते है और उनकी भलाई करने की बडी कृपापूर्ण बाते करते है। लेकिन फिर भी हम यह नहीं सोचते कि वे भी हमारी ही तरह आदमी है, हमारी ही तरह उनके भी आत्मा है। यह खूब याद रखना चाहिए कि अपनी कच्ची झोपड़ियो में वे अलग-अलग जिंदगी बिताते है और हमारी ही तरह भूख और सर्दी और तकलीफ महसूस करते है। हमारे बहुत से राजनीतिज्ञ, जो कानून के पंडित है, विधानो वगैरा की बातचीत करते है लेकिन उन इन्सानो को भूल जाते है जिनके लिए विधान और क़ानून बनाये जाते है। हमारे देश की करोडों कच्ची झोपड़ियो और कस्बो के निवासियो की राजनीति का अर्थ है भूखो के लिए भोजन, पहनने को कपड़ा और रहने को मकान।

सोलहवे लुई के राज में फ्रांस की यही हालत थी। उसके शासन-काल के शुरू में ही भुक्खडो ने दंगे-फिसाद किये। ये कई साल तक जारी रहे और इसके बाद कुछ दिन शान्ति रही और फिर किसानो के बलवे हुए। दिजन में खाने की चीजों के लिए जो दंगा हुआ तो वहाँ के गवर्नर ने लोगों से कहा—"घास उग आई है; खेतो में जाकर उसे चरो"। हजारो आदमी भीख माँगने का पेशा करने लगे। सरकारी तौर पर यह जाहिर किया गया था कि १७७७ ई० में फ्रांस में ग्यारह लाख भिखमंगे थे। इस गरीबी और कम्बख्ती पर विचार करते-करते हिन्दुस्तान का खयाल किस तरह बरबस हमारे दिमाग में आ जाता है!

किसान लोग सिर्फ भोजन के ही भूखे न थे, उनको जमीन की भी उतनी ही जरूरत थी। सामन्तशाही में सामन्त लोग जमीन के मालिक होते थे और उसकी आमदनी का ज्यादातर हिस्सा उन्हींके पेट में जाता था। किसानो के कोई सुलझे हुए विचार न थे, न उनका कोई निश्चित उद्देश्य था, लेकिन वे अपने लिए जमीन चाहते थे और उनको कुचलने वाली इस सामन्तशाही से नफरत करते थे। वे सामन्तों से, पादरियों से और (हिन्दुस्तान का फिर ख़याल करो!) 'गबैल' या नमक-कर से नफरत करते थे जो खास तौर पर गरीबों पर पडता था।

किसानो की यह हालत थी लेकिन फिर भी बादशाह और रानी रुपये के लिए चिल्लाते थे। सरकार के पास खर्च के लिए ही रुपया न था, इसलिए क़र्ज़ बढ़ते चले जारहे थे। मेरी एन्तोइनेत का लकब 'मैदम डेफ़िसिट' (घाटा देवी) रख दिया गया। ज्यादा रुपया वसूल करने का कोई ढंग नज़र न आता था। आख़िरकार हार कर सोलहवे लुई ने मई सन् १७८९ ई० में 'स्टेट्स जनरल' की बैठक बुलाई। इस सभा में सामन्त, पादरी तथा साधारण लोग, इन तीन वर्गो के, जो राज्य की जागीरे कही जाती थी, नुमाइन्दे होते थे। उसकी रचना ब्रिटिश पार्लमेण्ट से मिलती जुलती थी जिसमें सामन्तों और पादरियों का 'हाउस आफ लॉर्डस' और एक 'हाउस आफ कामन्स' होता था। लेकिन इन दोनो में फर्क भी बहुत-सा था। ब्रिटिश पार्लमेण्ट की बैठके कई सौ वर्षो से करीब-क़रीब नियमित रूप से होती चली आई थीं और अपने रिवाजों, कायदो और तौर-तरीक़ो के साथ वह अच्छी तरह जम चुकी थी। 'स्टेट्स जनरल' की बैठकें बहुत ही कम होती थी और उसकी कोई परम्परा नहीं बनी थी दोनों संस्थाओं में ऊँचे वर्गो का ही प्रतिनिधित्व था; ब्रिटिश 'हाउस आफ कामन्स' में तो 'स्टेट्स जनरल' से भी ज्यादा। किसानो का प्रतिनिधित्व किसी में भी न था।

४ मई १७८९ ई० को वर्साई मे बादशाह ने 'स्टेट्स जनरल' का उद्घाटन किया। लेकिन शीघ्र ही बादशाह को पछतावा होने लगा कि उसने इन तीनों जागीरो के नुमाइन्दों को इकट्ठा क्यो बुलाया। तीसरी जागीर यानी 'कामन्स' या मध्यम वर्ग खुल्लम-खुल्ला विरोध करने लगा और इस बात पर जोर देने लगा कि उसकी मरज़ी के बिना कोई टैक्स नहीं लिया जा सकता। उसके सामने इंग्लैंड का उदाहरण था, जहाँ कामन्स सभा ने अपना हक महफूज़ कर लिया था। अमेरिका का नया उदाहरण भी उनके सामने था। वे बडी भारी गलत-फहमी में थे कि इंग्लैंड आज़ाद मुल्क था। असल में यह एक धोखा था क्योंकि इंग्लैंड पर दौलतमंद और ज़मीदार वर्गो का अधिकार और शासन था। वोट देने का हक बहुत थोडे लोगो को था जिससे पार्लमेण्ट पर भी इन्ही लोगों का इजारा होगया था।

बहरहाल तीसरी जागीर या 'कामन्स' ने जो कुछ भी ज़रा-सी हिम्मत की वही बादशाह लुई की बरदाश्त से बाहर की बात हो गई। उसने उनको हाल में से बाहर निकलवा दिया। डिप्टी लोगों की चले जाने की मंशा नहीं थी। वे तुरन्त ही नज़दीक के एक टैनिस कोर्ट पर इकट्ठे हुए और उन्होने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक एक विधान की स्थापना न कर लेंगे तब तक न टलेगे। यह 'टैनिस कोर्ट की शपथ' कहलाती है। इसके बाद वह मौका आया जब बादशाह ने ज़ोर-ज़बर्दस्ती करनी चाही और खुद उसीके सिपाहियों ने उसकी आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया। क्रान्ति

में हमेशा नाजुक वक़्त तभी आता है जब फौज, जो सरकार का खास पाया होती है, भीड़ में अपने भाइयों पर गोलियाँ चलाने से इन्कार कर देती है। लुई ने घबरा-कर हार मान ली और इसके बाद उसने बेवकूफी से, विदेशी फौजों से यह साजिश की कि वे उसकी रिआया पर गोलियाँ चलावें। जनता इसे बर्दाश्त न कर सकी और १४ जुलाई १७८९ ई० के स्मरणीय दिन उन्होंने बैस्तील[1] के पुराने जेलखाने पर कब्ज़ा करके कैदियो को छोड़ दिया।

बैस्तील का पतन इतिहास की एक बहुत बडी घटना है। इसने क्रान्ति की शुरुआत की; यह सारे देश में जनता की बगावत के लिए एक इशारा था; इसका अर्थ था फ्रांस में पुरानी बातो, सामन्तशाही, सल्तनत और विशेषाधिकार का खातमा; यह योरप के तमाम राजाओ और बादशाहो लिए बडा भयानक और भयंकर बदशगुन था। जिस फ्रांस ने महान बादशाहो का फैशन कायम किया था वही अब एक नया फैशन कायम कर रहा था, जिसने तमाम योरप को हैरत में डाल दिया था। कुछ लोग इस लक्ष्य को देखकर डर से काँपने लगे। लेकिन बहुत से लोग इसमें उम्मीद और अच्छे दिनो के लक्षण देख रहे थे। चौदहवी जुलाई आजतक फ्रांस का राष्ट्रीय त्यौहार है और यह हरसाल सारे देश में मनाया जाता है।

चौदहवीं जुलाई को बैस्तील पेरिस निवासियो के झुण्ड के क़ब्ज़े में आगया। लेकिन अधिकारी लोग इतने अन्धे होते हैं कि इस दिन से पहले की यानी १३ जुलाई की शाम को वर्साई में एक शाही जलसा किया गया था। नाच और गाने के साथ राजा और रानी के सामने विद्रोही पैरिस पर होनेवाली भावी विजय की खुशी में 'टोस्ट'[2] पिये गये। कैसी ताज्जुब की बात है कि योरप में बादशाहत की भावना इतनी ज़बरदस्त थी! इस ज़माने में हम लोग प्रजातन्त्रो के आदी हो गये हैं और बादशाहो को मखौल समझते हैं। दुनिया के कुछ बचे-खुचे बादशाह बहुत फूंक-फूंक क़दम रखते हैं कि उनपर कहीं मुसीबत न आ जाय। फिर भी ज्यादातर लोग बादशाहत के खयाल

१. बैस्तील—पेरिस शहर के बीच मे एक पुराना और बहुत मज़बूत किला जिसमें राजनैतिक कैदी बंद किये जाते थे और उनको तकलीफें दी जाती थीं। पैरिस के लोगो ने इस पर हमला किया। लेकिन वे इसका कुछ भी न बिगाड सकते अगर किले के भीतर के सैनिक उनका साथ न देते।

२ टोस्ट—शराब के प्याले हाथ मे लेकर, किसी व्यक्ति या घटना के उपलक्ष मे पीना 'टोस्ट' पीना कहलाता है। यह रिवाज योरप मे और योरप के रहनेवालो में अब भी मनाया जाता है और आजकल अंग्रेजी सभ्यता के भक्त हिन्दुस्तानी लोग भी इसकी नकल करने लगे हैं।

के ख़िलाफ है क्योंकि यह वर्ग-भेदों को बनाये रखती है और बडप्पन और झूठी टीम-टाम की भावना को बढ़ाती है। लेकिन अठाहरवीं सदी के योरप में यह बात न थी: उस जमाने के लोगों के लिए बिना बादशाह के देश की कल्पना करना जरा मुश्किल था। इसलिए हुआ यह कि लुई की बेवकूफ़ी और लोगों की मरजी के ख़िलाफ जाने की कोशिश के बावजूद भी उसे गद्दी से उतार देने की कोई चर्चा न थी। करीब दो साल तक लोगों ने उसको और उसकी साजिशों को सहन किया और फ़्रांस ने बिना बादशाह के काम चलानें का फैसला तभी किया जब वह भागने की कोशिश करता हुआ पकड़ा गया।

लेकिन यह बाद की बात है। इस अर्से में 'स्टेट्स जनरल', 'नेशनल असेम्बली' (राष्ट्रीय सभा) बन गई और बादशाह एक वैधानिक या नियमित राजा बन गया, यानी ऐसा राजा जो असेम्बली के कहने के मुताबिक चलता था। लेकिन वह इस बात से नफरत करता था, और मेरी एन्तोइनेत तो और भी ज्यादा नफरत करती थी। पैरिस के लोग उनसे कुछ ज्यादा प्रेम नहीं करते थे और उनपर तरह-तरह की साजिशें करने का शक भी करते थे। वर्साई जहाँ राजा और रानी कचहरी या दरबार करते थे, पैरिस से इतनी दूर था कि राजधानी के लोग उनपर निगाह नहीं रख सकते थे। वर्साई की दावतों और ऐश-आराम के क़िस्सों और अफ़वाहो ने पैरिस के भूखे लोगों को और भी उत्तेजित कर दिया। बस, राजा और रानी पैरिस की ट्यूलरीज[1] में एक बहुत-ही अजीब जुलूस बनाकर ले जाये गये।

यह ख़त निश्चित नाप से ज्यादा बढ़ चुका है। मैं क्रान्ति का बयान अपनें अगले ख़त में भी जारी रक्खूंगा।

: १०१ :

फ़्रांस की राज्यक्रान्ति

१० अक्तूबर, १९३२

फ्रांस की राज्यक्रान्ति का बयान करने में मुझे जरा दिक्कत मालूम होती है। इस कारण नही कि उसके लिए मसाला कम है बल्कि इसलिए कि मसाला बहुत ज्यादा है। यह क्रान्ति एक अजीब और सदा बदलते रहनेवाले नाटक की तरह थी और ऐसी असाधारण घटनाओं से भरी हुई है जो अब तक हमको मोह लेती है, सहमा

१. ट्यूलरीज—पैरिस का राजमहल, जिसमें सोलहवे लुई को कैद किया गया था।

देती है और थर्रा देती है। राजाओ और राजनीतिज्ञो की नीतियाँ कोठरियो और खानगी कमरो में रहती है और उनपर एक रहस्य की चादर ढकी रहती है। बहुत-से पाप चतुराई के पर्दे में ढक जाते है और हविसों और लालच की आपसी कशमकश शिष्टाचार की भाषा में छिप जाती है। यहाँतक कि जब यह कशमकश लड़ाई की शक्ल में बदल जाती है और इस लालच और हविस की खातिर हजारो नौजवान मौत के मुंह में भेज दिये जाते है, तब भी ऐसी किन्हीं नीच भावनाओ का नागवार जिक्र हमारे कानो में नही पड़ता। इसके बजाय हमसे तो ऐसे ऊँचे उद्देश्य और महान हित की बाते की जाती है जिनके लिए भारी-से-भारी कुर्बानी की जानी चाहिए।

लेकिन क्रान्ति इससे बिलकुल जुदे ढंग की चीज है। उसका मुकाम तो खेत, गली और बाजार है और उसके तरीके भोंडे और गँवारू होते है। राज्यक्रान्ति करनेवालो को राजाओ और राजनीतिज्ञो की सी तालीम मिली हुई नहीं होती। उनकी बातचीत चापलूसी से भरी हुई और सभ्य नहीं हुआ करतीं, जिसमें अनगिनती साजिशें और बुरी हरकतें छिप जायें। उनमें कोई रहस्य की बात नहीं होती, न उनके दिमाग की बातो पर कोई परदे ढके रहते है; यहां तक कि उनके पास शरीर ढकने को काफी कपड़ा नही होता। राज्यक्रान्ति में राजनीति खाली राजाओं और पेशेवर राजनीतिज्ञो का खेल नही रह जाती। उसका ताल्लुक तो असलियत से होता है और उसकी तह में होता है सीधा-सादा मनुष्य-स्वाभाव और भूखे लोगों का खाली पेट।

इसलिए १७८९ से १७९४ ई० तक के पाँच वर्ष के मनहूस वक्त में हम फ्रांस में भूखी जनता की हरकत देखते है। यही लोग डरपोक राजनीतिज्ञो को मजबूर करते है और उन्हींके हाथो से बादशाहत, सामन्तशाही और चर्च की रिआयतों का खातमा करवाते है। यही लोग खूंखार 'मैंडम गिलोटीन'[१] (सिर उड़ानेवाली देवी) को भेंट चढाते है और जिन लोगो ने इनको पहले कुचला है और जिन लोगों पर ये अपनी नई मिली हुई आजादी के खिलाफ साजिश करने का शुबहा करते है उनसे बड़ी बेरहमी के साथ बदला लेते है। यही फटे-हाल और नंगे पैरो वाले लोग कामचलाऊ हथियार लेकर अपनी राज्यक्रान्ति के पक्ष में लडने के लिए रणभूमि की तरफ दौड़ते है और अपने खिलाफ इकट्ठा होकर आनेवाली योरप की शिक्षित फौजो को पीछे खदेड़ देते है। फ्रास के ये लोग आश्चर्यजनक काम कर दिखाते है, लेकिन भयकर खिचाव और लड़ाई-झगडे के कुछ ही साल बाद राज्यक्रान्ति की ताकत खतम

१. गिलोटीन—मध्यकालीन योरप मे अपराधियो के सिर उडाने के काम मे आनेवाली एक मशीन।

हो जाती है और वह अपने ही ख़िलाफ़ उल्टी लौटकर खुद अपनी ही सन्तान को खाने लगती है । और इसके बाद प्रति-क्रान्ति यानी क्रांति के ख़िलाफ दूसरी क्राति होती है जो क्रान्ति को हड़प कर जाती है और जिस आम जनता ने इतनी हिम्मत की थी और इतनी मुसीबतें झेलीं थीं उसको दुबारा फिर 'ऊँचे' वर्गों की हुकूमत में कर दिया जाता है । इस प्रतिक्रान्ति में से डिक्टेटर और सम्राट नेपोलियन का उदय होता है । लेकिन न तो यह प्रतिक्रान्ति और न नेपोलियन जनता को उसकी पुरानी जगह पर पहुँचा सके । क्रान्ति की खास-खास कामयाबियों को कोई न मिटा सका; और उस दिन की जोशीली यादगार को, जबकि थोडी ही देर के लिए सही सताये हुओं ने अपने जुये को उतार फेंका था, फ्रेंच लोगों से और हकीकत में योरप की दूसरी जातियों से कोई न छीन सका ।

क्रान्ति के शुरू के दिनों में बहुत सी पार्टियाँ और गिरोह हुकूमत के लिए लड़ रहे थे। एक तो रायलिस्ट यानी राजा के पक्षपाती थे जो सोलहवें लुई को आजाद राजा बनाये रखने की थोथी आशा लगा रहे थे; दूसरे नरम विचारो वाले लिबरल थे, जो विधान चाहते थे और बादशाह को एक नियंत्रित शासक बनाकर रखना चाहते थे; तीसरे नरम विचारोंवाले प्रजातन्त्रवादी थे जो 'गिरोंदे'[१] की पार्टी कहलाते थे; चौथे गरम प्रजातन्त्रवादी थे जो जैकोबिन[२] कहलाते थे क्योंकि वे जैकोबिन कान्वेन्ट के हाल में अपनी सभा में किया करते थे । मुख्य दल यही थे और इन सब में और इनके अलावा भी, बहुत से ले-भग्गू थे। इन सब दलो और व्यक्तियों के पीछे थी फ्रांस की और खासकर पैरिस की जनता जो अपने ही में के कई गुमनाम नेताओ के इशारे पर चलती थी । विदेशों में, ख़ासकर इंग्लैंड में, वे फ्रेंच सरदार 'ईमिग्रीस' थे जो क्रान्ति से मुँह छिपाकर भाग गये थे और लगातार उसके खिलाफ़ साजिशें कर रहे थे। योरप की सारी ताकतवर कौमें क्रान्तिकारी फ़्रांस के ख़िलाफ हो रही थीं । पार्लमेण्ट वाला लेकिन धनसत्ता वाला इंग्लैंड, और योरप के राजा और बादशाह भी, आम जनता के इस अद्भुत धड़ाके से बहुत डर गये थे और इसे कुचल देना चाहते थे ।

१. गिरोंदे—यह फ्रास के एक प्रान्त का नाम है । गिरोदे पार्टी के नेता ज्यादातर इसी प्रान्त के निवासी थे ।

२. जैकोबिन—फ्रास की राज्यक्राति मे भाग लेने वाला एक शक्तिशाली राजनैतिक दल । ये लोग जेलियो की-सी टोपी पहनते थे जो 'जैकोबिन कैप' के नाम से मशहूर हो गई और क्राति का चिन्ह मानी जाने लगी । इस दल की स्थापना १७८९ ई० में वर्सांई में हुई और रोब्सपीयर की हार के बाद इसका खातमा हो गया।

रायलिस्टो और बादशाह ने मिलकर साज़िश की लेकिन इससे उन्होंने अपने ही पैरो पर कुल्हाडी मारी। नैशनल असेम्बली यानी राष्ट्रीय सभा में शुरू-शुरू में जिस पार्टी का ज़ोर था वह नरम लिबरलो की थी जो कुछ-कुछ इंग्लैंड या अमेरिका की तरह का कोई विधान चाहती थी। उनका नेता था मिराबो[1] जिसके नाम से तुम पहले ही से परिचित हो। तकरीबन दो वर्ष तक असेम्बली में इन्हींका ज़ोर रहा और क्रान्ति के शुरुआत के दिनो की कामयाबी से फूलकर इन्होने कितनी ही साहसपूर्ण घोषणायें कीं और कुछ महत्वपूर्ण परिवर्त्तन भी किये। बैस्तील के पतन के बीस दिन बाद, ४ अगस्त १७८९ ई० को, असेम्बली में एक मजेदार घटना हुई। असेम्बली में सामन्तशाही हको और रिआयतो के तोड़ दिये जाने पर विचार हो रहा था। उस वक़्त फ़्रांस की हवा में कुछ ऐसी बात थी, जो लोगों के दिमाग़ में भर गई थी, यहाँतक कि सामन्त सरदार भी कुछ देर के लिए आज़ादी की नई शराब के नशे में मतवाले हो गये थे। बडे-बडे सरदार और चर्च के नेता असेम्बली के अधिवेशन में उठ खडे हुए और अपने माँडलिक हको और रिआयतों को छोड़ने में एक दूसरे से आगे बढ़ने लगे। यह एक हार्दिक और उदार प्रदर्शन था, हालाँकि कुछ साल तक इसका ज्यादा असर न हुआ। रिआयती वर्ग के दिल में ऐसी उदार भावनायें कभी-कभी, लेकिन बहुत ही कम, उठती है; या शायद यह बात हो कि उसे यह महसूस होने लगता है कि विशेषाधिकारों का अन्त तो होने वाला है ही, इसलिए नेकी के साथ उदारता दिखाने में ही भलाई है। थोडे ही दिन हुए जब बापू ने छुआछूत को हटाने के लिए अनशन किया था, तब हिन्दुस्तान के सवर्ण हिन्दुओं ने इसी तरह का एक अद्भुत काम कर दिखाया था और जादू की तरह सारे देश में हमदर्दी की लहर फैल गई थी। हिन्दुओ ने जिन जंजीरो में अपने बहुत से भाइयों को जकड़ रक्खा था वे कुछ हद तक टूट गईं और हजारो दरवाजे, जो युगो से अछूतों के लिए बन्द थे, उनके लिए खुल गये।

बस, क्रान्तिकारी फ़्रांस की नैशनल असेम्बली ने जोश में आकर कम-से-कम प्रस्ताव तो पास कर ही दिया कि ज़मीन के साथ काश्तकार की बिक्री की प्रथा, विशेषाधिकार, माँडलिक कचहरियाँ, सरदारों और पादरियो को टैक्स की छूट, और इख़्तियार, ये सब बातें बन्द की जायें। यह अजीब बात है कि बादशाह तो था लेकिन सरदारो के सब इख़्तियार छीन लिये गये।

तब असेम्बली ने आगे चलकर मनुष्य के अधिकारो की एक घोषणा पास की।

१ मिराबो—(१७४९–१७९१); एक फ्रेंच राजनीतिज्ञ; (बादशाह का विरोधी) नैशनल असेम्बली का प्रधान (१७९१)।

इस मशहूर घोषणा का ख़याल शायद अमेरिका की आज़ादी की घोषणा से हुआ हो। लेकिन अमेरिकावाली घोषणा मुख्तसर और सहल है; फ़्रांस वाली लम्बी और ज़रा पेचीदा है। मनुष्य के अधिकार वे अधिकार थे जो उसको समानता, स्वाधीनता और आनन्द प्राप्त करानेवाले माने गये थे। उस वक्त मनुष्यों के अधिकार की यह घोषणा बडी ही साहसपूर्ण और निडर मालूम होती थी और बाद के तकरीबन सौ वर्षों तक यह योरप के लिबरलों और लोकसत्तावादियों का परवाना रही। लेकिन इतने पर भी आज यह बिलकुल रद्दी होगई है और हमारे ज़माने के किसी भी सवाल को हल नहीं करती। जनता को यह पता लगाने मे बहुत दिन लगे कि सिर्फ़ कानूनी बराबरी और वोट देने का हक असली समानता, या स्वाधीनता या आनन्द नहीं दे सकते, और यह कि जिनके हाथ में ताकत है वे उनको अब भी दूसरे तरीकों से चूस सकते हैं। फ़्रांस की राज्यक्रान्ति से अब तक राजनैतिक विचार बहुत आगे बढ़ गये हैं और बदल गये हैं, और शायद इन्सानी हकूक के ऐलान के उन थोथे लफ्ज़ी असूलो को बहुत से अनुदार विचारवाले तो आज भी मंजूर कर लेंगे। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है, जैसा कि हम आसानी से देख सकते हैं, कि ये लोग असली समानता और आज़ादी देने के लिए तैयार हैं। यह घोषणा ख़ानगी सम्पत्ति की वास्तव में रक्षा करती थी। बडे-बडे सरदारो की और चर्च की जागीरे मॉडलिक हको और विशेष अधिकारो से सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे कारणो से ज़ब्त की गई थी। लेकिन सम्पत्ति रखने का जो अधिकार था वह पवित्र और अटूट समझा गया था। तुम शायद जानती हो कि आजकल के आगे बढ़े हुए राजनैतिक विचारो के मुताबिक ख़ानगी सम्पत्ति एक बुराई है जो, जहाँतक हो सके, मिटा दी जानी चाहिए।

इन्सानी हकूक का ऐलान आज हमको शायद एक मामूली दस्तावेज़ मालूम पडे। कल के साहसपूर्ण आदर्श बहुत करके आज की एक मामूली बात बन जाते हैं। लेकिन जिस वक्त इसका ऐलान किया गया था, सब पीड़ितों और पामाल लोगो के लिए यह अच्छे दिनों की मीठी उम्मीद का संदेश लानेवाला मालूम होता था। लेकिन बादशाह ने इसे पसंद नहीं किया; वह इस कुफ़्र से हैरत में आगया और उसने इसे मंजूर करने से इन्कार कर दिया। वह अभी वर्साई में ही था। इसी वक्त यह हुआ कि पैरिस के लोगों का झुण्ड, जिसके आगे स्त्रियां थीं, वर्साई के महलो पर चढ़ आया और उसने बादशाह को न सिर्फ यह घोषणा ही मंजूर करने पर मजबूर किया बल्कि उसे पैरिस जाने के लिए भी मजबूर कर दिया। जिस अजीब जुलूस का ज़िक्र मैंने पिछले ख़त के अख़ीर में किया है, वह यही था।

असेम्बली ने और भी बहुत से फायदेमंद सुधार किये। चर्च की बडी भारी

सम्पत्ति राज्य ने जब्त कर ली। फ्रांस का अस्सी इलाको में नया बँटवारा किया गया, और मेरा खयाल है कि यह बटवारा आज तक चालू है। पुरानी मॉडलिक कचहरियो की जगह अच्छी कानूनी अदालते कायम की गईं। यह सब अच्छे के लिए था लेकिन इससे कुछ ज्यादा मतलब हल नही हुआ। इससे न तो जमीन के भूखे काश्तकारो का फायदा हुआ और न शहर के मामूली लोगो का, जो रोटी के भूखे थे। ऐसा मालूम होता था कि क्रान्ति की गति रोक दी गई। जैसा कि मै तुम्हे बतला चुका हूँ, जनसाधारण, काश्तकारों और शहर के आम लोगों का असेम्बली में बिलकुल प्रतिनिधित्व न था। असेम्बली पर मध्यमवर्ग का कब्जा था जिसका नेता मिराबो था, और ज्योही उसे मालूम पड़ा कि उनकी गरज पूरी हो गई, त्योही उन्होने क्रान्ति को रोकने की भरसक कोशिश की। वे तो बादशाह लुई तक से मेल करने लगे और सूबो के काश्तकारो को गोली से उड़ाने लगे। उनका नेता मिराबो तो दरअसल बादशाह का खुफिया सलाहकार ही बन गया। जिस जनता ने बैस्तील पर हमला करके उसे जीत लिया था और जो यह सोचने लगी थी कि इस तरह उसने अपनी जंजीरें तोड़ डाली है, वही अब हैरत के साथ देखने लगी कि क्या हो रहा है। आम लोगो की आजादी अब भी उतनी ही दूर मालूम होती थी जितनी पहले, और नई असेम्बली उनकी गर्दन पर इसी तरह सवार थी जिस तरह पुराने जमींदार लोग।

असेम्बली में मात खाकर पैरिस, जो क्रान्ति का केन्द्र था, की जनता ने अपनी क्रान्तिकारी शक्ति के विकास के दूसरा रास्ता तलाश कर लिया। यह पेरिस की 'कम्यून' या म्यूनिसिपैलिटी था। कम्यून ही नहीं बल्कि कम्यून को कई प्रतिनिधि भेजने वाले शहर के हरेक हलके में एक जिन्दा संस्था थी जो जनता से सीधा ताल्लुक रखती थी। कम्यून, और खासकर हलके, क्रान्ति का झंडा उठानेवाले और नरम विचारो और मध्यमवर्ग की असेम्बली का मुकाबिला करनेवाले बन गये।

इसी अर्से में बैस्तील की हार की साल-गिरह आगई और १४ जुलाई को पेरिस के बाशिन्दो ने बड़ा भारी जलसा मनाया। इसे 'फेडरेशन का जलसा' कहा गया; और पैरिस वालो ने शहर को सजाने में दिल खोलकर मेहनत की, क्योकि वे इस जलसे को अपना ही समझते थे।

१७९० और १७९१ ई० में क्रान्ति की यह हालत थी। असेम्बली का सारा क्रान्तिकारी जोश ठंडा हो गया था और वह सुधार करते-करते उकता गई थी; लेकिन पेरिस के लोग अभी तक क्रान्तिकारी शक्ति से उबल रहे थे, किसान लोग अभी तक भूखो की तरह जमीन की तरफ ताक रहे थे। यह हालत बहुत दिनों तक नहीं रह सकती थी; या तो क्रान्ति आगे बढ़ती या खतम हो जाती। नरमदल का

नेता मिराबो १७९१ ई० में मर गया। बादशाह से गुपचुप साजिशें करते रहने पर भी वह लोकप्रिय था और उसने लोगों को रोक रक्खा था। २१ जून १७९१ को ऐसी घटना हुई जिसने क्रान्ति की किस्मत का निबटारा कर दिया। यह था बादशाह लुई और रानी मेरी एन्तोइनेत का भेस बदल कर भाग जाना। वे किसी तरह सरहद तक पहुँच भी गये। लेकिन वर्दून के पास वेरनीस के किसानों ने उन्हे पहचान लिया और उन्हें रोक कर फिर पेरिस भेज दिया गया।

जहाँ तक पेरिस के रहनेवालों का ताल्लुक था वहाँ तक तो बादशाह और रानी के इस कार्य ने उनकी किस्मत का फैसला कर दिया। अब प्रजातंत्र का ख़याल ख़ूब जोर पकड़ने लगा। लेकिन फिर भी असेम्बली और उस वक्त की सरकार इतने नरम विचारोंवाली और जनता की भावनाओं से इतनी दूर थी कि जो लोग लुई को राजगद्दी से उतार देने की मांग करते थे उनको उन्होने गोलियों से उड़ाना शुरू कर दिया। क्रान्ति के महान नेता मारत के पीछे अधिकारी लोग बुरी तरह पड़ गये क्योंकि उसने बादशाह को, भाग जाने के कारण देशद्रोही कहकर उसकी निन्दा की थी। उसे पेरिस की गटरों में छिपना पड़ा जिस की वजह से उसे एक बुरा चमड़ी का रोग हो गया।

ताज्जुब है कि फिर भी एक साल से ज्यादा तक सिद्धान्त रूप से लुई बादशाह माना जाता रहा। सितम्बर १७९१ ई० में नेशनल असेम्बली की जिन्दगी पूरी हो गई और उसकी जगह लेजिस्लेटिव असेम्बली यानी क़ानून बनाने वाली सभा ने ले ली। यह भी उसीकी तरह नरम विचारो वाली थी और सिर्फ ऊँचे वर्गों की ही प्रतिनिधि थी। यह फ़्रांस के बढ़ते हुए जोश की नुमाइन्दा न थी। क्रान्ति का यह बुख़ार जनता में फैल गया और गरम प्रजातन्त्रवादी जैकोबिन लोगों की, जो ख़ुद जनता के ही लोग थे, ताक़त बढ़ने लगी।

उधर योरप के ताक़तवर राष्ट्र इन अजीब घटनाओ को बडे चौकन्ने होकर देख रहे थे। थोडे दिनों तक तो प्रशिया और आस्ट्रिया और रूस दूसरी जगह लूटमार में लगे रहे। वे पोलैंड के पुराने राज्य को ख़तम करने में लग रहे थे; लेकिन फ़्रांस में घटनायें बडे ज़ोरो से आगे बढ़ रही थीं जिनकी तरफ़ उनका ध्यान खिंचना चाहिए था। १७९२ ई० में फ़्रांस की आस्ट्रिया और प्रशिया से लड़ाई हुई। मैं तुमको यह बतला दूं कि आस्ट्रिया इन दिनों निदरलैंडस के बेलजियम वाले हिस्से के कब्ज़े मे था और उसकी सरहद फ़्रांस से मिली हुई थी। विदेशी फ़ौजें फ़्रांस के इलाके में घुस आईं और उन्होने फ़्रांस की फौजों को हरा दिया। यह ख़याल किया गया और जिसके लिए सबूत भी था, कि बादशाह उनसे मिल गया है और सारे रायलिस्टों पर दग़ा-

बाजी का शक किया जाने लगा। जैसे-जैसे उनके चारों तरफ़ ख़तरे बढ़ने लगे वैसे-ही-वैसे पेरिस के लोग ज्यादा-ज्यादा भड़कने और घबराने लगे। उन्हें चारों तरफ भेदिये और देशद्रोही नज़र आने लगे। पेरिस की क्रांतिकारी कम्यून ने इस मुसीबत के मौके पर आगे बढ़कर लाल झंडा फहरा दिया, जिससे यह जाहिर हो जाय कि राजदरबार की बगावत के ख़िलाफ जनता ने फ़ौजी कानून यानी मार्शल-लॉ जारी कर दिया है, और उसने १० अगस्त १७९२ ई० को बादशाह के महल पर धावा बोल दिया। बादशाह ने अपने स्विस (स्वीजरलैंड के रहनेवाले) शरीररक्षकों (बाडी-गार्डो) के हाथों जनता को गोलियों से उड़वा दिया। लेकिन जीत आख़िर जनता की ही हुई और कम्यून ने असेम्बली को मजबूर किया कि बादशाह को गद्दी से उतारकर क़ैद करे।

सब लोग जानते हैं कि आज यह लाल झंडा सब जगह मजदूरों का, समाजवाद और साम्यवाद का, झंडा है। लेकिन पहले यह जनता के ख़िलाफ फौजी क़ानून ऐलान करने का सरकारी झंडा हुआ करता था। मेरा ख़याल है, लेकिन मैं यकीन के साथ नहीं कह सकता, कि पैरिस कम्यून के जरिये इस झंडे का इस्तेमाल जनता की तरफ से उसका सबसे पहला इस्तेमाल था। और तभी से यह धीरे-धीरे मजदूरों का झंडा बनता गया।

बादशाह का गद्दी से उतारा जाना और क़ैद किया जाना काफी न था। स्विस शरीर-रक्षकों की उनपर गोलियां चलाने और उनमें से बहुतों को मार डालने की कार्रवाई से जोश में आकर और मुल्क के दुश्मनों और भेदियों से डरकर और गुस्से में आकर, पेरिस के लोग जिन पर सन्देह करते उनको पकड़कर जेलों में ठूंसने लगे। कुछ दिन बाद लोगों पर एक और पागलपन सवार हुआ। उन्होंने क़ैदियों को जेल से निकालकर उनपर झूठ-मूठ का मुकदमा चलाया और उनमें से बहुतों को मौत के घाट उतार दिया। ये जो 'सितम्बर की हत्यायें' कहलाती हैं, इनमें एक हजार से ज्यादा आदमी मार डाले गये। पैरिस के हुजूम को बड़े पैमाने पर ख़ूंरेज़ी का यह पहला ही अनुभव था। ख़ून की प्यास बुझाने के लिए अभी तो और ख़ून बहाना बाकी था।

सितम्बर में ही फ्रांस की फौजों को आस्ट्रिया और प्रशिया की हमला करनेवाले फौजों पर पहली फतह मिली। यह फतह वाल्मी की छोटी-सी लड़ाई में मिली, जो छोटी तो थी लेकिन उसका नतीजा बहुत बड़ा निकला, क्योंकि उसने क्रान्ति को बचा लिया।

२१ सितम्बर १७९२ ई० को नैशनल कन्वेन्शन यानी राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया। यह असेम्बली का स्थान लेनेवाली नई सभा थी। यह अपने पहले की दोनों असेम्बलियों से ज्यादा आगे बढ़ी हुई थी। लेकिन कम्यून से फिर भी बहुत पिछड़ी

हुई थी। कन्वेन्शन का पहला काम हुआ प्रजातन्त्र का ऐलान करना। इसके बाद ही सोलहवें लुई का मुकदमा हुआ; उसे मौत की सजा दी गई और २१ जनवरी १७९३ ई० को उसे बादशाहत के पापों का बदला अपना सिर देकर चुकाना पड़ा। उसे गिलोटिन पर चढ़ा दिया गया, यानी गिलोटीन पर उसका सिर उड़ा दिया गया। फ्रांस की जनता अपना पीछे लौटने का मार्ग बन्द कर चुकी थी। उसने आखिरी क़दम बढ़ा लिया था और योरप के राजाओं और बादशाहों को अपनी चुनौती देदी थी। वे लोग अब पीछे नहीं लौट सकते थे। बादशाह के खून से सनी हुई गिलोटीन की सीढ़ियो पर से ही क्रान्ति के महान नेता दान्तन[1] ने जमा हुई भीड़ के सामने बोलते हुए इन दूसरे बादशाहो को अपनी चुनौती दे दी। उसने पुकार कर कहा—"योरप के बादशाह हमको चुनौती देंगे; हम उनके आगे एक बादशाह का सिर आगे फेंकते हैं!"

: १०२ :

क्रान्ति और प्रति क्रान्ति

१३ अक्तूबर, १९३२

बादशाह लुई खतम हो चुका था लेकिन उसकी मौत से पहले ही फ्रांस में आश्चर्यभरी तब्दीलियाँ हो चुकी थी। उसके बाशिन्दों का खून क्रान्ति के जोश से भरा हुआ था; उनकी नसो में सनसनी दौड़ रही थी और उनपर धधकते हुए जोश का भूत सवार था। प्रजातन्त्रवादी फ्रांस चुनौती दे रहा था; बाकी का योरप—'बादशाहतो वाला योरप' उसके खिलाफ खड़ा था। प्रजातन्त्रवादी फ्रांस इन निकम्मे बादशाहो और राजाओं को बतला देना चाहता था कि आजादी के सूरज की गरमी पाकर देशभक्त लोग किस तरह लड़ सकते हैं। वे लोग सिर्फ अपनी नई मिली हुई आजादी के लिए ही नही, बल्कि बादशाहों और सरदारों के जुल्मों से कराहते हुए सब लोगों की आजादी के लिए लड़ने की ख्वाहिश रखते थे। फ्रांस के लोगों ने योरप के राष्ट्रों को अपना संदेश भेजकर उनसे अनुरोध किया कि वे अपने शासकों के खिलाफ़ बग़ावत करे, और ऐलान किया कि वे लोग सब देशो की जनता के दोस्त और सब बादशाही सरकारों के दुश्मन हैं। उसकी मातृभमि आजादी की जननी बन गई, जिसकी वेदी पर कुर्बान हो जाना एक आनन्द की बात थी। और इस खूंख़ार

१ दान्तन—(१७५९–१७९४), फ्रांस का एक वकील और क्रान्तिकारी नेता। 'सितम्बर की हत्याओ' का हुक्म इसीने दिया था। रोब्सपीयर ने इसे गिरा दिया और इसको गिलोटीन पर चढाकर मार डाला गया।

जोश के मौके पर उनको एक अद्भुत गीत मिल गया जिसका स्वर उनके जोशीले भावों से मिला हुआ था और जिसने उनको ख़तरो की ज़रा भी पर्वाह न करते हुए और गीत गाते हुए मैदानेजंग में जोश के साथ आगे बढ़ने और सब बाधाओं को पार करने के लिए उत्तेजित किया गया। यह रूजे दि लाइली का राइन की फ़ौजों के लिए बनाया हुआ लड़ाई का गीत था जो तब से 'मार्साइसी' कहलाता है और आज भी फ्रांसवालो का राष्ट्रीय गीत[1] है।

मातृभूमि के बच्चो, आओ !
गौरव का दिन आया है !
निष्ठुरता का खूनी झडा,
अपने सिर पर छाया है !
सुनो, खून के प्यासे सैनिक,
चारो ओर दहाड रहे।
गोदी के लालो, ललनाओ,
की हत्या को उमड रहे।
सैन्य सजाओ ! ऐ नागरिको !
कर मे तलवारे खीचो !
इन सब के अपवित्र खून से,
अपने खेतो को सीचो !

वे लोग बादशाहो की दीर्घायु के निरर्थक गीत नही गाते थे। इसके बजाय वे मातृभूमि के पवित्र प्रेम और प्यारी आज़ादी के गाने गाते थे।

१ मूल फ्रेंच गीत इस प्रकार है —

Allons. enfants de la patrie,
Le jour de gloire est arrive !
Contre nous de la tyrannie,
L'etendard sanglant est leve,
Eentendez-vous dans les campagnes,
Mugir ces feroces soldats ?
Ils Uiennent jusque dans nos bras,
Egorger nos fils, nos compagnes !
Aux armes, citoyens ! formez vos bataillons !
Marchons, marchons, qu'un sang inpur abreuve nos sillons !
Amour sacre' de la patrie,
Conduis, soutiens nos bres Uengenis !
Liberte, liberti cherie,
Cambats avec tes defenseurs !

ओ मातृभूमि के पुण्य प्रेम !
आगे बढ़ने की राह दिखा !
प्रतिहिंसा के प्यासे शस्त्रों,
को तू रण में कर बल प्रदान !
प्रिय स्वतन्त्रते ! समर बीच तुम
निज सेवक जन की करो सहाय !

चीजों की बड़ी तंगी थी। न तो काफी खाना था, न कपड़े, न जूते। यहाँ तक कि हथियार भी न थे। कितनी ही जगहों के नागरिकों से फौज के लिए जूते दे देने को कहा गया; देशभक्तो ने बहुत तरह की ऐसी खाने की चीजों को छोड़ दिया जिनकी कमी पड़ गई थी और जिनकी फौज के लिए जरूरत थी; कुछ लोग तो अक्सर उपवास भी करने लगे। चमड़ा, रसोई के बरतन, कढ़ाइयाँ, बाल्टियाँ, वगैरा, तरह-तरह की घरू काम की चीजें माँगी गईं। पैरिस की गलियो में सैकड़ों लुहारों की भट्ठियो पर हथौड़े चल रहे थे क्योंकि सारे नागरिक पुरुष और स्त्रियाँ हथियार बनाने तक में मदद दे रहे थे। लोग बड़ी भारी तगी उठा रहे थे; लेकिन इसकी क्या पर्वाह थी जब उनकी मातृभूमि फ्रांस, सुन्दर फ्रांस, फटे-हाल मगर आजादी का मुकुट पहने, खतरे में थी और दुश्मन उसके दरवाजे पर आपहुँचे थे? बस, फ्रांस के नौजवान उसकी रक्षा करने को दौड़े और भूख-प्यास की पर्वाह न करते हुए, आगे बढ़कर विजय प्राप्त की। कार्लाइल लिखता है :—

"ऐसा बहुत कम देखा जाता है कि किसी राष्ट्र की सारी की सारी जनता में जरा भी विश्वास या श्रद्धा का होना माना जा सके; सिवाय उन चीजों के जिनको वह खा सके या हाथ से छू सके। जब कभी उसे किसी विश्वास की प्राप्ति हो जाती है, तो उसका इतिहास हृदय-ग्राही और ध्यान देने योग्य बन जाता है।" एक महान हेतु में यही विश्वास क्रान्ति के रूप में, स्त्री और पुरुषो में पैदा हुआ और उन याद रखने लायक दिनों में उन्होने जो इतिहास बनाया और जो कुर्बानियाँ कीं, उनमें अब भी हमपर असर डालने की और हमारी नाडी की गति को तेज करने की शक्ति है।

नये रंगरूटों की इन क्रान्तिकारी फ़ौजों ने, पूरी तरह फ़ौजी तालीम न मिलने पर भी, फ्रांस की जमीन पर से सब विदेशी फौजों को मार भगाया और उसके बाद निदरलैंड के दक्षिणी हिस्से (बेल्जियम वगैरा)को भी आस्ट्रिया के चंगुल से छुड़ा दिया। आखिरकार हैप्पबर्गो ने निदरलैंड को छोड़ दिया और फिर वापस न आये। योरप की शिक्षित और तनख्वाह पानेवाली फ़ौजें इन क्रान्तिकारी रंगरूटों के मुकाबिले में न ठहर सकीं। शिक्षित सिपाही तनख्वाह के वास्ते लड़ता था और बड़ी

होशियारी के साथ लड़ता था; क्रान्तिकारी रंगरूट एक आदर्श के लिए लड़ता था और फतह हासिल करने के लिए भारी-से-भारी जोखिम उठाने को तैयार था। शिक्षित सिपाही ढेर-के-ढेर सामान के साथ धीरे-धीरे आगे बढ़ता था। रगरूट के पास लादने को कुछ सामान न था और वह तेजी के साथ चलता था। यानी क्रान्तिकारी फौजें लड़ाई में एक नया ही नमूना थीं और उनके लड़ने का ढंग भी बिलकुल नया था। उन्होने लड़ाई के पुराने तरीको को बदल दिया और कुछ हद तक योरप में अगले सौ वर्षों में तैयार होनेवाली फौजों के लिए नमूना बन गई। लेकिन इन फ़ौजों की असली ताकत इनके जोश और इनके हौसले में थी। इनका मकूला (Motto), और असल में उस वक्त क्रान्ति का भी मकूला, दान्तन के इस मशहूर जुमले में आजाता है: "मातृभूमि के दुश्मनो को शिकस्त देने के लिए हम में दिलेरी, और भी ज्यादा दिलेरी, हमेशा दिलेरी, चाहिए।"

लड़ाई फैलने लगी। समुद्री फौज के कारण इग्लैंड एक ताकतवर दुश्मन साबित हुआ। प्रजातन्त्रवादी फ्रांस ने खुश्की पर लड़ने के लिए बडी भारी फौज बनाली थी लेकिन समुद्री लड़ाई के लिए वह कमजोर था। इंग्लैंड ने फ्रांस के सारे बन्दरगाहो को रोकना शुरू कर दिया। फ्रांस से भागे हुए लोग इंग्लैड से ही करोडो की तादाद में जाली 'असाइनेट्स' या फ्रेंच प्रजातन्त्र के नोट घड़ा-घड़ फ्रांस भेजने लगे। इस तरह उन्होने फ्रांस की मुद्राप्रणाली और माली हालत को बिगाड़ने की कोशिश की।

विदेशो के साथ यह लड़ाई सबसे महत्वपूर्ण चीज़ बन गई और राष्ट्र की सारी ताकत उसमें खर्च होने लगी। ऐसी लड़ाइयाँ क्रान्तियो के लिए खतरनाक हुआ करती है। क्योंकि ये ध्यान को सामाजिक समस्याओ से हटाकर विदेशी दुश्मन से लड़ने की तरफ लगा देती है जिससे क्रान्ति का असली मकसद भूल जाता है। क्रान्ति के जोश की जगह लड़ाई का जोश ले लेता है। फ्रांस में ऐसा ही हुआ और, जैसा कि हम देखेंगे, आख़िरी दरजा फ्रांस का यह हुआ कि वहाँ एक जबरदस्त फ़ौजी सिपहसालार की डिक्टेटरशिप यानी तानाशाही कायम हो गई।

घरू झगडे भी साथ-साथ चल रहे थे। फ्रांस के पश्चिम में वैन्दी में कुछ तो वहाँ के काश्तकारो के नई फौजो में भरती होने से इन्कार करने के कारण और कुछ रायलिस्ट नेताओ और फ्रांस से भागे हुए लोगों की कोशिशों से, किसानो का जबरदस्त विद्रोह उठ खड़ा हुआ। क्रांति को सम्हालने वाले और चलाने वाले तो असल मे पेरिस के नगर-वासी थे; किसान लोग राजधानी में बहुत जल्दी-जल्दी होने वाली तब्दीलियो के महत्व को न समझ सकने के कारण पिछड़ गये। वैन्दी का विद्रोह बडी बेरहमी के साथ दबा दिया गया। लड़ाई में और खासकर घरेलू लड़ाई में

लोगो की नीच-से-नीच प्रवृत्तियाँ जाग उठती है और दया तो दर-दर मारी फिरती है। लायन्स में क्रांति के खिलाफ बगावत हुई। इसे दबा दिया गया और किसी ने यह प्रस्ताव पास किया कि सजा के तौर पर लायन्स के बडे नगर को बर्बाद कर दिया जाय। "लायन्स ने आजादी के खिलाफ लड़ाई ठानी है; लायन्स अब बाक़ी नहीं रह सकता।" खुशकिस्मती से यह प्रस्ताव मंजूर नहीं किया गया, मगर फिर भी लायन्स को बडी मुसीबते उठानी पड़ीं।

इसी अर्से में पैरिस में क्या हो रहा था ? वहाँ किसका अधिकार था ? नई चुनी हुई कम्यून और उसके हलको का शहर में अभी तक बोलबाला था। नैशनल कन्वेन्शन में अधिकार के लिए मुख्तलिफ गिरोहो में कशमकश चल रही थी जिनमें खास थे गिरोंदी यानी नरम प्रजातन्त्रवादी और जैकोबिन यानी गरम प्रजातन्त्रवादी। जैकोबिन दल की जीत हुई और जून १७९३ ई० के शुरू में ही ज्यादातर गिरोंदी डिप्टी लोग कन्वेन्शन से निकाल दिये गये। कन्वेन्शन ने अब सामन्तो के हकों को हमेशा के लिए उठा देने की कार्रवाई की और जो जमीने सामन्त सरदारो के कब्जे में थी वे स्थानीय कम्यूनों यानी म्युनिसिपैलिटियों को वापस लौटा दी गई, यानी ये जमीने आम जनता की सम्पत्ति हो गई।

कन्वेन्शन ने, जिसमें अब जैकोबिन लोगो की तूती बोलती थी, दो कमिटियाँ क़ायम कीं; एक तो सार्वजनिक हित की और दूसरी सार्वजनिक रक्षा की और इनको लम्बे-चौडे अधिकार दे दिये। ये कमिटियाँ—खासकर सार्वजनिक रक्षा वाली—जल्दी ही बडी ताकतवर बन बैठीं और लोग इनसे डरने लगे। इन्होंने कन्वेन्शन को एक-एक कदम आगे हाँकना शुरू किया। यहाँ तक कि क्रान्ति आतंक के गहरे गड्ढे में जा पडी। खौफ का साया अभी तक हरेक के ऊपर पड़ा हुआ था; विदेशी दुश्मनो का खौफ़, जो उनको चारो तरफ़ से घेरे हुए थे, भेदियो और देश-द्रोहियों का डर और इसी तरह के बहुत-से दूसरे डर भी थे। डर लोगो को अन्धा और जिन्दगी से ना-उम्मीद कर देता है, और इस लगातार सिर पर सवार रहनेवाले खौफ से मजबूर होकर सितम्बर १७९३ ई० में कन्वेन्शन ने एक भयंकर कानून पास किया जो 'लॉ-ऑफ सस्पैक्ट्स' यानी संदेह-भाजन लोगो का कानून कहलाता है। जिस किसी पर शक होता उसकी खैर न थी, और शक किये जाने से कौन बच सकता था ? एक महीने बाद कन्वेन्शन के बाईस गिरोंदी डिप्टियो पर क्रान्तिकारी अदालत के सामने मुकदमा चलाया गया और उनको फ़ौरन मौत की सजा दे दी गई।

इस तरह आतंक की शुरूआत हुई। रोजमर्रा मौत की सजा पाये हुए लोगो की गिलोटीन तक यात्रा होती थी; रोजमर्रा इन क़ुर्बानी के बकरों से भरी हुई

गाड़ियाँ, जिन्हे 'तम्ब्रिल' कहते थे, पैरिस की गलियो की सड़को पर चूं-चूं करती और खड़खड़ाती हुई जाती थीं और लोग इन अभागो को चिढाते थे। कन्वेन्शन में भी अधिकारियो के गुट्ट के खिलाफ बोलना खतरनाक था, क्योकि इससे शक पैदा होता था और शक का नतीजा होता था मुकदमा और गिलोटीन। कन्वेन्शन की बागडोर सार्वजनिक हित और सार्वजनिक रक्षा की कमिटियो के हाथ में थी। ये कमिटियाँ, जिन्हे मौत और जिन्दगी का सारा अधिकार था, अपने अधिकार दूसरो को नहीं बाँटना चाहती थीं। इन्होंने पैरिस की कम्यून पर भी ऐतराज किया। असल से जो इनकी हाँ में हाँ नहीं मिलाते थे, उन सबपर इनको ऐतराज था। अधिकार लोगो को असाधारण तौर से चौपट कर देता है। इसलिए इन कमिटियों ने उस कम्यून को ही कुचलना शुरू कर दिया जो अपने हलको के साथ क्रान्ति का पाया रही थी। पहले इन्होंने हलको को कुचला और फिर उनके सहारो को काटकर कम्यून को कुचल डाला। इस तरह क्रान्ति अक्सर अपने आप ही को खा जाती है। पैरिस के हरेक हिस्से के ये हलके आम जनता को ऊँचे अधिकारियो से मिलानेवाली कड़ियाँ थे। ये वे नसे थी जिनमें होकर क्रान्ति का, उसे ताकत और जिन्दगी देने वाला, लाल खून बहता था। १७९४ ई० के शुरू में हलको और कम्यून के कुचल दिये जाने का मतलब था इस जीवन देनेवाले खून का रोक दिया जाना। आगे से कन्वेन्शन और ये कमिटियाँ ऊँचे अधिकारियो का अंग बन गई, जिनका जनता से कोई सजीव सम्बन्ध न था और जो आतंक के जरिये अपनी ख्वाहिशो को दूसरों से मनवाती थीं—जैसा कि सब अधिकारप्राप्त लोगों का रवैया हुआ करता है। यह असली क्रान्तिकारी जमाने के खातमे की शुरूआत थी। छ. महीने तक यह आतंक और जारी रहनेवाला था और क्रान्ति लस्टम-पस्टम चलने वाली थी। लेकिन उसका खातमा तो यह आंखो के सामने था।

इन उथल-पुथल और खींच-तान के दिनो में पैरिस और फ्रास के नेता कौन थे? बहुत-से नाम सामने आते हैं। कैमाइल देस्मूलिन, जो १७८९ में बैस्तील के हमले का नेता था और जिसने दूसरे बहुत-से मौकों पर भी महत्व-पूर्ण हिस्सा लिया था। आतंक के दिनो में दयालुता की नीति के पक्ष का समर्थन करते हुए यह खुद गिलोटीन का शिकार हुआ। कुछ ही दिन बाद इसकी जवान स्त्री लूसिली ने भी इसका अनुसरण किया और अपने पति के बिना जिन्दा रहने से मौत को बेहतर समझा। कवि फैब्रे दि इग्लैन्ताइन; सरकारी वकील फोकिये तिनविलो, जिससे सब घबराते थे; मारा, क्रान्ति का शायद सबसे बड़ा और काबिल आदमी जिसे एक नौजवान लड़की शारलौती कॉरदे ने छूरा भोककर मार डाला; दान्तन, जिसका

ज़िक्र मैं पहले भी दो बार कर चुका हूँ, जो बहादुर और शेरदिल था और ज़बर-दस्त लोकप्रिय वक्ता था, लेकिन फिर भी उसका खातमा गिलोटीन पर हुआ; और इन सबसे ज्यादा मशहूर रोब्सपीयर, जैकोबिन दल का नेता और आतंक के दिनों में कन्वेन्शन का करीब-करीब डिक्टेटर। यह तो एक तरह से आतंक की मूर्ति ही बन गया है और लोग इसका नाम लेते हुए कापते हैं। लेकिन इस शख्स की ईमानदारी और देशभक्ति के बारे में कोई उँगली नहीं उठा सकता; इसे 'अच्युत' (Incorruptible) कहा जाता था। लेकिन जिन्दगी में इतना सादगीपसन्द होते हुए भी वह अपने आपको बहुत कुछ समझता था और शायद उसे यह खयाल था कि उससे जुदी राय रखनेवाला हरेक आदमी प्रजातंत्र और क्रान्ति का दुश्मन है। क्रान्ति के बहुत-से बडे-बडे नेता, जो इसके साथी रह चुके थे, इसीके इशारे पर गिलोटीन के घाट उतार दिये गये; यहातक कि वह कन्वेन्शन, जो भेड़ की तरह इसके पीछे-पीछे चल रहा था, आखिर इसके खिलाफ़ खड़ा हो गया। उन्होंने इसे ज़ालिम करार दिया और इसका और इसके ज़ुल्मों का खातमा कर दिया।

क्रान्ति के ये तमाम नेता नौजवान लोग थे; क्रान्तियाँ बुड्ढे आदमियों से नहीं हुआ करतीं। इनमें से बहुत-से महत्वपूर्ण ज़रूर थे, लेकिन इस बडे नाटक में किसी का भी पार्ट, यहां तक कि रोब्सपीयर का भी, ज़ोरदार न रहा। क्रान्ति की घटना के सामने ये नाचीज़ मालूम पड़ते हैं; क्योंकि इन लोगों ने न तो क्रान्ति पैदा की थी और न उसकी बागडोर ही इनके हाथो में थी। वह तो एक मौलिक मानवी भूकम्प था जो इतिहास में समय-समय पर हुआ करता है, और जिनको सामाजिक परिस्थि-तियों और वर्षों की लगातार मुसीबतें और ज़ुल्म, धीरे-धीरे लेकिन ज़रूरी तौर पर, तैयार करते हैं।

यह न समझना कि कन्वेन्शन ने लड़ने और गिलोटीन से क़त्ल करने के सिवा और कुछ न किया। असली क्रान्ति से पैदा होनेवाली ताक़त हमेशा बहुत ज़ोरदार होती है। इसका बहुत-सा हिस्सा तो विदेशियो से लड़ाई करने में लग गया था, लेकिन फिर भी बहुत-कुछ बच रहा था, और इसके ज़रिये बहुत-सा रचनात्मक काम किया गया। खासकर राष्ट्र की शिक्षा का सारा तरीक़ा ही बदल दिया गया। मीटर[१] का

१ मीटर-प्रणाली—नापो की इस प्रणाली मे लम्बाई की इकाई मीटर (=३९.३७ इंच) और वज़न की इकाई ग्राम (=करीब $\frac{१}{२८}$ औंस) मानी गई है। सरलता यह रक्खी गई है कि इनसे ऊपर और नीचे के सब नाप दस-दस गुणक या भाग हैं। जैसे १० मीटर=१ डेकामीटर, १० डेकामीटर=१ हेक्टोमीटर, १० हेक्टोमीटर=१ किलोमीटर, $\frac{१}{१०}$ मीटर=१ डेसीमीटर, $\frac{१}{१००}$ मीटर=१ सेंटीमीटर

तरीका, जिसे आज स्कूल के सब बच्चे सीखते हैं, तभी जारी किया गया था और इसने तमाम वज़नों, लम्बाई और आयतन के तमाम नापो को सरल कर दिया । यह तरीका अब दुनिया के दूसरे सभ्य देशों में भी पहुँच गया है, लेकिन कट्टर इंग्लैंड अभी तक पुराने ज़माने के गज़ो, फर्लांगो, पाउडों और हंडरवेटो वग़ैरा की रद्दी प्रणाली से चिपट रहा है । हम हिन्दुस्तानियों को सेरों और मनो वगैरा के अलावा इन जटिल लम्बाइयो और वज़नों को भी बरदाश्त करना पड़ता है । मीटर के तरीके का लाज़मी नतीजा यह हुआ कि प्रजातन्त्र का एक नया कैलेंडर भी बना । यह २२ सितम्बर १७९२ ई० से, यानी जिस दिन प्रजातन्त्र का ऐलान हुआ उस दिन से, शुरू किया गया । सात दिन के हफ्ते की जगह दस दिन का हफ्ता कर दिया गया और दसवे दिन छुट्टी रक्खी गई । महीने तो बारह ही रहे मगर उनके नाम बदल दिये गये । कवि फैब्रे ने मौसिमों के मुताबिक महीनों को बडे सुन्दर नाम दिये । बसन्त ऋतु के तीन महीने जर्मिनल (अंकुरक), फ्लोरीयल (पुष्पक), प्रेरियल (शस्यक) थे; गरमी के महीने मेसिदोर, थर्मिदोर, फ्रक्तिदोर थे; पतझड़ के महीने वैन्दीमियर, ब्रूमेयर, फ्रिमेयर, रक्खे गये; सरदी के निवूस, प्लूविऊस, वैन्तूस, रक्खे गये । पर यह कैलेंडर प्रजातन्त्रत के बाद ज्यादा दिन न चला ।

कुछ दिन ईसाई धर्म के खिलाफ एक जबरदस्त आन्दोलन हुआ और बुद्धि की पूजा तजवीज की गई । 'सत्य' के मन्दिर बनाये गये । यह आन्दोलन प्रांतों में बहुत जल्द फैल गया । १७९३ ई० के नवम्बर में पेरिस के नाट्रदेम गिरजे में आज़ादी और बुद्धि का वड़ा भारी जलसा मनाया गया और एक खूबसूरत औरत को बुद्धि की देवी बनाया गया । लेकिन रोब्सपीयर इन मामलों में कट्टर था । उसने इस आन्दोलन को पसन्द नहीं किया । दान्तन ने भी नहीं किया । सार्वजनिक हित की जैकोबिन कमिटी भी इसके खिलाफ थी, इसलिए आन्दोलन के नेताओं को गिलोटीन पर चढ़ा दिया गया । अधिकार और गिलोटीन के वीच में कोई रुकावट न थी । आज़ादी और बुद्धि के जलसे का तुर्की-बतुर्की जवाब देने के लिए रोब्सपीयर ने 'सर्वशक्तिमान् सत्ता' (Supreme Being) के नाम से एक जलसे का इंतिज़ाम किया । कन्वेन्शन की राय से यह तय किया गया कि फ्रांस एक 'सर्वशक्तिमान सत्ता' में विश्वास करता है ! रोमन कैथलिक मज़हब फिर पसंद किया जाने लगा ।

पैरिस के हलको और कम्यून के कुचले जाने के बाद हालत बडी तेज़ी से ख़राब हो रही थी । जैकोबिन लोग सर्वेसर्वा हो रहे थे; सरकार की बागडोर उनके हाथो

१/१००० मीटर=१ मिलीमीटर । इसी तरह ग्राम के आगे डेक-, हेक्टो, किलो इत्यादि उपसर्ग लगा दिये जाते हैं ।

में थी लेकिन उनमें आपसी फूट होरही थी। आजादी और बुद्धि के जलसे में खास हिस्सा लेने के कारण जब हीवर्त और उसके मददगारों को गिलोटीन पर चढ़ा दिया गया तो जैकोबिन दल में जबर्दस्त फूट पडी। इसके बाद फैंबे दि इंग्लैंताइन का नम्बर आया; और जब १७९४ ई० के शुरू में दान्तन, कैमाइल देस्मूलिन वगैरा ने रोब्सपीयर के हद से ज्यादा आदमियो को गिलोटीन पर चढ़ा देने के काम की मुखालफत की, तो इनको भी मौत के घाट उतार दिया गया। अप्रैल १७९४ ई० में दान्तन के क़त्ल ने, जो बडी हड़बडी के साथ किया गया कि कहीं लोग रुकावट न डाल दें, पैरिस और सूबो की जनता को यह जाहिर कर दिया कि क्रान्ति का खातमा हो चुका। क्रान्ति का एक शेर मारा गया और अब एक नीच गुट्ट का कब्जा हो गया। दुश्मनों से घिरे हुए और जनता से बिलकुल दूर इस गुट्ट को चारो तरफ धोखेबाजी नजर आने लगी और जोरो के साथ आतंक फैलाने के सिवा इसे अपने बचने का कोई रास्ता न सूझा।

बस आतंक का राज्य होने लगा और गिलोटीन की तरफ जाने वाली तम्बिल गाड़ियाँ इन अभागो से पहले से भी ज्यादा भरी हुई जाने लगीं। जून में एक नया कानून पास पास किया गया जो 'बाइसवी प्रेरियल' का क़ानून कहलाता है और जिसमें झूठी खबरें उड़ाना, लोगो को लड़ाना या भड़काना, सदाचार की जड़ काटना और जनता के ईमान को बिगाड़ना वगैरा जुर्मों के लिए मौत की सजा तजवीज की गई थी। जो कोई भी रोब्सपीयर और उसके ताबेदारो से मतभेद रखता वही इस कानून के लम्बे-चौडे जाल में फँसाया जा सकता था। लोगों के गिरोह-के-गिरोह पर एक साथ मुकदमे चलाये गये और सजायें दे दी गईं। एक बार तो डेढ़ सौ लोगों पर एक साथ मामला चलाया गया जिनमें सजायें पाये हुए कैदी, रायलिस्ट वगैरा, शामिल थे।

इस नये आतंक का राज्य छियालिस दिन तक रहा। आखिरकार नवीं थर्मिडोर यानी २७ जुलाई १७९४ को दबी हुई बिल्ली गुर्राने लगी। कन्वेन्शन एकदम रोब्सपीयर और उसके साथियों के खिलाफ बदल गया और 'जालिम को मारो' की पुकार लगाते हुए उन्होने इन सबको गिरफ्तार कर लिया और रोब्सपीयर को बोलने तक नही दिया। दूसरे दिन तम्बिल गाडी में बिठलाकर उसे भी गिलोटीन पर भेजा गया, जहाँ वह बहुतो को भिजवा चुका था। इस तरह फ़्रांस की राज्यक्रान्ति का खातमा हो गया।

रोब्सपीयर की मौत के बाद प्रति-क्रान्ति यानी क्रान्ति के खिलाफ क्रान्ति शुरू हुई। अब नरम दलवाले आगे आये और इन लोगो ने जैकोबिन लोगो को सताना और उनपर आतंक जमाना शुरू किया। लाल आतंक के बाद अब सफेद आतंक की

बारी आई। पन्द्रह महीनें बाद, अक्तूबर १७९५ ई० में, कन्वेन्शन टूट गया और पाँच मेंम्बरों की एक 'डायरेक्टरी' सरकार बन गई। यह निश्चय ही मध्यमवर्ग की सरकार थी और इसने साधारण जनता को दबाकर रखने की कोशिश की। इस डायरेक्टरी ने फ़्रांस पर चार वर्ष से ज्यादा हुकूमत की और अन्दरूनी झगडों के होते हुए भी प्रजातन्त्र की इतनी धाक और ताकत थी कि वह देश के बाहर भी लड़ाइयाँ जीतती रही। उसके खिलाफ कुछ बागी भी हुए लेकिन वे सब दबा दिये गये। इनमें से एक विद्रोह को दबानेवाला प्रजातन्त्र की फौज का नौजवान सिपहसालार नेपोलियन बोनापार्ट था जिसने पैरिस के लोगो की भीड़ पर गोली चलाई और बहुतों को मार डाला। यह घटना 'छर्रों का झोका' करके मशहूर है। जब खुद प्रजातन्त्र की पुरानी फ़ौज ही फ़ास के आम लोगों को मारने के काम में लाई जा सकती थी तो जाहिर है कि क्रान्ति की छाया तक भी बाकी न रही होगी।

बस क्रान्ति का अन्त हो गया और उसके साथ ही आदर्शवादियो के मीठे सपनो का और ग़रीबो की उम्मीदो का भी ख़ातमा हो गया। लेकिन फिर भी जो बातें वह हासिल करना चाहती थी उनमें से बहुत-सी बाते हासिल हो गई। कोई भी प्रति-क्रान्ति अब काश्तकारों की गुलामी को वापस नहीं ला सकती थी, और बोर्बन बादशाह भी—बोर्बन फ़्रांस का एक राजघराना था—जब वे वापस आये तो उस जमीन को वापस न छीन सके जो काश्तकारों को बाँट दी गई थी। खेत में या शहर में काम करनेवाले मामूली आदमी की हालत इतनी अच्छी थी, जितनी पहले कभी नहीं रही। असल में आतंक के दिनों में भी उसकी हालत क्रान्ति के पहले के समय से अच्छी थी। आतंक उसके ख़िलाफ न था, वह तो ऊँचे वर्गों के ख़िलाफ था; हालाँकि आख़िरी वक्त में गरीब लोगों को भी कुछ मुसीबतें झेलनी पडीं।

क्रान्ति का खातमा हो गया लेकिन प्रजातन्त्रवादी विचार सारे योरप में फैल गये और उसके साथ ही उन उसूलो का भी प्रचार हुआ जिनकी घोषणा 'मनुष्य के अधिकारों की घोषणा' में किया गया था।

: १०३ :

हुकूमतों के तौर-तरीक़े

२७ अक्तूबर, १९३२

मैंने दो हफ्तो से कुछ नहीं लिखा है। कभी-कभी मैं सुस्त हो जाता हूँ। यह खयाल कि अब मेरी इस कहानी का अन्त नजदीक आरहा है, मुझे जरा रोक देता

है। हम अठारहवीं सदी के अन्त तक तो पहुँच ही चुके है; अब उन्नीसवीं सदी के सौ वर्षो पर गौर करना बाकी है। फिर हमें ठेठ आज तक पहुंचने में बीसवीं सदी के ठीक बत्तीस वर्ष रह जावेंगे। लेकिन इन बचे हुए एक सौ बत्तीस वर्षो का वर्णन बड़ा लम्बा होगा। बहुत नजदीक होने के कारण ये बहुत बडे नजर आते है और हमारे दिमाग में भर जाते है और पुरानी घटनाओ से हमको ज्यादा महत्वपूर्ण मालूम होते है। जो कुछ आज हम अपने चारो तरफ देखते है, उसके ज्यादातर हिस्से की जड़ इन्हीं वर्षो के भीतर है, और हकीकत में पिछली सदी और उससे आगे की घटनाओ के घने जंगल में होकर तुमको लेजाना मेरे लिए आसान काम न होगा। शायद मेरा इससे जी चुराने की यही वजह हो! लेकिन मै यह भी ताज्जुब करता हूँ कि जब आखिरकार मनुष्य जाति की यह कहानी सन् १९३२ तक आपहुंचेगी और भूत, वर्तमान में मिलकर भविष्य की छाया के सामने रुक जावेगा, तब मै क्या करूँगा? प्यारी बेटी, तब मै तुमको क्या लिखूँगा? उस वक्त मेरे लिए क्या बहाना रहेगा कि मै कलम लेकर बैठूं और तुम्हारा खयाल करूँ या कल्पना करूँ कि तुम मेरे पास बैठकर बहुत से सवाल पूछ रही हो जिनका जवाब देनें की मै कोशिश करता हूँ?

फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बारे में मै तीन खत लिख चुका हूँ; फ्रांस के इतिहास में पाँच सक्षिप्त वर्षों के बारे में ये तीन लम्बी चिट्ठियाँ है। युगो की इस यात्रा के दौरान में हमने सदियों को एक-एक कदम में पूरा कर दिया है और देश-देशान्तरों पर निगाह दौड़ाई है। लेकिन यहाँ फ्रांस में, १७८९ से लगाकर १७९४ तक, हम काफ़ी अर्से तक ठहरे है; और फिर भी यह जानकर तुम्हे ताज्जुब होगा कि मैंने अपने बयान को मुख्तसर करने की सख्त कोशिश की है क्योकि मेरे दिमाग में यह मजमून भरा हुआ था और मेरी कलम आगे ही आगे बढ़ना चाहती थी। फ्रांस की राज्यक्रांति का महत्व ऐतिहासिक है। वह एक युग के खात्मे और दूसरे की शुरूआत को बतलाती है। लेकिन नाटक की तरह दिलचस्प होने के कारण यह हमको और भी ज्यादा आकर्षित करती है और हम सबको बहुत-सी नसीहते देती है। दुनिया में फिर उथल-पुथल हो रही है और हमलोग बडी भारी तब्दीलियों के दरवाजे पर खडे है। अपने देश में भी हम क्रान्ति के ही युग में रह रहे है, फिर यह क्रान्ति चाहे कितनी ही शान्तिपूर्ण क्यो न हो। इसलिए हम फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से और उस दूसरी महान् क्रान्ति से, जो रूस में हमारे ही जमाने में हमारी आँखों के सामने हुई है, बहुत कुछ सीख सकते है। इन दोनों क्रान्तियों की तरह की जनता की असली क्रान्तियाँ जिन्दगी की कठोर सच्चाइयों पर बडी तेज रोशनी डालती है। बिजली की चमक की तरह वे सारे दृश्य को, और खास कर अंधेरी जगहो को, रौशन कर देती है। कम-से-कम

कुछ देर के लिए अपनी मंजिल बहुत साफ़ और बहुत ही नज़दीक मालूम होती है। दिल भरोसे और ताकत से भर जाता है। शंका और हिचकिचाहट गायब हो जाती है। दूसरे नंबर की चीज़ पर सब्र करने का कोई सवाल नहीं रहता। क्रान्ति को बनानेवाले लोग तीर की तरह सीधे लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते है और इधर-उधर नहीं देखते; और जितनी सीधी और तेज़ उनकी निगाह होती है उतनी ही क्रांति आगे बढ़ती है। लेकिन यह क्रान्ति के उत्कर्ष में ही होता है जब कि उसके नेता पहाड़ की चोटी पर होते है और जनता के लोग पहाड़ की ढाल पर चढ़ते हैं। लेकिन अफ़सोस कि एक वक़्त ऐसा आता है जब उनको पहाड़ पर से उत्तर कर नीचे की अँधेरी घाटियों में भी आना पड़ता है। उस वक्त विश्वास मंद पड़ जाता है और ताकत कम हो जाती है।

१७७८ ई० में वाल्टेयर, जो करीब-करीब ज़िन्दगी भर निर्वासित रहा था, मरनें के लिए पैरिस लौटा। उस वक्त वह चौरासी वर्ष का था। पैरिस के नौजवानों को पुकारकर उसने कहा था:—"नौजवान बड़े खुशकिस्मत है; वे आगे बड़ी-बड़ी बातें देखेंगे"। दरअसल उन्होने बड़ी-बड़ी बाते देखीं और उनमें हिस्सा लिया क्योकि ग्यारह साल बाद ही क्रान्ति शुरू हो गई। वह काफी से ज्यादा वक्त तक इंतज़ार कर चुकी थी। सत्रहवीं सदी में महान् बादशाह चौदहवें लुई का कहना था कि "मै ही सबसे बड़ा हूँ"; अठारहवीं सदी में उसके वारिस पन्द्रहवे लुई ने कहा:—"मेरे बाद दुनिया डूब जायगी"; और इस न्यौते के बाद सचमुच प्रलय आया जिसमें सोलहवाँ लुई और उसके साथी खतम हो गये। पाउडर लगाये हुए, नकली बाल और रेशमी ब्रिचेज़ पहननेवाले सरदारो के बजाय 'सैन्सक्यूलौटस' यानी बिना ब्रिचेज़ वाले लोग आगे आये; और फ़्रांस का हरेक निवासी 'नागरिक' या 'नागरो' कहलाने लगा। नये प्रजातन्त्र का आदर्श वाक्य था—"स्वाधीनता, समानता, भाईचारा" (Liberty, Equality, Fraternity), जो सारे संसार को पुकार-पुकार सुनाया गया।

क्रान्ति के दिनो में आतंक का खूब ज़ोर रहा। विशेष क्रान्तिकारी अदालत यानी 'स्पेशल रिवोल्यूशनरी ट्रिब्यूनल' की नियुक्ति से लगाकर रोब्सपीयर की मृत्यु तक के सोलह से भी कम महीनो में, तकरीबन चार हज़ार आदमी गिलोटीन पर चढ़ा दिये गये। यह एक बड़ी तादाद है, और जब यह खयाल होता है कि कितने ही बेकसूर आदमी गिलोटीन पर चढ़ा दिये गये होगे तो दिल को बड़ा सदमा और रंज पहुँचता है। लेकिन फिर भी कुछ घटनायें याद रखने लायक है जिससे हम फ़्रांस के इस आतंक का सच्चा स्वरूप समझ सकें। प्रजातन्त्र चारो तरफ दुश्मनो, धोखेबाज़ों और भेदियो से घिरा हुआ था और गिलोटीन पर चढ़ाये जानेवालो में से बहुत से लोग

प्रजातन्त्र के खुल्लमखुल्ला विरोधी थे और उसके सत्यानाश की कोशिश में थे। आतंक के अख़ीर में मुजरिमों के साथ बेकसूर भी पिस गये। जब ख़ौफ पैदा होता है तो आंखो पर परदा पड़ जाता है और कसूरवार और बेकसूर के भेद का पता लगाना मुश्किल होजाता है। मुसीबत के मौके पर फ़्रांस के प्रजातन्त्र को लाफायेत[1] जैसे अपने बड़े-बड़े सिपहसालारो की तरफ से भी मुखालफ़त और धोखेबाज़ी का सामना करना पड़ा, तब कोई ताज्जुब नहीं कि नेता लोग घबरा गये हों और उन्होने अन्धाधुन्ध इधर-उधर मार-काट करनी शुरू कर दी हो।

जैसा कि एच० जी० वेल्स ने अपने इतिहास में बतलाया है, यह बात भी ध्यान में रखने की है कि उस वक़्त इग्लैंड, अमेरिका और दूसरे देशों में क्या हो रहा था। फौजदारी कानून, ख़ासकर जायदाद की हिफाजत के बारे में, बड़ा ख़ूंख़ार था और मामूली जुर्मों के लिए लोग फाँसी पर चढ़ा दिये जाते थे। कहीं-कहीं अब भी सरकारी तौरपर लोगों को तकलीफ दी जाती थी। वेल्स ने लिखा है कि फ़्रांस में आतंक के ज़माने में जितने आदमी गिलोटीन पर चढ़ाये गये उतने ही समय में इग्लैंड में इससे कहीं ज्यादा आदमी इस तरह फाँसी पर चढ़ा दिये गये थे।

उन दिनो ख़ौफनाक बेरहमी और जंगलीपन के साथ जो गुलामों का शिकार किया जाता था उसका ख़याल तो करो! युद्ध, खासकर इस ज़माने के युद्ध, की कल्पना करो जिसमें हज़ारो उठते हुए नौजवानो का मटिया-मेट होजाता है। ज़रा और पास आकर अपने ही देश की तरफ देखो और हाल की घटनाओ पर विचार करो। तेरह साल हुए जब अमृतसर के जालियाँवाला बाग में अप्रैल की एक शाम को, बसन्त के त्यौहार के दिन, सैकडो लोग मार डाले गये थे और हज़ारो बुरी तरह ज़ख्मी कर दिये गये थे। और आजके ये सब षड्यन्त्रों के मुक़दमे और ख़ास अदालते और आर्डिनेंस, लोगो को डराने और दबाने की कोशिशो के सिवा और क्या है? दमन और आतंक की तेज़ी हुकूमत के डर का नाप हुआ करती है। हरेक हुकूमत, चाहे वह पिछडी हुई यानी प्रतिगामी हो या क्रान्तिवादी, विदेशी हो या स्वदेशी, आतंकवाद का सहारा तब लेती है जब उसे खुद अपनी ही हस्ती खतरे में मालूम पड़ती है। पिछडी हुई यानी प्रतिगामी हुकूमत विशेष अधिकार वाले कुछ लोगो की ओर से आमलोगो के ख़िलाफ ऐसा करती है, क्रान्तिवादी हुकूमत जनता की तरफ से

१. लाफायेत—(१७५७–१८३४), फासीसी सेनापति और राजनीतिज्ञ। यह अमेरिका के स्वाधीनता-सग्राम में अग्रेजो के ख़िलाफ़ लडा था। १७८९ ई० मे यह फास की राज्यक्रान्ति का एक नेता था लेकिन १७९२ ई० में वहा से भाग गया। नैपोलियन के बाद यह फिर राष्ट्रीय फौज का सिपहसालार हुआ।

गिने-चुने विशेष अधिकार वालो के ख़िलाफ करती है। क्रान्तिवादी हुकूमत ज्यादा खरी और ईमानदार होती हैं; वह अक्सर बेरहम और सख्त तो होती है लेकिन उसमें छल-कपट और धोखा-धडी नही होती। प्रतिगामी हुकूमत धोखे के वातावरण में रहती है क्योकि वह जानती है कि अगर उसका भेद खुल गया तो वह टिक न सकेगी। वह आज़ादी की बात करती है और इस आज़ादी का यह अर्थ लगाती है कि वह खुद मनमानी करने के लिए आज़ाद है। वह इन्साफ की बात करती है, जिसका मतलब होता है मौजूदा परिस्थिति को कायम रखना, जिसके अन्दर वह पनपती है, हालांकि दूसरे लोग मरते हैं। तुर्रा यह कि वह कानून और शान्ति की बात करती है लेकिन इन लफ्ज़ो और जुमलो की आड़ में गोलियाँ चलाना, मारना, कैद करना, ज़बान बन्द करना वगैरा, हरेक गैरकानूनी और अशान्तिपूर्ण कार्रवाई करती है। 'कानून और शान्ति' के नाम पर हमारे सैकड़ों भाइयो को खास अदालतो के सामने पेश करके मौत की सज़ा दे दी जाती है। इसी के नाम पर ढाई साल पहले अप्रैल के महीने में एक दिन, पेशावर में मशीनगनो ने हमारे सैकडो बहादुर पठान देशभाइयो को निहत्था होने पर भी भून डाला। और इसी 'कानून और शान्ति' की दुहाई देकर ब्रिटिश हवाई फौज हमारे सीमान्त के गांवों में और इराक में बम बरसाती है और स्त्रियों, पुरुषों और छोटे-छोटे बच्चों को अन्धाधुन्ध मार डालती है या ज़िन्दगीभर के लिए अपाहिज कर देती है। लोग कहीं हवाई जहाज़ की मार से बच न जायँ, इसके लिए किसी शैतानी दिमाग़ ने 'देर से फटनेवाले बम' ईजाद किये है जो गिरकर कोई नुकसान नहीं पहुँचाते मालूम पड़ते और कुछ देर तक फटते नहीं है। गांवो के स्त्री-पुरुष, यह सोचकर कि खतरा निकल गया, अपने घरो को वापस लौट आते हैं और थोडी ही देर बाद बम फट जाते है, जिससे आदमी और सम्पत्ति का नाश हो जाता है।

करोडो के सिर पर रोजमर्रा भूखो मरने का जो खौफ़ सवार रहता है उसका भी खयाल करो। हम अपने चारो तरफ गरीबी देखने के आदी होगये है। हम समझते है कि मजदूर और किसान उजड्ड लोग हैं और वे ज्यादा तकलीफ़ महसूस नहीं करते। आत्मा की फटकार को शान्त करने के लिए यह तर्क कितना फिजूल है। मुझे बिहार में झरिया की एक कोयले की खान में जाने की बात याद है, और जमीन की सतह के बहुत नीचे, कोयले के लम्बे-लम्बे काले और अँधेरे दालानो में स्त्रियो और पुरुषो को काम करते देखकर मुझे जो सदमा पहुँचा उसे मै कभी नहीं भूल सकता। लोग खानो में काम करनेवालो के लिए आठ घटे के दिन की बातचीत करते है, लेकिन कुछ लोग इसकी भी मुखालफत करते है और खयाल करते हैं कि

उनसे और भी ज्यादा काम लिया जाना चाहिए। जब मैं इस बहस को सुनता हूँ या पढ़ता हूँ तो मुझे अपने उन जमींदोज काले तहखानो में जानेवाली बात याद आजाती है जहाँ आठ मिनिट भी मेरे लिए पहाड़ होगये थे।

फ़्रांस का आतंक एक ख़ूंख़ार चीज थी। लेकिन फिर भी ग़रीबी और बेकारी के राजरोग के मुकाबिले में वह मक्खी के डंक मारने जैसी नाचीज थी। सामाजिक क्रान्ति के ख़र्च, चाहे वह क्रान्ति कितनी ही बडी क्यों न हो, इन बुराइयों से कम होते है, और उस लड़ाई के ख़र्चों से भी कम होते है जो मौजूदा राजनैतिक और सामाजिक प्रणाली में हमको समय-समय पर भुगतनी पड़ती है। फ़्रांस की राज्य-क्रान्ति का आतंक बहुत बड़ा इसलिए दिखलाई पड़ता है कि बहुत से ख़िताबवाले और दौलतमंद लोग उसके शिकार हुए। हम लोग इन ख़ास हक रखनेवाले वर्गों की इज्जत करने के इतने आदी होगये है कि जब ये लोग मुसीबत में होते है तो हमारी हमदर्दी उनकी तरफ हो जाती है। दूसरो की तरह ही इनके साथ भी हमदर्दी रखना अच्छा है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि इन लोगों की तादाद बिलकुल कम होती है। हम उनके भले की ख्वाहिश कर सकते है। लेकिन जिनसे असली मतलब है, वे तो जनसाधारण होते है, और हम थोडो की ख़ातिर बहुतो को कुर्बान नहीं कर सकते। रूसो लिखता है—"मनुष्यजाति को बनानेवाली साधारण जनता ही है। जो जनता नहीं है वह इतनी छोटी चीज है कि उसे गिनने की भी दिक्कत उठाने की जरूरत नहीं।"

इस ख़त में मैं तुमको नेपोलियन के बारे में लिखना चाहता था। लेकिन मेरा दिमाग़ भटक गया और मेरी कलम दूसरी तरफ दौड़ गई और नेपोलियन पर ग़ौर करना अभी बाकी है। उसे हमारे दूसरे ख़त का इंतजार करना पड़ेगा।

: १०४ :

नेपोलियन

४ नवम्बर, १९३२

फ़्रांस की राज्यक्रान्ति में से नेपोलियन का उदय हुआ। जिस प्रजातन्त्रवादी फ़्रांस ने योरप के बादशाहो को चुनौती दी थी और उससे लोहा लिया था, उसने इस छोटे से कोर्सिका के रहनेवाले के आगे सिर झुका दिया। फ़्रांस में उस वक्त एक अजीब तरह की वहशियाना मनोहरता थी। फ़्रेंच कवि बार्बिये ने इसका मुकाबिला एक जंगली जानवर से, सिर उठाये हुए तथा चमकदार खालवाली एक शानदार

और मनमौजी घोडी से, किया है; यह घोडी एक सुन्दर आवारागर्द, जीन, जोत और लगाम से फौरन भड़कने वाली, जमीन पर सुम दे-दे मारने वाली, और अपनी हिनहिनाहट से दुनिया को डराने वाली थी। यह शानदार घोडी कोर्सिका के इस नौजवान को सवारी देने के लिए राजी हो गई और उसने इससे बडे-बडे अजीब काम करवाये। लेकिन उसने इसे सधा भी लिया और इस जंगली, मनमौजी, जानवर का सारा जंगलीपन और अल्हड़पन दूर कर दिया। और उसने इससे इतना फ़ायदा उठाया और इसे इतना थका दिया कि इसने उसे भी गिरा दिया और खुद भी गिर पडी।

नेपोलियन का कुछ हाल तो तुमको पहले ही मालूम है। तुमने पेरिस की शाही इमारत इन्वैलिद देखी है, जहाँ नेपोलियन की लाश लड़ाइयों में जीते हुए फटे झंडों में लपेट कर दफनाई गई है; तुमने अजायबघर देखा है जहाँ उसकी बहुत-सी निशानियाँ रक्खी हुई हैं; और तुमने पैरिस में बहुत बडे वैन्दोम खंभो के ऊपर उसकी मूर्ति भी देखी है। मेरा ऐसा खयाल है कि तुम उसकी कुछ ज्यादा तरफ़दार हो गई थीं और उसे महान विभूति (एक बड़ा सूरमा) समझने लगी थीं। मै तुम्हारे सामने कबूल करता हूँ कि बचपन में मेरे दिल में भी नेपोलियन के लिए अच्छी जगह थी। मै उसे एक आदर्श पुरुष समझता था, हालांकि उस समय मैं उसके बारे में काफी नहीं जानता था। अब मैं बहुत-सी बातें जानता हूँ और मुझे कहना पड़ता है कि मेरी निगाह में वह बहुत छोटा हो गया है और उतना बड़ा नहीं दिखलाई देता जितना बहुत दिन पहले मालूम होता था। लेकिन उसके प्रति अपनी पक्षपात की भावना को दूर करने के लिए बचपन के दिनो की तस्वीर को मैं पूरी तरह नहीं मिटा सकता, हालांकि मुझे उसकी बहुत-सी कमियों का खयाल है। यह अजीब बात है कि बचपन और लड़कपन में पडे हुए असर किस तरह जिन्दगी भर पीछा नही छोड़ते।

तो नेपोलियन किस तरह का आदमी था ? क्या वह संसार का कोई महान पुरुष, या, जैसा कि कहा जाता है, 'भाग्य-विधाता' या बडी विभूति था जिसने मनुष्य जाति को बहुत-से बधनों से छुड़ाने में मदद दी ? या, जैसा कि एच० जी०- वेल्स वगैरा कहते हैं, वह खाली एक ले-भग्गू और तोड़-फोड़ करनेवाला था जिसने योरप को और उसकी सभ्यता को बड़ा भारी नुकसान पहुंचाया ? शायद इन दोनो बातो में अतिशयोक्ति है; या दोनो में सचाई का कुछ हिस्सा है। हम सबमें अच्छाई और बुराई, बड़प्पन और छुटपन की अजीब मिलावट होती है। वह भी ऐसी ही एक मिलावट था, लेकिन इस मिलावट को बनाने में ऐसे असाधारण गुण लगे थे जो हममें से बहुतो में न मिलेंगे। उसमें साहस था और आत्म-विश्वास था; कल्पना थी और

आश्चर्यजनक शक्ति तथा जबरदस्त हविस थी। वह बड़ा भारी सिपहसालार था और सिकन्दर और चंगेज-जैसे पुराने सेनानायको के मुकाबिले का लड़ाई के हुनर का उस्ताद था। लेकिन वह कमीना भी था और खुदगर्ज और घमंडी भी था। उसकी जिन्दगी की सबसे बडी ख्वाहिश किसी मकसद को पालेना न थी बल्कि सिर्फ़ अधिकार प्राप्त करने की ख्वाहिश थी। उसने एक बार कहा था:—

"हुकूमत मेरी रखेल औरत है! इस औरत को बश में करने के लिए मुझे इतनी दिक्कत उठानी पडी है कि मैं न तो उसे किसीको छीनने दूंगा और न अपने साथ उसे भोगने दूंगा!" वह क्रान्ति में से पैदा हुआ था लेकिन फिर भी वह एक जबरदस्त साम्राज्य के सपने देखता था और सिकन्दर की विजय उसके दिमाग़ में भर रही थी। उसे योरप भी छोटा मालूम होता था। पूर्व उसे खींच रहा था, खासकर मिस्र और हिन्दुस्तान। अपनी जिन्दगी के शुरू में, जब वह सत्ताईस वर्ष का था, तब उसने कहा था:—"बडे-बडे साम्राज्य और जबरदस्त परिवर्तन पूरब में ही हुए हैं; उस पूरब में जहाँ साठ करोड़ इन्सान रहते हैं। योरप तो एक छोटी-सी टेकरी है!"

नेपोलियन बोनापार्ट का जन्म १७६९ ई० में कोर्सिका टापू में हुआ था जो फ़्रांस के कब्जे में था। उसकी रगो में फ़्रांस, कोर्सिका और इटली का मिला हुआ खून था। उसने फ़्रांस के एक फ़ौजी स्कूल में तालीम पाई थी और राज्यक्रान्ति के जमाने में वह जैकोबिन क्लब का मेम्बर था। लेकिन शायद वह जैकोबिन लोगो में अपना ही उल्लू सीधा करने के लिए शामिल हुआ था, इसलिए नही कि उसे उनके उसूलों में कोई यकीन था। १७९३ ई० में तोलो में उसे पहली फ़तह हासिल हुई। इस जगह के धनवान लोगों ने इस डर से कि कहीं क्रान्ति के राज्य में उनकी दौलत न छिन जाय, अँग्रेजो को बुला लिया और बाक़ी बचा हुआ फ़्रेंच जहाज़ी बेड़ा उनको सौंप दिया। इस दुर्घटना ने और ऐसी ही दूसरी दुर्घटनाओं ने नवीन क्रान्ति को जबरदस्त धक्का पहुंचाया और हरेक फ़ालतू आदमी को, और औरतो को भी, फ़ौज में भर्ती होने का हुक्म दिया गया। नेपोलियन ने बाग़ियों को पीस डाला और तोलो की लड़ाई में बडी उस्तादी के साथ हमला करके अँग्रेजो को हरा दिया। अब उसका सितारा बुलन्द होने लगा और चौबीस साल की उम्र में वह फ़ौज का जनरल बन गया। कुछ ही महीनो में जब रोब्सपीयर गिलोटीन पर चढा दिया गया तो यह आफत में फँस गया क्योंकि इस पर रोब्सपीयर के दल का होने का शक किया गया। लेकिन हकीकत मे जिस दल में वह शामिल था उसदल में सिर्फ एक ही मेम्बर था, और वह था खुद नेपोलियन! इसके बाद डायरेक्टरी का राज आया और नेपोलियन ने साबित कर दिया कि जैकोबिन होना तो दरकिनार वह तो प्रति-क्रान्ति का नेता था

और जरा भी तरस खाये बिना आम जनता को गोलियो से भून सकता था। यह १७९५ ई० का वही प्रसिद्ध 'छर्रों का झोंका' था जिसका जिक्र मैं एक पिछले खत कर चुका हूँ। उस दिन नेपोलियन ने प्रजातन्त्र को जख्मी कर दिया। दस वर्षों के भीतर ही उसने प्रजातन्त्र का खातमा कर डाला और फ़्रांस का सम्राट बन बैठा।

१७९६ ई० में वह इटली की फ़ौज का कमांडर हो गया और इटली के उत्तरी हिस्से पर बड़ा कामयाब धावा करके सारे योरप को ताज्जुब में डाल दिया। फ़्रांस की फ़ौजो में क्रान्ति का जोश अभी ठंडा नहीं हुआ था। लेकिन वे फटेहाल थीं, और उनके पास न ठीक कपडे थे, न जूते, न खाना और न रुपया। वह इस फटे हाल और पाँव में छाले पडे हुए गिरोह को आल्प्स पहाडों के ऊपर होकर ले गया और उनको उम्मीद दिलाई कि इटली के उपजाऊ मैदानो मे पहुँचकर उनको खाना और बहुत-सी आनन्द की चीजें मिलेगी। दूसरी तरफ इटली के बाशिन्दो को उसने आजाद कर देने का वादा किया; वह उनको जालिमो से छुड़ाने आरहा था। लूटमार और डकैती की उम्मीद के साथ क्रान्तिवादी गपड़-सपड़ का यह कैसा विचित्र मेल था? इस तरह उसने फ़्रांस और इटली दोनो के बाशिन्दों की भावनाओ से बडी चालाकी के साथ फ़ायदा उठाया, चूंकि वह खुद भी आधा इटैलियन था, इसलिए उसका खूब असर पड़ा। जैसे-जैसे उसे फ़तह मिलती गई, उसका रौब बढ़ने लगा और उसकी शोहरत फैलने लगी। अपनी फौज में भी वह बहुत-सी बातों में एक मामूली सिपाही की तरह बर्ताव करता था और खतरे में उनके साथ रहता था। क्योंकि धावे में जहाँ कहीं सबसे ज्यादा खतरा होता वहीं वह पहुँच जाता था। वह हमेशा सच्ची योग्यता की तलाश में रहता था और इसके लिए लड़ाई के मैदान ही में वह फ़ौरन इनाम दे देता था। अपने सिपाहियो के लिए वह पिता—एक बहुत नौजवान पिता!—के समान था जिसे वे प्यार से 'नौजवान कप्तान' कहते थे और 'तू' करके सम्बोधन करते थे। इसमें कौनसी ताज्जुब की बात है अगर यह कम उम्र नौजवान फ़्रेंच जनरल फौज का प्यारा बन गया हो?

तमाम उत्तरी इटली को फतह करके और आस्ट्रिया को हराकर, और वेनिस के पुराने प्रजातन्त्र को बरबाद करके वहाँ बडी बुरी साम्राज्यवादी सुलह करके वह पैरिस को एक बड़ा भारी विजयी सूरमा बनकर लौटा। फ़्रांस में उसकी तूती पहले ही बोलने लगी थी। लेकिन उसने सोचा कि शायद अभी सब अधिकार अपने हाथ में कर लेने का वक्त नहीं आया है, इसलिए उसने एक फ़ौज लेकर मिस्र जाने का इंतिज़ाम किया। अपनी जवानी से लगाकर अबतक पूर्व की यह पुकार उसके दिल मे उठ रही थी। अब वह इसे पूरी कर सकता था। एक विशाल साम्राज्य के सपने उसके दिमाग

में चक्कर लगाने लगे होंगे। भूमध्यसागर में अँग्रेजी जहाजी बेड़े से किसी तरह बाल-बाल बचकर वह सिकन्दरिया जा पहुँचा।

मिस्र उन दिनों तुर्की के उस्मानी साम्राज्य का हिस्सा था लेकिन इस साम्राज्य का पतन हो चुका था और दरअसल मिस्र में 'मैमल्यूक'[१] लोग राज्य कर रहे थे जो सिर्फ नाम के लिए तुर्की के सुलतान के मातहत थे। कहते हैं कि जब नेपोलिन क़ाहिरा पहुँचा तो एक मैमल्यूक सूरमा रेशम के भड़कीले कपड़े और दामिश्क का जिरह-बख्तर पहने घोड़े पर सवार होकर फ्रांस की फ़ौज के सामने आया और उसके सिपह-सालार को द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकारा! उस बेचारे पर बड़ी बुरी तरह गोलियों की बौछार की गई। जल्द ही नेपोलियन ने 'पिरैमिड्स की लड़ाई' जीती। वह नाटक की-सी बातें बहुत पसन्द करता था। एक पिरैमिड के नीचे अपनी फ़ौज के सामने घोड़े पर खड़े होकर उसने कहा—"सिपाहियो! देखो, चालीस सदियाँ तुम्हारे ऊपर निगाह डाल रही हैं!"

नेपोलियन ज़मीन की लड़ाई का उस्ताद था और वह जीतता ही गया। लेकिन समुद्र पर उसका बस न चला। वह समुद्री लड़ाई लड़ना नहीं जानता था और शायद उसके पास काबिल एडमिरल यानी समुद्री सिपहसालार भी न थे। ठीक उन्हीं दिनों भूमध्यसागर में इंग्लैंड के जहाजी बेड़े का अफ़सर एक असाधारण प्रतिभावाला पुरुष था। यह होरेशियो नेल्सन[२] था। नेल्सन बड़ी हिम्मत करके एक दिन ठेठ बन्दरगाह में घुस आया और नील नदी की लड़ाई में उसने फ्रांस के जहाजी बेड़े को तबाह कर दिया। इस तरह परदेस में नेपोलियन फ्रांस से बिछुड़ गया। वह तो किसी तरह चुपचाप बचकर निकल भागा और फ्रांस पहुँच गया लेकिन ऐसा करके उसने अपनी 'पूर्व की फ़ौज' की कुरबानी करदी।

विजयों और कुछ फ़ौजी शान के बावजूद भी पूर्वी देशों का यह जबर्दस्त धावा बिलकुल नाकामयाब रहा। यह दिलचस्पी की बात ख़याल में रखने लायक है कि

१. मैमल्यूक—तुर्की के सुल्तान अयूब के शरीर-रक्षक गुलाम जो उसकी मृत्यु (१२५१) के बाद १५१७ ई० तक मिस्र में राज करते रहे। सुल्तान सलीम प्रथम ने इनको निकाल बाहर कर दिया था लेकिन अठारहवीं सदी में इन्होंने फिर अधिकार प्राप्त कर लिया। १७९८ ई० में नेपोलियन ने इन्हें हराया और १८११ ई० में सुल्तान मुहम्मद अली ने इनका अन्त कर दिया।

२. नेल्सन—(१७५८–१८०५) इंग्लैंड का बड़ा प्रसिद्ध और योग्य नौ-सेनापति—इसने कई समुद्री लड़ाइयाँ जीती थीं और इंग्लैंड का समुद्री गौरव बढ़ाया। यह ट्राफलगर के युद्ध में मारा गया।

नेपोलियन अपने-साथ पंडितो, विद्वानो और आचार्यो की भीड़-की-भीड़, बहुत-सी किताबो और तरह-तरह के औज़ारो के साथ, मिस्र देश को लेगया था। इस मण्डली में रोज़ बहस-मुबाहसे होते थे। जिनमें नेपोलियन भी बराबरी की हैसियत से हिस्सा लेता था और इन पण्डितो नें वैज्ञानिक तरीके पर खोज का ज़बर्दस्त और बड़ा अच्छा काम किया। ग्रीक लिपि और मिस्र के चित्र-लेख की दो किस्में, पत्थर की एक चट्टान पर खुदी हुई मिल गई और चित्र-लेख-पद्धति की पुरानी पहेली हल हो गई। ग्रीक लिपि की मदद से बाकी की दोनो लिपियों को पढ़ लिया गया। यह भी दिलचस्प बात है कि स्वेज़ पर नहर काटने की तजवीज़ में नेपोलियन की भी बहुत दिलचस्पी थी।

जब नेपोलियन मिस्र में था तो उसने ईरान के शाह और दक्षिण हिन्दुस्तान के टीपू सुलतान के पास कुछ पैग़ाम भेजे थे। लेकिन इनका नतीजा कुछ न निकला क्योंकि उसके पास समुद्री ताकत बिलकुल न थी। समुद्री फ़ौज की ताकत ने ही अख़ीर में नेपोलियन को पछाड़ दिया; और उन्नीसवीं सदी में इंग्लैंड को ज़बर्दस्त बनानेवाली भी समुद्री फ़ौज की ताकत ही थी।

मिस्र से जब नेपोलियन लौटा तो फ़्रांस की हालत बहुत ख़राब हो रही थी। डायरेक्टरी बदनाम और अप्रिय हो चुकी थी इसलिए हरेक को नेपोलियन से ही उम्मीद थी। वह हुकूमत हाथ में लेने के लिए बिलकुल राज़ी था। नवंबर १७९९ ई० में, अपनी वापसी के एक महीनें बाद, नेपोलियन ने अपने भाई लूसियन की मदद से असेम्बली को ज़बरदस्ती तोड़ दिया, और जिस विधान के मुताबिक डायरेक्टरी हुकूमत कर रही थी उस मौजूदा विधान का उसने ख़ातमा कर दिया। इस ज़बरदस्ती के राजनैतिक कार्य से, जिसे 'राजनैतिक चालबाज़ी' कहते हैं, नेपोलियन ने परिस्थिति को काबू में कर लिया। वह ऐसा इसीलिए कर सका कि लोग उसे चाहते थे और उसमें विश्वास रखते थे। क्रान्ति का तो बहुत दिन पहले ही दिवाला निकल चुका था; लोकतन्त्र तक भी ग़ायब हो रहा था और एक लोकप्रिय जनरल का डंका बज रहा था। एक नये विधान का मसविदा बनाया गया जिसमें तीन 'कौंसल' (यह शब्द प्राचीन रोम से लिया गया था) या एलची रक्खे गये लेकिन इन तीनों में प्रधान नेपोलियन था जिसे पूरे अधिकार थे। वह पहला कौंसल कहलाया और दस वर्ष के लिए नियुक्त किया गया। विधान सम्बन्धी बहस-मुबाहसे के दौरान में किसी सदस्य ने यह प्रस्ताव किया कि एक ऐसा राष्ट्रपति होना चाहिए जिसके हाथ में कोई असली ताकत न हो और जिसका ख़ास काम कागज़-पत्रो पर दस्तख़त करना और प्रजातन्त्र का बाकायदा प्रतिनिधित्व करना हो, जैसे कुछ-कुछ आजकल के वैधानिक

बादशाह होते हैं या फ़्रांस का राष्ट्रपति है। मगर नेपोलियन तो अधिकार चाहता था, सिर्फ शाही पोशाक नही। इस शाही लेकिन अधिकार-रहित मुखिया को वह बिल्कुल नहीं चाहता था। उसने कहा: "इस मोटे सूअर को निकाल बाहर करो !"

यह विधान, जिसमें नेपोलियन को दस साल के लिए प्रथम कौंसिल बनाया गया था जनता की राय के लिए पेश किया गया और तीस लाख से ज्यादा वोटरो ने उसे क़रीब-क़रीब एक राय से मान लिया। इस तरह फ़्रांस की जनता ने इस फिजूल की उम्मीद में कि वह उन्हे आजादी और सुख दिलायगा, खुद ही सारे अधिकार नेपोलियन की भेंट कर दिये।

लेकिन हम नेपोलियन के जीवन चरित्र की सारी बाते नहीं लिख सकते। वह तो जोरदार हरकतो और ज्यादा-से-ज्यादा अधिकार की हविस से भरा पड़ा है। 'राजनैतिक चालबाजी' के बाद पहली ही रात को, जब कि नया विधान बनने और तैयार होने भी न पाया था, कि उसने कानूनी जाब्ते का मसविदा बनाने के लिए दो कमिटियाँ नियुक्त करदीं। यह उसकी डिक्टेटरशिप या तानाशाही का पहला काम था। बहुत बहस-मुबाहसे के बाद, जिसमें नेपोलियन भी शामिल होता था, यह जाब्ता १८०४ ई० में आखिरी तौर पर मान लिया गया। यह 'नेपोलियन कोड' (नेपोलियन का कानूनी जाब्ता) कहलाया। क्रान्ति के विचारों या इस जमाने के आदर्शों के लिहाज से यह कानून ज्यादा अच्छा न था। लेकिन यह उस जमाने की हालतो से जरूर आगे बढ़ा हुआ था और सौ साल तक कई बातों में सारे योरप वाले इसे करीब-करीब नमूना मानते रहे। उसने बहुत से तरीको से राजशासन में सादगी और मुस्तैदी पैदा की। वह हरेक काम में दखल देता था और छोटी-छोटी बातो को याद रखने का उसमें आश्चर्यभरा माद्दा था। अपने अद्भुत बल और शक्ति से उसने तमाम साथियो और मंत्रियो को थका डाला। उस वक़्त का उसका एक साथी उसके बारे में लिखता है:—"अपनी नियमित चतुरता के साथ राज करता हुआ, शासन करता हुआ और सलाह-मशविरा करता हुआ, वह दिन में अठारह घंटे काम करता है। जितना और बादशाहो ने सौ वर्षों में राज किया होगा उससे ज्यादा इसने तीन वर्षों में कर लिया है।" यह बात जरूर बढ़ाकर कही गई है, लेकिन यह सही है कि अकबर की तरह नेपोलियन की भी गैरमामूली याद्दाश्त थी और बिलकुल सुलझा हुआ उसका दिमाग था। वह अपने बारे में कहता था:—"जब मैं किसी बात को अपने दिमाग से निकालना चाहता हूँ तो उसकी दराज बन्द कर देता हूँ और दूसरी चीज की दराज खोल देता हूँ। इन दराजों में रखी हुई चीजें कभी मिलने नहीं पातीं और न तो मैं उनसे घबराता हूँ, न थकता हूँ। क्या मैं सोना चाहता हूँ ? जब मैं सब दराज बन्द कर

देता हूँ तो मुझे नींद आजाती है।" दर असल यह देखा गया था कि वह लड़ाई के बीच में ज़मीन पर लेट जाता था और आध घंटे के करीब सो लेता था, और उसके बाद उठकर फिर लम्बे अर्से के लिए गहरे कामो में मशगूल हो जाता था।

वह दस साल के लिए प्रथम कौंसल बनाया गया था। अधिकार के ज़ीने की दूसरी सीढ़ी तीन साल बाद, १८०२ ई० में आई, जब उसने, आपको ज़िन्दगी भर के लिये कौंसल बनवा लिया और उसके अधिकार भी बहुत बढ़ गये। प्रजातन्त्र खतम हो चुका था, और वह सब तरह से बादशाह हो गया था, सिर्फ बादशाहत का नाम न था। १८०४ ई० में जैसा कि होना ही था, उसने जनता की राय लेकर अपने आप को सम्राट ऐलान कर दिया। फ्रांस में बिलकुल उसीकी तूती बोलती थी लेकिन फिर भी इसमें और पुराने ज़माने के स्वेच्छाचारी राजाओ में बहुत फर्क था। वह अपनी हुकूमत को परम्परा और दैवी अधिकार के बल पर कायम नहीं रख सकता था। उसे तो इसको अपनी क़ाबलियत और जनता में अपनी लोकप्रियता के सहारे रखना पड़ता था, खासकर काश्तकारो में लोकप्रियता के सहारे, जो हमेशा उसके वफादार साथी थे क्योकि वे समझते थे कि इसने उनकी ज़मीनो को छिनने नहीं दिया था। नेपोलियन ने एक बार कहा था—"मैं गोल कमरो में बैठने वालो और बकवास करनेवालों की राय की क्या पर्वाह करता हूँ! मैं तो सिर्फ एक राय को मानता हूँ, जो काश्तकारो की राय है।" लेकिन आखिरकार लगातार जारी रहनेवाली लड़ाइयो के लिए अपने पुत्रो को देते-देते काश्तकार लोग भी तंग आगये। जब यह मदद रुक गई तो जो विशाल भवन नेपोलियन ने खड़ा किया था, वह गिरने लगा।

दस साल तक वह सम्राट रहा और इन वर्षो में वह सारे योरप में ज़बरदस्त फ़ौजी धावे करता हुआ दौड़ता फिरा और उसने मशहूर लड़ाइयाँ जीती। सारा योरप उसके नाम से थर्राता था और उसका ऐसा दबदबा था जैसा उससे पहले और बाद में आजतक किसी का न हुआ। मारेंगो (यह लड़ाई १८०० ई० में हुई जब उसने अपनी फौज के साथ स्वीज़रलैंड की तरफ से ढकी हुई सेंट बर्नार्ड की घाटी को पार किया), उल्म, आस्टरलिज़, यॅना, लूई, फ़्रीडलैंड, वैगरा-वग़ैरा उसकी जीती हुई मशहूर लड़ाइयो के नाम हैं। आस्ट्रिया, प्रशिया, रूस, वगैरा सब उसके सामने ज़मींदोज़ होगये। स्पेन, इटली, निदरलैंड्स, राइन का कान्फेडरेशन कहलाने वाला जर्मनी का बडा हिस्सा, पोलैंड, जो वारसा की डची कहलाता था, ये सब राज्य उसके मातहत होगये। पुराना पवित्र रोमन साम्राज्य, जो बहुत दिनों से नाम मात्र के लिए रह गया था, अब बिलकुल खतम हो गया।

योरप के बडे राज्यो में से सिर्फ इंग्लैण्ड ही ऐसा बचा जिसपर आफ़त न आई। इंग्लैण्ड को उसी समुद्र नें बचाया जो नेपोलियन के लिए हमेशा एक रहस्य रहा। और समुद्र से सुरक्षित रहने की वजह से इंग्लैण्ड उसका सबसे जबरदस्त और कट्टर दुश्मन बन गया। मैं बतला चुका हूँ कि किस तरह नेपोलियन की जिन्दगी के शुरू में ही नेलसन ने नील नदी की लड़ाई में उसके जहाजी बेडे को बरबाद कर दिया था। २१ अक्तूबर १८०५ को स्पेन के दक्षिणी किनारे पर ट्रैफलगर अन्तरीप के पास नेल्सन ने फ्रांस और स्पेन के सम्मिलित जहाजी बेडों पर और भी जबरदस्त फतह पाई थी। इसी समुद्री लड़ाई के शुरू होनें से पहले नेल्सन ने अपने बेडे को यह मशहूर संदेश दिया था :—"इंग्लैंड को उम्मीद है कि हरेक आदमी अपना फ़र्ज अदा करेगा।" विजय की घडी में नेल्सन तो मारा गया। लेकिन इस फ़तह ने, जिसे अंग्रेज लोग बडे अभिमान से याद करते हैं और जिसकी यादगार लंदन के ट्रैफलगर स्क्वायर में नेल्सन स्तम्भ के रूप में बनी हुई है, इंग्लैंड पर धावा बोलने के सपने को खतम कर दिया।

नेपोलियन ने योरप के सारे बन्दरगाहों को इंग्लैंड के लिए रोक देने का हुक्म निकालकर इसका बदला लिया। उससे किसी तरह के भी सम्बन्ध रखने की मनाई कर दी गई और 'बनियो के राष्ट्र' इंग्लैंड को इस तरह काबू में लाने की सोची गई। उधर इंग्लैंड ने इन बन्दरगाहो का रास्ता बन्द कर दिया और नेपोलियन के साम्राज्य और अमेरिका वग़ैरा दूसरे देशो के बीच होनेवाले व्यापार को रोक दिया। योरप में लगातार साजिशें करके और नेपोलियन के दुश्मनो और उदासीन राज्यों में दिल खोलकर सोना बाँटकर, भी इंग्लैंड ने नेपोलियन से लड़ाई लडी। इस काम में उसे योरप के कई बडे-बडे दौलतमन्द घरानों से, ख़ासकर रॉथ्सचाइल्ड घराने से, बडी मदद मिली।

इग्लैंड नें नेपोलियन के खिलाफ़ एक और भी तरीका काम में लिया, जो प्रचार का था। यह नई तरह का धावा था लेकिन तब से यह बहुत आम हो गया है। फ्रांस और खासकर नेपोलियन के ख़िलाफ अख़बारो में आन्दोलन जारी किया गया। सब तरह के लेख, पुस्तिकायें, अख़बार, नये सम्राट का मजाक उड़ानेवाले कार्टून, और झूठी बातों से भरे हुए नक़ली संस्मरण, लंदन से प्रकाशित होते थे और चोरी-छिपी से फ्रास में दाखिल कर दिये जाते थे। अख़बारों के जरिये से झूठी बातो का प्रचार आजकल की युद्ध प्रणाली का बाक़ायदा अंग बन गया है। १९१४–१८ ई० के महा-युद्ध के जमाने में, लड़ाई में हिस्सा लेनेवाले सब राज्यों और देशो ने बडी बेशर्मी के साथ असाधारण से असाधारण झूठी बातें फैलाईं और इनको गढ़ने और प्रचार

करने के हुनर में इंग्लैंड आसानी से सबसे आगे नजर आया। उसे तो नेपोलियन के वक्त से अबतक एक सदी की लम्बी तालीम मिल चुकी थी। हम हिन्दुस्तान के लोग अच्छी तरह जानते हैं कि किस तरह हमारे देश के बारे में सच्ची बातें दबा दी जाती हैं और ब्रिटिश अधिकारियो के जरिये यहाँ और इंग्लैंड में सब से ज्यादा हैरत में डालनेवाली झूठी बातो का प्रचार किया जाता है।

यह ख़त बहुत लम्बा हो गया है। और फिर भी मैंने अभी तुमको नेपोलियन की आधी कहानी भी नहीं बतलाई है।

: १०५ :

नेपोलियन का कुछ और हाल

६ नवम्बर, १९३२

पिछले खत में हमने नेपोलियन का किस्सा जहाँ छोड़ा है, वहींसे सिलसिला जारी रखना चाहिए।

नेपोलियन जहाँ कहीं गया वहीं अपने साथ फ्रांस की राज्यक्रान्ति के कुछ ख़याल लेता गया और जिन देशों को उसने जीता वहां के लोग उसके आने से नाख़ुश न हुए। वे लोग अपने निकम्मे और आधे सामन्त शासकों से तंग आगये थे जो उनको गरदन पर सवार थे। इससे नेपोलियन को बहुत मदद मिली और जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता गया, सामंतशाही उसके सामने नष्ट होकर गिरने लगी। जर्मनी में ख़ासतौर पर सामंतशाही का ख़ातमा हो गया। स्पेन मे उसने इनक्विजिशन का ख़ातमा कर दिया। लेकिन जिस राष्ट्रीयता की भावना को उसने अनजान में उत्तेजित किया था वही उसके खिलाफ उठ खडी हुई और इसने आख़िरकार उसे हरा दिया। वह पुराने बादशाहो और सम्राटो को नीचा दिखा सकता था लेकिन अपने खिलाफ भड़के हुए सारे राष्ट्र को नहीं। इस तरह स्पेन के लोग उसके ख़िलाफ बाग़ी हो गये और वर्षो तक उसको ताकत और साधनो को बरबाद करते रहे। जर्मन लोग भी बैरन वॉन स्टीन नाम के एक महान देशभक्त की रहनुमाई में संगठित हो गये। यह नेपोलियन का कट्टर दुश्मन हो गया। जर्मनी में आज़ादी की लड़ाई हुई। इस तरह राष्ट्रीयता, जिसको ख़ुद नेपोलियन ने ही जगाया था, समुद्री ताकत से मेल करके उसके पतन का कारण बन गई। लेकिन किसी भी सूरत में यह तो मुश्किल था कि सारा योरप एक डिक्टेटर को बर्दाश्त कर लेता। या शायद ख़ुद नेपोलियन की ही बात सही थी, जो उसने बाद में कही थी:—"मेरे पतन का दोष मेरे सिवा किसी पर नहीं है। मैं ख़ुद ही अपना सबसे बड़ा दुश्मन रहा हूँ और अपने भयंकर दुर्भाग्य का कारण हुआ हूँ"।

इस अद्भुत प्रतिभावाले आदमी में कमजोरियाँ भी असाधारण थीं। उसमें हमेशा कुछ नई नवाबी की झलक रही और उसके दिल में यह अजीब ख्वाहिश रही कि पुराने और निकम्मे बादशाह और सम्राट उससे बराबरी का बर्त्ताव करें। उसने अपने भाई-बहनों को बडी भद्दी तौर पर बढ़ाया हालांकि वे बिलकुल नालायक थे। लूसियन ही एक अच्छा भाई था जिसने १७९९ ई० की राजनैतिक चालबाजी के दौरान में मुसीबत के वक्त नेपोलियन की मदद की थी लेकिन जो बाद में उससे खटपट हो जाने के कारण इटली में जाकर बस गया। दूसरे भाइयो को, जो घमंडी और बेवकूफ थे, नेपोलियन ने कही का राजा और कहीं का शासक बना दिया। उसमें अपने खानदान को आगे बढ़ाने की एक अजीब और बेहूदी धुन थी। जब उसपर मुसीबत पडी तो इनमें से करीब-क़रीब सबने उसे धोखा दिया और उससे किनाराकशी की। नेपोलियन को अपना राजघराना क़ायम करने की भी बडी हसरत थी। अपनी ज़िन्दगी की शुरुआत में, इटली पर धावा बोलनें और मशहूर होने से भी पहले, उसने जोसेफाइन दि बोहार्नाइ नामक एक खूबसूरत लेकिन चंचल औरत से शादी कर ली थी। जब उससे कोई औलाद न हुई तो नेपोलियन को बडी भारी मायूसी हुई, क्योंकि उसके दिल में तो राजघराना चलाने की ख्वाहिश थी। बस उसने जोसेफाइन को तलाक देकर दूसरी औरत से शादी करने का इरादा कर लिया, हालांकि वह जोसेफाइन को चाहता था। उसकी इच्छा रूस की एक ग्रांड डचैस (बडे ड्यूक की स्त्री) से शादी करने की थी लेकिन ज़ार इस पर राजी न हुआ। नेपोलियन भले ही क़रीब-करीब सारे योरप का स्वामी रहा हो, लेकिन उसके लिए रूस के शाही खानदान में शादी करने की उम्मीद करना ज़ार की राय में कुछ गुस्ताखी की बात थी! तब नेपोलियन ने किसी तरह आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग सम्राट को मजबूर किया कि वह अपनी पुत्री मेरी लुइसी की शादी उसके साथ करदे। उसकी कोख से एक लड़का पैदा हुआ, लेकिन वह मूढ़ और मूर्ख थी और उसे बिलकुल न चाहती थी और नेपोलियन के लिए वह बहुत बुरी बीबी साबित हुई। जब नेपोलियन पर आफत आई तो वह उसे छोड़कर भाग गई और उसका खयाल ही दिल से निकाल दिया।

बडे ताज्जुब की बात है कि यह शख्स, जो बहुत-सी बातो में अपने जमाने के आदमियों से बढ़ा-चढ़ा हुआ था, बादशाहत के पुराने ख्यालात से पैदा होने वाली थोथी तड़क-भडक का शिकार हो गया। और फिर भी, बहुत बार, वह क्रान्ति की सी बातें करता था और इन निकम्मे बादशाहों का मजाक उड़ाया करता था। उसने क्रान्ति की और नये ज़माने की जान-बूझकर उपेक्षा कर दी थी; पुरानी बातें न तो उसके अनुकूल थीं और न उसे अपनाने के लिए तैयार थी। इसलिए इन दोनों के बीच में वह तबाह हो गया।

धीरे-धीरे फौजी शान-शौकत की इस जिन्दगी का लाजिमी तौर पर बड़ा शोक-जनक अन्त होता है। खुद उसके ही कुछ मंत्री लोग धोखा देते हैं और उसके खिलाफ साजिशें करते हैं; तैलीरँद रूस के जार से मिलकर साजिश करता है और फोशे इंग्लैंड से मिलकर। नेपोलियन उनकी धोखेबाजी पकड़ लेता है लेकिन फिर भी, ताज्जुब है कि उन्हें सिर्फ लानत-मलामत करके मंत्रियों के पद पर क़ायम रखता है। बर्नादोत नामक उसका एक सिपहसालार उसके खिलाफ हो जाता है और उसका कट्टर दुश्मन बन जाता है। माता और भाई लूसियन के सिवा उसके खानदान के सारे लोग बेजा हरकतें करते रहते हैं और अक्सर उसकी जड़ भी काटते रहते हैं। फ़्रांस में भी असंतोष बढ़ता चला जाता है और उसकी डिक्टेटरी बड़ी बेरहम और वहशियाना हो जाती है और हजारों आदमी बिना मुकदमे के क़ैद में डाल दिये जाते हैं। उसका सितारा हकीकत में नीचे गिरता हुआ मालूम होता है। और बहुत-सी नावें जहाज का आखिरी वक्त नजदीक जानकर उसे भँवर में छोड़ जाती हैं। हालांकि अभी उसकी उम्र ज्यादा नहीं है लेकिन उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ कमजोर होती जाती हैं। ठेठ लड़ाई के बीच में कभी-कभी उसके पेट में वायुगोले का दर्द उठ खड़ा होता था। अधिकार भी उसे भ्रष्ट कर देता है। उसमें पुरानी चतुराई तो मौजूद रहती है लेकिन अब उसकी चाल धीमी पड़ गई है। वह अक्सर आगा-पीछा सोचने में रह जाता है और वहम करने लगता है। उसकी फ़ौजें भी पहले से ज्यादा भारी-भरकम होगई हैं।

१८१२ ई० में एक जबरदस्त फौज लेकर, जो 'ग्रान्ड आर्मी' यानी विशाल सेना कहलाती थी, वह रूस पर धावा बोलने के लिए रवाना होता है। वह रूसवालों को हरा देता है और बिना विरोध के आगे बढ़ता चला जाता है। रूस की फ़ौजें लगातार पीछे हटती चली जाती हैं और लड़ने के लिए सामने नहीं आतीं। 'ग्रान्ड आर्मी' फिजूल उनको तलाश करती-करती मॉस्को पहुँच जाती है। जार तो हार मानने के लिए तैयार हो जाता है लेकिन दो आदमी, एक तो फ्रांसीसी बर्नादोत, नेपोलियन का पुराना साथी और सिपहसालार और दूसरा जर्मन राष्ट्रवादियों का नेता बेरन वॉन स्टीन जिसे नैपोलियन ने बागी ऐलान कर दिया था, जार को ऐसा करने से रोक देते हैं। रूसी लोग दुश्मन को धुएँ से तंग करने के लिए अपने प्यारे मॉस्को नगर में ही आग लगा देते हैं। जब मॉस्को के जलने की खबर सेंट पीटर्सबर्ग पहुँचती है तो स्टीन, जो उस वक्त खाना खा रहा था, अपना शराब का प्याला उसके उपलक्ष में उठाकर कहता है—"इससे तीन-चार बार पहले मैं अपना सामान खो चुका हूँ। हमें ऐसी चीजों को फेंकने का अभ्यास कर लेना चाहिए। चूंकि हमको मरना तो है ही। इसलिए हमें बहादुर हो जाना चाहिए!"

जाडे की शुरूआत है। नेपोलियन जलते हुए मॉस्को को छोड़कर फ़्रांस लौटने का फैसला करता है। 'ग्राण्ड आर्मी' बर्फ़ में होकर बडी मुश्किल से धीरे-धीरे वापस लौटती है। रूस के कज्ज़ाक लोग इधर-उधर से और पीछे से उसपर छापे मारते है और उसपर लगातार हमले करते है और पिछड़ जानेवालों को मौत के घाट उतार देते है। कडी सरदी और कज्ज़ाक लोग, दोनों मिलकर हजारो जानें ले लेते है। और 'ग्रान्ड आर्मी' भूतो का-सा जुलूस बन जाती है जिसमें सब लोग पैदल-पैदल फटे-हाल, पांवो में छाले पडे हुए और सरदी से अकड़े हुए, बडी मुश्किल से लड़खड़ाते हुए चलते है। अपने गोलन्दाजो के साथ नेपोलियन को भी चलना पड़ता है। यह यात्रा बडी भयंकर और दिल तोड़नेवाली साबित होती है, और वह जबर्दस्त फ़ौज कम होती-होती आखिर में बिलकुल बरबाद हो जाती है। सिर्फ मुट्ठी-भर लोग वापस लौट पाते है।

रूस के इस धावे ने जबर्दस्त धक्का पहुँचाया। इसने फ़्रांस की फौजी ताकत को खतम कर दिया। उसका नतीजा यह हुआ कि इसमे नेपोलियन पर बुढ़ापा-सा छागया; वह फिक्रमन्द हो गया और लड़ाई-झगडो से ऊब गया। लेकिन उसे चैन नहीं लेने दिया गया। दुश्मनो ने उसे घेर लिया और हालाँकि अभी तक वह लड़ाइयाँ फतह करनेवाला सिपहसालार था, लेकिन फंदा अब धीरे-धीरे कसने लगा। तैलीरैंद की साजिशें बढ़ने लगीं और नेपोलियन के कुछ विश्वासपात्र सिपहसालार तक भी उसके खिलाफ़ हो गये। उकताकर और तंग आकर नेपोलियन ने अप्रेल १८१४ ई० में राजगद्दी छोड़ दी।

नेपोलियन की तरफ से रास्ता साफ़ होते ही योरप के सबसे ताकतवर राष्ट्रों की एक बडी कांग्रेस वियेना में की गई। नेपोलियन को भूमध्य सागर के एक छोटे से टापू एल्बा में भेज दिया गया। बोर्बन खानदान का एक और लुई, जो गिलोटीन पर मारे गये लुई का भाई था, जहाँ कहीं छिपा पड़ा था वहीं से निकालकर लाया गया और अठारहवे लुई के नाम से फ़्रांस की राजगद्दी पर बैठाया गया। इस तरह बोर्बन लोग फिर वापस आगये और उनके साथ बहुत-से पुराने जुल्म भी वापस आगये। बैस्तील के पतन से लगाकर अबतक पच्चीस वर्ष के बहादुरी के कामो का बस यह अंत हुआ। वियेना में बादशाह और उनके मन्त्री लोग आपस में बहस करते और लड़ते-झगड़ते थे और जब कभी इन बातो से उनको फुरसत मिलती तो मौज उड़ाते थे। उन्होने अब आराम की साँस ली। एक बड़ा भारी डर निकल गया था और वे लोग खुलकर साँस ले सकते थे। नेपोलियन के साथ विश्वासघात करनेवाला देश-द्रोही तैलीरैंद बादशाहो और मन्त्रियो के इस गिरोह में बड़ा लोकप्रिय था और कांग्रेस में

उसने बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया। कांग्रेस में एक दूसरा मशहूर राजनैतिक चालबाज़ मैटरनिख् था जो आस्ट्रिया का वैदेशिक मंत्री था।

एक साल से कम वक्त में नेपोलियन तो एल्बा से तंग आगया और फ्रांस बोर्बन लोगों से। वह किसी तरह एक छोटी सी नाव में वहाँ से भाग निकला और २६ फरवरी १८१५ ई० को शायद अकेला ही रिवियरा पर केन्स नामक जगह में किनारे पर आलगा। किसानो ने बड़े जोश के साथ उसका स्वागत किया। उसके लिए भेजी गई फ़ौजो ने जब अपने पुराने कमांडर 'पेटिट कार्पोरल' यानी नौजवान कप्तान को देखा तो वे 'सम्राट् की जय' का घोष करके उससे मिल गईं। बस, वह बड़े विजयोल्लास के साथ पैरिस पहुँचा और बोर्बन बादशाह वहाँ से तुरन्त भाग गया। लेकिन योरप की बाकी सब राजधानियों में आतंक और घबड़ाहट फैल गई। वियेना में, जहाँ काँग्रेस अभी तक लस्टम-पस्टम चल रही थी, नाच, गान और दावतें एक दम खतम हो गईं। सबपर असर करनेवाले इस ख़ौफ़ की वजह से सारे बादशाह और मत्री अपने आपसी झगड़ों-टंटों को भूल गये और नेपोलियन को दुबारा फिर कुचल डालने के काम के बारे में ही सोच-विचार करने लगे। बस, योरप ने उसके ख़िलाफ हथियार उठा लिये, लेकिन फ़्रांस तो लड़ाइयो से उकता गया था। और नेपोलियन, जो अभी छियालीस वर्ष का था, जिसे उसकी स्त्री, मेरी लुईसी तक दग़ा दे गई थी। थका हुआ और वृद्ध मालूम होने लगा था। कुछ लड़ाइयो में उसकी जीत हुई लेकिन आख़िरकार, फ़्रांस आने के ठीक सौ दिन बाद, वेलिंगटन[1] और ब्लूशर[2] की मातहती में अंग्रेज़ और प्रशिया की फौजो ने ब्रसेल्स नगर के पास वाटरलू में उसे हरा दिया। इसलिए उसकी वापिसी का यह समय 'सौ दिन' कहलाता है। वाटरलू की लड़ाई में दोनो तरफ करारा मुकाबिला था और यह बतलाना मुश्किल था कि जीत किसकी होगी। नेपोलियन की किस्मत बहुत बुरी निकली। उसके लिए इस लड़ाई में फतह हासिल करना बहुत मुमकिन था, लेकिन फिर भी एक न एक दिन तो उसे बाद में योरप की एक मजमूआ ताकत के सामने हारना पड़ता। अब चूंकि

१ वेलिंगटन—ड्यूक आफ वेलिंगटन (१७६९–१८५२)। यह हिन्दुस्तान के गवर्नर लार्ड वैलज़ली का छोटा भाई आर्थर वैलज़ली था जिसने उस ज़माने में हिन्दुस्तान मे भी कई लड़ाइयाँ जीती थी। १८२८ ई० में यह इंग्लैंड का प्राइम मिनिस्टर भी था।

२. ब्लूशर—(१७४२–१८१९) प्रशिया का सेनापति। इसने फ़्रास मे कई बार नेपोलियन को हराया था। इसकी मदद के बिना वेलिंगटन के लिए वाटरलू का युद्ध जीतना असंभव था।

वह हार चुका था इसलिए उसके बहुत-से मददगारों ने उसके खिलाफ़ होकर अपनी जान बचानी चाही। अब लड़ना फिजूल था, और गृह-युद्ध का विचार उसे बिलकुल नापसन्द था। इसलिए उसने दुबारा राजगद्दी छोड़ दी और फ्रांस के बन्दरगाह में पड़े हुए एक अँग्रेजी जहाज़ पर जाकर उसके कप्तान को यह कहकर आत्मसमर्पण कर दिया कि वह शान्ति के साथ इंग्लैंड में बसना चाहता है।

लेकिन अगर वह इंग्लैंड या योरप से नम्र और शिष्ट बर्त्ताव की उम्मीद रखता था, तो यह उसकी भूल थी। ये उससे बहुत डरे हुए थे और एल्बा से उसके निकल भागने से उनको पूरा यकीन हो गया था कि उसे बहुत दूर और बड़ी हिफ़ाज़त के साथ रखा जाना जरूरी है। इसलिए उसके विरोध करने पर भी उसे कैदी घोषित कर दिया गया और कुछ साथियो के साथ दक्षिण अटलांटिक सागर के सुदूर टापू सेंट हेलेना में भेज दिया गया। वह योरप का कैदी समझा गया और कई राष्ट्रों ने सेंट हेलेना पर उसकी निगरानी रखने के लिए कमिश्नर भेजे। लेकिन असल में उस पर निगरानी रखने की पूरी जिम्मेदारी इंग्लैण्ड पर थी। सारी दुनिया से अलग उस सुदूर टापू में भी उसपर पहरा देने के लिए एक अच्छी-ख़ासी फौज रक्खी गई। उस वक्त वहाँ के रूसी कमिश्नर काउन्ट बालबेन ने सेंट हेलेना की इस तनहा चट्टान के बारे में लिखा है कि यह "दुनिया की वह जगह है, जो सबसे ज्यादा अफ़सोसनाक, सबसे अलग, सबसे ज्यादा अगम्य यानी जहा आसानी से न पहुँचा जासके सबसे ज्यादा सुरक्षित, हमले के लिए सबसे ज्यादा मुश्किल और सबसे ज्यादा अकेली है।" इस टापू का अंग्रेज गवर्नर एक बिलकुल गंवार और जगली शख्स था और वह नेपोलियन के साथ बड़ा बुरा बर्त्ताव करता था। उसे टापू के सबसे खराब आबहवा वाले हिस्से में, अस्तबल की तरह के एक मकान में, रक्खा गया और उसपर और उसके साथियों पर तरह-तरह की अपमानजनक पाबन्दियां लगादी गई। कभी-कभी तो उसे खाने के लिए काफी तौर पर अच्छा खाना भी नहीं मिलता था। उसे योरप में रहनेवाले दोस्तो से ख़त-किताबत नही करने दी जाती थी, यहाँ तक कि अपने छोटे से लड़के से भी नहीं, जिसे अपने अधिकार के दिनो में उसने रोम के बादशाह का खिताब दिया था। ख़त-किताबत तो क्या, उसके पुत्र की खबर तक उसके पास नहीं पहुँचने दी जाती थी। एक जर्मन वनस्पतिशास्त्री, जो सेन्ट हेलेना गया था, वियेना में नेपोलियन की स्त्री और पुत्र से मिल चुका था, लेकिन उसे नेपोलियन से नही मिलने दिया गया और उनका सदेसा तक न पहुँचाने दिया गया। नेपोलियन ने कहा था—"इन जगलियों ने उसे मेरे पास आकर उनके समाचार देने से रोक दिया है।"

यह ताज्जुब की बात है कि नेपोलियन के साथ कैसा कमीना बर्त्ताव किया

गया। लेकिन सेंट हेलेना का गवर्नर तो सिर्फ अपनी सरकार के हाथ की कठपुतली था, और ऐसा मालूम होता है कि अंग्रेज सरकार की जानबूझकर यह नीति थी कि इस कैदी के साथ बुरा बर्त्ताव किया जाय और उसे नीचा दिखाया जाय। योरप के दूसरे राष्ट्र इससे सहमत थे। नेपोलियन की माँ, बुड्ढी होने पर भी, सेंट हेलेना में अपने पुत्र के साथ रहना चाहती थी लेकिन इन बड़े-बड़े ताकतवर राष्ट्रों ने कहा कि नहीं, ऐसा नहीं हो सकता! नेपोलियन के साथ जो बुरा बर्त्ताव किया गया वह उस आतंक का एक पैमाना है, जो अभी तक योरप में उसके नाम से फैला हुआ था। लेकिन उसके पर काट दिये गये थे और वह एक बहुत दूर के टापू में बेकाबू होकर पड़ा था।

साढ़े पांच साल तक उसने सेंट हेलेना में यह जिन्दा मौत बर्दाश्त की। छोटी-सी चट्टान सरीखे उस टापू में बन्द होकर और रोज कमीनी जिल्लतें उठाकर, गैर-मामूली ताकत और कल्पनावाले इस शख्स ने जो मुसीबतें झेली होंगी, उनका खयाल करना मुश्किल नहीं है। इन जिल्लतों के कारण वह बहुत-बहुत दिनों तक अपने घर में से बाहर तक न निकलता था। उसका खास काम था पढ़ना और अपने संस्मरण लिखवाना, और उसे सबसे बड़ी खुशी तब होती थी जब फ्रांस से नई किताबों का कोई पार्सल आता। हममें से जिन लोगों ने जेल में महीनों और वर्षों काटे हैं, वे नेपोलियन की मुसीबतों को कुछ-कुछ समझ सकते हैं और यह भी महसूस कर सकते हैं कि ब्रिटिश सरकार अपने दुश्मनों और कैदियों के साथ बर्त्ताव करने के मामले में कितनी अनुदार, कमीनी और कठोर थी और अब भी है।

नेपोलियन को तरह-तरह से नीचा दिखाया जाता था और तंग किया जाता था। लेकिन फिर भी रूसी बालबेन ने सेंट हेलेना में आने के एक वर्ष बाद उसके बारे में जो कहा था, वह सुनने लायक है—"जिस वक्त से मैं यहाँ आया हूँ, उसी वक्त से जो बात मेरे दिल को लगी है, (हालाँकि ऐसा होना स्वाभाविक है) वह है, वह जबर्दस्त दबदबा जो पहरेदारों से, चट्टानों से, कगारों से घिरा हुआ यह शख्स अभी तक लोगों के दिलों पर रखता है। सेंट हेलेना की हरेक चीज से इसका बड़प्पन जाहिर होता है। फ्रेंच लोग तो उसकी नजर से कांपते हैं और सेवा करने में अपने आपको धन्य समझते हैं।"

नेपोलियन मई १८२१ ई० में मरा। मरने के बाद भी गवर्नर की नफरत ने उसका पिंड न छोड़ा और उसके लिए एक बहुत बुरी कब्र बनवाई गई। धीरे-धीरे नेपोलियन के साथ किये गये बुरे बर्त्ताव और जुल्म की खबर जैसे ही योरप पहुँची (उन दिनों खबरें बहुत देर में पहुँचा करती थीं) वैसे ही उसके खिलाफ बहुत से

देशों में, जिनमें इंग्लैंड भी शामिल था, शोर मचा। इंग्लैंड का वैदेशिक मंत्री केसलरे, जो इस बुरे बर्त्ताव के लिए ख़ास तौर पर जिम्मेदार था, इस वजह से और अपनी सख़्त नीति के कारण बहुत बदनाम हो गया। उसे इस बात का इतना पछतावा हुआ कि वह ख़ुदकुशी करके मर गया।

बड़े और असाधारण व्यक्तियों के बारे में कुछ फ़ैसला देना मुश्किल है; और इस बात में कोई शक नहीं है कि नेपोलियन अपनी तरह का एक बड़ा और असाधारण आदमी था। वह करीब-करीब कुदरत की ताकत की तरह एक मौलिक चीज़ था। विचारों और कल्पनाओं से भरा हुआ होने पर भी वह आदर्शों और निःस्वार्थ भावनाओं की क़ीमत बिलकुल नहीं जानता था। वह लोगों को कीर्त्ति और धन देकर वश करने और प्रभावित करने की कोशिश करता था। इसलिए जब उसके कीर्ति और अधिकार का भंडार खाली हो गया, तो उन्हीं लोगों को चिपका रखने के लिए कोई आदर्श भावनायें बाकी न रहीं। जिन लोगों को उसने बढ़ाया था, वे और बहुत से दूसरे उसे कमीनेपन के साथ दग़ा दे गये। उसकी निगाह में धर्म तो ग़रीबों और दुखियों को अपनी बुरी किस्मत से संतुष्ट रखने का खाली एक तरीक़ा था। ईसाई मजहब के बारे में उसने एक बार कहा था—"मैं ऐसे धर्म को कैसे मान सकता हूँ जो सुकरात और अफलातून की निन्दा करता है।" जब वह मिस्र में था तो उसने इस्लाम की ओर कुछ पक्षपात दिखलाया था, इसलिए कि उसके ख़याल में शायद ऐसा करने से वहाँ के लोग उसे चाहने लगें। वह बिलकुल नास्तिक था लेकिन फिर भी धर्म को प्रोत्साहन देता था। क्योंकि वह इसे उस वक्त की सामाजिक हालत क़ायम रखने वाला आधार समझता था। वह कहता था—"धर्म कहता है कि स्वर्ग में सब बराबर होजाते हैं और यह भावना गरीबों को अमीरों की हत्या करने से रोकती है। धर्म का वही उपयोग है जो चेचक के टीके का। वह अद्भुत बातों की हमारी इच्छा को पूरी कर देता है और हमें नीम हकीमों से बचा देता है ...। समाज संपत्ति की असमानता के बिना जिन्दा नहीं रह सकता। जो भूख से मर रहा है, लेकिन जिसका पड़ौसी लज़ीज़ दावत उड़ा रहा है, उसे जिन्दा रखने वाली एक तो स्वर्गीय शक्ति में श्रद्धा है और दूसरा यह विश्वास है कि परलोक में वस्तुओं का बटवारा दूसरे ही ढंग से होगा।" सुनते हैं, अपनी ताकत के घमंड में उसने कहा था—"अगर आसमान गिरने लगे तो हम उसे अपनी भालों की नोक पर रोक लेंगे।"

उसमें महान व्यक्तियों की सी लोगों को अपनी तरफ़ खींचने की ताकत थी और उसने बहुत से जांनिसार दोस्त पैदा कर लिये थे। अकबर की तरह उसकी निगाह में जादू था। एक बार उसने कहा था :—"मैंने तलवार बहुत कम खींची है।

मैंने लड़ाइयाँ अपनी आखो से जीती हैं, हथियारो से नही।" जिस आदमी ने सारे योरप को लड़ाइयों में डुबो दिया उसके मुँह से ये लफ्ज आश्चर्यजनक मालूम होते हैं. लेकिन फिर भी इनमें कुछ सचाई है। हालांकि वह अपने जमाने का सबसे बड़ा सिपहसालार और सिपाही था, लेकिन वह अपने मकसद को शान्ति के उपायो से हासिल करना हमेशा बेहतर समझता था। उसका कौल था कि जबरदस्ती करना कोई इलाज नहीं है और इन्सान की आत्मा तलवार से जोरदार है। उसने कहा था:—"तुम जानते हो, मुझे सबसे ज्यादा ताज्जुब किस बात पर होता है ? इस बात पर कि हिंसापूर्ण शक्ति या जोर-जबरदस्ती की ताकत किसी भी चीज को संगठित करने के लिए कमजोर है। दुनिया में सिर्फ़ दो ही ताक़ते है: एक तो आत्मा और दूसरी तलवार । आखिर में आत्मा हमेशा तलवार पर विजय प्राप्त करेगी।" लेकिन ये अखीर के दिन उसके लिए न थे। वह तो जल्दी में था, और अपनी जिन्दगी के शुरू में ही उसने तलवार का तरीका चुन लिया था; तलवार से ही उसने विजय पाई और तलवार ही उसके पतन का कारण हुई। फिर उसका कहना था.—"युद्ध इस जमाने की चीज नहीं रही है; एक दिन ऐसा आवेगा कि बिना तोपो और तलवारों के विजय प्राप्त हो जाया करेगी।" परिस्थितियो ने उसे बेकाबू कर लिया था—उसकी छलाँग मारने वाली महात्वाकांक्षा, लड़ाइयाँ जीतने में मिलने वाली सुविधा, योरप के राजाओं की इस कल के छोकरे के लिए नफरत और इसका डर, इन सबनें उसे चैन से बैठने न दिया। लड़ाई में वह बडी बेपर्वाही के साथ लोगो की जानें झोक देता था, लेकिन फिर भी लोगों की मुसीबतों को देखकर उसका दिल भर आता था।

व्यक्तिगत जीवन में वह बहुत सादा-मिजाज था और काम के सिवा किसी बात में ज्यादती नहीं करता था। उसकी राय में "कोई मनुष्य चाहे जितना कम खावे, वह हमेशा जरूरत से ज्यादा खाता है। ज्यादा भोजन करने से आदमी बीमार पड़ सकता है, कम खाने से कभी नहीं।" यही सादा जीवन था, जिसके कारण उसकी इतनी अच्छी तंदुरुस्ती थी और उसमें इतनी जबरदस्त ताकत थी। वह जब चाहता और जितना कम चाहता सो सकता था। सुबह से लगातार तीसरे पहर तक घोडे पर सौ मील का सफर करलेना उसके लिए कोई गैरमामूली बात न थी।

जैसे-जैसे उसकी महत्त्वाकांक्षा योरप को जीतती हुई आगे बढ़ती गई वैसे-वैसे वह यह समझनें लगा कि योरप एक रियासत है, एक इकाई है, जहाँ एक कानून, और एक ही सरकार होनी चाहिए : "मैं सब राष्ट्रों को मिलाकर एक कर दूंगा।" बाद में सेंट हेलेना में निर्वासित किये जाने पर जब उसका दिमाग़ ठिकाने आया तो यह विचार फिर उसके हृदय में ज्यादा सही शक्ल में पैदा हुआ:—"कभी-न-कभी परिस्थितियों

के जोर से (योरप के राष्ट्रों का) यह मेल होगा। गाडी चल पडी है; और मुझे तो यह नजर आता है कि मेरे चलाये हुए हुकूमत के तरीक़े का खातमा होने के बाद योरप में बराबरी क़ायम करने का अगर कोई तरीक़ा है तो वह एक राष्ट्रसघ (लीग आफ़ नेशन्स) के जरिये से है।" सौ वर्ष से भी ज्यादा समय के बाद योरप अब भी अंधेरे में टटोल रहा है और राष्ट्र-संघ के बारे में प्रयोग कर रहा है।

उसने अपना अंतिम वसीयतनामा लिखा जिसमें अपने उस छोटे से पुत्र के नाम एक संदेश छोड़ा, जिसे वह रोम का बादशाह कहता था और जिसके समाचार तक भी बडी बेरहमी के साथ उसके पास पहुँचने से रोक दिये गये थे। उसे उम्मीद थी कि उसका पुत्र एक दिन राज करेगा इसलिए उसने उसे उपदेश दिया था कि वह शान्ति के साथ राज्य करे और बल का प्रयोग कभी न करे। "मैं योरप को हथियारों के जोर से काबू में करने को मजबूर हो गया था; लेकिन इस जमाने का तरीका यह है कि समझा-बुझाकर विश्वास प्राप्त किया जाय।" लेकिन पुत्र की किस्मत में राज करना नहीं लिखा था। नेपोलियन की मृत्यु के ग्यारह वर्ष बाद वह जवानी की उम्र में ही वियेना में मर गया।

लेकिन ये सब विचार उसके दिमाग़ में अपने निर्वासन के दिनों में आये जब उसका दिल बहुत कुछ साफ हो गया था, या शायद उसने आगे के लोगों को अपने पक्ष में करने के लिए ऐसा लिखा हो। अपनी महानता के दिनो में वह इतना ज्यादा क्रियाशील व्यक्ति था कि वह दार्शनिक बन नही सकता था। वह तो शक्ति की वेदी पर उपासना करता था; उसे तो असली मुहब्बत सिर्फ ताकत से थी, और वह उससे गंवारू तौर पर नहीं बल्कि एक कलाकार की तरह मुहब्बत करता था। उसने कहा था:—"मैं ताकत से प्रेम करता हूँ, हाँ, प्रेम करता हूँ, उस तरह जैसे एक कलाकार करता है। जैसे फिड्ल[1] बजाने वाला अपनी फिड्ल से करता है ताकि उसमें से राग, स्वर और लय पैदा करे।" लेकिन हद से ज्यादा ताक़त की तलाश खतरनाक होती है और जो शख्स या कौम इसके पीछे पड़ती है उसका कभी न कभी नाश हो ही जाता है। बस नेपोलियन का भी खातमा होगया, और यह अच्छा ही हुआ। सेंट हेलेना में उसने कहा था—"सारी जिन्दगी पर एक साथ विचार किया जाय तो मेरा जीवन कैसा सुन्दर गीत रहा है!"

इधर बोर्बन लोग फ्रांस में राज कर रहे थे। लेकिन यह कहा जाता है कि इन पिछली घटनाओ से बोर्बन लोगो ने न तो कुछ नसीहत ली और न वे पुरानी बातो को भूले। नेपोलियन के मरने के नौ साल बाद फ्रांस उनसे तग आगया और उसने उनका खातमा कर

१ फिड्ल—सारगी की तरह का एक बाजा जिसे वायोलीन भी कहते है।

दिया। एक दूसरे राजा का राज क़ायम हुआ, और नेपोलियन के प्रति अच्छे ख़यालात का इजहार करने के लिए उसकी मूर्ति, जो वैन्दोम स्तम्भ के ऊपर से हटादी गई थी, फिर वहीं रखदी गई। नेपोलियन की दुखिया माता ने, जो बुढ़ापे में अन्धी होगई थी, कहा—"सम्राट एक बार फिर पेरिस में आगया है।"

: १०६ :

दुनिया पर एक नज़र

१९ नवम्बर, १९३२

इस तरह नेपोलियन दुनिया के रंगमंच पर से, जिस पर वह इतने दिनो से हावी हो रहा था, बिदा हुआ। इस बात को एक सदी से ज्यादा अर्सा हो चुका है, और बहुत-से बहसतलब प्रश्न ठंडे हो चुके हैं। लेकिन, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, नेपोलियन के बारे में अभी तक लोगों में बड़ा मतभेद है। अगर वह किसी दूसरे और ज्यादा शान्ति के जमाने में पैदा हुआ होता तो एक साधारण सेनापति से ज्यादा उसकी शोहरत न हो पाती, और लोगो की नजरो में आये बिना ही वह चल बसा होता। लेकिन क्रान्ति और परिवर्त्तन ने उसे आगे बढ़ने का मौका दिया, और उसने भी इस मौके से पूरा फायदा उठाया। उसके पतन और यूरोपीय राजनीति से उसके हट जाने से योरपवासियो को बडी शान्ति मिली होगी, क्योंकि वे लोग युद्ध से उकता गये थे। पूरी सदी भर यूरोपीय राष्ट्रो ने सच्ची शान्ति के दर्शन नहीं किये थे, और सभी उसके लिए उत्सुक थे। योरप के बादशाहों और राजाओ को, जोकि वर्षों से उसके नाम से कॉप उठते थे, उसके चले जाने से जितनी राहत महसूस हुई होगी, उतनी शायद किसी को न हुई हो।

हमने फ्रांस और योरप पर काफी वक़्त लगा दिया और अब हम उन्नीसवीं सदी में काफी दूर तक आगे बढ़ आये हैं। आओ, अब हम दुनिया पर एक सरसरी नजर डालें और देखें कि नेपोलियन के पतन के समय उसका क्या हाल था।

तुम्हे याद होगा कि योरप में पुराने राजा लोग और उनके मन्त्री, वियेना की कांग्रेस में इकट्ठे हुए थे। जिस हौवे नेपोलियन के नाम से वे कॉपते थे, वह दुनिया से विदा हो चुका था, और अब ये लोग अपना वही पुराना खेल खेलने और लाखो आदमियो की किस्मतों का, अपनी मर्जी के मुताबिक, फैसला कर डालने के लिए आजाद थे। न तो उन्हें इस बात का ही कुछ ख़याल था कि प्राकृतिक स्थिति और भाषा के मुताबिक किसी देश की सही हद क्या होनी चाहिए। रूस का जार, इंग्लैंड का प्रति-

निधि केसलरे, आस्ट्रिया का प्रतिनिधि मेटरनिक और प्रशिया का शाह इस कांग्रेस की ख़ास या मुख्य शक्तियाँ थी। और हां, चतुर, तेज़ बुद्धि वाला और लोकप्रिय टैलीरैण्ड भी, जो किसी वक़्त नेपोलियन का मंत्री रह चुका था, और अब फ्रांस के बोर्बन बादशाह का मंत्री था। इन लोगों ने नाच और दावत के बीच मिली हुई फ़ुरसत के समय योरप को फिर नई शकल में ढाल दिया।

बोर्बन लुई अठारहवाँ फिर फ्रांस की गद्दी पर थोप दिया गया। स्पेन में इन्क्विजिशन की प्रथा फिर से जारी कर दी गई। वियेना की कांग्रेस में इकट्ठे हुए बादशाह प्रजातन्त्र को पसन्द नही करते थे, इसलिए उन्होने हालैण्ड में प्रजातन्त्र को फिर से कायम नहीं होने दिया। इसके बजाय उन्होने हालैंड और बेलजियम को मिलाकर निदरलैंड नाम का एक राज्य बना दिया। पोलैण्ड की फिर कोई अपनी अलग हस्ती न रही; एशिया, आस्ट्रिया और ख़ासकर रूस उसे हड़प गये। वेनिस और उत्तरी इटली आस्ट्रिया को मिल गये। स्वीज़रलैण्ड और रिवेरा के बीच का एक टुकड़ा फ्रांस का, और एक टुकड़ा इटली का मिलाकर सार्डीनिया की रियासत बना दी गई। मध्य योरप में एक अजीब और स्पष्ट-सी जर्मन संघ-शक्ति क़ायम हुई; लेकिन प्रशिया और आस्ट्रिया दो ख़ास ताक़तें बनी रही। इस तरह वियेना कांग्रेस के अक्लमन्दो ने यह नई व्यवस्था की, प्रजा को उसकी इच्छा के खिलाफ ज़बर्दस्ती इधर-उधर बाँट दिया, उसे उस भाषा को बोलने के लिए मजबूर किया, जो उसकी अपनी न थी, और इस तरह आगे आनेवाली मुसीबतों और लड़ाई के बीज बोये गये।

सन् १८१४–१५ की वियेना की कांग्रेस का खास मतलब था बादशाहो का अपनी स्थिति को एकदम सुरक्षित बनाना। फ्रांस की राज्यक्रान्ति से उन्हे अपनी जान का ख़तरा हो गया था, और इसलिए अब मौका पाकर वे यह बेहूदा खयाल बना बैठे कि हम इन नये क्रान्तिकारी विचारों का फैलना रोक सकेंगे। रूस के ज़ार, आस्ट्रिया के सम्राट और प्रशिया के शाह ने तो अपनी और दूसरे राजाओ की रक्षा के लिए 'पवित्र मित्र-मंडल' नाम का एक गुट्ट तक बना लिया था। बिलकुल ऐसा मालूम होने लगा कि मानों हम फिर चौदहवें और पन्द्रहवे लुई के जमाने में पहुँच गये हैं। सारे योरप में, यहाँ तक कि इंग्लैण्ड तक में, उदार विचारों को कुचला जाने लगा। योरप के उन्नत विचारों के लोगों को यह देख कर कितनी मायूसी हुई होगी कि फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय की लोगों की तपस्या और उनका घोर कष्ट-सहन किस प्रकार फिज़ूल गया !

योरप के पूर्व में टर्की बहुत कमजोर हो गया था। वह धीरे-धीरे पतन की ओर जारहा था। वैसे कहने को तो मिस्र तुर्की साम्राज्य में था, लेकिन असल में वह

था अर्द्ध-स्वतंत्र। सन् १८२१ ई० में यूनान ने तुर्की शासन के ख़िलाफ़ बग़ावत की और आठ वर्ष तक लडने के बाद इंग्लैंड, फ़्रांस और रूस की मदद से अपनी आजादी हासिल करली। इसी युद्ध में अंग्रेज कवि बायरन यूनान की तरफ से एक स्वयं-सेवक की तरह युद्ध करता हुआ मारा गया था। उसने यूनान के बारे में कुछ बहुत ही सुन्दर कवितायें लिखी है, और शायद उनमें से कुछ तुम जानती भी हो।

यहाँ मैं दो राजनैतिक परिवर्त्तनो का ज़िक्र कर दूं, जो १८३० में योरप में हुए। बोर्बन बादशाहो के दमन और अत्याचारो से तंग आकर फ़्रांस ने उन्हे फिर गद्दी से निकाल बाहर किया। लेकिन प्रजातन्त्र की स्थापना के बजाय एक दूसरा राजा बिठा दिया गया। यह था लूई फिलिप, जिसका बरताव कुछ अच्छा था, और वह किसी हद तक एक वैध शासक (Constitutional King) की तरह रहा। वह सन् १८४८ तक किसी तरह राज्य करता रहा। उसी समय एक दूसरा और पहले से भी गम्भीर विस्फोट होगया। बेलजियम में भी सन् १८३० में विद्रोह हुआ। इसका नतीजा यह हुआ कि बेलजियम और हालैण्ड अलग-अलग हो गये। योरप की खास-खास ताकते प्रजातन्त्र प्रणाली की जबर्दस्त विरोधी थी। इसलिए उन्होने एक जर्मन राजकुमार को बेल-जियम की नजर किया और उसे वहाँ का राजा बना दिया। एक और दूसरा जर्मन राजकुमार यूनान का बादशाह बना दिया गया। मालूम होता है कि जर्मनी की ढेर सारी रियासतो में ऐसे राजकुमारों की बहुतायत रहती थी, जो किसी गद्दी के खाली होते ही उसे सुशोभित (!) करने के लिए मिल जाते थे! तुम्हे याद होगा कि इंग्लैण्ड का मौजूदा राजवंश जर्मनी की ही एक छोटी सी रियासत हनोवर से आया हुआ है।

सन् १८३० का वर्ष योरप के और दूसरी कई जगहों, जर्मनी और इटली और खासकर पोलैण्ड के लिए बगावतो का वर्ष था। लेकिन राजाओं ने इन बग़ावतों को दबा दिया। पोलैण्ड में रूसियो ने बडी बेरहमी से दमन किया, यहाँ तक कि पोलिश भाषा का इस्तैमाल करना तक रोक दिया। १८३० का यह साल, एक तरह से, सन् १८४८ का पूर्वाभास यानी आगे आनेवाली बातो को पहले से सूचित कर देनेवाला था। जैसाकि आगे चलकर हम देखेंगे कि योरप में यह राज्यक्रान्ति का वर्ष था।

इतना तो हुआ योरप के बारे में। अटलांटिक महासागर के उस पार संयुक्त राज्य अमेरिका धीरे-धीरे योरप की तरफ फैल रहा था। यहाँ यूरोपियन स्पर्द्धाओ और युद्धों से दूर रहने और अजाद होने के कारण, वह बडी तेजी से तरक्की करता हुआ योरप की प्रति-द्वन्दिता में आरहा था। लेकिन उधर दक्षिण अमेरिका में बडी तब्दीलियाँ होगई। इनका अप्रत्यक्ष कारण था नेपोलियन। जब नेपोलियन ने स्पेन को

जीता और अपने एक भाई को वहां के तख्त पर बिठाया, तो दक्षिण अमेरिका के स्पेनिश उपनिवेशो ने बग़ावत कर दी। इस तरह पुराने स्पेनिश राजवंश के प्रति अमेरिका के इन स्पेनिश उपनिवेशों की यह आश्चर्यजनक राजभक्ति ही थी, जिसके सहारे वे अपनी आजादी हासिल कर सके। लेकिन यह उस समय का एक कारण-मात्र होगया। चाहे कुछ देर बाद ही सही, लेकिन उपनिवेशो का स्पेन से सम्बन्ध-विच्छेद होता जरूर; क्योंकि दक्षिण अमेरिका में सब जगह स्वतन्त्रतावादी दल बढ़ रहा था। दक्षिण अमेरिका की स्वाधीनता का मशहूर नेता था साइमन बोलिवर जो 'देशोद्धारक' के नाम से मशहूर है। दक्षिण अमेरिका के बोलिविया प्रजातन्त्र का नाम भी उसीके नाम पर रखा गया है। इस तरह जब नेपोलियन का पतन हुआ तब स्पेनिश अमेरिका स्पेन से जुदा होकर अपनी आजादी के लिए लड़ रहा था। नेपोलियन के बिदा हो जाने से लड़ाई में कोई फर्क नहीं हुआ और दक्षिण अमेरिका वाले स्पेन के नये शासन के ख़िलाफ़ कई वर्षों तक लड़ते रहे। योरप के कुछ बादशाह अमेरिकन उपनिवेशों के क्रान्तिकारियो के दमन में अपने मित्र स्पेन के बादशाह की मदद करना चाहते थे। लेकिन संयुक्त राज्य ने इस तरह के हस्तक्षेप को बिलकुल रोक दिया। उस वक्त मनरो संयुक्त राज्य के प्रेसीडेण्ट थे। उन्होने यूरोपियन ताकतो को साफ साफ़ कह दिया कि अगर उन्होने उत्तर या दक्षिण, अमेरिका में किसी भी जगह दख़ल दिया तो उन्हे संयुक्त राज्य से लोहा लेना पडेगा। इस धमकी ने यूरोपियन ताकतों को डरा दिया और तब से वे दक्षिण अमेरिका से थोडे या बहुत अलग ही रही हैं। योरप को दी गई मनरो की यह धमकी 'मनरो सिद्धान्त' (Monro's Doctrine) के नाम से मशहूर है। इसने दक्षिण अमेरिका के नये प्रजातंत्रों की लालची योरप के पंजों से बहुत अर्से तक रक्षा की और उन्हे अपनी तरक्की का मौका दिया। योरप से तो उनकी अच्छी तरह रक्षा हो गई, लेकिन ख़ुद रक्षक--संयुक्त राज्य--से उनकी हिफ़ाजत करनेवाला कोई न था। आज उन पर संयुक्त राज्य की ही हुकूमत है, और छोटे-छोटे प्रजातंत्रों में से बहुत-से बिलकुल उसीकी मुट्ठी में हैं।

ब्राजील का विशाल देश पुर्तगाल का उपनिवेश था। स्पेन के अमेरिकन उपनिवेश जिस समय आजाद हुए क़रीब-करीब उसी समय यह भी स्वतन्त्र हो गया। इस तरह हम देखते हैं कि सन् १८३० के करीब सारा दक्षिण अमेरिका योरप के पंजे से मुक्त होगया। उत्तरी अमेरिका में अलबत्ता अंग्रेजों का कनाडा का उपनिवेश बदस्तूर था।

अब हम एशिया की तरफ आते हैं। इस समय अंग्रेज हिन्दुस्तान में निःसन्देह सबसे जबरदस्त ताक़त बन गये थे। जिस समय योरप में नेपोलियन के युद्धों का

घमासान चल रहा था, अंग्रेज़ो ने इधर अपनी स्थिति को ठोस बना लिया, यहाँ तक कि जावा पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। मैसूर का टीपू सुलतान हार गया था, और सन् १८१९ में मराठो की शक्ति भी बिलकुल उखाड़ फेंकी गई थी। हाँ, पंजाब में रणजीत-सिंह की अधीनता में एक सिख रियासत थी। सारे हिन्दुस्तान में अंग्रेज धीरे-धीरे घुस और फैल रहे थे। पूर्व में आसाम हड़प लिया गया था, और अराकान—बरमा—भी अगला निवाला बनने ही वाला था।

जबकि इधर हिंदुस्तान में अंग्रेज़ बढ़ रहे थे, उधर मध्य एशिया में एक दूसरी यूरोपीय ताकत, रूस, आगे बढ़ रही थी, और पूर्व में प्रशान्त महासागर और चीन तक तो वह पहुँच ही चुकी थी। अब यह मध्य एशिया की छोटी-छोटी रियासतो में चक्कर काटती हुई अफगानिस्तान की सीमा तक पहुँच गई थी। हिन्दुस्तान के अंग्रेज, इस रूसी दैत्य को अपने पास पहुँचते देख, इतने डर गये कि अपनी घबराहट में, बिना किसी बहाने के ही, अफ़ग़ानिस्तान से लड़ाई छेड़ बैठे। लेकिन इसमें उनको बुरी तरह मुंह की खानी पडी।

चीन पर मञ्चू लोगों का क़ब्ज़ा था। व्यापार और धर्म-प्रचार के नाम से आनेवाले विदेशियो की नीयत पर सन्देह करने के काफी कारण होने की वजह से वे लोग इनके प्रवेश को रोकने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन विदेशी लोग चीन के दरवाज़े पर हो-हुल्लड़ मचाते ही रहे, और ख़ासकर अफ़ीम के व्यापार को बढ़ावा देते रहे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को ब्रिटिश चीन के व्यापार पर एकाधिकार मिला हुआ था। चीन सम्राट ने चीन में अफीम का आना रोक दिया, लेकिन चोरी-छिपे उसका आना जारी रहा और विदेशी लोग इस तरह उसका ग़ैरक़ानूनी व्यापार करते रहे। इसका नतीजा यह हुआ कि इंग्लैण्ड से लड़ाई छिड़ गई, जिसे 'अफ़ीम का युद्ध' कहा जाता है, और अख़ीर में अंग्रेज़ों ने चीन के लोगों को अफीम ख़रीदने के लिए मजबूर कर दिया।

बहुत दिन हुए, मैंने तुम्हे सन् १६३४ में जापान को बाहर वालो के सम्पर्क से अपने को अलग रखने का हाल सुनाया था। उन्नीसवीं सदी के शुरू तक में भी इस देश का दरवाज़ा विदेशियों के लिए बन्द था। लेकिन इसकी चहारदीवारी के अन्दर पुरानी शोगनशाही कमज़ोर हो रही थी और नई परिस्थितियाँ पैदा हो रही थीं, जिनके कारण पुरानी प्रथा का एकाएक ख़ातमा होने वाला था। दक्षिण-पूर्व एशिया के सुदूर दक्षिण में यूरोपीय शक्तियाँ मुल्कों को हड़प करती जा रही थीं। फिलीपाइन द्वीप-समूह पर अभीतक स्पेनवालों का कब्ज़ा बना हुआ था। पुर्त्तगाल वालो को अंग्रेज़ो और डचों ने खदेड़कर उसपर अपना कब्ज़ा कर रक्खा था। वियेना की

कांग्रेस के बाद डचों को जावा और दूसरे टापू वापस मिल गये। अंग्रेज सिंगापुर और मलाया प्रायद्वीप तक फैलते जा रहे थे। अनाम, स्याम और बरमा अभी तक आज़ाद थे, हालांकि वे मौके-मौके पर चीन को एक तरह का ख़िराज अदा करते थे। मोटे तौर से वाटरलू-युद्ध से १८३० तक के पन्द्रह वर्षों के बीच दुनिया की राजनैतिक अवस्था इस तरह की थी। योरप निश्चित रूप से दुनिया के मालिक के रूप में प्रकट हो रहा था, ख़ुद योरप में प्रतिक्रिया विजयी हो रही थी। शहंशाह और बादशाह लोगों, यहाँ तक कि इंग्लैंड की दकियानूसी पार्लमेण्ट तक, का यह ख़याल हो गया था कि उन्होंनें उदार विचारों को बिलकुल कुचल दिया है। उन्होंने इन विचारों को डिब्बे में बन्द कर रखने की कोशिश की। लेकिन वे नाकामयाब रहे, और वहाँ रह-रह कर विद्रोह होने लगे।

राजनैतिक परिवर्तनों ने इस सारे परदे पर कब्ज़ा-सा करलिया था। लेकिन फिर भी इनसे कहीं बढ़कर परिवर्त्तन हुए दौलत को पैदा करने और उसके बँटवारे और सफ़र के तरीकों में जिनकी शुरूआत इंग्लैंड की औद्योगिक क्रान्ति के साथ हुई। शान्त लेकिन बिना किसी रोक-टोक के यह क्रान्ति योरप और उत्तरी अमेरिका में फैल रही थी और करोडों मनुष्यों के विचारों और आदतों और जुदी-जुदी श्रेणियों के आपस के सम्बन्धों में परिवर्त्तन कर रही थी। मशीनों की खटाखट में से नये-नये विचार पैदा होते जा रहे थे और एक नई दुनिया तैयार हो रही थी। योरप ज्यादा-से-ज्यादा काबिल, मुस्तैद और क़ातिल—ज्यादा-से-ज्यादा लोभी, साम्राज्यवादी और हृदयहीन बनता जा रहा था। नेपोलियन की स्पिरिट इसमें दख़ल कर गई मालूम होती थी। लेकिन ख़ुद योरप में ही ऐसे विचार पैदा हो रहे थे, जिनका भविष्य में साम्राज्यवाद से टक्कर लेना और उसे उखाड़ फेंकना निश्चित था।

अवश्य ही इस युग का अपना साहित्य, काव्य और संगीत भी है जिसपर लिखने को जी ललचाता है। लेकिन मैं अपनी कलम को अब ज्यादा दौड़ने न दूंगा। आज के लिए इसनें काफ़ी काम कर लिया है।

: १०७ :

महायुद्ध से पहले के सौ वर्ष

२२ नवम्बर, १९३२

१८१४ में नेपोलियन का पतन हुआ, अगले वर्ष वह एल्बा से लौटा और फिर उसकी हार हुई; लेकिन उसका सारा ढर्रा १८१४ में ही ढह गया। इसके ठीक सौ

वर्ष बाद, १९१४ में महायुद्ध शुरू हुआ जो करीब-करीब सारी दुनिया मे फैल गया और चार वर्षों के जमाने में इसने भयंकर नुकसान और महान् कष्ट पहुँचाया। सौ वर्ष के इस युग का हम कुछ विस्तार के साथ विचार करेंगे। इस युग के शुरू होते ही दुनिया की जैसी हालत थी, उसकी सरसरी चर्चा मैं तुमसे अपने पिछले पत्र में कर ही चुका हूँ। मैं समझता हूँ, अपने लिए यह मुनासिब होगा कि मुख्तलिफ़ देशों में इस सदी के अलग-अलग हिस्सो की जाँच करने से पहले सारी सदी पर एक सरसरी निगाह डाल ली जाय। इस तरह शायद हमें इन सौ वर्षों की खास हलचलों का ज्यादा अच्छा ज्ञान हो जाय, और इस तरह हम पेड़ और पत्तियाँ सब देख सकें।

जैसा कि तुम देखोगी ही १८१४ से १९१४ तक के ये सौ वर्ष ज्यादातर उन्नीसवीं सदी में पड़े हैं इसलिए हम इन वर्षों को उन्नीसवीं सदी का नाम दे सकते हैं, गोकि यह बिलकुल सही तो न होगा।

उन्नीसवीं सदी एक बड़ा ही लुभावना युग है। लेकिन हमारे लिए उसका अध्ययन भी कोई आसान काम नहीं है। यह एक विशाल दृश्य है, एक महान चित्र है, और चूंकि हम उसके इतने नजदीक हैं, इसलिए यह हमें इससे पहले की सदियो की बनिस्बत ज्यादा बडी और ज्यादा घनी मालूम होती है। जब हम इस सदी को गूँथने वाले उन हजारों धागों को सुलझाने की कोशिश में लगते है, तो इसकी यह विशालता और पेचीदगी कभी-कभी तो हमें घबड़ा देती है।

यह सदी मशीनो की आश्चर्यभरी तरक्की की सदी थी। औद्योगिक क्रान्ति अपने साथ-ही-साथ मशीनो की क्रान्ति लाई, और मशीनें मनुष्य के जीवन में ज्यादा-से-ज्यादा जरूरी हो गईं। जो कुछ मनुष्य पहले कर चुका था, उसका ज्यादातर इन मशीनो ने कर दिखाया, घिस-घिस की मेहनत से आदमियों को आराम मिला, प्राकृतिक तत्त्वों पर से उसकी निर्भरता कम हुई और मशीनों ने उसके लिए दौलत पैदा की। विज्ञान ने बहुत ज्यादा मदद दी और मुसाफिरी और आमदरफ़्त की रफ़्तार ज्यादा-ज्यादा तेज हुई। रेलगाडी आई और उसने किराया गाड़ियों—इक्के, ताँगों वग़ैरा की जगह ले ली; भाप से चलने वाले जहाजो ने मस्तूलों वाले जहाजों की जगह ले ली; उसके बाद समुद्र में चलने वाले लाइनर नामक जबर्दस्त और शानदार जहाज पैदा हुआ जो एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक तेज रफ़्तार और नियमितता के साथ चलने लगा। इस सदी के अखीर में आटोमोबाइल यानी एंजिन और तेल से चलनेवाली गाड़ियाँ आईं और मोटरकारें तमाम दुनिया में फैल गईं। और सबके बाद निकला हवाई जहाज। इसी समय मनुष्य 'बिजली' नाम की एक नई और

आश्चर्य में डालनेवाली ताक़त पर क़ाबू कर उसका प्रयोग करने लगा और इससे तार और टेलीफोन का जन्म हुआ। इन सब बातों से दुनिया में एक जबरदस्त तब्दीली आगई। और जैसे-जैसे आमद-रफ्त के साधनों में बढ़ती और उन्नति होती गई और लोग ज्यादा-से-ज्यादा तेजी से सफ़र करने लगे वैसे-ही-वैसे ऐसा मालूम होने लगा मानों दुनिया सिकुड़कर बहुत छोटी-सी रह गई है। आज तो हमें इन सबकी आदत पड़ गई है। और इसलिए शायद ही कभी इसके बारे में सोचते हों। लेकिन ये सब सुधार और तब्दीलियाँ हमारे इस जगत् में नई हैं; वे सब पिछले सौ वर्षों में ही आई हैं।

साथ ही यह सदी योरप की बढ़ती की, या यों कहो कि पश्चिमी योरप की, और ख़ासकर इंग्लैण्ड की, बढ़ती की सदी थी। उद्योगो और मशीनों की क्रान्तियाँ वहीं शुरू हुई और उन्नत हुईं, और उन्होंने पश्चिमी योरप को ख़ूब आगे बढ़ाया। समुद्री ताकत और उद्योग-धन्धो में इंग्लैड सबपर हावी था; लेकिन पश्चिमी योरप के दूसरे मुल्कों ने धीरे-धीरे इसे आ पकड़ा। मशीनों की इस नई सभ्यता के सहारे अमेरिका के संयुक्तराज्य भी आगे बढ़ निकले और रेलों ने उन्हें पश्चिम की तरफ प्रशान्त महासागर तक पहुँचा दिया, और इस तरह इस विशाल देश को एक राष्ट्र के रूप में संगठित कर दिया। ये अपनी ही समस्याओं और सीमा-विस्तार में इतने ज्यादा मशगूल थे कि योरप तथा बाकी दुनिया की झंझटो की तरफ़ ज्यादा ध्यान देने की उन्हे फ़ुरसत ही न थी। फिर भी योरप के किसी भी तरह के हस्तक्षेप का विरोध करने और उसे रोकने में वे काफ़ी मजबूत थे। मनरो के सिद्धान्त ने, जिसके बारे में मैं तुम्हे अपने पिछले ख़त में लिख चुका हूँ, दक्षिण अमेरिका के प्रजातन्त्रों की लालची योरप से रक्षा करली। स्पेन और पुर्त्तगाल के लोगों ने इन प्रजातन्त्रो की नींव डाली थी, इसलिए ये लैटिन प्रजातन्त्र कहाते है। ये दोनों देश और इटली और किसी हद तक फ़्रांस लैटिन राष्ट्र कहलाते है। दूसरी तरफ योरप के उत्तरी देश टीटानिक हैं; इंग्लैण्ड टयूटनो की एंग्लो-सेक्सन शाखा है और संयुक्तराज्य अमेरिका के लोग मूलतः इसी एंग्लो-सेक्सन गिरोह से निकले थे। लेकिन बाद में सभी तरह के प्रवासी वहाँ जापहुँचे।

उद्योगों और मशीनों के लिहाज से बाकी दुनिया पिछडी हुई थी और पश्चिम की नई यान्त्रिक सभ्यता की बराबरी करने में असमर्थ थी। पुराने घरेलू-उद्योगों की बनिस्वत योरप के मशीन-उद्योग से माल कहीं ज्यादा तेजी और भारी तादाद में पैदा होने लगा। लेकिन इस माल के तैयार करने के लिए कच्चे माल की जरूरत थी, जो ज्यादातर पश्चिमी योरप में नहीं मिल सकता था। साथ ही जब माल तैयार होता था, तो उसे बेचना भी था, और इसलिए उसकी खपत के लिए मंडी का

होना भी जरूरी था। इसलिए पश्चिमी योरप-वासी ऐसे मुल्कों की तलाश करने लगे, जो उन्हे कच्चा माल दे सकें और उनका तैयार माल लेसकें। एशिया और अफरीका कमजोर मुल्क थे, इसलिए योरप उनपर भूखे भेड़िये की तरह टूट पड़ा। अपनी समुद्री ताकत और उद्योग-धन्धो में आगे बढ़ा हुआ होने के कारण इंग्लैण्ड साम्राज्य-प्राप्ति की दौड़ में सहज ही पहले नम्बर पर आगया।

तुम्हें याद होगा कि गरम मसाले और अपनी जरूरत की दूसरी चीजें ख़रीदने के लिए योरप वाले पहले-पहल हिन्दुस्तान और पूर्व-एशिया में पहुँचे थे। इस तरह पूर्व का सामान योरप में आया और साथ ही पूर्वी करघे से बना हुआ माल भी पश्चिम में पहुँचा। लेकिन बाद में, मशीन के तरक्की कर जाने से बात उल्टी हो गई। अब पश्चिमी योरप का सस्ता माल पूर्व में पहुँचने लगा और अंग्रेजी माल की बिक्री को प्रोत्साहन देने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जान-बूझकर हिन्दुस्तान के घरेलू उद्योग-धन्धों की हत्या कर डाली।

विशाल एशिया पर योरप जमकर बैठ गया। इस महाद्वीप के उत्तर में एक सिरे से दूसरे सिरे तक रूसी साम्राज्य पसर गया। दक्षिण में इंग्लैंड सबसे बडी नियामत—हिन्दुस्तान पर मजबूत पंजा जमाये बैठा था। पश्चिम में तुर्क साम्राज्य तीन-तेरह हुआ जारहा था, और टर्की का हवाला 'योरप का मरीज' कह कर दिया जाता था। नाममात्र के आजाद ईरान पर इंग्लैंड और रूस क़ब्जा किये हुए थे। स्याम के एक छोटे से टुकडे को छोड़कर सारे दक्षिण-पूर्वी एशिया—बरमा, हिन्दी-चीन, मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, फिलिपाइन वग़ैरा—को योरप निगल चुका था। सुदूर पूर्व में योरप की सभी ताकतें चीन को कुतर रही थीं और उससे जबर्दस्ती रिआयतों पर रिआयते ऐंठती जारही थीं। सिर्फ एक जापान तना हुआ डंटा रहा और बराबरी की हैसियत से योरप के मुकाबिले में अड़ा रहा। वह अपने एकान्त वास से बाहर निकल आया था और आश्चर्यजनक तेजी के साथ उसने अपने को नई परिस्थिति के अनुकूल बना लिया।

मिस्र के सिवा बाकी अफरीका बहुत पिछड़ा हुआ था। वह योरप का कुछ भी कारगर मुकाबिला नहीं कर सकता था, इसलिए योरप की ताक़तें साम्राज्य-वाद की अंधी दौड़ में इसपर टूट पड़ीं और इस विशाल महाद्वीप को टुकडे-टुकडे कर डाला। इंग्लैण्ड ने मिस्र पर कब्जा कर लिया, क्योंकि वह हिन्दुस्तान के रास्ते में था, और उसके बाद से हिन्दुस्तान पर अपना कब्जा जमाये रखने की इच्छा ब्रिटिश नीति पर हावी हो गई। १८६९ में स्वेज नहर खोली गई। इससे योरप से हिन्दुस्तान की यात्रा और भी नजदीक हो गई; इस नहर के कारण इंग्लैण्ड के लिए

मिस्र का मूल्य और भी बढ़ गया, क्योंकि नहर के मामले में वह दखल दे ही सकता था और इस तरह उसके जाहिरा हिन्दुस्तान के समुद्री मार्ग पर इंग्लैण्ड का कब्जा जम गया।

इस तरह, यान्त्रिक क्रान्ति के फलस्वरूप सारी दुनिया में पूंजीवादी सभ्यता फैल गई और सब जगह योरप हावी हो गया। इसलिए इस सदी को साम्राज्यवाद की सदी भी कह सकते हैं। लेकिन यह नया साम्राज्यवादी युग रोम और चीन, हिन्दुस्तान और अरब और मंगोलों के पुराने साम्राज्यवाद से बहुत ज्यादा भिन्न था। यह तो नये ढंग का साम्राज्य था, जो कच्चे माल और बाजारों का भूखा था। नया साम्राज्यवाद नये उद्योगवाद का बच्चा था। ऐसा कहा जाता था कि "झण्डे की ओट में व्यापार चलता है" और ज्यादातर बाइबिल अथवा धर्म-प्रचार की ओट में झण्डा आगे बढ़ रहा था। धर्म, विज्ञान, स्वदेश प्रेम, सभी का एक ही मकसद के लिए दुरुपयोग किया जा रहा था, और वह लक्ष्य था दुनिया की दुर्बल और औद्योगिक दृष्टि से और भी पिछडी हुई जातियो का शोषण करना, ताकि बडी-बडी मशीनो के स्वामी और उद्योग-धन्धों के मालिक ज्यादा-से-ज्यादा मालदार हो जायँ। सत्य और प्रेम-प्रचार के नाम पर जाने वाला धर्म-प्रचारक उस देश में साम्राज्यवाद का पेशखीमा होता था, और अगर कहीं उसका बाल भी बांका हो जाता, तो उसके देशवासी इसीको वहाँ की जमीन हड़पने और जबर्दस्ती रिआयतें ऐंठने के लिए बहाना बना लेते थे।

उद्योग और सभ्यता के इस तरह पूंजीवादी ढांचे में ढाले जाने का लाजिमी नतीजे के तौर पर इस साम्राज्यवाद का जन्म हुआ। पूंजीवाद ने ही राष्ट्रीयता की भावना को पैदा किया और गहरा बनाया, और इसलिए इस सदी को तुम राष्ट्रीयता की सदी भी कह सकती हो। इस राष्ट्रीयता का मतलब सिर्फ़ अपने देश का प्रेम नही था, बल्कि दूसरे सब मुल्को से नफरत करना था। अपने ही जमीन के टुकडे—मुल्क की तारीफ के गीत गाने और दूसरों के मुल्को को हिकारत से कुचल डालने की नीति के कारण दूसरे देशो में झगडो और मुसीबतो का बरपा होना लाजमी ही था। योरप के जुदे-जुदे देशों की औद्योगिक और साम्राज्यिक होड़ ने हालत को और भी खराब बना दिया। सन् १८१४-१५ की वियेना की कॉंग्रेस ने योरप का जो नकशा तय किया था, विद्वेष का वह एक और दूसरा कारण था। इस नक्शे के अनुसार कुछ जातियों को दबा दिया गया था और उन्हे जबर्दस्ती दूसरी जातियो की हुकूमत के नीचे रख दिया गया था। पोलैण्ड की एक राष्ट्रीयता गायब हो गई थी। आस्ट्रिया-हंगरी ठोक-पीटकर बनाया हुआ एक साम्राज्य था, जिसमें सब तरह की जातियाँ भरी हुई थी, और जो एक दूसरे से दिली नफ़रत रखती थी। दक्षिण-पूर्व योरप के तुर्क-

साम्राज्य के वालकन प्रदेशों में वहुत-सी गैर-तुर्क जातियाँ भरी हुई थीं। इटली टुकडे-टुकडे होकर बहुत सी रियासतो में बंटा हुआ था, और उसका एक समूचा हिस्सा आस्ट्रिया के अधीन था। योरप के इस नक़्शे को वदल डालने के लिए युद्धो और क्रान्ति के ज़रिये बार-बार कोशिशें की गईं। इनमें से कुछ का जिक्र मैंने अपने पिछले पत्र में किया है, जो वियेना के फैसले के फौरन ही वाद हुए थे। इस सदी के पिछले हिस्से में इटली ने अपने उत्तरी प्रदेशों से आस्ट्रिया की और मध्य भाग से पोप की सत्ता उखाड़ फैंकी और एक संगठित राष्ट्र बन गया। इसके थोडे ही दिनों बाद प्रशिया की अध्यक्षता में जर्मनी का एकीकरण हुआ। फ्रांस को जर्मनी ने हराया और अपमानित किया और उसकी सरहद के दो प्रान्त आलसस और लारेन छीन लिये, और उसी दिन से फ़्रांस प्रतिहिंसा और बदले के सपनें देखने लगा। पचास वर्ष के भीतर ही भीतर खूंखार बदला लिया जाने वाला था।

अपने महान् नेतृत्त्व के साथ इंग्लैंण्ड यूरोपीय देशों में सबसे अधिक भाग्यशाली था। सारी नियामते उसे हासिल थीं, और उस समय जैसी भी स्थिति थी, उसीसे काफी संतुष्ट था। हिन्दुस्तान नये ढंग के साम्राज्य का नमूना और ऐसा वैभवशाली देश था कि जिसके आर्थिक शोषण के परिणाम-स्वरूप सोने की एक नदी लगातार इंग्लैंड को बहती रहती थी। हिन्दुस्तान पर इंग्लैंड की इस हुकूमत को दूसरे सब भावी साम्राज्य-बनानेवाले ईर्षा की दृष्टि से देखते थे। हिन्दुस्तान के ढग पर वे दूसरी जगहों में साम्रज्य कायम करने की तलाश करने लगे। फ्रांस वालों को किसी हद तक कामयावी मिली; जर्मनी ज़रा देर से मैदान में आया, जबकि इनके लिए करीब-करीब कुछ भी नहीं बचा था। इस तरह दुनिया भर में इन यूरोपीय महाशक्तियो के बीच राजनैतिक खींचतान शुरू हो गई। हरेक ताकत ज्यादा-से-ज्यादा मुल्को को हड़प जाने की कोशिश में थी, और इसी उधेड़-बुन में लगी हुई एक ताकत दूसरी ताकत के मुकाविले में आडटती थी। खा़सतौर पर इंग्लैंड और रूस के बीच तो बराबर तना-तनी बनी रहती थी, क्योंकि इंग्लैंड को हिन्दुस्तान पर की अपनी सत्ता के खिलाफ मध्य एशिया की ओर से रूस का ख़तरा लगा रहता था। इसलिए इँग्लैंड हमेशा रूस को मात देने की कोशिश करता रहता था। उन्नीसवीं सदी के मध्यकाल में, जब रूस ने टर्की को हराकर कुस्तुन्तुनिया पर दाँत गड़ाने चाहे तो, इंग्लैंड टर्की की मदद के लिए मैदान में आ उतरा और रूस को पीछे खदेड़ दिया। टर्की से कोई ख़ास मुहब्बत होने के कारण इंग्लैंड ने ऐसा किया हो सो बात नहीं, बल्कि रूस का डर और हिन्दुस्तान से हाथ धो बैठने का अन्देशा ही इसकी असली वजह थी।

जर्मनी, फ़्रांस और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के धीरे-धीरे उसकी बराबरी में आगे

बढ़ आने के कारण इंग्लैंड का औद्योगिक नेतृत्व भी धीरे-धीरे कम होता गया। इस सदी के आखिरी दिनों में परिस्थितियाँ अपनी हदतक पहुँच चुकी थीं। योरप की इन ताक़तों की महत्त्वाकाँक्षाओं की पूर्ति के लिए दुनिया बहुत छोटी थी। हरेक शक्ति को एक दूसरी से डर, घृणा और ईर्षा थी, और इसी डर और घृणा ने उन्हें अपनी फ़ौजो और लड़ाकू जहाज़ों की तादाद बढ़ाने के लिए मजबूर किया। विनाश के इन साधनो के सम्बन्ध में बडी सरगरमी से होड़ शुरू हुई। दूसरे मुल्कों से मुकाबिला करने के लिए, जुदा-जुदा मुल्कों में, एक दूसरे से मित्रतायें होने लगीं, और अख़ीर में योरप में एक दूसरे के विरोधी दो तरह के मित्र राष्ट्र बन गये—एक का मुखिया था फ़्रांस, जिसके साथ इंग्लैंड भी गुप्त रूप से हो गया था, और दूसरे का मुखिया बना जर्मनी। योरप एक फौजी छावनी बन गया था। उद्योग-धन्धों, व्यापार और शस्त्रास्त्रों में ज्यादा-से-ज्यादा भयंकर प्रतिद्वन्द्विता लगातार ज़ोर पकड़ती जा रही थी। हरेक पश्चिमी देश में धीरे-धीरे संकुचित राष्ट्रवादिता की भावना जमाई जा रही थी, ताकि जनता को गुमराह किया जासके और उसमें अपने दूसरे पडौसी देशवासियो के खिलाफ़ नफ़रत पैदा की जासके और इस तरह उसे युद्ध के लिए तैयार रक्खा जा सके।

इस तरह अन्धी राष्ट्रीयता योरप के सिर पर हावी होने लगी। आमद-रफ़्त के साधनो की तरक्क़ी जुदा-जुदा मुल्कों को एक-दूसरे के ज्यादा से ज्यादा नजदीक ले आई थी और लोग भी ज्यादा तादाद में एक मुल्क से दूसरे मुल्क में जाने आने लगे थे। ऐसी हालत में इस तरह की अन्धी राष्ट्रीयता का बढ़ना ताज्जुब की बात मालूम होती है। ख़याल तो यह था कि जैसे-जैसे लोग अपने पडोसियो को ज्यादा ज्यादा पहचानते जायंगे, उनकी गलतफ़हमियाँ कम होती जायँगी और तंग ख़यालो की जगह उनका दृष्टि-कोण व्यापक होता जायगा। किसी हद तक ऐसा हुआ भी, लेकिन इस नये औद्योगिक पूँजीवाद के मातहत समाज का समूचा ढांचा ही ऐसा था कि राष्ट्र-राष्ट्र, वर्ग-वर्ग और व्यक्ति-व्यक्ति में आपस में द्वेष शुरू होगया।

पूर्व में भी राष्ट्र-वादिता बढ़ी। यहाँ इसका स्वरूप हुआ उन विदेशियों का मुकाबिला करना, जो देश पर अधिकार जमाये हुए थे और उसका शोषण कर रहे थे। पहले-पहल पूर्वी देशों की सामन्त संस्थाओं ने विदेशी शासन का मुकाबिला किया, क्योंकि उन्हे अपनी सत्ता के छिन जाने का अन्देशा था। वे नाकामयाब हुईं, जो कि लाजमी ही था। अब एक तरह की धार्मिक भाव में रंगी हुई राष्ट्रवादिता का उदय हुआ। धीरे-धीरे धर्म का यह रंग ग़ायब हो गया और पश्चिमी ढंग की राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। जापान में विदेशी हुकूमत को टाला गया, और एक प्रचण्ड अर्द्ध-सामन्तीय राष्ट्रीयता को उत्तेजन दिया गया।

एशिया ने बहुत पुराने ज़माने से ही यूरोपियन हमलों का मुकाबिला शुरू कर दिया था, लेकिन उसे जब यूरोपियन फौजों के पास के नये हथियारों की ताकत और उपयोगिता का पता चला, तो वह मुकाबिला बेमन का होगया। विज्ञान और मशीनों की तरक्की ने इन यूरोपियन फ़ौजों को पूर्व की उस समय की किसी भी शक्ति से कहीं ज्यादा ताकतवर बना दिया। इसलिए पूर्वी देश उनके सामने अपने को बिलकुल बिना ताकत के महसूस करने लगे और बड़ी निराशा के साथ उन्होंने योरप के सामने अपना सिर झुका दिया। कुछ लोगों का कहना है कि पूर्व अध्यात्मवादी है और पश्चिम भौतिकतावादी। इस प्रकार का कथन निरा एकदम भ्रम में डालनेवाला है। अठारहवीं और उन्नीसवी सदी में, जिस समय योरप आक्रमणकारी के रूप में आया उस समय पूर्व और पश्चिम का वास्तविक अन्तर था पूर्व का मध्यकालीन दकियानूसीपन और पश्चिम की औद्योगिक और यान्त्रिक यानी मशीन की प्रगति। हिन्दुस्तान और दूसरे पूर्वी देश शुरू-शुरू में योरप की न केवल सैनिक कुशलता से ही, बल्कि उसकी वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति से भी चौंधिया गये थे। इस सबके परिणाम-स्वरूप वे अपने आपको फ़ौजी और औद्योगिक मामलो में नीचा महसूस करने लगे। लेकिन यह सब कुछ होते हुए भी राष्ट्रीयता की वृद्धि हुई और साथ ही विदेशी आक्रमण का विरोध करने और विदेशियो को निकाल बाहर करने की इच्छा भी बलवती हुई। बीसवीं सदी के शुरू में ही एक घटना ऐसी घटी जिसका एशिया के दिमाग़ पर बड़ा अच्छा असर पड़ा। यह घटना थी ज़ार के रूस का जापान द्वारा हराया जाना। छोटे से जापान ने योरप की एक सबसे बड़ी और सबसे जबर्दस्त ताक़त को हरा दिया, इस बात ने बहुत लोगों को अचम्भे में डाल दिया; और पूर्व के लिए यह आश्चर्यजनक घटना बेहद खुशी देनेवाली थी। जापान को अब विदेशी हमलो के ख़िलाफ़ लड़ने वाले सारे एशिया के प्रतिनिधि के रूप में देखा जाने लगा, और उस समय के लिए सारे एशिया में लोकप्रिय बनगया। दरअसल जापान एशिया का ऐसा कुछ प्रतिनिधि नहीं था; वह तो योरप की किसी भी दूसरी शक्ति की तरह सिर्फ़ अपने ही स्वार्थ के लिए लड़ा था। फिर भी मुझे अच्छी तरह याद है कि जिस वक़्त जापान की जीत की ख़बर आती थी, तो उससे मुझमें कितना जोश भर जाता था। उस वक्त मै तुम्हारी-सी ही उम्र का था।

इस तरह, जैसे-जैसे योरप का साम्राज्यवाद ज्यादा-ज्यादा आक्रमणकारी होता गया, उसी तरह पूर्व में इसका विरोध और मुकाबिला करने के लिए राष्ट्रीयता बढ़ती गई। पश्चिम में अरब राष्ट्रो से लेकर सुदूर पूर्व में मंगोलियन राष्ट्रों तक, तमाम एशिया में राष्ट्रीय आन्दोलनों ने जन्म लिया। शुरू में फूंक-फूंककर, हलके-हलके कदम

बढ़ाये और फिर अपनी मांगों में ज्यादा-ज्यादा गरम होते गये। हिन्दुस्तान ने राष्ट्रीय महासभा—नेशनल कांग्रेस—की शुरूआत और उसके प्रारम्भिक वर्ष देखे हैं। एशिया का विद्रोह शुरू हो चुका था।

उन्नीसवीं सदी के हमारा बयान को अभी पूरा होने में बहुत देर है। लेकिन यह खत काफ़ी लम्बा होगया है और इसलिए अब इसे समाप्त करना चाहिए।

: १०८ :

उन्नीसवीं सदी की कुछ और बातें

२४ नवम्बर, १९३२

अपनें पिछले खत मे मैंने तुम्हें उन्नीसवीं सदी की कुछ खास बातो का और बडी-बडी मशीनों का आविष्कार होने के बाद पश्चिमी योरप के सिर पर सवार औद्योगिक पूँजीवाद से पैदा हुई बहुत सी बातो का हाल बताया था। इन सब में पश्चिमी योरप आगे क्यो होगया, इसका एक कारण था उसके पास कोयले और कच्चे लोहे की खानों का होना। बडी-बडी मशीनों के बनाने और चलाने के लिए कोयला और लोहा निहायत जरूरी था।

जैसा कि हम देख चुके हैं, इस पूँजीवाद ने साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता को जन्म दिया। वैसे तो राष्ट्रीयता कोई नई चीज नही थी, यह पहले भी मौजूद थी लेकिन अब ज्यादा घनी और सकुचित होती गई। इसने एक ही साथ लोगो को एक सूत्र में बाँधा भी और जुदा-जुदा भी किया; जो लोग एक ही राष्ट्रीय दायरे में रहते थे वे आपस में एक-दूसरे के ज्यादा-ज्यादा नजदीक आगये, लेकिन साथ ही उन लोगो से और भी ज्यादा दूर और अलग होगये, जो दूसरे राष्ट्रीय दायरे में रहते थे। एक तरफ हरेक मुल्क में देशभक्ति की वृद्धि हुई, तो दूसरी तरफ़ उसके साथ ही विदेशियो के प्रति दुर्भाव और अविश्वास भी फैला। योरप में वहाँ के उद्योग-धन्धों में आगे बढ़े हुए देश एक दूसरे को शिकारी जानवरों की तरह घूर रहे थे। इंग्लैण्ड को लूट का माल सब से ज्याद मिल गया था, इसलिए वह स्वभावतः ही उससे चिपटे रहना चाहता था। लेकिन दूसरे मुल्को, खासकर जर्मनी, के ख़याल में इंग्लैण्ड को हर जगह जरूरत से ज्यादा मिला हुआ था। इसलिए कशमकश बढ़ी और अखीर में खुले युद्ध में तब्दील होगई। इसके सिवा और कोई दूसरा रास्ता ही न था। औद्योगिक पूँजीवाद का सारा सगठन और उससे उत्पन्न साम्राज्यवाद दुनिया को सघर्ष और लड़ाई-झगडो की तरफ़ ही ले जाते हैं। जन्म से ही उनमें

ऐसी परस्पर-विरोधी बातें मिली हुई हैं, जिनका आपस में कभी मेल हो नहीं सकता क्योंकि उनका आधार है लड़ाई, होड़ और आर्थिक शोषण। इस तरह पूर्व में खुद साम्राज्यवाद की उपज राष्ट्रीयता ही उसकी कट्टर शत्रु बन गई।

लेकिन इन विरोधी बातो के बावजूद भी पूंजीवादी सभ्यता ने बहुत-से लाभदायक पाठ सिखाये। इसने संगठन का पाठ पढ़ाया, क्योंकि बडी-बडी मशीनों और व्यापक उद्योगो के चालू होने के पहले संगठन की बहुत ज्यादा जरूरत रहती है। इसने बडे-बडे कारबारों में सहयोग का पाठ सिखाया। इसने कार्य-संचालन की कुशलता और समय की पाबन्दी करना सिखाया। जबतक ये गुण न हों, तबतक बडे कारखाने या फैक्टरियाँ अथवा रेलें चलाना मुमकिन नहीं है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि ये गुण पश्चिम के अपने ख़ास गुण हैं और पूर्व में ये नहीं पाये जाते। लेकिन इस बात में और भी बहुत-सी दूसरी बातो की तरह पूर्व और पश्चिम का कोई सवाल नहीं है। उद्योगवाद की वजह से इन गुणों का विकास हुआ है; और क्योंकि पश्चिम उद्योगवादी है, इसलिए उसे ये गुण प्राप्त हैं; जबकि पूर्व अब भी ज्यादातर कृषि-प्रधान है, उद्योग प्रधान नहीं, इसलिए इनसे महरूम है।

औद्योगिक पूंजीवाद ने एक और महान सेवा की। इसने दुनिया को यह सिखाया कि किस तरह बडी-बडी मशीनों, कोयले और भाप की मिली हुई ताकत की की मदद से धन पैदा किया जा सकता है। इससे यह पुरानी आशंका भी मिट गई कि दुनिया में उसकी आवश्यकता की पूर्ति के साधन काफी नहीं हैं और इस कारण बहुत बडी तादाद में लोगो को ग़रीब बना रहना पडेगा। विज्ञान और मशीन की मदद से दुनिया के प्राणियो के लिए काफी खाना और कपड़ा और जीवन के लिए आवश्यक हरेक दूसरी चीज तैयार की जा सकती है। इस तरह चीजें पैदा करने की समस्या कम-से-कम सिद्धान्त रूप में तो, हल हो गई; और बस यहीं आकर ठहर गई। सम्पत्ति का उपार्जन तो बिलाशक कसरत से होने लगा, लेकिन फिर भी ग़रीब गरीब ही रहे, बल्कि और भी ज्यादा ग़रीब होगये। पूर्वी और अफ़रीकन देशों में यूरोपीय सत्ता एकदम नंगी और बडी बेहयाई से आर्थिक शोषण कर रही थी। बिचारे वहाँ के अभागे निवासियों की फिक्र करनेवाला कोई न था। लेकिन इतने पर भी पश्चिमी योरप में भी ग़रीबी बनी ही रही और ज्यादा-ज्यादा प्रत्यक्ष और व्यापक होती गई। कुछ समय के लिए तो बाकी दुनिया के शोषण से पश्चिमी योरप में खूब दौलत आई। इस सम्पत्ति का अधिकांश उच्चवर्ग के धनिक लोगो के पास रहा; हां, उसका थोड़ा-सा हिस्सा निचुड़कर निम्न-ग़रीब वर्गों के पास भी पहुँच गया, और उनके रहन-सहन का ढंग कुछ ऊंचा होगया। वहाँ की आबादी भी बहुत ज्यादा बढ़ गई।

लेकिन सम्पत्ति की वृद्धि और रहन-सहन के ढंग की उन्नति हुई ज्यादातर एशिया, अफ़रीका और बिना उद्योग-धन्धों वाले देशों के रहनेवालों के रक्त-शोषण के बल पर ही। इस आर्थिक शोषण और सम्पत्ति के प्रवाह ने कुछ अर्से के लिए पूंजीवादी प्रणाली की परस्पर-विरोधी बातों को ढक दिया। इस तरह अमीर और ग़रीब के बीच का अन्तर बना ही रहा; इतना ही नहीं, यह अन्तर और ज्यादा बढ़ता गया। ये दोनों दो भिन्न जातियाँ, जुदा राष्ट्र बन गये। उन्नीसवीं सदी के एक महान अंग्रेज राजनीतिज्ञ और उपन्यासकार बेञ्जामिन डिसरैली ने इनका वर्णन इस तरह किया है—"ये दो जातियाँ, जिनके बीच कोई सम्पर्क नहीं है, कोई पारस्परिक सहानुभूति नही है, जो एक-दूसरे की आदतो, विचारों और भावनाओं से ऐसी अपरिचित है, मानों वे जुदा-जुदा दायरों में रहती हो अथवा जुदा-जुदा गृहों या नक्षत्रों के रहनेवाले हों; जो दूसरे तरह के पोषण से बनी है, जिनका पालन दूसरे तरह के भोजन से हुआ है, जिन पर जुदा-जुदा रिवाजों का असर पड़ता है, और जिनका शासन भी एक ही क़ानून से नहीं होता···············हां, ऐसी है ये दो जातियाँ—अमीर और ग़रीब !"

उद्योग-धन्धों की नई अवस्था बडी-बडी फैक्टरियों में बडी तादाद में कारीगरों को लाई, और इस तरह एक नई फैक्टरी के मजदूरों की श्रेणी का जन्म हुआ। ये लोग किसानो और खेत पर काम करनेवाले मजदूरों से कई तरह से जुदी तरह के थे। किसान को बहुत कुछ मौसम और वर्षा पर निर्भर रहना पड़ता है। ये बातें उसके वश में नही है, और इसलिए वह सोचने लगता है कि उसकी मुसीबत और ग़रीबी दैवी कारणों की वजह से है। वह अन्धविश्वासी हो जाता है, आर्थिक कारणो को भुला देता है, एक नीरस और मायूस जीवन बिताने लगता है, और अपने आपको एक ऐसे बेरहम भाग्य के भरोसे पर छोड़ देता है, जिसे वह बदल नहीं सकता। लेकिन फैक्टरी में काम करनेवाला मजदूर मशीन पर, इन्सान की बनाई हुई चीज पर, काम करता है; बिना किसी मौसम या बारिश की परवाह किये वह माल तैयार करता है; वह सम्पत्ति का उपार्जन करता है, लेकिन वह देखता है कि वह ज्यादातर दूसरो के पास चली जाती है और वह ग़रीब-का-गरीब ही बना रहता है। वह कुछ हदतक अर्थशास्त्र के चालू नियमों को भी देखता-समझता है, इसलिए दैवी कारणो का ख़याल नहीं करता और किसान की तरह अन्ध या मिथ्या विश्वासी नहीं होता। अपनी ग़रीबी के लिए वह देवी-देवताओ को दोष नही देता; वह दोषी ठहराता है समाज या सामाजिक संगठन को, और ख़ासकर फ़ैक्टरी के पूंजीपति मालिक को, जो उसकी मेहनत के मुनाफे का इतना बड़ा भाग हजम कर जाता है। उसे वर्ग-चेतना या श्रेणी-ज्ञान हो जाता है; उसे कई तरह के वर्ग दिखाई

देनें लगे हैं, और वह देखता है कि उच्च वर्ग उसके वर्ग का एक तरह से शिकार कर रहा है। इसका नतीजा होता है असन्तोष और विद्रोह। असन्तोष की शुरूआत अस्पष्ट और धीमी होती है; प्रारम्भिक विद्रोह अन्धे, विचार-हीन और कमज़ोर होते हैं और सरकार उन्हे तुरन्त ही कुचल देती है, क्योकि वह भी तो सर्वथा फैक्टरियों और कारखानो को चलानेवाले मध्यमवर्ग के हितो की ही नुमाइन्दा है। लेकिन पेट की आग को ज्यादा दिनों तक दावकर रक्खा नहीं जा सकता, और जल्द ही ग़रीब मज़दूर को अपने अन्य साथियो के साथ की एकता के रूप में शक्ति का एक नया स्रोत दिखाई देनें लगता है। इसलिए मज़दूरों की रक्षा और उनके अधिकारों के लिए ट्रेड यूनियन या 'मज़दूर संघ' आदि संस्थायें जन्म लेती है। शुरू में ये संस्थायें गुप्त रहती है, क्योकि सरकार मज़दूरो को आपस में संगठित भी नहीं होने देना चाहती। यह बात ज्यादा-ज्यादा साफ़ होती जाती है कि सरकार निश्चित रूप से वर्ग विशेष की सरकार है, और इस तरह से उसकी हिफाज़त करने पर तुली रही है। कानून भी वर्ग-विशेष के कानून होते हैं। धीरे-धीरे मज़दूर ताकत हासिल करते जाते हैं और उनकी संस्थायें—ट्रेड यूनियनें—ताक़तवर बनती जाती है। जुदा-जुदा किस्म के मज़दूर देखते है कि ज़बर्दस्त शोषक वर्ग के ख़िलाफ़ उनके हित असल में एक ही हैं। इसलिए जुदी-जुदी ट्रेड-यूनियनें आपस में सहयोग कर लेती हैं और एक देश के फैक्टरी-मज़दूरों का एक संगठित समुदाय बन जाता है। इससे अगला क़दम है जुदे-जुदे मज़दूरों का आपस में मिल जाना, क्योकि वे भी यह महसूस करते हैं कि उनके भी हित एक ही हैं और एक-समान ही शत्रु हैं। इस तरह 'दुनिया के मज़दूरो एक हो जाओ' की आवाज़ उठती है, और मज़दूरो के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कायम होते हैं। इस बीच पूंजीवादी उद्योग भी आगे बढ़ता है और अन्तर्राष्ट्रीय शक्ल इख़्तियार करता है। इस तरह जहां कहीं भी औद्योगिक पूंजीवाद सिर उठाता है, वहीं मज़दूर पूंजीवाद का मुकाबिला करने लगता है।

मैं बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ गया हूँ और अब पीछे लौटना चाहिए। लेकिन यह उन्नीसवीं सदी की दुनिया, अक्सर एक-दूसरे की विरोधी बहुत-सी ऐसी प्रवृत्तियों का गिरोह है कि उन सब को नज़र में रखना बहुत मुश्किल है। मैं सोचता हूँ कि पूंजीवाद और साम्राज्यवाद, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता और अमीरी और ग़रीबी की इस अजीब मिलावट का आखिर तुम क्या करोगी? लेकिन जीवन खुद एक अजीब मेल है। जिस रूप में है, उसी में हमें इसे लेना होता है और तब इसे समझना होता है, और तब इसे सुधारना होता है।

इस बेमेल बातो के घालमेल ने योरप और अमेरिका के बहुत से लोगो को सोच

में डाल दिया। नेंपोलियन के पतन के बाद, सदी की शुरूआत में, किसी भी यूरोपियन देश में आज़ादी नाममात्र को ही रह गई थी। कुछ देशो में तो बादशाहो का निरंकुश शासन था, और इंग्लैण्ड जैसे कुछ देशों में अमीर-उमरावो और धनिक वर्ग के एक छोटे-से गिरोह के हाथ में हुकूमत थी जैसा कि मैं तुम्हे बता चुका हूँ। उदार भावनावों को हर जगह कुचला जा रहा था लेकिन इतने पर भी अमेरिका और फ्रांस की राज्यक्रान्तियो ने लोगो को प्रजातन्त्र और राजनैतिक स्वतन्त्रता के विचारो का ज्ञान करा दिया था, और उदार विचार के लोग उनकी सराहना करते थे। अवश्य ही, प्रजातन्त्र ही राज्य और जनता की सब तरह की तकलीफ़ो और बुराइयो का एकमात्र इलाज समझा जाने लगा। प्रजातन्त्र का आदर्श यह था कि किसी के कोई विशेषाधिकार न होने चाहिएँ, राज्य हरेक व्यक्ति को राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से समान हैसियत का समझकर एकसा बर्ताव करे। अवश्य ही लोग कई बातो में एक-दूसरे से बहुत भिन्नता रखते है; कुछ लोग दूसरों की बनिस्बत ज्यादा मजबूत होते है; कुछ ज्यादा बुद्धिमान और कुछ ज्यादा निःस्वार्थ होते है। लेकिन प्रजातन्त्र के पक्षपातियों का कहना था कि उनमें चाहे और कुछ भी अन्तर हो, मनुष्यों का राजनैतिक दर्जा एक ही रहना चाहिए, और इसे वह प्रत्येक व्यक्ति—हरेक शख्स को मताधिकार देकर क़ायम करना चाहते थे। ऊँचे विचारो के विचारको और उदार मतवादी लोग प्रजातन्त्र के गुणो में बहुत ज्यादा विश्वास करते थे, और इसलिए उसे स्थापित करने के लिए वे सिर तोड़ कोशिश भी कर रहे थे। अनुदार और प्रतिगामी लोगो ने उनका विरोध किया, फलतः हर जगह ज़बर्दस्त संघर्ष शुरू हो गया। कुछ देशों में क्रान्तियाँ भी हो गईं। मताधिकार बढ़ानें, अर्थात् पार्लमेण्ट के सदस्यो के चुनने का अधिकार कुछ अधिक लोगों को दिये जाने से पहले इंग्लैण्ड में गृहयुद्ध छिड़ने ही वाला था। लेकिन धीरे-धीरे ज्यादातर जगहो पर प्रजातन्त्र की विजय हुई, और इस सदी के खातमे तक पश्चिमी योरप और अमेरिका में अधिकाँश लोगो को कम-से-कम मताधिकार तो मिल ही गया। प्रजातन्त्र उन्नीसवी सदी का एक महान आदर्श रहा है, यहाँतक कि इस सदी को प्रजातन्त्र की सदी भी कहा जा सकता है। अख़ीर में प्रजातन्त्र की विजय हुई, लेकिन जब यह अधिकार मिला तो दूसरी तरफ लोगों का इसपर से विश्वास उठने लगा। ग़रीबी और मुसीबतों और पूँजीवादी प्रणाली की परस्पर-विरोधी बातों अथवा बुराइयों का ख़ातमा करने में उन्होने इसे असफल होते पाया। उन्होंने सोचा कि भूख से पीड़ित मनुष्य को मताधिकार मिलने से क्या फ़ायदा हुआ, और उसे मिली हुई आज़ादी का क्या महत्त्व, अगर उसका मत या सेवायें एक समय के भोजन के मूल्य पर खरीदी जासकें?

इसलिए प्रजातन्त्र बदनाम हो गया, या यों कहना ठीक होगा कि राजनैतिक प्रजातन्त्र का पक्ष कमज़ोर होगया। लेकिन यह बात उन्नीसवीं सदी के दायरे से बाहर की है।

प्रजातन्त्र का सम्बन्ध आज़ादी के राजनैतिक स्वरूप के साथ था। एकतन्त्र अथवा दूसरे निरंकुश शासन के खिलाफ यह एक प्रतिक्रिया मात्र थी। उस समय की औद्योगिक समस्याओं का और गरीबी अथवा वर्ग-संघर्ष को रोकने का इसने कोई खास हल नहीं निकाला। इस आशा से कि व्यक्ति निजी हित की दृष्टि से अपने को हर तरह से सुधारने की कोशिश करेगा और इस तरह समाज उन्नत हो जायगा, इसने हरेक व्यक्ति को अपनी मरज़ी के मुताबिक काम करने की खयाली आज़ादी दी। यह एक तरह से लेसे-फेयर (Laissez-Faire) का सिद्धान्त है, जिसके बारे में, मेरा खयाल है कि अपने किसी पहले पत्र में, मैं तुम्हे लिख चुका हूँ। लेकिन ज़ाती आज़ादी का सिद्धान्त असफल रहा, क्योंकि जिस आदमी को उजरत पर काम करने के लिए मजबूर होना पड़ता हो, उसका आज़ाद रहना नामुमकिन बात है।

औद्योगिक पूंजीवाद में जो बडी भारी दिक्कत सामने आई, वह यह थी कि जो लोग काम करते और इस तरह जाति या समाज की सेवा करते थे, उन्हें बहुत कम मज़दूरी मिलती थी; उन की गाढी मेहनत का फायदा मिलता था उन दूसरे लोगों को जो बिलकुल काम नहीं करते थे। इस तरह से परिश्रम से लाभ का या मेहनत से मेहनताने का सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया गया था। इसका नतीजा एक तरफ तो हुआ मेहनत करने वालो का पतन और गरीबी और दूसरी तरफ एक ऐसे वर्ग का निर्माण, जो उद्योग-धन्धे में किसी तरह का काम किये, या उसकी सम्पत्ति की वृद्धि में किसी तरह भी हाथ बढ़ाये बिना ही, उसपर निर्भर करता, या यों कहो कि उसके टुकडों पर पनपता था। इनमें पहले को किसान समझलो, जो खेत पर काम करता है, और दूसरे को ज़मींदार, जो खुद खेत पर काम किये बिना ही किसानो की मेहनत का फ़ायदा उठाता है। परिश्रम के फल का यह बंटवारा बिलकुल अन्यायपूर्ण था, और इसलिए खास बात यह हुई कि मजदूरो ने, हमेशा कुचले हुए किसानों के स्वभाव के खिलाफ, यह महसूस किया कि ऐसा होना अन्यायपूर्ण है, और इसलिए उन्होंने उसका विरोध किया, और जैसे-जैसे समय आगे बढ़ता गया, उनका यह विरोध ज्यादा-से-ज्यादा अप्रिय रूप धारण करता गया। पश्चिम के सभी औद्योगिक देशो में ये भेदभाव साफ तौर पर नज़र आने लगे और विचारशील और उत्साही लोग इस उलझन को सुलझाने की कोशिश करने लगे। इस तरह वह विचार-धारा पैदा हुई, जिसे साम्यवाद कहा जाता है, और जो पूँजीवाद की ही उपज और साथ ही उसकी शत्रु है, और जो शायद उसको जड़ से उखाड़ करके ही रहेगी। इंगलैण्ड में तो इसने मुनासिब से ज्यादा

नरम रूप धारण किया, लेकिन फ्रांस और जर्मनी में यह ज्यादा क्रान्तिकारी था। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे उसके विस्तार के मुकाबिले में आबादी कम होने की वजह से तरक्की की काफी गुंजाइश थी और इसलिए पूंजीवाद की कृपा से पश्चिमी योरप में अन्याय और क्लेश जिस हद तक बढ़ गये थे, उतने इस देश में एक अर्से तक दिखाई नहीं दिये।

उन्नीसवीं सदी के बीच में जर्मनी में एक शख्स पैदा हुआ जो बाद में साम्य-वाद का पैगम्बर और उसके उस रूप का जनक सिद्ध हुआ जो कम्यूनिज्म या साम्य-वाद कहलाता है। उसका नाम था कार्ल मार्क्स। वह कोई अस्पष्ट विचारों वाला फ़िलाफ़र अथवा तात्विक सिद्धान्तो की चर्चा करने वाला अध्यापक या प्रोफ़ेसर नहीं था। वह एक व्यावहारिक फ़िलासफ़र था और उसकी योजना थी विधान के नियमों के राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं को साबित करके दुनिया की मुसीबतों को दूर करने का उपाय खोज निकालना। उसका कहना था—"अब तक दर्शनशास्त्र का काम दुनिया को समझना मात्र रहा है, अब समाजवादी दर्शन का लक्ष्य होना चाहिए उसका—संसार का परिवर्त्तन।" एञ्जेल्स नाम के एक दूसरे शख्स से मिलकर उसने 'कम्यूनिस्टिक मेनिफ़ेस्टो'—'साम्यवादी घोषणापत्र'—प्रकाशित किया, जिसमें उसके सिद्धान्तों की रूप-रेखा दी गई थी। बाद में उसने जर्मन भाषा में 'पूंजी' (Das Kapital) नाम का एक ग्रंथ लिखा, जिसमें उसने वैज्ञानिक ढंग से विश्व-इतिहस की आलोचना करते हुए यह बताया कि समाज किस दशा में कदम बढ़ा रहा है और क्योंकर इस पद्धति का जल्दी-से-जल्दी खातमा किया जासकता है। यहाँ मै मार्क्स के सिद्धान्त समझाने की कोशिश नहीं करूँगा। लेकिन मैं तुम्हें यह जरूर याद कराना चाहता हूँ कि मार्क्स के इस महाग्रंथ का समाजवाद की उन्नति पर बड़ा जबरदस्त असर हुआ और आज भी यह समाजवादी रूस का धर्म-ग्रंथ हो रहा है।

दूसरी मशहूर किताब, जो इस सदी के बीच के करीब इंग्लैंड में प्रकाशित हुई, थी डॉर्विन की 'प्राणियों की उत्पत्ति' (Origin of Species)। डार्विन प्रकृति-वादी था, यानी वह प्रकृति और खास वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं के निरी-क्षण और अध्ययन में लगा रहता था। बहुत-से उदाहरणों की मदद से उसने यह बतलाया कि किस तरह वनस्पति और जीव-जन्तु प्रकृति में विकसित हुए, प्राकृतिक चुनाव की पद्धति से किस तरह जन्तुओं का एक वर्ग दूसरे में परिणत होगया और किस तरह सामान्य रूप धीरे-धीरे ज्यादा संयुक्त अथवा पेचीदा हो गये। इस तरह का वैज्ञानिक तर्क दुनिया के जीव-जन्तु और मनुष्य की सृष्टि के बारे में प्रचलित कुछ धार्मिक सिद्धान्तों के एकदम खिलाफ़ था। इसलिए इस समय वैज्ञानिकों और इन

धार्मिक सिद्धांतों के पक्षपातियों के बीच एक बड़ा बहस-मुबाहिसा उठ खड़ा हुआ। तथ्यों के सम्बन्ध में असली झगड़ा इतना नहीं था, जितना जीवन के साधारण दृष्टिकोण के सम्बन्ध में था। संकुचित धार्मिक दृष्टिकोण में भय जादू-टोना और मिथ्या विश्वास भरे हुए थे। तर्क अथवा दलील को आगे नहीं बढ़ने दिया जाता था, और लोगों को जो कुछ बताया जाता था, उसीमें विश्वास करने को कहा जाता था। उन्हें यह प्रश्न करने का अधिकार नहीं था कि ऐसा क्यों होता है। बहुत से विषय पवित्रता और धार्मिकता के गुप्त ढक्कन में ढके रहते थे और उन्हे खोलने या छूने का किसी को अधिकार नहीं था। विज्ञान की पद्धति और स्पिरिट इससे बहुत जुदी थी। उसे तो हरेक चीज को खोज निकालने की जिज्ञासा रहती थी, वह अन्दाज़ के सहारे किसी बात को मानने के लिए तैयार नहीं था, न किसी विषय की ख़याली पवित्रता ही उसे डरा सकती थी। वह हरेक चीज की तह तक गोता लगाता था, मिथ्या विश्वासों को दूर भगाता था और सिर्फ ऐसी ही बातो में भरोसा करता था जो अनुभव अथवा तर्क से सिद्ध की जा सकती हों।

इस जड़ अथवा पथराई हुई धार्मिक भावना को विज्ञान की स्पिरिट ने लड़ाई में जीत लिया। ज्यादातर लोग जो इन विषयों पर, अठारहवीं सदी में, बहुत पहले से ही विचार करते रहते थे, अब तर्कवादी हो गये। तुम्हे याद होगा कि बडी क्रांति से पहले फ़्रांस में बहनेवाली दार्शनिक विचार-धारा का मैंने तुमसे ज़िक्र किया था। लेकिन अब समाज के अन्दर परिवर्त्तन और भी गहरी जड़ जमाता गया। औसत दर्जे के शिक्षित मनुष्य पर भी अब विज्ञान की तरक्की का असर होने लगा। सम्भवतः न तो उसने इस विषय पर ही बहुत गहराई से विचार किया होगा, न विज्ञान के विषय में ही वह कुछ बहुत ज्यादा जानता था। लेकिन फिर भी वह अपने सामने होनेवाले आविष्कारो और खोजो की लीला से प्रभावित हुए बिना न रह सका। रेल, बिजली, तार, टेलीफोन, ग्रामोफोन और ऐसी ही बहुत-सी दूसरी चीजें एक-दूसरे के बाद आईं, और ये सब वैज्ञानिक शोध की ही उपज थीं। विज्ञान की विजय के रूप में उनका स्वागत हुआ। विज्ञान का उद्योग केवल मनुष्य की ज्ञानवृद्धि करने में ही नहीं हुआ बल्कि प्रकृति पर मनुष्य की सत्ता बढ़ाने में भी उसका उपयोग होने लगा। इसमें कोई ताज्जुब को बात नहीं कि विज्ञान की विजय हुई और मनुष्य जाति ने इस सर्व-शक्तिमान नये देवता के सामने भक्तिपूर्वक सिर झुका दिया। उन्नीसवीं सदी के वैज्ञानिक बहुत सन्तुष्ट, अपने विषयों में निःशंक और अपनी धारणाओं में बडे पक्के हो गये। आधी सदी हुई, तब से विज्ञान ने बडी जबर्दस्त तरक्की करली है, लेकिन आज के वैज्ञानिक का दृष्टिकोण, उन्नीसवीं सदी के वैज्ञानिक के उस संतोष

और निःशंकता के दृष्टिकोण से बहुत जुदा है। आज एक सच्चा वैज्ञानिक महसूस करता है कि ज्ञान का महासागर विशाल और असीम है और हालाँकि वह इसे पार करने की कोशिश में है, फिर भी वह अपने पूर्वगामियों की अपेक्षा कहीं ज्यादा नम्र और संकोचशील है।

उन्नीसवीं सदी की दूसरी विशेषता थी योरप में सार्वजनिक शिक्षा की जबर-दस्त तरक्क़ी का होना। शासक वर्ग के बहुत-से लोगों ने इसका बडे जोरों से विरोध किया। उनका कहना था कि इससे जन-साधारण असन्तुष्ट, अराजक, अशिष्ट और ईसाई-धर्म से रहित या अधर्मी बन जायँगे। इसका मतलब यह हुआ कि ईसाई धर्म अज्ञान या जहालत में और धनिक और सत्ताधारियों की स्वेच्छा-पूर्वक आज्ञा-पालन या फ़रमाबरदारी करने में है। लेकिन इस विरोध के करते हुए भी प्राइमरी अर्थात् प्रारम्भिक स्कूल कायम हुए और सार्वजनिक शिक्षा का प्रचार हुआ। उन्नीसवीं सदी की दूसरी बहुत-सी विशेषताओं की तरह यह भी नये उद्योगवाद का ही एक परिणाम था। क्योंकि बडे-बडे कारखानों और मशीनों के लिए औद्योगिक कुशलता की जरूरत थी और यह केवल शिक्षा से ही आ सकती थी। इस युग के समाज को सब तरह के होशियार कारीगर और मजदूरों की बडी सख्त जरूरत थी; उसकी यह जरूरत सार्व-जनिक शिक्षा से पूरी हुई।

प्रारम्भिक शिक्षा के इस लम्बे-चौडे फैलाव ने पढ़े-लिखे समुदाय की एक बहुत बडी श्रेणी पैदा करदी। इनको शिक्षित कहना तो मुश्किल था, लेकिन वे पढ़-लिख सकते थे और इस तरह अखबार पढ़ने की आदत चल पडी। सस्ते अखबार निकले और आश्चर्य-भरी तादाद में उनका प्रचार हुआ। लोगों के दिमाग़ों पर इसका बड़ा जबर्दस्त असर पड़ने लगा। अक्सर ये लोगों को गलत रास्ते पर ले जाते और उनके जोश को पडौसी मुल्क के ख़िलाफ़ उभाड़ते रहते थे और इस तरह युद्ध छिड़वा देते थे। लेकिन कुछ भी हो, 'प्रेस' या 'अखबार' एक प्रभावशाली शक्ति हो गई।

जो कुछ मैंने इस पत्र में लिखा है, उसका ज्यादातर हिस्सा योरप पर और खासकर पश्चिमी योरप पर लागू होता है। किसी हद तक उत्तरी अमेरिका पर भी वह घटित होता है। दुनिया के बाकी हिस्से, यानी जापान को छोड़कर तमाम एशिया और अफरीका यूरोपीय नीति के शिकार बनें हुए उसके मूक एजेण्ट मात्र थे। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, उन्नीसवीं सदी योरप की सदी थी। सारा दृश्य योरपमय दिखाई देता था; योरप दुनिया के रंगमञ्च का केन्द्र बना हुआ था। पुराने ज़माने में ऐसे भी लम्बे-लम्बे युग हो चुके हैं, जबकि योरप पर एशिया का प्रभुत्व था। ऐसे भी युग थे, जब मिस्र, इराक़, हिन्दुस्तान, चीन, यूनान अथवा रोम या अरब सभ्यता

और उन्नति के केन्द्र बने हुए थे। किन्तु पुरानी सभ्यतायें अपने आप खतम होगईं और पथरा गई। परिवर्त्तन और उन्नति के जीवनदायक तत्त्वों ने उन्हें छोड़ दिया और जीवन-शक्ति अब दूसरे मुल्को में वह निकली। अब योरप की बारी थी; और योरप इसलिए और भी ज्यादा हावी हो सका, क्योंकि आमद-रफ्त के साधनों की तरक्की ने दुनिया के हरेक हिस्से को सहूलियत और तेजी से पहुँच के नजदीक ला दिया था।

उन्नीसवीं सदी ने यूरोपियन सभ्यता को विकसित होते हुए देखा। इसे मध्यम-वर्गीय सभ्यता कहा जाता है, क्योंकि औद्योगिक पूंजीवाद से पैदा हुई मध्यमश्रेणी का ही इस पर प्रभुत्त्व था। मैं तुम्हे इस सभ्यता की बहुत-सी परस्पर विरोधी और नुकसानदेह बाते बतला चुका हूँ। हम हिन्दुस्तान और एशिया के निवासियो ने खास-तौर पर इन बुराइयो को देखा और उनसे बहुत ज्यादा नुकसान उठाया है। लेकिन कोई भी देश या जाति महानता को प्राप्त नही हो सकती, जबतक कि उसमें महानता का थोड़ा-बहुत माद्दा न हो। पश्चिमी योरप में वह माद्दा था। योरप की प्रतिष्ठा उसकी सैनिक शक्ति पर इतनी निर्भर नही थी, जितनी उन गुणो पर, जिन्होंने कि उसे महान बनाया। यहाँ सब जगह जीवन और चैतन्य और निर्माण शक्ति बहुतायत से साफ दिखाई दे रही थी। बडे-बडे कवि और लेखक, दार्शनिक और विज्ञान-वेत्ता, संगीतज्ञ और शिल्पी और कर्मवीर वहाँ पैदा हुए। और इसमें कोई शक नही कि इस समय पश्चिमी योरप में एक मामूली आदमी का भाग्य पहले किसी भी समय की अपेक्षा कहीं ज्यादा अच्छा था। राजधानियो के खास शहर—लन्दन, पेरिस, बर्लिन, न्यूयार्क, ज्यादा से ज्यादा बडे होते गये; उनकी इमारते ज्यादा-ज्यादा आलीशान होती गई, ऐशोआराम बढ़ते गये और विज्ञान ने मनुष्य की मिहनत और घिस-घिस को कम करने और जीवन के सुख और आनन्द में वृद्धि करने वाले हजारों उपाय ढूंढ निकाले। खुशहाल अथवा समृद्ध लोगो के जीवन में मधुरता और शिष्टता अथवा मिठास और तहजीब आ गई और उनमें एक तरह का सन्तोष, आत्म-विश्वास और सौजन्य पैदा होगया। यह एक सभ्यता की बिलकुल मीठी दुपहरी-सी मालूम होती है।

इस तरह उन्नीसवी सदी के पिछले हिस्सों में योरप खुशनुमा और खुशहाल बन गया था, और कम-से-कम ऊपर से ऐसा मालूम होता था कि यह मधुर सस्कृति और सभ्यता कायम रहेगी और सफलता पर सफलता प्राप्त करती जायगी, लेकिन अगर तुम इसकी सतह के नीचे झांककर देखोगी, तो तुम्हे एक अजीब गोलमाल और बहुत-से नजारे दिखाई देंगे। क्योंकि, असल में यह समृद्ध संस्कृति योरप के ज्यादातर उच्च वर्गों के लिए ही बनी थी और बहुत से देशो और अनेक जातियो के शोषण

पर यह टिकी हुई थी। तुम्हें इसमें वे एक-दूसरे से विरोधी बातें, जिनका जिक्र मैंने तुमसे किया था और राष्ट्रीय घृणा और साम्राज्यवाद की भयानक और क्रूर शक्लें दिखाई देंगी। तब तुम्हारा इस उन्नीसवीं सदी की सभ्यता के स्थायित्व या सौन्दर्य अथवा मोहकता में इतना विश्वास न रहेगा। इसका ऊपरी शरीर तो काफ़ी सुन्दर था लेकिन इसके दिल में एक नासूर हुआ था; इसके स्वास्थ्य और प्रगति की बातें तो बहुत लम्बी-चौड़ी होती थीं, लेकिन इस मध्यमवर्गीय सभ्यता के जीवन-तत्त्वों को पतन का कीड़ा अन्दर-ही-अन्दर कुरेदे जा रहा था।

सन् १९१४ ई० में महानाश आ ही गया। सवा चार वर्ष की लड़ाई के बाद योरप उसमें से बच जरूर निकला, लेकिन ऐसे भयंकर घावों के साथ जो अभी तक भरे या अच्छे नहीं हुए है। लेकिन इस सम्बन्ध में मैं तुम्हें फिर बताऊँगा।

अगर तुम सब्र रक्खो तो हरेक बात खतम हो जायगी। और इसलिए प्यारी इन्दु, नेपोलियन के पतन से महायुद्ध तक के सौ बरसों का यह विस्तृत अवलोकन पूरा होगया है, और उसकी आख़री लाइन लिखी जा रही है। तुम्हे यह जानकर सन्तोष करना चाहिए कि यह वर्णन ज्यादा लम्बा नहीं हुआ। मुझे इसके लिए अपने आप पर भी बहुत क़ाबू रखना पड़ा है!

: १०६ :

हिन्दुस्तान में युद्ध और विद्रोह

२७ नवम्बर, १९३२

हमने उन्नीसवीं सदी का काफ़ी लम्बा हिस्सा देख लिया है। आओ, अब हम दुनिया के कुछ हिस्सों का और बारीकी से निरीक्षण करें। शुरू में हम हिन्दुस्तान को लेते है।

कुछ अर्से पहले मैंने तुम्हें बताया था कि अँग्रेजों ने हिन्दुस्तान में किस तरह अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर विजय पाई। नेपोलियन की लड़ाइयों के दिनों में फ़्रांस वाले यहाँ से जड़ से उखाड़ फेंके गये थे। दक्षिण के मराठों, मैसूर के टीपू सुल्तान और पंजाब के सिक्खों ने अँग्रेजों को कुछ अर्से के लिए आगे बढ़ने से रोक तो रक्खा लेकिन वे ज्यादा अर्से तक उनका मुक़ाबिला नहीं कर सके। अँग्रेज साफ़ तौर पर सब से ज्यादा मजबूत और सब से ज्यादा मुस्तैद ताक़त थे। उनके हथियार बढ़िया थे, उनका संगठन बढ़िया था, और इन सबसे ज्यादा पीठ पर मदद के लिए उनके पास समुद्री ताक़त थी। अगर वे हार भी जाते, जैसा कि अक्सर होता था, तो भी

उन्हे जड़ से नहीं उखाड़ा जा सकता था, क्योंकि समुद्री रास्तों पर उनका अधिकार होने के कारण वे नई मदद मंगा सकते थे। लेकिन स्थानीय अर्थात् देशी ताकतों के लिए हार का मतलब होता था पूरी तबाही, जिसका कोई इलाज नहीं हो सकता था। अंग्रेज सिर्फ ज्यादा मुस्तैद लड़ाके और अच्छी व्यवस्था शक्ति रखने वाले ही न थे, बल्कि अपने स्थानीय यानी हिन्दुस्तानी प्रतिद्वन्द्वियो से कहीं ज्यादा चालाक भी थे, और उनके आपसी विरोधों या झगडों से बराबर फ़ायदा उठाते रहते थे। इस तरह ब्रिटिश शक्ति लाजिमी तौर से पैर फैलाती गई और सब प्रतिद्वन्द्वी, एक-एक करके, और अक्सर उसी दूसरे की मदद से जिसकी बारी उसके बाद ही आने वाली थी, पछाड़ दिये गये। यह एक ताज्जुब की बात है कि हिन्दुस्तान के ये सामन्त सरदार उस समय कैसे नादान और अदूरदर्शी थे। बाहरी दुश्मन के खिलाफ आपस में मिलकर एक हो जाने का उन्होने कभी ख़याल तक नहीं किया। हरेक अकेले हाथों लड़ता था और हार जाता था, जोकि निश्चित ही था।

जैसे-जैसे अंग्रेजी सत्ता की ताकत बढ़ती गई, वह ज्यादा-ज्यादा अत्याचारी औ खूँख्वार होती गई। वह बहाने से, या बिना किसी बहाने के ही, लड़ाई छेड़ने लगी। ऐसी बहुत-सी लड़ाइयाँ हुईं। उन सब का वर्णन देकर मैं तुम्हें उकताना नहीं चाहता। लड़ाइयाँ कोई दिलचस्प विषय नहीं है, और जरूरत से कहीं ज्यादा महत्त्व इनको इतिहास में दिया गया है। लेकिन मेरा चित्र अधूरा ही रह जायगा, अगर मैं उनके विषय में थोड़ा-बहुत भी न कहूँ।

मैसूर के हैदरअली और अंग्रेजो के बीच हुए दो युद्धो का हाल मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ। इनमें हैदरअली बहुत दूर तक कामयाब रहा। उसका लड़का टीपू सुलतान अंग्रेजों का कट्टर दुश्मन था। उसका ख़ातमा करने के लिए दो और लड़ाइयाँ, एक सन् १७९० से १७९२ तक और दुसरी १७९९ में हुई। टीपू लड़ता हुआ मारा गया। मैसूर शहर के पास अब भी तुम उसकी पुरानी राजधानी श्रीरंगपट्टम के खण्डहर देख सकती हो।

अब अंग्रेजों की सत्ता को ललकारने वाले अकेले मराठे रह गये। पश्चिम में पेशवा, इधर ग्वालियर के सिन्धिया और इन्दौर के होल्कर तथा कुछ और सरदार उनका मुकाबिला कर रहे थे। लेकिन ग्वालियर के महादजी सिन्धिया, और पेशवा के मंत्री नाना फड़नवीस इन दो राजनीतिज्ञो की मृत्यु के बाद, जो क्रमशः १७९४ और १८०० में हुई, मराठो की ताकत टुकडे-टुकडे होगई। फिर भी मराठो ने बहुत-सी टक्करें लीं, और १८१९ की उनकी आख़िरी हार के पहले, उन्होंने अंग्रेजो को और कई बार हराया। मराठे सरदार अलग-अलग करके हराये गये; हरेक एक-दूसरे

को मदद न पहुँचाकर उसका पतन देखता रहा। सिन्धिया और होल्कर अंग्रेजों की मातहती कबूल करके अधीन या रक्षित शासक बन गये। बड़ोदा के राजा ने तो इससे भी पहले विदेशी सत्ता के साथ समझौता कर लिया था।

मराठों का बयान खतम करने से पहले मैं एक नाम का और ज़िक्र कर देना चाहता हूँ, जो मध्य भारत में काफ़ी प्रसिद्धि पा चुका है। यह नाम है अहल्याबाई का, जो सन् १७६५ से १७९५ तक यानी तीस वर्ष तक, इन्दौर की शासिका थीं। जिस समय वह गद्दी पर बैठी, वह एक तीस वर्ष की नौजवान विधवा थी, और अपने राज्य के शासन में उसे भारी कामयाबी मिली। और हाँ, उसने कभी परदा नही किया। मराठो ने कभी परदे को माना भी नहीं। वह ख़ुद राज्य का कारोबार देखती थी, खुले दरबार में बैठती थी, और उसने इन्दौर को एक छोटे से गाँव से ऊँचा उठाकर एक समृद्ध शहर बना दिया। उसने लड़ाइयों को टलाया, शान्ति कायम रक्खी, और अपने राज्य को मालदार और खुशहाल बनाया, और वह सब किया उस जमाने में जबकि हिन्दुस्तान का ज्यादातर हिस्सा बगावत की सी हालत में था इसलिए यह कोई ताज्जुब की बात नही है कि आज भी वह मध्य-भारत में एक सन्त या साध्वी की तरह मानी और पूजी जाती हो।

मराठों की आखिरी लड़ाई से कुछ ही पहले, १८१४ से १८१६ तक, अंग्रेजों का नैपाल से एक युद्ध हुआ था। पहाडी इलाक़े में उन्हे बडी दिक्कते उठानी पडीं, लेकिन आखिर में उनकी जीत हुई और देहरादून का यह जिला, जहाँ पर जेल में बैठा हुआ मै यह पत्र लिख रहा हूँ, और कुमायूँ और नैनीताल अंग्रेजी हुकूमत में आगये। तुम्हे शायद याद होगा कि चीन के बारे में ख़त लिखते हुए मैंने तुम्हे बताया था कि किस अजीब तरीक़े से चीनी फौज तिब्बत को पार करके हिमालय तक चली आई और गुरखो को उन्हींके घर नेपाल में हरा गई। यह घटना ब्रिटिश-नेपाल-युद्ध से सिर्फ बाइस बरस पहले की है। तब से नैपाल ने बाकायदा चीन की मातहती कबूल करली। मुझे मालूम नहीं कि वह अब भी वैसा मानता है या नही। यह भी एक अजीब, बहुत ही पिछड़ा हुआ, बाकी दुनिया से बहुत कुछ अलग कटा हुआ और फिर भी खुशनुमा तरीके से बसा हुआ और कुदरती दौलत से भरा-पूरा देश है। कश्मीर और हैदराबाद की तरह यह मातहत या रक्षित राज्य नहीं है। यह स्वतन्त्र राज्य कहलाता है, लेकिन अंग्रेज इस बात की सावधानी रखते है कि इसकी स्वतन्त्रता सीमा के अन्दर ही रहे। वहाँ के बहादुर और जंगी लोग—गुरखे—हिन्दुस्तान की अंग्रेजी फ़ौज में भरती किये जाते है और हिन्दुस्तानियो को कुचलने और दबाये रखने के लिए काम में लाये जाते है।

पूर्व में बरमा ठेठ आसाम तक फैल गया था। इसलिए लगातार बढते रहने वाले अंग्रेजो से उसकी मुठभेड़ होना लाज़िमी ही था। बरमा से तीन लड़ाइयाँ हुईं, जिनमें हरबार अंग्रेज उसका कोई-न-कोई इलाका अपने राज्य में मिलाते गये। सन् १८२४-२६ में हुई पहली लड़ाई का नतीजा हुआ आसाम का अंग्रेजों की अधीनता में आना। १८५२ की दूसरी लड़ाई में दक्षिणी बरमा क़ब्जे में किया गया। उत्तरी बरमा मण्डाले की नजदीकी अपनी राजधानी आवा समेत समुद्र से बिलकुल अलग कर दिया गया और दूर और खुश्की में अंग्रेजों की दया पर छोड़ दिया गया। १८८५ में, जबकि बरमा से तीसरी लड़ाई हुई, इसका भी ख़ातमा होगया और सारे देश पर अंग्रेजो ने अपना कब्ज़ा कर उसे ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। लेकिन सिद्धान्त रूप में बरमा चीन का रक्षित राज्य था और बराबर चीन को ख़िराज भेजता रहता था। यह देखकर ताज्जुब होता है कि बरमा को साम्राज्य में शामिल करते समय अंग्रेज चीन को भेजे जाने वाले इस ख़िराज को जारी रखने के लिए रज़ामन्द होगये। इनसे यह जाहिर होता है कि १८८५ में भी चीनी ताकत का क़ाफी रोब उनपर गालिब था, हलाँकि बेचारा चीन अपनी ही अन्दरूनी मुसीबतो में ऐसा फँसा हुआ था कि वह अपने रक्षित राज्य बरमा पर हमला होते समय उसकी कुछ भी मदद न कर सका। अँग्रेजो ने १८८५ के बाद एक बार तो चीन को यह ख़िराज दिया; फिर बन्द कर दिया।

बरमा की लड़ाइयाँ हमें १८८५ तक ले आई है। मैं इन सबका वर्णन एक साथ करना चाहता था। लेकिन अब हमें दुबारा उत्तरी भारत की तरफ़ और इसी सदी के कुछ शुरू के हिस्से में जाना होगा। पंजाब में रणजीतसिंह के मातहत एक शक्तिशाली सिख राज्य कायम हो गया था। सदी की ठीक शुरुआत में रणजीतसिंह अमृतसर का हाकिम हुआ, और १८२७ के क़रीब तमाम पंजाब और कश्मीर का मालिक बन गया। १८३९ में उसकी मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के फ़ौरन ही बाद सिख रियासतें कमजोर हो गई और टूटने लगीं। सिख लोग "मुसीबत में आदमी ऊँचा उठता है, और सफलता मिल जाने के बाद गिर जाता है" वाली पुरानी कहावत को चरितार्थ करते है। जबकि सिख शिकारी द्वारा पीछा किये जाने वाले अल्पसख्यक दल के रूप में थे, तब पिछले मुगल बादशाहों के लिए उनको दबाना नामुमकिन हो रहा था। लेकिन राजनैतिक सफलता के मिलते ही उनकी सफलता की असली बुनियाद कमजोर पड़ती गई। सिख और अंग्रेजो के बीच दो लड़ाइयाँ हुई, पहली १८४५-४६ में, और दूसरी १८४८-४९ में। दूसरी लड़ाई में चिलियांवाला में अंग्रेजो की ज़बर्दस्त हार हुई। लेकिन आखीर में अंग्रेज पूरीतौर से विजयी हुए और पंजाब अंग्रेजी हुकूमत में

शामिल कर लिया गया। क्योंकि तुम कश्मीरी हो, इसलिए तुम्हें यह जानकर ताज्जुब होगा कि अंग्रेजों ने काश्मीर को गुलाबसिंह नामक जम्मू के एक राजा को पिचहत्तर लाख रुपये में बेच दिया। गुलाबसिंह के लिए यह खासा सौदा था! इस सौदे में बिचारे कश्मीरियों की तो कुछ पूछ थी ही नहीं। कश्मीर अब अंग्रेजों की एक रक्षित रियासत है। वहांके वर्तमान महाराजा इसी गुलाबसिंह के खानदान के हैं।

पंजाब के उत्तर की ओर, बल्कि उत्तर-पश्चिम की ओर, अफ़ग़ानिस्तान था, और अफ़ग़ानिस्तान के नज़दीक ही दूसरी ओर को था रूस। मध्य एशिया में रूसी साम्राज्य के विस्तार ने अंग्रेजो का दिल दहला दिया। उन्हें डर था कि रूस कहीं हिन्दुस्तान पर हमला न कर बैठे। करीब-करीब सारी उन्नीसवीं सदी भर 'रूसी खतरे' की चर्चा रही। १८३९ के करीब हिन्दुस्तान के अंग्रेजो ने अफ़ग़ानिस्तान की ओर से उत्तेजना का रत्तीभर भी कारण मिले बिना ही, उस पर हमला कर दिया। उस जमाने में अफ़ग़ानिस्तान का सरहद्दी इलाका ब्रिटिश हिन्दुस्तान से दूर था, और पंजाब की स्वतन्त्र सिख रियासत बीच में पड़ती थी। लेकिन इसकी कुछ परवाह न कर, सिखो को अपना मित्र बनाकर अंग्रेज काबुल पर जा चढ़े। लेकिन अफ़ग़ानों ने भी मार्के का बदला लिया। अफ़ग़ान बहुतेरी बातो में चाहे कितने ही पिछडे हुए हों, लेकिन अपनी आजादी से उन्हे प्रेम है, और उसकी रक्षा के लिए वे अखीर दम तक लड़ने को तैयार रहते हैं। और इसीलिए अफ़ग़ानिस्तान किसी भी आक्रमणकारी विदेशी सेना के लिए हमेशा 'बर्रो का छत्ता' बना रहा है। हालांकि अंग्रेजो ने काबुल और उस देश—अफ़ग़ानिस्तान—के कई हिस्सों पर क़ब्जा कर लिया था, लेकिन फिर भी एकाएक चारों तरफ़ विद्रोह भड़क उठे, अंग्रेज वापस खदेड़ दिये गये और सारी-की-सारी अंग्रेजी फ़ौज तहस-नहस हो गई। बाद में इसका बदला लेने के लिए एक और ब्रिटिश हमला हुआ। अंग्रेजों ने क़ाबुल पर क़ब्जा करके, शहर के प्रसिद्ध और सुरक्षित बाजार को बारूद से उड़ा दिया, और अंग्रेजी सिपाहियो ने शहर के कई हिस्सों में लूटमार कर के आग लगा दी। लेकिन अब यह साफ़ जाहिर हो गया कि अंग्रेजों के लिए निरन्तर युद्ध किये बिना अफ़ग़ानिस्तान पर क़ब्जा बनाये रखना सहज काम नहीं है। इसलिए वे वहां से रिटायर या अलग हो गए।

क़रीब चालीस वर्ष बाद, १८७८ ई० में अफ़ग़ानिस्तान के अमीर या शासक के रूस से दोस्ती करने के कारण अंग्रेज फिर घबराए। बहुत हद तक इतिहास की पुनरावृत्ति हुई। एक दूसरा युद्ध हुआ, अंग्रेजों ने इस देश पर हमला किया और उनकी जीत होती हुई दिखाई दे रही थी कि इतने ही में अफ़ग़ानो ने ब्रिटिश राजदूत और उसके दल को क़त्ल कर डाला और एक अंग्रेजी फौज को हरा दिया। अंग्रेजों ने इसका

थोड़ा-बहुत बदला ले लिया और फिर इस 'बर्र के छत्ते' से दूर हट गय। इसके बहुत वर्षों बाद तक अफगानिस्तान की अजीब स्थिति थी। अंग्रेज उसके अमीर को किसी दूसरी विदेशी ताकत के साथ सीधा सम्बन्ध तो रखने नहीं देते थे, लेकिन साथ ही उसे हर साल बहुत बडी तादाद में रुपया भी देते थे। तेरह वर्ष हुए, १९१९ में, अफ़गानो से तीसरी लड़ाई हुई, जिसके परिणाम-स्वरूप अफ़ग़ानिस्तान पूरी तरह आजाद हो गया। लेकिन जिस जमाने की हम इस समय चर्चा कर रहे है, यह बात उसकी हद के बाहर की है।

और भी छोटी-छोटी लड़ाइयाँ हुई। इनमें से एक, खासतौर पर बेहयाई की लड़ाई, १८४३ में सिन्ध पर-लादी गई। वहां के ब्रिटिश एजेण्टों ने सिन्धियो को खूब सताया और झगड़ा मोल लेने के लिए उकसाया और बाद में उन्हें कुचल कर प्रान्त को अपने राज्य में मिला लिया। लगे हाथो इस कारगुजारी के बदले में अंग्रेजी अफ़सरो को ऊपरी मुनाफे के तौर पर इनाम में रुपया भी बांटा गया। एजेण्ट सर चार्ल्स नेपियर के हिस्से की रकम थी करीब सात लाख रुपये। ऐसी हालत में यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि उस युग के हिन्दुस्तान पर सिद्धान्तहीन और साहसी अंग्रेजो की लार टपकती थी।

१८५६ में अवध भी हिन्दुस्तान के अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। इस समय अवध के शासन की दशा बहुत भयंकर थी। कुछ समय पहले तक यहाँ का शासन नवाब-वजीर कहे जाने वाले लोगो के हाथो में था। मूलत. दिल्ली का मुग़ल बादशाह अवध के अपने गवर्नर की तरह नवाब-वजीर की नियुक्ति करता था। लेकिन मुगल साम्राज्य के पतन के बाद अवध स्वतन्त्र हो गया। पर उसकी स्वतन्त्रता ज्यादा दिन नहीं रही। पिछले नवाब-वजीर बिलकुल नाकाबिल और बदचलन थे, और अगर वे कुछ भलाई करना भी चाहते थे, तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी की दस्तन्दाजी की वजह से कर नहीं सकते थे। उनमें तो कोई असली ताकत बची नहीं थी, और अंग्रेजो को अवध के अन्दरूनी शासन में कोई दिलचस्पी न थी। इस तरह अवध बरबाद हुआ, और, लाजमीतौर पर, अखीर में, अंग्रेजी राज्य का हिस्सा बन गया।

युद्धो और राज्य-विस्तार के सम्बन्ध में मैं काफ़ी ही नहीं, शायद काफी से भी ज्यादा कह चुका हूँ। लेकिन ये सब उस चलते हुए महान चक्र के ऊपरी संकेतमात्र थे, जोकि आगे भी लाजमी तौर पर चलता रहने वाला था। अंग्रेज जिस समय हिन्दुस्तान में आए, यहाँ का पुराना आर्थिक संगठन टूट चुका था। सामन्त-प्रथा टूटने-फूटने लगी थी। यदि उस समय विदेशी लोग—अंग्रेज न भी आते, तो भी सामन्त-प्रथा इस देश में ज्यादा वक़्त टिकने वाली न थी। योरप की तरह यहाँ भी धीरे-धीरे कोई

ऐसी व्यवस्था इसका स्थान ले लेती, जिसमें नवीन उत्पादक वर्गो के हाथो में ज्यादा सत्ता होती। लेकिन इस परिवर्तन के होने से पहले ही, जबकि दरार पडी थी, अंग्रेज आ पहुँचे और बिना किसी खास दिक्कत के दरारो के बीच घुस पडे। हिन्दुस्तान में जिन राजाओं से वे लडे और उन्हे हराया, वे बीते और अस्त होते हुए जमाने की चीजें थी। उनके सामने कोई वास्तविक भविष्य नही था। इस तरह इन हालतों में, अंग्रेजो का सफल होना लाजिमी ही था। उन्होने हिन्दुस्तान में सामन्त-वर्ग का तेजी से खातमा कर दिया, लेकिन ताज्जुब की बात यह है कि, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, उन्होने ऊपरी तौर से इसे बनाये रखने या सहारा देने की कोशिश की और इस तरह हिन्दुस्तान को नये दौर की तरफ बढ़ने में रुकावटें डालीं।

इस तरह अंग्रेज हिन्दुस्तान में एक ऐसे ऐतिहासिक दौर के लाने का कारण बन गये, जिसने कि सामन्त राजाओं द्वारा शासित हिन्दुस्तान को नये ढंग के औद्योगिक पूँजीवादी राज्य में बदल दिया। ख़ुद अंग्रेजो ने इस बात को नहीं समझाया, और निःसन्देह वे सब अनेक राजा लोग भी जो इनसे लडे थे, इस विषय में कुछ नहीं जानते थे। काल के गाल में पड़ा हुआ कोई भी समाज या वर्ग समय के इशारो को शायद ही पहचानता हो, शायद ही कभी यह समझता हो कि उसका अपना काम और मकसद पूरा हो चुका है, और इसलिए सर्वशक्तिमान घटनाचक्र द्वारा बेइज्जती से खदेडे जाने के पहले ही उसे वहाँ से हट जाना चाहिए। वह इतिहास की शिक्षा को शायद ही कभी समझता है, और शायद ही कभी इस बात को महसूस करता है कि दुनिया उसे, किसी के शब्दो में, 'इतिहास की रद्दी की टोकरी' में छोड़ती हुई आगे धावा बोलती जा रही है। इसी तरह हिन्दुस्तानी सामन्त वर्ग ने इन सब बातों को नहीं पहचाना और व्यर्थ ही अंग्रेजों के ख़िलाफ़ लड़ते रहे। इसी तरह आज अंग्रेज लोग हिन्दुस्तान और पूर्व के दूसरे देशो में यह महसूस करते है कि उनके दिन बीत चुके है, उनके साम्राज्य के दिन बीत चुके हैं, और दुनिया ब्रिटिश साम्राज्य को बेरहमी के साथ इतिहास की रद्दी की टोकरी में धकेलती हुई आगे बढ़ती जा रही है।

लेकिन हिन्दुस्तान में फैले हुए सामन्त-वर्ग ने उस वक़्त, जबकि अंग्रेज हिन्दुस्तान में पैर पसार रहे थे, एक बार फिर आजादी प्राप्त करने और विदेशियो को निकाल बाहर करने का अन्तिम प्रयत्न किया। यह था १८५७ का बलवा या गदर। देश भर में अंग्रेजों के खिलाफ बड़ा असन्तोष और रोष था। कुछ दूसरे छुटपुट कामों के सिवा ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ख़ास नीति थी हर तरह रुपया बटोरना। उसकी इस नीति और इसके साथ ही उसके अनेक अफसरो की मूर्खता और लालच ने मिलकर चारों तरफ घोर तबाही मचा दी। यहाँ तक कि अंग्रेजो की हिन्दुस्तानी फ़ौज

पर भी इसका असर पड़ा और उसमें कई छोटी-मोटी बगावते हुई। कई सामन्त सरदार और उनके वंशज स्वभावतः ही अपने इस नये मालिक के कट्टर ख़िलाफ़ थे। इसलिए गुप्तरूप से एक जबरदस्त विद्रोह संगठित किया गया। यह संगठन खासतौर से संयुक्त प्रात और मध्य भारत के चारो ओर फैल गया था, लेकिन फिर भी हिन्दुस्तान के अंग्रेज हिन्दुस्तानियो के कार्यो और विचारों की ओर से इतने अन्धे रहते है कि उस समय तक सरकार को संगठन का संकेत या इशारा तक नहीं मिला। जाहिरा तौर पर कई जगहो पर एक ही साथ ग़दर छिड़ने की एक तारीख मुक़र्रर की गई थी। लेकिन मेरठ की हिन्दुस्तानी फौज की कुछ टुकड़ियो ने जल्दी ही बहुत आगे बढ़कर १० मई १८५७ को ग़दर शुरू कर दिया। इस समय से पहले ही होने वाले विस्फोट ने विद्रोह के नेताओ के कार्यक्रम को अस्तव्यस्त कर दिया क्योकि इसने सरकार को चौकन्ना और होशियार कर दिया। विद्रोह संयुक्त प्रान्त और दिल्ली में हर जगह और मध्यभारत और बरार के भी कुछ हिस्सों में फैल गया। यह सिर्फ फ़ौजी बलवा ही नही था, बल्कि इन प्रदेशो में अंग्रेजों के ख़िलाफ़ एक व्यापक सार्वजनिक विद्रोह था। महान् मुगल सम्राटो के अन्तिम वंशज कवि और कमज़ोर बूढ़े बहादुर शाह को कुछ लोगो ने सम्राट् घोषित कर दिया। यह विद्रोह बढ़कर घृणित विदेशी शत्रु के ख़िलाफ़ भारतीय स्वाधीनता के युद्ध में परिणत हो गया, लेकिन यह स्वाधीनता उसी पुराने सामाजिक ढंग की थी, जिसके मुखिया वही एकतन्त्री सम्राट् होते थे। साधारण जनता के लिए इसमें कोई आजादी न थी। लेकिन चूँकि वह अंग्रेजो के आगमन को ही अपनी तबाही और गरीबी का कारण समझती थी, और कई जगह पर बडे-बडे जमीदारो का प्रभाव होने के कारण वह बहुत बडी तादाद में शामिल हो गई। धार्मिक द्वेष ने भी उसे भड़कने का मौका दिया। इस युद्ध में हिन्दुओ और मुसलमानो, दोनो, ने पूरा भाग लिया।

कई महीनो तक उत्तर और मध्य भारत में अंग्रेजी राज्य कच्चे धागे के सहारे लटकता रहा। विद्रोह की किस्मत का फैसला खुद हिन्दुस्तानियो ने ही कर डाला। सिक्खो और गोरखो ने अंग्रेजो को मदद दी। दक्षिण में निजाम और उत्तर में सिन्धिया और दूसरी कई रियासते भी उनकी मदद पर हो गई। इन सब त्रुटियों के सिवा खुद विद्रोह में ही असफलता के बीज मौजूद थे। वह एक गई गुजरी बात,—सामन्त वर्ग,—के लिए लड़ा जा रहा था, इसके कोई अच्छे नेता भी न थे, संगठन इसका ख़राब था, और हर वक्त आपसी कलह होती रहती थी। कुछ विद्रोहियो ने अंग्रेजो को बेरहमी से कत्ल करके भी अपने काम पर धब्बा लगा लिया। इस पाशविक बर्त्ताव ने स्वभावत- ही हिन्दुस्तान के अंग्रेजो को कमर कसने के लिए जोश दिलाया,

उन्होंने उसी पाशविक ढंग से, बल्कि उससे सैकडों-हजारों गुना ज्यादा बदला चुकाया। कहा जाता है कि कानपुर में पेशवा के वंशज नानासाहब ने रक्षा का वादा करने के बावजूद दगा करके अंग्रेज मर्द, औरत और बच्चो के क़त्ल का हुक्म दे दिया। ख़ास तौर पर इस घटना से अंग्रेज और भी उत्तेजित होगये। इस वीभत्स दुर्घटना की याद दिलाने के लिए कानपुर में एक स्मारक-कूप बना हुआ है।

कई दूर-दूर की की जगहो पर अंग्रेजों को जनता की भीडों ने घेर लिया। कभी-कभी तो उनके साथ अच्छा बर्त्ताव किया गया, लेकिन ज्यादातर ख़राब। जबर्दस्त कठिनाइयाँ होते हुए भी वे खूब लडे और बडी बहादुरी से लडे। अंग्रेजों के साहस और सहन शक्ति का एक उदाहरण लखनऊ का घेरा है जिसके साथ आउटरम और हेवलाक के नाम जुडे हुए हैं। १८५७ में दिल्ली के घेरे ने विद्रोह का पासा ही पलट दिया। इसके बाद और कई महीनों तक अंग्रेज विद्रोह को कुचलते रहे। ऐसा करने में उन्होंने हर जगह आतंक फैला दिया। बडी बेरहमी के साथ बहुत बडी तादाद में लोग गोली से उड़ा दिये गये, बहुत से लोग तोप के मुँह के आगे रखकर टुकडे-टुकडे कर दिये गये और हजारो की तादाद में लोग सड़क के किनारे पर के दरख़्तो पर फाँसी लटकाकर मार दिये गये। कहा जाता है कि नील नामक एक अंग्रेज जनरल इलाहाबाद से कानपुर तक रास्ते के तमाम आदमियों को फाँसी लटकाता हुआ चला गया, यहाँ तक कि सड़क पर का एक भी दरख़्त ऐसा न बचा जो फांसी का झूला न बना दिया गया हो। हरे-भरे और खुशहाल गाँवों को लूट-मार कर उजाड़ दिया, और मिट्टी में मिला दिया। यह सब एक बहुत ही भयानक और दर्दनाक किस्सा है और शायद ही मै तुम से इस सारे कटु सत्य के कहने की हिम्मत कर सकूँ। अगर नाना साहब का बर्ताव वहशियाना और धोखेबाजी का था, तो कितने ही अंग्रेज अफसर भी वहशीपन में उससे सैकडों गुना कहीं आगे बढ़ गये थे। अगर बाग़ी सिपाहियों के गिरोह अपने सिर पर कोई अफ़सर या नेता न होने की हालत में निर्दय और वहशियाना बरताव के दोषी ठहरते हैं, तो तो शिक्षाप्राप्त—ट्रेण्ड—अंग्रेज सिपाही अपने अफसरो की रहनुमाई या नेतृत्व में बेरहमी और वहशीपन में उनसे कहीं आगे बढ़ गये थे। मै दोनों की तुलना नहीं करना चाहता। दोनों ही तरफ़ की बातें अफसोसनाक है, लेकिन हमारे पक्षपात-भरे इतिहासों में हिन्दुस्तानियो के विश्वासघात और बेरहमी का तो खूब बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया गया है, लेकिन दूसरी तरफ की चर्चा मुश्किल से ही की गई है। यह भी याद रखने की बात है कि एक संगठित सरकार भी एक भीड़ के लोगो की तरह ही बर्त्ताव करने लगे तो उसकी बेरहमी के सामने, किसी एक भीड़ की बेरहमी कुछ भी नहीं है। अगर अब भी तुम अपने प्रान्त

के गावो में घूमो, तो बहुत से गांवो में तुम्हे ऐसे लोग मिलेंगे जिन्हे, विद्रोह को दबाते समय हुई हैवानियत और ज्यादतियो की खौफनाक याद अब भी साफ़- साफ बनी हुई है।

इस विद्रोह और इसके दमन की भीषणताओं के बीच, काले परदे पर एक उज्ज्वल नाम चमक रहा है। यह नाम है एक बीस वर्ष की बाल-विधवा झांसी की रानी लक्ष्मीबाई का, जो मर्दों का सा बाना पहनकर अंग्रेजों के खिलाफ अपनी प्रजा का नेतृत्व करने के लिए मैदान में निकल आई। उसके जोश, उसकी क़ाबलियत और उसके निडर साहस की बहुत-सी कहानियाँ कही जाती है। यहाँ तक कि जिस अंग्रेज जनरल ने उसका मुकाबिला किया था, उसने भी उसे बाग़ी नेताओं में "सबसे योग्य और सबसे बहादुर" कहा है। वह लड़ती हुई युद्ध में काम आई।

१८५७–५८ का विद्रोह हिन्दुस्तानी सामन्त राजाओं की आखिरी टिमटिमाहट थी। इसने बहुत-सी बातो का खातमा कर दिया। महान् मुगलवंश की इसने समाप्ति करदी, क्योकि उसके आखिरी बादशाह बहादुरशाह के दोनो लड़कों और एक पोते को हडसन नाम के एक अंग्रेज अफसर ने दिल्ली ले जाते समय, बिना किसी वजह या उत्तेजना के गोली से उड़ा दिया। इस तरह, बदनामी के साथ, तैमूर, बाबर और अकबर का वंश समाप्त हुआ।

विद्रोह ने हिन्दुस्तान में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन को खतम कर दिया। सारे शासन सूत्र ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथ में ले लिये और अंग्रेज गवर्नर-जनरल अब 'वाइसराय' के रूप में प्रकट हुआ। उन्नीस वर्ष बाद १८७७ में इंग्लैण्ड की रानी ने, बिजेण्टियन साम्राज्य और क़ैसरो के पुराने ख़िताब का हिन्दुस्तानी रूप 'कैसरे-हिन्द' का खिताब अपने लिए इख़्तियार किया। मुग़ल खानदान का अब कहीं पता न था। लेकिन निरंकुशता की स्पिरिट या रूह ही नहीं बल्कि रूप भी क़ायम रहा, और एक दूसरा 'मुग़ल-ए-आज़म' इंग्लिस्तान में जम बैठा।

: ११० :

हिन्दुस्तानी कारीगरों की तबाही

१ दिसम्बर, १९३२

उन्नीसवीं सदी के हिन्दुस्तानी युद्धो का वर्णन भी हम ख़तम कर चुके। मुझे इस से खुशी है। अब हम इस समय की और दूसरी महत्त्वपूर्ण घटनाओ पर विचार कर सकते है। हाँ, यह याद रखना कि इंग्लैण्ड को फायदा पहुँचनेवाली ये लड़ाइयाँ

हिन्दुस्तान के ही खर्चे पर लडी गई थी। अंग्रेजों ने हिन्दुस्तानियो पर हासिल की गई अपनी जीतो का खर्चा उन्हींसे निकालने की तरकीब को बडी कामयाबी से सीख लिया था। अपने पडौसी बरमा और अफगानिस्तान के लोगों पर अंग्रेजों को जो फतह हासिल हुई उसकी क़ीमत भी हिन्दुस्तानियो ने ही अपने जानोमाल से चुकाई। इन लड़ाइयो ने किसी हद तक हिन्दुस्तान को और गरीब बना डाला, क्योंकि युद्ध का मतलब ही है सम्पत्ति का नाश। जैसा कि हम सिन्ध के मामले में देख चुके हैं, युद्ध का मतलब है जीतनेवाले को इनाम के रूप में धन का मिलना। इस और ऐसे ही दूसरे कारणों से हुई गरीबी के बावजूद भी ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के पास सोने और चाँदी का बहाव जारी ही रहा, जिससे कि उसके हिस्सेदारों को भारी मुनाफे मिलते रहे।

मेरा खयाल है कि मैंने पहले तुम्हे बतलाया था कि हिन्दुस्तान में अंग्रेजी सत्ता की शुरूआत का जमाना किस्मत के आजमाने वाले उन व्यापारियों का जमाना था, जिन्होंने यहाँ तिजारत और लूटमार की अंधाधुन्ध मचा रक्खी थी। इस तरह ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके कारिन्दे हिन्दुस्तान की बेशुमार दौलत ले गये। इसके बदले में हिन्दुस्तान को अमली-तौर पर रत्ती भर भी फ़ायदा न हुआ। मामूली तिजारत में एक-दूसरे में आपस में कुछ-न-कुछ देन-लेन होता है। लेकिन अठारहवी सदी के या पिछले हिस्से में, प्लासी की लड़ाई के बाद से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ की तिजारत में सारी दौलत एक ही रास्ते—इंग्लैण्ड—को, जाने लगी। इस तरह हिन्दुस्तान की पुरानी सम्पत्ति का अधिकाश छिन गया, और इसने जाकर परिवर्तन के गाढ़े समय में इंग्लैण्ड की औद्योगिक उन्नति मे मदद की। हिन्दुस्तान में तिजारत और नंगी लूट पर टिका हुआ अंग्रेजी हुकूमत का यह पहला हिस्सा, मोटे तौर पर, अठारहवी सदी की समाप्ति के साथ, खतम हुआ।

अंग्रेजी राज्य का दूसरा हिस्सा सारी उन्नीसवीं सदी ले लेता है, जिसमें कि हिन्दुस्तान, इंग्लैण्ड के कारखानो को भेजे जानेवाले कच्चे माल का एक जबरदस्त जरिया और विलायत में तैयार हुए माल की खपत के लिए एक जबरदस्त बाजार बन गया। यह सब हिन्दुस्तान की तरक़्क़ी और आर्थिक उन्नति का खून करके किया गया था। इस सदी के पहले आधे हिस्से में ईस्ट इण्डिया कम्पनी नाम की एक व्यापारिक कम्पनी हिन्दुस्तान पर राज करती थी, जो कि असल में जारी की गई थी सिर्फ रुपया पैदा करने के लिए। लेकिन बाद में अंग्रेजी पार्लमेण्ट हिन्दुस्तानी मामलो पर ज्यादा-ज्यादा ध्यान देने लगी। आख़िकार, जैसा कि हमने पिछले पत्र में देखा है १८५७-५८ के विद्रोह के बाद ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान के शासन को सीधा अपने हाथ में ले लिया। लेकिन इससे उसकी बुनियादी नीति में कोई खास

फ़र्क नहीं पड़ा, क्योंकि सरकार उसी वर्ग की नुमाइन्दा थी जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सञ्चालित करता था।

हिन्दुस्तान और इंग्लैण्ड के आर्थिक हितों के बीच आपस की मुठभेड़ साफ़ ज़ाहिर थी। क्योंकि सारी ताकत इंग्लैण्ड के हाथ में थी इसलिए इस मुठभेड़ का फ़ैसला हमेशा इंग्लैण्ड के ही पक्ष में होता था। इंग्लैण्ड के उद्योगवादी बनने से पहले ही एक प्रसिद्ध अंग्रेज़ लेखक ने हिन्दुस्तान पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के नुकसानदेह नतीजों की ओर इशारा किया था। यह प्रसिद्ध पुरुष था एडम स्मिथ, जिसे राजनैतिक अर्थशास्त्र का जन्मदाता कहा जाता है। 'वेल्थ आफ् नेशन्स'—यानी 'राष्ट्रों की सम्पत्ति' नामक अपनी एक मशहूर किताब में, जोकि सन् १७७६ में ही प्रकाशित हो गई थी, ईस्ट इण्डिया कम्पनी का ज़िक्र करते हुए, वह कहता है:—

"चाहे किसी भी देश के लिए हो, ऐसी सरकार, जो सिर्फ व्यापारियों की कम्पनी से ही बनी हो, सबसे खराब सरकार है।.........शासनकर्त्ता होने की हैसियत में तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी का हित इसीमें होना चाहिए कि उसके हिन्दुस्तानी राज्य में ले जाया जानेवाला विलायती माल वहाँ जहाँतक मुमकिन हो सस्ते-से-सस्ता और वहाँ से लाया हुआ माल यहाँ महँगा-से-महँगा बिके। लेकिन व्यापारी होने की हैसियत से उसका हित इससे बिलकुल उलटी बात में है। शासक होने की हैसियत में तो उसके हित बिलकुल वही होने चाहिएँ जो उसके शासित देश के हैं। लेकिन व्यापारियों की हैसियत से उसके हित उस देश के हितों के बिलकुल ख़िलाफ़ होंगे।"

मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि जब अंग्रेज़ हिन्दुस्तान में आये, यहाँ का सामन्त-वर्ग नष्ट होता जा रहा था। मुग़ल साम्राज्य के पतन ने हिन्दुस्तान के कई हिस्सों में राजनैतिक अशान्ति और आराजकता पैदा कर दी। लेकिन फिर भी, जैसा कि भारतीय अर्थशास्त्री श्री रमेशचन्द्र दत्त ने लिखा है—"अठारहवीं सदी में हिन्दुस्तान एक बड़ा भारी उद्योग-प्रधान और साथ ही कृषि-प्रधान देश था, और हिन्दुस्तानी करघों पर बना हुआ माल एशिया और योरप के बाज़ारों को भेजा जाता था।" अपने इसी पत्र-व्यवहार के सिलसिले में मैंने तुम्हें पुराने ज़माने में विदेशी बाज़ारों पर हिन्दुस्तान का कब्ज़ा होने का हाल बतलाया था। मिस्र में चार-चार हज़ार वर्ष पुरानी ममियाँ—मसाला लगाकर सुखाई हुई लाशें—बढ़िया हिन्दुस्तानी मलमल में लपेटी जाती थीं। हिन्दुस्तानी दस्तकारों की कारीगरी पूर्व और पश्चिम सब जगह मशहूर थी, देश का राजनैतिक पतन होने पर भी यहाँ के दस्तकार अपने हाथ के हुनर को—दस्तकारी की कला को भूले नहीं थे। अंग्रेज़ और दूसरे विदेशी व्यापारी, जो हिन्दुस्तान में तिजारत की तलाश में आते थे, यहाँ पर विदेशी माल बेचने के

लिए नही, बल्कि यहाँ का बना हुआ बढ़िया और बारीक या मुलायम कपडा खरीद कर योरप में भारी मुनाफे पर बेचने के लिए ले जाने को आते थे। इस तरह शुरू में, अंग्रेज व्यापारी यहाँ के कच्चे माल से नही, बल्कि यहाँ पर तैयार हुए पक्के माल से आकर्षित होकर यहाँ आये थे। यहाँ पर राज्य प्राप्त करने से पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी हिन्दुस्तान का बना सूती, ऊनी, रेशमी और जरी का माल बेचकर भारी मुनाफे का व्यापार चला रही थी। खासकर कपडे के उद्योग में अर्थात् सूती, रेशमी और ऊनी माल बनाने में इस देश की कला ऊँचे दरजे को पहुँच गई थी। श्री रमेशचन्द्र दत्त के शब्दो में--"बुनाई लोगो का राष्ट्रीय उद्योग या धन्धा था और कताई लाखों स्त्रियों का शगल या पेशा था।" इंग्लैण्ड और योरप के दूसरे हिस्सों को, और चीन, जापान, बरमा, अरब, फ्रांस और अफ़रीका के कई हिस्सो को हिन्दुस्तानी कपड़ा जाता था।

क्लाइव ने बंगाल के शहर मुर्शिदाबाद का, १७५७ के समय का, इस प्रकार वर्णन किया है—"यह नगर लन्दन के समान विस्तृत घना बसा हुआ और धनी है। फ़र्क इतना ही है कि यहाँ के लोग लन्दन वालो से कहीं ज्यादा ऐश्वर्य के स्वामी है।" यही वह प्लासी-युद्ध का प्रसिद्ध वर्ष था, जब कि अंग्रेजो ने बगाल में पूरी तरह से अपनी सत्ता जमाली। राजनैतिक पतन के इस क्षण में भी बंगाल सम्पत्तिशाली और कई उद्योग-धन्धो से भरा पूरा था और दुनिया के जुदे-जुदे मुल्को को अपना बढ़िया और बारीक बुना माल भेजता रहता था। ढाका-शहर अपनी बढ़िया और नफीस मलमल के लिए खास तौर पर मशहूर था और बहुत भरी तादाद में यह बाहर भेजी जाती थी।

इस तरह इस वक्त हिन्दुस्तान निरी कृषि-प्रधान और ग्राम्य अवस्था से बहुत आगे बढ़ गया था। नि.सन्देह मूलत: यह देश कृषि-प्रधान था, अब भी है और आगे बहुत अर्से तक रहेगा। लेकिन उस समय यहाँ ग्रामीण और कृषि-जीवन के साथ-साथ नागरिक जीवन भी तरक्की पा चुका था। इन नगरो के दस्तकार और कारीगर एक जगह इकट्ठे हुए और सामूहिक रूप से माल तैयार करने की पद्धति जारी हुई, अर्थात् उस समय यहाँ ऐसी छोटी-छोटी कई फ़ैक्टरियाँ या कारखाने खुले हुए थे जिनमें सौ या सौ से अधिक कारीगर काम करते थे। अवश्य ही इन कारखानो की तुलना बाद में आनेवाली मशीन युग की बडी-बडी फ़ैक्टरियो से नहीं की जा सकती। लेकिन उद्योगवाद के शुरू होने से पहले पश्चिमी योरप में और खासकर निदरलैण्ड में इस तरह की बहुत-सी छोटी फ़ैक्टरियाँ थी।

हिन्दुस्तान इस समय परिवर्तन या इनक़िलाब की हालत में था। यह एक

माल तैयार करनेवाला मुल्क था और इन शहरो में एक मध्यम वर्ग पैदा हो रहा था। इन कारखानो के मालिक पूँजीपति लोग थे, जो कारीगरों को कच्चा माल देकर उनसे माल तैयार करवाते थे। अवश्य ही समय आने पर ये लोग भी योरप की तरह सामन्त वर्ग को हटाकर उसकी जगह ले लेने के लिए क़ाफी ताकतवर हो जाते। लेकिन ठीक इसी समय अँग्रेज़ बीच में आकूदे और इसका हिन्दुस्तानी उद्योग-धन्धो पर घातक परिणाम हुआ।

शुरू-शुरू में तो ईस्ट-इण्डिया कम्पनी ने हिन्दुस्तानी उद्योग-धन्धो को प्रोत्साहन दिया क्योकि इनसे उसे धन की प्राप्ति होती थी। विदेशो में हिन्दुस्तानी माल की बिक्री से उसके देश इंग्लैड में सोना-चाँदी आता था। लेकिन इंग्लैड के कारख़ानेदार इस प्रतियोगिता को पसन्द नही करते थे इसलिए अठारहवीं सदी के शुरू में उन्होनें अपनी सरकार को इंग्लैड में आनेवाले हिन्दुस्तानी माल पर चुंगी लगाने को ललचाया कुछ हिन्दुस्तानी चीजो का इंग्लैड में आना बिलकुल बन्द कर दिया गया और मेरा यकीन है कि हिन्दुस्तान के बने हुए कुछ कपडो का सार्वजनिक रूप से पहनना एक जुर्म तक करार दे दिया गया था। वे लोग अपने वहिष्कार को कानून की मदद से अमल में ला सकते थे। और यहाँ हिन्दुस्तान में इस समय ब्रिटिश माल के वहिष्कार की सिर्फ चर्चा ही किसी को जेल में रख देने के लिए काफी हो रही हैं! हिन्दुस्तानी माल के बहिष्कार की इंग्लैड की यह नीति इतने ही तक रहती तो भी बहुत नुकसान की बात न थीं, क्योंकि हिन्दुस्तान के लिए उसके अलावा और भी बहुत से बाजार खुले हुए थे। उस समय संयोग से ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के जरिये इंग्लंड का हिन्दुस्तान के बहुत से हिस्से पर कब्जा था, इसलिए उसने अब जानबूझ कर हिन्दुस्तानी उद्योगों का गला घोटकर ब्रिटिश उद्योग को आगे बढ़ाने की नीति इख़्तियार की। लेकिन अब अँग्रेजी माल बिना किसी चुंगी के हिन्दुस्तान में आने लगा। यहाँ के दस्तकार और कारीगरो को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कारखानो में काम करने के लिए तरह-तरह से सताया और मजबूर किया गया। यहाँ तक कि कितनी ही रवानगी-चुंगियाँ, जो कि माल को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने पर चुकानी पड़ती थीं, लगाकर हिन्दुस्तान की अन्दरूनी तिजारत को भी बेकार बना दिया गया।

हिन्दुस्तान का कपडे का उद्योग इतना बढ़ा-चढ़ा था कि इंग्लैण्ड का तरक्की पर पहुँचा हुआ मशीन का कारबार भी उसका मुकाबिला न कर सका और उसकी रक्षा करने के लिए हिन्दुस्तानी माल पर अस्सी फीसदी के करीब चुंगी लगानी पडी। शुरू उन्नीसवीं सदी में हिन्दुस्तान का कुछ रेशमी और सूती माल विलायत के बाजारों में, वहाँ के बनें माल से बहुत सस्ते दामों, में बिका करता था। लेकिन यह हालत

ज्यादा दिन टिक नहीं सकती थी, जब कि हिन्दुस्तान पर हुकूमत करनेंवाली ताक़त इंग्लैंड, हिन्दुस्तानी उद्योग को कुचल डालने पर तुली हुई हो। किसी भी हालत में हिन्दुस्तान के घरेलू उद्योग, यानी हाथ के चरखे और करघे से बना हुआ माल, उन्नतिशील मशीन के उद्योग से मुकाबिला कर नहीं सकता था। मशीन का उद्योग भारी तादाद में माल तैयार करने का बड़ा कारगर तरीका है, और इसलिए वह घर में—हाथ के करघे पर—बने हुए माल से कहीं ज्यादा सस्ता पड़ता है। लेकिन इंग्लैंड ने ज़बरदस्ती हिन्दुस्तानी उद्योगो का ख़ातमा करनें में जल्दी की, और उसे अपने आपको बदली हुई परिस्थितियो के अनुकूल बना लेने का मौक़ा तक नहीं दिया।

इस तरह हिन्दुस्तान, जो कि सैकडो वर्ष तक 'पूर्वी दुनिया का लंकाशायर' बना हुआ था, और जो अठारहवीं सदी में योरप को बडे पैमाने पर सूती माल देता रहता था, अब उत्पादक यानी माल तैयार करने वाले देश की अपनी हैसियत खो बैठा और ब्रिटिश माल का ग्राहक मात्र रह गया जैसा कि साधारण तौर से होना चाहिए था। बाहर से हिन्दुस्तान में मशीने नही लाईं गईं, बल्कि लाया गया उनसे तैयार किया गया माल। हिन्दुस्तान से दूसरे विदेशो को माल लेजाने और बदले में सोना और चाँदी लाने का जो प्रवाह चल रहा था, उसका रुख़ उलटा होगया। अब विदेशी माल हिन्दुस्तान में आनें लगा और यहाँ का सोना-चाँदी बाहर जाने लगा।

इस घातक हमले से सबसे पहले विनाश हुआ हिन्दुस्तान के कपडे के उद्योग का और जैसे-जैसे इंग्लैंड में मशीनो की तरक़्क़ी होती गई वैसे-ही-वैसे हिन्दुस्तान के दूसरे उद्योग भी कपडे के उद्योग की तरह बरबाद होते गये। आम तौर पर किसी भी देश की सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह उस देश के उद्योगों की रक्षा करे और उन्हें तरजीह दे। मगर हिफाज़त और तरजीह देना तो दूर रहा, ईस्ट इंडिया कम्पनी ने ब्रिटिश उद्योगों के रास्ते में आनेवाले हरेक हिन्दुस्तानी उद्योग को कसकर ठोकर लगाई। हिन्दुस्तान में जहाज़ बनाने का काम चौपट होगया, धातु के कारीगर—लुहार आदि—अपना कारोबार न चला सके और काँच और काग़ज़ बनाने का धन्धा भी धीरे-धीरे चल बसा।

शुरू में विदेशी माल बन्दरगाहोवाले शहरो और उन्हींके आस-पास के अन्दरूनी हिस्सों में पहुँचा। जैसे-जैसे सड़कें और रेलें बनती गईं, विदेशी माल देश में अन्दर-अन्दर घुसता गया, यहाँ तक कि इसने गाँवो से भी कारीगरो को निकाल बाहर किया—वहाँ भी उनके धन्धों को चौपट कर दिया। स्वेज़ नहर का सीधा रास्ता निकल आने से इंग्लैंड हिन्दुस्तान के और भी नजदीक होगया। इसलिए अंग्रेज़ी माल यहाँ अब और भी सस्ता होगया। इस तरह विदेशी मशीनों का

माल ज्यादा-से-ज्यादा तादाद में आने लगा, और दूर-दूर के गाँवों तक में पहुँचने लगा। पूरी उन्नीसवीं सदी भर यह सिलसिला जारी रहा, और दरअसल किसी हद तक, अभीतक भी चल रहा है। हाँ, पिछले कुछ वर्षों में इसमें रोक-थाम जरूर हुई, जिस पर हम बाद में विचार करेंगे।

ब्रिटिश माल, खासकर कपडे, की इस फैलती और पसरती प्रगति ने हिन्दुस्तान के हाथ के धन्धो का खून कर दिया। लेकिन इससे भी ज्यादा खतरनाक एक और बात थी। उन लाखो कारीगरो का क्या हुआ जो बेकार बनाकर बाहर किये गये? उन बहुसंख्यक जुलाहों और दूसरे कारीगरो का क्या हाल, जो बेरोजगार होगये थे? इंग्लैंड में भी जब बडी-बडी फ़ैक्टरियाँ खुलीं तो दस्तकार बेकार होगये थे। उनको सख्त मुसीबतो का सामना करना पड़ा। लेकिन उनको नई फैक्टरियों में काम मिल गया, और इस तरह उन्होने अपने को नई परिस्थितियो के अनुकूल बना लिया। हिन्दुस्तान में इस तरह का कोई दूसरा उपाय नहीं था। यहाँ काम करने के लिए कोई फ़ैक्टरियाँ न थीं। अंग्रेज नहीं चाहते थे कि हिन्दुस्तान एक आधुनिक औद्योगिक मुल्क बन जाय और इसलिए फैक्टरियो या कारखानों को प्रोत्साहन नहीं देते थे। इसलिए बेचारे गरीब, बेघरबार, बेरोजगार और भूखो मरते कारीगरों को जमीन की यानी खेती की शरण लेनी पडी। किन्तु जमीन ने भी उनका स्वागत नहीं किया; पहले से ही काफी आदमी उस पर—खेती का काम कर रहे थे, और इसलिए अब जमीन मिलना मुमकिन नहीं था। कुछ तबाह कारीगरों ने तो किसी तरह किसानी का काम प्राप्त कर लिया, लेकिन ज्यादातर को तो रोजगार की तलाश में बिना जमीन के मजदूर बन जाना पड़ा। और बहुत अधिक तादाद में तो लोग भूख से तडप-तड़प कर मर ही गये होंगे। १८३४ में हिन्दुस्तान के अँग्रेज गवर्नर-जनरल ने यह रिपोर्ट की बतलाते है कि—"व्यापार के इतिहास में ऐसी तबाही का शायद ही कोई दूसरा उदाहरण मिले। सूती कपड़ा बुननेवाले जुलाहो की हड्डियों से हिन्दुस्तान के मैदानो पर सफेदी छा रही है—वे हड्डियो से भरे पडे है।"

इन बुनकरो, जुलाहो और कारीगरो में से ज्यादातर कस्बों और शहरो में रहते थे। अब चूंकि उनका रोजगार जाता रहा, इसलिए उन्हें फिर जमीन और गाँवो की तरफ लौटना पड़ा। इससे शहरों की आबादी कम, और गाँवो की ज्यादा होगई। दूसरे शब्दों में हिन्दुस्तान शहरी कम और देहाती ज्यादा होगया—शहरो की तादाद कम और देहातो की तादाद बढ़ गई। शहरो के गाँवो में तब्दील होने का यह सिलसिला उन्नीसवीं सदी भर जारी रहा, और अभी भी वह बन्द नहीं हुआ है। इस जमाने में हिन्दुस्तान के बारे में यह एक बडी ही अजीब बात है। तमाम दुनिया

में मशीनों के कारबार और उद्योगवाद का असर यह हुआ कि लोग-बाग गाँवो से खिंच-खिंचकर शहरो में आगये। लेकिन हिन्दुस्तान में इससे उलटी प्रवृत्ति हुई। शहर और कस्बे छोटे होते गये और आखिर को खत्म होगये, और ज्यादा-ज्यादा आदमी रोजगार मिलना बहुत दिक्कततलब देखकर काश्तकारी पर आलटके।

खास उद्योगों के साथ-साथ उनके बहुत से मददगार धन्धे भी गायब होने लगे। धुनाई, रंगाई और छपाई कम-कम होती गई, हाथ की कताई बन्द हो गई और लाखों घरो से चरखा उठ गया। इस तरह किसानो के घरवाले सूत कातकर जमीन से होने वाली आमदनी को बढ़ाने में जो मदद करते थे वह सिलसिला मारा गया, जिसका अर्थ यह हुआ कि किसान ऊपरी आमदनी से हाथ धो बैठे। मशीन के शुरू होने पर यही सब कुछ पश्चिमी योरप में भी हुआ था। लेकिन वहाँ का परिवर्त्तन स्वाभाविक था, और वहाँ यदि एक प्रथा का अन्त हुआ तो उसी समय दूसरी नई प्रथा का जन्म भी हो गया। लेकिन हिन्दुस्तान को परिवर्त्तन का जबर्दस्त धक्का लगा। घरेलू शिल्प उद्योगो की पुरानी प्रथा की हत्या कर डाली गई थी और नई प्रथा का जन्म होना नही था, क्योकि ब्रिटिश उद्योगो के हित की दृष्टि से अँग्रेज अधिकारी ऐसा होने नहीं देना चाहते थे।

हम देख चुके है कि जिस समय अंग्रेजों नें यहाँ ताकत हासिल की, हिन्दुस्तान एक मालामाल और खुशहाल उत्पादक देश था। दूसरी मञ्जिल कुदरती तौर से तो यही होनी चाहिए थी कि देश को औद्योगिक बनाया जाता और बडी-बडी मशीने जारी की जातीं। लेकिन ब्रिटिश नीति का नतीजा यह हुआ कि हिन्दुस्तान आगे बढ़ने के बजाय बिलकुल पिछड़ गया। वह अब उत्पादक तक न रहा, और पहले किसी भी वक्त से ज्यादा अब कृषि-प्रधान हो गया।

इस तरह बेरोजगार कारीगरो और दूसरे पेशेवरो की इतनी बडी संख्या को सहारा देने का भार बेचारी अकेली काश्तकारी के सिर आ पड़ा। जमीन पर भयानक बोझा पड़ गया, और यह बराबर बढ़ता ही गया। हिन्दुस्तान की गरीबी की समस्या की यही बुनियाद और यही आधार है। हमारी बहुत सी मुसीबते इसी नीति का नतीजा है। और जब तक यह बुनियादी सवाल हल नही हो जाता, हिन्दुस्तानी किसानों और गावों के रहनेवालों की गरीबी और मुसीबतो का अन्त नही हो सकता।

बहुत ज्यादा लोगों के पास खेतो के सिवा और कोई दूसरा पेशा न होने और जमीन के सहारे ही लटके होने के कारण, उन्होने अपने खेतो और अपने कब्जे की जमीनो को छोटे-छोटे टुकडो में बांट डाला। उसके सिवा गुजारे के लिए और अधिक जमीन थी ही नहीं। इस तरह जमीन का छोटा-सा टुकड़ा, जो हर किसान के पल्ले

पड़ा, इस क़दर छोटा था कि उससे उसका अच्छी तरह गुजर हो सकना भी मुश्किल था। सुकाल या फ़सल के अच्छी से अच्छी होने के दिनों में भी गरीबी और नीम-फाकाकशी का उन्हे हमेशा सामना करना पड़ता था। और ज्यादातर तो सुकाल या अच्छी फ़सल के बस सपने भर ही रहते थे। मौसम, आसमान और बरसाती हवाओं की दया पर ही इन लोगों को निर्भर रहना पड़ता था। अकाल पड़ते, रोग फैलते और लाखों का संहार कर अपने साथ ले जाते। ये लोग गाँव के सूदखोर बनिये के पास पहुँचकर उससे रुपया उधार लेते। इस तरह दिन-पर-दिन इनका कर्ज ज्यादा-ज्यादा बढ़ता गया। उसकी अदायगी की आशा और सम्भावना नष्ट हो गई और जिन्दगी बरदाश्त न हो सकनेवाला एक बोझ बन गई। ऐसी हालत हुई हिन्दुस्तान की आबादी के बहुत बड़े हिस्से की, उन्नीसवीं सदी में और अँग्रेजों की हुकूमत में!

: १११ :

हिन्दुस्तान के गांव, किसान और ज़मींदार

२ दिसम्बर, १९३२

मैंने तुम्हे अपने पिछले खत में हिन्दुस्तान के प्रति अंग्रेजों की उस नीति का हाल बताया था, जिसका नतीजा हुआ यहाँ के घरेलू उद्योग-धन्धों की मौत और दस्तकारों या कारीगरों का खेती और गाँवों की ओर खदेड़ा जाना। जैसा कि मैं बता चुका हूँ, हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी समस्या है जमीन-पर इतने ज्यादा लोगों का बोझा होना, जिनके पास खेती के सिवा और कोई धन्धा नहीं है। ज्यादातर यही वजह है कि हिन्दुस्तान गरीब है। अगर ये लोग जमीन से हटाकर रुपया पैदा करने के दूसरे पेशों में लगा दिये जा सके होते, तो वे न सिर्फ देश की सम्पत्ति में वृद्धि ही करते, बल्कि जमीन का बोझ भी कम हो जाता और काश्तकारी भी चमक जाती।

अक्सर यह कहा जाता है कि जमीन पर यह जरूरत से ज्यादा बोझ हिन्दुस्तान की आबादी की बढ़ती की वजह से है, न कि अंग्रेजों की नीति के कारण। लेकिन यह दलील सही नहीं है। यह सच है कि हिन्दुस्तान की आबादी पिछले सौ वर्षों में बढ़ गई है, लेकिन और भी तो बहुत से मुल्कों की आबादी बढ़ी है। अवश्य ही योरप में और खासकर इंग्लैण्ड, बेलजियम, हालैण्ड और जर्मनी में इस बढ़ती का औसत बहुत ज्यादा रहा है। किसी देश या सारे संसार की आबादी की बढ़ती, और उसके गुजारे और जरूरत के वक्त इस बढ़ती को रोकने का सवाल बड़ा महत्त्वपूर्ण है। मैं इस जगह इस सवाल को नहीं छेड़ना चाहता, क्योंकि इससे दूसरे विषयों में गड़बड़

पैदा हो सकती है। लेकिन यह मैं जरूर साफ़ कर देना चहता हूँ कि हिन्दुस्तान में जमीन पर दवाव या वोझ पड़ने का असली कारण खेती के सिवा दूसरे पेशों का अभाव होना है, न कि आवादी की वढ़ती होना। हिन्दुस्तान की मौजूदा आवादी के लिए शायद अच्छी तरह या आसानी से गुञ्जाइश हो सकती है और वह फूल-फल भी सकती है, वशर्तेकि दूसरे पेशे और धन्धे खुले हुए हों। हो सकता है कि वाद में हमें आवादी की वढ़ती के सवाल का सामना करना पड़े।

आओ, अब हम हिन्दुस्तान में ब्रिटिश नीति के दूसरे पहलुओं की जांच करें। पहले हम गांवो में चलेंगे।

मैंने अक्सर तुम्हे हिन्दुस्तान की ग्राम-पंचायतों के वारे में लिखा है और यह वताया है कि किस तरह हमलों, परिवर्त्तन या इन्किलाव के वीच भी उन्होंने अपनी हस्ती को कायम रक्खा। अभी करीव सौ वर्ष पहले, १८३० में, हिन्दुस्तान के अंग्रेज गवर्नर सर चार्ल्स मेटकाफ ने इन ग्राम-पंचायतो का इस तरह वर्णन किया था—

> "ग्राम-पचायते छोटे-छोटे प्रजातन्त्र है; अपनी जरूरत की करीव-करीव हरेक चीज उनमे मौजूद है, और वाहरी सम्वन्धो से हर तरह स्वतन्त्र है। ऐसा मालूम होता है कि जहाँ कोई दूसरी चीज नही ठहर पाती, उनकी हस्ती कायम रहती है। ग्राम पचायतो का यह सघ, जिसमे हरेक पचायत खुद एक अलग छोटी-सी रियासत के समान है, उनके सुख-शान्ति से रहने और वहुत हद तक उनकी आजादी और खुदमुख्तारी का उपयोग कराने में भारी सहायक होता है।"

वह वर्णन इस प्राचीन ग्रामीण प्रथा या ग्राम-पंचायत के लिए वड़ा अच्छा सर्टीफिकेट है। गाँव की हालत का यह एक विलकुल काव्यमय चित्र है। इसमें कोई शक नहीं कि स्थानीय आजादी और खुदमुख्तारी, जो गाँवों को हासिल थी, एक अच्छी चीज थी, और इसके सिवा उसमें और भी कई अच्छी खासियतें थीं। लेकिन साथ ही हमें इस प्रथा के दोषों को भी नहीं भुला देना चाहिए। सारी दुनिया से अलग कटे हुए, अपने ही आप में सीमित ग्रामीण जीवन विताना किसी भी वात की उन्नति में सहायक नहीं हो सकता था। वड़ी-से-वड़ी इकाइयों के साथ सहयोग करने में ही उन्नति और प्रगति है। जितना ही ज्यादा कोई व्यक्ति या गिरोह अपने आप को दूसरो से अलग और अपने ही में सीमित या महदूद रखता है, उतना ही अधिक उसके अभिमानी, खुदगर्ज और तंगदिल होते जाने का अन्देशा रहता है। शहरों के निवासियों के मुकाविले में गांव के रहनेवाले अक्सर तंगदिल और मिथ्या-विश्वासी होते है इसलिए ग्राम-संस्थायें अपनी अच्छाइयों को रखते हुए भी उन्नति के केन्द्र नहीं हो सकती थीं। वल्कि वे ज्यादातर पुराने जमाने की ओर पिछड़ी हुई थी।

दस्तकारी और उद्योग-धन्धे तो नगरों में ही फूलते-फलते थे। हाँ, जुलाहे जरूर बहुत बडी तादाद में गांवों में फैले हुए थे।

गाँवों की जातियाँ एक दूसरे से विशेष सम्बन्ध रखे बिना ही क्यों इस तरह की तनहाई की जिन्दगी बिताती थीं, इसकी असली वजह आमद-रफ्त के साधनो का न होना था। गांवों को एक दूसरे से मिलानेवाली सड़कें बहुत ही कम थीं। दरअसल अच्छी सड़कों के इस अभाव ने ही केन्द्रीय सरकार के लिए गांवो के मामलों में ज्यादा दखल देना कठिन बना रक्खा था। अच्छी खासी बडी नदियों के किनारे या आस-पास के कस्बो और गांवों में तो नावो के जरिये जाने-आने का सम्बन्ध हो सकता था। लेकिन ऐसी बडी नदियां भी तो बहुत नहीं थीं जो इसतरह का साधन बन सकतीं। आमद-रफ्त के आसान तरीकों की इस कमी ने अन्दरूनी तिजारत में भी रुकावट डाली।

बहुत वर्षो तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी का मकसद सिर्फ रुपया कमाना और हिस्सेदारो में मुनाफा बाँटना ही था। सड़को के बनाने में वह बहुत कम रुपया खर्च करती थी और तालीम, सफाई और अस्पताल वगैरा पर तो कुछ भी खर्च नहीं करती थी लेकिन बाद में जब अंग्रेजो ने कच्चा माल खरीदने और अंग्रेजी मशीनों का बना माल बेचने पर अपना ध्यान केन्द्रित किया, तब सड़को वगैरा के बारे में उनकी नीति दूसरी ही होगई। बढ़ते हुए विदेशी व्यापार का मक़सद पूरा करने के लिए हिन्दुस्तान के समुद्रतट पर नये शहर क़ायम हुए। ये शहर, जैसे बम्बई, कलकत्ता, मदरास और बाद में कराची, विदेशो को भेजने के लिए रुई वग़ैरा कच्चा माल जमा करते और विदेशी मशीनो के बने, खासकर इंग्लैण्ड से आये हुए, माल को हिन्दु-स्तान में फैलाने और बेचने के लिए लेते थे। ये शहर योरप में बढ़ते हुए बडे-बडे औद्योगिक शहरो, जैसे लिवरपूल, मैंन्चैस्टर, बरमिंघम और शेफील्ड वगैरा, से बहुत कुछ जुदी किस्म के थे। यूरोपियन शहर माल तैयार करने के बडे-बडे कारखानो के उत्पादक केन्द्र और इन कारखानो में बने माल को बाहर भेजने के बन्दरगाह थे। इधर हिन्दुस्तान के ये नये शहर कुछ भी माल तैयार नहीं करते थे। वे तो महज विलायती तिजारत के गोदाम और विदेशी शासन के चिन्ह मात्र थे।

मैं तुम्हें अभी बता आया हूँ कि अंग्रेजों की नीति के कारण हिन्दुस्तान ज्यादा-ज्यादा देहाती होता जा रहा था और लोग शहर छोड़-छोड़कर गाँवो और खेती की तरफ़ जा रहे थे। इसके बावजूद भी इस सिलसिले पर बिना कुछ असर डाले समुद्र के किनारे ये नये शहर उठ खडे हुए। गाँवों को नहीं बल्कि छोटे शहरो और कस्बों को मिटाकर ये शहर पैदा हुए थे। लोगो के शहर और कस्बे छोड़कर गाँवों में जा

बसने और गाँवों की तादाद बढ़ते जाने का यह आम सिलसिला बराबर जारी रहा।

कच्चे माल को इकट्ठा करने और विलायती सामान को इधर से उधर बाँटने में मदद देने के लिए समुद्र के किनारे के इन नये शहरों का देश के अन्दरूनी हिस्सो से सम्बन्ध जोड़ा जाना लाजिमी था। राजधानियो और प्रान्तों के शासन-केन्द्रों के रूप में भी कुछ दूसरे शहर बन गये। इस तरह आमद-रफ़्त के अच्छे साधन ज़रूरी हो गये। अब सड़कें बनाई गई, और बाद में रेलें भी। पहली रेल १८५३ में बम्बई में बनी।

भारतीय उद्योग-धन्धों के नाश से पैदा हुई और बदली हुई परिस्थितियो के अनुकूल बनने में गाँवो के पुराने लोगो को बडी कठिनाई हुई। लेकिन जब अच्छी सड़कें और रेलें ज्यादा तादाद में बनी और सारे देश में फैल गई, तब आखिरकार गाँवों की पुरानी प्रथा भी, जो इतने अर्से से टिकी हुई थी, टूटकर ख़तम हो गई। गाँवों के छोटे-छोटे प्रजातन्त्र, अब जब कि दुनिया ख़ुद उनके यहाँ पहुँचकर उनके दरवाज़े खटखटाने लगी, तो वे अपने को उसके सम्पर्क से अलग न रख सके। एक गाँव की चीज़ो की क़ीमतों का असर फ़ौरन ही दूसरे गाँवो की चीज़ों पर पड़ने लगा, क्योकि अब एक गाँव से दूसरे को आसानी से चीज़ें भेजी जा सकने लगीं। अवश्य ही जैसे-जैसे दुनिया से आमद-रफ़्त के सम्बन्ध बढ़ते गये, वैसे ही संयुक्त राज्य अमेरिका अथवा कनाडा के गेहुओ की कीमत का असर हिन्दुस्तान के गेहूँ की कीमत पर भी पड़ने लगा। इस तरह घटनाचक्र में पड़कर हिन्दुस्तानी ग्रामीण प्रथा को अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के चक्कर में खिच आना पड़ा। गांवों का पुराना आर्थिक क्रम टुकडे-टुकडे हो गया, और किसानों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उनपर एक नया क्रम जबरदस्ती लाद दिया गया। अब यह किसान वर्ग अपने गाँवो के बाज़ार के बजाय अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार के लिए खाना और कपड़ा तैयार करने लगा। वह अब सारी दुनिया के लिए पैदा करने और उसके अनुसार क़ीमतों के भँवर में पड़ गया और ज्यादा-ज्यादा नीचे डूबता गया। पहले ज़माने में भी हिन्दुस्तान में फसल बिगड़ जाने पर अकाल पडते थे, और गुज़ारे का और कोई सहारा नही रहता था और कोई ऐसे मौज़ूं साधन भी नहीं थे कि देश के एक भाग से दूसरे भागों को खाद्य-सामग्री—अनाज वग़ैरा—पहुँचाई जा सकती। वे अकाल खाद्य-सामग्री के अकाल थे। लेकिन अब एक अजीब बात हुई। अब खाने को तो इफरात से मिल सकता था, लेकिन फिर भी लोग भूखो मर रहे थे। अगर उस जगह जहाँ अकाल हो और खाने-पीने की चीज़ें न भी मिलती हों, तो रेल और ऐसी ही और दूसरी तेज़ सवारी के ज़रिये दूसरी जगहो से चीज़ें पहुँचाई जा सकती थी। दूसरे खाद्य-सामग्री तो मौजूद थी, लेकिन उसे खरीदने के लिए पास में

पैसा नहीं था। और इस तरह इस समय अकाल पैसे का था, भोजन की चीजों का नहीं। इससे भी ज्यादा अजीब बात यह थी कि, जैसा पिछले तीन वर्षों में हमने देखा है, कभी-कभी फ़सल का बहुत अच्छा और ज्यादा होना ही किसानों की तबाही का कारण बन जाता था।

इस तरह पुरानी ग्रामीण प्रथा ख़तम होगई, और पंचायतों की हस्ती मिट गई। लेकिन हमें इसके लिए कोई ज्यादा रंज जाहिर करने की जरूरत नहीं है, क्योंकि यह प्रथा अपनी उम्र से ज्यादा जिन्दा रह चुकी थी और आजकल की परिस्थितियों के उपयुक्त नहीं थी। लेकिन यहाँ भी वही बात हुई; यह प्रथा या संस्था टूट तो गई, लेकिन इसकी जगह लेने को नई परिस्थितियों के अनुकूल किसी नई संस्था या संगठन का जन्म नहीं हुआ। पुनर्निर्माण और पुनर्संगठन का यह काम हमें अब भी करना होगा। करने को तो बहुत कुछ पड़ा है, लेकिन एक बार हम जकड़े रखने वाली विदेशी राज्य की जंजीरों से निकल तो आयें!

अभी तक हमने ज़मीन और किसानों पर होनेवाले ब्रिटिश नीति के अप्रत्यक्ष परिणामों पर विचार किया है। ये अप्रत्यक्ष परिणाम ही काफी भयंकर थे! आओ, अब हम ईस्ट इण्डिया कम्पनी की असली नीति यानी उस नीति पर विचार करें जिसका किसान और ज़मीन या काश्तकारी से सम्बन्ध रखने वाले सभी दूसरे लोगों पर प्रत्यक्ष रूप से असर पड़ा। मुझे भय है कि तुम्हारे लिए यह एक पेचीदा और ज़रा रूखा विषय होगा। लेकिन हमारा देश इन गरीब किसानों से भरा पड़ा है, और इसलिए हमें एक बार यह समझने की कोशिश तो करनी चाहिए कि उनकी क्या तकलीफें हैं और किस तरह हम उनकी सेवा कर सकते हैं, और उनको खुशहाल बना सकते हैं।

हम लोग जमींदारों, ताल्लुकेदारों और उनके असामियों के बारे में सुना करते हैं। असामी भी कई तरह के होते हैं और असामियों के भी असामी होते हैं। मैं इन सबकी पेचीदगियों में तुम्हे नहीं ले जाना चाहता। मोटे तौर से इस वक्त जमींदार लोग बीच के आदमी हैं, अर्थात् उनकी हस्ती सरकार और काश्तकारों के बीच में है। काश्तकार उनका असामी है और वह उन्हें जमीन के इस्तेमाल के बदले लगान या एक तरह का कर या टैक्स देता है, क्योंकि जमीन जमींदार की मिलकियत समझी जाती है। जमींदार इस लगान में से एक हिस्सा मालगुजारी के तौर पर अपनी जमीन के कर या महसूल का सरकार को अदा करता है। इस तरह जमीन की पैदावार तीन हिस्सों में बंट जाती है; एक हिस्सा जमींदार को मिलता है, दूसरा सरकार को जाता है और तीसरा जो बचता है, काश्तकार के

पल्ले पड़ता है। यह खयाल न करना कि ये हिस्से सब बराबर-बराबर होते होंगे। किसान खेत पर काम करता है, और यह उसीकी मेहनत, जुताई, बुआई और दसियो तरह की दूसरी कोशिशों का नतीजा है कि जमीन से कुछ पैदा होता है। जाहिर ही है कि अपनी मेहनत का फल उसे मिलना चाहिए। सरकार को सारे समाज की प्रतिनिधि होने की हैसियत से हरेक व्यक्ति के लाभ के लिए बहुत से जरूरी फ़र्ज अदा करने होते हैं। सारे बच्चो को तालीम देनी होती है, अच्छी सड़कें और आमद-रफ़्त के दूसरे साधन बनाने होते है, अस्पताल और सफ़ाई के दूसरे सीगे रखने पड़ते है, बाग-बगीचे और अजायबघर और कई तरह की और न मालूम क्या-क्या चीजें बनवानी होती है। इसके लिए उसे रुपयों की जरूरत होती है और इसलिए यह मुनासिब ही है कि जमीन की पैदावार में से वह एक हिस्सा ले। वह हिस्सा कितना होना चाहिए, यह सवाल दूसरा है। किसान जो कुछ सरकार को देता है, वह तो असल में सड़क, तालीम, सफ़ाई वग़ैरा सरकारी सेवाओ के रूप में वापस आजाता है या आजाना चाहिए। आजकल हिन्दुस्तान की सरकार विदेशी है, और इसलिए हम उसे पसन्द नहीं करते। लेकिन ठीक तरह से संगठित और स्वतंत्र देश में जनता ही सरकार होती है।

इस तरह जमीन की पैदावार के दो हिस्सों से तो हम निबट चुके—एक हिस्सा काश्तकार का और दूसरा सरकार का। तीसरा हिस्सा, जैसाकि हम देख चुके है जमींदार को मिलता है। इसको पाने या हक़दार होने के लिए वह क्या करता है? बिलकुल कुछ भी नहीं, या दरअसल कुछ नहीं। पैदावार के काम में बिना किसी तरह की मदद पहुँचाये ही वह पैदावार का एक बड़ा हिस्सा—अपना लगान—ले लेता है। इस तरह वह गाडी का पाँचवाँ पहिया हो जाता है, जो न सिर्फ गैरजरूरी ही बल्कि एक रुकावट और जमीन पर एक बेकार बोझ भी है। और लाजिमी तौरपर जिस शख़्स को यह अनावश्यक बोझ उठाने की तकलीफ बर्दाश्त करनी पड़ती है, वह है बेचारा काश्तकार, जिसे अपनी कमाई का हिस्सा निकालकर देना पड़ता है। यही वजह है कि बहुत से लोगों का ख़याल है कि जमींदार या ताल्लुकेदार बिलकुल गैरजरूरी दरमियानी आदमी है, और जमींदारी प्रथा एक ख़राब प्रथा है, इसलिए बदल दी जानी चाहिए, जिससे कि दरमियानी आदमी ग़ायब हो जायँ। इस समय यह जमींदारी प्रथा हिन्दुस्तान में, खासकर तीन प्रान्तों—बंगाल बिहार और संयुक्तप्रान्त में जारी है।

दूसरे प्रान्तो में काश्तकार अपना लगान आमतौर पर बालबाला सरकार को अदा करते है, कोई दरमियानी आदमी वहाँ नहीं है। कभी-कभी ये लोग भू-स्वामी

किसान (Peasant Proprietor) कहलाते हैं; कहीं-कहीं, जैसे पंजाब में, उन्हे जमींदार कहा जाता है, लेकिन संयुक्त प्रान्त, बंगाल और बिहार के बडे-बडे जमींदारों से ये जुदा होते है।

इतने लम्बे-चौडे विवरण के बाद अब मैं तुम्हे बताना चाहता हूँ कि बंगाल, बिहार और संयुक्तप्रान्त में फूलती-फलती यह जमींदारी प्रथा, जिसके बारे में हम इन दिनो इतना सुनते रहते है, हिन्दुस्तान में एक बिलकुल नई चीज है। यह अंग्रेजों की ईजाद है। उनके पहले इसकी कोई हस्ती, कोई वजूद न था।

पुराने जमाने में इस तरह के कोई जमींदार, ताल्लुकेदार या दरमियानी आदमी नहीं होते थे। काश्तकार अपनी पैदावार का एक हिस्सा बालावाला सरकार को देते रहते थे। कभी-कभी गाँव की पंचायत गाँव के किसानों की तरफ़ से यह काम कर देती थी। अकबर के जमाने में उसके मशहूर अर्थ-सचिव राजा टोडरमल ने बडी सावधानी से ज़मीन की पैमाइश करवाई थी। सरकार काश्तकार से पैदावार का तीसरा हिस्सा लेती थी, और किसान चाहता तो वह नकदी में भी दे सकता था। आमतौर पर लगान भारी नहीं थे, और वे बहुत धीरे-धीरे सिलसिले से बढ़ाये गये थे, इसके बाद मुगल साम्राज्य के पतन का जमाना आया। केन्द्रीय शासन कमजोर होगया और लगान या करों की वसूली ठीक-ठीक होना बन्द हो गई। तब वसूली का एक नया तरीक़ा ईजाद हुआ। लगान की वसूली के लिए तनख्वाह पर नहीं, बल्कि एजेण्ट के तौर पर कलक्टर नियुक्त किये गये, वे जो वसूल हुई रकम में से अपने मेहनताने के तौर पर दसवाँ हिस्सा रख सकते थे। इन्हे मालगुजार, या कभी-कभी जमींदार या ताल्लुकेदार कहा जाता था, लेकिन यह खयाल रहे कि इन शब्दो का तब वह अर्थ नहीं होता था, जो आज किया जाता है।

जैसे-जैसे केन्द्रीय शासन ढीला पड़ता गया, यह प्रथा भी बद से बदतर होती गई। हालत यहाँतक गिरी कि जुदे-जुदे क्षेत्रो या हलको के मालगुजारपने के काम का आम नीलाम होने लगा और सबसे ऊँची बोली लगानेवाले को वह मिलने लगा। इसका अर्थ यह हुआ कि जिसे यह काम मिलता उसको बदनसीब किसान से जितना चाहे उतना रुपया वसूल करने की छुट्टी रहती थी, और अपनी इस आजादी का वह भरपूर उपयोग करता था। धीरे-धीरे ये मालगुजार मौरूसी होने लगे, क्योंकि सरकार इतनी कमजोर हो गई थी कि इनका हटाया जाना सम्भव न रहा।

दरहकीकत शुरू-शुरू में बंगाल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मानी जानेवाली कानूनी हैसियत मुगल बादशाह की तरफ से काम करने वाले मालगुजार की थी। १७६५ में कम्पनी को दिये गये 'दीवानी' के पट्टे का यही मतलब था। इस तरह कम्पनी

दिल्ली के मुग़ल बादशाह की दीवान बन गई। लेकिन थी यह सब बनावट। १७५७ की प्लासी की लड़ाई के बाद अंग्रेज़ बंगाल के सर्वेसर्वा-से बन गये थे; बेचारे मुग़ल सम्राट के पास नाममात्र को या कहीं भी कोई ताकत नहीं रही।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके अफ़सर बेहद लालची थे। जैसाकि मैं तुम्हें बता चुका हूँ, इन लोगो ने बंगाल का खजाना ख़ाली कर डाला था, और जहाँ कहीं भी मौका लगता पैसे पर जबर्दस्त पंजा मारने में न चूकते थे। उन्होंने बंगाल और बिहार को चूस डालने और ज्यादा-से-ज्यादा लगान उगाहने की कोशिश की। उन्होंने छोटे मालगुजारों की सृष्टि की और उनसे लगान की माँग बेइन्तहा बढ़ा दी। जमीन का लगान थोडे ही दिनो में दुगुना कर दिया गया। कोई वक्त पर लगान अदा न करता तो फ़ौरन बेदख़ल कर दिया जाता था। मालगुज़ार अपनी तरफ़ से यह बेरहमी और सितमगिरी काश्तकार पर ढाते; उन पर भारी-से-भारी लगान लगा दिया जाता, और उनके पट्टे छीन लिये जाते। प्लासी की लड़ाई के बारह वर्ष और दीवानी की सनद दिये जाने के चार वर्ष के अन्दर-ही-अन्दर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति और साथ ही बारिश के न होने से बगाल और बिहार में ऐसा भयंकर अकाल पड़ा, कि उसमें कुल आबादी का एक तिहाई हिस्सा नेस्त-नाबूद हो गया। १७६९-७० के इस अकाल की चर्चा मै अपने पिछले एक ख़त में तुमसे कर चुका हूँ, और यह भी बता चुका हूँ कि इस अकाल के होते हुए भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने लगान की पाई-पाई वसूल करके छोडी। इस बारे में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अफ़सरों की असाधारण मुस्तैदी का ज़िक्र ख़ास तौर पर किया जाना चाहिए। चाहे लाखों-करोडों की तादाद में मर्द-औरत और बच्चे मौत के घाट उतर रहे हो तो उतरते रहें, वे तो मुर्दों की लाशो तक से रुपया खींचने की जुर्रत रखते थे, ताकि इंग्लैण्ड के मालदारो को भारी-से-भारी मुनाफे बाँटे जासकें।

इस तरह अगले बीस या इससे भी ज्यादा वर्षों तक यही हिसाब चलता रहा। अकाल होने पर भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी रुपया चूसती रही और इस तरह बंगाल के सुन्दर प्रान्त को तबाह कर दिया गया। बडे-बडे मालगुज़ार तक भिखारी हो गये, सिर्फ़ इसी बात से इस बात का अन्दाजा लगाया जा सकता है कि बेचारे मुसीबत के मारे किसानों की क्या हालत हुई होगी। हालत इतनी ख़राब होगई थी कि ख़ुद ईस्ट इण्डिया कम्पनी को चेतना पड़ा, और स्थिति को सम्भालने की कोशिश करनी पडी। उस समय का गवर्नर-जनरल लार्ड कार्नवालिस, जो ख़ुद इंग्लैण्ड का एक बड़ा जमींदार था, हिन्दुस्तान में अंग्रेजी ढंग पर जमींदार क़ायम करना चाहता था। पिछले कुछ अर्से से मालगुजार भी जमीदार की सी ही शकल इख़्तियार किये हुए थे।

कार्नवालिस ने इनके साथ समझौता करके इन्हें ही ज़मींदार मान लिया। नतीजा यह हुआ कि पहली मर्तबा हिन्दुस्तान को यह दरमियानी आदमी मिला, और बेचारे काश्तकार महज़ असामी रह गये। अँग्रेज़ों ने इन ज़मींदारों से अपना सीधा ताल्लुक रक्खा और उन्हें अपने असामियों के साथ मनमानी करने को खुला छोड़ दिया। ज़मींदार के लालची पंजे से बेचारे किसान की रक्षा का कोई साधन न था।

बंगाल और बिहार के ज़मींदारों के साथ १७९३ में कार्नवालिस ने जो यह फ़ैसला किया था, उसे 'दायमी बन्दोबस्त' कहते हैं। 'बन्दोबस्त' शब्द का अर्थ है हरेक ज़मींदार द्वारा सरकार को दिये जाने वाले ज़मीन के लगान की रकम मुकर्रर किया जाना। बंगाल और बिहार के लिए यह बन्दोबस्त मुस्तकिल कर दिया गया। उसमें कोई तब्दीली नहीं हो सकती थी। बाद में जब उत्तर-पश्चिम में अवध और आगरा तक अँग्रेज़ी राज्य बढ़ गया, तब उनकी नीति बदल गई। पर ज़मींदारों के साथ बंगाल की तरह मुस्तकिल बन्दोबस्त न करके, अस्थायी बन्दोबस्त किया गया। यह स्थायी या गैर-मुस्तकिल बन्दोबस्त समय-समय पर, आमतौर पर हर तीसवें साल, दुहराया जाता था और ज़मीन के लगान की रकम फिर नये सिरे से मुकर्रर की जाती थी। अमूमन हर बन्दोबस्त में यह रकम बढ़ती ही जाती थी।

दक्षिण में मदरास और उसके आसपास ज़मींदारी प्रथा जायज़ नहीं थी। वहाँ मौरूसी काश्तकारी थी और इसलिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सीधा काश्तकारों से बन्दोबस्त कर लिया। लेकिन वहाँ और हर जगह, अपने कभी न पूरे होने वाले लालच की वजह से कम्पनी के अफ़सरों ने लगान की रकमें बेहद ऊँची करदीं और पूरी बेरहमी से वह वसूल की गई। अदम-अदायगी की सज़ा होती थी फ़ौरन ही बेदखली; लेकिन बेचारा किसान और कहाँ जाता? ज़मीन पर ज़रूरत से ज्यादा बोझा होने की वजह से हर जगह उसकी हेठी रहती थी; इसलिए भूखों मरते आदमी हमेशा जैसी भी चाहो वैसी शर्तों पर उसे मंज़ूर करने को तैयार रहते थे। जब अर्से से मुसीबत के मारे किसान और ज्यादा बरदाश्त न कर सकते तो अक्सर लड़ाई-झगड़े और आराज़ी पर दंगे हो जाया करते थे।

उन्नीसवीं सदी के बीच के करीब बंगाल में एक नया अत्याचार शुरू हुआ। कुछ अँग्रेज़ लोग नील की तिजारत की गरज़ से ज़मींदार बन बैठे। उन्होंने अपने असामियों पर नील की खेती के बारे में बड़ी सख्त-सख्त शर्तें लादीं। उन्हें अपने खेतों के कुछ नियत हिस्से में नील की काश्त करने और उसे फिर अँग्रेज़ी ज़मींदारों या 'प्लाण्टर्स', जैसा कि उन्हें कहा जाता था, के हाथ एक बँधी दर पर बेचने के लिए

मजबूर किया गया। यह प्रथा 'प्लाण्टेशन' प्रथा कहलाती है। काश्तकारों या असामियों पर जो शर्त्तें लादी गई थीं, इतनी सख्त थी कि उनके लिए उनका पूरा करना बहुत मुश्किल था। इधर प्लाण्टर लोगों की मदद के लिए अंग्रेज सरकार आ पहुँची और बेचारे किसानो से शर्त्तों के मुताबिक जबर्दस्ती नील की खेती के लिए ख़ास क़ानून बना डाले। इन क़ानूनों और इनकी सजाओं के जरिये नील की खेती करने वाले काश्तकार कुछ बातो में इन प्लाण्टरों के गुलाम और चाकर हो गये। नील के कारखानो के कारिन्दे उनको सताते और डराते-धमकाते रहते थे, क्योंकि सरकार से संरक्षण पाकर ये अँग्रेज या हिन्दुस्तानी कारिन्दे अपने आपको बिलकुल महफूज समझने लगे थे। अक्सर, जब नील की कीमत गिरजाती, तब किसानों के लिए चावल या ऐसी ही कोई दूसरी चीजें बोने में ज्यादा फ़ायदा रहता, लेकिन उन्हे ऐसा करने नहीं दिया जाता था। किसानों के लिए सख्त मुसीबत और तबाही थी। आख़िरकार इन जुल्मों से तंग आकर साँप ने फन उठा ही तो लिया। प्लाण्टर्स के ख़िलाफ़ किसानो ने बलवा कर दिया और एक कारख़ाने को लूट लिया। लेकिन वे कुचलकर दबा दिये गये।

इस ख़त में मैंने कुछ खुलासे के साथ उन्नीसवी सदी के किसानो की हालत का एक चित्र तुम्हें बताने की कोशिश की है। मैंने यह समझाने की कोशिश की है कि किस तरह हिन्दुस्तानी किसान की किस्मत लगातार बद से बदतर होती गई; किस तरह उसके सम्पर्क में आनेवाले हरेक शख्स ने उसे लूटा; लगान वसूल करने वाला, जमींदार, बनिया, प्लाण्टर और उसका कारिन्दा और सबसे बड़ा बनिया खुद अंग्रेज सरकार—चाहे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मार्फत, चाहे सीधा—सबके सब उसे चूसते गये। इस सारे शोषण की जड़ में थी अंग्रेजो की वह नीति जो वे हिन्दुस्तान में जान-बूझकर चला रहे थे। घरेलू उद्योग-धंधे, उनकी जगह दूसरे उद्योग जारी करने की कोशिश किये बिना ही, उजाड़ दिये गये और बेरोजगार दस्तकार गाँवों में खदेड़ दिये गये। नतीजा यह हुआ कि जमीन पर जरूरत से ज्यादा दबाव पड़ गया; जमींदारी जारी हुई; नील की खती की प्रथा चलाई गई; जमीन पर भारी टैक्स लगाये गये, जिनका नतीजा हुआ बेहद लगान और उनकी बेरहम वसूली; किसानो को सूदखोर बनियो के आगे ढकेल दिया गया, जिनके फौलादी पंजे से उनका कभी छुटकारा हो नही सकता था; वक़्त पर लगान या मालगुजारी अदा न कर सकने की बेबसी पर बेशुमार बेदख़लियाँ की गई; और इन सबके ऊपर पुलिस के सिपाही, महसूल इकट्ठा करनेवाले और जमीदार और कारख़ाने के कारिन्दो की लगातार ज्यादतियो ने ऐसा आतंक जमाया कि इसने—किसानों के हृदय और आत्मा जो कुछ

उनमें थी सबको कुचल दिया। और इस सबका लाजिमी नतीजा खौफनाक तबाही के सिवा और क्या हो सकता था?

भयंकर अकाल हुए, जिन्होंने लाखों की आबादी को तबाह कर दिया। और अजीब बात तो यह कि जब कि अनाज की कमी थी और लोग उसके बिना भूखों मर रहे थे, उसी समय गेहूँ और दूसरे अनाज अमीर सौदागरों के मुनाफे के लिए लाद-लादकर ग़ैर मुल्कों को भेजे जा रहे थे। लेकिन असल तबाही रसद की कमी की नहीं थी, क्योंकि रसद— अनाज वग़ैरा—तो रेल के ज़रिये मुल्क के दूसरे हिस्सों से भी आ सकती थी, बल्कि ख़रीदने के साधन—पैसे की कमी की थी। १८६१ ई० में उत्तर हिन्दुस्तान में, खासकर हमारे प्रान्त में, भारी अकाल पड़ा, और कहा जाता है कि जिस हिस्से में अकाल फैला हुआ था, वहाँ की ८½ फीसदी आबादी मौत की भेंट हुई। पन्द्रह वर्ष बाद, १८७६ में, दो वर्ष तक एक और भयानक अकाल उत्तरी, मध्य और दक्षिणी हिन्दुस्तान में पड़ा। संयुक्त प्रान्त की फिर सबसे भारी तबाही हुई, साथ ही मध्यभारत और पंजाब के कुछ हिस्सों में भी वैसी ही तबाही हुई। करीब एक करोड़ आदमी मौत के मुँह में गये! बीस वर्ष बाद, १८९६ में, करीब-करीब इन्हीं अभागे सूबों में हिन्दुस्तान के इतिहास में बिलकुल अपरिचित एक और दूसरा बड़ा भयंकर अकाल पड़ा। अकाल के इस भयंकर आगमन ने उत्तरी और मध्य हिन्दुस्तान को एक दम नीचे बिठा दिया और बुरी तरह कुचल दिया। १९०० में एक और अकाल पड़ा।

इस छोटे से पैरेग्राफ में मैंने तुम्हें चालीस साल के अन्दर होनेवाले चार ज़बरदस्त कहत या अकालों का हाल बताया है। इस दर्दनाक किस्से में जो खौफनाक मुसीबतें और भीषणतायें भरी हुई हैं, उनका न तो मैं बयान कर सकता हूँ, न तुम गुमान ही कर सकती हो। असल बात यह है कि शायद मैं यह चाहता भी नहीं कि तुम उन मुसीबतों और भीषणताओं को अनुभव करो, क्योंकि उनका ख़याल होते ही गुस्सा और कटुता पैदा होगी और मैं नहीं चाहता कि इस छोटी सी उम्र में तुम में कटुता पैदा हो।

तुमने उस बहादुर अंग्रेज महिला फ्लोरेंस नाइटिंगल का नाम सुना है, जिसने पहले पहल युद्ध में घायलों की सेवा-शुश्रूषा का ऐसा सुव्यवस्थित संगठन किया था। बहुत पहले ही १८७८ में, उसने लिखा था—"हमारे पूर्वी साम्राज्य का किसान पूर्व में, नहीं-नहीं शायद सारी दुनिया में, सबसे ज्यादा दर्दनाक नज़ारा है।" उसने "अपने कानूनों के नतीजों" की चर्चा करते हुए लिखा है कि इन्होंने "दुनिया के सबसे ज्यादा उपजाऊ मुल्क में, और बहुत सी ऐसी जगहों पर, जहाँ पर अकाल नाम की

कोई चीज़ होती ही नही थी, लोगों को चकनाचूर करदेने वाली और लगातार आधे पेट भूखो रहकर मरने की हालत पैदा करदी ।"

सचमुच, ऐसे बहुत कम नज़ारे होगे जो धँसी हुई आँखों और चमकती और निराश नजरो वाले हमारें किसानो से ज्यादा दर्दनाक हों । हमारे किसानों को इतने वर्षो से कितना बोझ उठाना पड़ रहा है ! और हमें यह बात भूल नही जाना चाहिए कि हम जो थोडे बहुत खुशहाल हो पाये है, उनके इस बोझ का एक हिस्सा बढ़ाकर ही हुए है । विदेशी और देशी, हम सभी लोग इस अर्से से मुसीबत के मारे किसान को चूसते रहे है और इसकी पीठ पर सवारी गाठे बैठे है । ऐसी हालत में उसकी पीठ टूट जाय तो क्या आश्चर्य ?

लेकिन, बहुत अर्से की बात है, किसान को आशा की एक झलक दिखाई दी, अच्छा युग आने और बोझा हलका होने की धीमी-सी आवाज उसके कानो में सुनाई दी; एक छोटा आदमी आया, जिसने सीधा उसकी आँखो में घुसकर देखा, उसके मुरझाये हुए दिल की तहतक पहुँचकर एक जमाने की उसकी पीड़ा को अनुभव किया । इसकी नजर म जादू था, स्पर्श में आग थी, आवाज में हमदर्दी और हृदय में करुणा, छलकता हुआ प्रेम और मृत्युपर्यन्त विश्वास था । और जब किसानो, मजदूरों और उन सबने, जो पैरो तले रौंदे जा रहे थे, उसे देखा और उसकी आवाज को सुना, तो उनके मुर्दा दिल जिन्दा हो उठे, सनसनी से भर गये; उनमें एक विचित्र आशा का उदय हुआ और हर्ष के मारे वे चिल्ला उठे--"महात्मा गाधी की जय" और अपनी मुसीबतों और अत्याचारों की घाटी से बाहर निकलने के लिए तुल खडे हुए । लेकिन जो चक्की इतने दिनो से इन्हें पीस रही थी, उन्हें आसानी से बाहर जानें देने वाली नहीं थी । वह फिर चली, और उन्हें कुचलने के लिए नये हथियार, नये कानून, और आर्डिनेन्स निकले और जकड़ने के लिए नई जंजीरें तैयार हुईं । और आगे ?---यह बताना मेरे क़िस्से या इतिहास का भाग नहीं है । यह अभी आगे आने वाले 'कल' की बात है और जब वह 'कल' 'आज' हो जायगा, हम सब कुछ अपने आप जान जायँगे उसमें किसी को सन्देह ही क्या है ?

: ११२ :

अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान पर कैसे शासन किया ?

५ दिसम्बर १९३२

उन्नीसवीं सदी के हिन्दुस्तान पर मैं अभी तुम्हें तीन लम्बे पत्र लिख चुका हूँ। अब तक जितने भी पत्र मैंने तुमको लिखे हैं, उनमें पिछला पत्र शायद सब से बड़ा था। लम्बे अर्से की तीव्र वेदना की यह एक दास्तान है, और अगर मैं इसे बहुत ही मुख्तसर या संक्षिप्त करता तो मुझे डर था कि तुम्हारे लिए उसका समझना और भी ज्यादा मुश्किल हो जाता। किसी दूसरे देश या काल की बनिस्बत हिन्दुस्तान के इतिहास के हिस्से पर शायद मैं ज्यादा ज़ोर दे रहा हूँ। यह कुछ अस्वाभाविक नहीं है। हिन्दुस्तानी होने के कारण मेरी इसमें ज्यादा दिल-चस्पी है, और इसके बारे में ज्यादा जानकारी होने की वजह से, अच्छी तरह खुलकर लिख भी सकता हूँ। ऐतिहासिक दिल-चस्पी के सिवा इस ज़माने की और भी बहुत-सी बातें हमारे लिए कहीं ज्यादा दिल-चस्पी का विषय हैं। आज के हिन्दुस्तान की जो हालत है वह उन्नीसवीं सदी की उस जद्दोजहद का नतीजा है। इस समय हिन्दुस्तान जैसा है, उसे अगर हमें समझना है तो उन कारणों को भी हमें जरूर समझना होगा, जिन्होंने इसे बनाया या बिगाड़ा है। तभी हम समझदारी और होशियारी के साथ उसकी सेवा कर सकेंगे और तभी यह जान सकेंगे कि हमें क्या करना और कौन-सा रास्ता इख्तियार करना चाहिए।

हिन्दुस्तान के इतिहास के इस काल का विवरण अभी मैंने समाप्त नहीं किया है। अभी तो मुझे इसके सम्बन्ध में बहुत कुछ कहना है। इन पत्रों में मैं इसके एक या अधिक पहलुओं को लूँगा और उसके सम्बन्ध में कुछ बताने की कोशिश करूँगा। हरेक पहलू पर मैं अलग-अलग चर्चा करूँगा, ताकि उसके समझने में आसानी हो। अलबत्ता यह तुम देखोगी कि जिन प्रवृत्तियों और परिवर्तनों या हलचलों और तब्दी-लियों का जिक्र मैं कर चुका हूँ और जिनकी चर्चा इस पत्र में और अगले पत्रों में करूँगा, वे सब कम-बढ़ एक ही साथ घटित हुई हैं, एक का दूसरी पर असर पड़ा है और इन्हीं के बीच उन्नीसवीं सदी के हिन्दुस्तान का जन्म हुआ है।

हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों के इन कारनामों और काली करतूतों का हाल पढ़कर कई जगह तो तुम उनके अत्याचार और उससे पैदा हुई व्यापक तबाही पर गुस्से से भर जाओगी। लेकिन इस सब के होने में ग़लती किसकी थी? क्या यह सब हमारी ही कमज़ोरी, बेवकूफ़ी या जहालत का नतीजा नहीं था? कमज़ोरी और जहालत

हमेशा जुल्म या अत्याचार के बुलानेवाले हुआ करते हैं। अगर अंग्रेज हमारी आपसी नाइत्तफाकी या फूट से फ़ायदा उठा सकते हैं, तो यह हमारी ही ग़लती है कि हम आपस में झगड़ते है। जुदा-जुदा दलों की ख़ुदगर्जी का सहारा लेकर अगर वे हममें फूट डाल सकते और हमें कमजोर बना सकते है, तो उन्हें ऐसा कर सकने का मौक़ा देना ही ख़ुद इस बात की निशानी है कि अंग्रेज हमसे ऊँचे है। इसलिए, अगर तुम नाराज होओ तो अपनी इस कमज़ोरी, जहालत और आपसी लड़ाई पर नाराज होना, क्योंकि यही हमारी मुसीबतो का कारण है।

हम लोग इन्हे अंग्रेजो के अत्याचार कहते हैं। लेकिन असल में य अत्याचार है किसके ? कौन इनसे फायदा उठाता है ? सारी अंग्रेज जाति नहीं, क्योंकि ख़ुद उस जाति में लाखों बदनसीब और अत्याचार से पीड़ित लोग है। और निस्सन्देह हिन्दुस्तानियो के कई छोटे-छोटे दल और वर्ग ऐसे है, जिन्हें हिन्दुस्तान के ब्रिटिश शोषण से कुछ-न-कुछ लाभ हुआ है। तब हम भेद कहाँ करे ? दरअसल यह प्रश्न व्यक्तियों का नहीं सिस्टम या प्रणाली का है। हम एक विशाल मशीन के नीचे दबे रहे है, जिसने हिन्दुस्तान के लाखो-करोडो को चूसा और कुचल डाला है। वह मशीन है औद्योगिक पूंजीवाद से उत्पन्न नया साम्राज्यवाद। इस शोषण का लाभ ज्यादातर इंग्लैण्ड को जाता है, लेकिन इंग्लैण्ड में उसका फ़ायदा कुछ ख़ास वर्गों को ही पहुँचता है। इसी तरह इस शोषण का कुछ हिस्सा हिन्दुस्तान में भी बच रहता है, और कुछ वर्गो को उससे थोड़ा-बहुत फायदा पहुँच जाता है। इसलिए हमारा कुछ व्यक्तियो से या सारी अंग्रेज जाति से नाराज होना बेवकूफ़ी है। अगर कोई प्रणाली गलत है और हमें नुकसान पहुँचाती है, तो उसे ही बदलना होगा। इस बात से कोई ख़ास फ़र्क नहीं पड़ता कि उस प्रणाली को कौन चलाता है! अक्सर नेक और भले आदमी भी किसी बुरी प्रणाली की रट में पड़कर लाचार हो जाते है। दुनिया भर में तुम्हारी इच्छा सबसे बढ़कर और नेक होने पर भी, तुम बालू और पत्थर को किसी अच्छे खाने में बदल नहीं सकतीं—उनसे अच्छा खाना बना नहीं सकती, चाहे तुम उन्हें कितना ही पकाओ। मेरे ख़याल से यही बात साम्राज्यवाद और पूंजीवाद की है। इनमें सुधार हो नहीं सकता; इनका एकमात्र असली सुधार है इनका जड़ से ख़ातमा कर देना। लेकिन यह मेरी अपनी राय है। कुछ लोग इससे मतभेद रखते हैं। तुम्हे किसी बात को ज्यों का त्यो मान लेने की जरूरत नही। जब समय आयगा, तुम अपने आप अपनी राय क़ायम कर सकोगी। लेकिन एक बात से ज्यादातर लोग सहमत है कि जो कुछ खराब है वह प्रणाली हुकूमत की तर्ज है, और इसलिए व्यक्तियो से नाराज होना बेकार है। अगर हम कोई तब्दीली चाहते है, तो हमें इस प्रणाली पर

हमला करके उसे बदल डालना चाहिए। इस प्रणाली के कुछ नुकसानदेह नतीजे हम हिन्दुस्तान में देख चुके हैं। जब हम चीन, मिस्र और बहुत से दूसरे देशों का विचार करते हैं, तो वहाँ भी हम वही प्रणाली और पूंजीवाद—साम्राज्यवाद की उसी मशीन को काम करते हुए, और दूसरे लोगों का शोषण करते हुए देखते हैं।

हम अब अपने किस्से पर वापस लौटते हैं। मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि जिस समय अंग्रेज़ हिन्दुस्तान में आये, यहाँ के घरेलू उद्योग कितनें आगे बढ़े हुए थे। उत्पादन के तरीको की स्वाभाविक प्रगति के साथ, अगर उसमें बाहरी हस्तक्षेप न होता, तो बहुत मुमकिन था कि कभी-न-कभी हिन्दुस्तान में भी यान्त्रिक यानी मशीनों का उद्योग आ जाता। लोहा और कोयला इस मुल्क में मौजूद था, और जैसा कि हम इग्लैण्ड में देख चुके हैं नये उद्योगवाद की स्थापना में इनसे बहुत कुछ मदद मिलती थी और दरअसल एक तरह उसी से इंग्लैण्ड में वह काम हुआ। अन्त में वही हिन्दुस्तान में भी हुआ होता। राजनैतिक अवस्था में गड़बडी होने के कारण मुमकिन है कि इसमें कुछ देर लग जाती। लेकिन इसी बीच अंग्रेजों ने दस्तन्दाजी कर दी। ये लोग ऐसे देश और जाति के प्रतिनिधि थे, जो अपने यहाँ परिवर्त्तन कर बडी-बडी मशीन और कल-कारखाने कायम कर चुके थे। इससे यह कल्पना की जा सकती थी कि ये लोग हिन्दुस्तान में भी इसी तरह का परिवर्त्तन किया जाना पसन्द करेंगे और यहाँ जिस वर्ग के लोगों के जरिये इस तरह का परिवर्तन हो सकने की सम्भावना हो उसे प्रोत्साहित भी करेंगे। लेकिन उन्होंने ऐसा कुछ नहीं किया। बल्कि इससे बिलकुल उलटा जो हो सकता था वही किया। हिन्दुस्तान को अपना प्रतिद्वन्द्वी मानकर उन्होने उसके उद्योगों को नष्ट कर डाला और मशीनो के उद्योग को हर तरह से निरुत्साहित किया।

इस तरह हम हिन्दुस्तान में एक अजीब हालत पाते हैं। हम देखते हैं कि इस वक़्त योरप में सबसे आगे बढ़े हुए ये अंग्रेज हिन्दुस्तान में सबसे ज्यादा पिछडे हुए और दकियानूसी वर्गों के साथ मेल कर रहे हैं; मौत के मुँह में जाते हुए सामन्त वर्ग को जिन्दा रहनें में सहायता दे रहे है, जमींदार वर्ग खड़ा कर रहे हैं, और सैंकडों रक्षित या अधीन हिन्दुस्तानी राजाओं को उनके अर्द्ध-सामन्ती राज्यों में सहारा दे रहे हैं। दरअसल वे सामन्त-प्रथा को हिन्दुस्तान में मजबूत बना रहे है। यही अंग्रेज योरप में मध्यमवर्ग की उस क्रांति के अगुआ थे, जिसने उनकी पार्लमेण्ट को ताकतवर बनाया था; यही औद्योगिक क्रान्ति के भी अगुआ थे, जिसके परिणाम-स्वरूप संसार में औद्योगिक पूंजीवाद का जन्म हुआ। इन बातों में अगुआ होने के कारण ही वे अपने प्रतिद्वन्दियों से कहीं आगे बढ़ गये और एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की।

अँग्रेजो ने हिन्दुस्तान में इस तरह का व्यवहार क्यों किया, यह समझना कुछ मुश्किल नहीं है। पूंजीवाद की सारी बुनियाद ही गला-घोटनेवाली प्रतिद्वन्द्विता और शोषण पर है, और इससे आगे बढ़ी हुई अवस्था का नाम ही साम्राज्यवाद है। इसलिए अपने हाथ में ताकत होने के कारण अँग्रेजो ने अपने वास्तविक प्रतिद्वन्द्वियो की हत्या कर डाली, और दूसरे प्रतिद्वन्द्वियो की प्रगति को जान बूझकर रोक दिया। वे शायद इसलिए जनता के साथ मेला न बढ़ा सके, क्योंकि हिन्दुस्तान मे उनके रहने का सारा प्रयोजन ही शोषण करना—लोगो को चूसना—था। शोषक और शोषितों—लुटेरों और लुटने वालो—के हित कभी एक हो नही सकते। इसलिए उन्होने—अँग्रेजो ने—हिन्दुस्तान मे अभी तक मौजूद सामन्तशाही के वारिसो की आड ली। अँग्रेज जिस समय यहाँ आये, इन लोगो में असली ताकत बहुत कम बची हुई थी, लेकिन अँग्रेजो ने इन्हे सहारा दिया और देश की लूट का कुछ हिस्सा इन्हे दिया जाने लगा। लेकिन ऐसी सस्था या वर्ग को, जो अपनी जरूरत से ज्यादा जिन्दा रह चुकी हो, इस तरह का सहारा कुछ ही अरसे के लिए राहत पहुँचा सकता है; लेकिन सहारे के हटते ही या तो उनका पतन निश्चित है, या फिर उन्हे अपने को नई परिस्थितियो के अनुकूल बना लेना होगा। अँग्रेजो की कृपा पर निर्भर इस तरह की करीब सात सौ छोटी-बडी रियासते है। इन बडी रियासतो में से कुछ, जैसे हैदराबाद, कश्मीर, मैसूर, बडौदा, ग्वालियर वगैरा, को तुम जानती हो। लेकिन यह बडी अजीब बात है कि इन रियासतो के ज्यादातर देशी नरेश प्राचीन सामन्त राजवशो के वंशज नही है, ठीक उसी तरह जिस तरह कि अधिकाँश बडे जमीदारो की कोई बहुत प्राचीन परम्परा या इतिहास नहीं है। हाँ, उदयपुर के महाराणा, जो सूर्यवशी राजपूतो के सबसे बडे माने जाते है, जरूर एक ऐसे राजा है जो अपने वश का धुधले ऐतिहासिक काल से पहले तक का परिचय दे सकते है। जापान का राजा मिकाडो ही शायद एक ऐसा जीवित व्यक्ति है, जो इस विषय में उनका मुकाबिला कर सकता है।

अंग्रेजी हुकूमत ने धार्मिक या मजहबी कट्टरता को भी मदद दी। यह बात कुछ अजीब-सी मालूम होती है, क्योंकि अंग्रेजो का दावा है कि उन्होने ईसाई धर्म को उन्नत बनाया है, फिर भी उनके आगमन ने हिन्दुस्तान में हिन्दुत्व और इस्लाम को और भी कट्टर बना दिया। किसी हद तक प्रतिक्रिया स्वाभाविक भी थी, क्योकि विदेशी आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए किसी देश के धर्म और संस्कृति कठोर और कट्टर रूप धारण कर लेते है। इस तरह मुसलमानो के हमलो के बाद हिन्दू धर्म में कट्टरपन आगया, और जात-पांत का भेद बढ़ गया। अब हिन्दू और इस्लाम दोनो ही धर्मो में इस ढग की प्रतिक्रिया हो गई। लेकिन यह जो कुछ हुआ उसके

अलावा भी, ब्रिटिश सरकार ने दोनों धर्मों के कट्टरपन को बढ़ाने में जानबूझकर और अनजान में, दोनों तरह, सहायता दी। अंग्रेजों को धर्म या उसके परिवर्तन में कोई दिलचस्पी थी ही नहीं। वे तो रुपया पैदा करने को घर से बाहर निकले थे। वे तो मजहबी मामलो में किसी तरह की दस्तन्दाजी करने से डरते थे, कि कहीं लोग गुस्से में आकर उनके खिलाफ बगावत न कर बैठें। इसलिए हस्तक्षेप का सन्देह तक न होने देने के लिए वे यहाँ तक आगे बढ़ गये कि देश के धर्म की या यो कहो कि धर्म के ऊपरी रूप की रक्षा और सहायता तक करने लगे। ज्यादातर इसका नतीजा यह हुआ कि धर्म की ऊपरी शकल तो बनी रही, लेकिन अन्दर कुछ न बचा।

कट्टर लोगो की नाराजगी के इस डर से सुधारों के बारे में सरकार सुधारकों के खिलाफ कट्टर लोगो का पक्ष लेने लगी, इस तरह सुधार का काम रुक गया। कोई विदेशी सरकार देश में शायद ही कोई सामाजिक सुधार कर सकती है; क्योंकि वह जो कुछ भी परिवर्तन करना चाहेगी, उसीका लोग विरोध करेगे। हिन्दू धर्म और हिन्दू शास्त्र कई बातो में परिवर्तनशील और प्रगतिशील थे, यह बात दूसरी है कि पिछली सदियों में इसकी प्रगति बहुत धीमी रही। स्वयं हिन्दू-शास्त्र एक तरह से प्रथा या रिवाज है, और रिवाज हमेशा बदलते और तरक्की करते रहते हैं। हिन्दू-शास्त्र का परिस्थितियो के अनुकूल बन सकने का यह गुण ब्रिटिश राज्य के अन्दर गायब होगया और उसकी जगह बडे-से-बडे कट्टरपंथियो की सलाह से बनाए गये कठोर शास्त्रीय नियमो ने ले ली। इस तरह हिन्दू-समाज की वह धीमी प्रगति भी अब बिलकुल ही रुक गई। मुसलमानो ने नई परिस्थितियो का और भी ज्यादा विरोध किया और अपने तंग दायरे में ही चक्कर काटते रहे।

सती प्रथा को, जिसमें कि हिन्दू विधवा अपने पति की चिता पर जिन्दा ही जल जाती थी, मिटाने का अंग्रेज अपने को बहुत अधिक श्रेय देते हैं। जरूर ही कुछ हद तक वे इसके अधिकारी हैं, लेकिन सच बात तो यह है कि सरकार ने खुद नहीं, बल्कि राजा राममोहन राय के नेतृत्व में हिन्दुस्तानी सुधारकों को इस प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन करते हुए कई वर्ष होगये, तब जाकर कहीं उसने यह कदम बढ़ाया था। इससे पहले दूसरे शासको ने भी, और खासकर मराठो ने इसको, रोक दिया था। गोआ में वहाँ के पोर्चुगीज शासक अलबुकर्क ने इस प्रथा को उठा दिया था। अंग्रेजो ने जो इस प्रथा को उठाया वह हिन्दुस्तानियो के आन्दोलन और ईसाई पादरियो की कोशिशों का ही नतीजा था। जहाँ तक मैं खयाल करता हूँ कि धार्मिक महत्त्व का यही एक सुधार है जो ब्रिटिश सरकार ने किया है।

इस तरह अंग्रेजों ने देश के सब पिछडे हुए और दकियानूसी वर्गों के साथ मेल

कर लिया। अपने कारखानों को कच्चा माल पहुँचाने की नीयत से उन्होंने हिन्दुस्तान को बिलकुल कृषि-प्रधान देश बना दिया। हिन्दुस्तान में कारखाने तरक्की न पा सकें इसलिए मशीनों की आमद पर चुंगी लगा दी ! दूसरे देशो ने अपने उद्योग-धन्धों को खूब प्रोत्साहित किया। जैसा कि हम आगे देखेंगे, जापान ने उद्योगवाद की उन्नति में सरपट दौड़ लगाई। लेकिन हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार ने उसे दबाये रक्खा। मशीनों पर की इस चुंगी के कारण, जोकि १८६० तक हटाई नहीं गई थी, हिन्दुस्तान में कारखाना खोलने का खर्च, यहाँ पर मजदूरी कही अधिक सस्ती होने पर भी, इंगलैण्ड से चौगुना पड़ता था। अडंगे या बाधा डालने की इस नीति से प्रगति में चाहे देर भले ही होजाय, लेकिन घटनाओं के लाजिमी बहाव को रोका नहीं जा सकता। करीब उन्नीसवीं सदी के बीच में हिन्दुस्तान में मशीन का उद्योग बढ़ने लगा। बंगाल में अंग्रेजी पूँजी से जूट यानी सन का उद्योग शुरू हुआ। रेलवे के निकलने से उद्योग की वृद्धि में सहायता मिली। १८८० में बम्बई और अहमदाबाद में रूई की मिलें खुलीं, जिनमें ज्यादातर हिन्दुस्तानी पूँजी लगी थी। इसके बाद खानों का नम्बर आया। उद्योग-धन्धों का धीरे-धीरे होनेवाला यह कारबार रूई के कारबार के सिवा, ज्यादातर अंग्रेजी पूँजी से हो रहा था। और यह सब कुछ हो रहा था बिना किसी सरकारी सहायता के। सरकार उदासीनता या खुली नीति (Laissez Faire) की बातें करती थी और कहती थी कि घटनाओ का प्रवाह जैसा है होता रहे, लोग प्राइवेट तौर पर जो कुछ कर रहे है, उसमें दखल न दिया जाय। जिस समय अठारहवी और शुरू की उन्नीसवीं सदी में हिन्दुस्तानी व्यापार ब्रिटिश व्यापार का प्रतिद्वन्द्वी बना हुआ था, उस समय तो सरकार ने इंग्लैंड में हिन्दुस्तानी व्यापार में दस्तन्दाजी करके, उस पर भारी चुंगी लगाकर, उसका रास्ता बंद करके, उसे कुचल दिया। लेकिन इस तरह अपने उद्योग को आगे बढ़ा देने के बाद, यहाँ अब वह लेसे फेयर की नीति बघारने लगी। लेकिन असली बात तो यह है कि वह बिलकुल उदासीन थी भी नही। असल में उसने कई हिन्दुस्तानी उद्योगो, खासकर बम्बई की मिलो और अहमदाबाद के बढ़ते हुए रुई के उद्योग को निरुत्साहित किया। इन हिन्दुस्तानी मिलो में तैयार हुए माल पर एक तरह का टैक्स या चुंगी लगाई गई, जो 'एक्साइज ड्यूटी' कहाती है। उसका मकसद था लंकाशायर के कपडे को हिन्दुस्तानी कपडे से मुकाबिला करने में मदद पहुँचाना। करीब-करीब सभी देशों में अपने उद्योगो की रक्षा या आमदनी बढ़ाने की गरज से विदेशी माल पर चुंगी लगाई जाती है। लेकिन हिन्दुस्तान में अँग्रेजो ने एक निहायत गैर-मामूली और अजीब बात की। उन्होंने खुद हिन्दुस्तानी माल पर चुंगी लगा दी ! इसके खिलाफ़ जबर्दस्त आन्दोलन

होने पर भी, रुई पर यह चुंगी अभी पिछले वर्षों तक बनी ही रही।

इस तरह सरकार की अडंगा-नीति के रहते हुए भी हिन्दुस्तान में धीरे-धीरे आधुनिक उद्योग-धन्धे की उन्नति होती गई। हिन्दुस्तान के धनिक वर्ग औद्योगिक तरक्की की ज्यादा-ज्यादा पुकार मचाते रहे। तब जाकर कहीं, जहाँतक मेरा ख़याल है १९०५ में, सरकार ने 'तिजारत और व्यवसाय विभाग' को कायम किया। लेकिन इसने भी, महायुद्ध छिड़ने से पहले तक ऐसा कोई ख़ास काम किया नहीं। उद्योग-धन्धों की स्थिति के इस तरह उन्नत होने के कारण शहरों के कारखानो में काम करनेवाले औद्योगिक मजदूरों की भी एक श्रेणी बन गई। जमीन पर पड़ने वाले बोझ या दबाव, जिसकी कि मैं तुमसे चर्चा कर चुका हूँ, और देहती इलाके की अकाल-ग्रस्त अवस्था, इन दोनो ने मिलकर गाँववालो को इन फैक्टरियों में और बंगाल और आसाम के नील के खेतो पर काम करने के लिए ढकेल दिया। इस दबाव के कारण बहुत से लोगों को दूसरे देशो में चले जाने के लिए लाचार होना पड़ा, क्योंकि वहाँ उन्हे अधिक मजदूरी मिलने की आशा दिलाई गई थी। ज्यादातर लोग दक्षिण-अफरीका, फिजी, मॉरिशश और लंका को गये। लेकिन इस परिवर्तन से मजदूरो का कोई ख़ास फ़ायदा नहीं हुआ। कुछ देशों में इन प्रवासी भारतीयो के साथ बिलकुल गुलामों का-सा वर्ताव किया गया। आसाम के चाय के बगीचो के मजदूरों की हालत भी कुछ बहुत अच्छी न थी। इस दुर्दशा से उकताकर बाद को उन्होंने चाय के बगीचे छोड़कर फिर अपने गाँवो को लौट जाना चाहा। लेकिन अपने गाँवो में भी उन्हे किसीने नहीं अपनाया, क्योंकि गाँवों में अब कोई ज़मीन बाकी ही नहीं रही थी।

फ़ैक्टरी या कारख़ानों के मजदूरो को जल्दी ही मालूम हो गया कि किसी क़दर ज्यादा मिलनेवाली मजदूरी से कोई ख़ास फायदा नहीं पहुँचता। शहर में हरेक चीज की कीमत ऊँची होती थी, और शहरों का सारा रहन-सहन ही बहुत ज्यादा ख़रचीला पड़ता था। रहने की जो जगह उन्हें मिलती थी, वह निहायत गन्दी, सीली, अंधेरी और तंदुरुस्ती को बिगाड़ने वाली तंग कोठड़ियाँ होती थीं। उनके काम करते समय की हालत भी रद्दी ही होती थी। गांवो में उन्हें अक्सर भूखो मरना पड़ता था, लेकिन धूप और ताजी हवा तो भरपूर मिल जाती थी। लेकिन यहाँ उनके लिए न तो ताजी हवा थी, न काफी धूप। उनकी मजदूरी इतनी नहीं होती थी जो ऊँचे दर्जे का रहन-सहन इख्तियार किया जा सके। औरतो और बच्चो तक को बहुत-ज्यादा घण्टों तक काम करना पड़ता था। गोदी के बच्चेवाली मातायें अपने बच्चो को अफीम खिलाने लगीं, जिससे कि वे उनके काम में रुकावट न डाले। औद्योगिक मजदूरों को जिन ज़लील हालतों में रहकर फैक्टरियो में काम करना पड़ता था, वे इसी तरह की

थीं। वे निश्चय ही बहुत दुखी थे, और उनमें असंतोष बढ़ रहा था। कभी-कभी बहुत ही मायूस होजाने पर वे हड़ताल कर देते और काम छोड़ बैठते थे। लेकिन वे बहुत ही निर्बल और कमज़ोर थे, इसलिए उनके पूंजीपति मालिक, जिनकी पीठ पर अक्सर सरकार का हाथ रहता था, आसानी से उन्हे कुचल देते थे। बहुत धीरे-धीरे और कडुवे अनुभवो के बाद उन्होने सम्मिलत प्रयत्न का महत्त्व समझा। तब उन्होने मजदूर-सघ बनाये।

यह न समझना कि यह वर्णन पिछली हालतों का है। मजदूरो की हालत में इधर कुछ सुधार जरूर हुआ है, इन ग़रीबों के नाम मात्र के बचाव के लिए कुछ कानून भी बनाये गये हैं, लेकिन आज भी उनकी वही ज़लील हालत बनी हुई है, और अगर तुम कानपुर, बम्बई और कुछ दूसरी जगहो पर, जहाँ कि कारखाने है, ज़रा जाकर देखोगी तो इन मजदूरो के घर देख कर तुम्हारे दिल दहल उठेंगे।

अपने इस और दूसरे पिछले पत्रो में मैंने तुम्हे हिन्दुस्तान में अँग्रेज और उनकी हुकूमत का हाल लिखा है। यह शासन किस तरह का था और कैसे चलता था? शुरू में ईस्ट इण्डिया कम्पनी शासक बनी, लेकिन उसकी पीठ पर ब्रिटिश पार्लमेण्ट थी। १८५७ के गदर के बाद ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने सीधे अपने हाथ में हुकूमत लेली, और उसके बाद इग्लैण्ड का बादशाह, या चूंकि उस समय वहाँ मल्का राज करती थी इसलिए वह महारानी 'कैसरे-हिंद' के रूप में प्रकट हुई। हिन्दुस्तान में सबके ऊपर गवर्नर जनरल था, जो वाइसराय अर्थात् बादशाह का प्रतिनिधि भी कहलाता था, और उसके नीचे अफसरो के दल के दल थे। हिन्दुस्तान, जैसा कि बहुत कुछ अब भी है, बडे-बडे प्रातो और रजवाडों में या देसी रियासतो में बांट दिया गया था। देशी नरेशो की रियासते मानी तो जाती थीं अर्द्ध-स्वतन्त्र, लेकिन हकीकत में वे पूरी तरह से अँग्रेजो की मातहत थी। हरेक बडी रियासत में एक अँग्रेज अफसर रहता था जो रेजिडेण्ट कहलाता था और आमतौर पर शासन-प्रबन्ध पर अपना अधिकार रखता था। अन्दरूनी सुधारो में उसे कोई दिलचस्पी न थी, और उसे इससे कोई मतलब न था कि रियासत का शासन कितना खराब या दकियानूसी ढग का है। उसकी दिलचस्पी तो सिर्फ इस बात में थी कि रियासत में अँग्रेजी सत्ता को किस तरह ज्यादा-से-ज्यादा मज़बूत बनायें।

हिन्दुस्तान का करीब एक तिहाई हिस्सा इन रियासतो में बँटा हुआ था। बाकी का दो-तिहाई हिस्सा प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश सरकार के अधीन था। इसलिए यह दो-तिहाई हिस्सा ब्रिटिश हिन्दुस्तान कहलाता है। ब्रिटिश हिन्दुस्तान के बडे-बडे अफ़सर अंग्रेज़ होते थे, उन्नीसवी सदी के अखीर में कुछ हिन्दुस्तानियों को

इक्के-दुक्के ओहदे मिल गये। लेकिन फिर भी तमाम ताकत और इख्तियार अँग्रेजों के ही हाथ में रहे, और अभी भी हैं। फौजी अधिकारियों को छोड़कर बाकी के ये सब ऊँचे अफ्सर इण्डियन सिविल सर्विस के सदस्य होते थे। इस तरह हिन्दुस्तान का सारा शासन इसी विभाग—इण्डियन सिविल सर्विस के अधीन था। इस तरह एक-दूसरे द्वारा नियुक्त की हुई और प्रजा के प्रति गैर-जिम्मेदार अफ्सरों से बनी सरकार नौकरशाही (Bureaucracy) कहलाती है।

इस आई० सी० एस०—इण्डियन सिविल सर्विस—के बारे में हम बहुत कुछ सुनते रहते हैं। ये लोग भी एक अजीब दुनिया के जीव रहे हैं। कुछ बातों में वे बड़े कुशल और होशियार थे। वे शासन-व्यवस्था करते थे, ब्रिटिश हुकूमत को मजबूत बनाते थे, और इसी सिलसिले में खुद भी उससे खूब फायदा उठा लेते थे। ब्रिटिश शासन को ठोस बनाने और टैक्स वसूल करने वाले सब महकमे बड़ी खूबी और होशियारी के साथ संगठित किये गये थे। दूसरे महकमों को नजर-अन्दाज कर दिया गया था—उन पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। जनता द्वारा नियुक्त न होने और उसके प्रति जिम्मेदार न होने के कारण आई० सी० एस० वाले जनता के हितों से सबसे ज्यादा सम्बन्ध रखने वाले इन महकमों पर बहुत कम ध्यान देते थे। जैसा कि ऐसी हालतों में होना स्वाभाविक ही था, ये लोग ढीठ, अभिमानी या घमण्डी हो गये और लोकमत को तुच्छ दृष्टि से देखने लगे। संकुचित और सीमित दृष्टिकोण के साथ ये लोग अपने आपको दुनिया के सबसे ज्यादा अकलमन्द आदमी समझने लगे। उनके लिए हिन्दुस्तान के हित का असली अर्थ था अपने ही विभाग का हित करना। उन्होंने एक तरह की एक-दूसरे की तारीफ करने वाली संस्था बनाली और हमेशा एक-दूसरे की तारीफ की जाने लगी। बेशुमार इख्तियार और निरकुंश सत्ता में, जैसा होना स्वाभाविक ही था, ये इण्डियन सिविल सर्विस वाले पूरी तरह हिन्दुस्तान के मालिक बन गये। ब्रिटिश पार्लमेण्ट इतनी दूर थी कि इनके कामों में दखल दे नहीं सकती थी, और अगर किसी मौके पर दखल देती भी तो देने का कोई कारण नहीं पाती थी, क्योंकि ये लोग उसके और ब्रिटिश उद्योग के हितों को बराबर साधते रहते थे। जहाँ तक भारतीय जनता के हित या स्वार्थों का प्रश्न था, उसके प्रति इन्हें किसी खास हद तक प्रभावित करने या झुकाने का कोई रास्ता न था। वे इतने असहिष्णु या तुनक-मिजाज हो गये थे कि अपनी मामूली से मामूली आलोचना को भी बरदाश्त नहीं कर सकते थे।

पिछले वर्षं हिन्दुस्तान में बहुत-कुछ उथल-पुथल हो चुकी है, लेकिन आई० सी० एस० शुरु में जैसी थी, अब भी बिलकुल वैसी की वैसी बनी हुई है। प्रसिद्ध

भारतीय नेता गोपाल कृष्ण गोखले ने आई० सी० एस० नौकरशाही की ख़ासियतो का इस तरह वर्णन किया हैः—

"लोकमत का वे घोर तिरस्कार करते है, ढीठ और अभिमानी होते है, अपनी श्रेष्ठ बुद्धिमत्ता का दम्भ करते रहते है, जनता की चिर सचित भावनाओ को बेदर्दी से ठुकराते रहते है, उसकी न्याय-बुद्धि की नकली अपीले करते है, सुशासन की अपेक्षा अपने विभाग या महकमे के स्वार्थो को हमेशा ऊचा स्थान देते है।"

कभी-कभी तो उनकी ये खासियतें और 'मो समान दूसर कोउ नाहीं' वाली अकड़ बडी मजेदार मालूम होती है। इनकी दिखावटी शान या श्रेष्ठता और सर्वज्ञता की शेख़ी हमें गिलबर्ट और सलवियन[1] के नाटको के पात्रों की याद दिला देती है। गिलबर्ट के 'मिकाडो' नामक नाटक का पात्र पूहवाह रंग-मंच पर तो बड़ा सुहावना मालूम होता है। लेकिन उसे असली जीवन में और नज़दीक से देखने पर शायद वह इतना सुहावना न जँचे! अपने मुंह मियाँ मिट्ठू बनने की आदत और अपनी कारगुज़ारी पर आत्म-सन्तोष प्रकट करने का ढंग दूसरे लोगो के लिए कुछ बहुत ख़ुशगवार नहीं होता, लेकिन इसको दरगुज़र किया जा सकता है। ऊँचे अधिकारियो की एक और आदत—एक-दूसरे का पुतला या और कोई स्मारक-चिह्न स्थापित करने या कुछ इमारतों, बाग-बगीचो और सड़को के नाम अपनें नामो पर रखवा कर अपनी यादगार को स्थायी बनाने की कोशिशो को भी हम बरदाश्त कर सकते है। बात यह है कि ये पुतले आमतौर पर भद्दे होने पर भी इनको नज़रअन्दाज़ किया जा सकता है। लेकिन इनकी स्वार्थपूर्ण नीति को सहन नहीं किया जा सकता था, क्योकि उसका बदनसीब नतीजा होता है अपनी जनता की तबाही।

फिर भी इण्डियन सिविल सर्विस में कुछ भले, ईमानदार और योग्य आदमी भी होते थे। लेकिन वे उस नीति के प्रवाह के रुख को बदल नहीं सकते थे, जो कि हिन्दुस्तान को अपने साथ बहाए लिये जा रही थी। कुछ भी हो आई० सी० एस० वाले इंग्लैण्ड के औद्योगिक और आर्थिक स्वार्थो की पूर्त्ति करनेवाले एजेण्ट ही तो थे, जिनका ख़ास प्रयोजन था हिन्दुस्तान का शोषण करना।

जिन-जिन विषयो में इसके अपने और ब्रिटिश उद्योग के स्वार्थों या हितों का सम्बन्ध था, उनमें तो हिन्दुस्तान की यह नौकरशाही सरकार कार्यदक्ष और होशियार हो गई। लेकिन शिक्षा, सफाई, अस्पताल और किसी भी राष्ट्र का भला

१ डब्लू. एस. गिलबर्ट उन्नीसवी सदी का एक प्रसिद्ध नाटककार हो गया है। इसने सर आर्थर सलवियन के साथ मिलकर 'मिकाडो', 'राजकुमारी ईडा, 'पेशन्स' वगैरा बहुत से गीति-नाट्य तैयार किये थे।

करने वाली और उन्नत बनानेवाली ऐसी ही और दूसरी प्रगतियों को भुला दिया गया था। कई वर्षो तक इन बातो का ख़याल तक नही था। पुरानी ग्रामीण पाठशालायें ख़तम हो गई। तब कहीं धीरे-धीरे और बडी बेदिली से कुछ शुरुआत की गई। शिक्षा की शुरूआत भी उन्होने अपनी खुद की ग़रज़ से ही की थी। ऊँचे ओहदे तो अंग्रेजो से भर गये थे, लेकिन ज़ाहिर है कि छोटे ओहदो और क्लर्की की जगहो को वे भर नहीं सकते थे। क्लर्कों की जरूरत थी, सो क्लर्को की इस जरूरत को पूरी करने के ही लिए शुरू में अंग्रेजों ने ये स्कूल और कालेज खोले। तभी से, हिन्दुस्तान में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यही रहा है, और इस शिक्षा से तैयार हुए ज्यादातर लोग हैं भी सिर्फ क्लर्क बनने के ही क़ाबिल। लेकिन क्लर्कों की तादद जल्द ही सरकारो और दूसरे दफ्तरो की जरूरत से ज्यादा बढ़ने लगी। बहुतों को नौकरी नहीं मिली, और इस तरह इन पढ़े-लिखे बेकारो का एक नया वर्ग बन गया। आज ऐसे ग्रेजुएटो और दूसरे शिक्षितों का एक बड़ा समुदाय मिलेगा, जिन्होने यूनीवर्सिटियो में इतनी उम्र गुज़ारने के बाद भी कोई तिजारत या दस्तकारी नहीं सीखी। इनमें से लोग ज्यादातर कोई भी चीज़ बना या पैदा नहीं कर सकते। वे सिर्फ क्लर्क या सरकारी दफ़्तरो में छोटे अहलकार या वकील ही हो सकते हैं।

इस नई अंग्रेजी शिक्षा में बंगाल सबसे आगे बढ़ा और इसलिए शुरू में ज्यादातर क्लर्कों की भरती इन्हीं बंगालियो में से हुई। १८३७ में तीन युनिवर्सिटियाँ–कलकत्ता, बम्बई और मदरास में खुलीं। एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुसलमानो ने इस नई शिक्षा के प्रति अपनी दिलचस्पी नहीं बतलाई। इस तरह क्लर्की और सरकारी नौकरियों की इस दौड़ में वे पिछड़ गये। बाद में यही उनकी शिकायत का एक कारण हो गया।

एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि जब सरकार ने तालीम की शुरूआत की तो लड़कियो को इस समय भी बिलकुल भुला दिया गया। यह कोई ताज्जुब की बात नहीं थी। जो शिक्षा दी जा रही थी वह क्लर्क तैयार करने की थी, और पुरुष क्लर्कों की ही जरूरत थी, और उस समय की पिछडी हुई सामाजिक रूढ़ियो के कारण, पुरुष ही मिल भी सकते थे। इसलिए लड़कियो की तालीम के सवाल को बिलकुल छोड़ दिया गया, और बहुत वर्षो के बाद जाकर कहीं उनके लिए शुरूआत की गई।

जब मैं हिन्दुस्तान के बारे में कुछ लिखने बैठता हूँ तो मेरी कलम आगे ही आगे ही बढ़ती जाती मालूम होती है। लेकिन इस युग के सम्बन्ध में मैं एक पत्र और लिखूंगा और तुम्हें बताऊँगा कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता की वृद्धि किस तरह हुई।

: ११३ :

हिन्दुस्तान का पुनर्जागरण

७ दिसम्बर, १९३२

हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश हुकूमत का पाया किस तरह मजबूत हुआ, और किस नीति को इख्तियार करके उसने हमें गरीब और तबाह कर दिया, यह मैं तुम्हे बतला चुका हूँ। देश में शान्ति जरूर हुई और व्यवस्थित शासन भी कायम हुआ, और मुगल साम्राज्य के पतन से पैदा हुई गड़बडी के बाद ये दोनो ही बातें अच्छी थी। चोर-डाकुओं के संगठित दलो का दमन कर दिया गया। लेकिन खेतों और कारखानो में काम करने वाले किसान और मजदूरो के लिए इस शान्ति और व्यवस्था का कोई खास मूल्य न था, क्योंकि वे अब नई हुकूमत की भारी चक्की के नीचे कुचले जा रहे थे। लेकिन मैं तुम्हें एक बार फिर याद दिलाऊँगा कि किसी देश या जाति पर— इंग्लैण्ड या इंग्लैण्ड के रहनेवालो (अंग्रेजों) पर, नाराज होना ठीक नहीं है; क्योंकि वे भी हमारी तरह परिस्थितियो के शिकार थे। इतिहास के अध्ययन ने हमें बताया है कि जीवन प्रायः बड़ा निर्दय और कठोर है। इस पर उत्तेजित होना या लोगो पर खाली दोष लगाना एकदम बेवकूफी है, और उससे कोई मदद नहीं मिलती। बुद्धिमानी और समझदारी इसीमें है कि गरीबी, मुसीबत और शोषण के कारणो को समझने, उन्हें दूर करने की, कोशिश की जाय। अगर हम ऐसा करने में नाकामयाब रहते हैं और घटना-क्रम की दौड़ में पिछड़ जाते है, तो लाजिमी तौर पर उसका बुरा नतीजा भुगतना पडेगा। हिन्दुस्तान इसी तरह पिछड़ा है। वह एक तरह से पथरा-सा गया, उसका समाज लकीर का फकीर बन गया, और उसकी सामाजिक व्यवस्था निश्चेष्ट और निर्जीव होकर सड़ने लगी। ऐसी हालत मे हिन्दुस्तान को मुसीबतें झेलनी पडी तो उसमें अचरज की बात नहीं है। अंग्रेज तो इन मुसीबतो के साधन-मात्र बन गये। अगर वे यहाँ न आये होते, तो शायद कोई दूसरी जाति आती और इसी तरह का बरताव करती। इसलिए हमें अंग्रेजो को दोष देने की जरूरत नही। लेकिन इसके साथ ही अंग्रेजो का बडी संजीदगी और शान के साथ यह कहना भी हद्द दरजे की बेहूदगी है कि वे हिन्दुस्तान के ट्रस्टी हैं, और उन्होने उसपर बे-शुमार नियामतें बरसाई हैं। अन्धे आत्म-सन्तोष के साथ किसी तरह की दलील नही की जा सकती। उसे तो फ़िज़ूल की बकवास ही कहा जा सकता है।

लेकिन अंग्रेजो ने हिन्दुस्तान को एक बड़ा फायदा पहुँचाया। उनके नये और स्फूर्तिवाले जीवन के साथ की टक्कर ने हिन्दुस्तान को हिला दिया और उसमें राज-

नैतिक सगठन और राष्ट्रीयता की भावना पैदा कर दी। हमारे इस प्राचीन देश और जाति का कायाकल्प करने या उसमें फिर नव-यौवन पैदा करने के लिए शायद ऐसी ठोकर की—हालाँकि वह तकलीफदेह या कष्टप्रद जरूर थी—जरूरत थी। क्लर्क तैयार करने के लिए दी जाने वाली अंग्रेजी तालीम ने हिन्दुस्तानियो को सामयिक पश्चिमी विचारों के सम्पर्क में भी ला दिया। इससे अब अंग्रेजी पढ़े-लिखों का एक नया वर्ग बनने लगा। ये लोग यद्यपि सख्या में कम और सर्वसाधारण जनता से अलग से थे, लेकिन फिर भी नवीन राष्ट्रीय आन्दोलनो में आगे बढ़ने पर तुले हुए थे। ये लोग शुरू में तो इंग्लैण्ड के बडे भक्त और अंग्रेजो के स्वाधीनता-सम्बन्धी विचारों के बडे प्रशसक थे। उन दिनों इंग्लैण्ड में कुछ लोग स्वाधीनता और प्रजातन्त्र के विषय में बडी-बडी बातें करते थे। लेकिन ये सब बातें गोल-मोल होती थीं, और यहाँ हिन्दुस्तान में इंग्लैण्ड अपने फायदे के लिए निरकुश शासन चलारहा था। लेकिन बडे विश्वास के साथ यह आशा दिलाई जा रही थी कि ठीक समय आ जाने पर इंग्लैण्ड हिन्दुस्तान को आजादी देदेगा।

हिन्दुस्तान के पश्चिमी विचारो के संसर्ग में आने का कुछ असर हिन्दू धर्म पर भी पड़ा। जन-साधारण पर तो कुछ प्रभाव नहीं हुआ, बल्कि जैसा कि मैं पहले तुम्हें बता चुका हूँ, सरकार की नीति ने कट्टरपथियो को ही वास्तविक सहायता पहुँचाई, लेकिन सरकारी मुलाजिमो और पेशेवर लोगों की जो नई मध्यम श्रेणी बन रही थी, उसपर असर पड़ा। उन्नीसवीं सदी की शुरूआत में ही बंगाल में हिन्दूधर्म को पश्चिमी ढंग पर सुधारने की कोशिश की गई। जरूर ही पुराने जमाने में भी हिन्दूधर्म में कई सुधारक हो चुके है, जिनमें से कुछ का जिक्र मै तुमसे इन पत्रो में कर चुका हूँ। लेकिन इस नई कोशिश पर निश्चित रूप से ईसाइयत और पश्चिमी विचारों का असर था। इस प्रयत्न के करनेवाले थे एक महान् पुरुष और महान विद्वान राजा राममोहन राय, जिनकी चर्चा हम अभी सती-प्रथा उठाने के सम्बन्ध में कर आये है। उन्हे संस्कृत, अरबी और कई दूसरी भाषाओ का अच्छा ज्ञान था, और जुदे-जुदे धर्मों का भी उन्होने गम्भीर अध्ययन किया था। वे पूजा-पाठ आदि धार्मिक कर्म-काण्ड के विरुद्ध थे और सामाजिक सुधार और स्त्री-शिक्षा के हामी थे। उन्होने जो समाज स्थापित किया वह 'ब्राह्म-समाज' कहलाता था। जहाँ तक संख्या का संबंध है, वह एक छोटी सी ही जमात थी और अब भी वैसी ही है, और बंगाल के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगो तक ही महदूद थी। लेकिन बंगाल के जीवन पर इसका जबर्दस्त असर पड़ा। ठाकुर—रवीन्द्रनाथ—परिवार ने इसे ग्रहण कर लिया, और महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के नाम से मशहूर, कविवर रवीन्द्रनाथ के (जहाँ तक मेरा खयाल है) पिता,

बहुत वर्षो तक इस समाज के आधार और स्तम्भ थे। इसके दूसरे प्रमुख सदस्य थे केशवचन्द्र सेन।

इस सदी के पिछले हिस्से में एक और धार्मिक सुधार-आन्दोलन चला। पंजाब में इसकी शुरूआत हुई और स्वामी दयानन्द इसके प्रवर्त्तक थे। उन्होने 'आर्य समाज' नाम की एक दूसरी संस्था स्थापित की। इसने भी हिन्दू धर्म में पीछे से पैदा हुई रूढ़ियों का खण्डन किया और जात-पांत के साथ युद्ध छेड़ा। इस समाज की पुकार थी, "वेदो की शरण में आओ।" हालांकि यह मुस्लिम और ईसाई विचारों से प्रभावित एक सुधारक आन्दोलन था, लेकिन मूलतः यह एक आक्रमणकारी या खण्डनात्मक जोशीली प्रवृत्ति थी। इसका विचित्र परिणाम यह हुआ कि, आर्यसमाज, जो शायद हिन्दुओ के अनेक समुदायों में सबसे ज्यादा इस्लाम के नजदीक पहुँचता था, उसका—इस्लाम का—प्रतिद्वंद्वी और विरोधी बन गया। यह अपने ही बचाव में लगे हुए और स्थिर हिन्दू धर्म को एक उग्र प्रचारक धर्म में बदल देने की कोशिश थी। इसका उद्देश हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार करना था। राष्ट्रीयता का कुछ रंग दे देने से इस आन्दोलन को कुछ बल मिल गया। दरअसल इस आन्दोलन के रूप में हिन्दू राष्ट्रीयता अपना सिर ऊँचा कर रही थी। इस राष्ट्रीयता के हिन्दूपन का ही यह नतीजा था कि वह भारतीय राष्ट्रीयता न बन सकी।

ब्राह्म-समाज की अपेक्षा आर्यसमाज का कहीं अधिक व्यापक प्रचार था, खास-कर पंजाब में तो बहुत ही ज्यादा। लेकिन यह ज्यादातर मध्य श्रेणी या औसत दर्जे के लोगो तक ही सीमित था। समाज ने शिक्षा-प्रचार का काम बहुत काफी किया है, और लड़के और लड़कियों दोनों ही के लिए इसने स्कूल और कालेज खोले हैं।

इस सदी के एक और प्रसिद्ध धार्मिक महापुरुष रामकृष्ण परमहंस हुए। लेकिन इस पत्र में मैने जिन महापुरुषों का जिक्र किया है, उन सबसे वह जुदा थे। उन्होंने सुधार के लिए किसी उग्र समाज की स्थापना नहीं की। उन्होने सेवा पर जोर दिया, और अनेक 'रामकृष्ण सेवाश्रम' देश के कई भागो में दुर्बल और दरिद्र नारायण की सेवा का यह काम आज भी कर रहे हैं। रामकृष्ण के एक प्रसिद्ध शिष्य स्वामी विवेकानन्द हुए हैं। उन्होने अत्यन्त धाराप्रवाही और जोशीले ढंग से राष्ट्रीयता के मन्त्र का प्रचार किया। यह आन्दोलन किसी प्रकार भी मुस्लिम-विरोधी या अन्य किसी का भी विरोधी नहीं था, न आर्यसमाज की तरह यह राष्ट्रीयता संकुचित ही थी। फिर भी विवेकानन्द की राष्ट्रीयता का स्वरूप हिन्दू ही था और इसका आधार हिन्दूधर्म और हिन्दू संस्कृति ही थी।

इस तरह यह एक दिलचस्प बात है कि हिन्दुस्तान में उन्नीसवीं सदी में राष्ट्रीयता

की आरम्भिक लहरों का रूप धार्मिक और हिन्दू था। इस हिन्दू राष्ट्रवाद में मुसलमान स्वभावत- ही कोई भाग नहीं ले सकते थे। वे अलग ही रहे। अंग्रेजी तालीम से अपने को अलग रखने के कारण नये विचारो का उनपर कम असर हुआ, और उनमें तालीम हासिल करने का उत्साह बहुत ही कम था। कई दसियो साल बाद उन्होने अपने तंग दायरों से बाहर निकलना शुरू किया, और तब हिन्दुओं की तरह उनकी राष्ट्रीयता ने भी, इस्लामी रवायतो और तहज़ीब के मुताबिक इस्लामी शकल इख्तियार की, उन्हे डर था कि बहुमत में होने के कारण हिन्दू कहीं इन्हे नष्ट न करदें। लेकिन मुसलमानों की यह तहरीक बहुत देर के बाद—सदी के अखीर के क़रीब, प्रकट हुई।

हिन्दू और मुस्लिम धर्म के इन सुधार और प्रगतिवादी आन्दोलनों की एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनमें पुराने धार्मिक विचारों और रिवाजो को, जहाँ तक हो सका पश्चिम से प्राप्त नवीन वैज्ञानिक और राजनैतिक विचारो के अनुकूल बनाने की कोशिश की गई थी। न तो वे इन पुरानें विचारो और रिवाजो की उपयुक्तता के सम्बन्ध में चैलेञ्ज करने या निर्भयता के साथ इन्हें कसौटी पर कसनें को तैयार थे, न वे नई दुनिया के वैज्ञानिक आविष्कारो और अपने चारों तरफ फैले हुए राजनैतिक और सामाजिक विचारो को ही न नजरअन्दाज कर सकते थे। इसलिए उन्होने यह साबित करने की कोशिश करके कि सारे नये खयालात और प्रगतियो का उनके प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में पता चल सकता है, इन पुराने और नये दोनो तरह के विचारो में एकता करने की कोशिश की। इस कोशिश का नाकामयाब होना लाज़िमी ही था। उसने लोगो को सीधी तौर से विचार करने से रोक दिया। साहस के साथ विचार करने और दुनिया की शकल बदल देनेवाली नई ताकतो और नये विचारो को समझने के बजाय वे प्राचीन प्रथाओं और पुरानी रवायतो के बोझ के नीचे दबे जा रहे थे, आगे देखने और आगे बढ़ने के बजाय वे हमेशा लुकछिपकर पीछे की तरफ ताकते थे। अगर कोई अपना सिर हमेशा पीछे को मोड़े रहे और उसी तरफ देखता रहे, तो उसका आगे बढ़ना आसान नहीं है। इस तरह तो वह ठोकर खायगा और अपनी गर्दन में दर्द बढ़ा बैठेगा!

शहरो में धीरे-धीरे अंग्रेजी पढ़े-लिखों की जमात बढ़ गई, और उसी समय वकालत, डाक्टरी वगैरा पेशेवालो और साहूकारों और व्यापारियों की एक नई मध्यम श्रेणी या बीच की जमात पैदा हो गई। अवश्य ही पुराने जमाने में भी एक मध्यम श्रेणी थी, लेकिन वह ज्यादातर अंग्रेजो की प्रारम्भिक नीति द्वारा कुचल दी गई थी। यह नई मध्यम श्रेणी अंग्रेजी शासन का प्रत्यक्ष परिणाम था; असल में यह

ब्रिटिश शासन की ही टुकड़खोर थी। जनता की लूट में से इन लोग को भी थोड़ा-सा हिस्सा मिल जाता था, ब्रिटिश शासक वर्ग के तकल्लुफ़ से भरे लजीज और तर खाने की रकाबियों से लदी मेजों पर से गिरी हुई जूठन के कुछ टुकड़े वे भी पा जाते थे। इस वर्ग में थे देश के अंग्रेजी शासन प्रबन्ध में सहायता देनेवाले छोटे-मोटे अहलकार, अफसर, अदालतों की क़ानूनी कार्रवाइयों में मदद पहुँचाने और मुकद्दमेबाजी से मालदार बननेवाले वकील-बैरिस्टर, और ब्रिटिश व्यापार और उद्योग के दलाल साहूकार, जो अपने मुनाफे या कमीशन के लिए ब्रिटिश माल बेचते थे।

इस नई मध्यम श्रेणी में ज्यादातर हिन्दू थे। इसका कारण था मुसलमानों की बनिस्बत इनकी आर्थिक या माली हालत कुछ बेहतर होना, और अंग्रेजी शिक्षा का प्राप्त करना, जोकि सरकारी नौकरियाँ पाने और वकालत आदि पेशे के लिए पासपोर्ट की तरह थी। मुसलमान आमतौर पर ग़रीब थे। अंग्रेजों द्वारा यहाँ के उद्योग-धन्धे नष्ट कर दिये जाने पर, जो जुलाहे तबाह हो गये थे, उनमें ज्यादातर मुसलमान ही थे। बंगाल में, जहाँ कि मुस्लिम आबादी हिन्दुस्तान के दूसरे किसी भी सूबे से ज्यादा है, वे लोग ग़रीब काश्तकार और छोटे-छोटे भूमिया थे। जमींदार आमतौर पर हिन्दू थे, इसी तरह गाँव का बनिया या महाजन भी हिन्दू ही होता था, जो लोगो को सूद पर रुपया उधार देता था, और गांववालो के हाथ सामान बेचने के लिए दुकान रखता था। इस तरह जमींदार और महाजन दोनों ही काश्तकार की पीठ पर सवारी गाँठ कर उसे चूसने में समर्थ थे और अपनी इस स्थिति का वे पूरा फ़ायदा उठाते थे। इस बात को हमेशा ध्यान में रखना अच्छा होगा, क्योंकि हिन्दू-मुस्लिम तनाजे की जड़ यही है।

इसी तरह उच्चवर्ण वाले हिन्दू, ख़ासकर दक्षिण में, दलित कही जाने वाली जातियों को, जो ज्यादातर खेतो पर काम करती थीं, चूस रहे थे। पिछले दिनों से और ख़ासकर बापू के उपवास के बाद से दलित वर्ग की यह समस्या बहुत जोरो से हमारे सामने है। छुआछूत पर आज चारों तरफ़ से हमले हो रहे है और सैकडो मन्दिर और दूसरे स्थान अछूतों के लिए खुले कर दिये गये है। लेकिन असली बुनियादी सवाल तो आर्थिक शोषण का है, और जब तक यह दूर नहीं होता, तब तक दलित जातियाँ दलित ही रहेंगी। अछूत लोग बेगारी बना रक्खे गये, जिन्हे जमीन रखने की इजाजत नही थी। और भी कई बातो में वे अयोग्य क़रार दिये गये थे। हालाँकि सारा हिन्दुस्तान और जनसमूह ज्यादा-से-ज्यादा ग़रीब होता गया, फिर भी नई मध्यम श्रेणी के मुट्ठी भर लोग किसी क़दर खुशहाल हो गये, क्योंकि देश के आर्थिक शोषण में इनका भी हाथ था। वकील-बैरिस्टर वग़ैरा क़ानूनपेशा और

डाक्टर वग़ैरा दूसरे पेशेवर लोगों और साहूकारो ने कुछ धन इकट्ठा कर लिया। इस धन को वे कारबार में लगाना चाहते थे, ताकि उनको सूद की आमदनी होती रहे। बहुतो ने गरीबी के शिकार जमींदारो से जमीन खरीद ली और खुद उसके मालिक या जमींदार बन गये। दूसरे लोग अंग्रेजी उद्योगो की आश्चर्य-जनक सफलता देखकर हिन्दुस्तान में भी वैसे कारखानों में रुपया लगाने की सोचने लगे। इस तरह हिन्दुस्तानी पूंजी इन बडी मशीनों के कारखानों में लगी और एक नया हिन्दुस्तानी औद्योगिक पूंजीपति वर्ग पैदा होने लगा। यह हुआ करीब पचास साल पहले, सन् १८८० के बाद।

जैसे-जैसे ये मध्यवर्ग के अमीर लोग बढ़ते गये, उसी तरह उनकी भूख या हविस भी बढ़ती गई। उनकी इच्छा अब आगे-आगे बढ़ने, ज्यादा-ज्यादा रुपया पैदा करने, सरकारी नौकरियो में ज्यादा जगह पाने और कारखाने खोलने के लिए अधिक सहूलियते हासिल करने की होती गई। उन्होने हर जगह अंग्रेजों को अपने रास्ते में रुकावटें डालते हुए पाया। सब ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर अंग्रेजो ने अपना एकाधिकार जमा रक्खा था। तमाम उद्योग-धन्धे उन्हींके फायदे के लिए चलाये जा रहे थे। इसलिए उन्होने आन्दोलन शुरू किया, और यही इस नई राष्ट्रीयता की बुनियाद थी। १८५७ के गदर और उसके बेरहम दमन के बाद जनता इतनी कुचल दी गई थी कि कोई भी तहरीक या उग्र आन्दोलन हो सकना कठिन था। फिर से थोड़ा बहुत चेतने में उन्हें कई वर्ष लग गये।

पर शीघ्र ही देश के वातावरण में राष्ट्रीय विचार भर गये, और बंगाल इसमें अगुवा हो रहा था। १८७२ में बंकिमचन्द्र चटर्जी नामक एक बंगाली सज्जन ने 'आनन्द मठ' नामक एक उपन्यास लिखा। इस पुस्तक में ऐसे ही राष्ट्रीय विचार भरे हुए थे और उसने इनको और भी ज्यादा फैला दिया। बंगाली में यह नये ढंग की किताब थी; साहित्य पर इसका बड़ा असर हुआ, साथ ही बंगाल में राष्ट्रीयता की बढ़ती में भी इसका बड़ा हाथ रहा। हमारा प्रसिद्ध राष्ट्रीय गीत 'वन्दे-मातरम्' इसी पुस्तक से लिया गया है। यहाँ पर मै इस बात की भी चर्चा करदूं कि 'आनन्द मठ' से कोई बारह वर्ष पहले एक बंगाली कविता निकली थी, जिसने बडी सनसनी पैदा कर दी थी। इसका नाम था 'नील दर्पण'। इसमें नील की खेती में प्लाण्टेशन-पद्धति से, जिसका कि हाल कुछ मै तुम्हे बता चुका हूँ, बंगाल के किसानो की होने वाली तबाही का बड़ा ही दर्द-नाक वर्णन किया गया था।

इसी दरमियान हिन्दुस्तानी पूंजीपतियों की ताकत भी बढ़ रही थी, और वे हाथ-पैर फैलाने के लिए और ज्यादा जगह मॉग रहे थे। आखिरकार १८८५ में नई

मध्यम श्रेणी के इन सब वर्गों ने मिलकर अपना पक्ष समर्थन करने के लिए एक संस्था बनाने का निश्चय किया। इस तरह १८८५ में हमारी राष्ट्रीय महासभा—इण्डियन नेशनल कांग्रेस—की नींव पडी। जैसा कि तुम और हिन्दुस्तान का बच्चा-बच्चा जानता है, यह संस्था पिछले वर्षों में एक बहुत बडी और ताक़तवर संस्था बन गई है। इसने जनसाधारण का पक्ष लिया, और कुछ हद तक उनकी संरक्षक बन गई। इसने हिन्दुस्तान में अंग्रेजी हुकूमत की बुनियाद को ही चुनौती दी, और उसके ख़िलाफ़ सार्वजनिक आन्दोलन चलाये। इसने स्वतंत्रता का झंडा ऊँचा उठाया और आजादी के लिए यह मर्दानगी के साथ लडी। आज भी उसका यह युद्ध जारी है। लेकिन यह सब कुछ इधर का पिछला इतिहास है। यह जब पहले पहल क़ायम हुई, एक बहुत ही नरम और फूँक-फूँककर कदम रखने वाली, अंग्रेजों के प्रति अपनी राजभक्ति प्रर्दाशत करनेवाली, और छोटे-छोटे सुधारों के लिए बडी नम्र भाषा में मांग पेश करनेवाली संस्था थी। उस समय यह धनिक मध्यमवर्ग की प्रतिनिधि थी, ग़रीब मध्यम श्रेणी तक के लोग इसमें शामिल नहीं थे। आम रिआया, किसान और मजदूरों को तो इससे कुछ लेना-देना था ही नहीं। यह ख़ासकर अंग्रेजी पढ़े-लिखों की संस्था थी, और इसकी सारी कार्रवाई हमारी सौतेली जबान अंग्रेजी में होती थी। इसकी मांगें जमींदारों, हिन्दुस्तानी पूंजीपतियो, नौकरियों की तलाश में रहनेवाले शिक्षित बेकारो की माँगें होती थीं। रिआया की जरूरतों या उसे तबाह करनेवाली गरीबी पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था। इसने नौकरियों के 'भारतीयकरण', अर्थात् सरकारी नौकरियो में अंग्रेजो की बनिस्बत हिन्दुस्तानियो को ज्यादा-से-ज्यादा जगहें दी जाने, की माँग की। इसने यह न देखा कि हिन्दुस्तान की जो कुछ खराबी है, उस मशीन में है जो जनता का शोषण करती है; और इसलिए इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि वह किसके अधिकार में है, हिन्दुस्तानियो के या विदेशियों के। कांग्रेस की दूसरी शिकायत थी फ़ौज और सिविल सर्विस के अंग्रेजी अफ़सरो के जबरदस्त खर्चे की और हिन्दुस्तान के सोने-चांदी को इंग्लैण्ड 'बहाये जाने' की।

यह ख़याल न करना कि शुरू में कांग्रेस कितनी नरम थी, यह बताकर मै उसकी आलोचना कर रहा हूँ अथवा उसके महत्त्व को कम करने की कोशिश कर रहा हूँ। मेरा यह मतलब नहीं है, क्योकि मेरा विश्वास है कि उन दिनो की कांग्रेस और उसके नेताओं ने बहुत बड़ा काम किया है। हिन्दुस्तान की राजनीति के कठोर तथ्यो और वाकयात ने इस संस्था को धीरे-धीरे और बिलकुल बेदिली से ज्यादा-ज्यादा उग्र नीति ग्रहण करने के लिए मजबूर किया है लेकिन अपने शुरू के ज़माने में वह जैसी थी उसके अलावा और कुछ हो भी नही सकती थी। उन दिनों अगर इसके

संस्थापक लोग आगे बढ़ना भी चाहते, तो उनके लिए बड़े साहस की जरूरत थी। जब रिआया हमारे साथ हो और हमारी आजादी की चाह के लिए हमारी तारीफ करती हो, उस समय हमारे लिए बड़ी बहादुरी के साथ आजादी की बाते करना बड़ा आसान है। लेकिन किसी बड़े काम में अगुवा बनना बड़ा मुश्किल है।

पहली कांग्रेस १८८५ में बम्बई में हुई। बंगाल के उमेशचन्द्र बनर्जी इसके पहले सभापति थे। उस शुरू जमाने के और दूसरे खास नाम हैं सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बदरुद्दीन तैयबजी, और फ़िरोज़शाह मेहता। लेकिन इन सबके ऊपर एक सबसे ऊँचा नाम है दादाभाई नौरोजी का, जो भारत के वृद्ध पितामह कहलाते थे और जिन्होने सबसे पहले हिन्दुस्तान के लक्ष्य के लिए 'स्वराज्य' शब्द का इस्तेमाल किया। तुम्हें इस नाम से अच्छी तरह परिचित होना चाहिए, क्योकि उनके बड़े लड़के हमारे प्रिय मित्र और साथी हैं; जब कभी हम बम्बई जाते हैं उन्हींके मकान पर ठहरते हैं। एक नाम मैं और बताऊँगा, क्योकि पुरानी कांग्रेस के अगुवाओ में से जीवित व्यक्ति एक मात्र वही बचे हैं और उन्हे तुम अच्छी तरह जानती हो। वह हैं पण्डित मदनमोहन मालवीय। पचास वर्ष से भी ज्यादा अर्से से वह हिन्दुस्तान के हित में जूझ रहे हैं, और बुढ़ापे और चिन्ताओ से चूर-चूर हो जाने पर भी अपनी जवानी के सपने को सच्चा बनाने के लिए परिश्रम किये जा रहे हैं।

इस तरह कांग्रेस सालोसाल आगे बढ़ती गई, और ताकत बढ़ाती गई। शुरू जमानें की हिन्दू राष्ट्रवादिता की तरह इसका दृष्टिकोण संकुचित नहीं था। फिर भी खासकर यह हिन्दुओ की ही थी। कुछ खास-खास मुसलमान इसमें शामिल हुए, और इसके सभापति तक बने, लेकिन समुदाय रूप से मुसलमान इससे दूर ही रहे। उस समय के एक प्रसिद्ध मुस्लिम नेता थे सर सैयद अहमद खाँ। उन्होने देखा कि तालीम, खासकर मौजूदा तालीम, की कमी की वजह से ही मुसलमानो का ज्यादातर नुकसान हो रहा है, और वे इतने पिछड़े हुए है। इसलिए उन्होने यह निश्चय किया कि राजनीति में घुसने से पहले मुसलमानो को इस तालीम के लिए रजामन्द करना चाहिए और अपनी सारी ताकत इसी पर लगानी चाहिए। इसलिए उन्होने मुसलमानो को कांग्रेस से अलग रहने की सलाह दी, सरकार के साथ सहयोग किया और अलीगढ़ में एक सुन्दर कालेज कायम किया जो आगे यूनीवर्सिटी में तब्दील हो गया है। ज्यादातर मुसलमानो ने सर सैयद की राय मानकर अपने को कांग्रेस से अलग रक्खा। लेकिन उनकी थोडी तादाद तो हमेशा इसके के साथ रही। यह याद रहे कि जब मैं बहुमत या अल्पमत की चर्चा करता हूँ तो उससे मेरा मतलब उच्च मध्यम वर्ग के अँग्रेज़ी पढ़े-लिखे हिन्दू-मुसलमानो के अल्प या बहुमत से होता है। दोनों, हिन्दू और मुसलमान

जन-साधारण का कॉंग्रेस से कोई वास्ता न था, और उन दिनों इनमें से बहुत कम ने इसका नाम सुना होगा। निम्न मध्यम वर्गो तक पर उस समय इसका कोई असर नहीं हुआ था।

कॉंग्रेस बढ़ी, लेकिन कॉंग्रेस से भी तेज रफ़्तार से राष्ट्रीयता के विचार और आजादी की चाह बढ़ी। सिर्फ अंग्रेजी पढ़े-लिखों तक महदूद होने के कारण कॉंग्रेस की पुकार या पहुँच स्वभावतः ही परिमित थी। किसी हद तक इसने जुदे-जुदे प्रान्तों को एक-दूसरे के नजदीक लाने और एक समान दृष्टिकोण बनानें में मदद दी। लेकिन इसकी पैठ जनता तक गहरी न होने के कारण इसके पास ताकत कुछ न थी। किसी दूसरे पत्र में मैंने तुम से एक घटना जिक्र किया है, जिसने एशिया भर में भारी हल-चल मचा दी थी। यह १९०४–५ में छोटे-से जापान की भीमकाय रूस पर हुई विजय थी। एशिया के दूसरे देशों के साथ-साथ हिन्दुस्तान अर्थात यहाँ के अँग्रेजी पढ़े-लिखे मध्यम वर्ग इससे बहुत प्रभावित हुए और उनका आत्मविश्वास बढ़ गया। अगर योरप के एक सबसे अधिक शक्तिशाली देश के खिलाफ जापान सफलता पा सकता है तो हिन्दुस्तान क्यो नही पा सकता? बहुत अर्से से हिन्दुस्तानी लोग अपने को अँग्रेजों के मुकाबिले में तुच्छ से मानते आ रहे थे। अंग्रेजो के लम्बे अर्से के शासन और १८५७ के ग़दर के निर्दय दमन ने उन्हे डरपोक बना दिया था। साथ ही हथियार न रखने का कानून बनाकर उन्हे हथियार रखने से रोक दिया गया था। हिन्दुस्तान में होनेवाली हरेक बात उन्हें इस बात की याद दिलाती थी कि वह एक गुलाम कौम है, एक तुच्छ जाति है। जो शिक्षा उन्हे दी जाती थी, वह तक उनमें इसी तरह की तुच्छता के विचार भरती थी। बिगाडे हुए और झूठे इतिहास द्वारा उन्हें बताया जाता था कि हिन्दुस्तान में हमेशा से अराजकता फैली रही है, और हिन्दू और मुसलमान हमेशा एक-दूसरे का गला काटते है और आखिरकार अंग्रेजों ने ही उनकी सहायता के लिए आकर इस देश का इस बदबख्त हालत से पीछा छुड़ाया, और इस पर सुख और शान्ति की वर्षा की। सचाई और इतिहास की कोई परवाह न कर अँग्रेज यह समझाते और ढिंढोरा पीटते रहते थे कि सारा-का-सारा एशिया दरअसल एक पिछड़ा हुआ महाद्वीप है, और इसलिए इसे हमेशा अंग्रेजो के ही शासन में रहना चाहिए।

इसलिए जापान की विजय एशियावालो के लिए एक बडी स्फूर्तिदायक बात हुई। हिन्दुस्तान में हममें से ज्यादातर में अपने को तुच्छ समझने की जो भावना फैली हुई थी, वह इससे कम हुई। राष्ट्रीयता के विचार, खासकर बंगाल और महाराष्ट्र में, बडी व्यापकता के साथ फैलनें लगे। इसी समय एक घटना घटी, जिसनें बंगाल को जड़ से हिला दिया और देशभर में सनसनी मचा दी। सरकार ने बंगाल

के बडे प्रान्त को (जिसमें उस समय विहार भी शामिल था) दो हिस्सों में बाँट दिया, जिनमें एक हिस्सा पूर्वी बंगाल था। बंगाल के उन्नत राष्ट्रवादी मध्यम वर्ग ने इसका विरोध किया। उसे डर था कि अंग्रेज बंगाल के इस तरह टुकडे करके उसे कमजोर करना चाहते है। पूर्वी बंगाल में मुसलमानों का बहुमत था, इसलिए इस बंटवारे से हिन्दू-मुस्लिम सवाल भी उठ खड़ा हुआ। बंगाल भर में एक जबर-दस्त ब्रिटिश-विरोधी आन्दोलन चल पड़ा। बहुत से छोटे जमींदार और पूँजीपति इसमें शामिल हो गये। सबसे पहले उसी समय 'स्वदेशी' की पुकार मची और इसके साथ ही ब्रिटिश माल के बहिष्कार की घोषणा हुई, जिससे हिन्दुस्तानी उद्योग और पूंजी में निःसन्देह सहायता पहुँची। कुछ हद तक आम जनता में भी यह आन्दोलन फैल गया था, और हिन्दूधर्म से भी इसको कुछ प्रेरणा मिली। इसके साथ-साथ बंगाल में क्रान्तिकारी हिंसा के विचार भी पैदा हुए और हिन्दुस्तान की राजनीति में पहली बार 'बम' का पदार्पण हुआ। बंगाल में आन्दोलन के एक ज्वलन्त नेता अरविन्द घोष थे। वे अभी भी मौजूद है, लेकिन बहुत वर्षों से फ्रांसीसी भारत के पाण्डेचरी नाम के शहर में आश्रम बनाकर आध्यात्मिक जीवन बिता रहे है।

पश्चिमी भारत के महाराष्ट्र प्रदेश में भी इस समय भारी उत्तेजना फैली हुई थी, और हिन्दुत्व के रंग रँगी हुई उग्र राष्ट्रीयता का उदय हो रहा था। वहाँ बाल गंगाधर तिलक नाम के एक महान नेता हुए जो हिन्दुस्तान भर में लोकमान्य के नाम से मशहूर है। तिलक एक महान् विद्वान थे; वह पूर्वी और पश्चिमी दोनों सिद्धान्तों के एक समान जानकार थे, बडे भारी राजनीतिज्ञ थे, और सबसे बडी बात यह कि वे एक महान् सार्वजनिक नेता थे। कांग्रेस के नेताओं की पहुँच अभी केवल अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगो तक ही हो सकती थी, आम जनता उन्हे बहुत कम जानती थी। लेकिन तिलक नव-भारत के पहले राजनैतिक नेता हुए है, जो जनता तक पहुँचे और उससे ताकत हासिल की। उनके जबर्दस्त व्यक्तित्त्व के कारण जनता में शक्ति और न जीती जा सकने वाली हिम्मत के नवीन भावों का उदय हुआ और इसके साथ बंगाल की राष्ट्रीयता और बलिदान की नवीन भावना ने मिलकर भारतीय राजनीति का स्वरूप बदल दिया।

सन् १९०६–७ और ८ के इन सनसनीपूर्ण दिनों में कांग्रेस क्या कर रही थी? राष्ट्रीय भावना के जागरण के इस समय में कांग्रेस के नेता राष्ट्र को आगे बढ़ाने के बजाय, पीछे धकेल रहे थे। उन्हें एक शान्त प्रकार की राजनीति में रहने की आदत हो गई थी, जिसमें जनता दखल नहीं देती थी। बंगाल का धधकता हुआ जोश उन्हें पसन्द नहीं था, न महाराष्ट्र का नवीन दुर्दमनीय उत्साह ही, उन्हें अच्छा

लगता था, जिसके कि मूर्त्तिमान स्वरूप लोकमान्य तिलक थे। 'स्वदेशी' आन्दोलन की तो उन्होंने प्रशंसा की, लेकिन ब्रिटिश माल के बहिष्कार से वे हिचकते थे। कॉंग्रेस में अब दो दल हो गये—एक तिलक और कुछ बंगाली नेताओं के नेतृत्व में गरम दल, और दूसरा कॉंग्रेस के पुराने नेताओं का नरम दल। नरम दल के सबसे प्रमुख नेता एक नवयुवक श्री गोपाल कृष्ण गोखले थे, जो बडे भारी विद्वान थे और जिन्होंने अपना सारा जीवन सेवा में लगा दिया था। गोखले भी महाराष्ट्रीय थे। अपने प्रतिद्वन्द्वी दलो को लेकर तिलक और इनमें आपस में एक-दूसरे से मुक़ाबिला होता रहता था। इसका लाज़मी नतीजा यह हुआ कि १९०७ में फूट पैदा हुई और कॉंग्रेस दो हिस्सो में बॅंट गई। नरम दलवालो का कॉंग्रेस पर अधिकार बना रहा, गरम दलवाले निकाल बाहर किये गये। नरम दलवाले जीत तो गये लेकिन उनकी लोकप्रियता उठ गई, क्योंकि जनता में तिलक का दल बहुत प्रिय था। कॉंग्रेस कमज़ोर होगई, और कुछ वर्षो तक उसका प्रभाव नाम मात्र को रह गया।

और इन वर्षो में सरकार का क्या हाल था? बढ़ती हुई भारतीय राष्ट्रीता का इसने किस तरह जवाब दिया? सरकार के पास किसी ऐसी दलील या मॉंग का, जिसे वह पसन्द नही करती, जवाव देने का सिर्फ एक ही तरीका है—लाठी का प्रयोग। इसलिए सरकार दमन पर उतर आई, लोगो को जेलो में भरना शुरू किया, प्रेस-कानून बनाकर अखबारों को दबाया गया, और हरेक ऐसे व्यक्ति के पीछे, जिसे कि वह पसन्द नही करती थी, खुफिया पुलिस और जासूसो के दल के दल छोड़ दिये। उसी समय से सी० आई० डी० के लोग हिन्दुस्तान के ख़ास-ख़ास राजनैतिक नेताओ के साथ लगे रहते हैं। बंगाल के बहुत से नेताओं को कैद की सज़ा दी गई। सबसे अधिक मार्के का मुकदमा लोकमान्य तिलक का था, जिन्हे छः वर्ष की कैद की सजा दी गई थी, और जिन्होने अपनी कैद के दिनो में माण्डले जेल में एक प्रसिद्ध ग्रन्थ, 'गीतारहस्य', लिखा था। लाला लाजपतराय भी बर्मा निर्वासित कर दिये गये।

लेकिन दमन बंगाल को कुचलने में कामयाब नही हुआ। इसलिए जल्दी ही शासन-सुधार का और एक क़दम उठाया गया, जिससे कम-से-कम कुछ लोगों को तो शान्त किया जा सके। उस समय की नीति, जोकि बाद में भी रही और आज भी है, राष्ट्रीय दलो में फूट डालने की थी। नरम दलवालों का 'गुट्ट' बनाना या उन्हें 'रिझाना' और गरम दल को कुचल देना। १९०८ में मार्ले-मिन्टो सुधारो के नाम से प्रसिद्ध इन नये सुधारों की घोषणा की गई। इनसे नरम दलवालों को रिझाने में वह सफल हो गई। वे इन सुधारों को पाकर खुश हो गये। गरम दल के नेताओं के जेल में होने के कारण दल की व्यवस्था में ख़राबियाँ पैदा हो गईं और इस तरह राष्ट्रीय

प्रगति कमज़ोर पड़ गई। लेकिन बंगाल में बंग-विच्छेद के खिलाफ आन्दोलन जारी रहा, और कामयाबी हसिल होने पर ही खतम हुआ। १९११ में ब्रिटिश सरकार ने बंग-विच्छेद को वापस ले लिया। इस विजय ने बंगालियों मे नया जोश पैदा कर दिया। लेकिन १९०७ का आन्दोलन खतम हो चुका था, और हिन्दुस्तान राजनैतिक दृष्टि से फिर ठंडा पड़ गया।

१९११ में यह भी घोषणा की गई कि दिल्ली हिन्दुस्तान की नई राजधानी होगी—वही दिल्ली जो पहले भी बहुत-से साम्राज्यो की राजधानी रह चुकी थी और साथ ही कई साम्राज्यों की कबरस्तान थी।

१९१४ में जिस समय योरप में महायुद्ध शुरू हुआ और नेपौलियन के बाद का सौ वर्ष का जमाना खतम हुआ, हिन्दुस्तान की हालत इस तरह की थी। महायुद्ध का हिन्दुस्तान पर भी जबर्दस्त असर हुआ, लेकिन उसके बारे में मै बाद में कुछ कहूँगा।

आखिरकार उन्नीसवी सदी के हिन्दुस्तान का हाल मैंने समाप्त कर ही दिया। मेरा किस्सा तुमको अब से अठारह वर्ष के भीतर ले आया है। अब हम हिन्दुस्तान को छोड़कर अगले पत्र में चीन को चलेंगे और एक-दूसरे तरह के साम्राज्यवादी शोषण पर विचार करेंगे।

: ११४ :

ब्रिटेन का चीन पर ज़बर्दस्ती अफ़ीम लादना

१४ दिसम्बर, १९३२

मैंने तुम्हे काफी विस्तार के साथ हिन्दुस्तान पर औद्योगिक और यान्त्रिक क्रान्ति का असर समझाया है और यह भी बताया है कि नये साम्राज्यवाद ने हिन्दुस्तान में किस तरह काम किया। हिन्दुस्तानी होने के कारण, मै उसका तरफदार हूँ, इसलिए मुझे डर है कि उसके बारे में विचार करते वक्त उसकी तरफदारी करने से मै अपने को रोक नहीं सकता। फिर भी मैंने यही कोशिश की है, और मै चाहता हूँ कि तुम भी यही कोशिश करो कि इन सवालो पर निष्पक्ष वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय, किसी एक पक्ष को साबित करने पर तुले हुए राष्ट्रीय दृष्टिकोण से नहीं। राष्ट्रीयता अपनी जगह पर अच्छी चीज है, लेकिन मित्रता और ऐतिहासिक सचाई के लिए उसपर भरोसा नहीं किया जा सकता। कितनी ही घटनाओ के बारे में वह हमें अन्धा बना देती है, और कई बार, खासकर जब उससे हमारा या हमारे देश का ताल्लुक हो, तो सचाई को तोड़-मरोड़ देती है। इसलिए भारतीय इतिहास पर विचार करते

समय हमें बडी सावधानी से काम लेना होगा; ताकि कहीं ऐसा न हो जाय कि हम अपनी तमाम मुसीबतो का इलजाम अंग्रेजो के सिर मढ़ने लगें। कुछ भी हो, जैसाकि किसी ने कहा है, जैसी प्रजा होती है, वैसा ही उसे राजा भी मिलता है।

उन्नीसवी सदी में ब्रिटिश उद्योगवादियों और पूंजीपतियो ने हिन्दुस्तान को किस तरह चूसा यह देख चुकने के बाद, अब हम एशिया के एक दूसरे बडे देश, हिन्दुस्तान के प्राचीन समय के मित्र और राष्ट्रों में सबसे पुराने राष्ट्र चीन की तरफ चलते है। यहाँ हम पश्चिमवालों को एक दूसरे ही तरह का शोषण करते पायेंगे। हिन्दुस्तान की तरह चीन किसी यूरोपीय देश का उपनिवेश अथवा अधीन-राज्य नही बना। लगभग उन्नीसवीं सदी के बीच तक वहाँ का केन्द्रीय शासन अपने देश को एक सूत्र में बांधे रखने के लिए काफी ताक़तवर था, इसलिए उसने कुछ विदेशी हमला करनेवालों का मुकाबिला करके भी इस अवस्था से अपने को बचाये रक्खा। जैसाकि हम पहले देख आये हैं, हिन्दुस्तान इससे सौ साल से भी ज्यादा पहले, मुगल साम्राज्य के खातमे के साथ ही तहस-नहस हो चुका था। चीन उन्नीसवी सदी में कमजोर तो होगया, फिर भी वह अखीर तक संगठित बना रहा, और विदेशी ताकते आपस में एक दूसरे के ईर्षा-द्वेष के कारण चीन की कमजोरी से बहुत ज्यादा फ़ायदा न उठा सकीं।

चीन पर लिखे गये आखिरी पत्र में मैंने तुम्हें बताया था कि अंग्रेजो ने चीन के साथ अपना व्यापार बढ़ाने के लिए क्या-क्या कोशिशें की। इंग्लैण्ड के बादशाह जार्ज तीसरे के पत्र के उत्तर में मंचू सम्राट शियन-लुंग ने जो शानदार और अधिकारपूर्ण खत लिखा था, उसका एक लम्बा उद्धरण मैंने तुम्हे दिया था। यह १७९२ की बात है। यह वर्ष तुम्हे योरप के उस समय के तूफानी दिनों की याद दिलावेगा—यह फ़्रान्सीसी क्रान्ति का युग था। इसके बाद ही नेपोलियन और उसके युद्ध आये। इस सारे जमाने भर इंग्लैण्ड को दम मारने को भी फुरसत न थी, वह जी तोड़कर नेपोलियन से लड़ रहा था। इस तरह नेपोलियन का अन्त होने और इंग्लैंड को शान्ति के साथ दम लेने की फ़ुरसत मिलने तक चीन में अपना व्यापार बढ़ाने का सवाल उठाने का इंग्लैण्ड के पास कोई मौक़ा ही न था। इसके फौरन ही बाद १८१६ में एक दूसरा ब्रिटिश राजदूत चीन को भेजा गया। लेकिन मुलाकात की किसी रस्म के अदा करने में कुछ दिक़्कत आपड़ने की वजह से चीनी सम्राट ने ब्रिटिश राजदूत लार्ड एमहर्स्ट से मुलाकात करना नामंजूर कर दिया, और उसे वापस चले जाने का हुक्म दिया। इस रस्म का नाम 'कोतो' था, जो एक तरह से जमीन पर लेटकर दण्डवत् प्रणाम या क़दमबोसी करने के समान था। शायद तुमने 'को-तो-इन' शब्द सुना होगा।

इसलिए कुछ हो न सका। इसी दरमियान एक नई तिजारत, अफीम की, तेजी से

बढ़ रही थी। इस तिजारत को नई कहना तो शायद ठीक न होगा, क्योंकि अफ़ीम पहले-पहल पन्द्रहवीं सदी में ही हिन्दुस्तान से चीन ले जाई जा चुकी थी। पुराने ज़माने में हिन्दुस्तान ने चीन को बहुत-सी अच्छी चीजें भेजी थीं। इनमें अफीम बेशक एक बुरी चीज़ थी। लेकिन यह तिजारत एक हदतक सीमित थी। उन्नीसवीं सदी में यूरोपियनो के, खासकर ब्रिटिश व्यापार का एकाधिकार हासिल कर लेने वाली ईस्ट इडिया कम्पनी के कारण, यह बढ़ने लगा। कहा जाता है कि पूर्व में डच लोग मलेरिया से बचने के लिए तम्बाकू के साथ अफीम मिलाकर पिया करते थे। इन्हींकी मार्फत चीन में भी तम्बाकू की तरह अफीम पीने का रिवाज पहुंचा, और उससे भी बदतर रूप में, क्योंकि यहाँ बिना तम्बाकू के ख़ाली अफ़ीम ही पी जाती थी। चीनी सरकार इस आदत को छुड़ाना चाहती थी, क्योंकि लोगो पर इसका बुरा असर पड़ रहा था, और इसकी तिजारत देश का बहुत-सा धन बाहर खींचे ले जा रही थी।

सन् १८०० में चीनी सरकार ने एक शाही फ़रमान जारी करके अपने मुल्क में किसी भी काम के लिए अफीम का आना रोक दिया। लेकिन इस तिजारत से विदेशियो को बड़ा फायदा होता था। इसलिए वे चोरी-छिपे अफ़ीम लाते रहे, और इनको नज़रअन्दाज़ कर जाने के लिए चीनी अफसरो को रिश्वत देदी जाती। इस पर चीन-सरकार नें यह नियम बना दिया कि कोई भी सरकारी अफसर विदेशी व्यापारियों से न मिलने पाये। किसी भी विदेशी को चीनी या मञ्चू भाषा सिखाने के लिए भी सख्त सजायें मुकर्रर की गई। लेकिन इन सबका कोई खास नतीजा नहीं हुआ। अफीम की तिजारत चलती ही रही और रिश्वत और बेईमानी का बाज़ार गर्म हो गया। १८३४ के बाद, जब ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एकाधिकार छीन कर तमाम अँग्रेजो के लिए व्यापार खोल दिया, तब तो हालत और भी बदतर हो गई।

लुका-छिपाकर चोरी से अफीम का लाया जाना अचानक बहुत ही बढ़ गया, तब आख़िरकार चीन-सरकार ने इसके दमन के लिए सख्त कार्रवाई करने का निश्चय किया। इस काम के लिए एक भला और ईमानदार आदमी चुना गया। चोरी से आनेवाली इस अफीम की रोक के लिए लिन-सी-हो स्पेशल कमिश्नर नियुक्त हुआ और उसने फ़ौरन ही तेजी और मुस्तैदी के साथ कार्रवाई शुरू करदी। वह दक्षिण के केण्टन नगर पहुँचा, जो इस गैर-कानूनी तिजारत का मुख्य केन्द्र था, और वहाँ के तमाम विदेशी व्यापारियो को हुक्म दिया कि जितनी भी अफीम उनके पास मौजूद है वह सब उसके पास जमा करा दी जाय। शुरू में उन्होने इस हुक्म को मानने से इनकार कर दिया। इसपर लिन ने इसके लिए उन्हे मजबूर किया। उसने उन्हें

उनकी फैक्टरियों में बन्द कर दिया, उनके चीनी कार्यकर्त्ता और नौकरों से उनका काम छुड़वा दिया और बाहर से उनके पास रसद जाना रोक दिया। इस साहस और मुस्तैदी का नतीजा यह हुआ कि विदेशी व्यापारियो को घुटने टेक देने पडे, और अफ़ीम की बीस हजार पेटियाँ निकालकर उसके सामने धर देनी पडीं। अफ़ीम के इस भारी ढेर को, जो साफ जाहिर है कि चोरी से देश के अन्दर भेजने के लिए इकट्ठा किया गया था, नष्ट करवा दिया दिया। उसने विदेशी व्यापारियों से यह भी कह दिया कि जबतक बाहर से आने वाले जहाज का कप्तान अफीम न लाने का वचन न देदेगा, तबतक कोई जहाज केण्टन में घुसने न पायगा। यदि कोई इस वचन को तोडेगा तो चीनी सरकार जहाज और उसके सारे माल को जब्त कर लेगी। लिन एक खरा आदमी था। उसने सौंपे हुए काम को अच्छी तरह कर दिखाया, लेकिन उसने यह नहीं सोचा कि इसके नतीजे चीन के लिए कठोर होगे।

नतीजे ये हुए—ब्रिटेन के साथ युद्ध छिड़ा, चीन की हार हुई, अपमानजनक सन्धि करनी पडी, और वही अफीम जिसे चीन की सरकार रोकना चाहती थी जबर्दस्ती चीन के हलक में ठूसी गई। अफीम चीन के लिए अच्छी चीज़ है या बुरी, इस बात से कोई वास्ता न था। चीन की सरकार क्या चाहती थी, इससे भी कोई खास मतलब न था। असली बात यह थी कि अफीम की इस चोरी-छिपी तिजारत से अंग्रेज व्यापारियों को बड़ा भारी मुनाफा होता था, और ब्रिटेन अपनी इस आमदनी का मारा जाना बर्दाश्त करने को तैयार न था। कमिश्नर लिन ने जो अफ़ीम नष्ट करवादी थी, उसमें सबसे ज्यादा अंग्रेज व्यापारियो की थी। इसलिए राष्ट्रीय आत्म-सम्मान के नाम पर अग्रेजों ने १८४० में चीन से लड़ाई छेड़ दी। इस युद्ध को 'अफीम का युद्ध' नाम दिया जाना ठीक ही है, क्योंकि यह चीन पर अफ़ीम लादने के लिए लड़ा और जीता गया था।

कैण्टन और दूसरी जगहों की नाकेबन्दी कर देनेवाले ब्रिटिश जहाजी बेडे के खिलाफ चीन का कुछ बस न चल सका। दो वर्ष बाद उसे हार माननी पडी और १८४२ में नानकिंग की सन्धि हुई, जिसके मुताबिक़ पाँच बन्दरगाह विदेशी व्यापार, जिसका उस समय मतलब था खासकर अफीम की तिजारत, के लिए खोल देने पडे। ये पॉच बन्दरगाह थे केण्टन, शंघाई, अमॉय, निंगपो, और फ्यूचू। इन्हे 'सन्धि-बन्दरगाह' कहा जाता था। कैण्टन के पास के हांग-कांग टापू पर भी अंग्रेजों ने क़ब्जा कर लिया, और जो अफीम नष्ट करदी गई थी उसके हरजाने के तौर पर और चीन से जो लड़ाई जबर्दस्ती लडी गई थी, उसके खर्चे के रूप में उन्होने चीन से भारी रकम ऐंठी।

इस तरह अफीम के मामले में ब्रिटेन ने विजय प्राप्त की। चीन के सम्राट ने

इंग्लैण्ड की तत्कालीन महारानी विक्टोरिया से, चीन पर जबर्दस्ती लादी गई अफीम की तिजारत के भयंकर परिणामो का बहुत नम्रता के साथ उल्लेख करते हुए, व्यक्तिगत अपील की। लेकिन महारानी की तरफ़ से कोई उत्तर न मिला। ठीक पचास वर्ष पहले इसी सम्राट के पुरखे शियन-लुंग ने इंग्लैण्ड के बादशाह के नाम इससे बिलकुल ही दूसरे ढंग का पत्र लिखा था!

पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ चीन की मुसीबतो की यह शुरूआत थी। उसकी एकान्तता खातमे पर थी। उसे विदेशी तिजारत मंजूर करनी पडी, और साथ ही मंजूर करने पडे ईसाई मिशनरी—पादरी या प्रचारक। इन ईसाई प्रचारको ने साम्राज्यवाद के अग्रदूत के रूप में चीन में बड़ा जबर्दस्त काम किया। बाद में चीन पर जो-जो मुसीबते आई उनका कुछ-न-कुछ कारण ये मिशनरी लोग ही थे। इनका बर्त्ताव निहायत गुस्ताखाना और भड़कानेवाला था; लेकिन चीनी अदालतो में उनपर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता था। नये सुलहनामे के मुताबिक योरप के विदेशियों पर चीनी क़ानून और चीन का इन्साफ़ लागू नहीं हो सकता था। उनपर उन्हींकी अदालतो में मुकदमा चल सकता था। यह 'अन्य-दैशिकता' का अधिकार कहा जाता था, जो अब भी मौजूद है, और जिसका वहाँ अब भी बहुत विरोध किया जाता है। मिशनरियो ने जिन चीनियो को ईसाई बनाया, वे भी अब इस 'अन्य दैशिकता' के विशेषाधिकार की माँग करने लगे। वे किसी भी तरह से इसके हकदार न थे; लेकिन इस बात की कुछ परवा न की गई, क्योंकि एक जबर्दस्त मिशनरी, एक ताकतवर साम्राज्यवादी राष्ट्र का प्रतिनिधि—ब्रिटेन—उनकी पीठ पर था। इस तरह एक गाँव को दूसरे गाँव के खिलाफ भड़का दिया जाता; और जब इन गाँववालो को हद से ज्यादा चिढ़ाया जाता, तो और दूसरे लोग बलवा कर मिशनरी पर टूट पड़ते और कभी-कभी उसकी हत्या भी कर देते। तब उसकी पीठ पर रहनेवाली साम्राज्यवादी ताकत आ धमकती, और कसकर बदला लेती। यूरोपीय शक्तियो के लिए चीन में मिशनरियो की हत्याओ से बढ़कर फ़ायदेमन्द दूसरी घटनायें शायद ही हुई हों। क्योकि हरेक ऐसी हत्त्या को वे विशेषाधिकार माँगने और जबर्दस्ती रिआयते ऐंठ लेने का कारण बना लेते थे।

चीन के एक सबसे भयंकर और खूनी विद्रोह को खड़ा करनेवाला एक नया ईसाई बनाया हुआ चीनी ही था। यह नेंपिंग के बलवे के नाम से मशहूर है, जो १८५० के करीब एक नीम-पागल आदमी हूंग-सिन-च्वान ने शुरू किया था। इस मजहबी दीवाने को असाधारण सफलता मिली और वह 'बुतपरस्तो यानी मूर्ति-पूजको को मारो' का अपना जंगी नारा लगाता हुआ चारों तरफ़ बढ़ता गया और बडी भारी

तादाद में लोग मारे गये। इस बलवे ने आधे से भी ज्यादा चीन को तबाह कर दिया, और करीब बारह साल या इसीके लगभग समय में अन्दाजन दो करोड़ आदमी इसके कारण मौत के घाट उतरे। अवश्य ही बलवे और उसके साथ ही होनेवाले हत्याकण्ड के लिए ईसाई मिशनरियो या विदेशी ताकतों को जिम्मेदार ठहराना उचित नहीं है। शुरू-शुरू में तो मिशनरी लोग इसकी सफलता की कामना करते मालूम भी हुए, लेकिन बाद में उन्होंने हुंग का प्रतिवाद किया। लेकिन चीनी सरकार हमेशा यह विश्वास करती रही कि इसके जिम्मेदार मिशनरी ही है। उसके इस विश्वास से हम समझ सकते है कि ईसाई मिशनरियों की करतूतों से उस समय चीनी लोग कितने नाराज थे, और बाद में भी रहे। उनके लिए मिशनरी कोई धर्म और सद्-भावना का संदेश-वाहक नहीं था बल्कि साम्राज्यवाद का एजेण्ट होता था, जैसा कि किसी अँग्रेज लेखक ने कहा भी है—"चीन वालों के दिमाग में यह घटना-क्रम अंकित हो रहा था—पहले मिशनरियों का आना, फिर जंगी जहाजों की पहुँच और उसके बाद जमीन हड़पने की शुरुआत।" यह याद रखना चाहिए कि चीन पर जब-जब आफ़तें आईं अक्सर ईसाई मिशनरियो के दर्शन जरूर हुए हैं—उनमें उनका हाथ जरूर रहा है।

यह एक असाधारण बात हुई कि एक मजहबी दीवाने का खड़ा किया हुआ यह विद्रोह पूरी तरह दबाये जाने से पहले इतनी बडी कामयाबी हासिल कर सका। इसकी असली वजह यह थी कि चीन में पुरानी व्यवस्था टूट रही थी। मेरा ख़याल है कि चीन पर जो पिछला पत्र मैंने तुम्हे लिखा था, उसमें मैंने तुम्हे वहाँ के टैक्सो के बोझ, बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों और बढ़ते हुए सार्वजनिक असन्तोष का हाल बताया था। मंचू सरकार के खिलाफ हर जगह गुप्त संस्थायें खडी हो रही थीं और वातावरण में विद्रोह समाया हुआ था। अफीम और दूसरी चीजों के विदेशी व्यापार ने हालत को और भी ज्यादा बिगाड़ दिया था। जरूर ही चीन में पहले भी विदेशी व्यापार चलता था। लेकिन इस समय हालत दूसरी थी। पश्चिम के बडे-बडे कल-कारखाने बडी तेजी से माल तैयार कर रहे थे, और वह सब-का-सब वहाँ खप नहीं सकता था। इसलिए उन्हे बाहर के बाजार तलाश करने की जरूरत हुई। उनकी यह जरूरत ही हिन्दुस्तान और चीन के बाजारो की तलाश करने की ख़ास वजह थी। इस विदेशी माल, और ख़ासकर अफ़ीम, ने पुरानी व्यापारिक व्यवस्था को उलट दिया, और आर्थिक गुत्थी को और भी उलझा दिया। हिन्दुस्तान की तरह चीन के बाजारों में भी चीजो पर अन्तर्राष्ट्रीय कीमतो का असर पड़ने लगा। इन बातों ने लोगों के असन्तोष और मुसीबतो को और भी बढ़ा दिया और तैपिंग के विद्रोह को ताक़तवर बना दिया।

यूरोपीय शक्तियो की बढ़ती हुई गुस्ताखी और दस्तंदाजी की यह बुनियाद थी। इसलिए यह कोई ताज्जुब की बात नहीं थी कि यूरोपियन लोगों की माँगों का विरोध करने में चीन का ज्यादा बस न चल सका। इन यूरोपियन शक्तियों और, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, जापान ने चीन से विशेषाधिकार और मुल्क के हिस्से ऐंठने के लिए उसकी इस बदइंतिज़ामी और कठिनाइयो से पूरा-पूरा फ़ायदा उठाया। चीन का भी वही हिन्दुस्तान वाला ही हाल होता, और वह भी किसी एक या अधिक यूरोपियन शक्ति या जापान का मातहत राज्य या साम्राज्य हो जाता, अगर इन ताकतो में आपसी प्रतिद्वन्द्विता और एक-दूसरे के प्रति ईर्षा-द्वेष न होता।

उन्नीसवीं सदी में चीन में उत्पन्न हुई आर्थिक अव्यवस्था, तेंपिग के बलवे, मिशनरियों की करतूतों और विदेशी हमलों की इस आम बुनियाद को बताने में मैं अपने असली किस्से से भटक गया हूँ। लेकिन घटनाओं के विवरण को समझदारी के साथ समझने के लिए उसके बारे में कुछ-न-कुछ जानना ज़रूरी है; क्योंकि इतिहास की घटनायें किसी चमत्कार या जादू की तरह एकाएक नहीं हुआ करतीं। जुदे-जुदे कारणों के मिलकर उभाड़ने पर ही वे घटित होती है। लेकिन ये कारण अक्सर ज़ाहिरा तौर पर देखने में नहीं आते, वे घटनाओ की तह के नीचे छिपे रहते हैं। चीन के मंचू शासक, जो अभी तक इतने महान् और शक्तिशाली थे, भाग्य-चक्र के इस अचानक परिवर्तन पर अवश्य ही चकित रह गये होंगे। उन्होने शायद यह नहीं देखा, कि उनके पतन की खास वजह उनके ही भूतकाल में समाई हुई थी; उन्होंने पश्चिम की औद्योगिक प्रगति को और चीन की आर्थिक व्यवस्था पर होनेवाले उसके भयानक परिणामो को अनुभव नहीं किया। 'वहशी' विदेशियों के दखल पर उन्होने सख्त नाराज़ी ज़ाहिर की। तत्कालीन सम्राट् ने विदेशियो के इस दखल का जिक्र करते हुए एक मज़ेदार पुराने चीनी मुहाविरे का प्रयोग किया था। उसने कहा कि मैं किसी अजनबी आदमी को अपने बिस्तर के पास खर्राटा न लेने दूंगा! हालांकि प्राचीन ग्रन्थो के ज्ञान और विनोद से मुसीबत के समय शान्ति, विश्वास और अपूर्व धैर्य की शिक्षा मिलती थी, लेकिन विदेशियो को रोकने या पीछे हटाने में वह समर्थ नहीं था।

नानकिंग की सन्धि ने ब्रिटेन के लिए चीन के दरवाज़े खोल दिये। लेकिन यह हो नहीं सकता था कि सारे बड़े-बड़े रसगुल्ले अकेला ब्रिटेन ही हज़म कर जाय। फ़्रांस और संयुक्त राज्य अमेरिका भी आ धमके और चीन के साथ व्यापारिक सन्धियाँ की गई। चीन लाचार था और उसपर की जानेवाली यह जोर-ज़बर्दस्ती उसके दिल में विदेशियो के लिए कोई प्रेम और आदर पैदा न कर सकी। अपने यहाँ इन 'वहशियों' की मौजूदगी का ही उसे सख्त रंज और गुस्सा था। इधर विदेशियो का

सन्तुष्ट होना भी अभी बहुत दूर की बात थी। चीन के रक्त-शोषण की उनकी भूख बढ़ ही रही थी। ब्रिटेन फिर इसमें अगुवा बना।

विदेशियों के लिए यह बड़ा अच्छा मौक़ा था, क्योंकि चीन तेंपिग के बलवे को दबाने में लगा होने के कारण इनका मुकाबिला कर नहीं सकता था। इसलिए अब अंग्रेज लड़ाई का कोई बहाना ढूंढने लगे। १८५६ में कैण्टन के चीनी वाइसराय ने एक जहाज के मल्लाहों को समुद्री डकैती के अपराध में गिरफ़्तार कर लिया। जहाज के मालिक चीनी थे, और विदेशियों से किसी तरह का कोई सम्बन्ध नहीं आता था। लेकिन हांगकांग-सरकार के परवाने के मुताबिक उसपर ब्रिटिश झण्डा फहराया हुआ था। इत्तफ़ाक की बात यह कि उस समय तक इस परवाने की मियाद भी खतम हो चुकी थी। लेकिन फिर भी नदी के किनारे पर के मेमने और भेड़िये के क़िस्से की तरह ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने इसीको लड़ाई का बहाना बना लिया।

इंग्लैण्ड से चीन को फौजें भेजी गईं। ठीक इन्हीं दिनों हिन्दुस्तान में ग़दर शुरू होगया, और इसलिए इन सब फ़ौजों को यहाँ भेज देना पड़ा। ग़दर के दबाये जाने तक चीन-युद्ध को इन्तज़ार करना पड़ा। १८५८ में यह दूसरा चीन-युद्ध शुरू हुआ। इसी दरमियान फ़्रांस ने भी इस लड़ाई में शरीक होने का एक बहाना ढूंढ निकाला; क्योंकि चीन में किसी जगह कोई फ़्रांसीसी मिशनरी मार डाला गया था। इस तरह अंग्रेज और फ़्रांसीसी जो तेंपिग के बलवे को दबाने में मशगूल थे, चीनियों पर टूट पड़े। ब्रिटिश और फ्रेंच सरकार ने रूस और अमेरिका को भी इस लड़ाई में शामिल होने को बहुत ललचाया, लेकिन वे रजामन्द न हुए। मगर उनकी इस लूट में हिस्सा बँटाने को वे बिलकुल तैयार थे! असल में कोई लड़ाई हुई ही नहीं, और इन चारों शक्तियों ने चीन के साथ नई सन्धि करके ज्यादा-से-ज्यादा रिआयतें ऐंठ लीं। विदेशी व्यापार के लिए और ज्यादा बन्दरगाह खोल दिये गये।

लेकिन चीन के इस दूसरे युद्ध का किस्सा अभी ख़तम नहीं हुआ है। इस नाटक का अभी एक और अंक खेला जाना बाकी है, जिसका अन्त और भी ज्यादा दुःखान्त है। जब सन्धियाँ की जाती हैं, तो यह एक रिवाज-सा है कि उससे ताल्लुक रखनेवाली सरकारों को उन्हें पक्का या सही करना होता है। यह तय पाया था कि एक वर्ष के अन्दर पेकिंग शहर में इन सन्धियों को पक्का कर दिया जाय। जब इसका समय आया तो रूसी राजदूत तो खुश्की के रास्ते सीधा पेकिंग पहुँच गया, पर बाक़ी तीनों—ब्रिटेन, फ़्रांस, और अमेरिका—समुद्री रास्ते से आए और अपने जहाजों को पीको नदी के जरिये पेकिंग तक लाना चाहा। उन दिनों इस शहर को तेंपिग के बलवाइयों से बड़ा ख़तरा होने की वजह से नदी पर क़िलेबन्दी की हुई थी। इसलिए चीन-सरकार ने ब्रिटिश,

फ्रांस और अमेरिका के राजदूतों से नदी के रास्ते न आकर जरा उत्तर की तरफ के जमीन के रास्ते आने की प्रार्थना की। यह प्रार्थना कुछ बेजा न थी। अमेरिका तो इसपर रजामन्द होगया; लेकिन ब्रिटिश और फ्रेञ्च राजदूतो ने ऐसा नहीं किया। किलेबन्दी होते हुए भी उन्होने जबर्दस्ती नदी में होकर आने की कोशिश की। इसपर चीनियो ने उनपर गोलियां दाग दीं और भारी नुकसान के साथ उन्हें वापस लौटने को मजबूर किया।

जिद्दी और निहायत मगरूर सरकारे, जो अपने सफ़र का रास्ता बदलने तक की चीन-सरकार की प्रार्थना सुनने को तैयार न थीं, अपने मुँह पर लगे हुए इस तमाचे को कैसे बरदाश्त कर सकती थी? फ़ौरन ही बदला लेने के लिए और अधिक फ़ौजें बुला भेजी गईं। १८६० में पेकिंग के प्राचीन नगर पर उन्होने धावा बोल दिया, और तबाही, बरबादी, लूट और नगर की एक सबसे अधिक अद्भुत और निराली इमारत को जलाने के रूप में उन्होंने अपना बदला लिया। यह इमारत राजा का गरमी का महल यून-मिंग-यून था, जो शीयन-लुंग के शासन-काल में बनकर पूरा हुआ था। चीन के सबसे बढ़िया साहित्य और कला के अनमोल रत्नों से यह भरा हुआ था। पीतल और कांसे की निहायत खूबसूरत मूर्तियां, चीनी मिट्टी के अद्भुत और बढ़िया बर्तन, हस्तलिखित दुर्लभ पुस्तके और चित्र, और हर तरह की विचित्रता और हुनर के काम, जिनके लिए चीन हजारों वर्ष से मशहूर था, वे सब इसमें रक्खे हुए थे। अंग्रेज और फ्रांसीसी जाहिल और हूश सिपाहियों नें इन बहुमूल्य वस्तुओं को लूटा और कई दिनो तक जलती रहनेवाली भयंकर होलियो में झोककर खाक कर दिया! ऐसी हालत में हजारों वर्षों की सभ्यता वाले चीनी लोग अगर इस बर्बरता पर अपने हृदय में व्यथा अनुभव करें और लुटेरों को जाहिल, हूश और जंगली समझें तो इस में क्या आश्चर्य है। ये ऐसे जाहिल और जंगली थे कि मारने या हत्या करने और बरबाद करने के सिवा और कुछ जानते ही न थे। इससे हूण, मंगोल और पुराने जमाने केवहशी या जंगली लुटेरों की उन्हे फिर याद हो आई होगी।

लेकिन विदेशी 'वहशियो' को इस बात की क्या परवा कि चीनी उनके बारे में क्या सोचते है? अपने जंगी जहाजो और नये ढंग के युद्धास्त्रो के बीच वे अपने को महफूज समझते थे, और अगर सैकडो वर्षों में जमा की गईं बहुमूल्य और दुर्लभ वस्तुयें नष्ट हो गईं, उनका अब कोई वजूद न रहा, तो उन्हे इससे क्या मतलब? चीन की कला और संस्कृति की उन्हे परवाह ही क्या? उनके शब्दो में तो—

"कुछ भी हो, हम निश्चल है, हम भारी तोपो वाले है,
चीनी बहुत हुए तो क्या, वे बिन हथियारो वाले है!"[१]

: ११५ :

मुसीबत का मारा चीन

२४ दिसम्बर, १९३२

अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हे बताया था कि किस तरह १८६० में अंग्रेज और फ्रांसीसियों ने पेकिंग के अद्भुत ग्रीष्म-भवन को तहस-नहस किया। कहा जाता है कि चीनियो ने सुलह के झण्डे की अवहेलना की, इसलिए उसकी सजा के तौर पर यह किया गया था। यह सच हो सकता है कि कुछ चीनी फौजें इस तरह के अपराध की अपराधी रही हो, लेकिन अग्रेज और फ्रासीसियो ने जान-बूझकर जो वहशीपन बताया, वह तो किसी की समझ में आ ही नही सकता। कुछ नादान सिपाहियो का यह काम नहीं था, वल्कि जिम्मेदार अफसरों ने ही यह सब कुछ करवाया था। ऐसी बाते क्यो होती है? अंग्रेज और फ्रांसीसी सभ्य-सुसंस्कृत और शाइस्ता कौमें है, और मौजूदा सभ्यता की कई तरह से रहनुमा है। और फिर भी ये लोग जो व्यक्तिगत जीवन में बडे भले, योग्य और विचारवान होते है, सार्वजनिक व्यवहार और दूसरे देशो के साथ के संघर्ष या लड़ाई में अपनी सारी सभ्यता और भलमनसाहत भूल जाते है। इनके एक-दूसरे के साथ के व्यक्तिगत व्यवहार और दूसरे राष्ट्रो के साथ के वर्त्ताव में एक बड़ा अजीब भेद मालूम होता है। बच्चों, लड़के और लड़कियों को स्वार्थी या खुदगर्ज न बनने, दूसरों का खयाल रखने और शिष्टता या तमीज के साथ व्यवहार करने की शिक्षा दी जाती है। हमारी सारी शिक्षा का उद्देश हमें यह सबक सिखाना होता है, और एक हद तक हम यह सीखते भी है। इसके बाद युद्ध आते है, और हम अपना पुराना सबक भूल जाते है और हमारे अन्दर छिपा हुआ हैवान बाहर निकलकर अपनी शकल दिखाता है। इस तरह भले आदमी जानवरो की तरह वर्ताव करने लगते है।

दो सजातीय राष्ट्र—जैसे जर्मनी और फ्रांस एक-दूसरे से लड़ते है, तब भी ऐसा ही होता है। लेकिन जब एक दूसरे से जुदा जातिवालों के बीच लड़ाई होती है, एशिया और अफ्रीका वालों के साथ यूरोपियनो का मुकाबला होता है, तब हालत और भी

१ मूल अग्रेजी पद्य इस प्रकार है —

"Whatever happens,
We have got
The maxim gun,
And they have got !"

[पिछले पृष्ठ का फुटनोट]

बदतर हो जाती है। क्योंकि हरेक जाति एक-दूसरी के लिए बन्द किताब की तरह होती है, इसलिए एक जाति दूसरी जाति के बारे में बहुत कम जानकारी रखती है। और जहाँ अज्ञान है, वहाँ भाई-चारे के भाव कैसे पैदा हो सकता है ? जातिगत घृणा और कटुता बढ़ी हुई होती है, और जब दो जुदा-जुदा जातियो में लड़ाई छिड़ती है तब वह सिर्फ राजनैतिक युद्ध ही नहीं रह जाता बल्कि उससे कहीं बदतर एक जातिगत युद्ध बन जाता है। इससे किसी हदतक यह समझ में आजाता है कि १८५७ के भारतीय विद्रोह में जो भयानकतायें हुईं और एशिया और अफ़रीका में प्रधान यूरोपियन ताकतो ने जो बेरहमी और वहशीपन किया, उनका क्या कारण था।

यह सब कुछ निहायत अफसोसनाक और बेहूदगी मालूम होती है। लेकिन जहाँ भी एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर, एक जाति दूसरी जाति पर और एक वर्ग दूसरे वर्ग पर हुकूमत जमाता है, वहां इस तरह के असन्तोष, झगडे और विद्रोह, और शोषित या चूसे जानेवाले राष्ट्र, जाति या वर्ग का अपने शोषणकर्त्ता से अपना पीछा छुड़ाने के प्रयत्न होते रहना लाजमी है। आज के हमारे समाज की जड़-बुनियाद यही एक का दूसरे को चूसना है। इसीको पूंजीवाद कहते हैं और इसीसे साम्राज्यवाद की उत्पत्ति हुई है।

उन्नीसवीं सदी के बडे बडे कल-कारखानों और औद्योगिक उन्नति ने पश्चिमी यूरोपियन राष्ट्रो और सयुक्त राज्य अमेरिका को मालदार और ताकतवर बना दिया था। वे यह समझने लगे कि दुनिया के मालिक हमी है, और दूसरी जातियाँ इससे कहीं नीची हैं और इसलिए उन्हें हमारे लिए अपना रास्ता साफ कर देना चाहिए। प्रकृति या कुदरत की ताकतो पर कुछ अधिकार प्राप्त हो जाने के कारण वे दूसरों के प्रति गुस्ताख और मगरूर हो गये। वे इस बात को भूल गये कि सभ्य आदमी को कुदरत पर ही नहीं, बल्कि खुद अपने पर भी काबू करना चाहिए। इस तरह हम देखते है कि इस उन्नीसवीं सदी की कई बातो में दूसरो से आगे बढ़ी हुई उन्नतिशील जातियाँ अक्सर ऐसे बर्त्ताव कर बैठतीं थी, जिनसे कि असभ्य जंगली तक को शर्म आ सकती थी। इससे तुम को यूरोपियन शक्तियो का एशिया और अफ़रीकावालों के साथ न सिर्फ पिछले जमाने का बल्कि आज का भी बर्त्ताव समझने में शायद मदद मिल सकेगी।

यह ख़याल न कर बैठना कि मैं अपने से या दूसरी जातियो से यूरोपियन जातियो की यह तुलना अपने को बढ़ाकर बताने की ग़रज से कर रहा हूँ। हर्गिज नहीं। हम सबमें काले धब्बे मौजूद हैं; इतना ही नहीं, हमारे कुछ धब्बे तो दूसरो से कहीं ज्यादा ख़राब है, वरना हम जितने ज्यादा तह तक नीचे गिर गये हैं उतने न गिरते। इस पत्र को लिखते समय भी मेरे दिमाग में जो सवाल घूम रहा है, वह है बापू के

उपवास का, जो वह हमारे दलितवर्ग, या जैसा कि उन्हे अब कहा जाता है हरिजनों, के लिए मंदिर-प्रवेश का अधिकार प्राप्त करने के लिए करनेवाले हैं। उनके मंदिर में जाने या न जाने में मेरी कोई खास दिलचस्पी नहीं है। लेकिन उनको जबरदस्ती बाहर रखने का अर्थ उनपर अपनेसे नीचे और नापाक होने की मुहर लगा देना है, और इस तरह यह प्रश्न एक कसौटी बन गया है। जबतक हम लोग इस बात का आखरी फ़ैसला नही कर देते कि हमारे आपस में ऐसा कोई दलित या शोषितवर्ग नही रहना चाहिए, तबतक दूसरो के हमारे साथ ऐसा बर्ताव करने पर हमें उनकी शिकायत करने का कोई अधिकार नहीं है।

अब हम चीन को वापस लौटें। ग्रीष्म-महल को नेस्त-नाबूद करके अंग्रेज और फ़ांसीसी अपनी ताकत का प्रदर्शन कर चुके थे। इसके बाद उन्होने चीन को पुरानी सन्धियो को पक्की करने के लिए मजबूर करके उससे नई-नई रिआयते ऐंठ लीं। इन सन्धियो के मुताबिक चीन-सरकार को शंघाई में विदेशी अफ़सरों की मातहती में अपना एक कस्टम विभाग खोलना पड़ा। इसका नाम रक्खा गया 'शाही समुद्री कस्टम विभाग।'

इस बीच तैपिंग का बलवा, जिसने चीन को कमज़ोर करके विदेशी ताकतों को पैर फैलाने का मौक़ा दिया था, चल ही रहा था। आख़िरकार १८६४ में चीनी गवर्नर ली-हुंग-चांग ने, जो चीन का एक प्रमुख राजनीतिज्ञ हो गया है, इसको पूरी तरह दबा दिया।

जब इंग्लैण्ड और फ्रांस चीन पर इस तरह आतंक जमाकर उससे विशेषाधिकार और रिआयतें ऐंठ रहे थे, उत्तर में रूस ने शान्तिपूर्ण उपायों से ही एक मार्के की सफलता प्राप्त करली। कुछ ही वर्ष पहले कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार जमाने के लिए लालायित रूस ने योरप में टर्की पर हमला किया था। इंग्लैण्ड और फ्रांस दोनों ही रूस की बढ़ती हुई ताकत से भयभीत थे, इसलिए वे तुर्को से जा मिले और १८५४–५६ के क्रीमियन युद्ध में रूस को हरा दिया। पश्चिम में हार खाकर रूस नें पूर्व पर नजर डालनी शुरू की और उसमें उसे बडी कामयाबी हासिल हुई। शान्त उपायों से चीन को फुसलाया गया कि वह ब्लाडीवोस्टक शहर और बन्दरगाह सहित समुद्र से लगा हुआ उत्तर-पूर्व का प्रान्त रूस के सुपुर्द कर दे। रूस की इस सफलता का श्रेय एक नौजवान रूसी अफसर मुरावीफ़ को है। इसतरह तीन सालतक के युद्ध और मूर्खतापूर्ण विनाश के बाद भी इंग्लैण्ड और फ्रांस जितना फ़ायदा न उठा सके, उससे कही ज्यादा रूस ने दोस्ताना तरीको से ही हासिल कर लिया।

१८६० में हालत इस तरह की थी। अठारहवीं सदी के अन्त तक क़रीब-क़रीब

आधे एशिया तक फैला हुआ मंचू वंश का महान् चीनी साम्राज्य अब दीन हो गया था। सुदूर योरप की पश्चिमी ताकतो ने उसे पराजित और अपमानित किया। दूसरे उसके अपने ही घरेलू विद्रोह ने साम्राज्य को करीब-करीब उलट दिया और इन सब बातो ने चीन को जड़ से हिला दिया। यह ज़ाहिर ही है कि चारो तरफ हालत अच्छी नहीं थी, इसलिए नई परिस्थितियों का मुकाबिला करने और विदेशी ख़तरे से बचाव करने के लिए देश का पुनर्संगठन करना ज़रूरी था। इसलिए १८६० के वर्ष को जबकि चीन ने अपने आपको विदेशियो के आक्रमण का मुकाबिला करने के लिए तैयार किया, नवयुग का आरम्भ समझना चाहिए। चीन का पडौसी जापान भी इस समय इसी तरह की तैयारी में लगा हुआ था। इसलिए यह उसके लिए उदाहरण बन गया। चीन की बनिस्बत जापान को कहीं ज्यादा कामयाबी मिली, लेकिन कुछ देर के लिए चीन भी विदेशी ताक़तो को पीछे रोके तो रहा।

सन्धि वाले राष्ट्रों के पास चीन के एक दिली दोस्त बर्लिनगेम नामक अमेरिकन की मातहती में एक चीनी मिशन में भेजा गया। कुछ हद तक चीन के लिए बेहतर शर्तें हासिल करने में वह कामयाब हुआ। १८६८ चीन अमेरिका के बीच एक नई सन्धि हुई, और यह एक दिलचस्प बात है कि इसमें चीन सरकार ने संयुक्तराज्य अमेरिका पर मेहरबानी और रिआयत के तौर पर अपने यहाँ के मजदूरों का अमेरिका ले जाया जाना मंजूर कर लिया। सयुक्तराज्य अमेरिका अपनी पश्चिमी प्रशांत रियासतों, खासकर केलिफोर्निया, को बढ़ाने में लगा हुआ था और मजदूरो की बहुत कमी थी। इसलिए चीनी मजदूरो को समुद्र पार ले गया। लेकिन आगे चलकर यह भी एक नई मुसीबत का कारण बन गया। अमेरिकन लोग सस्ते चीनी मजदूरो का विरोध करने लगे, इससे दोनो सरकारों के बीच तनातनी शुरू हो गई। बाद में अमेरिकन सरकार ने चीनी मजदूरों का अपने यहाँ आकर आबाद होना बन्द कर दिया। इस अपमानजनक व्यवहार पर चीनी जनता ने सख़्त नाराजी ज़ाहिर की और उन्होनें अमेरिकन माल का बहिष्कार कर दिया। लेकिन यह सब एक लम्बा किस्सा है, और हमें बीसवीं सदी तक पहुँचा देता है। हमें उसमें जाने की जरूरत नहीं।

तेंपिंग का बलवा अभी मुश्किल से दबाया ही गया था, कि इतने ही में मंच-शासको के ख़िलाफ़ एक दूसरा बलवा उठ खड़ा हुआ। यह खास चीन में नहीं, बल्कि सुदूर पश्चिम में, एशिया के बीच में, तुर्किस्तान में हुआ था। यहाँ की ज्यादातर आबादी मुसलमानों की थी, इसलिए १८६३ में यहाँ के मुस्लिम कबीलों ने याकूबबेग के नेतृत्व में बलवा करके चीनी अधिकारियों को निकाल बाहर किया। इस स्थानीय बलवे में दो बातें दिलचस्पी की है। रूस ने चीन की कुछ जमीन हड़प करके इस बलवे से कुछ

फ़ायदा उठाने की कोशिश की। दरअसल यूरोपियन ताकतो की यह एक बडी अच्छी सधी-सधाई चाल थी, कि जब कभी चीन मुसीबतों में होता, वे फ़ायदा उठाने की कोशिश करते। लेकिन, यह देखकर सबको बड़ा ताज्जुब हुआ कि इस बार चीन रूस की बात पर रजामन्द नहीं हुआ, और आख़िरकार रूस को हड़प की हुई जमीन वापस करनी पडी। इसका कारण था चीनी सेनापति सो-संग-तंग का मध्य एशिया में याकूब बेग के ख़िलाफ़ एक जबरदस्त धावा। इस सेनापति ने बडी शान्ति और इतमीनान के साथ युद्ध का संचालन किया। बागियो तक पहुँचने के पहले वह साल-पर-साल बिताता हुआ, फौज को लिये हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ता रहा। दो बार तो उसने अपनी फ़ौज को इतने दिनो तक एक स्थान पर ठहराये रक्खा कि उसने अपने इस्तेमाल के लिए अनाज बोकर फसल भी काटली। फौज के रसद का सवाल हमेशा एक मुश्किल सवाल रहता है, और गोबी के रेगिस्तान को पार करते समय तो यह और भी भयंकर हो जाता है। इसलिए सेनापति सो-संग ने इस सवाल को इस अजीब तरीक़े से हल कर लिया। इसके बाद उसने याकूब बेग को हरा दिया और बलवे का ख़ातमा कर दिया। कहा जाता है कि काशगर, तुरफान और यारकन्द में उसकी लड़ाइयां फ़ौजी दृष्टि से बडी आश्चर्यजनक हुईं।

मध्य एशिया में रूस के साथ सन्तोषजनक फैसला हो जाने के बाद चीनी सरकार को जल्दी ही लम्बे-चौडे लेकिन बेतरतीब राज्य के दूसरे हिस्से में मुसीबत का सामना करना पड़ा। यह किस्सा चीन की मातहत अनाम रियासत का है। फ़्रांस का इसपर बहुत दिनो से दाँव था। और इसलिए चीन और फ़्रास के आपस में लड़ाई छिड़ गई; लेकिन इस बार फिर यह ताज्जुब की बात हुई कि चीन ने ख़ासा मुकाबिला किया और फ़्रांस से जरा भी नहीं दबा। १८८५ में उससे भी एक सन्तोषजनक सन्धि हो गई।

चीन की इस नई शक्ति के चिन्हों से साम्राज्यवादी ताकतो पर काफी असर पड़ा। ऐसा मलूम होने लगा कि अपनी १८६० और इससे पहले की कमजोरी से वह अब उभर रहा था। सुधारो की चर्चा चली और बहुत-से लोग यह समझने लगे कि उसने अब करवट बदल ली है। यही वजह है कि १८८६ में इंग्लैड ने बरमा को अपने साम्राज्य में मिलते समय हर दसवें साल चीन को भेजे जानेवाले नियमित ख़िराज को देते रहने का वादा कर लिया।

लेकिन चीन की किस्मत का पासा पलटना अभी कहाँ बदा था। अभी उसकी किस्मत में बहुत बेइज्जती, मुसीबतें और ठोकरे बदी थीं। उसके अन्दर जो ख़राबी थी वह सिर्फ उसकी फ़ौज या समुद्री बेडे की कमजोरी ही नहीं थी, बल्कि उससे भी गहरी कोई और ख़राबी थी। उसका सारा सामाजिक और आर्थिक ढांचा टुकडे-टुकडे

हुआ जा रहा था। जैसाकि मैं तुमसे कह चुका हूँ, उन्नीसवीं सदी के शुरू में जिस वक्त मचू शासकों के ख़िलाफ गुप्त संस्थायें बन रहीं थीं, चीन की हालत बहुत ख़राब थी। विदेशी व्यापार और उद्योगवादी देशों के संघर्ष के प्रभाव से हालत और ज्यादा ख़राब हो गई। १८६० के बाद चीन में जो ताकत दिखाई दी, उसकी जड़ में असलियत बहुत कम थी। कुछ उत्साही अफसरों, ख़ासकर ली हुंग-चांग ने इधर-उधर कुछ स्थायी सुधार किये लेकिन वे न तो समस्या की जड़ तक पहुँच सके, न चीन को कमज़ोर बनानेवाले रोग का इलाज ही कर सके।

इन वर्षों में चीन में जो ऊपरी ताक़त दिखाई दी, उसकी ख़ास वजह यह थी कि शासन की लगाम एक मज़बूत शासक के हाथ में थी। वह मज़बूत शासक भी एक ज़बरदस्त औरत चीन की बड़ी राजमाता जू-सी। अपने पुत्र, चीन के उत्तराधिकारी सम्राट की नाबालिगी के कारण जिस समय शासन की बागडोर उसके हाथों में आई, उस समय उसकी उम्र सिर्फ २६ वर्ष की थी। ४७ वर्ष तक उसने बड़ी मुस्तैदी के साथ चीन का शासन किया। उसने चुन-चुन कर काबिल अफसर नियुक्त किये, उनपर भी किसी हदतक अपनी मुस्तैदी की छाप लगा दी। इन अफसरों और उसकी इस मुस्तैदी का ही यह असर था कि चीन कई वर्षों से जैसी शक्ति का परिचय नहीं दे सका था, वह इन वर्षों में दिखा सका।

लेकिन इसी अर्से में संकडे समुद्र के दूसरे किनारे पर जापान आश्चर्यजनक उन्नति करता हुआ अपना सारा रूप ही बदल रहा था। आओ अब हम जापान को चलें।

: ११६ :

जापान की अद्‌भुत उन्नति

२७, दिसम्बर, १९३२

जापान का हाल लिखे बहुत दिन होगये हैं। पांच महीने हुए, मैंने तुम्हें बताया था कि सत्रहवीं सदी में कैसी विचित्र रीति से इस देश ने अपने आपको चारो तरफ से बन्द कर रखा था। १६४१ ई० से लेकर २०० वर्ष से ऊपर तक जापानी लोग दुनिया से अलग-अलग रहे। इन २०० वर्षों में योरप, एशिया अमेरिका और अफरीका तक में बड़ी-बड़ी तब्दीलियाँ हुई। इस जमाने में जो सनसनीदार घटनायें हुई उनमें से कुछ का हाल मैं बता ही चुका हूँ। लेकिन इस एकान्तवासी जापानी जाति को इन घटनाओं की कोई ख़बर न मिली। जापान के पुराने सामन्ती वातावरण को भंग करनेवाला कोई झोंका बाहरी दुनिया से न आया।

ऐसा मालूम होता था मानों समय और इनकिलाब की गर्दिश रुक गई हो और सत्रहवीं सदी कैद करके ठहरादी गई हो। हालांकि काल का पहिया घूम रहा था लेकिन जापान की तस्वीर में कोई फर्क नहीं हुआ। सामन्ती जापान में जमींदारी श्रेणियाँ मज़बूत बनी हुई थी। सम्राट के हाथ में ताकत न थी। एक मशहूर खानदान का मुखिया शोगन असली शासक होता था। हिन्दुस्तान के क्षत्रियो की तरह वहाँ भी समूराई नाम की एक सैनिक जाति होती थी। सामन्त सरदारों और समूराई लोगों के हाथ में असली ताकत थी। अक्सर जुदे-जुदे सरदार और परिवार आपस में लड़ते रहते थे। लेकिन किसानो और दूसरे गरीबों को चूसने और तंग करने के वक्त ये सरदार एक होजाते थे।

फिर भी जापान में शान्ति थी। लम्बी घरेलू लड़ाइयों के बाद, जिनसे देश ऊब उठा था, यह शान्ति बडी भली लगी। कई झगड़ालू दाइम्यो सरदारो का दमन किया गया। घरेलू युद्ध से जो नुकसान हुए थे, वे धीरे-धीरे पूरे हो चले। लोगों का ध्यान अब ज्यादातर साहित्य, कला, धर्म और उद्योग की ओर खिचने लगा। ईसाई-धर्म का दमन किया गया, बौद्ध-धर्म का पुनरुद्धार हुआ और बाद में शिण्टो मत चमका जो अपने ढंग की जापान की पितरों की पूजा है। सामाजिक व्यवहार और सदाचरण में चीनी ऋषि कन्फ्यूशियस आदर्श माना जाने लगा। राज-दरबार और ऊँचे घराने में कला की खूब तरक्की हुई। कई बातो में मध्यकालीन योरप की तसवीर सामने आगई।

परन्तु परिवर्त्तन से बचे रहना सहल काम नहीं। गोकि बाहरी मेल-मिलाप को रोक दिया गया था, लेकिन खुद जापान के अन्दर परिवर्त्तन हो रहा था; हां, रफ़्तार धीमी जरूर थी। अगर बाहरी दुनिया के साथ ताल्लुकात बने रहते तो जरूर ये तब्दीलियां जरा तेजी से होतीं। दूसरे देशों की तरह यहाँ भी सामन्ती प्रथा आर्थिक विनाश की मंज़िल पर पहुँच गई। असन्तोष बढ़ गया और राजशासन के प्रधान होने के कारण 'शोगन' इन चोटों का शिकार होने लगा। शिण्टो सम्प्रदाय की उन्नति के कारण अब जनता के दिल में सम्राट के प्रति श्रद्धा बढ़ने लगी क्योंकि उसको सूर्य वंश का माना जाता था। इसतरह चारो ओर फैले हुए असन्तोष से राष्ट्रीयता का ख़याल पैदा हुआ। और यही ख़याल, जिसकी नींव पैसे वालों का नाश करके रखी गई थी, परिवर्त्तन को लाने का कारण हुआ। इसी ख़याल के कारण जापान के ताल्लुक़ात बाकी दुनिया के साथ आगे चलकर खुल गये।

जापान से ताल्लुकात कायम करने के लिए विदेशी शक्तियों ने बहुतेरी कोशिश की, लेकिन वे नाकामयाब रहीं। उन्नीसवीं सदी के बीच में जापान के मामलों में

संयुक्त राज्य अमेरिका के लोग खास तौर से दिलचस्पी लेने लगे। वे पश्चिम में केलिफोर्निया तक आ बसे थे, और सैनफ्रांसिस्को एक खास बन्दरगाह होता जा रहा था। इधर चीन से तिजारत भी नई-नई खुली थी, इसका भी भारी लालच था किन्तु प्रशान्त महासागर को पार करने में लम्बे सफ़र का झंझट था इसलिए अमेरिकावाले किसी जापानी बन्दरगाह पर जाकर चीनी माल की रसद लेने की तजवीज में थे। वार-बार जो अमेरिकावालो ने जापान से मेल-मुलाकात बनाये रखने की कोशिशें की, उनका यही कारण था।

१८५३ ई० में एक अमेरिकन जहाजी वेड़ा, अमेरिकन राष्ट्रपति का खत लेकर आया। जापानवालो ने सबसे पहले इन्ही भाप से चलनेवाले जहाजो को देखा। साल भर बाद शोगन दो बन्दरगाह खोलने के लिए राजी हो गये। जब अंग्रेजो, रूसियो और डचों ने यह सुना तो उन्होने भी आकर इसी तरह सन्धियाँ कीं। इस तरह २१३ वर्ष के बाद फिर जापान बाहरी दुनिया के लिए खुल गया।

लेकिन मुसीबत सामने आ रही थी। विदेशी ताकतो के आगे शोगन ने अपने आपको सम्राट् जाहिर किया था। अब वह लोगो की नजरों से गिर गया और उसके और उसकी विदेशी सन्धियो के खिलाफ वड़ा जबर्दस्त आन्दोलन उठा। कुछ विदेशी मारे भी गये। उसका नतीजा यह हुआ कि विदेशियो ने समुद्री हमला कर दिया। परिस्थिति ज्यादा खराब हो गई; आखिरकार १८६७ ई० में शोगन को इस्तीफा देने के लिए मजबूर होना पड़ा। इस तरह तोकुगावा शोगनो की हुकूमत का खातमा हुआ जो तुम्हें याद हो या न हो, १६०३ ई० में ईयेयासू से शुरू हुई थी। यही नहीं, शोगन का सारा रवैया ही जो ७०० वरसो से चला आ रहा था, खतम होगया।

नये सम्राट ने अब अपनी असली हालत को समझा। मुत्सीहितो के नाम से सिंहासन पर वैठनेवाला यह सम्राट सिर्फ १४ वर्ष का लड़का था। १८६७ ई० से १९१२ तक यानी ४५ वरस उसने राज्य किया। यह समय 'मेईजी' यानी प्रकाश-युग कहलाता है। इसी सम्राट के शासनकाल में जापान ने इतनी तेजी से तरक्की की और पश्चिमी देशों की नकल करके कई बातों में उनकी बराबरी में आगया। यह जबरदस्त तब्दीली जो एक ही पुश्त में हो गई ग़ौर करने के काबिल है; और इसका सानी इतिहास में नहीं मिल सकता है। जापान एक महान औद्योगिक देश बन गया। और वक़्त से पहले ही पश्चिमी जातियों के नमूने की साम्राज्यवादी जाति बन बैठा। उन्नति के तमाम बाहरी चिन्ह उसके पास मौजूद थे। उद्योग-धन्धो में वह अपने उस्ताद विदेशियो से भी आगे बढ़ गया। उसकी आबादी तेजी से बढ़ गई। उसके जहाज दुनिया के चारों तरफ घूमने लगे। वह एक ताक़तवर राष्ट्र बन गया

जिसकी राय अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में इज्जत के साथ सुनी जाने लगी। लेकिन फिर भी यह जबरदस्त परिवर्तन जनता के दिलो में गहरा न घुस सका। साथ ही परिवर्तनो को सिर्फ ऊपरी कहना भी गलत होगा क्योंकि ये महज सतह से ज्यादा गहरे थे। लेकिन शासकों के खयालात वही सामन्तशाही के बने रहे; वे इस सामन्ती गिलाफ़ के भीतर उग्र सुधारों का मेल मिलाना चाहते थे। बहुत हद तक तो वे अपनी कोशिशों में कामयाब हुए-से मालूम होते थे। फिर भी फिलहाल यह कहा जा सकता है कि वे यह अजीब खिचड़ी पकाने में कामयाब न हो सके और आज दिन जापान महानाश के मुँह में पड़ा हुआ है। सामन्ती गिलाफ किसी कदर जाता रहा है। जो-कुछ बचा है, वह भी ज्यादा दिनो तक न चलेगा।

जापान की इन बडी तब्दीलियो के लिए जो लोग जिम्मेदार थे वे ऊँचे घराने के दूरंदेश लोग थे, जो 'बुजुर्ग राजनीतिज्ञ' के नाम से मशहूर थे। जब जापान में विदेशियो के खिलाफ होनेवाले दंगो पर चढ़ कर विदेशी सैनिक जहाजो ने बम बरसाये तो जापानियो को अपनी कमजोरी मालूम पडी और उन्होंने अपनी बेइज्जती महसूस की। अपनी किस्मत कोसनें और सिर पीटने के बजाय उन्होने इस हार और बेइज्जती से सबक सीखने का इरादा किया। 'बुजुर्ग राजनीतिज्ञो' ने सुधार का एक प्रोग्राम बनाया और उसी पर डटे रहने की ठानली।

पुरानी सामन्ती दाइम्यो प्रथा उठा दी गई। सम्राट की राजधानी क्योतो से बदल कर जेदो कर दी गई, जिसका नया नाम तोक्यो या टोकियो रक्खा गया। एक नये शासन-विधान की घोषणा की गई, जिसमें पार्लमेण्ट की दोनो सभाओं की योजना थी। नीचेवाली सभा का चुनाव होता था; ऊपर वाली के सदस्य नामजद होते थे। तालीम, कानून, कारखाने, यानी करीब-करीब हरेक चीज में परिवर्तन हुए। कारखाने बने, नये तर्ज पर फौज और सेना तैयार की गई। गैर मुल्कों से विशेषज्ञ लोग बुलवाये गये और जापानी विद्यार्थियों को योरप और अमेरिका भेजा गया—पिछले दिनों के हिन्दुस्तानियो की तरह बैरिस्टर वगैरा बनने के लिए नहीं, बल्कि वैज्ञानिक और उद्योग-धन्धों में विशेषज्ञ बनने के लिए।

ये सब तब्दीलियाँ 'बुजुर्ग राजनीतिज्ञो' ने सम्राट के नाम पर कीं, जो नई पार्लमेंट और तमाम बातों के बावजूद भी जापानी साम्राज्य का एकतन्त्री शासक बना रहा। इसी दरमियान, जैसे-जैसे इन सुधारों की तरक्की होती जाती थी, सम्राट-पूजा का पंथ भी फैलता जाता था। यह भी एक अजीब गंठजोड़ा था कि एक तरफ तो कारखानें, मौजूदा कारबार और पार्लमेंटरी हुकूमत की सूरत, और दूसरी तरफ़ सम्राट-देवता की मध्यकालीन पूजा। यह समझना मुश्किल है कि ये दोनों बातें, चाहे थोडी देर के ही

लिए हो, क्योंकर साथ-साथ चल सकती थीं। फिर भी दोनो साथ-साथ कदम बढ़ाती रहीं, और आज दिन भी जुदा नहीं हुई हैं। सम्राट के लिए श्रद्धा की इस भावना से 'बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञो' ने दो तरह से फायदा उठाया। उन्होने सुधारो को उन कट्टर-पंथी और सामन्त लोगो पर थोपा जो वैसे तो सुधारों का विरोध करते लेकिन सम्राट के नाम की धाक के आगे उनको सिर झुकाना पड़ा। दूसरी तरफ इन राजनीतिज्ञो ने उन उग्र प्रगतिवादियो को रोक रक्खा, जो तेज़ी से आगे बढ़कर सब तरह की सामन्तशाही का खातमा करना चाहते थे।

उन्नीसवीं सदी के इस पिछले आधे हिस्से में चीन और जापान का अन्तर ग़ौर करने के काबिल है। जापान तेज़ी के साथ पश्चिमी साँचे में ढलता जा रहा था और चीन, जैसाकि हम देख चुके है और आगे भी देखेंगे, बहुत ही ग़ैर-मामूली दिक्कतो में उलझता गया। ऐसा हुआ क्यो? चीन देश के विस्तार, भारी आबादी और रकबे, ने इन्क़िलाब होने में दिक्कत पैदा की। हिन्दुस्तान भी इसी भारी आबादी और रकबे का शिकार है, जो ज़ाहिरा तौर से ताकत के सोते मालूम होते हैं। हाथी को चलाना ही मुश्किल है, लेकिन एक दफा हाथी चल पडे फिर तो वह छोटे जानवरो की बनिस्वत कहीं ज्यादा ताकत और रफ़्तार से चलेगा। चीन का शासन कुछ बहुत केन्द्रित नही था, यानी, देश के हरेक हिस्से को बहुत हद तक आज़ादी मिली हुई थी। इसलिए केन्द्रीय सरकार के लिए देश के इन हिस्सो में दस्तदाज़ी करके जापान की तरह इन्किलाब करना सहल काम न था। एक बात यह भी है कि चीन की महान सभ्यता हज़ारो बरसो में बनी थी और देश से ऐसी बंधी हुई थी कि सहज ही दूर नहीं फेंकी जा सकती थी। हम हिन्दुस्तान और चीन का एक बार फिर इस बात में मुकाबिला कर सकते हैं। दूसरी तरफ जापान चीन की सभ्यता ग्रहण किये हुए था, इसलिए वह ज्यादा आसानी से उसकी जगह पश्चिमी सभ्यता को अपना सका। चीन की दिक्कतों का एक और कारण यह भी था कि यूरोपियन ताकते बराबर दखल देती रहती थीं। चीन एक विशाल महादेश था। जापान के द्वीपो की तरह वह अपने आपको बन्द करके नहीं रख सकता था। उत्तर और उत्तर-पश्चिम में इसकी सीमा को रूस छूता था, दक्षिण-पश्चिम में इंग्लैण्ड और दक्षिण में फ़्रान्स बढ़ा चला आरहा था। ये यूरोपियन ताकते चीन से जबर्दस्त रिआयतें निचोड़ सकने में कामयाब होगई थीं और अपने व्यापारी स्वार्थों को बढ़ा रही थीं। इन स्वार्थों के कारण उनको दस्तन्दाजी करने के बहुतेरे बहाने मिल जाते थे।

इस तरह जापान आगे बढ़ गया और चीन नई हालतों के मुताबिक अपने को ढाल लेने की कोशिश में बेकार ही हाथ-पैर पीटता रहा। फिर भी इसमें एक अजीब

बात ध्यान देने लायक़ है। जापान ने पश्चिम की मशीन और उद्योगों को इख्तियार करके आधुनिक फौज और समुद्री-सेना वाले उन्नत औद्योगिक राष्ट्र का रूप धारण कर लिया। लेकिन योरप के नये खयालात को उसने इतनी मुस्तैदी से मंजूर न किया। ये विचार सामाजिक और व्यक्तिगत आजादी, जीवन और समाज पर विज्ञान-सम्मत दृष्टिकोण डालने के बारे में थे। अन्दर, दिल से जापान वाले सामन्ती और एकतन्त्र-वादी बने रहे; वे उस विचित्र सम्राट-पूजा से बंधे रहे, जिसे संसार के बाकी हिस्सो ने कबका ही छोड़ दिया था। भावुकता और आत्म-त्याग से भरा हुआ जापानियों का देश-प्रेम इस सम्राट-भक्ति से बहुत ज्यादा जकड़ा हुआ था। राष्ट्रीयता और सम्राट-पूजा के पंथ साथ-साथ चलते रहे। इसके बरख़िलाफ़ चीन ने मशीनो और उद्योगवाद को झटपट मंजूर न किया। हाँ, आधुनिक चीन ने किसी क़दर पश्चिमी विचारो और वैज्ञानिक दृष्टिकोणो का स्वागत किया। ये विचार उन लोगो के अपने विचारों से ज्यादा दूर न थे। इस तरह हम देखते है कि पश्चिमी सभ्यता की स्पिरिट में चीन ज्यादा घुस सका। जापान चीन से आगे इसलिए बढ़ गया कि उसने स्पिरिट की परवाह न करके पश्चिमी सभ्यता का ऊपरी बाना धारण किया था। और चूंकि जापान इस बाने में ताकतवर दिखाई देता था, तमाम योरप ने उसकी तारीफ की और उसे अपना हमजोली बना लिया। लेकिन चीन कमजोर था, तोपें वगैरा उसके पास काफी थी नही; इसलिए योरपवालों ने उसको बेइज्जत किया, वे उसकी छाती पर सवार हुए; उन्होने उसको धर्म के लेक्चर दिये, उसको चूसा और उसके विचारो और शिक्षाओं की तनिक भी परवाह न की।

जापान न सिर्फ औद्योगिक मामलो ही, बल्कि साम्राज्यवादी हमलों में भी योरप के कदमो पर चला। वह यूरोपियन ताकतो का न केवल वफ़ादार चेला था; बल्कि उससे कुछ ज्यादा था। उसने इस बारे में उनके भी कान काट लिये। उसकी असली मुश्किल यही थी कि नया उद्योगवाद पुरानी सामन्तशाही के साथ मेल नहीं खाता था। दोनों को चालू रखने की कोशिश में वह आर्थिक समतोल न बनाये रख सका। करो के भारी बोझ के नीचे लोगो के असन्तोष की आवाज सुनाई देने लगी। देश के अन्दर कलह रोकने के लिए उसने वही पुरानी चाल चली—लोगों का ध्यान विदेशों पर साम्राज्वादी हमलों और युद्धो के जरिये उधर लगा दिया। उसके नये उद्योगवाद ने उसे कच्चे माल और बिक्री के बाजारों के लिए दूसरे देशों पर नजर डालने के लिए मजबूर किया, जिस तरह कि औद्योगिक क्रान्ति ने इंग्लैड और बाद में पश्चिमी योरप की दूसरी शक्तियों को बाहर निकालने और फतह पाने के लिए मजबूर किया था। उत्पत्ति बढ़ गई और आबादी भी तेज़ी के साथ बढ़ी।

ज्यादा खाने की चीजों और कच्चे माल की ज्यादा जरूरत होने लगी। ये सब उसे मिले कहाँ से? उसके सबसे करीबी पड़ौसी थे चीन और कोरिया। चीन में तिजारत के मौके जरूर थे, पर वह खुद ही बड़ा घना आबाद मुल्क था। अलबत्ता, मंचूरिया में जो चीनी साम्राज्य के उत्तर पूर्वीय प्रान्तों का गिरोह था, व्यापारिक उन्नति और उपनिवेश कायम करने के लिए काफ़ी जगह थी। इसलिए भूखे जापान की नज़र कोरिया और मंचूरिया पर पड़ी।

इधर पश्चिमी ताकतें चीन से सब तरह के विशेषाधिकार लेती जा रही थीं, बल्कि जमीन हड़प करने की कोशिश में भी थीं। इस पर जापान ने दिलचस्पी के साथ गौर किया। उसको यह बात बिलकुल पसन्द न थी। अगर ये शक्तियाँ उसके ठीक सामने महाद्वीप में जम जायँ तो उसकी हिफ़ाजत पर जरूर खतरा आता, कमसे कम महाद्वीप पर उनकी तरक्की को तो धक्का लगता ही। इसके अलावा, वह लूट में भी अपनी ही पौ बारह रखना चाहता था।

बाहरी दुनिया के लिए दरवाजे खोले अभी २० वर्ष भी न हुए थे कि जापान ने चीन के प्रति आक्रमणकारी ढंग इख्तियार कर लिया। कुछ मछुओं के बारे में एक छोटा-सा झगड़ा हुआ। इन मछुओं का जहाज़ नष्ट हो गया था और वे मार डाले गये थे। बस जापान को चीन से हरजाना माँगने का मौका मिल गया। पहले तो चीन ने यह नामंजूर किया, इस पर उसे लड़ाई की धमकी दी गई। चूँकि वह अनाम में फ्रांस के साथ युद्ध में मशगूल था, उसे जापान के आगे झुकना पड़ा। यह १८७४ ई० की बात है। जापान इस विजय से फूल उठा, और उसी दम अपनी विजय को और भी फैलाने के लिए मौका ताकने लगा। कोरिया पर भी जापान की नज़र ललचा रही थी, एक तुच्छ बहाने को लेकर जापान ने उस पर हमला बोल दिया और उसे कुछ रुपया देने और जापानी व्यापार के लिए, कुछ बन्दरगाह खोलने के लिए मजबूर किया। जापान अपने आपको यूरोपियन ताकतों का योग्य शागिर्द साबित कर रहा था!

कोरिया बहुत अरसे से चीन की एक मातहत रियासत थी। उसको चीन से मदद मिलने की उम्मीद थी, पर चीन मदद देने में असमर्थ था। जापान कहीं बहुत ज्यादा हावी न हो जाय इस डर से चीनी सरकार ने कोरिया को सलाह दी कि फ़िल-हाल तो जापान के आगे झुक जाय। साथ ही जापान की भी बढ़ती को रोकने के लिए यूरोपियन ताकतों से सन्धि कर ले। इस तरह कोरिया का फाटक दुनिया के लिए १८८२ ई० में खुल गया लेकिन जापान इतने से ही संतुष्ट न हुआ। चीन की कठिनाइयों का फ़ायदा उठाकर, उसने फिर कोरिया का सवाल उठाया और

कोरिया के ऊपर मुश्तरका कब्जा या नियंत्रण रखनें के लिए चीन को राजी कर लिया। इसका मतलब यह हुआ कि बेचारा कोरिया चीन और जापान दोनों का मातहत बन गया। यह हालत तो हरेक के लिए ही बहुत असन्तोषजनक हो गई। झगडे की सूरत लाजिमी थी। जापान झगड़ा करना चाहता था। आखिरकार उसने १८९४ ई० में चीन पर युद्ध बोल ही दिया।

१८९४-९५ ई० का चीन-जापान का युद्ध जापान के लिए तो एक निश्चिन्तता का मामला था। उसकी फौज और समुद्री सेना बिलकुल अप-टु-डेट यानी सब तरह के आधुनिक सामान से सज्जित और तालीमयाफ़्ता थी। चीन की पुरानी तर्ज की और अयोग्य थी। जापान की हर तरह फ़तह हुई और चीन के ऊपर एक सुलह लादी गई, जिसके मुताबिक़ जापान भी चीन से सन्धि करने वाली दूसरी विदेशी शक्तियो की क़तार में आगया। कोरिया को आजाद ऐलान कर दिया गया, पर यह आजादी जापानी नियंत्रण के लिए सिर्फ एक परदा थी। मंचूरिया, लाओतुंग प्रायद्वीप, पोर्ट-आर्थर, फारमूसा और कई दूसरे टापू जापान की नजर करने के लिए बेचारा चीन मजबूर किया गया।

छोटे-से जापान ने चीन को ऐसी जबर्दस्त हार दी कि दुनिया अचरभे में आगई। सुदूरपूर्व में एक ताक़तवर देश के इस उत्थान को देख कर पश्चिमी ताकते एकदम खुश न हुईं। चीन-जापान के युद्ध के सिलसिले में ही, जिस वक्त जापान जीतता हुआ मालूम होता था, इन शक्तियों ने जापान को आगाह कर दिया था कि यदि चीन के महादेश में किसी बन्दरगाह को जापान ने अपने में मिलाया तो हमारी मंजूरी न मिलेगी। इस सूचना के मिल जाने पर भी जापान ने महत्वपूर्ण बन्दरगाह पोर्ट आर्थर और लाओ-तुंग प्रायद्वीप को ले लिया। लेकिन वह उसे अपने पास रख न सका। रूस, जर्मनी और फ़्रान्स इन तीनो बडी ताकतो ने ज़ोर दिया कि यह प्रायद्वीप वापिस दे दिया जाय और जापान को यह करना पड़ा; गो मन में उसे बहुत बुरा लगा और वह नाराज भी हुआ। इस वक़्त तो वह इन तीनो का मुकाबिला करने के लिए काफी मजबूत न था।

लेकिन जापान ने इस बेइज्जती को याद रक्खा। यह बात उसके दिल में खटकती रही। इसीने उसको एक और भी भारी युद्ध के लिए तैयार किया। नौ वर्ष बाद यह युद्ध रूस के साथ हुआ।

इधर जापान नें, चीन के ऊपर विजय पाकर अपनी स्थिति सुदूरपूर्व में सबसे ज्यादा ताकतवर बनाली। चीन अपनी सारी कमजोरी के साथ दुनिया के सामने आया और पश्चिमी शक्तियो के दिल से उसका डर बिलकुल जाता रहा था। मुरदे या मरते

हुए आदमी के ऊपर टूटने वाले गिद्धों की तरह वे उसपर टूट पडीं और जितना कुछ भी नोंच-खसोट सकीं, उसे लेकर भागने की कोशिश करने लगीं। फ्रांस, रूस, जर्मनी और इंग्लैण्ड सभी चीनी समुद्र-तट पर बन्दरगाहों और विशेषाधिकारो के लिए छीना-झपटी करने लगे। रिआयतों और छूटों के लिए एक बहुत ही गंदा और बेजा झगड़ा मच गया। छोटी-से-छोटी बात भी नई-नई रिआयतें और छूटें झपटने के लिए बहाना बननें लगीं। चूँकि दो मिशनरियों को किसीने मार डाला इसलिए पूर्व के शातुंग प्रायद्वीप में कियाचू स्थान को जर्मनी ने जबरदस्ती छीन लिया। चूंकि जर्मनी ने इस स्थान पर क़ब्ज़ा किया इसलिए दूसरी शक्तियाँ भी लूट में हिस्सा पाने की ज़िद करने लगीं। जिस पोर्ट आर्थर से तीन वर्ष पहले जापान को हटाया गया था वही रूस ने ले लिया। पोर्ट आर्थर पर रूस के क़ब्ज़े का जवाब देने के लिए इंग्लैंड ने वी-हाई-वी पर दखल कर लिया। फ़्रास नें भी अनाम में एक बन्दरगाह और कुछ मुल्क हड़प कर लिये। रूस ने ट्रान्स-साइबेरियन रेलवे को बढ़ाकर उत्तरी-मंचूरिया में रेल निकालनें की इजाज़त भी लेली।

यह बेशर्मी से भरी छीना-झपटी बडी ग़ैरमामूली थी। चीन को इस तरह रिआयते देते जाना बिलकुल अच्छा न लग रहा था। हरेक मौके पर जहाज़ी ताकत के प्रदर्शन और बमो की धमकी दिखा-दिखाकर उसे मांगो पर मंजूरी देने के लिए मजबूर किया जाता था। इस बेहया बर्ताव को हम क्या कहें? दिनदहाडे की लूट? डाकेज़नी? पर साम्राज्यवाद का यही तरीका है। कभी-कभी खुफिया तौर से काम होता है; कभी-कभी दूसरो की भलाई करने के फरेबी बहानों और धर्म के परदे में साम्राज्यवाद की बदकारियाँ ढकी जाती है। लेकिन १८९८ में चीन के साथ जो कुछ किया गया उसमें न बहाना था, न परदा। तमाम बेहूदगियों को साथ में लिये हुए साम्राज्यवाद अपनी नंगी शक्ल खड़ा हुआ था।

: ११७ :

जापान रूस को हरा देता है

२९ दिसम्बर, १९३२

मैं तुमको सुदूरपूर्व के बारे में लिखता रहा हूँ और आज भी यही किस्सा जारी रक्खूंगा। तुम्हे ताज्जुब हो सकता है कि मैं भूतकाल के इन लड़ाई-झगडो का बोझा तुम्हारे दिमाग पर क्यों लाद रहा हूँ। ये कोई मजेदार बातें नहीं हैं और गई-गुजरी भी होचुकी है। लेकिन सुदूरपूर्व में आज दिन जो-कुछ होरहा है उसमें अधिकाश

की जड़ें इन्हीं झगड़ों में मिलती हैं। इसलिए आजकल समस्याओं के समझने के लिए इन विषयों का कुछ ज्ञान जरूरी है। भारत की तरह चीन भी आज दुनिया की बडी समस्याओ में से एक है। इस समय भी जबकि मैं यह खत लिख रहा हूं, मंचूरिया में जापानी विजय के बारे में जोरों से संघर्ष चल रहा है। यह झगड़ा किसी भी क्षण भड़ककर आफत खडी कर दे सकता है।

अपने पिछले खत में मैंने तुम्हे बताया था कि १८९८ ई० में चीन से विशेषाधिकार ऐंठने के लिए कैसी छीना-झपटी मची हुई थी, जिनके पीछे विदेशी शक्तियो के फ़ौजी जहाजों की ताकत थी। इन शक्तियो ने अच्छे-अच्छे बन्दरगाहों पर क़ब्जा कर लिया और इन बन्दरगाहों के पीछे फैले हुए प्रान्तों में भी खानें खोदने, रेलें बनाने वग़ैरा के सब प्रकार के हक हासिल कर लिये। विदेशी सरकारें चीन में अपने 'प्रभाव के दायरे' (Sphere of Influence) की चर्चा करने लगीं। आजकल की साम्राज्यवादी सरकारों के लिए किसी देश को बांट खाने का यह एक मुलायम तरीक़ा है। अधिकार और नियंत्रण भी कई दर्जों के हुआ करते हैं। देश को अपने शासन में मिला लेना पूर्णाधिकार है, संरक्षकता उससे कुछ उतरा हुआ अधिकार है, 'प्रभाव का दायरा' उससे भी जरा हल्की बात है। लेकिन इन सब का इशारा एक ही तरफ है। एक दरजा के बाद दूसरा दरजा आता है। दरअसल, जैसा कि हमें समझाने का शायद आगे मौक़ा मिले, राज्य-विस्तार या किसी देश को अपने राज्य में मिला लेना बहुत-कुछ झंझट से भरा हुआ पुराना तरीका है, जो अपने साथ कई राष्ट्रीय झगडों को लाया करता है। किसी देश पर आर्थिक नियंत्रण कायम करलेना और बाकी मामलो की झंझट में न पड़ना कहीं ज्यादा सहल बात है।

इस तरह पश्चिमी शक्तियाँ चीन का जो बंटवारा कर रही थीं, वह सबकी नजरों में चढ़ रहा था। जापान बहुत चौंका हुआ था। चीन पर फ़तह हासिल करके उसको जो फ़ायदे हुए थे, वे सब अब पश्चिमी शक्तियों के हाथों में जाते हुए दीखने लगे। वह खिसियाना-सा होकर चीन के इस बँटवारे को देख रहा था। सब से ज्यादा गुस्सा तो उसे रूस के ऊपर आ रहा था, जिसनें उसे पोर्टआर्थर न लेने दिया और खुद हड़प कर गया।

हाँ, एक ताकत ऐसी थी जिसने चीन से रिआयतें झपटने की इस नोच-खसोट की जुगतों में भाग नहीं लिया था। यह ताकत थी—संयुक्त राष्ट्र अमेरिका। यहाँ वालों के अलग रहने का कारण यह नहीं था कि वे दूसरी शक्तियों की बनिस्बत कुछ ज्यादा धर्मात्मा थे, बल्कि बात यह थी कि वे अपने ही विशाल देश की तरक़्क़ी करने में मशग़ूल थे। जैसे-जैसे अमेरिकावाले पश्चिम में प्रशांत महासागर की ओर बढ़ते

जारहे थे, नई-नई जमीन उन्हे मिलती जारही थी। उसीकी तरक्की उस वक़्त जरूरी, थी। इसलिए उनकी तमाम शक्ति और रुपया इसीमें खप रहा था। दरअसल, मतलब के लिए यूरोपियन लोगो ने भी बहुत काफी पूंजी अमेरिका में लगा रखी थी। उन्नीसवीं सदी के अख़ीर में पूंजी लगाने के लिए अमेरिकावाले भी बाहर नजर दौड़ाने लगे। चीन भी उनकी नज़र में आया जिसे धीरे-धीरे अपने शासन में मिला लेने की गरज से यूरोपियन ताकतें 'प्रभाव के दायरो' का बंटवारा करने पर उतारू हो रही थीं। इस बात को अमेरिका ने बिलकुल पसन्द न किया। अमेरिका तो बंटवारे में छूटा ही जा रहा था सो अमेरिका ने चीन में 'मुक्तद्वार' (Open door) नीति पास कर डाली। इसका मतलब यह था कि सभी देशों को चीन में व्यापार के लिए एक-सी सुविधायें दी जायँ। दूसरी शक्तियाँ भी इस पर राजी हो गई।

विदेशी शक्तियो की इस लगातार बाढ़ और दबाव से चीन की सरकार बिलकुल सहम गई। उसे विश्वास होगया कि संगठन और सुधार किये बिना गति नहीं है। इसकी कोशिश भी की गई पर विदेशी शक्तियाँ बराबर नई-नई रिआयतों की माँगें करती रहती थीं, इसलिए चीन की सरकार को संगठन करने के मौके ही न मिलते थे। कुछ वर्षों से राजमाता ज़ू सी ने वैराग्य-सा लेलिया था। लोग अपनी आजादी के लिए उसकी तरफ देखने लगे। सम्राट को इस वक़्त कुछ षड्यन्त्र का वहम हो गया, इस लिए वह राजमाता को कैद करना चाहता था। लेकिन इस बूढ़ी औरत ने उसको हटाकर सारे अधिकार खुद लेकर खूब बदला लिया। जापान की तरह उसने कोई उग्र सुधार तो न किये लेकिन सेना को आधुनिक ढंग पर शिक्षित और सगठित करनें की उसने पूरी कोशिश की। हिफ़ाज़त के लिए फ़ौज की स्थानीय टुकड़ियाँ बनाने में उसने अच्छा उत्साह दिलाया। सेना की ये स्थानीय टुकड़ियाँ अपने को 'ई हो तुआन' यानी 'पवित्र एकता की सेना' कहती थीं। कभी-कभी वे 'ई हो चुआन' अर्थात् 'पवित्र एकता की मुष्टिका' भी कहलाती थीं। बन्दरगाहो में रहने वाले कुछ यूरोपियनो ने इसी दूसरे नाम का अनुवाद कर डाला 'बाक्सर्स' यानी 'घूंसेबाज़'। ऐसे सुन्दर शब्दो का कैसा भद्दा अनुवाद हुआ।

इन 'घूंसेबाजों' का भी खूब नाम हुआ। इस अजीब नाम का कारण जबतक मुझे मालूम न हुआ। मुझे इस नाम से अक्सर ताज्जुब हुआ करता था। विदेशियो ने चीन की और चीनियो की जो बेशुमार बेइज्जतियाँ की थीं, और जो वे उस देश पर चढ़े बैठे थे, उसीका जवाब देनें के लिए ये 'घूंसेबाज़' देशभक्त तैयार थे। इसमें ताज्जुब ही क्या कि उन्हें इन विदेशी लोगो से बिलकुल प्रेम न था जो उनको बदमाशी के पुतले मालूम पड़ते थे। ख़ासकर ईसाई धर्म-प्रचारक तो उन्हे बहुत ही बुरे लगते थे, क्योंकि सब

मिलाकर उनका बर्त्ताव बड़ा नालायकी का रहता आया था। ये 'घूंसेबाज' चीनी ईसाइयों को देशद्रोही या कौमी गद्दार मानते थे। नये रवैये के खिलाफ चीन के प्राचीन स्वरूप की रक्षा में जान लड़ा देना उनका उद्देश था। यूरोपियनों और इन कट्टर देशभक्त और विदेशियो और मिशनरियो के शत्रुओं के बीच झगड़ा होना लाजमी था। कुछ झपटें हुईं, एक अंग्रेज मिशनरी मारा गया, कई यूरोपियन और बहुत-से चीनी ईसाई भी मौत के घाट उतारे गये। विदेशी सरकार ने इस देशप्रेमी 'घूंसेबाज' आन्दोलन का दमन किये जाने की माँग पेश की। जो लोग खून और कत्ल के मुजरिम थे, उनको चीन की सरकार ने सजा दी लेकिन अपने पैदा किये हुए इस आन्दोलन को वह इस तरह कैसे दबा सकती थी ? इसी दरमियान घूंसेबाज आन्दोलन तेजी से सब तरफ फैल गया। विदेशी राजदूतो ने घबराकर जंगी जहाजो से अपनी फौजें बुलालीं। इसे देख, चीनियो को और भी खयाल हो गया कि विदेशियो ने हमला शुरू कर दिया है। बस, ठन गई। जर्मन राजदूत मारा गया और पेकिंग का विदेशी दूतावास घेर लिया गया।

'बाक्सर' या घूंसेबाज आन्दोलन की हमदर्दी में ज्यादातर चीन विदेशियो के खिलाफ हथियार लेकर उठ खड़ा हुआ। लेकिन प्रान्तों के कुछ वाइसरायो ने किसी की तरफदारी न की। इस तरह विदेशी ताकतो की मदद की। राजमाता की हमदर्दी बिला शुबहा घूंसेबाजो के साथ थी, लेकिन वह खुल्लमखुल्ला उनमें शामिल न हुईं। विदेशी लोग यह साबित करना चाहते थे कि घूंसेबाज महज लुटेरे हैं। दर असल १९०० ई० की यह बगावत विदेशियों के चगुल से चीन को आजाद करने की देश-भक्ति से भरी हुई एक कोशिश थी। राबर्ट हार्ट चीन में एक बड़ा अँग्रेज अफ़सर था। वह उस समय समुद्री चुंगी (Customs) के महकमे का इन्सपेक्टर जेनरल था और दूतावास के घेरे के वक्त मौजूद था। उसका कहना है कि चीनियो के गुस्से को भड़काने का इलजाम विदेशियो, खासकर मिशनरियों पर लगेगा। उसके शब्दो में यह बगावत "असल में देशभक्ति से पूर्ण थी, इसका बहुत-कुछ उद्देश बिलकुल न्यायोचित था, इसपर कोई सवाल नहीं उठ सकता। इस बात पर जितना भी जोर दिया जाय, थोड़ा है।"

चीन के यों अचानक उलट पड़ने से योरप की ताकतें बहुत चिढ़ीं। यह ठीक ही हुआ जो उन्होने पेकिंग में घिरे हुए अपने आदमियो के बचाने के लिए चटपट फ़ौजें भेजीं। दूतावास का उद्धार करने के लिए एक जर्मन सिपहसालार की मात-हती में एक अन्तर्राष्ट्रीय फौज पहुँची। जर्मनी के कैसर ने अपनी फौजो को हिदायत की कि चीन में जंगली हूणो की तरह व्यवहार करना। शायद इसी बात को याद करके महायुद्ध के वक्त अँग्रेज लोग सब जर्मनों को हूण कहने लगे थे।

कैसर की हिदायत का न सिर्फ उसीकी फौज ने बल्कि तमाम मित्र-राष्ट्रों की फौजो नें पालन किया। पेकिंग को जाते समय रास्ते में जनता के साथ इन लोगो का बर्त्ताव ऐसा था कि बहुतो ने तो इनके हाथो पड़ने की बनिस्वत खुदकुशी कर लेना ज्यादा बेहतर समझा। उन दिनो चीनी औरते अपने पैरो को छोटा-छोटा बनाये रखती थीं, इसलिए वे आसानी से भाग नहीं सकती थीं। इससे बहुतेरी स्त्रियो ने आत्मघात कर लिया। इस तरह मित्रराष्ट्रो की फौजों का 'मार्च' हुआ और मौत, आत्महत्या और जलते हुए गाँवों का ताँता उनके पीछे-पीछे चला।

इन फ़ौजों के साथ जाने वाला एक अँग्रेज़ लड़ाई का सम्वाददाता कहता है:—

"ऐसी भी बाते है जिन्हे मै नही लिख सकता और जो इंग्लैण्ड मे नही छपेगी, जो यह बता देगी कि हमारी यह पश्चिमी सभ्यता जगलीपन के ऊपर पीतल की पालिश मात्र है। किसी भी युद्ध के बारे मे असली सच्ची बाते लिखी नही जाती। इस युद्ध के बारे मे भी यही होगा।"

मित्रराष्ट्रो की फौजो ने पेकिग पहुचकर दूतावास को घेरे से छुड़ाया। उसके बाद पेकिंग की लूट हुई, जो 'पिज़ारो'[1] के बाद लूट-पाट का सबसे ज़बर्दस्त धावा' कहा जा सकता है। पेकिग की कला के खज़ाने उन जंगली असभ्यो के हाथो में पड़ गये, जिनको इनके मूल्य का ज्ञान तक न था। यह लिखते हुए अफसोस होता है कि मिशनरियो ने इस लूट में खास हिस्सा लिया। विदेशियो के झंड के झुंड घरो के ऊपर नोटिस चिपकाते फिरते थे कि ये घर हमारे है। एक घर की कीमती चीज़ें बेचकर वे दूसरे बड़े मकान की तरफ बढ़ जाते।

इन शक्तियो की अपनी ही आपसी लाग-डाँट और किसी कदर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के रुख के कारण चीन का बंटवारा होने से रह गया। लेकिन उसको बेइज्ज़ती का हलाहल पीना पड़ा। इस तरह की बेइज्ज़ती उसके ऊपर लादी गई कि एक मुस्तकिल विदेशी फौज पेकिंग में रहने और रेलवे की हिफाज़त करने के लिए तैनात की गई। बहुत-से किले नेस्तनाबूद कर दिये गये, विदेशियो की विरोधी ऐसी किसी संस्था में शामिल होनेपर मौत की सज़ा दी जाने लगी, व्यापार-सम्बन्धी नई-नई रिआयते ऐंठ ली गईं और हरजाने के तौरपर एक भारी रकम चूसी गई; और सबसे भयानक चोट यह कि बॉक्सर या घूंसेबाज़ आन्दोलन के तमाम देशभक्त नेताओ को 'बाग़ी' करार देकर चीनी सरकार को उन्हे मौत की सज़ा देनी पडी। यह था

१. पिज़ारो—(१४७१–१५४१) एक स्पेनी सैयाह था, जिसने दक्षिण अमेरिका के पेरू देश को जीता। वहाँ उसका जीवन हद से ज्यादा वेरहमी के कामो में वीता। आखिर मे अपने ही एक सिपाही के हाथ उसकी मौत हुई।

'पेकिंग का आदर्श मसविदा' (Peking Protocol) जिसपर १९०१ ई० में दस्तख़त हुए ।

ख़ास चीन में, विशेषतः पेकिंग के आसपास, जब ये घटनायें घट रही थीं, उसी समय रूसी सरकार ने इस गड़बड़ी से फायदा उठाकर साइबेरिया के पार मंचूरिया में बहुत-सी फौजें भेज दीं। चीन लाचार था, विरोध प्रकट करने के अलावा और कर ही क्या सकता ? लेकिन इधर दूसरी ताकतों को रूसी सरकार का इस तरह देश के एक बड़े हिस्से को हड़प जाना पसन्द न आया। घटनाओं के नये चक्कर से जापान को सबसे ज्यादा फिक्र और परेशानी हुई। बस, इन सब राष्ट्रों ने रूस को पीछे लौट जाने के लिए दबाया। और रूस की सरकार ने भी बड़े धर्मभाव के साथ मुँह बनाकर दुःख और अचम्भा जाहिर किया कि हम-जैसे इज्जतदारों की मंशा पर कोई इसतरह शुबह क्यों करता है ? मित्रराष्ट्रों को हम विश्वास दिलाते हैं कि चीन के राज्याधिकारों में दख़ल देने का हमारा कोई इरादा नहीं है; मंचूरिया में जो रूस की रेलवे है उसपर शान्ति होते ही हम अपनी फौजें हटा लेंगे। बस हरेक को तसल्ली होगई, और इसमें क्या सन्देह कि मित्रराष्ट्रों ने एक दूसरे को इस जबर्दस्त स्वार्थ-त्याग और धर्मभाव के लिए बधाइयाँ भी दी होंगी। लेकिन, फिर भी, रूसी फौजें मंचूरिया में ही रहीं, और ठेठ कोरिया तक फैल गईं।

मञ्चूरिया में और कोरिया तक इसतरह रूस के बढ़ आने पर जापानियों को बड़ा गुस्सा आया। चुपचाप लेकिन गम्भीरता के साथ वे युद्ध की तैयारी करने लगे। उन्हें याद था कि किस तरह तमाम ताकतों ने मिलकर १८९५ ई० में चीन की लड़ाई के बाद जापान को पोर्ट आर्थर वापस करने के लिए मजबूर किया था। ऐसा फिर न हो सके, इसकी वे अब कोशिश करने लगे। उनको इंग्लैण्ड ऐसी ताक़त मिली जो रूस के बढ़ने से डरती थी और उसे रोकना चाहती थी। १९०२ ई० में एंग्लो-जापानी मित्रता हुई जिसका उद्देश यह था कि राष्ट्रों का कोई गुट सुदूरपूर्व में जापान या इंग्लैण्ड में से किसी राष्ट्र को न दबा सके। जापान अपने आपको अब महफूज समझने लगा; उसने रूस की तरफ और भी ज्यादा धमकी का रुख़ इख्तियार कर लिया। उसने माँग पेश की कि रूसी फौजें मञ्चूरिया से हटा ली जायँ। लेकिन उस वक्त के बेवकूफ जार की सरकार ने जापान को हिकारत की नजर से देखा। उसे यह यकीन ही न हुआ कि जापान रूस से लड़ने की हिम्मत करेगा।

१९०४ ई० के शुरू में दोनों मुल्कों में लड़ाई छिड़ गई। जापान इसके लिए बिलकुल तैयार था। अपनी सरकार के प्रचार-कार्य और सम्राट-पूजा के पंथ से उकसाये हुए जापानी लोग देशभक्ति के जोश से भर गये। दूसरी तरफ रूस बिलकुल

तैयार न था। उसकी एकतन्त्री सरकार बराबर अपनी प्रजा को दबाकर ही शासन चला सकती थी। डेढ़ सालतक लड़ाई चलती रही और तमाम एशिया, योरप और अमेरिका ने जमीन और दरिया के ऊपर जापान की विजयो को देखा। अपने आदमियो के अद्भुत बलिदान और जबरदस्त हत्याकाण्ड के बाद जापानियो के हाथ पोर्ट आर्थर लगा। योरप से रूस ने जंगी जहाजो का एक बड़ा बेड़ा समुद्र के ज़रिये सुदूरपूर्व को भेजा। आधी दुनिया को पार करके, हजारो मील के सफर से थका थकाया यह भारी भरकम बेड़ा जापान के समुद्र में पहुँचा और वहाँ पर, जापान और कोरिया के बीच के सँकड़े समुद्री रास्ते में इसको और इसके अध्यक्ष को जापानियो ने डुबा दिया। इस दुर्घटना में क़रीब-करीब सारा का सारा जहाजी बेड़ा नष्ट होगया।

रूस की—ज़ार के रूस की—एक के बाद दूसरी हार से बुरी गत हो रही थी। फिर भी, रूस के पास बहुत ताक़त जमा थी। क्या इसी देश ने सौ वर्ष पहले नेपोलियन को नीचा नहीं दिखाया था? लेकिन इसी वक्त, असली रूस यानी रूस की जनता बोल उठी थी।

इन खतों के सिलसिले में मैं हमेशा रूस, इंग्लैंड, फ्रांस, चीन, जापान वग़ैरा का ज़िक्र किया करता हूँ, मानो इनमें से हरेक देश कोई जीती-जागती हस्ती हो। मेरी यह आदत बुरी है, जो किताबो और अखबारों से मुझ में आगई है। मेरा मतलब उस समय की रूसी सरकार, अंग्रेजी सरकार वगैरा से है। ये सरकारें किसी छोटे से गिरोह के अलावा किसी की भी प्रतिनिधि न हो, या किसी एक वर्ग की हो, लेकिन उनको सारी जनता का प्रतिनिधि कहना या समझना ठीक नहीं। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजी सरकार, पार्लमेंट पर अपना अधिकार रखनेवाले जमींदारो और ऊँची मध्यमश्रेणी के आसूदा लोगो की प्रतिनिधि कही जा सकती थी। जनता के बहुमत की शासन में कोई आवाज न थी। आज-कल हिन्दुस्तान में कभी-कभी सुनते है कि हिन्दुस्तान ने राष्ट्रसंघ या गोलमेज परिषद् या ऐसे ही दूसरे जलसो में अपना प्रतिनिधि भेजा है। इस बात का कोई मतलब नहीं होता। ये नाम के प्रतिनिधि तबतक हिन्दुस्तान के असली प्रतिनिधि नहीं हो सकते जबतक कि हिन्दुस्तान की जनता उनको न चुने। उनको तो भारत सरकार नामजद करती है। नाम के वे चाहे जो कुछ हों, असल में होते है ब्रिटिश सरकार के ही प्रतिनिधि। रूस में, रूस-जापान युद्ध के वक़्त, एकतन्त्री शासन था। सारे रूस का एकतन्त्री मालिक था ज़ार, और यह मालिक बहुत ही बेवकूफ था। मजदूरों और किसानों को फ़ौज के ज़रिये दबाकर रखा जाता था। मध्यमवर्ग तक की शासन-प्रबन्ध में कोई आवाज न थी। इस जुल्म के खिलाफ बहुतेरे रूसी नौजवानो ने सिर उठाया, हथियार लिया, और आज़ादी की

लड़ाई में अपनी कुरबानी देदी। बहुतेरी लड़कियों ने भी वही रास्ता इख्तियार किया। इसलिए जब मैं कहता हूँ कि रूस यह कर रहा था, वह कर रहा था, जापान से लड़ रहा था तो मेरा मतलब सिर्फ़ ज़ार की सरकार से होता है, और कुछ नहीं।

जापान की लड़ाई और उसकी तबाही रूस की आम जनता पर और भी मुसीबत लाई। सरकार पर दबाव डालने के लिए अक्सर कारख़ानो के मज़दूर हड़ताल कर बठते। २२ जनवरी १९०५ के दिन हज़ारों शान्त किसान और मज़दूर एक पादरी के नेतृत्व में, जुलूस बनाकर सरदी के महल में ज़ार के पास पहुँचे कि अपने कष्टो से छुटकारा पाने की प्रार्थना करे। उनकी बात सुनने के बजाय ज़ार ने उन पर गोली चलवादी। खौफ़नाक कत्लेआम मच गया, दो सौ आदमी मारे गये, और पीटर्सबर्ग की बर्फ खून से लाल हो गई। रविवार का दिन था। उसी वक़्त से उस दिन को 'ख़ूनी रविवार' कहा जाने लगा। देश में गहरी सनसनी फैल गई। मज़दूरो ने हड़ताल बोलदी और एक छोटी-सी क्रान्ति हो गई जो बाद में असफल हुई। १९०५ ई० की इस क्रान्ति को ज़ार की सरकार ने बडी बेदर्दी के साथ दबा दिया। कई कारणो से हमारे लिए यह बडी दिलचस्पी से भरी और ग़ौर करने के काबिल क्रान्ति है। १२ वर्ष बाद रूस की शकल को बदल डालने वाली १९१७ ई० की महान् क्रान्ति के लिए इसने एक तरह से रास्ता तैयार किया, और १९०५ ई० की इसी असफल क्रान्ति में क्रान्तिकारियो ने सोवियट नामक एक नये संगठन की योजना की, जो बाद में इतना मशहूर हो गया।

जैसाकि अक्सर मेरा ढंग है, मैं तुम्हे चीन व जापान और रूस-जापान युद्ध का हाल बताते-बताते १९०५ ई० की रूसी राज्य-क्रान्ति की तरफ बहक गया। लेकिन मंचूरिया की इस लड़ाई के वक्त रूसी तसवीर की पृष्ठ भूमि को समझाने के लिए ये चन्द बाते बतानी ज़रूरी थी। इसी असफल क्रान्ति और जनता की बिगडी हुई तबीयत के कारण ज़ार को जापान से सुलह करने को मजबूर होना पड़ा।

सितम्बर १९०५ ई० की पोर्टमाउथ की संधि से रूस-जापान के युद्ध का खातमा हुआ। पोर्टमाउथ संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में है। अमेरिका के राष्ट्रपति ने दोनों फ़रीकों को बुलाकर सन्धि पर दस्तख़त कराये। इस सन्धि से आखिरकार जापान को पोर्टआर्थर और लाओ-तुंग प्रायद्वीप फिर मिल गये, जो चीन के युद्ध के बाद उसे वापस करने पडे थे। रूसियों ने जो रेलवे मंचूरिया में बनाई थी, उसका भी एक बड़ा हिस्सा जापान को मिला। और जापान के उत्तर में जो साखोलीन टापू है, उसका भी आधा हिस्सा जापान को मिल गया। इसके अलावा रूस ने कोरिया के ऊपर के अपने तमाम दावों को छोड़ दिया।

इस तरह जापान जीत गया और महान शक्तियों के जादू के घेरे में उसने प्रवेश किया। एशिया के इस मुल्क—जापान की विजय का असर तमाम एशियाई देशो पर पड़ा। मै तुम्हे बता चुका हूँ कि जब मै लड़का था तो मुझे भी इस विजय पर बड़ा जोश आया करता था। ऐसा ही जोश एशिया भर के लड़के, लड़कियो और बड़ो को आया करता था। योरप की एक बडी ताकत हार गई इसलिए यह ख़याल पैदा हुआ कि एशिया योरप को अब भी हरा सकता है, जैसा कि पुराने ज़माने में कई दफे हरा चुका है। पूर्वी देशो में राष्ट्रीयता तेज़ी से फैल गई, और 'एशिया एशिया-वालो के लिए' की पुकार सुनाई देने लगी। लेकिन यह राष्ट्रीयता पुरानी बातों की तरफ, पुराने रिवाजों और विश्वासो की तरफ़ लौट चलना ही न थी। जापान की विजय इसलिए हुई थी कि उसने योरप के नये औद्योगिक तरीको को इख़्तियार किया था। ये पश्चिमी कहलानेवाले तरीके और ख़यालात पूर्वी देशो में ज्याद-ज्यादा लोक-प्रिय होते गये।

: ११८ :

चीन में प्रजातन्त्र की स्थापना

३० दिसम्बर, १९३२

हम देख चुके है कि रूस पर जापान की विजय से एशिया की जातियाँ कैसे फूल गई। लेकिन इसका फिलहाल तो यह नतीजा हुआ कि ज़ोर-ज़बरदस्ती से काम लेनेवाली साम्राज्यवादी ताकतो के छोटे-से गिरोह में एक और ताकत शामिल हो गई, जिसकी पहली चोट कोरिया को लगी। जापान के उदय का मतलब हुआ कोरिया का अस्त। जब से जापान के दरवाज़े दुनिया के लिए खुले, वह कोरिया और किसी कदर मचूरिया को अपना माल समझने लगा था। अलबत्ता वह इस घोषणा को तो बराबर दुहराता रहता था कि "हमारी पूरी श्रद्धा है कि चीन अखण्ड रहे और कोरिया आजाद बना रहे।" साम्राज्यवादी ताकतो का यह तरीका ही होता है कि वे लूटती भी जाती है और मक्कारी के साथ अपनी नेकनीयती का भरोसा भी दिलाती जाती है; गले भी काटती जाती है और यह भी कहती जाती है कि प्राण बडी पवित्र चीज़ है। सो जापान ने भी यही ज़ाहिर किया कि कोरिया में हम दख़ल न देंगे और साथ ही उसपर कब्ज़ा जमाने की अपनी पुरानी पालिसी से भी चिपटा रहा। चीन और रूस दोनों से उसके जो युद्ध हुए थे उनका केन्द्र भी कोरिया और मंचूरिया के आसपास ही था। एक-एक क़दम जापान बढ़ता जा रहा था और

अब चीन की कमज़ोरी और रूस की हार हो जाने पर उसका रास्ता साफ़ हो गया।

अपनी साम्राज्यवादी नीति के मुताबिक काम करने में जापान कभी किसी हिचकिचाहट या सोच विचार की इल्लत में न पड़ा। वह खुल्लम-खुल्ला हाथ मारता गया; किसी परदे के नीचे अपनी कारगुज़ारी को छिपाने तक की परवाह उसने नहीं की। चीन की लड़ाई शुरू होने से पहले ही, १८९४ में कोरिया की राजधानी सिओल के राजमहल में घुसकर जापानियो ने वहाँ की रानी को पकड़ कर कैद कर लिया क्योंकि उसे उनका हुक्म बजाना मंजूर न था। १९०५ ई० में रूस की लड़ाई के बाद जापान की सरकार ने कोरिया के राजा को अपने देश की आज़ादी को खातमा करने और जापान की सत्ता को मानने के लिए मजबूर किया। लेकिन यही काफी न था। पाँच बरस के अन्दर ही, यह अभागा राजा तख्त से हटा दिया गया और कोरिया जापान साम्राज्य में मिला लिया गया। यह १९१० ई० की बात है। तीन हज़ार वर्ष के पुराने इतिहास के बाद कोरिया के आज़ाद राज्य की हस्ती मिट गई। जिस राजा को इस तरह हटाया गया था वह उस खानदान का था जो ५०० वर्ष पहले मंगोलों को अपने यहाँ से खदेड़ चुका था। लेकिन कोरिया अपने बड़े भाई चीन की तरह जड़ होगया था और उसका बहाव रुककर सड़ गया था, जिसकी उसे यह सज़ा भुगतनी पड़ी।

कोरिया को फिर उसका वह पुराना नाम दिया गया—'चोसेन' यानी प्रातःकाल की शान्ति का देश। जापानियों ने नये ज़माने के मुताबिक कुछ सुधार भी किये पर उन्होंने कोरिया के लोगो की आत्मा को बेदर्दी के साथ कुचल दिया। बहुत वर्षों तक आज़ादी के लिए कोशिशें होती रही। कई बलवे भी हुए। सब से महत्वपूर्ण बलवा १९१९ में हुआ। कोरिया के लोग, खासकर युवक और युवतियाँ, अपने ज़बरदस्त दुश्मनों से लड़ती रही। एक बार की बात है कि आज़ादी के लिए लड़नेवाली एक कोरियन संस्था ने आज़ादी की बाकायदा घोषणा करके जापानियो को ललकारा और फ़ौरन ही पुलिस को टेलीफोन करके अपनी कार्रवाई की इत्तिला उसे दे दी। इस तरह अपने आदर्श के लिए उन्होने जीते-जागते अपने आपको क़ुर्बान कर दिया। यह शान्त और चौकस तरीका जो उन्होने इख्तियार किया था बापू के बताये उपायों की गूंज-सा मालूम देता है। जापानियो ने कोरियन लोगों का किस तरह दमन किया, इतिहास का यह अध्याय बहुत ही दुःख से भरा और काला है। तुम्हे यह जानने में दिलचस्पी होगी कि नौजवान कोरियन लड़कियों ने, जिनमें से बहुत-सी कालेज से नई-नई निकली थीं, आज़ादी की इस लड़ाई में खास हिस्सा बँटाया।

अब ज़रा चीन की तरफ़ लौटें। बॉक्सर यानी घूंसेबाज़ आन्दोलन के दमन और

१९०१ ई० के पेकिंग के सन्धिपत्र के बाद हमने उसको एकाएक ही छोड़ दिया था। चीन की पूरी-पूरी बेइज्जती हो चुकी थी। फिर दुबारा वहाँ सुधार की चर्चा चलने लगी। बूढ़ी राजमाता तक सोचने लगी कि कुछ-न-कुछ तो सुधार करना चाहिए। रूस-जापान की लड़ाई के वक़्त चीन चुपचाप खड़ा-खड़ा देखता रहा, हालांकि लड़ाई चीन की ही जमीन मंचूरिया में हो रही थी। जापान की फतेह ने चीन के सुधारकों को मजबूत कर दिया। शिक्षा को नया रूप दिया गया। आधुनिक विज्ञानों के लिए बहुत-से विद्यार्थी योरप, अमेरिका और जापान भेजे गये। अफसरों की नियुक्ति के लिए जो किताबी इम्तिहानों का पुराना तरीका था, वह उठा दिया गया। यह अजीब कायदा, जो चीन की एक खासियत था, ठेठ 'हन्' खानदान के जमाने से यानी दो हजार वर्ष से चला आरहा था। इसकी उपयोगिता तो कभी की खतम हो चुकी थी। अब तो यह चीन को आगे बढ़ने से ही रोके हुए था। इसलिए इसका उठ जाना अच्छा ही हुआ। फिर भी अपनी तौर पर यह इतनी सदियों तक चलनेवाला कायदा अद्भुत था। इससे मालूम होता था कि चीनियों का जिंदगी के बारे में क्या दृष्टिकोण है। उनके लिए जिन्दगी न सामन्ती थी, न पुरोहिती या महन्ती, जैसा कि एशिया और योरप के ज्यादातर देशों में था। उनके लिए जिन्दगी विवेक का सहारा लिये हुए थी। चीनी हमेशा से ही मजहबी आदमी रहे हैं, और उन्होंने अपने सदाचार और नीति के नियमों का ऐसी कट्टरता के साथ पालन किया है कि दूसरी किसी धर्मात्मा जाति ने नहीं किया। उन्होंने ऐसे समाज की स्थापना करने की कोशिश की जो बुद्धि पर खड़ा हो। लेकिन चूंकि उन्होंने इसको अपने पुराने साहित्य की चहारदीवारी के अन्दर बन्द कर दिया, इससे तरक्की और जरूरी तब्दीलियाँ रुक गईं; जड़ता आ गई और सड़ान होने लगी। हिन्दुस्तान के हम लोग चीनी बुद्धिवाद से बहुत-कुछ सबक ले सकते हैं। क्योंकि अभीतक हम लोग जात-पांत, मजहबी कट्टरता, पोपलीला और सामन्तशाही खयालात के चंगुल में पड़े हुए हैं। चीन के महान् ऋषि कन्फ्यूशियस ने अपने देशवासियों को एक चेतावनी दी थी, जो याद रखने के क़ाबिल है। वह इस तरह है—"जो लोग दैवी ताक़तों पर काबू रखने का ढोंग करते हों, उनके साथ कोई सम्बन्ध न रक्खो। अगर तुमने अपने देश में दैववाद के प्रपञ्च को कदम रखने दिया, तो नतीजा यह होगा कि देश बिलकुल तबाह हो जायगा।" बदकिस्मती से हमारे देश में सिर पर चोटी रखने या जटा बढ़ा लेने, लम्बी दाढ़ी रखने, माथे पर टेढ़े-मेढ़े निशान बनाने या गेरुआ वस्त्र पहनने वाले बहुत-से लोग अपने आपको दैवी शक्ति का कारकुन बताकर आम जनता को लूट रहे हैं।

लेकिन पुराने समय के अपने सारे बुद्धिवाद और संस्कृति वाला चीन वर्त्तमान

काल के ऊपर कब्ज़ा न रख सका। मुसीबत की घडी में उसको अपनी संस्थाओं से कोई मदद न मिली। घटनाचक्र ने चीन के बहुत-से लोगो में स्फूर्त्ति भर दी और उनको गैर-मुल्कों में जाकर मेहनत के साथ प्रकाश या ज्ञान की तलाश करने के लिए मजबूर किया। उन्होने बूढ़ी राजमाता को भी दहला दिया, जो कि अब जनता को शासन-विधान और स्वराज्य देदेने की बातें करने लगी और जिसने विदेशो में वहाँके शासन-विधानों का अध्ययन करने के लिए कमीशन भी भेजे।

यो बूढ़ी राजमाता की मातहती में चीनी सरकार ने आगे क़दम बढ़ाया, लेकिन चीन की जनता इससे भी तेज़ी के साथ आगे बढ़ रही थी। १८९४ ई० में ही, चीन के एक निवासी डा० सनयात सेन ने 'चीन-पुनरुद्धार सभा' क़ायम की थी। चीन पर विदेशी ताकतो ने जो बेईमानी की और एकतरफा सन्धियाँ, जिन्हे चीनी लोग 'अस-मान सन्धि' कहा करते है, लादी थी, उनके विरोध-स्वरूप बहुत-से लोग इस सभा में शामिल होगये। इस सभा की तरक्की होती गई और देश के नवयुवक इसकी तरफ़ खिंचते गये। १९११ ई० में इसका नाम बदलकर 'काउ-मिन-तॉंग' यानी 'जनता का राष्ट्रीय दल' रक्खा गया। अब यह दल चीन की क्रान्ति को सगठित करने का केन्द्र और खास जरिया बन गया। इस आन्दोलन के नेता डा० सनयान सेन सयुक्त राष्ट्र अमेरिका को आदर्श मानते थे। वह प्रजातन्त्र, न कि इंग्लैण्ड का वैधानिक एकतन्त्र, चाहते थे; और जापान की सम्राट-पूजा तो हर्गिज उनका उद्देश नही था। चीनी लोगो पर सम्राट का जादू कभी नहीं चला, फिर उनका तत्कालीन राजवंश तो 'चीनी' भी नही था। यह राजवंश मंचू था। जनता में मंचू-विरोधी भाव भी खूब फैले हुए थे। जनता के इसी जोश के कारण बूढ़ी राजमाता को भी आगे बढ़ना पड़ा था। लेकिन यह बुजुर्ग औरत नये शासन-विधान का ऐलान करने के थोडे ही दिन बाद मर गई। एक अजीब बात यह हुई कि यह राजमाता और इसका भतीजा, जिसे इसने तख्त से हटाया था, दोनों नवम्बर १९०८ ई० में २४ घंटे के अन्दर ही मर गये। अब एक दुध-मुँहा बच्चा नाम के लिए सम्राट हुआ।

अब फिर पार्लमेण्ट को बुलाने की आवाज बुलन्द होने लगी। सम्राट और मंचूवंश के खिलाफ़ जनता में जोश फैल गया और क्रान्तिकारी जोर पकड़ गये। इस वक्त एक प्रान्त का वाइसराय युआन-शी-काई ही ऐसा मज़बूत आदमी था जो इनका मुकाबिला कर सकता था। यह आदमी लोमडी की तरह चालाक था। चीन की एक-मात्र होशियार सेना, जिसका नाम 'आदर्श सेना' था, उसके हाथ में थी। युआन को नाराज करके निकाल देने में मंचू हाकिमो ने बडी बेवकूफी की। इस तरह उस आदमी को भी खो दिया जो उन्हें थोडी देर के लिए बचा सकता था। अक्तूबर

१९११ ई० में यांगसी की घाटी में क्रान्ति शुरू हो गई और जल्द ही मध्य और दक्षिणी चीन के बडे हिस्से में बगावत फैल गई। १९१२ ई० की पहली जनवरी के दिन इन प्रान्तो ने प्रजातन्त्र की घोषणा करदी और नानकिंग को राजधानी बनाया। डॉ० सनयात सेन राष्ट्रपति चुने गये।

इधर युआन-शी-काई भी इस नाटक को देख रहा था कि जहाँ अपने फ़ायदे का मौका मिले, हाथ मारूँ। रीजेन्ट ने (जो अपने पुत्र बालक सम्राट की तरफ से राज्य कर रहा था) युआन को निकालकर फिर दुबारा उसे बुलाया, इसका किस्सा भी दिलचस्प है। जिस वक़्त युआन को हटाया था, यह ज़ाहिर किया गया था कि उसकी टाँग में तकलीफ़ है। सबको अच्छी तरह मालूम था कि उसकी टाँग बिलकुल मज़े में है और यह बहाना सिर्फ एक तकल्लुफ़ की बात है। लेकिन युआन ने भी बदला निकाल लिया। दो साल बाद १९११ ई० में जब सरकार के खिलाफ़ ग़दर शुरू हुआ, रीजेन्ट ने घबराकर युआन को बुलवाया। युआन ही अब सरकारी खेल का सूत्रधार था। जबतक उसकी शर्तें मंज़ूर न हो जायें, रीजेन्ट के पास जाने का उसका इरादा नहीं था। उसने रीजेन्ट को जवाब भिजवा दिया कि "इस वक़्त तो टाँग की तकलीफ़ की वजह से सफर करने के काबिल नहीं हूँ। मजबूर हूँ, घर छोड़ कर बाहर न जा सकूँगा।" एक महीने बाद जब उसकी शर्तें मंज़ूर हो गईं तो उसकी टाँग भी खूब तेज़ी के साथ चंगी हो गई।

लेकिन अब इतनी देर हो गई थी कि क्रान्ति का रोकना मुश्किल था। युआन भी इस कदर चालाक था कि दोनों में से किसी भी एक पक्ष की तरफ होकर फैसला करने को तैयार न हुआ। आखिर उसने मंचुओ को तख़्त छोड़ने की सलाह दी। मुकाबिले में प्रजातन्त्र की शक्ति और अपने सेनापति ने भी साथ छोड़ दिया, ऐसी हालत में मंचू हाकिम और क्या करते? १२ फरवरी १९१२ ई० को राज्यत्याग का घोषणापत्र निकाल दिया गया। इस प्रकार करीब २५० वर्ष के ज़ोरदार शासन के बाद चीन के रंगमंच से मंचू खानदान का प्रस्थान हुआ। एक चीनी कहावत के मुताबिक "वे शेर की-सी दहाड़ मचाते हुए आये, और साँप की दुम की तरह ग़ायब हो गये।"

इसी १२ फरवरी के दिन नये प्रजातन्त्र की राजधानी नानकिंग में, जहाँ पहले मिंग बादशाह का मकबरा बना हुआ था, एक अजीब उत्सव मनाया गया। प्रजातंत्र के प्रधान सनयात सेन ने अपने मन्त्रिमंडल के साथ मकबरे पर जाकर पुराने तरीके से प्रसाद चढ़ाया। इस मौके पर जो व्याख्यान दिया उसमें उन्होंने कहा—"हम पूर्वी एशिया को प्रजातन्त्र शासन के लिए दीक्षित कर रहे हैं। जो लोग कोशिश करते हैं

उन्हे जल्दी या देर से कभी-न-कभी कामयाबी मिलती ही है। नेकी का आखिर में जरूर इनाम मिलता है। फिर यह झुंझलाहट क्यो कि आजादी इतनी देर से आई ?"

लगातार बहुत-से वर्षों तक, अपने देश में रहकर और विदेश में दोनो जगह, सनयात सेन चीन की आजादी के लिए जान लड़ाते रहे, और आखिरकार कामयाबी आती दिखाई दी। लेकिन आजादी है एक बेवफा दोस्त। कामयाबी को हासिल करने से पहले उसकी पूरी कीमत चुकानी पड़ती है। अक्सर वह हमें झूठी उम्मीदें दिखा-दिखाकर खिजलाती है, मुश्किले पैदा करके हमारा इम्तिहान लेती है; तब कहीं जाकर आती है। चीन और डॉ० सेन का काम अभी खतम नहीं हुआ था। बहुत वर्षो तक इस नये प्रजातंत्र को अपनी जान के लिए लड़ना पड़ा और आज दिन भी, गो २१ वर्ष गुजर गये है, चीन की किस्मत शशोपञ्ज में लटकी हुई है।

मंचुओ ने तख्त छोड़ दिया, लेकिन प्रजातन्त्र के रास्ते में अभीतक युआन डटा हुआ था। पता नहीं उसका क्या इरादा था। उत्तरी प्रजातन्त्री और दक्षिणी चीन में उसका दौरदौरा था। घरेलू युद्ध को रोकने और शान्ति की खातिर डॉ० सेन अपने आप मैदान से हट गये, राष्ट्रपति के पद से इस्तीफा देकर उन्होने युआन को राष्ट्रपति चुनवा दिया। लेकिन युआन प्रजातन्त्रवादी नहीं था। उसकी ख्वाहिश ताकत हासिल करके खुद चमकने की थी। जिस प्रजातन्त्र ने उसको अपना प्रधान चुनकर इज्जत बख्शी थी, उसीको कुचलने के लिए उसने विदेशी ताकतो से रुपया उधार लिया। पार्लमेण्ट को बरखास्त कर दिया, काउ-मिन-तॉग को तोड़ दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि लोग फूट गये, डॉ० सेन की अध्यक्षता में दक्षिण में एक विरोधी हुकूमत कायम हुई। जो कुछ डॉ० सेन कर सकते थे, उन्होने इस फूट से बचने के लिए किया; पर आखिर में वही फूट आ धमकी। जिस वक्त महायुद्ध शुरू हुआ, चीन में दो सरकारे हो रही थीं। युआन ने बादशाह बनने की कोशिश की, लेकिन वह नाकामयाब रहा और थोडे ही दिनों बाद मर गया।

: ११९ :

बृहत्तर भारत और ईस्टइंडीज़

३१ दिसम्बर, १९३२

फ़िलहाल सुदूरपूर्व का जिक्र हम खत्म करते है। उन्नीसवीं सदी में हिन्दुस्तान का कुछ हाल हम देख चुके है, और अब पश्चिम की तरफ योरप, अमेरिका और अफ़रीका को चलने का वक्त आया है। पर मै चाहता हूँ कि इस लम्बे सफ़र

से पहले तुम जरा एशिया के दक्षिण-पूर्वी कोने की भी एक झाँकी देख लो, ताकि हमें इसका पूरा-पूरा ज्ञान होजाय। इन देशों पर ग़ौर किये भी बहुत वक़्त हो चुका है। मैंने इनका जिक्र किसी-किसी पिछले ख़त में जरा सरसरी और उड़ती हुई तौर पर किया था; और मेरा वर्णन शायद बिलकुल सही भी न था। उस वक़्त मैंने इनके नाम मलेशिया, इण्डोनेशिया, ईस्टइण्डीज़ और विशाल या बृहत्तर भारत बताये थे। इसमें तो सन्देह है कि ये नाम तमाम हिस्से के लिए इस्तैमाल किये जा सकते हैं; लेकिन जब हम-तुम एक-दूसरे की बाते समझ ले, तो नामो से क्या लेना देना ?

अगर आसानी से मिल सके तो जरा नकशे को तो देखो। तुम्हें एशिया के दक्षिण-पूर्व में एक प्रायद्वीप दिखाई देगा, जिसमें बरमा, स्याम और आजकल का फ़्रांसीसी हिन्दी-चीन शामिल है। बरमा और स्याम के बीच एक लम्बी जबान-सी निकली हुई है जो अन्तिम छोर की तरफ मोटी होती गई है और जिसकी नोक पर सिंगापुर का शहर बसा हुआ है। इसका नाम है मलय या मलाया प्रायद्वीप। मलाया से लेकर आस्ट्रेलिया तक बहुत-से छोटे-बडे टापू फैले हुए है, इनकी अजीब-सी शक्ल है और देखकर ऐसा मालूम होता है कि ये एशिया और आस्ट्रेलिया को मिलानेवाले किसी बडे भारी पुल के खण्डहर है। इन्ही टापुओ का नाम ईस्टइण्डीज़ है। इनके उत्तर में फिलीपाइन के टापू है। किसी ताजा नकशे से तुम्हें मालूम हो जायगा कि बरमा और मलाया अंग्रेजो के कब्जे में है, हिन्दी-चीन फ़्रांस का है और इनके बीच में स्याम एक आज़ाद देश है। डचो के कब्जे में ईस्टइण्डीज़ यानी सुमात्रा, जावा और बोर्नियो, सेलिबीज़ और मलक्का के ज्यादातर हिस्से है। ये टापू मसालो के लिए मशहूर है और इन्होने योरप के नाविको को हज़ारों मील तूफानी समुद्र को पार करके यहाँ आने के लिए आकर्षित किया है। फ़िलीपाइन टापू अमेरिकन सरकार के अधीन है।

पूर्वी समुद्र के इन देशो की यह मौजूदा हालत है। लेकिन तुम्हे याद होगा कि दो हज़ार वर्ष के करीब हुए भारत-माता के सपूतो ने इन देशो में जाकर बस्तियाँ बसाई थीं, कई सदियो तक इनमें बडे-बडे साम्राज्य पनपे, खूबसूरत शहर और हैरत में डालनेवाली इमारते बनीं, व्यापार और उद्योगो की तरक्की हुई और हिन्दुस्तानी एवं चीनी सभ्यता और संस्कृति का मेल हुआ।

इन देशो का बयान करते हुए मैंने अपने एक पिछले ख़त में बताया था कि किस तरह पूर्व में पोर्चुगीज साम्राज्य का पतन होने पर ब्रिटिश और डच ईस्टइंडिया कम्पनियो का उदय हुआ। फ़िलीपाइन में स्पेनियो का ही राज्य बना रहा।

अंग्रेजो और डचो ने पोर्चुगीजो को हराकर खदेड़ देने के लिए एका कर लिया। वे कामयाब तो हो गये, लेकिन इन जीतनेवालो में मुहब्बत जरा भी न थी। वे

अक्सर आपस में लड़ा करते थे। १६२३ ई० में एक दफा अम्बोयना (मलक्का) के डच-गवर्नर ने, डच-सरकार के ख़िलाफ साज़िश करने का इलज़ाम लगाकर, ईस्ट-इंडिया कम्पनी के तमाम अंग्रेज़ कर्मचारियों को गिरफ्तार करके मरवा डाला। इस कत्लेआम का नाम 'अम्बोयना का हत्याकाण्ड' है।

एक बात की मैं तुम्हे याद दिलाना चाहता हूँ। अपने शुरू के ख़त में मैंने इसका हाल बताया था। इस ज़माने में, यानी सत्रहवी सदी के अन्दर और बाद में, योरप औद्योगिक देश न था। बाहर भेजने के लिए वहाँ सामान बडे पैमानें पर तैयार नहीं होता था। औद्योगिक क्रान्ति और बडी-बडी मशीनो के दिन अभी दूर थे। योरप की बनिस्बत एशिया ज्यादा माल तैयार करके बाहर भेजा करता था। एशिया का जो सामान योरप को भेजा जाता, उसकी क़ीमत किसी क़दर योरप के माल से और किसी कदर स्पेनिश अमेरिका के आने वाले खजाने से दी जाती थी। एशिया और योरप की तिजारत बडे मुनाफे की थी। बहुत अरसे तक इसपर पोर्चुगीज़ो का कब्ज़ा रहा, जिससे वे मालामाल होगये। इस तिजारत में हिस्सा बँटाने के लिए ब्रिटिश और डच ईस्टइंडिया कम्पनी बनीं। लेकिन पोर्चुगीज़ इस तिजारत को अपने ही लिए महफूज़ समझते थे, और किसी दूसरे को हिस्सा बँटाते नही देख सकते थे। फिलीपाइन में स्पेनियों के साथ तो उनका निभाव ठीक-ठीक होता रहा, क्योकि स्पेनियों का ध्यान तिजारत की बनिस्बत मज़हब की तरफ ज्यादा था। लेकिन नई कम्पनियो की तरफ से अंग्रेज़ और डच सैयाह और ले-भग्गू आये। उनमें धर्म-कर्म कुछ न था। इसलिए बहुत जल्दी ही झपट शुरू हो गई।

पूर्व में राज्य करते हुए पोर्चुगीजो को सवा-सौ से ज्यादा वर्ष हो गये थे। वे लोगों के प्यारे न बन सके और चारो तरफ असन्तोष फैला हुआ था। इंग्लैण्ड और हालैण्ड की दोनों तिजारती कम्पनियों ने इस असन्तोष से फ़ायदा उठा लिया और लोगो को पोर्चुगीज़ों से छुटकारा पाने में मदद दी। लेकिन पोर्चुगीजो ने जैसे ही जगह ख़ाली की, फौरन ही इन्होने कदम रक्खा। हिन्दुस्तान और इंडीज़ के हाकिम होने की हैसियत से ये यहांके लोगो से भारी महसूलों और दूसरी सूरतो से ख़ूब रुपया उगाह लेते थे। इस तरह योरप पर ज्यादा बोझ पडे बिना ही इनकी विदेशी तिजारत चलती रहती थी। पूर्वी देशों की चीजो की क़ीमत अदा करने में जिस बडी दिक्क़त का योरप को पहले तजुर्बा हो चुका था वह इस तरह कम हो गई। बात यहाँतक बढ़ गई कि, जैसा कि हम देख चुके है, इंग्लैण्ड ने मनाई के कानून बनाकर और भारी चुंगी लगाकर हिन्दुस्तानी माल का आना बन्द करने की कोशिश की। औद्योगिक क्रान्ति के आने तक यही हालत रही।

अंग्रेजों के हट जाने के कारण, ईस्टइंडीज का डच-ब्रिटिश झगड़ा ज्यादा न चला। अंग्रेजो को हिन्दुस्तान के मामले से ही फ़ुर्सत न थी। इस तरह फ़िलीपाइन के अलावा, जिसपर स्पेनवालो का कब्जा रहा, बाक़ी का कुल ईस्टइंडीज प्रदेश डच ईस्टइंडिया कम्पनी के हाथ आ गया। स्पेनियो को तिजारत की ज़रा भी परवा न थी, और न वे आगे मुल्क फ़तह करने की ही कोशिश कर रहे थे, इसलिए इस मैदान में डचों का कोई प्रतिद्वन्द्वी न रहा।

अपनी हमनाम हिन्दुस्तान की ब्रिटिश कम्पनी की तरह, डच ईस्टइंडिया कम्पनी भी जितना हो सके धन बटोरने और झटपट अमीर बन जाने के लिए आ डटी। डेढ़-सौ वर्ष तक इस कम्पनी का इन टापुओ पर राज रहा। रिआया की बेहतरी की तरफ इन डचों ने जरा भी ध्यान न दिया। उसकी छाती पर सवार होकर हर तरह के जुल्म करके उन्होंने जितना भी मुमकिन हो सका रुपया चूसा। जब नजर और तोहफे के जरिये रुपया पैदा करना इतना आसान हो गया तो तिजारत पीछे जा पडी और धीरे-धीरे खतम हो गई। यह कम्पनी बिलकुल नालायक़ थी। जो डच इसम नौकरी करने के लिए आते वे भी उसी तरह के तकदीर आजमाने वाले आवारा होते थे जैसे हिन्दुस्तान की ब्रिटिश कम्पनी के गुमाश्ते या कारकुन। जैसे-तैसे दौलतमन्द बनना उनका खास मतलब था। हिन्दुस्तान में मुल्क की आमदनी के साधन कहीं ज्यादा थे और ज्यादा हद तक बदइन्तिज़ामी छिपाई जा सकती थी। हिन्दुस्तान में कुछ काबिल हाकिम भी हुए, जिन्होने ऊपरी इन्तजाम को तो ठीक कर लिया, गो कि नीचे पेंदे में लोग बुरी तरह कुचले जाते रहे। ख़ैर, तुम्हे याद होगा कि १८५७ ई० के गदर ने ब्रिटिश ईस्टइडिया कम्पनी का खातमा कर दिया।

डच ईस्टइंडिया कम्पनी की हालत बदतर होती गई। आखिरकार १७९८ ई० में निदरलैण्ड की सरकार ने पूर्वी द्वीपों की हुकूमत ख़ुद सम्हाल ली। थोडे ही दिनों पीछे योरप में नेपोलियन की लड़ाइयो के कारण, अंग्रेजो ने इन टापुओ पर कब्जा कर लिया; क्योकि हालैण्ड भी नेपोलियन के साम्राज्य का एक हिस्सा था। पाँच साल तक वे ब्रिटिश भारत के ही सूबे समझे जाते रहे। इस अरसे में उन्होने अच्छे-अच्छे सुधार भी किये। नेपोलियन का पतन होने पर ईस्टइंडीज हालैण्ड को वापस दे दिये गये। जिन पाँच बरसो में जावा का ताल्लुक हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार से रहा, उन दिनो टामस स्टैम्फर्ड रैफल्स नामी एक अंग्रेज जावा का लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर था। रैफ-ल्स की रिपोर्ट थी कि डच उपनिवेश के इन्तजाम का इतिहास "धोखेबाजी, रिश्वत, ख़ून और कमीनेपन के मिश्रण की एक असाधारण कहानी है।" डच अफसरो की और-और हरकतें तो थी हीं, उनमें एक यह भी आदत थी कि जावा में गुलामो के तौर से

काम लेने के लिए वे सेलीबीज से आदमी चुरा लाते थे। इस चोरी के साथ-साथ लूट और हत्या भी चलती थी।

निदरलैण्ड की सरकार की यह सीधी हुकूमत भी कम्पनी वाली हुकूमत से कुछ अच्छी न थी। कई बातों में तो लोगों पर और भी ज्यादा जुल्म होने लगे। तुम्हे शायद याद होगा कि मैंने बगाल की उस नील की खेती के बारे में कुछ बताया था, जिसके कारण काश्तकारो पर बड़ी मुसीबतें आईं। इसी तरह की एक प्रथा बल्कि इससे भी खराब जावा वगैरा में चलाई गई। कम्पनी के जमाने में लोगों को माल देना पड़ता था। यह प्रथा 'कल्चर सिस्टम' कहलाती थी। इसके मुताबिक हर साल कुछ अरसे के लिए, जो काम-काजी वक्त का अन्दाज से एक-तिहाई या चौथाई हिस्सा होगा, किसानों से जबर्दस्ती काम कराया जाता था। असल में ज्यादातर तो किसान का पूरा वक़्त ही ले लिया जाता था। डच सरकार ठेकेदारो की मारफ़त काम कराती थी, जिनको सरकार की तरफ से बिना सूद पर पेशगी रुपया मिल जाता था। ये ठेकेदार आधो-आध बेगार लेकर मजदूरो को चूसा करते थे। कहा तो यो जाता कि ज़मीन की पैदावार बँधे हुए अनुपात से सरकार ठेकेदार और काश्तकार के बीच बाँटती है। लेकिन काश्तकारो का हिस्सा शायद सबसे थोड़ा था, गो बिलकुल ठीक मुझे मालूम नहीं कि कितना होता था। सरकार ने यह भी कानून बना रक्खा था कि योरप में खपने वाली कुछ चीजें जमीन के कुछ हिस्सों में जरूर बोई जायें। ये चीजे चाय, कॉफी, नील वगैरा होती थीं। जैसी कि बंगाल में नील की खेती की हालत थी, यहाँ भी इन चीजों को जरूर ही बोना पड़ता था, चाहे दूसरी चीजें बोने में ज्यादा मुनाफा ही क्यों न होता हो।

डच सरकार ने खूब मुनाफा उठाया; ठेकेदार खूब फूले-फले और किसान भूख से मरने और मुसीबत की जिन्दगी बसर करने लगे। लेकिन मुनाफे का लालच हमेशा बढ़ता ही रहा, और सरकार अपनी 'कल्चर सिस्टम' यानी संस्कृति-प्रथा से मुल्क को ज्यादा-ज्यादा चूसती गई। उन्नीसवीं सदी के बीच में एक भयानक अकाल पड़ा, जिसमें बड़ी तादाद में लोग मौत के शिकार हुए। उस वक्त कहीं जाकर बेचारे मुसीबत के मारे किसानों के लिए कुछ करना जरूरी समझा गया। धीरे-धीरे हालत सुधरती गई; लेकिन बेगार की प्रथा १९१६ ई० तक फिर भी चलती रही।

उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में डचो ने शिक्षा-सम्बन्धी और दूसरे सुधार किये। एक नया मध्यमवर्ग क़ायम हो गया और राष्ट्रीय आन्दोलन आजादी की माँग करने लगा। हिन्दुस्तान की तरह यहाँ भी बहुत रुक-रुककर कदम बढ़ाया गया और ऐसी कौंसिलें क़ायम की गईं जिनके पास असली ताक़त कुछ भी न थी।

क़रीब पाँच वर्ष हुए, डच ईस्टइंडीज़ में क्रांति हुई, जिसको बेरहमी के साथ दबा दिया गया। लेकिन जावा और दूसरे टापुओं में आज़ादी की जो भावना जाग चुकी है वह किसी तरह की बेरहमी या जुल्म से मर नहीं सकती।

डच ईस्टइंडीज आजकल 'निदरलैण्ड का हिन्दुस्तान' कहलाता है। हर पंद्रहवे दिन योरप और एशिया के ऊपर होता हुआ हवाई जहाज़ हालैण्ड से जावा के बटविया शहर को जाया करता है। ये डच जहाज इलाहाबाद के ऊपर होकर ही जाते है।

भारत के पूर्व के टापुओ की कहानी मोटे तौर से मैंने खत्म करदी है और अब मैं तुमको एशिया के भू-भाग पर ले चलना चाहता हूँ। बरमा के बारे में चन्द बातें और करनी हैं। अक्सर यह मुल्क उत्तरी और दक्षिणी दो हिस्सो में बंटा रहा और ये दोनो आपस में लड़ते-झगड़ते रहे। किसी वक्त कोई ताकतवर राजा होगया तो उसने दोनो को मिला भी लिया और पडोस के स्याम देश को जीतने की हिम्मत भी कर डाली। उन्नीसवीं सदी में अँग्रेज़ो के साथ झपटें शुरू हो गईं। अपनी ताकत को बहुत ज्यादा समझकर बरमा के बादशाह ने आसाम के ऊपर चढ़ाई करके उसे अपने राज्य में मिला लिया। हिन्दुस्तान के अग्रेज़ो के साथ बरमा की पहली लड़ाई १८२४ ई० मे हुई और आसाम अंग्रेज़ों को मिल गया। अंग्रेज़ो को अब मालूम हो गया कि बरमा की सरकार और फ़ौज दोनो कमज़ोर हैं और वे अब तमाम मुल्क को जीतने की इच्छा करने लगे। फिजूल के बहाने ढूँढ़कर दूसरे और तीसरे युद्ध लडे गये और १८८५ ई० तक सारे देश को जीतकर ब्रिटिश भारत के साम्राज्य का हिस्सा बना लिया गया। तब से बरमा की किस्मत हिन्दुस्तान के साथ जुड़ गई है। अब हमारा उठना या गिरना साथ-साथ ही होगा।

अभी हाल में ब्रिटिश सरकार ने बरमा को हिन्दुस्तान से अलग करने की कोशिश की, लेकिन बरमियों ने भी तय कर लिया कि हम जुदा होना नहीं चाहते। पता नहीं भविष्य क्या-क्या रंग खिलायगा?[1] बरमा और हिन्दुस्तान एक ही राजनैतिक वर्ग में रहे या न रहे, यह ख़ासतौर से तो बरमी लोगो के फैसले पर है। वे चाहे जो कुछ तय करे और चाहे जो हो, बरमा और हिन्दुस्तान आपस में दोस्त होकर ही रहेंगे। हमें एक दूसरे को पहचानना पडेगा, गोकि हमारी मुलाकात विदेशी हुकूमत की मुसीबतो में हुई है। चाहे जो हो, भले दिन आयें या बुरे, हम एक-दूसरे का हाथ पकडे रहेंगे।

बरमा के दक्षिण में मलाया प्रायद्वीप में भी अंग्रेज़ फैल गये। सिंगापुर का टापू उनको उन्नीसवीं सदी में ही मिल गया था, जो अपनी बढ़िया स्थिति के कारण बहुत

१ अब बरमा हिन्दुस्तान से अलग कर दिया गया है।

जल्द एक व्यापारी शहर और सुदूर पूर्व को जानेवाले जहाजों के ठहरने का बन्दरगाह बन गया। इस प्रायद्वीप में कुछ ऊपर जो मलक्का का पुराना बन्दरगाह था वह पिछड़ गया। सिंगापुर से अंग्रेज उत्तर की तरफ़ फैलने लगे। मलाया प्रायद्वीप में छोटी-छोटी बहुतसी रियासतें थी, जो ज्यादातर स्याम के मातहत थीं। इस सदी के अखीर तक ये तमाम रियासतें अंग्रेजो की सरक्षकता में आगईं और 'मलाया राज्यसंघ' (Fedeiated Malay States) के नाम के एक संघ में शामिल हो गईं। इनमें से कुछ रियासतों पर स्याम का जो कुछ अधिकार था वह उसनें मजबूर होकर इंग्लैण्ड को दे दिया।

इस तरह स्याम यूरोपियन ताकतों से घिर गया। पश्चिम और दक्षिण, बरमा और मलाया में, इंग्लैण्ड का दौर-दौरा हो गया। पूर्व की तरफ फ्रांस चढ़ा आ-रहा था और अनाम को भी हड़पे चला जाता था। अनाम ने चीन की छत्रछाया को मान रक्खा था, लेकिन यह मानना बेकार था, जबकि चीन खुद ही मुसीबतो में फँसा हुआ था। तुम्हे याद होगा कि मैने किसी हाल के एक पत्र में तुम्हें बताया था कि फ़्रांस वालो ने अनाम पर हमला किया, इससे फ्रांस और चीन के बीच लड़ाई छिड़ गई। फ़्रांस को ज़रा रोक-थाम तो हुई, लेकिन बहुत ही थोडी देर के लिए। उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में अनाम और कम्बोडिया को शामिल करके फ्रांस ने फ़्रांसीसी इण्डोचीन नाम का एक बड़ा उपनिवेश बना दिया। कम्बोडिया, जहाँ पुराने जमाने में शानदार अंगकोर का साम्राज्य पनप चुका था, स्याम देश की एक मातहत रियासत थी। फ़्रांस ने स्याम को लड़ाई की धमकी देकर इसके ऊपर अपना शासन जमा लिया। नोट करने की बात यह है कि इन मुल्को में, शुरू-शुरू में, फ़्रांस वालों की जो साजिशें हुईं वे फ्रांसीसी मिशनरियों के मारफ़त की गई थीं। किसी कारण से एक मिशनरी को मौत की सजा दी गई, इसीका हरजाना वसूल करने के लिए पहला फ़्रांसीसी हमला १८५७ ई० में हुआ। इस फ़ौज ने दक्षिण में सैगन के बन्दरगाह पर कब्ज़ा कर लिया और यहीसे फ़्रांसीसियो का अधिकार उत्तर की तरफ फैला।

मुझे अन्देशा है कि एशिया के इन देशो के ऊपर साम्राज्यवादी चढ़ाइयो के दर्दभरे किस्से कहनें में बातो को कई बार दोहराना पड़ा है। हरेक जगह क़रीब-करीब एक-सी ही चाले चली गईं, और हर जगह कामयाबी मिली। एक के बाद दूसरे मुल्क का बयान मैंने किया है, और किसी-न-किसी यूरोपियन ताकत का उसे मातहत बनाकर उसका हाल ख़तम किया है। इस तरह बदकिस्मती का-शिकार होने से सिर्फ एक देश बच गया। यह था एशिया के दक्षिण-पूर्व का स्याम देश।

स्याम देश को बचे रहने का जो सौभाग्य प्राप्त हुआ उसका कारण शायद यही

था कि इसके दोनो बाजुओ पर बरमा के अंग्रेज और इंडोचीन के फ़्रांसीसी ये दो प्रतिद्वन्द्वी यूरोपियन लोग मौजूद थे। यह उनके बीच फँसा हुआ था। इसके सौभाग्य का एक यह भी कारण था कि इसका शासन-प्रबंध सन्तोषजनक था, और दूसरे देशो की तरह यहाँ भीतरी झगडे नही थे। लेकिन अच्छी हुकूमत ही यह कोई गारण्टी नहीं है कि विदेशियो के हमले न होगे। बात यह थी कि इंग्लैंड को बरमा और हिन्दुस्तान से फ़ुर्सत न थी और फ्रास को इण्डोचीन से। उन्नीसवीं सदी के पिछले दिनो में जिस वक़्त ये दोनो ताकते स्याम की सरहद पर पहुँचीं, तब राज्य-विस्तार का जमाना ही गुजर चुका था। मुकाबिला करने की भावना एशिया में जाग चुकी थी और उपनिवेशो और मातहत देशो में राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हो गये थे। कम्बोडिया के मामले पर स्याम और फ्रांस में झपट होने का अन्देशा था। पर फ़्रांस के झगडे से बचने के ख़याल से स्याम दब गया। पश्चिम की ओर बरमा के ब्रिटिश राज्य से स्याम की रक्षा एक मजबूत पर्वत-श्रेणी के कारण हो रही थी।

मै तुम्हे बता चुका हूँ कि पूर्वकाल में कम-से-कम दो बार बरमा के राजाओ ने स्याम पर हमला कर उसे अपने राज्य में मिला लिया। आख़िरी हमले के वक़्त, जो १७६७ में ई० हुआ, स्याम की राजधानी अयुथ्या या अयोध्या (जरा हिन्दुस्तानी नाम पर ग़ौर करो) को तहस-नहस कर डाला गया। थोडे ही दिन बाद जनता में आन्दोलन हुआ। बरमी लोग निकाल बाहर किये गये और १७८२ ई० में एक नया वंश गद्दी पर बैठा, जिसका पहला राजा 'राम प्रथम' हुआ। आज दिन डेढ़सौ बरस के बाद भी इसी वंश का स्याम में राज्य है और शायद सभी राजाओ का नाम 'राम' होता है। इस नये वंश के जमाने में स्याम को सुशासन मिला। साथ ही बडी बुद्धिमानी से विदेशी ताकतों से भी दोस्ताना ताल्लुक बनाये रखने की कोशिश की गई। तिजारत के लिए बन्दरगाह खोल दिये गये और व्यापारी सन्धियाँ की गईं, और शासन-सम्बन्धी सुधार भी किये गये। बैंकाक को नई राजधानी बनाया गया। अभीतक यही राजधानी है। लेकिन ये सब सुधार साम्राज्यवादी भेड़ियो को दूर न रख सके। इंग्लैण्ड ने मलाया में पैर पसार कर स्याम की भूमि दबा ली। फ़्रांस ने कम्बोडिया और स्याम के दूसरे भूखण्डों पर भी कब्जा कर लिया। १९१६ ई० में स्याम की बाबत इंग्लैण्ड और फ़्रांस में कुश्ती होनेवाली थी; लेकिन, जैसा कि साम्राज्यवादियो ने कायदा बाँध रक्खा है, उन दोनो ने आपस में समझौता कर लिया कि स्याम का जितना हिस्सा बचा हुआ है उसे अखण्ड रहने दो। मगर साथ ही उन्होने इस बचे हुए हिस्से को तीन 'प्रभाव-क्षेत्रो' में भी बाँट लिया। पूर्वी हिस्सा फ्रांस के दायरे में आया, पश्चिमी अंग्रेजो के दायरे में, और बीच का हिस्सा किसीकी तरफ

नहीं रहा, वहाँ दोनो को ही अपनी-अपनी चोंचें मारने का मौक़ा था। इस तरह बडी संजीदगी के साथ स्याम को अखंड रहने देने की गारण्टी कर चुकने पर कुछ ही वर्षों के बाद फ़्रांस ने कुछ जमीन पूर्व की तरफ दबा ली। इसका जवाब देने के लिए इंग्लैण्ड को भी दक्षिण की भूमि पर दख़ल करना पड़ा।

इतना सब कुछ होते रहने पर भी, स्याम का कुछ हिस्सा यूरोपियनों के चंगुल से बच गया। एशिया के इस हिस्से में बचे रहनेवाला यही एक देश है। योरप के हमलो का तूफान अब रुक गया है। योरप को अब एशिया में ज्यादा देश हड़पने का मौक़ा नहीं है। वह वक़्त जल्दी ही आनेवाला है जब योरप की ताक़तों को बिस्तर-बोरिया बाँधकर एशिया से कूच कर जाना होगा।

अभी हालतक स्याम में स्वेच्छाचारी राजा का शासन था। गोकि बहुतसे सुधार हो चुके थे, तो भी सामन्तशाही बनी हुई थी। कुछ महीने हुए, वहाँ एक रक्तहीन शान्त राज्यक्रान्ति हुई और, मालूम होता है, ऊपरी मध्यमवर्ग के लोग अब सामने आगये हैं। किसी हदतक पार्लमेण्ट भी कायम हो गई है। राम प्रथम के वंश के राजा ने इस परिवर्तन को मंजूर करके अक़्लमन्दी का काम किया है। इसीसे वह अपनी जगह बना हुआ भी है। इस वक़्त स्याम में वैधानिक एकतन्त्र शासन है।

दक्षिण-पूर्व एशिया के एक और देश—फिलीपाइन—पर गौर करना रह गया है। उसका हाल मै इसी खत में लिखना चाहता था। पर वक़्त भी ज्यादा हो गया, मै थक गया हूँ, और यह खत भी काफी लम्बा होगया है। १९३२ ई० के इस साल में मै तुम्हे यह सबसे आखिरी खत लिख रहा हूँ। पुराना साल खतम होता है। आज इसकी आख़िरी कडी है। तीन घण्टों के बाद यह साल न रहेगा और गुज़रे हुए जमाने की एक याद के रूप में रह जायगा।

: १२० :

नया साल

नया दिन, १९३३

आज नये साल का पहला दिन है। पृथ्वी ने सूरज की एक और परिक्रमा ख़तम कर ली है। छुट्टी या त्यौहार मनाने को यह नही रुकती, महाशून्य में लगातार दौड़ रही है। इसे परवा नहीं कि मेरी सतह पर रेंगनेवाले आपस में झगड़ते हुए उन बेतादाद पिस्सू सरीखे मर्द-औरतो का क्या हो रहा है जो बेवकूफी और घमंड के साथ अपनेआपको संसार का सार और ब्रह्माण्ड की धुरी समझे बैठे है। पृथ्वी

को हमारा लिहाज़ नहीं, लेकिन हम अपना लिहाज़ न करे, यह कठिन है। आज नये साल के दिन कई लोग जिन्दगी के सफर में ज़रा देर सुस्ताकर पुरानी बाते याद कर रहे हैं, और फिर आगे की तरफ देखकर उम्मीद बाँध रहे है। इसी तरह गुजरी हुई बाते मेरे भी दिमाग़ में आ रही है। जेल में मुझे आज एक के बाद एक करके यह तीसरा नया साल शुरू हो रहा है। हाँ, कुछ महीनो के लिए मै बाहर जरूर रह आया हूँ। और पीछे जाने पर मुझे याद आता है कि पिछले ग्यारह वर्षों में मैंने पाँच नये साल के पहले दिन जेल में बिताये है। पता नहीं, ऐसे कितने नये-पुराने दिन इस जेल में देखने को मिलेगे।

जेल की बोली में, मै अब 'पुराना' पड़ गया हूँ। कई दफे यहाँ आ चुका हूँ। जेल की जिन्दगी की अब मुझे मश्क हो गई है। जेल से बाहर होता हूँ तब काम-काज, चहल-पहल, सभायें, लेक्चरबाजी और इधर-उधर दौड़-भाग रहती है। यहाँ जेल में जीवन उससे कितना विपरीत है! यहाँ की बात बिल्कुल ही जुदा है, हर तरफ़ शान्ति है, बहुत कम गति है। मै देर तक कुर्सी पर बैठा रहता हूँ; और घंटों तक चुप रहता हूँ। एक-एक करके दिन और हफ्ते और महीने गुजर रहे हैं। एक-दूसरे में ऐसे घुसे जा रहे है कि छाँटना भी मुश्किल है। गुज़रा हुआ वक़्त एक मिटी हुई तसवीर की तरह लगता है, जिसमें कोई भी शक्ल साफ़ नहीं दीखती। कल की याद करते ही गिरफ्तारी का दिन याद आजाता है। बीच के अरसे में कोई ऐसी बात ही नहीं जिसकी दिमाग़ पर छाप पडी हो। जेल की जिन्दगी क्या है, मानों कोई पौधा एक जगह से उखाड़कर दूसरी जगह लगाया जा रहा हो। न कोई टीका-टिप्पणी, न कोई बहस-मुबाहिसा; बस बिल्कुल खामोश, हिलना भी नहीं। कभी बाहरी दुनिया की चहल-पहल जेल के प्राणी को अजीब और चकरानेवाली-सी लगती है, वे बहुत दूर और असत्य-सी लगती है, मानो कहीं दूर पर भूतो का नाच हो रहा हो। सो इस तरह अपना मिजाज भी दो तरह का हो जाता है, कामकाजी और निष्क्रिय या बेकार। जिंदगी दो किस्म की हो जाती है, व्यक्तित्व दो हो जाते है, जैसा कि डा० जेकिल और मि० हाइड[1] की जिन्दगी थी। राबर्ट लुई स्टीवेन्सन का वह किस्सा तो तुमने पढ़ा होगा?

१ डा० जेकिल एक बहुत ही नेक विद्वान प्रोफेसर थे। विज्ञान के प्रयोग करते समय किसी दवा से उनके शरीर में एक बदमाश मि० हाइड की रूह घुस आई। डाक्टर साहब को अच्छी दवा हाथ लगी। वे चाहे जब अपना रूप और प्रकृति बदल लेते। होते-होते मि० हाइड की आदत हो पड गई और वह बिना दवा के प्रयोग ही डा० जेकिल के शरीर मे घुस आता। आखिरकार मि० हाइड से छुटकारा पाना असम्भव समझकर डा० जेकिल ने आत्महत्या करली।

ज्यो-ज्यो वक्त गुजरता है हर बात की आदत पड़ ही जाती है। जेल के 'रुटीन' (दैनिक कार्यक्रम) और एक-रसता की भी आदत हो जाती है। शरीर को आराम से फायदा होता है, और दिमाग के लिए शान्ति अच्छी चीज है, इससे सोचने का मौका मिलता है। अब शायद तुम समझ जाओगी कि इन ख़तो को लिखने से मुझे क्या फ़ायदा हुआ। इनके पढ़ने में तुम्हारी तबियत न लगती होगी; ये बहुत लम्बे-लम्बे और उकतानेवाले-से है। लेकिन इनसे मेरे जेल के जीवन का ख़ाली मन भर सका है। इनसे मुझे एक धन्धा मिल गया। इस तरह इन्होने मेरे दिल को बडी प्रसन्नता दी है। दो साल होते है, नये साल के ही दिन मैंने इनको नैनी-जेल में लिखना शुरू किया था। दुबारा जेल आने पर फिर लिखना जारी कर दिया। कभी-कभी रोजाना भी लिखा है। जब लिखने की धुन सवार हुई, कागज कलम लेकर बैठ जाता। बस दूसरी दुनिया में पहुँच जाता। साथ में, प्यारी बेटी, तुम भी होतीं। जेल और जेल के काम भूल जाते। इस तरह ये ख़त मुझे जेल से मुक्ति दिलानेवाले बन-कर प्रकट हुए है।

आज जो खत लिख रहा हूँ उसका नम्बर १०० (से ऊपर ?) है। इस तरह नम्बर डालना मैंने नौ ही महीने पहले बरेली में शुरू किया था। ताज्जुब है कि इतना सारा लिख डाला। जब चिट्ठियो का यह पहाड़ तुम्हे एकसाथ मिलेगा तो तुम भी क्या कहोगी? पर अगर इस तरह मुझे जेल से छुटकारा मिलता हो तो तुम इसमें बुरा क्यों मानोगी। प्यारी बेटी, हमें मिले सात महीने से ज्यादा हो चुके है। कितना वक़्त गुज़र गया!

इन ख़तों में जो कहानी कही गई है, वह कुछ ज्यादा तबियत खुश करनेवाली नहीं है। इतिहास आनन्द-दायक नही होता। अपनी तरक्की की शेखी बघारनेवाला इनसान आख़िरकार है एक बहुत ही नागवार और खुदगर्ज जानवर। फिर भी उसकी खुदगर्ज़ी, ख़ूंख़ारी, और हैवानियत के काले कारनामो के भीतर तरक्क़ी की भी कुछ चमक दीख जाय तो दीख जाय। मैं जरा आशावादी आदमी हूँ और सब मामलो के बारे में अच्छी उम्मीदें रक्खा करता हूँ। लेकिन ऐसा न हो कि आशावाद के कारण हम अपनी बुराइयो की तरफ से आँखें मूंद लें। कहीं ग़लत रास्तो को पकड़कर झूठे आशावाद के खतरे में न पड़ जायें! दुनिया का जैसा हाल हो रहा है उससे आशावाद के लिए ज्यादा गुन्जायश नही दीखती। यहां आदर्शवादी आदमी की तो मुश्किल ही

यह कहानी स्टीवेन्सन ने भारी बीमारी के अरसे मे रची थी। इनसान किस तरह विपरीत प्रकृतियो का शिकार होता रहता है, इसका इस कहानी मे बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है।

है। जो अपने विश्वासो को आँख मीचकर न मान ले, उसकी भी गुजर नहीं। हर तरह के सवाल यहाँ उठा करते है, जिनका कोई सीधा जवाब नहीं मिलता। हर तरह के सन्देह पैदा होते रहते है, जिनका आसानी से हल नही मिलता। दुनिया में इतनी मुसीबत और बेवकूफी क्यो है ? इसी सवाल ने हमारे देश के राजकुमार सिद्धार्थ को दो हजार वर्ष पहले इतना परेशान किया था। कहानी में आता है कि 'बुद्ध' पद को पहुँचने और प्रकाश हासिल करने से पहले, उन्होने इसी सवाल को कई दफे अपने ही दिल से पूछा था। कहते है, उनका प्रश्न यह था :—

"How can it be that Brahma,
Would make a world and keep it miserable
Since if all powerful, he leaves it so,
He is not good, and if not powerful,
He is not God ?"

अर्थात्—

कैसे सभव ब्रह्म स्वय जग एक, बनाये,
और उसे यो रक्खे दु.खो से लपटाये ?
सर्वशक्तिमय है यदि तो वह भला नही है,
सर्वशक्तिमय नही अगर तो ईश नही है।

हमारे ही देश में आजादी की लड़ाई चल रही है; पर हमारे बहुतसे भाई उधर जरा भी ध्यान न देकर आपसी बहस और झगडो में लगे हुए है; वे जनता की भलाई के खयाल छोडकर अपने ही पंथ या मजहबी फिरके या वर्ग के लिहाज से बातें किया करते है। और कुछ लोग स्वतन्त्रता के दर्शनो से मुँह मोड़कर :—

"अब दोस्त बनाकर जुल्मी को,
दम साध रहे है शान्त पडे।
दल बाँध रहे है ये पाकरके,
जूठे टुकड़े औ चिथडे।"

कानून और इन्तजाम के नाम पर हर तरफ जुल्म का दौर चल रहा है। जो सिर झुकाने से इन्कार करें उनको कुचल डालने की कोशिशें हो रही है। गजब तो यह है कि जो चीज कमजोरो और पीड़ितो का पनाह है वही जालिम के हाथो का हथियार हो रही है ! इस खत में कई उद्धरण आ चुके है, बस एक और दूंगा। यह मुझे मौजूदा हालत के लिए सबसे मौजूं लगता है। यह १८ वीं सदी के फ्रांसीसी विचारक मान्तेस्क्यू की किताब से लिया गया है, जिसका जिक्र मैंने शुरू के किसी खत में किया भी था :—

"जिस तख्ते के सहारे डूबते हुए मुसीबतजदा डूबने से बच गये हो, उसीके

ज़रिये अगर उन्हे डुबा दिया जाय तो, इसपर कानून और इन्साफ का चाहे जितना रग चढाया जाय, इससे बढकर निर्दय अत्याचार नही हो सकता।"

यह ख़त दर्द से इतना भर गया है कि नये दिन के लायक नही रहा, यानी बेमौजूं हो गया है। पर मै तो दुःखी नहीं, और दुःखी हम हो भी क्यों ? हमें तो खुशी होनी चाहिए कि हम एक बडे काम के लिए लड़ रहे है। हमें एक बड़ा मुखिया मिला हुआ है—एक प्यारा दोस्त, एक भरोसे का रहनुमा; जिसके दर्शन से हमें ताक़त मिलती है, जिसकी थपकी हमें हिम्मत दिलाती है। हमें इत्मीनान है कि कामयाबी हमारा इन्तज़ार कर रही है, और कभी-न-कभी हमें ज़रूर मिलेगी। अगर ये दिक्कतें न होतीं, जिन्हे तोड़ना हमारा काम है, अगर ये लड़ाइयाँ न आतीं, जिन्हें जीतना हमारा कर्त्तव्य है, तो जिन्दगी बेमज़ा और बेरंग हो जाती। आज बापू की भूख-हड़ताल के मुल्तवी होनें की ख़बर पाकर मेरा जी हलका होगया है। हमारे दिलों से एक भारी बोझा उठ गया है।

प्यारी बेटी, तुम ज़िन्दगी की दहलीज़ पर हो। तुमको दुःख और नाउम्मीदी से क्या काम ?तुम तो ज़िन्दगी और जो कुछ उसमें आ पडे उसका मुकाबिला मुस्कराते हुए और शान्त चेहरे के साथ करना। रास्ते में जो मुश्किलें आवें उनका स्वागत करना, ताकि उनपर सवार हो सको। अलविदा ! अच्छा प्यारी बेटी, उम्मीद है, जल्द ही फिर मिलेंगे।

: १२१ :

फिलीपाइन और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका

३ जनवरी, १९३३

साल के नये दिन पर कुछ इधर-उधर का ज़िक्र करके अब हम अपने क़िस्से पर लौटते है। अब फिलीपाइन टापुओ का बयान करना मुनासिब है ताकि एशिया के पूर्वी हिस्से का हाल पूरा होजाय। इन टापुओ की तरफ़ ध्यान देने की क्या ज़रूरत है ? एशिया में और भी बहुतसे टापू है, जिनका ज़िक्र भी मै इन खतों के सिलसिले में नहीं कर रहा हूँ। हम यह मालूम करना चाहते है कि किस तरह एशिया में नये साम्राज्यवाद ने कदम बढ़ाया और पुरानी सभ्यताओं पर इसने क्या-क्या चोटें कीं। इस बात पर ग़ौर करने के लिए हिन्दुस्तान का साम्राज्य एक नमूना है। चीन एक दूसरे ही और जुदा किस्म के, पर बहुत ही महत्वपूर्ण, औद्योगिक साम्राज्यवाद का किस्सा कहता है। ईस्ट-इण्डीज़, इण्डोचीन वग़ैरा से भी हमें बहुत-कुछ सबक़ मिल

सकता है। इसी तरह फिलीपाइन के हाल से भी हमें दिलचस्पी होगी। यह दिलचस्पी और भी ज्यादा इसलिए बढ़ जाती है कि हम एक नई ताकत यानी संयुक्तराष्ट्र अमेरिका को यहाँ मैदान में आते देखते है।

हम देख चुके है कि चीन के मामले में संयुक्तराष्ट्र अमेरिका ने दूसरी शक्तियों की तरह आक्रमणकारी या जोर-जबर्दस्ती की नीति इख्तियार नहीं की थी। किसी-किसी मौके पर उसने दूसरी साम्राज्यवादी शक्तियों के खिलाफ चीन की मदद भी की थी। इसका कारण यह नहीं समझना चाहिए कि उसे साम्राज्यवाद से नफरत थी, या चीन से कोई खास मुहब्बत थी। असल में कुछ ऐसे अन्दरूनी कारण थे जिन्होंने अमेरिका को योरप के मुल्को से जुदा कर रक्खा था। योरप के ये मुल्क छोटे-से महादेश के अन्दर आपस में ऐसे सटे हुए थे और इनकी आबादी इतनी घनी थी कि पैर रखनें की भी जगह न थी। हमेशा यहाँ लड़ाई-झगडे होते और आफते आती रहती थीं। उद्योगवाद के साथ-साथ आबादी भी तेजी से बढ़ी। अब वे ज्यादा-ज्यादा माल तैयार करने लगे, जिसकी खपत के लिए उनका अपना-अपना देश काफी न था; बढ़ती हुई आबादी के लिए खूराक की जरूरत हुई, कारखानों के लिए कच्चे माल की, और तैयार सामान के लिए बाज़ारों की। इन ज़रूरतो को पूरा करनें की आर्थिक आवश्यकता के कारण इन देशों को दूर-दूर जाकर साम्राज्य के लिए आपस में लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं।

ये बाते संयुक्तराष्ट्र अमेरिका पर लागू नहीं होती थीं। यह मुल्क योरप के बराबर ही लम्बा-चौड़ा था, पर आबादी कम थी। यहाँ हर आदमी के लिए काफी गुंजाइश थी। इन लोगो को अपने ही विशाल देश में तरक्की करने के काफी मौके थे। जैसे-जैसे रेले बनती गईं, ये लोग पश्चिम की तरफ फैलते गये, यहाँतक कि पैसिफिक (प्रशान्त) सागर के किनारे तक आ लगे।

अपने देश में होनेवाले इन कामो में अमेरिका वाले काफी मशगूल थे, इसलिए उपनिवेश बसाने की उन्हे फुर्सत न थी। एक दफा तो (जैसा कि मै पहले कह चुका हूँ) उन्हे कैलीफोर्निया के समुद्री किनारे पर काम करने के लिए चीन की सरकार से मजदूरो की माँग करनी पडी थी। यह माँग पूरी कर दी गई, लेकिन बाद में इसी-की वजह से दोनों मुल्को में काफी कटुता पैदा हो गई। अपने मुल्क में इस तरह मशगूल रहने के कारण अमेरिका वाले साम्राज्य हासिल करने की उस दौड़ में शामिल न हुए जिसमें योरप वाले पडे हुए थे। चीन के मामलों में भी उन्होने तभी दखल दिया जब मजबूरी ही आपडी, यानी जब उनको यह अन्देशा होने लगा कि दूसरी ताकते चीन देश को आपस में बाँट डालेगी।

हाँ, फिलीपाइन के टापू सीधे अमेरिका के कब्जे में आगये। इनसे हमें अमेरिका के साम्राज्यवाद का हाल मालूम हो सकता है और वह हमारे लिए दिलचस्प होगा। यह खयाल न करना कि संयुक्तराष्ट्र अमेरिका का साम्राज्य फिलीपाइन के टापुओ तक ही महदूद है। ऊपरी तौर से बस उसका इतना ही साम्राज्य है। पर दूसरी ताकतों के तजुरबे और दिक्कतो से फ़ायदा उठाकर उसने साम्राज्यवाद के पुरानें तरीके में खूब सुधार कर लिया है। अमेरिकन लोग किसी मुल्क के मिलाने की इल्लत में नहीं पड़ते, जैसे अँग्रेजो ने हिन्दुस्तान को अपने राज्य में मिला रक्खा है। उनको तो अपने माली मुनाफे से मतलब है, इसलिए दूसरे मुल्क की दौलत पर कब्जा जमाने की तरकीबें निकालते रहते हैं। दौलत पर कब्जा करने के बाद, मुल्क की जनता पर और फिर मुल्क पर ही कब्जा करना सहज हो जाता है। सो बिना किसी इल्लत या झगडे के ये लोग मुल्को पर कब्जा करके दौलत में हिस्सा बाँट लेते हे। इस चालाकी के उपाय को आर्थिक साम्राज्यवाद कहते हैं। नकशे से इसका पता नहीं चलता। अगर भूगोल की किताब या एटलस में देखो तो मुल्क आज़ाद मालूम होगा। पर अगर परदे को हटाकर देखो तो मालूम होगा कि यह किसी दूसरे ही देश के चंगुल में है, या यह कहना ज्यादा-ठीक होगा कि वहां के साहूकारो और बडे-बडे व्यवसायियो के चगुल में है। अमेरिका के कब्जे में जो साम्राज्य है वह इसी तरह का अदृश्य यानी आँखो की ओट में रहनेवाला साम्राज्य है। यह साम्राज्य चाहे नज़रो से ओझल हो, पर है जोरदार। अंग्रेज़ लोग हिन्दुस्तान और जहाँ भी इनका राजनैतिक कब्जा है उन सभी मुल्कों में इसी तरह के साम्राज्य को अपने लिए महफूज़ बनाये रखने की कोशिश कर रहे हैं। इस ख़तरे से हमें होशियार हो जाना चाहिए।

खैर; इस अदृश्य आर्थिक साम्राज्य पर ग़ौर करने की अभी जरूरत नहीं है; क्योंकि उसका फिलीपाइन का साम्राज्य तो आँखों के सामने ही मौजूद है।

फिलीपाइन में हमारे दिलचस्पी लेने का एक और छोटा-सा और भावुकतापूर्ण कारण भी है। इस वक्त चाहे फिलीपाइन का रूप स्पेनी-अमेरिकन हो, पर वहाँकी पुरानी सभ्यता की बुनियाद हिन्दुस्तानी ही है। हिन्दुस्तानी सभ्यता सुमात्रा और जावा होती हुई वहाँ पहुँची थी। सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक यानी जिन्दगी के हर पहलू पर इसका असर हुआ था। हमारे साहित्य के किस्से और पौराणिक कथायें इन देशो में पहुँचीं। इनकी ज़बान में बहुतसे संस्कृत के शब्द है। इनकी कला, हुनर और कानूनो पर हिन्दुस्तान का असर पड़ा है। यहाँतक कि पोशाक और ज़ेवरो पर भी हिन्दुस्तान के निशान ज़ाहिर है। तीनसौ साल से ज्यादा स्पेनियों की

हुकूमत रही। उन्होंने हिन्दुस्तानी तहज़ीब के इन प्रमाणों को मिटाने की पूरी-पूरी कोशिशें कीं। इसीसे इस वक़्त इतने कम निशान मिलते हैं।

स्पेनियों ने इन टापुओं पर १५६५ ई० में ही कब्ज़ा कर लिया था। इस तरह एशिया के इन्हीं देशों में योरपवालों ने सबसे पहले कदम रक्खे। इनका शासन पोर्चु-गीज़, डच या ब्रिटिश उपनिवेशों से बिल्कुल ही जुदा होता था। व्यापार को कोई बढ़ावा नहीं दिया जाता था। सरकारें मज़हबी बुनियाद पर बनाई जाती थीं और अधिकारी अक्सर मिशनरी पादरी हुआ करते थे। इसको 'मिशनरियों का साम्राज्य' कहा गया है। जनता की हालत को सुधारने की कोई कोशिश न की जाती थी। बदइन्तज़ामी, ज़ुल्म, भारी महसूलो और मिशनरी कोशिशो के सबब से लोगों को मजबूरन ईसाई मज़हब इख़्तियार करना पड़ा। इस हालत में बलवों का होना लाज़िमी था। तिजारत की गरज़ से बहुत-से चीनी लोग भी यहाँ आ बसे थे। ईसाई बनने से इन्कार करने पर उनको सरेआम क़त्ल कर दिया गया। अंग्रेज और डच सौदागरों को यहाँ आने की इजाज़त नहीं थी—कुछ तो इसलिए कि वे स्पेनियों के दुश्मन थे, और कुछ इसलिए कि वे प्रोटेस्टेण्ट ईसाई थे और इसलिए रोमन कैथलिक स्पेनियों की नज़रो में काफ़िर थे।

हालत ख़राब होती गई, लेकिन एक अच्छा नतीजा भी हुआ। इन टापुओं के बिखरे हुए हिस्सो में एका होगया, और उन्नीसवीं सदी में कौमियत के ख़यालात जागने लगे। इसी सदी के मध्य में विदेशी व्यापारियों के लिए इस मुल्क के दरवाज़े खोल दिये गये, तालीम और दूसरे महकमों में कुछ सुधार भी हुए और तिजारत की भी तरक्की हुई। फिलीपाइन के लोगो में भी एक मध्यमवर्ग बन गया। स्पेनियों और फिलिपाइनो के बीच विवाह होने के कारण ज्यादातर फिलिपाइनों में स्पेनी ख़ून था। स्पेन को मातृभूमि माना जाने लगा और स्पेनी ख़यालात का प्रचार होने लगा। फिर भी राष्ट्रीयता की भावना बढ़ती गई और जैसे-जैसे दमन हुआ, लोग क्रान्तिकारी होते गये। शुरू में तो स्पेन से अलग होने का कोई ख़याल न था। स्वराज्य की माँग थी और लोग चाहते थे कि स्पेन की कमज़ोर और बेकार पार्लमेण्ट कोर्टे में कुछ प्रतिनिधित्व मिल जाय। गौर करो कि किस तरह हर मुल्क में क़ौमी आन्दोलन नरमी के साथ शुरू हुए, रुके नहीं, ज्यादा-ज्यादा गरम होते गये, और आख़िरकार आज़ादी और बिल्कुल अलग होजाने की माँग करने लगे। अगर आज़ादी की माँग को दबा दो, तो बाद में सूद-दर-सूद के साथ अदा करनी होगी। इसी तरह फिलीपाइन में भी यह माँग बढ़ी; राष्ट्रीय संगठन कायम किये गये और गुप्त सभायें भी ख़ूब फैल गईं। 'नौजवान फिलीपाइनो दल' ने, जिसके नेता डा० जोस रिज़ल थे, बड़ा काम किया।

सरकारों को जो तरीका, यानी आतंकवाद का, मालूम है, उसीसे स्पेनी सरकार ने भी आन्दोलन को कुचलना चाहा। रिज़ल और बहुत-से दूसरे नेताओं को १८९६ ई० में मौत की सज़ा दे दी गई।

प्याला भर गया था। स्पेनी सरकार के ख़िलाफ़ खुली बग़ावत मच गई और फ़िलीपाइनो ने आज़ादी का घोषणा-पत्र निकाल दिया। सालभर तक लड़ाई चलती रही। स्पेनी लोग बलवे को न कुचल सके। इसके बाद काफ़ी सुधारों के वादे पर लड़ाई थमी। लेकिन स्पेन ने १८९८ ई० तक कुछ न किया और दुबारा बग़ावत हो गई।

इसी दरम्यान किसी दूसरे मामले पर अमेरिका की सरकार का स्पेन से झगड़ा हो गया और दोनो देशो के बीच लड़ाई छिड़ गई। अप्रैल १८९८ ई० में अमेरिका के एक जहाज़ी बेड़े ने फ़िलीपाइन पर हमला किया। बाग़ी फ़िलीपाइनी नेताओं को उम्मीद थी कि अमेरिका हमारी आज़ादी में मदद करेगा। इसलिए उन्होंने लड़ाई में अमेरिका की मदद की। आज़ादी की घोषणा करके उन्होंने एक प्रजातन्त्री सरकार क़ायम करली। सितम्बर १८९८ ई० में फ़िलीपाइनो कांग्रेस हुई और नवम्बर के अख़ीर तक नया शासन-विधान बना लिया गया। इधर तो कांग्रेस में नये विधान पर बहस हो रही थी, उधर संयुक्तराष्ट्र से स्पेन पिट रहा था। स्पेन कमज़ोर था, इसलिए साल के अखीर तक उसे हार मानकर सुलहनामे पर दस्तख़त करने पड़े। सुलह की शर्तों के मुताबिक़ स्पेन ने अमेरिका के हाथों फ़िलीपाइन सौंप दिया। यह फ़ैयाज़ी बताने में उसे लगता ही क्या था; क्योंकि फ़िलीपाइनी बाग़ियों ने स्पेनी सरकार का ख़ात्मा तो पहले ही कर दिया था।

अब संयुक्तराष्ट्र अमेरिका की सरकार ने इन टापुओं पर क़ब्ज़ा करने के लिए क़दम बढ़ाया। फ़िलीपाइनो ने उसका विरोध किया। उन्होंने यह भी कहा कि तुम्हारे हाथ में सौंपने का स्पेन को कोई हक़ न था, क्योंकि जिस वक़्त सुलह हुई उस वक़्त स्पेन के पास रक्खा ही क्या था? लेकिन यह एतराज़ बेकार रहा। इधर तो लोग अपनी नई जीती हुई आज़ादी के लिए आपस में मुबारिकबादियाँ दे रहे थे; उधर स्पेन से भी कहीं ज्यादा ताक़तवर एक नया दुश्मन मुक़ाबिले पर आधमका। साढ़े तीन वर्ष तक ये बहादुरी के साथ लड़ते रहे—शुरू के कुछ महीनों तक तो संगठित सरकार की शक्ल मे और इसके बाद छापे की लड़ाई के रूप में।

आख़िरकार उपद्रव का दमन करके अमेरिकनों की हुकूमत क़ायम हुई। बहुत-से सुधार किये गये, ख़ासकर शिक्षा में। लेकिन आज़ादी की माँग जारी रही। १९१६ ई० में संयुक्तराष्ट्र की कांग्रेस ने 'जोन्सबिल' नाम का एक बिल पास करके

फिलीपाइनो की चुनी हुई धारासभा को कुछ अधिकार दिया। लेकिन अमेरिकन गवर्नर-जनरल को दखल देने का अधिकार रहा और अक्सर वह इस अधिकार को काम में भी लाता रहा। संयुक्तराष्ट्र के ख़िलाफ़ तो फिलीपाइन में बलवे नहीं हुए, पर लोगों को अपनी मौजूदा किस्मत से सन्तोष नहीं है। उनका आन्दोलन और आजादी की माँग जारी है। अक्सर ठेठ साम्राज्यवादी तरीके से अमेरिकन लोग उन्हे विश्वास दिलाते रहते है कि हम तो तुम्हारे ही फ़ायदे के लिए यहाँ आये है और जैसे ही तुम अपने काम-काज अपने आप सम्हलने के लायक हुए कि हम यहाँसे चल देंगे। १९१६ ई० के जोन्सबिल में भी कहा गया था कि "अमेरिका वालो की हमेशा यही ख्वाहिश रही है कि फिलीपाइन में व्यवस्थित शासन कायम होते ही अपनी सत्ता उठाली जाय और वहाँकी आजादी को स्वीकार कर लिया जाय।" फिर भी, अमेरिका में बहुत-से लोग मौजूद है जो फिलीपाइन की आजादी के सख्त ख़िलाफ है।

यह हाल लिखते वक़्त ही अख़बारो में ख़बर आ रही है कि संयुक्तराष्ट्र की कांग्रेस ने एक प्रस्ताव या ऐसी ही कोई घोषणा पास की है कि फिलीपाइन को दस साल में आजादी देदी जायगी। हाँ, कुछ बन्दिशें जरूर लगाई गई है। मुझे मालूम नहीं कि ये बन्दिशें या संरक्षण क्या है; पर इस लफ़्ज 'बन्दिश' या संरक्षण पर मुझे संदेह है। इस लफ़्ज़ में सीधे-सादे परदे के अन्दर हर तरह की बदमाशी के प्रपंच छिपे हुए होते है। हिन्दुस्तान के बारे में भी अक्सर इसकी पुकार मचाई जाती है। इसलिए हम जानते है कि इसके असली मानी क्या है।

फिलीपाइन में संयुक्तराष्ट्र के कुछ आर्थिक स्वार्थ है। उन्हींकी रक्षा की उसे फिक्र है। खासकर रबर की खेती की तरफ़ उसकी नजर है, क्योंकि यही एक ऐसी जरूरी चीज है जो उसके यहाँ पैदा नहीं होती। लेकिन मेरे ख़याल से इन टापुओ पर कब्जा रखने का असली मतलब है जापान का डर। जापान फ़िलीपाइन के बिल्कुल नजदीक है और जापान की बढ़ती हुई आबादी में भी उफान आ रहा है। अमेरिका और जापान की सरकारो में कोई मुहब्बत भी नहीं है। इसलिए फ़िलीपाइन के भविष्य का सवाल पेसिफिक (प्रशान्त) सागर की ताकतो और उनके आपसी ताल्लुकात का सवाल है। ख़ैर; हमें उन मामलो में जाने की यहाँ जरूरत नहीं।

: १२२ :

तीन महादेशों का संगम

१६ जनवरी, १९३३

नये साल के दिन जो ख्वाहिशें मैंने जाहिर की थीं, उनमें से एक तो इतनी जल्द पूरी भी हो गई कि एक पखवाडे पहले पिछला खत लिखते वक्त मुझे उसका गुमान भी न था। इतनी लम्बी इन्तजार के बाद आखिर तुमसे मुलाकात हुई। तुम्हे एक मर्त्तबा फिर देखा। तुम्हे और दूसरे लोगो को देखकर जो खुशी और सनसनी कई रोज तक मेरे दिल में भरी रही, उसने मेरे रोजाना के काम में गड़बड़ डाल दी और मामूली बातों में भी मुझे लापर्वाह-सा कर दिया। मुझे ऐसा लगा कि कोई त्योहार आगया हो। हमारी मुलाकात को चार ही रोज तो हुए है, पर कितना वक़्त गुजर गया मालूम होता है! मैं तो आयन्दा की भी सोचने लगा हूँ। पता नहीं अब कब और कहाँ मिलना हो।

खैर, जेल का कोई क़ानून मुझे खयाली पुलाव पकाने से नहीं रोक सकता। मैं इन खतो का सिलसिला जारी रक्खूंगा।

कुछ अरसे से मैं तुम्हे उन्नीसवी सदी का हाल बताता रहा हूँ। पहले तो मैंने इस सदी पर सरसरी नजर डाली। मोटे तौर से नैपोलियन के पतन के बाद के १०० वर्षो का मैंनें हाल बयान किया है। उसके बाद हमनें कई मुल्को पर बारीकी से गौर करना शुरू किया। हिन्दुस्तान, चीन, जापान और सबके बाद वृहत्तर भारत और ईस्ट-इंडीज की हमने खूब सैर की। इस तरह इस सैर में हम एशिया के एक हिस्से को देख सके है। अभी बाकी दुनिया बची हुई है। किस्सा बहुत लम्बा है। इसको साफ-साफ नजर में रखना आसान नही है। मुझे एक-एक करके अलग-अलग देशो और महा-देशो का हाल कहना है। जुदा-जुदा मुल्को का हाल कहने में मुझे बार-बार उसी युग की तरफ लौटना होता है। इसलिए कुछ उलझन हो जाना लाजिमी है। फिर भी याद रक्खो कि उन्नीसवी सदी की ये घटनायें समकालिक थी यानी बहुत करके एक ही वक्त में हुई। उन्होने एक-दूसरे पर असर डाला और एक-दूसरे पर उनकी प्रतिक्रिया भी होती रही। इसलिए, किसी देश के इतिहास को अलग लेकर अध्ययन करने से धोखा हो सकता है। कुल दुनिया के इतिहास से ही हमें उन घटनाओ और शक्तियो के महत्व का ठीक अंदाज मिल सकता है, जिन्होने गुजरे हुए जमाने का निर्माण किया और उसे वर्त्तमान का रूप दिया। ये खत इस तरह का इतिहास पेश करने का दावा नहीं करते। यह काम मेरी ताकत से बाहर है। फिर इस मजमून की किताबो की भी कमी नहीं है। मैंने तो सिर्फ़ तुम्हारी तबियत को इस तरफ़ लगाने की कोशिश-भर की है

मैंने दुनिया के इतिहास के कुछ ही पहलू दिखाये है, और तुम्हे आदिम जमाने से आजतक की इनसानी कारगुजारियो के सूत्र के साथ-साथ ले चलने की ही मेरी ख्वाहिश रही है। पता नहीं कि मैं कहाँतक कामयाब हो सका हूँ। कहीं ऐसा न हो कि मेरी मेहनत का नतीजा सिर्फ़ एक गड़बड़झाला ही हो, जो सही फैसला करने में तुम्हे मदद देने के बजाय उलटा उलझन में डाल दे।

योरप उन्नीसवी सदी की सचालक-शक्ति यानी चलानेवाली ताकत था। वहाँ राष्ट्रीयता का जोर था, और अक्सर उद्योगवाद दुनिया के दूर-दूर कोनों तक पहुँच-कर साम्राज्यवाद की शक्ल ले रहा था। इस सदी का जो मुख्तसर बयान हमने शुरू में किया था, उसमें हम यह देख चुके है। हमने हिन्दुस्तान और पूर्वी एशिया में साम्राज्यवाद के प्रभाव को जरा विस्तार से देखा है। अब योरप की तरफ़ चलने से पहले मैं तुमको जरा पश्चिमी एशिया की भी सैर करा देना चाहता हूँ। बहुत देर से इस हिस्से को मैं छोड़ता आरहा हूँ, जिसका खास कारण यह है कि मुझे इसका बाद का इतिहास मालूम नहीं है।

पूर्वी एशिया और हिन्दुस्तान से पश्चिमी एशिया बिल्कुल ही जुदा है। बहुत जमाना हुआ, मध्य-एशिया और पूर्व से कुछ जातियाँ और कबीले आकर यहाँ बस गये थे। खुद तुर्क लोग इसी तरह आये थे। ईसाई-काल से पहले ठेठ एशियामाइनर तक बौद्ध धर्म फैला हुआ था, लेकिन वह वहां जड़ जमा सका हो ऐसा नहीं लगता। इन पिछली सदियों में पश्चिमी एशिया की नजर एशिया या पूर्व की बनिस्बत योरप पर ज्यादा लगी रही। इस तरह यह हिस्सा योरप की तरफ एशिया का झरोखा हो रहा था। एशिया के मुख्तलिफ हिस्सों में इस्लाम के फैलने से भी इनके पश्चिमी खयालात में कुछ फर्क न आया।

हिन्दुस्तान, चीन और दूसरे पडौसी मुल्कों ने योरप को इन नजरो से कभी नही देखा था। वे एशियाई खयालात में ही लिपटे रहे। हिन्दुस्तान और चीन के बीच बड़ा फर्क खून, खयालात और सभ्यता का है। चीन कभी मजहब का गुलाम नहीं रहा, न कभी वहाँ पुजारियों-पुरोहितो का ही सिक्का चला। हिन्दुस्तान को हमेशा अपने धर्म का फ़ख्र रहा है। उसके समाज पर हमेशा पण्डे-पुजारी और पुरोहित लदे रहे है, हालाँकिबुद्ध ने उसे इस बोझे से छुड़ाने की हरचन्द कोशिश भी की। हिन्दुस्तान और चीन में और भी कई फ़र्क थे। फिर भी तारीफ यह कि हिन्दुस्तान और पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया के बीच खूब एका बना रहा। इस एके को जोड़ने-वाले डोरे बौद्ध धर्म-ग्रन्थ है, जिन्होने इन जातियों को आपस में बाँधकर साहित्य-संगीत-कला की बहुत-सी समानतायें ला मौजूद कीं।

इस्लाम से हिन्दुस्तान में बहुत-कुछ पश्चिमीएशियापन आगया। यह एक जुदा संस्कृति थी; जीवन का अलग ही दृष्टिकोण था। लेकिन हिन्दुस्तान में पश्चिमी एशियापन खाला-खाला या अपनी असली शक्ल में नहीं आया, जैसा कि अगर अरब वाले फतह करते तो होता। यहाँ यह दौर बहुत दिन बाद और वह भी मध्यएशिया की जातियों की मार्फत आया, जो उसकी सर्वोत्तम प्रतिनिधि न थी। ख़ैर, इस्लाम नें हिन्दुस्तान को पश्चिमी एशिया से जोड़ दिया। इस तरह यह देश दो बड़ी सभ्यताओं के संगम की जगह बन गया। इस्लाम चीन में भी पहुँचा और बड़ी तादाद में लोगो नें इसे मंजूर कर लिया। पर इसने चीन की पुरानी सभ्यता को चुनौती कभी न दी। हिन्दुस्तान में यह चुनौती इसलिए दी गई थी कि इस्लाम बहुत अरसे तक शासन करनेवाले वर्ग का मजहब था। इस तरह हिन्दुस्तान वह मुल्क होगया जहाँ दो सभ्यतायें एक-दूसरे के मुक़ाबिले में खडी हुई। मैं तुमको उन तमाम कोशिशों का हाल लिख ही चुका हूँ जो इस मुश्किल सवाल को हल करने के लिए की गईं। ज्यादातर इन कोशिशों में कामयाबी मिली। पर अंग्रेजों की फतह की शक्ल में एक नया खतरा, एक नई रुकावट आ मौजूद हुई। आज इन दोनों पुरानी सभ्यताओ नें अपना पुराना उद्देश्य खो दिया है। राष्ट्रीयता और बडी मशीनो के उद्योगवाद ने दुनिया को बदल दिया है। नई आर्थिक परिस्थितियों में ठीक बैठ सकें, तभी पुरानी संस्कृतियों की गुजर है। उनका ऊपरी खोल बच रहा है, असली मानी या तात्पर्य जाते रहे हैं। खुद इस्लाम की जन्मभूमि पश्चिमी एशिया में बडी-बडी तब्दीलियाँ हो रही हैं। चीन और सुदूरपूर्व बराबर उथल-पुथल की हालत में हैं। हिन्दुस्तान में हम खुद देख रहे हैं कि क्या हो रहा है।

पश्चिमी एशिया का हाल लिखे इतने दिन हो गये कि अब किस्से के तार को पकड़ना मुशकिल-सा हो रहा है। तुम्हे याद होगा कि मैंने बगदाद के महान् अरब साम्राज्य का हाल बताया था, कि किस तरह तुर्कों के (ये तुर्क सेलजूक तुर्क थे, उस्मानी नहीं) मुकाबिले में यह साम्राज्य गिरा और अन्त में चंगेजख़ाँ के मंगोलों ने इसे बिल्कुल बरबाद कर दिया। मंगोलों ने ख्वार्जम के साम्राज्य का भी ख़ात्मा कर दिया, जो मध्य-एशिया तक फैला हुआ था और जिसमें फारस भी शामिल था। इसके बाद तैमूरलंग आया और थोडी-सी फौजी नामवरी और कत्लेआम के जमाने के बाद ग़ायब हो गया। लेकिन पश्चिम की तरफ़ एक नया साम्राज्य उदय हो रहा था, जो कि तैमूर की हार के बावजूद फैलता जारहा था। यह साम्राज्य उस्मानी तुर्कों का था, जिन्होने फारस के पश्चिम में एशिया, मिस्र और दक्षिण-पूर्वी योरप के ख़ासे हिस्से पर क़ब्ज़ा जमा लिया था। कई पुश्तों तक इनसे योरप को डर लगता रहा

और वहाँके धार्मिक और अन्धविश्वासी लोगो को, जिन्होने मध्ययुग से बाहर झाँकना शुरू ही किया था, ये तुर्क गुनहगारों को सजा देने के लिए "खुदा के क़हर" मालूम दिये ।

उस्मानी शासन के मातहत पश्चिमी एशिया इतिहास से गायब-सा हो गया है। दुनिया की मुख्य जीवन-धारा से यह कटकर एक सडी खत्ती की तरह हो गया। कई सदियो तक, नि:सन्देह हजारो वर्षो तक, यह योरप और एशिया के बीच राज-मार्ग बना हुआ था और एक महादेश से दूसरे को माल ले जानेवाले बेशुमार काफलों ने इस हिस्से के शहरो और रेगिस्तानो को पार किया था। पर तुर्को ने तिजारत को बढ़ावा न दिया। अगर वे देना भी चाहते तो एक नई घटना के सामने लाचार थे। यह घटना थी योरप और एशिया के बीच समुद्री रास्ते की तरक्की। समुद्र अब नया राज-मार्ग बन गया और जहाजों ने रेगिस्तान के ऊँटों की जगह ले ली। इस तब्दीली के कारण दुनिया में पश्चिमी एशिया का बहुत-कुछ महत्व घट गया। वह अब एकान्त की जिन्दगी बिताने लगा। उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में स्वेज की नहर के खुल जाने से समुद्री रास्ता और भी महत्वपूर्ण होगया। यह नहर पूर्व और पश्चिम के बीच, इन दोनो को एक-दूसरे के ज्यादा करीब लानेवाला सबसे बड़ा राजमार्ग बन गई।

अब बीसवी सदी में हमारे देखते-ही-देखते एक और महान् परिवर्तन हो रहा है। जल और थल के रास्तो की पुरानी लागडॉट में अब जमीन का रास्ता फिर जीत रहा है और समुद्री रास्ते की जगह ले रहा है। मोटरो के निकल जाने से बड़ा फर्क पड़ गया है, जिसमें हवाई जहाजो ने भी खूब मदद की है। तिजारत के पुराने रास्ते, जो इतने दिनों से खाली पडे थे, अब फिर आमदरफ़्त से भर रहे हैं। हाँ, फुर्सत-पसन्द ऊँटो की जगह, अब रेगिस्तान में मोटरो की दौड़ है और सिर पर हवाई जहाजो की उड़ान हो रही है।

उस्मानी साम्राज्य नें तीन महादेशों—एशिया, अफ़रीका और योरप—को मिला दिया था। पर उन्नीसवी सदी के बहुत पहले से ही यह साम्राज्य कमजोर पड़ गया था, और इसी सदी के लोगो ने इसे तीन-तेरह होते भी देख लिया। इसका नाम कहाँ तो 'खुदा का कहर' था, कहाँ अब 'योरप का मरीज' हो गया। १९१४–१८ के महायुद्ध ने इसका खात्मा ही कर दिया। और इसकी खाक से नवीन तुर्की तैयार हुआ है: स्वावलम्बी, बलवान और उन्नतिशील। इसके अलावा और भी कई रियासते बनी हैं।

मैंने ऊपर पश्चिमी एशिया को 'योरप की तरफ एशिया का झरोखा' कहा है।

यह भूमध्यसागर से घिरा हुआ है, जिसने एशिया, योरप और अफ़रीक़ा को एक-दूसरे से अलग भी किया है और जोड़ा भी है। पुराने जमाने में तो यह जोड़नेवाली कड़ी बहुत मजबूत थी। भूमध्यसागर के किनारे के देशो में बहुत-सी बाते एक-सी थीं। इसीके आसपास योरप की सभ्यता शुरू हुई थी। पुराने यूनान देश ने इन्ही तीनों महा-देशों के किनारे के टापुओ की कतार में उपनिवेश बसाये थे। रोमन साम्राज्य इसी-के इर्द-गिर्द फैला था। इसी इलाके में ईसाइयत का बचपन गुजरा है; अरब लोग भी अपनी तहज़ीब को सिसली के पूर्वी किनारे से शुरू करके पश्चिम में ठेठ स्पेन तक लेगये है और वहाँ ७०० वर्ष तक बने रहे हैं।

अब हमें मालूम होगया कि भूमध्यसागर के तटवाले एशिया के देशो का दक्षिणी योरप और उत्तरी अफरीक़ा से कैसा गहरा सम्बन्ध है। पश्चिमी एशिया पुराने जमाने में एशिया और दूसरे दोनो महादेशों के बीच जबरदस्त कड़ी की तरह था। हाँ, इस तरह की कड़ियो की अगर तलाश की जाय तो तमाम दुनिया में मिल जायँगी। पर संकुचित राष्ट्रीयता के कारण हम संसार की एकता और देशो के सामान्य हितो की जगह अलग-अलग देशो का ज्यादा ख़याल करने लगे हैं।

: १२३ :

पीछे की तरफ़ एक नज़र

१९ जनवरी, १९३३

हाल ही में मैने दो किताबें पढ़ी है, जिससे मुझे बड़ी खुशी हुई है। मै चाहता हूँ कि इन किताबों में तुम्हे भी शरीक करलूं। ये दोनों एक फ्रांसीसी और पेरिस के 'म्यूज़ी गाइमे' के सचालक रेने ग्राउजे की लिखी हुई हैं। क्या तुमने कभी इस पूर्वी और खासकर बौद्धकला के ख़ुशनुमा अजायबघर की सैर की है। मुझे याद नही पड़ता कि तुम मेरे साथ वहाँ गई थीं। श्री ग्राउजे ने चार जिल्दो में पूर्वी यानी एशियाई सभ्यता का सिंहावलोकन लिखा है और हिन्दुस्तान, मध्यपूर्व (यानी पश्चिमी एशिया और फारस), चीन और जापान की सभ्यताओ का बयान एक-एक जिल्द में अलग-अलग किया है। कला में दिलचस्पी होने के कारण उन्होंने इस किताब को विभिन्न कलाओ के विकास के दृष्टिकोण से लिखा है और सुन्दर तस्वीरे भी बडी तादाद में दी हैं। इस तरह इतिहास सीखना, बादशाहो के लड़ाई-झगडों और साजिशो के हाल पढ़ने से, कहीं बेहतर और दिलचस्प है।

मैंने श्री ग्राउजे की सिर्फ़ दो जिल्दें पढ़ी हैं, जिनमें हिन्दुस्तान और मध्यपूर्व का

हाल है। इनसे मुझे बडी खुशी हुई है। खूबसूरत इमारतो और बढ़िया मूर्त्तियो की तस्वीरे और खुदाई व पच्चीकारी के नमूने मुझे देहरादून-जेल से निकालकर दूर-दूर के मुल्कों और पुराने गुजरे हुए जमाने में लेगये हैं।

बहुत दिन हुए, मैंने तुम्हे उत्तर-पश्चिम हिन्दुस्तान में सिन्ध की घाटी के मोहेंनजोदारो और हरप्पा का हाल लिखा था, जो ५०००. वर्ष पुरानी सभ्यता के खण्डहर है। उस पुराने जमाने में जब मोहेनजोदारो फूलता-फलता था और वहाँ लोगो की चहल-पहल, खेल-तमाशे हुआ करते थे, तब सभ्यता के और भी बहुत-से केन्द्र थे। हमारी जानकारी बहुत थोडी है। एशिया और मिस्र के भिन्न-भिन्न हिस्सो में जो थोडे-बहुत खण्डहर मिले है, उनतक ही यह महदूद है। अगर जगह-जगह गहरी और दूरतक खुदाई का काम हो तो ऐसे और भी खण्डहर मिल सकते हैं। लेकिन अब हम जानते है कि मिस्र में नील की घाटी, कैल्डिया (मैसोपोटामिया) जहाँ एलम की रियासत की राजधानी सूसा थी, पूर्वी फारस के पर्सीपोलिस, मध्य-एशिया के तुर्किस्तान में और चीन की ह्वांग-हो या पीली नदी के किनारो पर उन दिनो एक ऊँचे दर्जे की सभ्यता फैली हुई थी।

यह वही जमाना था जब कि ताँबा इस्तेमाल में आने लगा था और चिकने पत्थर का वक्त खत्म हो रहा था। ऐसा मालूम होता है कि चीन से लगाकर मिस्र तक के तमाम देश इसी अवस्था से गुजर रहे थे। ताज्जुब तो यह है कि ऐसे सबूत मिल रहे है कि एक ही सभ्यता एशियाभर में फैली हुई थी, जिनसे जाहिर होता है कि सभ्यता के ये विभिन्न केन्द्र पृथक् या विच्छिन्न नहीं थे बलिक एक-दूसरे से जुडे हुए थे। खेती फूलती-फलती थी, मवेशी पाले जाते थे और कुछ तिजारत भी होती थी। लिखने का हुनर भी निकल गया था। लेकिन चित्र-लिपि अभीतक पढ़ी नहीं जा सकी है। बहुत दूर-दूर जगहों में एक तरह के औजार पाये गये है और कला की चीजो में भी विचित्र समानता है। विचित्र और नक्काशी किये हुए मिट्टी के बर्त्तन व हर तरह के काम और नमूनो के खूबसूरत गुलदान हमारे ध्यान को खींच लेते हैं। ये मिट्टी के बर्तन इतने ज्यादा पाये जाते है कि इस तमाम काल का ही नाम 'नक्काशीदार मिट्टी के बर्त्तनो की सभ्यता' पड़ गया है। उस जमाने में सोने-चाँदी के जेवर, सेलखडी और संगमरमर के बर्त्तन और रुई के कपडे तक बनते थे। मिस्र से सिन्ध नदी की घाटी और चीन तक की सभ्यता के हरेक केन्द्र में कोई-न-कोई खास बात जरूर होती थी और हर जगह की सभ्यता स्वतंत्ररूप से खडी हुई थी, लेकिन फिर भी इन सबके अन्दर एक ही तरह की और मिलती-जुलती सभ्यता का तार पाया जाता था।

इस बात को गुजरे, मोटे तौर से, ५,००० वर्ष हो गये हैं। लेकिन यह साफ जाहिर है कि ऐसी सभ्यता किसी पहली सभ्यता की ही उन्नत शक्ल रही होगी, और इसके बनने में हजारो वर्ष लगे होगे। नील की घाटी और कैल्डिया में इसका पता और भी २,००० वर्ष पहले से लग सकता है। दूसरे केन्द्र भी शायद इतने ही पुराने हैं।

ईसा से ३,००० वर्ष पहले के इस मोहेनजोदारो-काल की, आरम्भिक ताम्रयुग की, दूर तक फैली हुई आम सभ्यता से एशिया की चारो बडी सभ्यतायें निकलीं, फैलीं और अलग-अलग ढंग पर उन्नत हुई। ये चारों मिस्री, इराकी, हिन्दुस्तानी और चीनी सभ्यतायें थीं। इसी पिछले काल में मिस्र के महान् पिरामिड और गीजा का महान् स्फिंक बने। इसके बाद मिस्र में थीबन-युग आया, जब ईसा से २,००० वर्ष पहले और उसके बाद भी थीबन-साम्राज्य फूला-फला और अद्भुत मूर्त्तियाँ बनी और दीवारो पर खुदाई हुई। कला के पुनरुत्थान यानी नये दौर का यह बड़ा जबरदस्त जमाना था। इसी काल के आसपास लक्सर का विशाल मन्दिर बना। तूताखामन एक थीबन बादशाह या फेरो था, जिसका नाम तो हरेक आदमी को मालूम है पर उसके बारे में जानकारी कुछ नही है।

कैल्डिया में संगठित ताकतवर राज्य दो जगहो पर, यानी सुमेर और अक्कद में, बने। कैल्डिया का उर शहर मोहेनजोदारो के ही समय में कला के आला दर्जे के नमूने तैयार कर रहा था। करीब ७०० साल तक सिरताज बने रहने के बाद उर गिरा दिया गया। अब बैबीलन के लोगो ने, जो सेमेटिक (यानी अरबों या यहूदियो के समान) खून के थे, सीरिया से आकर नई हुकूमत कायम की। इस नये साम्राज्य का केन्द्र अब बैबीलन का शहर हो गया, जिसका हवाला बाइबिल में बार-बार आता है। इस जमाने में भी साहित्य का पुनरुत्थान हुआ और महाकाव्य बने और गाये गये। अन्दाज किया जाता है कि इन महाकाव्यो में दुनिया के बनने और कयामत के तूफान के किस्से थे, जिनके ऊपर बाइबिल के शुरू के अध्याय लिखे गये है।

बैबीलन का भी पतन हुआ और उसके कईसौ वर्ष बाद (१,००० वर्ष ईसा से पूर्व और उसके बाद) असीरिया के लोग मैदान में आये और निनेवा को राजधानी बनाकर उन्होने एक नया साम्राज्य कायम किया। ये बडे असाधारण लोग थे—बेहद जालिम और वहशी। इनकी सारी शासन-प्रणाली आतंकवाद पर खडी थी। तमाम मध्य-पूर्व (Middle East) के ऊपर इन्होने खून और तबाही के जोर से साम्राज्य बना रक्खा था। ये लोग उस जमाने के साम्राज्यवादी थे। लेकिन खूंखार जानवरों के समान ये लोग कई बातों में बडे सभ्य भी थे। निनेवा में एक बड़ा पुस्त-

कालय संगठित किया गया था, जिसमें हर किस्म के ज्ञान की किताबें थीं। पर यह बतादूं कि यह पुस्तकालय काग़ज़ी किताबों का नहीं था। उस ज़माने की किताबें पत्थर की सिलो पर लिखी जाती थी। निनेवा के पुराने पुस्तकालय के हज़ारों शिलालेख इस वक़्त लन्दन के ब्रिटिश अजायबघर में मौजूद हैं। कई तो बहुत ही ख़ौफ़नाक हैं। उनमें बादशाह ने बहुत विस्तार के साथ बयान किया है कि दुश्मनों पर कैसे-कैसे ज़ुल्म किये गये और उनसे कैसा मज़ा मिला!

हिन्दुस्तान में मोहेनजोदारो-काल के बाद आर्य लोग आये। अबतक उनके शुरू के दिनो का कोई खण्डहर या मूर्त्ति नही मिली है। हाँ, उनकी सबसे बडी यादगार उनके पुराने ग्रन्थ—वेद वगैरा—है, जिनसे हिन्दुस्तान के मैदान में आनेवाले इन ख़ुशदिल सूरमाओं की तबीयत और दिमाग़ का पता चलता है। ये ग्रन्थ प्रकृति की ज़बरदस्त कविता से भरे हुए हैं। उनके देवता प्रकृति के देवता हैं। यह स्वाभाविक ही था कि जब कला की तरक्की हुई तो प्रकृति के प्रेम ने उसमें महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया। भोपाल के पास साँची के फाटक अबतक पाये जानेवाले सबसे पुराने खण्डहरों में से है। उनका समय आरम्भिक बौद्ध-युग है। इन फाटको के ऊपर जो फूल-पत्ते और जानवरो की शक्लें खुदी हुई हैं उनसे हमें इनके बनानेवाले कारीगरों के प्रकृति-प्रेम और परख का पता लगता है।

इसके बाद उत्तर-पश्चिम की ओर से यूनानी असर आया। यह तो तुम्हे याद होगा कि सिकन्दर के बाद यूनानी साम्राज्य ठेठ भारत की सरहद तक फैल गया था। फिर कुशनवंश का सरहदी साम्राज्य प्रकट हुआ। उसपर भी यूनानियो का प्रभाव था। बुद्ध मूर्त्ति-पूजा के विरोधी थे। वह अपनेआपको देवता नहीं कहते थे, न अपनी पूजा ही कराना चाहते थे। उनका उद्देश्य उन खराबियो से समाज का पिण्ड छुड़ाना था, जो पोपलीला के कारण घुस आई थीं। वह पतितों और दीन-दुःखियों के उद्धार की कोशिश करनेवाले एक सुधारक थे। बनारस के पास सारनाथ अथवा इसीपत्तन में उनका जो प्रथम उपदेश हुआ उसमें उन्होने कहा था कि "मैं अज्ञानियों को ज्ञान से तृप्त करने आया हूँ । जबतक कोई मनुष्य प्राणियो के हित के लिए जान न लड़ा दे, परित्यक्तो को सान्त्वना यानी तसल्ली न दे, तबतक वह पूर्ण नहीं हो सकता।⋯ ⋯ मेरा सिद्धान्त करुणा का सिद्धान्त है। इसी कारण दुनिया में जो लोग ख़ुशहाल हैं, वे मेरे सिद्धान्त को मुश्किल समझते हैं। निर्वाण का रास्ता सबके लिए खुला हुआ है। ब्राह्मण भी उसी तरह स्त्री के गर्भ से पैदा हुआ है जैसे कि चाण्डाल, जिसके लिए उस (ब्राह्मण) ने मोक्ष का द्वार बन्द कर रक्खा है। बांस के झोपडे को कुचल डालनेवाले हाथी के समान तुम भी अपने विकारो को

: १२४ :

ईरान की पुरानी परम्पराओं की दृढ़ता

२० जनवरी, १९३३

आओ, अब फारस की तरफ़ चलें। इसी देश के बारे में कहा जाता है कि इसकी आत्मा भारत में आई और उसको ताजमहल के रूप में उचित शरीर मिला। फारसी कला की परम्परा भी ध्यान देने के क़ाबिल है। यह परम्परा ठेठ असीरियनों के ज़माने से, यानी २,००० वर्ष से भी अधिक समय तक, डटी रही है। राज्य और राज्य-वंश बदले है, धर्म में तब्दीलियाँ हुई है, देश पर विदेशी हुकूमत भी रही है, और स्वदेशी भी, इस्लाम ने भी आकर ख़ूब इन्कलाब किया है, लेकिन यह परम्परा बनी रही है। हाँ, सदियो के अन्दर इसमें परिवर्तन और विकास भी हुआ है। परम्परा के इस प्रकार बने रहने के कारण फ़ारसी कलाका फारस की जमीन और दृश्यो के साथ सम्बन्ध होना बताया जाता है।

इस ख़त के शुरू में मैंने निनेवा के असीरियन साम्राज्य का नाम लिया है। इस साम्राज्य में फारस भी शामिल था। ईसा से पाँच-छः सौ बरस पहले ईरानी लोगों ने, जो कि आर्य होते थे, निनेवा पर कब्ज़ा करके असीरियन साम्राज्य का ख़ात्मा कर दिया। फिर इन फारसी आर्यो ने सिन्ध नदी के किनारे से लेकर ठेठ मिस्र तक एक विशाल साम्राज्य कायम किया। पुरानी दुनिया पर वे हावी थे। यूनानी इतिहास में उनके बादशाहो के लिए 'शहंशाह आज़म' शब्द इस्तेमाल किया गया है। इन बडे शहंशाहों में से कुछ के नाम साइरस (सीरा), डेरियस (दारा) और ज़ेरक्सीज़ है। तुम्हे याद होगा कि दारा और ज़ेरक्सीज़ ने यूनान को जीतने की कोशिश की और शिकस्त खाई। यह ख़ानदान एकेमेनीद ख़ानदान कहलाता था। इसका राज्य २२० वर्ष तक रहा और अखीर में मक़दूनिया के सिकन्दर महान् ने इसका ख़ात्मा कर दिया।

असीरिया और बैबीलोन कालों के बाद फारसवालों के आने से जनता को वडी राहत मिली होगी। ये स्वामी बडे सभ्य और सहिष्णु थे। भिन्न-भिन्न धर्मों और सभ्यताओं को इन्होंने पनपने दिया। इनके विशाल साम्राज्य का इन्तज़ाम बहुत बढ़िया था। आमदरफ्त की सहूलियत के लिए उम्दा सड़कों का तमाम देश पर जाल-सा बिछा हुआ था। इन फारसी आर्यो का हिन्दुस्तान में आनेवाले भारतीय आर्यों से निकट का सम्बन्ध था। इनका धर्म, ज़ोरोस्टर अथवा ज़रथुस्त का धर्म, आरम्भिक वैदिक धर्म से मिलता-जुलता था। ऐसा लगता है कि दोनों की जन्मभूमि आर्यों के आदिम वासस्थान में एक ही रही होगी, चाहे वह कहीं भी हो।

एकेमेनीद बादशाह इमारते बनवानें के बडे शौकीन थे। अपनी राजधानी पर्सी पोलिस में उन्होने मन्दिर तो नहीं पर विशाल महल बनवाये थे, जिनमें खम्भों पर खडे हुए बडे-बडे हाल होते थे। इन ज़बरदस्त इमारतों का थोड़ा-बहुत ख़याल अबतक बचे हुए खण्डहरों से किया जा सकता है। ऐसा जान पड़ता है कि एकेमेनीदी कला का सम्बन्ध अशोक वगैरा मौर्यों की कला के साथ रहा होगा और उसपर उसका प्रभाव भी पड़ा होगा।

सिकन्दर ने दारा महान् को हराकर एकेमेनीद खानदान का खातमा कर दिया। उसके बाद सिकन्दर के पुराने सिपहसालार सेल्यूकस और उसके वारिसो के मातहत कुछ दिनो तक यूनानियो का राज रहा। बहुत ज़माने तक यूनानी प्रभाववाली अर्द्ध-विदेशी हुकूमत भी रही। इसी काल के बादशाह हिन्दुस्तान की सीमा पर बैठे हुए कुशान लोग थे, जिनका साम्राज्य दक्षिण में बनारस तक और उत्तर में मध्यएशिया तक फैल रहा था। उनपर यूनानियों का असर था। हिन्दुस्तान के पश्चिम का तमाम एशिया सिकन्दर से लेकर ईसा की तीसरी सदी तक, यानी पाँच सौ वर्ष से भी ज्यादा ज़माने तक, यूनानियों के असर में रहा। यह असर ज्यादातर कला-सम्बन्धी था। इसने फारस के धर्म में दख़ल न दिया और वहाँ ज़रथुस्त्र धर्म ही चलता रहा।

तीसरी सदी में फ़ारस में एक राष्ट्रीय जागृति हुई और एक नया खानदान तख़्त पर बैठा। इस खानदान का नाम सासानीद या सासानी था। ये लोग उग्र राष्ट्रवादी थे और पुराने एकेमेनीदों के वंशज होने का दावा करते थे। जैसा अक्सर उग्र राष्ट्रवाद का क़ायदा होता है, यह वंश भी बहुत तंगदिल और मुतास्सिब था। इसका कारण यह था कि यह पश्चिम में कुस्तुन्तुनिया वाले बिजैण्टियन और रोम के साम्राज्यों और पूर्व में चढ़े चले आनेवाले तुर्की कबीलो के बीच में फँसा हुआ था। फिर भी यह खानदान ४०० वर्ष से ज्यादा यानी बिल्कुल इस्लाम के आने तक चलता ही रहा। सासानियों के राज्य में जरथुस्त्री के पुजारी लोगो की बहुत चलती थी। शासन को चलानेवाले यही लोग थे। किसी भी तरह के विरोध को बर्दाश्त करने के लिए वे बिल्कुल तैयार न थे। कहा जाता है कि इसी ज़माने में उनकी धर्म-पुस्तक अवेस्ता का आखिरी संस्करण भी तैयार हुआ।

इस काल में हिन्दुस्तान में गुप्त साम्राज्य फूल-फल रहा था। यह कुशान और बौद्ध ज़माने के बाद होनेवाली राष्ट्रीय पुनर्जागृति का काल था। साहित्य और कला का पुनरोदय हुआ। कालीदास सरीखे कितने ही बडे-बडे लेखक इसी समय हुए। इस बात की बहुत-सी निशानियाँ है कि फ़ारस की सासानी-कला का संसर्ग भारत की

गुप्त-कला के साथ हुआ था। आज दिन सासानी ज़माने की बहुत ही थोड़ी चित्र-कारियाँ या मूर्त्तियाँ बची है। जो मिली हैं, वे जीवन और गति से परिपूर्ण है। उनमें चित्रित जानवर अजन्ता की खुदी हुई तस्वीरो से मिलते है। मालूम होता है कि सासानी कला का असर ठेठ चीन और गोबी रेगिस्तान तक फैला हुआ था।

अपने लम्बे राज्यकाल के आखिरी जमाने में सासानी लोग कमज़ोर पड़ गये और फारस का रंग-ढग बिगड़ गया। बिजैण्टियन साम्राज्य के साथ बहुत अरसे तक लड़ाई-झगडे होते रहे; यहाँतक कि दोनो ही बिल्कुल थक गये। अब अपने नये मजहब के जोश से भरी हुई अरबी फौजो के लिए फ़ारस को जीत लेना मुश्किल न हुआ। सातवीं सदी के मध्य में, पैगम्बर मुहम्मद की मृत्यु के १० ही वर्षो के अन्दर, फ़ारस खलीफा की हुकूमत में आ गया। जैसे-जैसे अरब फ़ौजें मध्य-एशिया और उत्तर-अफरीका की तरफ बढ़ती गईं, वे अपने साथ न सिर्फ एक नया मजहब ही बल्कि एक नई और बढ़ती हुई सभ्यता भी लेती गईं। सीरिया, मेसोपोटामिया, मिस्र सब अरबी सभ्यता में डूब गये। अरबी ज़बान उनकी जबान होगई। यहाँतक कि उनके खून में भी अरबी बीज आगये। बगदाद, काहिरा और दमिश्क अरबी सभ्यता के ख़ास केन्द्र हो गये। इस नई सभ्यता के प्रभाव में बहुत-सी अच्छी-अच्छी इमारतें भी बनीं। आजतक भी ये देश अरबी देश बने हुए है। गो एक-दूसरे से इतने जुदा है, फिर भी इत्तहाद यानी एकता के ख्वाब देख रहे है।

इसी तरह अरबो ने फारस को भी जीता, पर मिस्र या सीरिया के समान वे इस देश को हज़म न कर सके; यहाँ के लोगों को मिला न सके। पुराने आर्य खून की ईरानी जाति सेमेटिक अरबों से बहुत जुदा थी। उसकी भाषा भी आर्य भाषा थी। इसलिए जाति जुदा रही और ज़बान की भी तरक्की होती रही। तेजी से फैलनेवाले इस्लाम नें जरथुस्त्र धर्म की जगह लेली। आख़िर जरथुस्त्र मजहब को हिन्दुस्तान में आकर शरण लेनी पडी। लेकिन फारसवालों नें इस्लाम को भी अपने ही रंग में मंजूर किया। भेद पड़ जाने से इस्लाम में दो फिरके हो गये—शिया और सुन्नी। फारस मुख्यतः एक शिया मुल्क हो गया और अभीतक है। बाकी इस्लामी दुनिया सुन्नी बनी रही।

हालांकि अरबी दुनिया फारस को हज़म न कर सकी, तो भी अरबी सभ्यता का उसपर ज़बरदस्त असर पड़ा। वहाँ भी, हिन्दुस्तान की तरह, इस्लाम ने कला-कारीगरी को एक नई ज़िन्दगी दी। फारसी कसौटी का भी अरब की सभ्यता और कला पर ऐसा ही असर पड़ा। सीधे-सादे रेगिस्तानी जीव अरबों के घरों में फारस के ऐशोइशरत घुस आये और अरब के ख़लीफ़ा का दरबार भी दूसरे शाही दरबारों

की तरह सजावटवाला और शानदार हो गया। बगदाद का शाहाना शहर दुनिया का सबसे बड़ा शहर बन गया। इसके उत्तर में दजला नदी के किनारे समारा में खलीफाओ ने अपने वास्ते एक बडी भारी मस्जिद और महल बनवाये जिनके खंडहर अभीतक मौजूद है। मस्जिद में बडे-बडे कमरे और फव्वारेदार आँगन थे। महल समकोण चतुर्भुज की शक्ल में था, जिसकी लम्बाई एक किलोमीटर यानी १,१०० गज से भी ज्यादा थी।

नवीं सदी में बगदाद का साम्राज्य बिगड़कर छोटी-छोटी कई रियासतों में बिखर गया। फ़ारस आजाद हो गया। पूर्व की तरफ तुर्की कबीलो ने बहुत-सी रियासतें खडी करलीं और अखीर में खुद फारस पर कब्जा करके वे बगदाद के नाम-मात्र के खलीफा पर भी हावी होगये। ग्यारहवीं सदी के शुरू में महमूद गजनवी का उदय हुआ, जिसने हिन्दुस्तान पर हमला किया, खलीफ़ा को दहला दिया और कुछ दिनों के लिए एक साम्राज्य भी कायम कर लिया, जिसको सेलजूक नामी एक दूसरे तुर्की क़बीले ने खत्म कर दिया। बहुत अरसे तक ये सेलजूक लोग ईसाई जिहादियो से लड़ते रहे और इन्हें कामयाबी भी मिली। इनका साम्राज्य डेढ़सौ वर्ष चला। बारहवीं सदी के अखीर में एक नये तुर्की कबीले ने सेलजूको को फारस से निकाल बाहर किया और ख़ारज़म या खीवा की सल्तनत क़ायम करली। लेकिन इसकी जिन्दगी भी थोडी ही रही। ख़ारजम के शाही एलची की बदतमीजी से बौखलाया हुआ चंगेजखाँ अपने मगोलो को लेकर चढ़ आया, और मुल्क और रिआया को तहस-नहस कर गया।

इस छोटे-से पैराग्राफ में मैंने तुम्हे कई तब्दीलियो और कई सल्तनतो का हाल बता दिया है। तुम भी खूब चकरा गई होगी। मैंने इन खान्दानो और कौमों की गर्दिश का ज़िक्र तुम्हारे दिमाग को थकाने के लिए नहीं किया है, बल्कि यह दिखाने के लिए किया है कि किस तरह इन सबके बावजूद फ़ारस की जिन्दगी और कला-कारीगरी बरकरार रही। पूर्व से एक के बाद एक तुर्की कबीले आये और बुखारा से इराक तक फैली हुई मिली-जुली फारसी-अरबी सभ्यता के आगे सिर झुकाते गये। एशियामाइनर को तो उन्होने अपने वतन तुर्किस्तान के मानिन्द ही बना लिया। मगर फारस के इर्द-गिर्द पुरानी सभ्यता का ऐसा जोर था कि इन तुर्कों को उसे मजूर करना पड़ा और खुद को उसके मुताबिक़ ढालना पड़ा। हुकूमत करनेवाले इन सभी तुर्की ख़ानदानो के जमाने में फारस के साहित्य और कला की तरक़्क़ी हुई। मेरा खयाल है कि मैं तुम्हे फ़ारसी शायर फिरदौसी का हाल कह चुका हूँ, जो सुल्तान महमूद गजनवी के जमाने में हुआ था। महमूद के अनुरोध से उसने फारस का

राष्ट्रीय महाकाव्य शाहनामा लिखा। इस किताब के वर्णन इस्लामी जमाने से पहले के हैं और इसका नायक रुस्तम है। इससे जाहिर होता है कि राष्ट्रीय और परम्परागत भूतकाल के साथ फ़ारस के साहित्य और कला का कैसा गहरा और अटूट सम्बन्ध हो गया था। फारसी चित्रकला और छोटे चित्रों के ज्यादातर मजमून शाहनामे की कहानियो से लिये गये है।

जिस जमाने में फिरदौसी हुआ, सन् का नम्बर सैकडे से हजार में बदला; यानी फिरदौसी ९३२ ई० में पैदा हुआ और १०२१ ई० में मरा। उसके बाद ही उमर खय्याम का नाम आता है, जो फारसी और अंग्रेजी दोनों में एक-सा मशहूर है। यह फ़ारस में नैशापुर का रहनेवाला एक नजूमी-शायर यानी ज्योतिषी कवि था। उमर ख़य्याम के बाद शीराज का शेख सादी हुआ। यह फारस के सबसे बडे कवियो में से एक था। इसीकी गुलिस्तां और बोस्तां को हिन्दुस्तान के मकतबों में लड़के पीढ़ियों से रटते आरहे है।

मैंने सिर्फ कुछ मशहूर नाम दे दिये है। लम्बी फेहरिस्त गिनाने की मेरी मंशा नहीं है; लेकिन मै यह समझाना चाहता हूँ कि फ़ारस से लेकर मध्यएशिया के ट्रांस-एक्जियाना यानी अक्षु नदी के पार तक फ़ारसी कला और संस्कृति का दीपक इन तमाम सदियोंभर बराबर जलता रहा। अक्षु-पार (ट्रांसएक्जियाना) के बडे शहर बलख और बुखारा साहित्य और कला के केन्द्र होगये और इस विषय में फारस के शहरों के रक़ीब बन गये। बुखारा में ही दसवीं सदी के अखीर में मशहूर अरबी दार्शनिक इब्नसिना हुआ था। २०० वर्ष बाद बलख में जलालुद्दीन रूमी नाम का एक और कवि हुआ। यह बड़ा भारी रहस्यवादी हुआ है और इसीने नाचनेवाले दरवेशों का पंथ चलाया था।

इस तरह लड़ाई-झगडो और राजनैतिक परिवर्त्तनों के बावजूद, अरबी-फारसी कला और संस्कृति जिन्दा बनी रही और शिल्पकला, चित्रकला और साहित्य के श्रेष्ठ नमूने पैदा करती रही। उसके बाद तबाही आई। तेरहवीं सदी में (१२२० ई० के करीब) चंगेजखाँ सफाई करता हुआ आ पहुँचा और खारजम और ईरान को बरबाद कर गया। कुछ साल बाद हलाकूखां बगदाद का खात्मा कर गया, और सदियों से श्रेष्ठ संस्कृति के जो नमूने जमा थे वे सब नष्ट हो गये। किसी पिछले खत में मैंने बताया था कि किस तरह मंगोलो ने मध्य-एशिया को बियाबान में तब्दील कर दिया, किस तरह वहांके आलीशान शहर खाली हो गये और किस तरह वहाँ जीवित मनुष्यों का नाम तक न रहा।

मध्य-एशिया की इस तबाही का जख्म फिर कभी पूरी तौर से न भर पाया।

ताज्जुब तो यही है कि जितना भी भरा, वह कैसे भरा ! तुम्हे याद होगा कि चंगेजखाँ के मरने के बाद उसका विशाल साम्राज्य टुकडे-टुकडे होगया था। फारस और आसपास का जितना हिस्सा इस साम्राज्य में था, वह हलाकूखां ने लेलिया। बरबादी और तबाही का पूरा खेल खत्म करके हलाकू एक शान्त और सहनशील हाकिम बन गया और इलखान राजवंश का बानी हुआ। ये इलखान कुछ अरसे तक तो मंगोलों का पुराना आकाश-धर्म ही मानते रहे, बाद में मुसलमान बन गये। इस्लाम को इख्तियार करने के पहले और बाद में भी, वे दूसरे मजहबो के प्रति पूरी तरह उदार थे। उनके भाईबन्द यानी चीन का खान-आजम और उसके खानदानवाले बौद्ध-धर्म को मानते थे। इनके साथ इलखानो के ताल्लुकात बिल्कुल हेल-मेल के थे। यहाँतक कि उनकी दुलहिने भी ठेठ चीन से भेजी जाती थीं।

फारस और चीन के मंगोलो की इन दोनों शाखाओ के बीच इस तरह के संसर्ग का कला पर काफी असर पड़ा। चीनी असर फारस में आ पहुँचा और वहाँकी चित्रकला में अरबी, फारसी और चीनी प्रभावों का एक अजीब मेल दिखाई देता है। लेकिन फिर भी, तमाम मुसीबतो के बावजूद, फारसी विशेषताओ की ही विजय हुई। चौदहवीं सदी के मध्य में फारस ने एक और बड़ा कवि पैदा किया। यह था हाफिज, जो आजतक हिन्दुस्तान में भी माना जाता है।

मंगोल इलखानो का खानदान ज्यादा दिन न चला। उनके रहे-सहे निशानो को अक्षु-पार (ट्रांसएक्जियाना) के समरकन्द के तैमूर ने नेस्तनाबूद कर दिया। यह खूँखार वहशी भी, जिसका हाल मै तुम्हे लिख चुका हूँ, कला-कौशल का जबरदस्त हामी था और एक विद्वान आदमी माना जाता है। दिल्ली, शीराज, बगदाद और दमिश्क के बडे शहरो को उजाड़ने और लूट के माल से अपनी राजधानी समरकन्द को सजाने में इसका कला-प्रेम रहा होगा। समरकन्द की सबसे हैरतअंगेज और आलीशान इमारत तैमूर का मकबरा 'गोरेअमीर' है। यह मकबरा है भी इसके माकूल ही। इसकी आला बनावट में तैमूर के रौब, ताकत और खूँखारी की कुछ झलक दिखाई पड़ती है।

तैमूर ने जो बडे-बडे देश जीते थे, वे उसके मरने के बाद ढहकर गिर गये; लेकिन किसी कदर छोटी-सी एक रियासत, जिसमे ट्रांसएक्जियाना (अक्षुपार का देश) और फारस भी शामिल थे, उसके वारिसो को मिली। पूरे एकसौ बरस तक, यानी पन्द्रहवीं सदीभर, इन लोगो का, जिन्हे 'तैमूरिया' कहते थे, कब्जा ईरान, बुखारा और हिरात पर रहा। अजीब बात यह है कि एक जालिम विजेता की औलाद ये लोग अपनी उदारता, मनुष्यता और कला-प्रेम के लिए मशहूर हुए। खुद तैमूर

का बेटा शाहरुख़ इनमें सबसे बड़ा हुआ है। उसने अपनी राजधानी हिरात में एक महान् पुस्तकालय कायम किया, जहाँ साहित्य-प्रेमियों के झुण्ड बराबर आते रहे।

कला और साहित्य की तरक़्क़ी के लिए सौ वर्षों का यह तैमूरी काल इतना महत्वपूर्ण है कि इसको 'तैमूरी पुनरुत्थान का काल' कहते हैं। फारसी साहित्य की खूब तरक़्क़ी हुई और बहुत-सी सुन्दर तस्वीरे बनाई गईं। सबसे नामी चित्रकार बैजाद चित्रकारी की एक नई कलम का नेता हुआ है। यह भी एक दिलचस्प बात हुई कि फारसी के साथ-साथ तुर्की साहित्य भी तैमूरी साहित्य-सेवियो की मण्डली में तरक्की करता गया। जरा याद करलो कि इटली के 'रिनैसाँ' का भी यही जमाना था।

तैमूरी लोग तुर्क थे और उन्होने ज्यादातर फारस की सभ्यता को मंजूर कर लिया था। ईरान ने, जिसपर तुर्क और मंगोल कब्जा कर चुके थे, अपने विजेताओ पर अपनी ही सभ्यता की छाप बैठा दी थी। उस वक्त फ़ारसवाले सियासी आज़ादी यानी राजनैतिक स्वाधीनता के लिए लड़ रहे थे। धीरे-धीरे तैमूरी लोग पूर्व की ओर ज्यादा-ज्यादा ढकेल दिये गये, यहाँतक कि वे अक्षु-पार यानी ट्रान्स-एक्जियाना के गिर्द एक छोटी-सी रियासत के अन्दर रह गये। सोलहवी सदी के शुरू में ईरानी राष्ट्रीयता की फ़तह हुई और तैमूरी लोग फ़ारस से निकाल बाहर किये गये। सफावी नाम का एक कौमी खानदान' फ़ारस के तख्त पर बैठा। इसी खानदान के दूसरे बाद-शाह तहमास्प प्रथम ने शेरशाह के डर से हिन्दुस्तान छोड़कर भागे हुए हुमायूँ को पनाह दी थी।

सफावी-युग १५०२ से १७२२ ई० तक यानी दो सौ बरस रहा। इसको फ़ारसी कला का 'सुनहरा जमाना' कहते हैं। राजधानी इस्फहान आलीशान इमारतों से भर गई और कला (खासकर चित्रकारी) का केन्द्र बन गई। शाह अब्बास, जिसने १५८७ से १६२९ ई० तक राज्य किया, इस वंश का मशहूर बादशाह हुआ है और फ़ारस का सबसे बड़ा शासक माना जाता है। उसको एक तरफ़ से उजबेगो ने और दूसरी तरफ से उस्मानी तुर्को ने आ घेरा, पर उसने दोनों को मार भगाया, मजबूत सल्तनत कायम की, पश्चिम की और दूर-दूर की दूसरी रियासतो से ताल्लुकात बढ़ाये और अपनी राजधानी को खूबसूरत बनाने के लिए हरचन्द कोशिशें की। शाह अब्बास ने इस्फहान में जिस तरह शहर के निर्माण की योजना बनाई थी उसे श्रेष्ठ, पवित्रता और पसन्द का ऊँचा नमूना कहा गया है। जो इमारतें बनाई गईं वे न सिर्फ खुद ही सुन्दर और श्रेष्ठ थी, बल्कि उनके समाँ में कुछ ऐसा जादू था कि असर दोबाला हो जाता था। उस जमाने में फ़ारस की सैर करनेवाले यूरोपियन यात्रियों ने इसका बड़ा सुन्दर बयान लिखा है।

फारसी कला के इस सुनहरे युग में शिल्पविद्या, साहित्य, चित्रकारी (दीवारी और कागज़ी दोनों तरह की), ख़ूबसूरत कालीन, चमकदार मिट्टी के बर्तन और संगमर्मर के जड़ाऊ काम यानी प्रत्येक कला की ख़ूब उन्नति हुई। दीवारों पर खुदी और काग़ज़ों पर बनी कुछ छोटी तसवीरों में आश्चर्यजनक लुनाई है। कला राष्ट्रीय सीमा को नहीं जानती और न जानना ही चाहिए। सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों की इस फ़ारसी कला को परिपूर्ण बनाने में कई प्रभावों का हाथ रहा होगा। कहते है, इटली का असर भी दिखाई देता है। पर इन सबके पीछे ईरानी कला की पुरानी परम्परा है, जो २,००० वर्षों से चली आ रही थी। ईरानी सभ्यता का दायरा सिर्फ़ फ़ारस तक ही महदूद न था। वह एक बड़े क्षेत्र में फैली, जिसके पश्चिम में तुर्की और पूर्व में हिन्दुस्तान थे। हिन्दुस्तान के मुग़ल दरबार में फ़ारसी भाषा साहित्य और संस्कृति की भाषा मानी जाती थी। और पश्चिमी एशिया में इसको वही इज्ज़त हासिल थी, जो योरप में फ़्रांसीसी ज़बान को थी। फ़ारसी कला की पुरानी भावना आगरे के ताजमहल में अपनी अमर निशानी छोड़ गई है। इसी तरह इस कला ने कुस्तुनतुनिया तक उस्मानी शिल्प पर असर डाला। वहाँ फारस के इस असर को ज़ाहिर करनेवाली बहुत-सी इमारते बनीं।

फ़ारस के सफावी बहुत-कुछ हिन्दुस्तान के महान् मुगल बादशाहों के समकालिक थे। भारत का पहला मुग़ल बादशाह बाबर समरकन्द के तैमूरी रईसो में से था। जैसे-जैसे फारसियो की ताक़त बढ़ती गई, वे तैमूरियो को हटाते गये। होते-होते अक्षु-पार (ट्रांसएक्ज़ियाना) और अफगानिस्तान के सिर्फ कुछ हिस्से ही तैमूरी शाहज़ादो के हाथ में रह गये। इन फुटकर शाहज़ादो से बाबर को १२ वर्ष की उम्र से ही लड़ना पड़ा था और उसे कामयाबी हासिल हुई। पहले उसने काबुल पर कब्ज़ा किया, फिर हिन्दुस्तान में आया। उस ज़माने की श्रेष्ठ तैमूरी सभ्यता का अनुमान बाबर से लगाया जा सकता है, जिसके 'तुज़ुक' (संस्मरणो) से मैंने कुछ फिक़रे पिछले ख़त में तुम्हे दिये थे। सबसे बड़ा सफावी शाह अब्बास अकबर और जहाँगीर का समकालिक था। इन दोनो मुल्को में बराबर बड़ा गहरा ताल्लुक रहा होगा, और अफगानिस्तान मुगल साम्राज्य का एक हिस्सा था इसलिए बहुत अरसे तक दोनों की सरहद एक ही रही होगी।

: १२५ :

ईरान में साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता

२१ जनवरी, १९३३

तुम्हे मुझसे शिकायत करने का हक है। इतिहास की मुख्तलिफ दहलीजो में कभी आगे और कभी पीछे दौड़कर मैने तुम्हे काफी उत्तेजना दी है। बहुतेरे अलग-अलग रास्तों से उन्नीसवीं सदी तक पहुँचकर मै तुम्हे अचानक कई हजार वर्ष पीछे ले गया हूँ और मिस्र से हिन्दुस्तान, चीन और ईरान के आस-पास चक्कर दिलाता रहा हूँ। इससे तुम्हारी झुंझलाहट और परेशानी जरूर बढ़ी होगी। मुझे ऐसा लगता है कि शायद तुम अपनी नाराजगी जाहिर कर रही हो। इसका मेरे पास कोई अच्छा जवाब भी नहीं है। परन्तु बात यह है कि श्री रेने ग्राउजे की किताबो को पढ़कर मेरे दिमाग में कई विचार-धारायें एकाएक चक्कर काटने लगी। उनमें से कुछ तुम्हे बताये बिना मुझसे रहा न गया। मुझे यह भी लगा कि इन खतो में मैने ईरान की उपेक्षा की और मुझे इस कमी की थोडी-सी पूर्त्ति करने की ख्वाहिश हुई। हम ईरान पर विचार तो कर ही रहे हे। फिर उसके इतिहास को वर्तमान समय तक क्यो न ले आवे ?

मैने तुम्हे ईरान की परम्पराओ, उसकी ऊँचे दर्जे की संस्कृति और कला के सुनहरे जमाने की और इसी तरह की दूसरी बातें बताई है। उन जुमलो पर फिर से विचार करके देखने से मालूम होता है कि हमारी जबान जरा रंगीन और गलत हो गई। इससे कोई यहाँतक सोच सकता है कि सचमुच ईरान के लोगो के लिए सुनहरा जमाना आगया था, उनके दुःख दूर हो गये थे और वे स्वर्ग के सुख भोगने लगे थे। लेकिन, दरअसल ऐसी कोई बात नही हुई थी। उन दिनो संस्कृति और कला पर मुट्ठीभर लोगो का कब्जा था और बहुत हद तक आज भी है। गरीबो और मामूली आदमियो का उनसे कोई वास्ता नहीं था। शुरू से ही आम लोगो की जिन्दगी सदा खाने-पीने और दूसरी जरूरियात के लिए झगड़ने में बीती है। इनकी और हैवानो की जिन्दगी में थोड़ा ही फ़र्क रहा है। उन्हे और किसी बात के लिए वक्त या फुर्सत ही नहीं मिली। दिन-रात यही झंझट उनकी जान के लिए काफी थी। ऐसी हालत में वे तहजीब या हुनर की क्या तो फिक्र करते और क्या कद्र ? ईरान, चीन, हिन्दुस्तान, इटली और योरप के दूसरे देशो में कला की तरक्की हुई, मगर उससे या तो राजा-रईसो का मनोरंजन होता था या अमीर और निठल्ले लोगों का दिल-बहलाव। हाँ, कला के मजहबी रूप-रंग का असर आम लोगों की जिन्दगी पर कुछ-कुछ जरूर पड़ा।

परन्तु किसी राजा के कला-प्रेमी होने का यह मतलब नहीं था कि उसकी हुकूमत भी अच्छी थी। जिन राजाओं को कला और साहित्य के रक्षक होने का फ़ख्र था, वे अक्सर नालायक और ज़ालिम शासक होते थे। उस ज़माने में ईरान में ही क्या, क़रीब-क़रीब सभी देशों में सारी समाज-व्यवस्था ही एक तरह से सामन्तशाही पर कायम थी। ज़ोरदार राजा अपने सामन्तों की छोटी-मोटी लूट-खसोट बन्द करके लोकप्रिय हो जाते थे। किसी वक्त शासन कुछ अच्छा होता था और किसी वक्त बिल्कुल ख़राब।

जिस वक़्त भारत में मुगल राज्य आख़िरी साँस ले रहा था, ठीक उसी वक्त, यानी सन् १७२५ ई० के आसपास, सफावी ख़ान्दान का ख़ात्मा हुआ। औरों की तरह इस ख़ानदान का खेल भी ख़त्म हो चुका था। सामन्त-प्रथा धीरे-धीरे टूट रही थी। देश में भारी तब्दीलियाँ हो रही थीं और पुरानी व्यवस्था उलट चुकी थी; टैक्स के भारी बोझ ने और भी बुरी हालत करदी और जनता में असन्तोष फैल गया। अफ़गान लोग सफवियों के मातहत थे। उन्होंने बगावत करदी। वे न सिर्फ़ अपने मुल्क में ही कामयाब हुए, बल्कि इसफ़हान पर क़ब्ज़ा करके उन्होंने शाह को भी गद्दी से उतार दिया। इस तरह सफवियों का अन्त हुआ। परन्तु थोड़े दिनों बाद ही नादिरशाह नामक ईरानी सरदार ने अफ़गानों को निकाल बाहर किया और फिर ख़ुद ही राजा बन बैठा। इसी नादिरशाह ने कमज़ोर मुगलों के आख़िरी दिनों में हिन्दुस्तान पर हमला किया था; इसीने दिल्ली वालों को मौत के घाट उतारा था और यही शाहजहाँ का तख़्त-ताऊस और दूसरी बेशुमार दौलत लूटकर ले गया था।

अठारहवीं सदी का ईरानी इतिहास घरेलू लड़ाइयों और बदलते हुए शासन और कुशासन की एक दर्दनाक कहानी है। यूं तो इन राजाओं की बेल-की-बेल ही ख़राब थी, मगर इनमें से एक तो अपनी बेरहमी के कारण इतना बदनाम हो गया था कि उसे 'ख़ून का प्यासा राक्षस' कहा जाता था। मालूम होता है वह सचमुच ऐसा ही था।

उन्नीसवीं सदी के साथ आफ़तें भी नई आईं। योरप के बढ़ते हुए साम्राज्यवाद का दुनिया पर हमला होने लगा। ईरान के साथ भी उसकी टक्कर शुरू हुई। उत्तर में रूस का लगातार दबाव पड़ रहा था और दक्षिण में ईरान की खाड़ी की ओर से अंग्रेज़ बढ़े चले आ रहे थे। ईरान हिन्दुस्तान से दूर न था। दोनों की सरहदें मिलती जा रही थीं और आज तो सचमुच दोनों की सरहद मिली हुई हैं। हिन्दुस्तान के ख़ुश्की रास्तों से तो ईरान सीधा पड़ता ही था, उसके समुद्री रास्ते से भी लगा हुआ था। अंग्रेज़ों की सारी नीति यह थी कि किसी तरह उनका हिन्दुस्तानी साम्राज्य

और उसके सारे रास्ते महफूज रहे। वे यह बात किसी हालत में बर्दाश्त करने को तैयार न थे कि उनका भारी दुश्मन रूस उनका रास्ता रोककर हिन्दुस्तान पर घात लगाये बैठा रहे। इस कारण अंग्रेज और रूसी दोनों के ईरान पर दाँत रहे और दोनों ने मिलकर उस गरीब को भरपेट सताया। वहांके शाह बिल्कुल नालायक और बेवकूफ़ थे। वे कभी उनसे बेमौके भिड़ बैठते या अपनी ही रिआया से लड़ते रहते, और इस तरह सदा रूस और ब्रिटेन के हाथो में खेलते रहते। अगर इन दोनो में लाग-डॉट न होती तो ईरान भी मिस्र की तरह कभी का या तो रूस के कब्जे में चला गया होता या इंग्लैण्ड के हाथ में। इनमें कोई भी या तो उसे अपने राज्य में मिला लेता या उसे अपना मातहत-राज्य बना लेता। उन्नीसवी सदी के बीच में ईरान और रूस में लड़ाई हुई तो रूस को जितनी जरूरत थी, उतना मिल गया। ईरान को इंग्लैण्ड से भी लड़ना पड़ा। इसमें इंग्लैण्ड के जी में आया उतना उसने छीन लिया।

बीसवीं सदी के शुरू में एक और कारण से भी ईरान प्रलोभन की चीज बन गया। वहाँ मिट्टी का तेल या पैट्रोल मिल गया। मोटर के विस्तार के समय से ही तेल की क़ीमत खास तौर पर बढ़ गई थी। बूढ़े शाह को राजी करके ६० वर्ष के लम्बे समय के लिए ईरान के तेल के क्षेत्रो से तेल निकालने का डर्सी नामक अंग्रेज को बहुत रिआयती शर्तो पर सन् १९०१ में ठेका दिलाया गया। कुछ साल बाद इस काम के लिए एंग्लोपर्शियन ऑयल कम्पनी नाम से एक ब्रिटिश कम्पनी बन गई, तबसे यही कम्पनी वहाँ काम कर रही है। इसने तेल के व्यवसाय से खूब मुनाफ़ा कमाया है। मुनाफ़े का थोड़ा-सा हिस्सा ईरानी सरकार को मिलता है, लेकिन उसका ज्यादा हिस्सा देश के बाहर कम्पनी के हिस्सेदारो की जेब में ही जाता है। बडे-से-बडे हिस्सेदारो में से एक ब्रिटिश सरकार है। ईरान की वर्तमान सरकार बडी राष्ट्रवादी है। उसे इस बात पर बड़ा एतराज है कि विदेशी ईरान से नाजायज फ़ायदा उठायें। उसने अभी दो-तीन महीने पहले, १९०१ में, डर्सी के साथ किया हुआ साठ वर्षवाला वह इकरारनामा रद कर लिया है जिसके मुताबिक एंग्लो-पर्शियन ऑयल कम्पनी काम कर रही थी। उसका कहना था कि वे शर्तें ईरान के लिए अन्यायपूर्ण थीं और बूढ़े शाह को इस तरह देश की दौलत अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझकर लुटा देने का कोई हक न था। ब्रिटिश सरकार इसपर बडी झल्लाई। उसने ईरान की सरकार को धमकियाँ देकर दबाना चाहा। लेकिन वह भूल गई कि वक़्त बदल गया है और अब एशिया वालों पर रौब गाँठना उतना आसान नही है। यह झगड़ा फैसले के लिए राष्ट्र-संघ के पास गया है।

मगर मैं तो आगे की बातें करने लग गया। जब साम्राज्यवाद ईरान के लिए खतरा बनने लगा और शाह का दिन-दिन अस्त होता चला गया तो राष्ट्रीयता की अपनेआप बढ़ती होने लगी। एक राष्ट्रीय दल कायम हुआ। इस दल ने विदेशी दस्तन्दाजी की मुखालफत की और शाह की निरंकुशता पर भी उतने ही जोर से एतराज किया। उन्होंने लोकसत्तात्मक (जम्हूरी) विधान और आजकल के सुधारों की माँग की। देश में कुशासन था। टैक्सों की भरमार थी। रूसी और अंग्रेज बराबर दखल दे रहे थे। दकियानूसी शाह को इन विदेशी सरकारों से ज्यादा चैन मालूम होता था। उसकी रिआया आजादी माँग रही थी। वह उसे बुरी लगती थी। लोकसत्तात्मक विधान की यह माँग खास तौरपर नये मध्यमवर्ग के और पढ़े-लिखे लोग कर रहे थे। सन् १९०४ ई० में जापान की जारशाही रूस पर फतह हुई। इसका ईरानी राष्ट्रवादियों पर असर हुआ और उन्हें उत्तेजना मिली। इसके दो कारण थे। एक तो यह एक यूरोपियन कौम पर एशियाई देश की फतह थी। दूसरे जारशाही रूस ईरान के लिए एक तकलीफदेह और जोर-जबरदस्ती करनेवाला पड़ौसी था। १९०५ ई० में रूसी क्रान्ति हुई तो नाकामयाब और उसे दबा भी दिया गया बुरी तरह से, लेकिन उससे ईरानी राष्ट्रवादियों की हिम्मत और कुछ कर गुजरने का हौसला बढ़ गया। शाह पर इतने जोर का दबाव पड़ा कि अनिच्छा होते हुए भी उसे १९०६ में लोकसत्तात्मक विधान जारी करना पड़ा। 'मजलिस' नाम से राष्ट्र-परिषद् स्थापित हुई और ऐसा दिखाई देने लगा कि ईरान की क्रान्ति कामयाब हुई।

परन्तु मुसीबत तो आगे आनेवाली थी। शाह अपनेआपको मिटाना नहीं चाहता था और रूसियों और अंग्रेजों को लोकसत्तात्मक ईरान से प्रेम न था। वह ताकतवर बनकर उन्हें तंग कर सकता था। शाह में और मजलिस में झगड़ा हुआ और शाह ने सचमुच अपनी ही पार्लमेण्ट पर गोलाबारी करदी। मगर फौज और जनता मजलिस और राष्ट्रवादियों के साथ थी। शाह को रूसी फौज की सहायता से जान बचाकर भागना पड़ा। असल में शाह की तो अपनी रिआया के सामने कुछ नहीं चल सकती थी, लेकिन असली खतरा विदेशी सरकारों की तरफ से था। रूस और इंग्लैण्ड किसी-न-किसी बहाने से अपनी प्रजा की हिफ़ाजत का सवाल खड़ा करके अपनी फौज लाकर रख देते थे। ईरानियों को दबाने के लिए रूसियों के खूंखार कज्जाक् सिपाही और इंग्लैण्ड के हिन्दुस्तानी सिपाही मौजूद थे, हालांकि बेचारे ईरानियों से हम हिन्दुस्तानियों का कोई झगड़ा नहीं था।

ईरान बड़ी मुसीबतों में था। उसके पास दौलत नहीं थी और लोगों की हालत ख़राब थी। मजलिस ने सुधार की खूब कोशिश की, लेकिन उसकी ज्यादातर कोशिशें

रूसी और ब्रिटिश मुख़ालफ़त की वजह से नाकामयाब होती रही। आख़िरकार ईरानियों ने अमेरिका से मदद माँगी और एक काबिल अमेरिकन पूँजीपति को अपनी आर्थिक व्यवस्था सुधारने के लिए नियुक्त किया। इसका नाम मार्गन शुस्टर था। इसने खूब मेहनत की, लेकिन इसे सदा रूसी या ब्रिटिश मुख़ालफत की ठोस दीवारों से टक्कर लेनी पड़ती थी। आख़िरकार ग्लानि और निराशा के कारण वह ईरान छोड़कर घर चला गया। बाद में शुस्टर ने एक किताब लिखी और उसमें यह बात लिखी कि रूसी और ब्रिटिश साम्राज्यवाद ईरान की किस तरह जान निकाल रहे हैं। इस किताब का नाम ही ख़ास मतलब रखता और एक कहानी कहता है। वह नाम The Strangling of Persia यानी 'ईरान की फाँसी' है।

ऐसा मालूम होने लगा कि ईरानी राष्ट्र की स्वतन्त्र हस्ती मिटने ही वाली है। इस दिशा में रूस और इंग्लैण्ड पहला कदम उठा चुके थे। उन्होने इसको अपने-अपने 'प्रभाव-क्षेत्रों' में बाँट लिया था। महत्वपूर्ण केन्द्रों पर उनकी फ़ौजो का कब्ज़ा था। ब्रिटिश कम्पनी उसके तेल के खज़ाने से लाभ उठा रही थी। ईरान की हालत पूरी तरह ख़राब थी। अगर कोई विदेशी ताकत सीधा अधिकार कर लेती तो भी इससे अच्छी हालत होती, क्योंकि उसकी जिम्मेदारी होती। खैर; उसके बाद ही सन् १९१४ में महायुद्ध छिड़ गया।

इस लड़ाई में ईरान ने दोनों तरफ़ से अलग रहने का ऐलान किया, मगर कमज़ोरो के ऐलानो का ताकतवरो पर क्या असर होता है? ईरान के अलग रहने की किसीने भी परवा न की। अभागी ईरानी सरकार कुछ भी समझे, विदेशी फौजें आ-आकर उसकी ज़मीन पर आपस में लड़ती रही। ईरान के चारो तरफ़ लड़नेवाले देश थे। एक तरफ़ इंग्लैण्ड और रूस आपस में दोस्त थे। दूसरी तरफ़ तुर्की जर्मनी का साथी था। इराक और अरबस्तान उस वक्त तुर्की के राज्य में थे। १९१८ में महायुद्ध ख़त्म हुआ। इंग्लैण्ड, फ़्रांस और उनके दोस्तों की जीत हुई। उस वक़्त सारे ईरान पर ब्रिटिश फौज का क़ब्ज़ा था। इंग्लैण्ड ईरान पर संरक्षण घोषित करने ही वाला था, जो एक तरह से उसपर क़ब्ज़ा करना ही था। साथ ही भूमध्यसागर से लगाकर बलूचिस्तान और हिन्दुस्तान तक एक विशाल मध्य-पूर्वीय साम्राज्य कायम करने के सपने भी देखे जा रहे थे। मगर ये ख्वाब पूरे नही हुए। ब्रिटेन की बदक़िस्मती से रूस में ज़ारशाही का ख़ातमा हो गया था और उसकी जगह सोवियट प्रणाली क़ायम हो चुकी थी। ब्रिटेन की दूसरी बदकिस्मती यह हुई कि तुर्की में भी उसकी स्कीम कामयाब न हुई और कमालपाशा ने अपने देश को मित्र-राष्ट्रों की दाढ़ों में से बचाकर निकाल लिया।

इन सब घटनाओ से ईरानी देशभक्तो को मदद मिली और, नाम को सही, ईरान की आज़ादी बची रह गई। १९२१ में एक ईरानी सिपाही रिज़ाखाँ एकाएक सामने आया। उसने फ़ौज पर क़ब्ज़ा कर लिया और फिर प्रधानमंत्री बन गया। १९२५ में शाह गद्दी से उतार दिया गया और राष्ट्र-परिषद् की राय से रिज़ाखाँ नया शाह चुन लिया गया। उसने रिज़ाशाह पहलवी का नाम और लक़ब इख़्तियार किया।

रिज़ाशाह शान्त और ज़ाहिरा तौर पर लोकसत्तात्मक उपायों से गद्दी पर पहुँचा है। मजलिस अब भी काम कर रही है और शाह निरकुश शासक होने का दुस्साहस नहीं करता है। मगर यह स्पष्ट है कि वह एक जोरदार आदमी है और ईरानी सरकार में उसकी चलती है। वह एक काबिल आदमी दिखाई देता है और सब-हालात से वह लोकप्रिय भी मालूम होता है। पिछले कुछ वर्षों में ईरान में बडी-बडी तब्दीलियाँ हुई है और रिज़ाशाह कई ऐसे सुधार करने पर तुला हुआ है जिनसे देश नये साँचे में ढल जाय। कौम को फिर से उठाने के ख़याल जोर पकड़ चुके है। इससे देश में नई जान आ गई है और जहाँ कहीं ईरान में विदेशी स्वार्थों का ताल्लुक आता है वहाँ यह कौमियत आक्रमणकारी रूप इख़्तियार कर रही है। इस राष्ट्रीयता और बढ़ते हुए स्वावलम्बन के कारण ही ईरानी तेल के सम्बन्ध में झगड़ा खड़ा हुआ है।

यह बडी दिलचस्प बात है कि यह कौमी बेदारी ईरान की ठेठ दो हज़ार वर्ष पहले की परम्परा के अनुकूल ढंग से हो रही है। उसकी नजर इस्लाम से पहले के पुराने ईरानी गौरव पर लगी है और उसीसे प्रेरणा भी मिल रही है। रिज़ाशाह ने अपने वंश के लिए जो 'पहलवी' नाम रक्खा है वह भी उस पुराने ज़माने की याद दिलाता है। वैसे ईरान के लोग शिया मुसलमान है, मगर जहाँतक उनके देश का सवाल है वहाँतक ज्यादा बडी ताकत कौमियत की है। एशियाभर में यही हो रहा है। योरप में ऐसा ही सौ वर्ष पहले यानी उन्नीसवीं सदी में हुआ था। लेकिन आज तो वहां कई लोग राष्ट्रीयता को पुराना धर्म समझने लगे है और वे ऐसे नये धर्मो और विश्वासो की तलाश में है जो मौजूदा हालत के ज्यादा अनुकूल हो।

: १२६ :

क्रान्तियाँ और ख़ासकर १८४८ की योरप की क्रान्ति

२८ जनवरी, १९३३

ईदुल-फ़ित्र

अब हमें फिर योरप पहुँचकर वहांकी उन्नीसवीं सदी की पेचीदा परिस्थिति और सदा बदलती रहनेवाली तसवीर पर एक नज़र और डालनी चाहिए। दो महीने पहले लिखे हुए कुछ ख़तो में हम पहले भी इस सदी का सिंहावलोकन कर चुके हैं और मैंने इसकी कुछ ख़ास-ख़ास बातें भी बताई थी। उस वक्त मैंने जिन 'वादों' का ज़िक्र किया था उन सबके याद रखने की तुमसे उम्मीद नही की जा सकती। फिर-से कहूँ तो उनमें से कुछ ये थे: उद्योगवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, समाजवाद, राष्ट्र-वाद और अन्तर्राष्ट्रीयता। मैंने तुम्हे लोकसत्ता और विज्ञान का हाल भी सुनाया था और आमदरफ्त के तरीकों की कायापलट, आम लोगों की तालीम और उसके अंजाम और आधुनिक अख़बारों का ज़िक्र किया था। उस वक्त की यूरोपियन सभ्यता इन और ऐसी ही दूसरी कितनी ही चीज़ों से बनी थी। यह अमीरों की सभ्यता थी, जिसमें पूंजीवादी प्रणाली के औद्योगिक साधनो पर नये मध्यमवर्ग का अधिकार था। पूंजीवादी योरप की इस संस्कृति को कामयाबी पर कामयाबी मिलती चली गई। यह एक चोटी से दूसरी चोटी पर चढ़ती गई और सदी का ख़ात्मा होते-होते इसने अपनी ताकत का सिक्का सारी दुनिया पर जमा लिया था। इतने ही में मुसीबत आगई।

एशिया में भी हम ज़रा तफ़सील से इस सभ्यता को असली सूरत में देख चुके हैं। अपने बढ़ते हुए उद्योगवाद की प्रेरणा से योरप ने दूर-दूर देशों में अपने हाथ-पैर फैलाये, उन्हे हड़पने, उनपर कब्ज़ा जमाने और आमतौर पर अपने फ़ायदे के लिए उनमें दख़ल देने की कोशिश की। यहाँ योरप से मेरा मतलब ख़ास तौर पर पश्चिमी योरप से है। वहीं उद्योगवाद का ज़ोर था। इन सब पश्चिमी देशों का एक ज़माने तक इंग्लैण्ड एकमात्र नेता रहा। वह औरों से बहुत आगे था और इस अगु-आपन से उसने फ़ायदा भी ख़ूब उठाया।

इंग्लैण्ड और दूसरे पश्चिमी देशों में ये जो बडी तब्दीलियाँ हो रही थीं, वे सदी के शुरू में राजाओं और बादशाहों को दिखाई न पडीं। जो नई ताकतें पैदा हो रही थीं उनके महत्व को उन्होने नहीं समझा। दूसरे जिन लोगों ने समझा वे भी बहुत थोडे थे। नेपोलियन का ख़ात्मा हो जाने के बाद योरप के इन राजाओं को सिर्फ़

अपने बचाव और अपने गिरोह को सदा के लिए महफूज रखने की फिक्र रही। वे दुनिया को मनमानी हुकूमत के लिए महफूज कर लेना चाहते थे। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति और नेपोलियन के जबर्दस्त खौफ का असर अभी उनके दिलों में बाक़ी था और वे कोई नई जोखिम नहीं उठाना चाहते थे। यह तो मैं तुम्हे किसी पिछले खत में बता चुका हूँ कि इन लोगों ने आपस में सुलह कर ली थी। वे चाहते थे कि राजाओ का मनमानी करने का 'दैवी अधिकार' महफूज रहे और जनता सिर न उठा सके। इस काम के लिए, जैसा पहले भी अक्सर हुआ हैं, निरंकुश शासन (मनमानी हुकूमत) और मजहब दोनों मिल बैठे। इन सुलहो में अगुआ था रूस का जार सिकन्दर। उसके देश में उद्योगवाद या नई रोशनी की हवा भी नहीं पहुँच पाई थी और रूस की हालत मध्यकालीन और बहुत पिछडी हुई थी। बडे-बडे शहर बहुत कम थे, तिजारत की बहुत थोडी तरक्की हुई थी और दस्तकारियाँ भा ऊँचे दर्जे की न थीं। मनमानी हुकूमत का दौरदौरा था। दूसरे यूरोपियन मुल्को की हालत और ही थी। ज्यों-ज्यो पश्चिम की तरफ़ बढ़ते त्यों-त्यो मध्यमवर्ग ज्यादा-ज्यादा दिखाई देता था। जैसा मैं तुम्हे बता चुका हूँ, इंग्लैण्ड में मनमानी हुकूमत नहीं थी। राजा पर पार्लमेण्ट दबाव रखती थी, मगर खुद पार्लमेण्ट मुट्ठीभर धनवानो के क़ाबू में थी। रूस के स्वेच्छाचारी बादशाहो और इंग्लैण्ड के इस दौलतमंद शासकवर्ग में बड़ा फर्क था। पर दोनो में एक बात यकसाँ थी। दोनो आम जनता और क्रान्ति से डरते थे।

इस तरह योरपभर में प्रतिक्रिया का बोलबाला था और जिस किसी चीज में उदारता या सुधारकपन की जरा भी झलक दिखाई देती थी वही बुरी तरह दबा दी जाती थी। सन् १९१५ की वियेना-काँग्रेस के फैसले के मुताबिक इटली और पूर्वी योरप की जातियाँ विदेशी हुकूमत के जुए में जोत दी गई थीं। उन्हे जोर-जबर्दस्ती से दबाये रखना पड़ता था। लेकिन इस तरह की बातें बहुत दिन तक नहीं चल सकतीं। आगे-पीछे झगड़ा होता ही है। यह ऐसी ही बात है जैसे उबलती हुई पतीली के ढक्कन को पकडे रखने की कोशिश करना। योरप में भी उबाल आरहा था और बार-बार उसकी गरमी फूट पड़ती थी। मैं तुम्हे किसी पिछले खत में १८३० की बगावतो का जिक्र करते हुए बता चुका हूँ कि उस वक्त योरप में कई तब्दीलियाँ हुई और खास तौर पर फ्रास में तो बूर्बन राजघराने का खात्मा ही होगया। इन बगावतों से राजा, सम्राट और उनके वजीर लोग और भी घबराये और उन्होंने जनता को दबाने में और भी ज्यादा जोर लगा दिया।

मुख्तलिफ मुल्को में लडाइयो और क्रान्तियो से जो बडी तब्दीलियाँ हुई हैं, इन खतो के दौरान में उनका भी अक्सर जिक्र आया है। पुराने जमाने की लड़ाइयाँ

कभी तो मजहबी होती थीं और कभी राजघरानों की। यानी मुख्तलिफ शाही खानदान अपनी बढ़ती और अख्तियार के लिए आपस में लड़ते थे। अक्सर एक कौम दूसरी कौम पर सियासी हमले करती थी। इन सबकी जड़ में आमतौर पर कोई न-कोई आर्थिक कारण भी होता था। इस तरह मध्य-एशियाई जातियो ने योरप और एशिया पर जितने हमले किये उनमें से ज्यादातर हमलों की वजह भूख से तंग आकर पश्चिम की तरफ मुँह करना था। माली तरक्की से भी जातियो या कौमों को ताकत मिलती है और वे दूसरो की बनिस्वत नफ़े में रहती है। मै तुम्हे बता चुका हूँ कि योरप में और दूसरे मुकामों पर भी जिन्हे मजहबी लड़ाई कहा जाता था, उनकी जड़ में भी आर्थिक कारण काम कर रहे थे। जैसे-जैसे हम जमाना हाल की तरफ आते है वैसे-वैसे हम देखते हे कि मजहबी और खान्दानी लड़ाइयाँ बन्द होती जाती है। अलबत्ता सब तरह की लड़ाइयाँ बन्द नही होतीं। बदकिस्मती से उनका जहर तो और बढ़ता जाता है। मगर इनके कारण साफ़ तौर पर राजनैतिक और आर्थिक है। राजनैतिक कारणो का ताल्लुक खासकर कौमियत से है। यह संघर्ष या तो एक राष्ट्र यानी कौम के दूसरे राष्ट्र को दबाने से होता है या दो बढ़ती हुई और जबर्दस्त क़ौमियतो की टक्कर से। यह टक्कर भी ज्यादातर आर्थिक कारणो से यानी, उदाहरण के लिए, उस वक्त होती है जब मौजूदा उद्योगवादी देश कच्चे माल और बाजारों की माँग करते है। इस तरह हम देखते है, लड़ाई में आर्थिक कारणों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है और आज तो दरअसल वे ही सबसे प्रबल कारण है।

क्रान्तियों में भी इसी तरह की तब्दीलियाँ हुई है। शुरू-शुरू में जो क्रान्तियाँ हुईं वे आमतौर पर राजमहलो में हुईं। राजवंशियो में आपस में साजिशें और लड़ाइयाँ होतीं और वे एक-दूसरे को कत्ल कर डालते थे। या कोई रिआया भड़क उठती और जालिम शासक का काम तमाम कर डालती। या कोई मनचला सिपाही फ़ौज की मदद से राजगद्दी पर कब्जा जमा बैठता। इन दरबारी क्रान्तियों में से कई सिर्फ ऊपर-ऊपर होकर रह जातीं। आम लोगो पर न तो इनका कोई खास असर पड़ता और न वे इनकी बहुत परवा करते। राजा बदल जाता, मगर तरीका वही बना रहता और लोगों की जिन्दगी वैसे ही चलती रहती जैसे पहले चलती थी। हाँ, खराब राजा बहुत जुल्म करके असह्य बन सकता था और अच्छे राजा को लोग ज्यादा वक्त तक बर्दाश्त कर सकते थे। मगर राजा अच्छा हो या बुरा, कोरी सियासी तब्दीली से आमतौर पर जनता की सामाजिक और माली हालत में फ़र्क नहीं पड़ता। शासकवर्ग हुकूमत करते रहते है और दूसरे वर्ग जिस नीची हालत में पहले थे वहीं बने रहते है। कोई सामाजिक क्रान्ति नहीं होती।

राष्ट्रीय क्रान्तियो के जरिये ज्यादा बडी तब्दीलियाँ होती है । जब किसी कौम पर दूसरी कौम की हुकूमत होती है तो विदेशी शासकवर्ग के हाथ में सारी सत्ता रहती है । इससे कई तरह के नुकसान होते है । फायदा या तो गुलाम मुल्क पर हुकूमत करने पर ग़ैरमुल्क को होता है, या किसी खास विदेशी गिरोह को । गुलाम मुल्क के स्वाभिमान को तो जबर्दस्त ठेस पहुँचती ही है,- साथ ही विदेशी शासकवर्ग गुलाम मुल्क के ऊँचे दर्जे के लोगो को ताक़त और हुकूमत के उन ओहदो से दूर रखता है जो उन्हे दूसरी हालत में मिल सकते थे । राष्ट्रीय क्रान्ति के कामयाब होने से कम-से-कम इतना तो होता ही है कि विदेशियो का हाथ नहीं रहता और देश के प्रभावशाली लोग तुरन्त उनकी जगह ले लेते है । इस तरह स्वदेशी उच्चवर्ग को तो यह बड़ा फ़ायदा होता है कि विदेशी उच्चवर्ग निकल जाता है और देशभर को यह फ़ायदा होता है कि शासन-कार्य दूसरे देश की भलाई के खयाल से होना बन्द हो जाता है । हाँ, अगर राष्ट्रीय क्रान्ति के साथ-साथ सामाजिक क्रान्ति न हो तो देश के नीचे के वर्गों का बहुत हित नहीं होता ।

सामाजिक क्रान्ति इन दूसरी क्रान्तियों से, जिनमें सिर्फ ऊपर-ऊपर ही तब्दीली होती है, बिल्कुल मुख्तलिफ़ चीज है । सामाजिक क्रान्ति में भी राजनैतिक क्रान्ति तो शामिल है ही । साथ-साथ और भी बहुत-सी बाते हो जाती है, क्योंकि इससे तो समाज की बनावट ही बदल जाती है । इंग्लैण्ड की राज्य-क्रान्ति सिर्फ राजनैतिक क्रान्ति ही न थी; क्योंकि उससे पार्लमेण्ट की ताक़त सबके ऊपर होगई । यह क्रान्ति एक हद तक सामाजिक भी थी; क्योंकि इससे सत्ताधारियों के साथ दौलतमन्द बुर्जुआ या मध्यमवर्ग का रिश्ता कायम होगया । इस तरह इस ऊँचे मध्यमवर्ग का दर्जा बढ़ गया और नीचे दर्जे के नागरिक और आम लोग आम तौर पर जहाँ थे वही रहे । फ़्रांस की राज्य-क्रान्ति और भी ज्यादा सामाजिक थी । जैसा हम देख चुके है, उसने समाज का सारा ढाँचा ही बदल दिया और कुछ वक्त के लिए आम लोग ऊँचे दर्जे पर पहुँच गये । आखिरकार यहाँ भी बुर्जुआ या मध्यमवर्ग की ही जीत हुई । गरीबों से क्रान्ति करवा लेने का काम तो निकल हो चुका था । उन्हे फिर पेंदे में बैठा दिया गया । हाँ, खास हक और रिआयतो वाले चोटी के उमराव सदा के लिए जाते रहे । यह स्पष्ट है कि ऐसी सामाजिक क्रान्तियो के अंजाम सिर्फ सियासी इन्कलाब से कहीं ज्यादा गहरे और मुकम्मल होते है और उनका सामाजिक हालत से गहरा ताल्लुक होता है । किसी मनचले आदमी या गिरोह का यह काम नहीं है कि वह सामाजिक क्रान्ति कर डाले, जबतक कि सामाजिक परिस्थिति ही आम जनता को क्रान्ति के लिए तैयार न करदे । तैयार होने से मेरा मतलब यह नहीं है कि लोगों से पहले तैयार होने को

कहा जाय और वे जान-बूझकर तैयारी करे। बल्कि मेरा मतलब यह है कि सामाजिक और आर्थिक स्थिति ऐसी हो जाय जिसमें जिन्दगी बोझ बन जाय और बिना इस तरह की तब्दीली के उन्हे न राहत मिलने की सूरत दिखाई दे और न किसी तरह मामला ठीक-ठाक होने की। सच तो यह है कि युग-के-युग बीत गये, मगर बेशुमार इनसानो की जिन्दगी उनके लिए बोझ ही बनी हुई है। ताज्जुब यह है कि उन्होने इसे अबतक बर्दाश्त कैसे किया। कभी-कभी उन्होने बगावते कर डाली हैं; खास तौर पर किसान लोग भड़क उठे हैं और गुस्से में अन्धे और पागल होकर जो उनके हाथ पड़ गया उसीको तहस-नहस कर दिया है। लेकिन इन लोगो को अपने अन्दर सामाजिक ढांचा बदल देने की इच्छा होने का पता भी न था। मगर इस अज्ञान के होते हुए भी पुराने जमानें में रोम में, योरप में, हिन्दुस्तान में और चीन में बार-बार मौजूदा सामाजिक अवस्था में उथल-पुथल मची है और उसके कारण कितने ही साम्राज्यो का खात्मा होगया है।

पुराने जमाने में सामाजिक और माली तब्दीलियाँ धीरे-धीरे होती थीं और लम्बे अरसे तक पैदावार के और उसके बँटवारे और ढुलाई के तरीक़े क़रीब-करीब वैसे-के-वैसे बने रहते थे। इसलिए लोगो को परिवर्त्तन की क्रिया दिखाई नहीं देती थी और वे समझ लेते थे कि पुरानी समाज-व्यवस्था अमर और अटल है। मजहब ने इस व्यवस्था और उसके साथ लगे हुए रीति-रिवाज और विश्वासो को दैविक प्रकाश दे दिया था और लोगो को इसपर इतना पक्का विश्वास जम गया था कि जब हालात इस व्यवस्था के बिल्कुल ख़िलाफ़ होगये तब भी वे इसे बदल देने का हर्गिज ख़याल नहीं करते थे। सामाजिक क्रान्ति होने और उसके कारण ढुलाई के तरीक़ों में भारी तब्दीली होने के साथ-साथ सामाजिक तब्दीलियाँ भी ज्यादा जल्दी-जल्दी होने लगीं। नये वर्ग सामनें आये और मालदार होगये। कारीगरो और खेती के मजदूरों से बिल्कुल जुदी तरह का मजदूरों का वर्ग पैदा होगया। इन सब बातो के लिए नई आर्थिक व्यवस्था और राजनैतिक तब्दीलियो की जरूरत हुई। पश्चिमी योरप की अजीब और नामुवाफ़िक हालत थी। समझदार समाज जब कभी तब्दीली की जरूरत होती है तब जरूरी तब्दीलियाँ कर लेता है और इस तरह बदलते हुए हालात का पूरा फायदा उठा लेता है। मगर समाज अक़्लमन्द कहाँ होते है और मिलकर कहाँ विचार करते है? व्यक्ति अपने ही फायदे की फ़िक्र करते है। एकसे स्वार्थ रखनेवाले वर्ग भी ऐसा ही करते है। अगर कोई वर्ग समाज के सिर पर बैठा है तो वह वहीं बैठा रहना और नीचेवालों को चूसकर फायदा उठाते रहना चाहता है। अक़्लमन्दी और दूरंदेशी बतलाती है कि अख़ीर में अपना भला करने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि

जिस समाज के हम अंग हैं उस सारे का भला किया जाय। मगर सत्ताधारी मनुष्य या वर्ग तो जो कुछ उसे मिला हुआ है उससे चिपटा रहना चाहता है। इसका सबसे अच्छा तरीका दूसरे वर्गों और लोगों को यह यकीन दिलाते रहना है कि समाज के मौजूदा ढाँचे से अच्छा और कोई ढाँचा और तरीका नहीं हो सकता। लोगो के दिलों पर यकीन जमाने के लिए मजहब को बीच में घुसेड़ दिया जाता है। तालीम भी यही पाठ पढ़ाने लगती है। बात अचरज की है, मगर होता यहाँतक है कि आखिर सभी लोगो का विश्वास पक्का हो जाता है और कोई भी इस व्यवस्था को बदलने का विचार नहीं करता। पेंदे में पडे हुए लोग भी सचमुच यह समझ बैठते है कि उनके लिए वहीं पडे रहना, ठोकरे खाना, बँधे रहना और भूखो मरना ठीक है, भले ही दूसरे लोग ऐश-आराम में रहे।

इस तरह लोग कल्पना कर लेते है कि यह समाज-व्यवस्था अटल है और अगर ज्यादातर आदमियों को इसमें दुःख भोगना पड़ता है तो उसमें किसीका कसूर नहीं है। कसूर उनका अपना, किस्मत का या भाग्य का है, या उनके पुराने गुनाहों की सजा है। समाज हमेशा पुराने विचार का होता है, उसे तब्दीलियाँ नापसन्द होती है। एकबार जिस लकीर पर लग जाता है उसीपर चलते रहने में उसे मजा आता है और उसे पक्का विश्वास होजाता है कि वह सदा उसी लकीर पर चलने को बना है। इतना ही नहीं, जो व्यक्ति उसकी हालत सुधारने की ख्वाहिश से उसे लकीर छोड़कर चलनें को कहते है उन्हींको समाज ज्यादा सजा देता है।

परन्तु सामाजिक और आर्थिक हालात उन लोगो की मर्जी का इन्तजार नहीं करते जो समाज के बारे में कुछ नहीं सोचते या उससे सन्तुष्ट रहते है। हालात आगे बढ़ते है, भले ही लोगों के खयालात जहाँ-के-तहाँ रहें। इन दकियानूसी विचारो और असली स्थिति के बीच का फ़ासला बढ़ता रहता है और यदि इस खाई को पाट-कर दोनो को मिलाने का कुछ भी उपाय नहीं किया जाता है तो व्यवस्था चकनाचूर होकर प्रलय उपस्थित होता है। सच्ची सामाजिक क्रान्तियाँ इसी तरह होती है। अगर हालात ऐसे है तो क्रान्ति हुए विना नहीं रह सकती। यह दूसरी बात है कि पुराने खयालात की खीचतान के कारण उसमें देर लग जाय। अगर हालात ऐसे नहीं है तो कुछ व्यक्तियो से, भले ही वे कितना ही जोर लगावे, क्रान्ति नहीं हो सकती। जब क्रान्ति हो ही जाती है तो फिर असली हालत के बारे में लोगों की आँखो पर पड़ा हुआ पर्दा हट जाता है और वे बहुत जल्दी असलियत को समझ लेते है। एक लकीर के बाहर निकले नहीं कि वे सरपट दौड़ते है। यही कारण है कि क्रान्ति के जमाने में लोग बडी तेजी से आगे बढ़ते है। इस तरह क्रान्ति पुरानेपन और पीछे रहने का

लाज़िमी नतीजा है। अगर समाज सदा लकीर छोड़कर चले और कभी इस बेवकूफी और भूल में न फँसे कि अटल समाज-व्यवस्था जैसी भी कोई चीज होती है, बल्कि हमेशा बदलते हुए हालात के साथ-साथ चले, तो सामाजिक क्रान्ति होगी ही नहीं। फिर तो लगातार तरक्की होती चली जायगी।

ऐसा पहले तो इरादा नही था, मगर मै क्रांतियों के बारे में जरा तफसील से लिख गया हूँ। यह मजमून मेरे लिए दिलचस्प है, क्योंकि आज दुनियाभर में बेमेल बाते हो रही है और बहुत-से मुकामो पर समाज-व्यवस्था टूटती दिखाई दे रही है। पिछली सामाजिक क्रान्तियो के ऐसे ही पूर्व-चिन्ह रहे है और इस कारण सहज ही यकीन होने लगता है कि हम भी दुनिया में होनेवाली बडी तब्दीलियो के दरवाजे पर खडे है। और सब गुलाम देशो की तरह हिन्दुस्तान में भी कौमियत की और विदेशी हुकूमत से छुटकारा पाने की जबरदस्त ख्वाहिश पैदा गई है। मगर कौमियत का यह रवैया ज्यादातर खुशहाल लोगो में ही पाया जाता है। किसान-मजदूर और दूसरे लोगो को, जो हमेशा जरूरियात से तंग रहते हैं, राष्ट्रीयता के इन थोथे साधनो से इतनी दिलचस्पी नहीं है जितनी अपने खाली पेट भरने की। यह स्वाभाविक भी है। उनके लिए राष्ट्रीयता या स्वराज्य बेसूद है, अगर उससे उन्हे ज्यादा खाने को न मिले और उनकी हालत सुधर न जाय। इसलिए हिन्दुस्तान में भी आज सवाल सिर्फ सियासी नही है, सामाजिक ज्यादा है।

क्रान्तियो के बारे में मेरा यह विषयान्तर लम्बा होगया। इसका कारण यह है कि मैं उन्नीसवीं सदी की जिन बगावतों और दूसरे झगडों का विचार कर रहा था उनकी तादाद बडी थी। इन बगावतो में से बहुत-सी और खासकर उस सदी के पहले आधे हिस्से में होनेवाली विदेशी हुकूमत के खिलाफ़ क़ौमी बगावतें थीं। इसके साथ-साथ उद्योगवादी मुल्को में सामाजिक विद्रोह के खयालात नये मज़दूरवर्ग में उसके पूंजीवादी मालिको के साथ कशमकश भी पैदा करने लगे। लोग सामाजिक क्रान्ति के लिए समझ-बूझकर विचार और कार्य करने लगे।

१८४८ ई० का वर्ष योरप में क्रान्तियों का वर्ष कहलाता है। इस वर्ष कितने ही देशों में बलवे हुए। उसमें कुछ कामयाब हुए और ज्यादातर नाकामयाब रहे। पोलैण्ड, इटली, बोहेमिया और हंगरी की बग़ावतों का कारण उनकी दबाई हुई राष्ट्रीयता थी। पोलैण्ड-निवासी प्रशिया के और बोहेमिया और उत्तर-इटली वाले आस्ट्रिया के खिलाफ़ खडे हुए थे। उन सबको कुचल दिया गया। इन बगावतो में आस्ट्रिया के खिलाफ़ हंगरी की बगावत सबसे बडी थी। इसका नेता लोजोस कोसुथ था। यह हंगरी के इतिहास में मशहूर देशभक्त और आज़ादी के लिए लड़नेवाला

होगया है। दो वर्ष तक लोहा लेते रहने पर भी यह विद्रोह दबा दिया गया। कुछ साल बाद हंगरी जो चाहता था वह बहुत-कुछ उसे मिल गया। मगर इस बार उसका लड़ाई का तरीका दूसरा था, और नेता भी डीक नाम का एक दूसरा महान् व्यक्ति था। यह मजे की बात है कि डीक ने सत्याग्रही उपाय इख्तियार किये थे। सन् १८६७ में हंगरी और आस्ट्रिया करीब-करीब बराबरी के दर्जे पर मिल गये, दोनो का एक ही राज्य बना और हैप्सबर्ग खानदान का सम्राट फ्रांसिस जोजफ 'दुहरा शासन' करने लगा। आधी सदी के बाद डीक के इन्हीं सत्याग्रही तरीकों की नकल आयर्लैण्ड वालो ने अंग्रेजो के खिलाफ की। जब बापू ने १९२० ई० में असहयोग आरम्भ किया तो कुछ लोगों को डीक की लड़ाई याद आई। लेकिन इन दोनो तरीक़ो में बहुत बड़ा फ़र्क था।

१८४८ ई० में जर्मनी में भी बग़ावतें हुईं, मगर वे बहुत गहरी नहीं थीं। वे दबा दी गई और कुछ सुधारों का वादा कर दिया गया। फ़्रांस में बडी तब्दीली हुई। जबसे १८३० ई० में बूर्बन खानदान के राजाओ को निकाल दिया गया था तभीसे लुई फ़िलिप हुकूमत कर रहा था। वह आधा वैध और आधा निरंकुश शासक था। १८४८ ई० तक लोग उससे ऊब चुके थे और उसे गद्दी छोड़नी पडी। फिर प्रजातंत्र कायम हुआ। यह दूसरा प्रजातंत्र कहलाया, क्योकि पहला तो महान् क्रांति के मौके पर कायम हुआ था। इस गड़बड़ से फ़ायदा उठाकर नेपोलियन का लुई बोनापार्ट नाम का एक भतीजा पैरिस में आया। उसने अपनेको आज़ादी का बड़ा हामी बताकर प्रजातंत्र का अध्यक्ष चुनवा लिया। यह ताकत हासिल करने का सिर्फ एक बहाना था। जब उसकी ताकत मजबूत हो गई तो उसने फौज पर भी क़ाबू कर लिया। और १८५१ में एकाएक बडी राजनैतिक चालबाजी की। उसने अपने सिपाहियो की मदद से पेरिस को भयभीत कर दिया, बहुत लोगो को गोली से उड़ा दिया और असेम्बली को दबा दिया। अगले साल वह सम्राट् बन बैठा और अपना नाम तीसरा नेपोलियन रख लिया, क्योकि महान् नेपोलियन का बेटा दूसरा नेपोलियन समझा जाता, उसने राज्य न किया तो क्या हुआ? चार वर्ष से कुछ ज्यादा समय की मुख्तसर और बेशोहरत जिन्दगी बिताने के बाद दूसरे प्रजातंत्र का यह खात्मा हुआ! इस तीसरे नेपोलियन का ज्यादा हाल तुम्हे आगे चलकर बताऊँगा।

इंग्लैण्ड में सन् १८४८ ई० में विद्रोह तो नहीं हुआ, मगर झगडे और उपद्रव खूब रहे। इंग्लैण्ड का यह ढंग है कि जब सचमुच झगड़ा बढ़ने लगता है तो वह उसके सामने झुककर अपनेको बचा लेता है। उसका विधान लचकीला होने के कारण वह भी इसमें मददगार होता है। लम्बे अभ्यास के कारण, जब और कोई रास्ता न दिखाई

दे तो, अंग्रेज़ कोई-न-कोई समझौता कर लेता है। इस तरीके से अंग्रेजो को उन बडी और नागहानी तब्दीलियों का सामना नहीं करना पड़ा है जो ज्यादा सख्त शासन-विधान और ज़िद्दी रिआया के कारण दूसरे देशो में हुई है। १८३२ ई० में इंग्लैण्ड-भर में एक सुधार-क़ानून को लेकर बड़ा भारी आन्दोलन हुआ। इस क़ानून के ज़रिये थोडे और लोगों को पार्लमेण्ट के सदस्य चुनने का हक़ दिया गया था। आजकल के माप से देखें तो यह क़ानून बहुत नरम और निर्दोष था। थोडे मध्यम वर्ग के लोगों को वोट देने का हक़ और मिला था। मज़दूर और ज्यादातर दूसरे प्रजाजनों को उस समय भी राय देने का हक़ नही दिया गया। मगर उन दिनों पार्लमेण्ट थोडे-से दौलतमन्दों के हाथों में थी। उन्हे अपने ख़ास हुकूक और नागरिक इलाक़े छिन जाने का डर था। इन इलाको से वे पार्लमेण्ट की आम सभा में आसानी से चुन लिये जाते थे। इस कारण इन लोगो ने अपना ज़ोर लगाकर सुधार-कानून की मुख़ालफ़त की। वे कहते थे कि अगर यह क़ानून पास होगया तो इंग्लैण्ड रसातल को चला जायगा और संसार में प्रलय हो जायगा। इग्लैण्ड में गृह-युद्ध छिड़ने ही वाला था कि इस कानून के पक्ष में सार्वजनिक आन्दोलन का ज़ोर देखकर विरोधी दल घबरा गया और कानून पास होगया। कहना न होगा कि इस क़ानून के पास हो जाने पर भी दुनिया क़ायम रही और पहले की तरह पार्लमेण्ट में धनवानो का ही बोलबाला जारी रहा। सिर्फ मध्यमवर्ग के हाथ में थोडी ताक़त और आगई।

१८४८ के आसपास इंग्लैण्ड में एक और बडी हलचल हुई। यह अधिकार-आन्दोलन (Chartist Agitation) के नाम से मशहूर हुई, क्योंकि इसमें कई तरह के सुधारो की माँग का सार्वजनिक अधिकार-पत्र एक बडे अर्जनामे की शक्ल में पार्लमेण्ट में पेश करने की तजवीज़ थी। इससे शासकवर्ग बहुत डर गये और आन्दोलन दबा दिया गया। कारख़ानों के मज़दूरो को बहुत तकलीफ़ और असंतोष था। इसी समय मज़दूरों के बारे में कुछ कानून बनने लगे और उनसे मज़दूरों की हालत ज़रा सुधरी। इंग्लैड अपने बढ़ते हुए व्यापार से ख़ूब धन कमा रहा था। वह 'संसार का पुतलीघर' बन रहा था। यह मुनाफा ज्यादातर तो कारख़ानो के मालिको को मिलता था, पर मज़दूरो तक भी उसका थोड़ा-सा हिस्सा पहुँच जाता था। इन सब कारणों से १८४८ ई० में क्रान्ति होने से बच गई। मगर उस वक्त वह नज़दीक अवश्य आ गई थी।

अभी मैंने १८४८ ई० का हाल पूरा नही किया है। उस साल रोम में क्या हुआ, यह बताना बाकी है। इसे दूसरे ख़त के लिए रखना पडेगा।

: १२७ :

इटली संयुक्त और स्वतंत्र राष्ट्र बन जाता है

३० जनवरी, १९३३

वसन्त-पचमी

अपने १८४८ ई० के बयान में मैंने इटली को अख़ीर में रख लिया था। उस वर्ष की उत्तेजनापूर्ण घटनाओ में सबसे ज्यादा आकर्षक रोम की बहादुराना लड़ाई थी।

नेपोलियन के ज़माने से पहले इटली छोटी-छोटी रियासतों और राजाओ का समूह था। थोड़े अरसे के लिए नेपोलियन ने उन्हे मिलाकर एक किया था। नेपोलियन के बाद उसकी फिर वही या उससे भी कुछ बुरी हालत होगई। विजयी मित्र-राष्ट्रो ने १८१५ ई० की वियेना-कांग्रेस में बड़े लिहाज से काम लेकर इस देश को आपस में बाँट लिया। आस्ट्रिया ने वेनिस और उसके इर्द-गिर्द का बड़ा-सा इलाका लेलिया। आस्ट्रिया के कई राजाओं को बढ़िया-बढ़िया हिस्से दे दिये गये। पोप रोम में लौट आया और उसके आसपास के रजवाड़े उसे वापस मिल गये। ये 'पोप के राज्य' (Papal States) कहलाते थे। नेपल्स और दक्षिण इटली को मिलाकर दोनो सिसलियो का एक राज्य एक बूर्बन राजा के मातहत बना दिया गया। फ़्रांस की सरहद के पास, उत्तर-पश्चिम में, पीडमॉण्ट और सार्डीनिया का एक राजा हुआ। पीड-मॉण्ट को छोड़कर बाकी इन सब छोटे-छोटे राजाओ ने बड़ी मनमानी हुकूमत की। रिआया पर इनका जुल्म इतना बढ़ गया कि नेपोलियन से पहले इन्होने या और किसीने इतना जुल्म नहीं किया था, लेकिन नेपोलियन के आने से इटली जाग गया और वहांके नौजवान आज़ाद और संयुक्त इटली के सपने देखने लगे। राजाओ के बावजूद, या शायद उसके कारण, कई छोटे-मोटे बलवे हुए और गुप्त समितियो का जाल बिछ गया।

थोड़े दिनो बाद एक जोशीला नौजवान सामने आया और उसे आज़ादी की लड़ाई का नेता मान लिया गया। यह इटली की कौमियत का पैग़म्बर ग्वीसेप मैज़िनी था। १८३१ ई० में उसने 'नौजवान इटली' (Giovane Italia) नाम की संस्था कायम की। इटली का प्रजातंत्र इसका ध्येय रक्खा गया। उसने इसके लिए कई वर्ष तक काम किया। उसे निर्वासित यानी जलावतन भी रहना पड़ा और अकसर अपनी जान जोखिम में डालनी पड़ी। राष्ट्रीय साहित्य में उसकी किताबें ऊँचे दर्जे की मानी जाने लगीं। १८४८ ई० में जब उत्तरी इटली में जगह-जगह बलवे की आग भड़क रही थी, मैज़िनी को मौका मिल गया और वह रोम चला आया।

पोप को निकाल बाहर किया गया और तीन आदमियो की समिति के मातहत प्रजा-तन्त्र-राज्य का ऐलान कर दिया गया। इस त्रिमूर्ति को पुराने रोमन इतिहास से लेकर 'त्रियमवीर' नाम दिया गया। इनमें एक मैजिनी था। इस नये प्रजातंत्र पर चारो तरफ से हमले हुए। आस्ट्रिया वाले, नेपोलियन के भक्त और यहाँतक कि फ्रेंच लोग भी पोप को फिर से गद्दी पर बिठाने के लिए इसपर टूट पडे। रोम के प्रजातंत्र की तरफ से लड़नेवालो का सरदार गैरीबाल्डी था। उसने आस्ट्रियावालो को रोक रक्खा, नेपोलियन के भक्तो को हरा दिया और फ्रांस वालो को भी आगे न बढ़ने दिया। यह सब स्वयंसेवको की मदद से किया गया और प्रजातन्त्र की रक्षा में रोम के अच्छे-से-अच्छे और बहादुर-से-बहादुर युवको ने अपनी जान दी। पर आखिर-कार इस बहादुराना लड़ाई के बाद रोम का प्रजातत्र फ्रांस वालो से हार गया, और उन लोगों ने पोप को फिर से ला बिठाया।

इस तरह लड़ाई की पहली किस्त खत्म हुई। मैजिनी और गैरीबाल्डी अगली लड़ाई की तैयारी और प्रचार का काम मुख्तलिफ तरीको से करते रहे। वे एक-दूसरे से बहुत भिन्न थे। एक विचारक और आदर्शवादी था और दूसरा सिपाही, जिसमें छिपकर लड़ाई करने या छापा मारने की जबरदस्त काबलियत थी। दोनों को इटली की आजादी और एकता की बडी लगन थी। इस मौके पर इस बडे खेल में एक तीसरा खिलाडी और प्रकट हुआ। यह पीडमॉण्ट के राजा विक्टर इम्मैनुएल का प्रधानमंत्री कावूर था। उसका असली मकसद विक्टर इम्मैनुएल को इटली का राजा बनाना था। चूंकि इसके लिए कई छोटे-छोटे राजाओ को दबानें और हटाने की जरूरत थी, इसलिए कावूर मैजिनी और गैरीबाल्डी के कामो का फ़ायदा उठाने को पूरी तरह तैयार था। उसने फ्रांस वालों से साजिश की और उन्हे अपने दुश्मन आस्ट्रिया वालों के साथ लड़ाई में फँसा दिया। उस वक़्त फ्रांस का राजा तीसरा नेपोलियन था। यह १८५९ ई० की बात है। फ्रांस वालो के हाथों आस्ट्रिया वालो की हार का गैरीबाल्डी ने फ़ायदा उठाया और नैपल्स और सिसली के राजा पर अपनी तरफ से एक असाधारण हमला बोल दिया। गैरीबाल्डी की इस मशहूर फौज में लालकुर्तीवाले एक हजार आदमी थे। न उन्होने तालीम पाई थी और न उनके पास ठीक तरह के हथियार और सामान ही थे। उनके मुकाबिले में सुरक्षित और सुस-ज्जित फ़ौजें थी। इन एक हज़ार लालकुर्तीवालो के दुश्मनो की तादाद भी उनसे कही ज्यादा थी। लेकिन उनकी हिम्मत और जनता की हमदर्दी के कारण उन्हे फतह पर फतह मिलती गई। गैरीबाल्डी की शोहरत चारो तरफ होगई। उसके नाम में ऐसा जादू था कि उसके पास पहुँचते ही फ़ौजें गायब हो जाती थीं। फिर भी गैरीबाल्डी

का काम मुश्किल था और कितनी ही बार उसे और उसके स्वयंसेवकों को हार और प्रलय के दर्शन होने लगते थे। किन्तु हार की घड़ियों में भी किस्मत उसपर महरबान होजाती। जान झोककर किये जानेवाले हिम्मत के कामों में अक्सर ऐसा ही होता है और हार भी जीत में बदल जाती है।

गैरीबाल्डी और उसके हजार साथी सिसली के किनारे उतरे। वहाँसे वे धीरे-धीरे इटली तक पहुँच गये। दक्षिण इटली के गाँवों में कूच करते-करते वह स्वयसेवकों की माँग करता जाता। उसके इनाम भी अजीब होते थे। वह कहता—"चले आओ! चले आओ! इस वक्त बुजदिल ही घर में घुसा रह सकता है। मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि मेरे साथ तुम्हें थकान, तकलीफें और लड़ाइयाँ मिलेंगी; परन्तु हम या तो जीतेंगे या जान दे देंगे।" दुनिया कामयाबी की क़द्र करती है। गैरीबाल्डी की शुरू की कामयाबी ने इटली के लोगों के कौमियत के खयाल को वह जोश दिया कि स्वयसेवकों का ताँता बँध गया और वे गैरीबाल्डी का गीत गाते हुए उत्तर की तरफ बढ़े। उस गीत का मतलब यह है:—

कबरे उखड गई है और मुर्दे उठ-उठकर दूर-दूर से चले आ रहे हैं,
हमारे शहीदों की प्रेतात्माये युद्ध के लिए जीवित होकर तलवारे हाथों मे
लिये हुए और ख्याति के बिल्ले लगाये हुए तैयार हो रही है,
और मुर्दा दिलो मे भी इटली के नाम का जादू चमक रहा है।
आओ, उनमे मिल जाओ! देश के युवको, आओ, उनका साथ दो!
आओ, अपना झण्डा फहरा दो और जग के बाजे बजा दो!
ठडे फौलाद का-सा इरादा और आग-जैसा गरम दिल लेकर आजाओ।
इटली की आकाक्षाओ की ज्वाला जलाकर लेते आओ!
ऐ विदेशी, इटली से निकल जा; हमारे घर से निकल जा।"

राष्ट्रीय गीत सब जगह कितने मिलते-जुलते होते है!

कावूर ने गैरीबाल्डी की कामयाबियों से फ़ायदा उठाया। नतीजा यह हुआ कि १८६१ ई० में पीडमॉण्ट का विक्टर इम्मैन्युएल इटली का राजा होगया। रोम पर उस वक्त भी फ्रांस की फौजों का कब्जा था। वेनिस आस्ट्रिया वालों के हाथ में था। इस वर्ष के भीतर वेनिस और रोम बाकी इटली में मिल गये और रोम राजधानी बन गया। आखिर इटली एक संयुक्तराष्ट्र होगया। लेकिन मैज़िनी को इससे ख़ुशी नहीं हुई। उसने सारी उम्र प्रजातंत्र के आदर्श के लिए मेहनत की थी और अब इटली सिर्फ पीडमॉण्ट के विक्टर इम्मैन्युएल का राज्य बन गया। यह सत्य है कि नया राज्य वैध राज्य था और विक्टर इम्मैन्युएल के राजा बनते ही टूरिन में इटली की पार्लमेण्ट की फ़ौरन बैठक हुई।

इस तरह इटली राष्ट्र फिर से विदेशी राज्य से आजाद होगया। यह तीन आदमियों की करामात थी। मैजिनी, गैरीबाल्डी और कावूर। इन तीनों में से शायद एक भी न होता तो इस आजादी को आने में देर लगती। कई वर्ष बाद अंग्रेज कवि और उपन्यासकार जॉर्ज मेरिडिथ ने इसपर एक कविता लिखी थी, जिसका मतलब यों है:—

हमने इटली की प्रसव-पीडा देखी है। हमने वह वक्त देखा है जब इटली उठकर खडा हुआ कि उसे फिर जमीन पर गिरा दिया गया है। आज वह गेहूँ के हरे-भरे खेत की तरह दिखाई देता है। जहाँ एक दिन हल चलते, वहाँ विपुलता और सौंदर्य का ठाठ है। यह देखकर हमे उन लोगो की याद आ रही है जिन्होने इटली के शरीर में प्राण फूँके थे। वे तीन आदमी कावूर, मैजिनी और गैरीबाल्डी थे। एक इटली का दिमाग था, दूसरा उसकी आत्मा, और तीसरा उसकी तलवार। इन तीनो का एक ही तेजस्वी ध्येय था। इन तीनो ने नाशकारी फूट से उसका उद्धार किया।

मैंने तुम्हे इटली की आजादी की लड़ाई की मोटी-मोटी बाते और मुख्तसर कहानी सुनादी है। यह छोटा-सा बयान तुम्हे इतिहास के दूसरे मुर्दा हिस्सों की तरह लगेगा। मगर मै तुम्हे बताता हूँ कि तुम इस कहानी को सजीव कैसे बना सकती हो और अपने दिल को इस लड़ाई की खुशी और दर्द से कैसे भर सकती हो। कम-से-कम मुझे तो बहुत समय पहले, जब मै स्कूल का विद्यार्थी था, ऐसा ही अनुभव हुआ था। मैंने यह कहानी जी० एम० ट्रेवेलियन की तीन किताबों में पढ़ी थी। वे थीं 'गैरीबाल्डी और रोमन प्रजातंत्र के लिए युद्ध' (Garibaldi and the Fight for the Roman Republic), 'गैरीबाल्डी और उसके हजार सिपाही' (Garibaldi and the thousand) और 'गैरीबाल्डी और इटली का निर्माण' (Garibaldi and the making of Italy)।

इटली की आजादी की लड़ाई के दिनो में अंग्रेज जनता की हमदर्दी गैरीबाल्डी और उसके लालकुर्तीवाले स्वयंसेवकों के साथ थी और कितने ही अंग्रेज कवियों ने इस लड़ाई पर जोशीली कवितायें लिखी थी। यह ताज्जुब की बात है कि जहाँ अंग्रेजों का स्वार्थ आडे नहीं आता वहाँ वे अकसर आजादी के लिए लड़नेवाले राष्ट्रो के साथ कितनी हमदर्दी दिखाते है! यूनान आजादी के लिए लड़ता है तो वे अपने कवि बायरन और दूसरे लोगो को भेज देते है। इटली के प्रोत्साहन के लिए उनकी सारी सम्द्भावनायें पहुँच जाती हैं। मगर अपने पडोसी आयर्लैण्ड या दूर के मिस्र और हिन्दुस्तान वगैरा देशो में अंग्रेजी दूत बडी-से-बडी तोपें और सर्वनाश की सामग्री ले जाते है। उस वक्त इटली के बारे में स्विनबर्न, मेरिडिथ और एलीजाबेथ बैरेट

ब्रोंरिंग ने बडी सुन्दर कवितायें लिखी थीं। मेरीडिथ ने तो इस मजमून पर उपन्यास भी लिखे थे। मैं यहाँ स्विनबर्न की एक कविता का आशय देता हूँ। यह रोम के सामने का पड़ाव (The Halt before Rome) के नाम से मशहूर है। यह उस वक्त लिखी गई थी जबकि इटली की लड़ाई जारी थी और उसमें कई रुकावटें पेश आ रही थीं और उसके कई देशद्रोही विदेशी प्रभुओं का काम कर रहे थे। स्विनबर्न की कविता का आशय यह है:—

तुम्हारे मालिक तुम्हे दान दे सकते है, मगर स्वतन्त्रता-देवी के पास देने को दान कहाँ है ?

उसके पास देने को न आश्रय है, न स्थान। वह तो भूखो मरती, खून बहाती, जागरण करती हुई अपनी सेनाओ को तेजी से आगे बढ़ाती है। वे सेनाये प्राण देकर आजादी का बीज बोती हैं, ताकि उसकी खाक से राष्ट्र की फिर रचना हो सके और उसकी आत्मा प्रकाश से फिर तारे की तरह चमक उठे।

: १२८ :

जर्मनी का उत्थान

३१ जनवरी, १९३३

पिछले खत में हम योरप के एक बडे राष्ट्र का बनना देख चुके है। अब हमें मौजूदा समय के दूसरे बडे राष्ट्र जर्मनी की रचना देखनी है।

एक जबान और दूसरे कई समान लक्षण होते हुए भी जर्मन राष्ट्र बहुत-सी छोटी-बडी रियासतों में बँटा हुआ था। कई सदियों तक हैप्सबर्ग खानदान के मातहत आस्ट्रिया जर्मनी का सबसे ताकतवर राज्य था। बाद में प्रशिया आगे आया और इन दोनों ताकतो में नेतृत्व के लिए बडी लाग-डाँट रही। नेपोलियन ने इन दोनो को नीचा दिखाया। उसने जर्मनी को इतना ज्यादा झँझोड़ा कि वहाँ राष्ट्रीयता प्रबल हो गई और वही उसकी आखिरी हार में मददगार हुई। इस तरह इटली और जर्मनी दोनो में नेपोलियन ने अनजान में और बिना चाहे राष्ट्रीय भावना और आजादी के विचारों को उत्तेजन दिया। नेपोलियन के जमाने के जर्मन राष्ट्रवादियो में एक खास आदमी फिश्टे था, वह दार्शनिक भी था और गहरा देशभक्त भी। उसने अपने देश वालों को जगाने का बहुत काम किया था।

नेपोलियन के पचास वर्ष बाद तक जर्मनी के छोटे-छोटे रजवाडे बने रहे। उनका सघ बनाने की कई बार कोशिशें हुईं; मगर वे बेकार गईं, क्योंकि आस्ट्रिया और प्रशिया दोनो के राजा और राज्य संघ के मुखिया बनना चाहते थे। इस बीच

में सभी उदार विचारो का खूब दमन हुआ और १८३० और १८४८ ई० में बगावतें हुई। मगर वे दबोच दी गई। जनता का मुँह बन्द करने के लिए कुछ छोटे-छोटे सुधार भी किये गये।

इंग्लैंड की तरह जर्मनी के कुछ हिस्सो में कोयले और कच्चे लोहे की खानें थीं। इससे वहाँकी स्थिति औद्योगिक विकास के लिए अनुकूल थी। जर्मनी दार्शनिको और वैज्ञानिकों और सिपाहियो के लिए भी (!) मशहूर था। वहाँ कारखाने खडे होगये और कारखाने के मजदूरो का एक वर्ग पैदा हो गया।

इस मौके पर, यानी उन्नीसवीं सदी के बीच में, प्रशिया में एक आदमी उठा, जिसका आगे चलकर बहुत दिनो तक न सिर्फ जर्मनी पर बल्कि सारे योरप पर सिक्का रहा। यह आदमी प्रशिया का एक जमीदार था और उसका नाम ओटो वॉन बिस्मार्क था। वह वाटरलू की लड़ाई के साल यानी १८१५ ई० में पैदा हुआ था और उसने अलग-अलग दरबारों में कई वर्ष राजदूत का काम किया था। १८६२ ई० में वह प्रशिया का प्रधानमंत्री बना और प्रधानमंत्री बनते ही उसने हाथ-पाँव फैलाने शुरू किये। प्रधानमंत्री बनने के एक हफ़्ते के अन्दर उसने अपने एक भाषण के दौरान में कहा—"इस जमाने के बडे सवाल-तकरीरो और बहुमत के प्रस्तावो से हल नही होगे। उन्हे तलवार और खून तय करेगे।"

तलवार और खून-! ये मशहूर होगये। ये शब्द सचमुच उसकी नीति को जाहिर करते थे। उस नीति को उसने दूरदेशी और मजबूती के साथ निभाया। उसे लोकसत्ता से नफ़रत थी और वह पार्लमेण्टो और प्रजा-परिषदो के साथ हिकारत का बर्ताव करता था। वह पुराने जमाने की चीज मालूम होता था, मगर उसकी काबलियत और पक्का इरादा ऐसा था कि उसने वर्तमान काल को अपनी इच्छा के सामने झुका लिया। वर्तमान जर्मनी का निर्माण उसीने किया और उन्नीसवी सदी के पिछले आधे हिस्से में योरप के इतिहास को उसने अपने ही साँचे में ढाला। दार्शनिको और वैज्ञानिको का जर्मनी तो पीछे रह गया और खून और तलवार वाला नया जर्मनी अपनी फौजी काबलियत के जोर से योरप पर हावी होने लगा। उस वक़्त के जर्मनी के एक बडे आदमी ने कहा था, "बिस्मार्क जर्मनी को बड़ा बना रहा है और जर्मनो को छोटा।" जर्मनी को योरप और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में बड़ा राष्ट्र बनाने की उसकी नीति से जर्मन लोग खुश होते थे और राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के बढ़ने से उन्हे जो सन्तोष होता था उसके कारण वे बिस्मार्क के सब तरह के दमन को सह लेते थे।

बिस्मार्क के हाथ जब बागडोर आई तब उसके दिमाग में साफ-साफ विचार थे कि उसे क्या-क्या करना है और उसके पास सावधानी से बनाई हुई योजना थी।

वह दृढ़ता के साथ उस योजना पर डटा रहा और उसे खूब कामयाबी मिली। वह जर्मनी का और जर्मनी के ज़रिये प्रशिया का योरप में प्रभुत्व कायम करना चाहता था। उस वक़्त तीसरे नेपोलियन के मातहत फ़्रांस योरप में सबसे बलवान राष्ट्र समझा जाता था। आस्ट्रिया भी एक बड़ा जोड़ीदार था। पुराने ढंग की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और मुसद्दीपन के एक सबक की शक्ल में यह देखकर बड़ी दिलचस्पी होती थी कि बिस्मार्क दूसरे राज्यों को किस तरह खेल खिलाता था और उन्हें बारी-बारी से एक-एक करके कैसे टरकाता था। सबसे पहली बात, जिसके करने का उसने बीड़ा उठाया, जर्मनी के नेतृत्व का सवाल सदा के लिए हल कर डालने की थी। प्रशिया और आस्ट्रिया की लाग-डाँट जारी नहीं रहने दी जा सकती थी। इस सवाल का आख़िरी फ़ैसला प्रशिया के पक्ष में होना चाहिए था और आस्ट्रिया को महसूस कर लेना चाहिए था कि उसका दर्जा दूसरा रहेगा। आस्ट्रिया के पतन के बाद प्रशिया की तरक़्की होनी थी और बाद में फ़्रांस की बारी आनी थी। (यह याद रखना कि जब मैं प्रशिया, आस्ट्रिया और फ़्रांस की बात करता हूँ तब मेरा मतलब वहाँकी सरकारों से है। ये सरकारें थोड़ी या बहुत मात्रा में निरंकुश थीं और वहाँकी पार्लमेण्टों के हाथ में बहुत कम ताक़त थी।)

इस तरह बिस्मार्क ने चुपचाप अपनी फ़ौजी मशीन को पूरे तौर पर दुरुस्त कर लिया। इसी बीच में तीसरे नेपोलियन ने आस्ट्रिया पर हमला कर उसे हरा दिया। इस हार के कारण गैरीबाल्डी की दक्षिण इटली की लड़ाई शुरू हुई और अख़ीर में इटली को आज़ादी हासिल हुई। ये सब बातें बिस्मार्क के अनुकूल थीं, क्योंकि इनसे आस्ट्रिया की ताक़त घट गई। रूसी पोलैण्ड में क़ौमी बग़ावत हुई तो बिस्मार्क ने सचमुच आगे होकर ज़ार को ज़रूरत होने पर पोलैण्ड वालों को गोली से उड़ा देने तक में मदद देने का प्रस्ताव पास किया। यह बड़ा कमीना प्रस्ताव था, मगर योरप की किसी आनेवाली पेचीदगी में ज़ार की हमदर्दी हासिल करने का उद्देश्य इससे खूब अच्छी तरह पूरा हुआ। फिर बिस्मार्क ने आस्ट्रिया से मिलकर डेनमार्क को हराया और फिर जल्द ही उसने आस्ट्रिया की तरफ़ मुँह किया। हां, उसने बड़ी होशियारी से फ़्रांस और इटली की मदद हासिल करली थी। १८६६ ई० में थोड़ेसे वक़्त में प्रशिया ने आस्ट्रिया को दबा दिया। जब जर्मन नेतृत्व का सवाल तय होगया और यह बात हो गई कि प्रशिया की प्रभुता रहेगी तो बिस्मार्क ने आस्ट्रिया के साथ अच्छा सलूक करके बड़ी अक्लमन्दी दिखाई। इससे आस्ट्रिया के दिल में कटुता नहीं रही। अब प्रशिया के नेतृत्व में उत्तर-जर्मनी का संघ बनने का रास्ता साफ़ होगया (आस्ट्रिया उसमें नहीं था)। बिस्मार्क संघ का प्रधान बना। आजकल हमारे कुछ

राजनीति-विशारद और कानूनदाँ महीनों और वर्षों तक संघों और विधानों के बारे में चर्चा और दलीलें किया करते हैं। उनके लिए दिलचस्पी की बात होगी कि बिस्मार्क ने उत्तर-जर्मनी के संघ का नया विधान पाँच घण्टे में लिखवा दिया था। यही विधान, इधर-उधर की तब्दीलियों के साथ, पचास वर्ष तक जर्मनी का विधान बना रहा। जब १९१८ ई० में योरप का महायुद्ध बन्द हुआ और जर्मनी में प्रजातंत्र कायम हुआ तब कहीं दूसरा विधान बना।

बिस्मार्क का पहला बड़ा उद्देश्य पूरा हो चुका था और प्रशिया अब जर्मनी में सबसे ताकतवर था। दूसरा काम फ़्रांस को नीचा दिखाकर योरप पर हावी होना था। इसकी तैयारी उसने चुपचाप और शोरगुल मचाये बिना की। दूसरे यूरोपीय राष्ट्र यह समझते रहे कि सिर्फ जर्मन एकता की कोशिश की जा रही है। उन्हें कुछ भी शुबहा नहीं हुआ। हारे हुए आस्ट्रिया के साथ भी इतना अच्छा सलूक किया गया कि उसकी दुर्भावना प्रायः दूर हो गई। इंग्लैण्ड फ़्रांस का ऐतिहासिक प्रतिद्वन्द्वी ठहरा। वह तीसरे नेपोलियन की महत्त्वाकाक्षा से भरी योजनाओं को बड़े शुबहे की नजर से देखता था। इस कारण फ़्रांस के साथ किसी भी लड़ाई में इंग्लैण्ड की हमदर्दी हासिल करना बिस्मार्क के लिए मुश्किल नहीं था। जब वह लड़ाई के लिए बिलकुल तैयार होगया तो उसने अपना खेल इतनी होशियारी के साथ खेला कि दरअसल १८७० ई० में तीसरे नेपोलियन ने प्रशिया के ख़िलाफ़ लड़ाई का ऐलान किया। योरप को ऐसा लगा मानो प्रशिया की सरकार हमलावर फ्रांस की बेकसूर शिकार हुई। पेरिस के लोग 'बर्लिन को! बर्लिन को!' चिल्लाने लगे और तीसरे नेपोलियन ने यकीन के साथ समझ लिया कि वह सचमुच अपनी विजयी फ़ौज का सरदार बनकर जल्द बर्लिन पहुँच जायगा। मगर हुआ कुछ और ही। बिस्मार्क की सधी हुई फौजी ताकत फ़्रांस की उत्तर-पूर्वी सरहद पर टूट पड़ी और उसके आगे फ़्रांस की फौज सिकुड़कर बेजान होगई। कुछ हफ़्तों में सेदान के मुकाम पर खुद सम्राट तीसरा नेपोलियन और उसकी फौज जर्मनो के हाथों क़ैद हुए।

इस तरह नेपोलियन खानदान का दूसरा फ़्रांसीसी साम्राज्य ख़त्म हुआ और उसके बाद फौरन पेरिस में प्रजातंत्र शासन कायम हो गया। नेपोलियन के पतन के कई कारण थे। मुख्य कारण यह था कि वह अपनी दमन-नीति की वजह से अपनी रिआया की मुहब्बत बिलकुल खो चुका था। उसने विदेशी लड़ाइयों में जनता का ध्यान बँटाने की कोशिश की। मुसीबतज़दा राजाओं और सरकारों का यही प्यारा तरीका है। नेपोलियन तो कामयाब नहीं हुआ। हाँ, लड़ाई ने उसकी महत्त्वाकांक्षा का अवश्य सदा के लिए ख़ात्मा कर दिया।

पेरिस में राष्ट्र-रक्षा (National Defence) की सरकार बनी। उसने प्रशिया के साथ सुलह का प्रस्ताव किया, मगर बिस्मार्क की शर्तें इतनी अपमानजनक थीं कि पेरिस वालो के पास कोई फौज न होते हुए भी उन्हे लड़ाई जारी रखने का फ़ैसला करने को मजबूर होना पड़ा। जर्मन फ़ौजें बहुत समय तक वर्साई में और पेरिस के चारो तरफ घेरा डाले पडी रहीं। अख़ीर में पेरिस ने हथियार डाल दिये और नये प्रजातंत्र ने हार मानकर बिस्मार्क की शर्तें मंजूर करली। लड़ाई के हर्जाने की भारी रकम देना कबूल किया गया। जिस बात से फ़्रांस को ज्यादा चोट पहुँची वह यह थी कि अलसेस लॉरेन के जो प्रदेश दोसौ से भी ज्यादा साल तक फ्रांस के हिस्से रह चुके थे, उन्हे भी जर्मनी के हवाले कर देना पड़ा।

मगर पेरिस का घेरा उठने से पहले ही वर्साई में एक नये साम्राज्य का जन्म हो गया। १८७० ई० के सितम्बर में तो तीसरे नेपोलियन का फ्रांसीसी साम्राज्य ख़त्म हुआ और १८७१ ई० की जनवरी में वर्साई के सोलहवे लुई के आलीशान दीवानख़ाने में संयुक्त जर्मनी का ऐलान हुआ और प्रशिया का राजा क़ैसर के नाम से सम्राट बना। सारे जर्मनी के राजाओ और नुमाइन्दो ने वहाँ जमा होकर अपने नये सम्राट कैसर की मातहती मंजूर की। अब प्रशिया का हायनजालर्न ख़ानदान एक शाही ख़ानदान बन गया था।

जहाँ वर्साई में ख़ुशी और जलसा मनाया जा रहा था वहाँ पास ही पेरिस में कष्ट, शोक और बुरी तरह ज़लील होने का गम छाया हुआ था। जनता मुसीबत-पर-मुसीबत आने से हक्की-बक्की हो रही थी और कोई दायमी या सुव्यवस्थित शासन नहीं था। राष्ट्रपरिषद में राजावादी बडी तादाद में चुनकर आगये थे और ये लोग किसी राजा को फिर से ला बिठाने की साज़िश कर रहे थे। उन्होने राष्ट्र-रक्षक दल (National Guard) के हथियार छीनकर अपने रास्ते की बाधा दूर करने की कोशिश की, क्योंकि यह दल प्रजातंत्रवादी समझा जाता था। नगर के सब लोकसत्तावादी और क्रान्तिकारी लोगो को ऐसा लगा कि इसका अर्थ फिर पीछे लौटना और दमन का शिकार बनना है। इसलिए १८७१ ई० के मार्च में बगावत हुई और पेरिस के पंचायती राज्य (Commune) का ऐलान किया गया। यह एक तरह की म्युनिसिपैलिटी थी और इसे फ़्रांस की बडी राज्य-क्रान्ति से प्रेरणा मिली थी। मगर इसमें इससे ज्यादा और भी बहुत कुछ था। अस्पष्ट ही सही, इसमें उन समाजवादी ख़यालात का पुट भी था जो उस वक्त पैदा हो चुके थे। एक मानी में यह रूस की सोवियट प्रणाली की पूर्वज थी।

मगर पेरिस का १८७१ वाला पंचायती राज्य थोडे ही दिन रहा। राजावादियों

और दौलतमन्दों ने आम जनता की इस बगावत से डरकर पेरिस के उस हिस्से के इर्द-गिर्द घेरा डाल दिया जो पंचायत के कब्जे में था। पास ही वर्साई में और दूसरी जगहों पर जर्मन फ़ौज यह सब चुपचाप देखती रही। जो फ्रांसीसी सिपाही जर्मनों की कैद से छूटकर पेरिस लौटते थे वे अपने पुराने अफसरो में शरीक होकर पंचायत के खिलाफ लड़ते थे। उन्होंने पंचायत वालो पर धावा बोल दिया और १८७१ ई० में मई के अखीर में एक दिन उन्हें हराकर पेरिस की सड़कों पर तीस हजार स्त्री-पुरुषो को गोली से उड़ा दिया। पंचायत-पक्ष के बहुत लोग पकड़ लिये गये और बाद में उनकी बैठे-बिठाये हत्या कर दी गई। इस तरह पेरिस का पंचायती राज्य भी खत्म हुआ। इससे योरप में बडी सनसनी फैली। इस सनसनी का कारण इतना ही नहीं था कि पंचायत का दमन खून-खराबी के साथ कर दिया गया, बल्कि यह भी था कि यह उस वक्त की प्रचलित प्रणाली के खिलाफ़ पहली समाजवादी बगावत थी। ग़रीबो ने अमीरो के खिलाफ़ बगावत तो पहले भी कितनी ही बार की थी, लेकिन जिस व्यवस्था के कारण वे ग़रीब थे उसे बदलने का उन्होंने विचार नहीं किया था। यह पंचायत लोकतंत्री भी थी और आर्थिक भी। इस कारण योरप के समाजवादी ख़यालात की तरक्की में इसका खास महत्व है। फ्रांस में पंचायत के जबरदस्ती दबा दिये जाने से समाजवादी ख़याल दिलों में ही रह गये, और वे फिर धीरे-धीरे बाहर आये।

पंचायत तो दबा दी गई, पर फ्रांस बादशाहत की नई आजमाइशों से बच गया। थोडे समय में ही वह प्रजातंत्रवाद पर स्थिर हो गया और १८७५ ई० की जनवरी में वहाँ एक नये विधान के मातहत तीसरे प्रजातंत्र का ऐलान हुआ। यह प्रजातंत्र उस समय से किसी तरह चला आ रहा है और अब भी है। फ्रांस में अब भी थोडे-से ऐसे लोग है जो राजाओं को चाहते है, मगर उनकी तादाद बहुत कम है और ऐसा मालूम होता है कि फ्रांस की किस्मत निश्चित रूप से प्रजातंत्रवाद के साथ बँध गई है। फ्रांस का प्रजातंत्र अमीरों का प्रजातंत्र है और उसमें सम्पन्न मध्यम वर्ग का जोर है।

फ्रांस १८७०–७१ ई० की जर्मन लड़ाई की चोटों से बहाल हुआ और उसने हर्जानें की भारी रकम भी चुका दी, लेकिन उसे जिस तरह नीचा दिखाया गया था उसपर वहांके लोगों के दिल गुस्से से जल रहे थे। वे स्वाभिमानी लोग है और बहुत दिन तक याद रखते है। वे बदले के ख़याल से आगबबूला हो गये। अलसेस और लॉरेन के हाथ से चले जाने का उन्हें ख़ास तौर पर रंज था। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया को हराने के बाद उसके साथ अच्छा सलूक करके अक्लमंदी की थी; लेकिन फ्रांस के साथ सख्त बर्ताव करके न उसने उदारता से काम लिया, न अक्लमंदी से। एक स्वाभिमानी दुश्मन को नीचा दिखानें की क़ीमत उसे यह चुकानी पडी कि दो राष्ट्रों में खौफ़नाक और स्थायी

दुश्मनी क़ायम होगई। मैदान की लड़ाई खत्म हो गई थी, मगर युद्ध अभी बन्द नहीं हुआ था कि मशहूर समाजवादी कार्ल मार्क्स ने एक घोषणा-पत्र निकालकर भविष्यवाणी करदी कि अलसेस के लेलेने से दोनो मुल्को में जानी दुश्मनी होजायगी और लड़ाई थोडे दिन बन्द रहेगी, मगर स्थायी सुलह कायम न होगी। और कई मामलों की तरह इस मामले में भी मार्क्स की बात सच्ची निकली।

पेरिस के प्लेस दि ला कंकोर्ड नामक खूबसूरत भवन में फ़्रांस के बडे-बडे शहरों की कई भव्य मूर्तियाँ है। इनमें एक अलसेस लॉरेन के ख़ास शहर स्ट्रासबर्ग की भी है। मुझे याद है कि महायुद्ध से पहले अक्सर उस मूर्ति के पास होकर निकलते समय मैंने उसे सदा फूलो से ढकी हुई देखा। यह इस बात की निशानी थी कि फ़्रांस उसके छिन जाने का गम मना रहा है। यह फ़्रांस के लोगो को सदा याद दिलाती रहती थी कि उन्हे 'बदला' लेना है। १९१८ ई० में जर्मनी के हार जाने के बाद अलसेस लॉरेन फिर फ़्रांस के हाथ में आगया और अब पेरिस में स्ट्रासबर्ग की मूर्ति पर फूल नही डाले जाते।

जर्मनी में अब बिस्मार्क साम्राज्य के प्रधान की हैसियत से सर्वेसर्वा था। 'ख़ून और तलवार' की नीति कायम हो चुकी थी, जर्मनी ने इस नीति को इख्तियार कर लिया था और उदार विचारो की कोई पूछ नहीं थी। बिस्मार्क की यह कोशिश थी कि ताकत सम्राट के हाथ में रहे, क्योकि उसे लोकसत्ता में विश्वास नहीं था। जैसे-जैसे जर्मनी का उद्योग बढ़ता जाता था और मजदूर-वर्ग जोर पकड़ता जाता रहा था वैसे-वैसे उसकी तरफ से बडी-बडी माँगें पेश की जा रही थीं और नई-नई उलझनें पैदा हो रही थीं। बिस्मार्क ने इसका दो तरह से उपाय किया। एक तरफ वह मजदूरों की हालत सुधारता गया और दूसरी तरफ समाजवाद को कुचलता रहा। उसने सामाजिक उन्नति के कानून बनाकर मजदूरो को रिश्वत दी और इस तरह अपने पक्ष में करने या कम-से-कम उनकी तेजी को कम करने की कोशिश की। इस तरह जर्मनी ने मजदूरों को पेंशन, बीमे और दवा-दारू की रिआयते देने और उनकी हालत सुधारने के क़ानून सबसे पहले जारी किये, हालांकि इंग्लैण्ड का उद्योग और मजदूर आन्दोलन जर्मनी से पुराना होते हुए भी वह इस दशा में ज्यादा कुछ नहीं कर पाया था। इस नीति को कुछ कामयाबी तो मिली, फिर भी मजदूरो का संगठन बढ़ता गया। उनके नेता काबिल थे। उनमें फर्डीनैण्ड लैसले बड़ा जहीन आदमी था और उन्नीसवी सदी का सबसे बड़ा वक्ता कहा जाता है। वह द्वन्द्व-युद्ध में बिलकुल छोटी उम्र में ही मर गया। दूसरा नेता विल्हम लीबनेंट (Wilhelm Lıbknecht) बहादुर, पुराना सूरमा और बागी था। वह गोली से मरता-मरता बचा था। उसने अच्छी उम्र पाई। उसके

पुत्र कार्ल ने अबतक आजादी की लड़ाई जारी रक्खी थी, १९१८ में जर्मन प्रजातन्त्र की स्थापना के समय वह कत्ल कर दिया गया। पर कार्ल मार्क्स के बारे में तो मुझे तुम्हे दूसरे पत्र में लिखना है। हां, मार्क्स की ज्यादातर जिन्दगी जर्मनी से बाहर जलावतनी की हालत में बीती थी।

मजदूरो का संगठन बढ़ा और १८७५ ई० में उन्होने समाजवादी लोकसत्तात्मक दल बनाया। बिस्मार्क से समाजवाद की यह बढ़ती बर्दाश्त नहीं हो सकी। किसीने सम्राट की जान लेने की कोशिश की। बिस्मार्क को समाजवादियो पर टूट पड़ने का यह अच्छा बहाना मिल गया। १८७८ ई० में समाजवाद-विरोधी क़ानून बनाकर हर तरह के समाजवादी कार्यों का दमन शुरू कर दिया गया। जहांतक समाजवादियो का ताल्लुक था, उनके लिए एक तरह का फ़ौजी कानून जारी होगया और हजारो को देश-निकाले या कैद की सजायें देदी गई। निर्वासितो में से बहुत लोग अमेरिका चले गये और वहाँ जाकर समाजवाद के प्रथम प्रचारक बने। समाजवादी लोकसत्तात्मक दल को चोट तो जोर की पहुँची, मगर वह जिन्दा बच रहा और आगे चलकर फिर जोर पकड़ गया। बिस्मार्क का आतंकवाद उसे मार न सका, कामयाबी और भी नुकसानदेह साबित हुई! इस दल की ताकत बढ़ती गई और इसका संगठन बहुत बड़ा हो गया। इसकी बडी भारी सम्पत्ति बन गई और हजारो वैतनिक कार्यकर्त्ता होगये। जब किसी व्यक्ति या संगठन के पास धन हो जाता है तो फिर वह क्रान्तिकारी नहीं रहता। जर्मनी के समाजवादी लोकसत्तात्मक दल का भी यही हाल हुआ। मगर इसका हाल फिर कहूँगा।

बिस्मार्क की राजनैतिक चालाकी ने अख़ीर तक उसका साथ नहीं छोड़ा और वह अपने जमाने की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ख़ासतौर पर हिस्सा लेता रहा। यह राजनीति उस समय भी थी और अब भी उसी तरह साजिश, धोखाधडी और मक्कारी का अजीब और पेचीदा जाल है जो छिपकर बिछाया जाता है। अगर यह सब खुले तौरपर हो तो ज्यादा दिन नहीं टिक सकता। इसका नतीजा अक्सर जबर्दस्त जंग होता है। फिर भी ताज्जुब है कि लोग इन खुफिया और खौफ़नाक खेलो को कैसे बर्दाश्त करते है! बिस्मार्क ने आस्ट्रिया और इटली को मिलाकर तीन राष्ट्रों का एक मित्रदल (Triple Alliance) बनाया, क्योंकि अब उसे फ़्रांस वालों के बदला लेने का खौफ होने लगा था। इस तरह दोनो तरफ हथियार जमा करने, साजिश रचने और एक-दूसरे पर आँखें निकालने का काम जारी रहा।

१८८८ ई० में एक युवक सम्राट विल्हम द्वितीय के नाम से जर्मनी का क़ैसर हुआ। वह अपनेको बहुत जोरदार आदमी समझता था और जल्द ही बिस्मार्क से

लड़ पड़ा। उस जबरदस्त प्रधानमंत्री को बुढ़ापे में बर्खास्त करके घर बिठा दिया गया। यह उसे बहुत बुरा लगा। उसके आँसू पोछने के लिए उसे 'प्रिंस' यानी 'राजकुमार' का खिताब दिया गया, मगर राजाओ के बारे में उसका भ्रम दूर होगया और वह ग्लानि के मारे अपनी जागीर में एकान्तवास में चला गया। उसने एक दोस्त से कहा—'मैंने जब काम सम्हाला था उस वक्त मेरा दिल राजावादी भावनाओं से भरा था और उसमें राजाओ का बड़ा आदर था। लेकिन अब मुझे दुःख के साथ मालूम होगया कि इन भावनाओं का खज़ाना खाली होता जा रहा है। मैंने तीन राजा नंगी सूरत में देख लिये और तीनों ही दृश्य सुहावने नहीं लगे!"

यह बदमिजाज बूढ़ा कई वर्ष और जिया और १८९८ ई० में ८३ वर्ष की उम्र में मरा। कैसर के हाथो बर्खास्त होजाने और मौत के बाद भी उसकी परछाईं जर्मनी पर बनी रही और उसके वारिसो में उसकी भावना कायम रही। मगर उसके बाद के आदमी उससे छोटे आदमी थे। आज जर्मनी में प्रजातन्त्र राज्य है, फिर भी वहाँ बिस्मार्क की पुरानी भावना दिखाई देती है।

: १२९ :

कुछ प्रसिद्ध लेखक

१ फरवरी, १९३३

कल जर्मनी के उत्थान का हाल लिखते-लिखते मुझे खयाल आया कि मैंने उन्नीसवीं सदी के शुरू के जर्मनी के सबसे बडे आदमी का कुछ भी हाल तुम्हे नहीं बताया है। यह आदमी गेटे था। यह एक मशहूर लेखक था। कुछ ही महीने पहले इसकी मौत को सौ वर्ष पूरे हुए थे; उस वक्त सारे जर्मनी में इसकी मौत का दिन मनाया गया था। मुझे यह खयाल भी आया कि तुम्हे उस वक्त के सभी मशहूर यूरोपियन लेखकों का थोड़ा-थोड़ा हाल क्यों न बता दूँ। मगर मेरे लिए यह खतरनाक विषय है—खतरनाक इसलिए कि इससे मेरा ही अज्ञान प्रकट होगा। सिर्फ़ मशहूर नामो की फेहरिस्त देना तो भद्दी-सी बात रहेगी और कुछ ज्यादा कहना मुश्किल पडेगा। अंग्रेजी साहित्य का ही मेरा ज्ञान थोड़ा-सा है, फिर दूसरे यूरोपियन साहित्यो के बारे में तो मेरी जानकारी थोडे-से अनुवादों तक ही महदूद है। तब मैं क्या करता?

इस विषय पर कुछ लिखने का विचार तो मेरे दिल में बैठ चुका था और उससे किसी तरह पिण्ड छूट नहीं सकता था। मुझे ऐसा लगा कि मैं कम-से-कम यह दिशा दिखाभर दूँ, भले ही इस दिलकश दुनिया में बहुत दूर तक मैं तुम्हारा साथ न

दे सकूँ। बात यह है कि अक्सर कला और साहित्य से किसी राष्ट्र की आत्मा का जितना पता चलता है, जन-समूह के ऊपरी कार्यों से उतना नहीं चलता। कला और साहित्य हमें शान्त और गभीर विचार के मैदान में पहुँचा देते हैं, जहाँ समय-विशेष के राग-द्वेष की गुज़र ही नहीं होती। मगर आज शायद ही कवि और कलाकार को भविष्य का सन्देशवाहक (पैग़म्बर) समझा जाता है और उनकी इज्ज़त भी बहुत कम होती है। अगर उनकी कुछ इज्ज़त होती भी है तो वह आम तौर पर उनके मरने के बाद होती है।

तो मैं तुम्हे सिर्फ थोडे-से नाम बताऊँगा। इनमें से कुछ से तुम पहले ही परिचित होगी। मै उन्नीसवीं सदी के शुरू के हिस्से को ही लूँगा। यह सिर्फ तुम्हारी भूख जगाने के लिए है। याद रखना, योरप के कई देशो के साहित्यो में उन्नीसवी सदी की बढ़िया रचनाओ के ख़ज़ाने भरे हुए हैं।

असल में तो गेटे अठारहवीं सदी का आदमी था, क्योंकि उसका जन्म १७४९ ई० में हुआ था, मगर उसने ८३ वर्ष की अच्छी लम्बी उम्र पाई थी और इस कारण उसने अगली सदी के तिहाई भाग को भी देखा था। वह यूरोपियन इतिहास के एक बडे ही तूफानी जमाने में होकर गुज़रा था और उसने अपने देश को नेपोलियन की फ़ौजो से पामाल होते हुए अपनी आँखो देखा था। उसे अपनी ज़िन्दगी में भी बहुत सदमे पहुँचे थे, लेकिन धीरे-धीरे उसने ज़िन्दगी की मुश्किलात पर अन्दरूनी फतह और इतनी अनासक्ति (अलहदगी) और संजीदगी पाली थी कि उसे शान्ति मिल गई। नेपोलियन उससे पहलेपहल उस वक़्त मिला जब उसकी उम्र साठ वर्ष से ऊपर हो चुकी थी। जब वह दरवाज़े में खड़ा था तो उसकी शक्ल-सूरत में कुछ ऐसी निश्चिन्तता और गौरव दिखाई दिया कि नेपोलियन के मुँह से निकल पड़ा : "आदमी तो यह है !" उसने कई चीज़ो में हाथ डाला, और जो-कुछ किया उसीमें चमक उठा। वह दार्शनिक, कवि, नाटककार और कई मुख्तलिफ़ इल्मो में दिलचस्पी रखने-वाला वैज्ञानिक था। इन सबके ऊपर, वह एक छोटे-से जर्मन राजकुमार के दरबार में मंत्री था। हमारे लिए उसकी सबसे ज्यादा शोहरत लेखक के रूप में है और उसकी सबसे मशहूर किताब 'फ़ाउस्ट' है। उसकी ज़िन्दगी में ही उसकी खूब शोहरत होगई थी और साहित्य के क्षेत्र में वह अपने देशवासियों की नज़रों में देवता की तरह माना जाने लगा था।

गेटे के वक़्त में शिलर नाम का एक और जर्मन लेखक था। वह उम्र में उससे कुछ छोटा था, मगर वह भी एक बहुत बड़ा कवि था। उससे कहीं छोटा हीनरिश था। वह भी जर्मन भाषा का महान् और उत्कृष्ट कवि था। उसने बहुत ही सुन्दर

गीति-काव्य लिखे है। गेटे, शिलर और हीन—ये तीनों पुराने यूनान की ऊँची संस्कृति में डूबे हुए थे।

जर्मनी बहुत जमाने से दार्शनिकों यानी फिलासफरो का देश करके मशहूर रहा है और मैं भी तुम्हे एक-दो के नाम बता सकता हूँ, गो कि तुम्हे उनमें ज्यादा दिलचस्पी न होगी। जिन लोगो की इस विषय की लगन हो उन्हींको उनके ग्रंथ पढ़ने चाहिएँ, क्योकि वे बहुत गहन और कठिन हैं। फिर भी इन दार्शनिको से आनंद और उपदेश मिलता है, क्योकि उन्होने विचार का दीपक जलता हुआ रक्खा था और उनके जरिये विचारों के विकास का सिलसिला समझ में आ सकता है। अठारहवी सदी का महान् जर्मन दार्शनिक इम्मैन्युएल काण्ट था। वह सदी के बदलने तक जिन्दा रहा। उस वक्त उसकी उम्र ८० वर्ष की थी। इस दिशा में दूसरा बड़ा नाम हेगल का है। वह काण्ट का अनुगामी था और ऐसा माना जाता है कि साम्यवाद के जनक कार्ल मार्क्स पर उसके विचारों का बहुत असर पड़ा था। यह तो दार्शनिको की बात हुई।

उन्नीसवीं सदी के शुरू के सालो में कवियो का झुण्ड-का-झुण्ड, खास तौर पर इंग्लैण्ड में, पैदा हुआ। रूस का सबसे मशहूर राष्ट्रीय कवि पुश्किन उसी वक्त हुआ। वह द्वन्द्वयुद्ध में जवानी में ही मारा गया। फ्रांस में भी कई कवि हुए, लेकिन मैं सिर्फ दो के ही नामो का जिक्र करूँगा। एक तो विक्टर ह्यूगो था। उसका जन्म १८०२ ई० में हुआ था। उसने भी गेटे की तरह ८३ वर्ष की उम्र पाई और गेटे की तरह वह भी अपने देश में साहित्य-क्षेत्र में देवता की तरह माना गया। लेखक और राजनीतिज्ञ दोनों ही रूप में उसकी जिन्दगी बदलती रही। शुरू में वह पक्का राजवादी रहा और निरंकुश शासन-प्रणाली में उसका विश्वास-सा जम गया था। धीरे-धीरे बदलता-बदलता १८४८ ई० में वह प्रजातन्त्रवादी बन गया। जब लुई नेपोलियन दूसरे अल्पजीवी प्रजातन्त्र का अध्यक्ष हुआ, तो विक्टर ह्यूगो को प्रजातन्त्रवादी खयालात के कारण जलावतन कर दिया। १८७१ ई० में विक्टर ह्यूगो ने पेरिस के पंचायती राज्य की तरफदारी की। एकदम पुराने विचारो से सरकता-सरकता वह धीरे-धीरे पर निश्चित रूप से उग्र समाजवाद तक पहुँच गया। ज्यादातर लोग ढलती हुई उम्र के साथ अनुदार और प्रतिगामी बनते है। लेकिन ह्यूगो ने उलटी ही बात की।

मगर हमारा वास्ता तो यहाँ विक्टर ह्यूगो से लेखक के रूप में है। वह कवि, उपन्यास-लेखक और नाटचकार था। और तुम्हे उसका नाम जरूर अच्छी तरह मालूम होगा, क्योकि उसके एक उपन्यास 'ला मिजरेबल' ('अभागा') की, मैंने सुना है, सिनेमा-फिल्म भी बन गई है।

दूसरा नाम, जिसका मैं तुमसे जिक्र करूँगा, ऑरे द बाल्ज़ैक का है। वह विक्टर-ह्यूगो का समकालीन था, मगर उसमें उससे बड़ा फ़र्क था। वह गजब की शक्ति रखनेवाला उपन्यासकार था और छोटे-से जीवन के भीतर उसने बहुत-से उपन्यास लिख डाले। उसकी कहानियो का एक-दूसरे से ताल्लुक़ है। वे ही पात्र अक्सर उनमें आते हैं। उसका उद्देश्य अपने उपन्यासो में अपने समय की सारी फ्रांसीसी जिन्दगी की तस्वीर दिखा देना था और उसने सारी ग्रन्थमाला का नाम (La Comedie Humaine) यानी 'मानवता का प्रहसन' रक्खा। यह कल्पना तो बड़े हौसले की थी और उसने मेहनत भी खूब जबरदस्त और लम्बी की, मगर उसने जो जबरदस्त काम उठाया था उसे वह पूरा न कर सका।

उन्नीसवीं सदी के शुरू के सालो में इंग्लैण्ड में तीन प्रतिभाशाली नौजवान कवियो के नाम खास तौर पर सामने आते हैं। वे सब समकालीन थे और तीनों एक-एक करके तीन साल के अन्तर से मर गये। ये तीनों कीट्स, शेली और बायरन थे। कीट्स को ग़रीबी से खूब लड़ना पड़ा और उसका दिल तोड़ने में भी कसर नही रक्खी गई और जब १८२१ ई० में २६ वर्ष की उम्र में रोम में उसकी मृत्यु हुई तो उसकी बहुत कम लोगो को खबर हुई। फिर भी उसने कुछ कवितायें तो बहुत ही सुन्दर लिखी थीं। कीट्स मध्यमवर्ग का आदमी था, और दिल्लगी तो यह है कि अगर उसके रास्ते में भी धनाभाव या ग़रीबी की रुकावट हुई तो ग़रीबो के लिए कवि और लेखक बनना और भी कितना कठिन होना चाहिए। दरअसल केम्ब्रिज-विश्वविद्यालय के अंग्रेजी साहित्य के वर्तमान अध्यापक ने इस बारे में कुछ बाते बहुत ठीक कही है। वह कहते हैं:—

> "यह निश्चित है कि हमारे साम्राज्य के किसी दोष के कारण इन दिनो ही नही, पिछले दो सौ वर्ष में भी निर्धन कवि को इतना भी मौका नही मिला है जितना एक कुत्ते को मिल जाता है। मेरी बात पर विश्वास करो, क्योकि मैंने दस वर्ष का बड़ा भाग कोई तीनसौ बीस प्राइमरी पाठशालाओ के मुआयने मे लगाया है। हम लोकसत्ता की बकवास भले ही करे, मगर असल मे इंग्लैण्ड में एक गरीब बालक को एथेन्स के गुलाम के लडके से ज्यादा उम्मीद इस बात की नही हो सकती कि जिस दिमागी आजादी मे महान् ग्रथो का जन्म होता है उसमें वह भी कभी पहुँच जायगा।"

मैंने यह उद्धरण इसलिए दिया है कि कहीं हम यह न भूल जायें कि कविता और सुन्दर लेखन तथा संस्कृति पर आम तौर से सम्पन्नवर्ग का ही एकाधिकार होता है। ग़रीब के झोपडे में काव्य और सस्कृति की कहाँ गुंजायश? ये चीजें कही भूखे पेटवालों के लिए होती हैं? इस तरह हमारी आजकल की सभ्यता धनिक-मानस का

प्रतिविम्ब (परछाईं) बन जाती है। जब समाज-व्यवस्था बदल जाती है और वह मजूरों के हाथ में आ जाती है तब संस्कृति की सूरत भी बहुत बदल सकती है, क्योंकि उस वक्त उन्हे संस्कृति का शौक करने का मौका और अवकाश मिल जाता है। आज कुछ इसी तरह का परिवर्तन सोवियट रूस में हो रहा है और दुनिया उसे दिलचस्पी के साथ देख रही है।

इससे हमारे सामने यह बात साफ हो जाती है कि पिछली कुछ पीढ़ियो से हिन्दुस्तान में संस्कृति की जो बडी दरिद्रता दिखाई दे रही है उसका कारण हमारी निहायत गरीबी है। जिन लोगो के पास खाने को भी नहीं है उनसे संस्कृति की बातें करना उनकी तौहीन करना है। ग़रीबी की यह मार उन थोडे-से वर्गों पर पड़ती है जो किस्मत से औरो के मुक़ाबिले में सम्पन्न है और इस तरह बदकिस्मती से हिन्दुस्तान के इन वर्गो में भी सभ्यता की आज बहुत ज्यादा कमी है। विदेशी राज्य और सामाजिक गिरावट से कैसी बेशुमार बुराइयाँ पैदा हो जाती है! मगर इस चारो तरफ फैली गरीबी और असभ्यता में भी हिन्दुस्तान गाँधी और रवीन्द्रनाथ-ठाकुर जैसी विभूतियाँ और संस्कृति के शानदार नमूने पैदा कर सकता है।

मै अपनें विषय से दूर चला गया।

शेली बड़ा प्रेम करने लायक इनसान था। जवानी के शुरू से ही उसके दिल में एक आग भरी थी और वह हर जगह और हर बात में आजादी का हिमायती था। 'नास्तिकता की जरूरत' (The Necessity of Atheism) के ऊपर मजमून लिखने के कारण उसे आक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय के कॉलेज से निकाल दिया गया था। जैसा कि कवियों के योग्य समझा जाता है, उसने भी कीट्स की तरह अपनी छोटी-सी जिन्दगी कल्पना और उड़ान में ही बिता दी और दुनियावी मुश्किलात की कुछ भी परवा न की। कीट्स के मरने के एक साल बाद वह भी इटली के समुद्रतट के पास डूबकर मर गया। उसकी मशहूर कवितायें तुम्हे मैं क्या बताऊँ? तुम खुद उन्हे आसानी से ढूंढ निकालोगी। लेकिन उसकी छोटी कविताओ में से एक तुम्हारी नजर करूँगा। यह उसकी उत्तम रचनाओ में से हरगिज नहीं है, लेकिन इससे यह जाहिर होता है कि हमारी मौजूदा सभ्यता में ग़रीब मजदूर की कैसी बुरी हालत होती है। उसका क़रीब-क़रीब वही बुरा हाल है जो पुरानें जमानें मे गुलामो का होता था। इस कविता को लिखे हुए सौ वर्ष से ज्यादा होगये। मगर यह आज की परिस्थिति पर वैसी ही लागू होती है। यह अराजकता का बुर्का (The Mask of Anarchy) के नाम से मशहूर है।

"स्वतन्त्रता क्या है? तुम यह तो भलीभाँति बता सकते हो कि गुलामी

कैसी चीज़ है, क्योंकि उसके और तुम्हारे नाम की आवाज एक-सी निकलती है।

इसका मतलब यह है कि तुम इस तरह और इतनी-सी मजदूरी लेकर काम करते रहो जिससे तुम्हारे प्राण शरीर मे टिके रहे और जालिमो का काम करने के लिए कालकोठरी मे पडे रहे, उनकी रक्षा और पुष्टि के लिए तुम करघे, हल, तलवार और फावडे का काम देते रहो और इच्छा या अनिच्छा-पूर्वक तुम उनके सामने झुके रहो।

इस गुलामी का यह भी अर्थ है कि तुम्हारे बच्चे कमजोर रहे और उनकी मातायें सूखकर काँटा हो जाये और जाड़े की ठडी हवा चले तो वे ठड की मारी ठिठुरती रहे। जिस समय मैं बोल रहा हूँ, उस समय वे मर रही है।

तुम्हे उस खूराक के लिए तरसते रहना है जो अमीर अपने भोग-विलास मे उन्मत्त होकर अपने मोटे-ताज़े कुत्तो को अजीर्ण होने पर भी डाल देते है।

तुम्हे तो आत्मा से भी दास बन जाना है, ताकि तुम्हे अपने इरादो पर कोई प्रबल अधिकार न हो और तुम्हे वैसा ही बनना पड़े जैसा कि दूसरे चाहते है।

और अन्त मे जब तुम दुर्बल और व्यर्थ पुकार करो तो जालिमो के आदमी तुमपर और तुम्हारी स्त्रियो पर हमला करके ओस की तरह घास पर खून ही खून बिछा दे।"

बायरन ने भी स्वतंत्रता की तारीफ में उम्दा कवितायें लिखी हैं। मगर यह स्वतंत्रता राष्ट्रीय है, शेली की कविता की तरह आर्थिक नहीं है। जैसा मैं तुम्हे बता चुका हूँ, वह शेली के दो वर्ष बाद तुर्की के खिलाफ यूनान की कौमी आजादी की लड़ाई में मारा गया। मुझे इनसान की हैसियत से बायरन से नफ़रत है, मगर मुझे उसके साथ इसलिए हमदर्दी है कि वह मेरे हैरो के स्कूल और केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कॉलेज में पढ़ा था। कीट्स और शेली को यह बात नसीब नहीं हुई थी, मगर बायरन की जवानी में ही शोहरत होगई थी। लन्दन के समाज ने उसे सिर पर भी बिठाया और फिर नीचे भी पटक दिया।

इसी जमाने के आसपास दो और मशहूर कवि होगये। वे दोनों इस युवा त्रिमूर्ति से ज्यादा जिये। वर्ड्सवर्थ ने १७७० से १८५० तक अस्सी साल की उम्र पाई। उसकी महान् अंग्रेजी कवियो में गिनती है। उसे प्रकृति से बड़ा प्रेम था और उसका अधिकांश काव्य निसर्ग-काव्य है। मुझे भय है कि मै उसके भक्तो में नहीं हूँ। दूसरा कवि कालरिज था। उसकी कुछ कवितायें बहुत अच्छी है।

उन्नीसवीं सदी के शुरू में तीन मशहूर उपन्यासकार भी होगये। वॉल्टर स्कॉट इनमें सबसे बड़ा था और उसके वेवर्ली उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुए। मै समझता हूँ तुमने इनमें से कुछ पढ़े हैं। मै जब लड़का-सा था तब, ऐसा याद पड़ता है कि, ये

उपन्यास मुझे भी पसन्द थे। मगर उम्र के साथ रुचि भी बदलती है और अगर मैं आज उन्हे पढ़ने बैठूं तो अवश्य ऊब जाऊँगा। थैकरे और डिकेन्स दूसरे दो उपन्यासकार थे। मेरे ख़याल से ये दोनो स्कॉट से कहीं ऊँचे दर्जे के हैं। मुझे उम्मीद है तुम्हारी इन दोनो से दोस्ती होगी। थैकरे का जन्म १८११ में कलकत्ते में हुआ था और उसने पॉच-छ. वर्ष वहीं बिताये थे। उसकी कुछ पुस्तकों में भारतीय नवावो का हूबहू बयान दिया गया है। ये वे अँग्रेज थे जो खूब दौलत जमा करके मोटे और लाल होजाते थे और फिर सुख भोगने के लिए इंग्लैण्ड लौट जाते थे।

उन्नीसवीं सदी के शुरू के लेखको के बारे में बस इतना ही लिखना चाहता हूँ। एक बडे विषय के लिए यह बहुत थोड़ा है। कोई जानकार आदमी लिखता तो वह इस विषय पर बहुत सुन्दर लिख सकता था। वह तुम्हे उस ज़माने के संगीत और कला की भी अवश्य ही बहुत-सी वाते वता सकता था। इसमें जानने और कहने की ज़रूरत है, मगर यह मेरे बस की वात नहीं है। मेरे लिए तो हवा में न उड़कर ज़मीन पर चलने में ही ख़ैर है।

मैं इस ख़त को गेटे के 'फाउस्ट' नाम के ग्रन्थ में से एक कविता देकर पूरा कर देता हूँ। अलवत्ता यह जर्मन भाषा का अनुवाद है:—

Alas, alas!
Thou hast smitten the world,
Thou hast laid it low,
Shattered, o'er thrown,
Into nothingness hurld
Crushed by a demi-god's blow!

We bear them away,
The shards of the world,
We sing well-a-day
Over the loveliness gone,
Over the beauty slain
Build it again,
Great child of the Earth,
Build it again
With a finer worth,
In thine own bosom build it on high!
Take up thy life once more:
Run the race again!
High and clear
Let a lovelier strain
Ring out than ever before![1]

१ इसका हिन्दी भावार्थ अगले पृष्ठ पर देखिए:—

: १३० :

डार्विन और विज्ञान की विजय

३ फरवरी, १९३३

कवियो से अब वैज्ञानिको के पास चलें। मुझे भय है कि आज कवियों को निकम्मे जीव समझा जाता है, लेकिन वैज्ञानिक तो आज के जादूगर ठहरे। उनका असर भी है और आदर भी। उन्नीसवीं सदी से पहले यह बात नहीं थी। शुरू की सदियो में वैज्ञानिक की जान योरप में सदा जोखिम में रहती थी और कभी-कभी उसे जिन्दा जला दिया जाता था। मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि रोम के पादरियो ने जावर्दानो ब्रूनो को किस तरह जीते जी जला दिया था। सत्रहवी सदी में थोड़े ही वर्ष बाद गैलीलियो भी फाँसी के करीब-करीब पहुँच गया था, क्योकि उसने यह कहा था कि जमीन सूरज के चारो तरफ़ घूमती है। वह धर्म के ख़िलाफ़ चलने के कसूर में जला दिये जाने से इसलिए बच गया कि उसने धर्मगुरुओ से माफ़ी माँग ली और अपनी पहले की बात वापस लेली। इस तरह योरप में संगठित मजहब की विज्ञान के साथ कशमकश होती थी और नये ख़यालात को दबाने की कोशिश होती थी।

अफसोस ! अफसोस !
तूने दुनिया को पीडित कर दिया है,
तूने उसे धूल मे गिरा दिया है;
तूने उसे अर्द्धदैवी आघातो से तोड दिया है;
और उसे जर्जर करके शून्य मे फेक दिया है।
हम उन्हे बर्दाश्त करके अन्यथा कर रहे हैं—
हम जो ससार के पुष्पपात्र (गमले) के छिद्र की ककडिया हैं।
जो मृदुलता नष्ट हो गई है, और
जिस सौन्दर्य का वध हो चुका है,
उसे हम गाते हैं।
ओ पृथ्वी के महान् पुत्र !
पुन. इसका निर्माण करो।
इस बार सदुपयोग के लिए इसका निर्माण करो
अपने हृदय के अन्दर, ऊँचाई पर, उसका निर्माण करो।
एक वार फिर अपना जीवन धारण करके, और
उच्चता एव स्पष्टता के साथ मानव जाति को चलाओ।
आज अधिक सुन्दर स्वर का गुजन होने दो,
ऐसा, जैसा कभी सुनाई नही पड़ा है।

क्या योरप में और क्या और कहीं, संगठित मजहब के कई तरह के गढ़े-गढ़ाये कायदे होते हैं, जिन्हे उसके अनुयायियो को चू-चरा किये बिना मान लेना चाहिए, ऐसा समझा जाता है। विज्ञान का दृष्टिकोण जुदा ही है। वह किसी बात को यूँही नहीं मान लेता और न उसके कोई कट्टर सिद्धान्त होते हैं—कम-से-कम नहीं होने चाहिएँ। वह खुला दिमाग रखने की प्रवृत्ति को बढ़ाता है और बार-बार प्रयोग करके सत्य तक पहुँचना चाहता है। धार्मिक दृष्टिकोण से यह दृष्टिकोण साफ़ तौर पर जुदा है और इसलिए इन दोनों में अकसर कशमकश हो जाती थी तो कोई ताज्जुब की बात नहीं थी।

मेरा ख़याल है कि हर युग में अलग-अलग जातियो ने अलग-अलग तरह के प्रयोग किये है। कहा जाता है कि प्राचीन भारत में रसायनशास्त्र और जर्राही में काफी प्रगति हुई थी और यह बहुत-से प्रयोगो के बाद ही हो सका होगा। प्राचीन यूनानियो ने भी थोडे-बहुत प्रयोग किये थे। चीन वालो के बारे में तो कल ही मैंने अजीब हाल पढा है। उसमें २,५०० वर्ष पहले के चीनी लेखको के उद्धरण देकर यह दिखाया गया है कि उन्हे विकासवाद का सिद्धान्त मालूम था, वे शरीर में खून का दौरा होने की बात जानते थे और चीनी जर्राह बेहोशी की दवा सुंघाते थे। मगर हमें उस जमाने का इतना हाल मालूम नहीं है कि हम कोई ठीक नतीजा निकाल सके। अगर पुरानी सभ्यता वालो ने ये तरीके खोज निकाले थे तो फिर वे आगे चलकर इन्हे क्यो भूल गये? और उन्होंने आगे और तरक्की क्यो नहीं की? या यह बात थी कि वे इस प्रकार की प्रगति को काफी महत्व नहीं देते थे? सवाल तो बहुत-से और दिलचस्प उठते हैं, लेकिन हमारे पास उनका जवाब देने को मसाला नहीं है।

अरबों को भी प्रयोग करने का बहुत शौक था और मध्ययुग में योरप उनके पीछे-पीछे चलता था। मगर उनके सारे प्रयोग सच्चे वैज्ञानिक ढंग पर नहीं होते थे। उन्हे हमेशा पारस पत्थर की तलाश रहती थी, जिससे मामूली धातुओ का सोना बन जाने का आम विश्वास था। लोग पेचीदा कीमियागिरी (रासायनिक) के प्रयोग में अपनी जिन्दगी बिता देते थे कि किसी तरह धातुओं को सोने में तब्दील कर देने का गुर हाथ लगे। इसे कीमिया कहते थे। उन्होने 'अमृत' की खोज भी बडी मेहनत के साथ की। यह अमर होने की दवा थी। किस्से-कहानियो के बाहर और कहीं इसका उल्लेख नहीं पाया जाता कि किसीको इस अमृत या पारस पत्थर की प्राप्ति में सफलता मिली हो। यह सब असल में एक प्रकार से जादू-टोने का सहारा लेने की-सी बात थी और वह भी इस उम्मीद में कि धन, सत्ता और दीर्घ जीवन मिल सके। इससे विज्ञान की भावना का कोई वास्ता नहीं था। विज्ञान को जादू-टोने आदि से क्या सरोकार?

हाँ, योरप में सचमुच वैज्ञानिक तरीको का धीरे-धीरे विकास हुआ और विज्ञान के इतिहास में जिन बडे-से-बडे आदमियों का नाम लिया जाता है उनमे आइज़क न्यूटन नामका अंग्रेज भी एक था। यह १६४२ से १७२७ ई० तक जिन्दा रहा। न्यूटन ने पृथ्वी का आकर्षण-तत्त्व (कूवते कशिश) समझाया, यानी यह बताया कि चीजें गिरती क्यों है ? इसकी मदद से, और जो दूसरे तत्व मालूम हो चुके थे उनकी मदद से, न्यूटन ने सूर्य और दूसरे ग्रहो (सय्यारो) की चाल का भेद भी समझाया। छोटी-बडी सभी चीजो का उसके सिद्धान्तो से मेल बैठता हुआ दिखाई देने लगा और न्यूटन की बडी इज्जत हुई।

धर्म-संस्था की कट्टरता पर विज्ञान की भावना विजयी हो रही थी। अब उसे दबा सकना या उसके फैलाने वालों को जिन्दा जला देना मुमकिन नही था। अनेक वैज्ञानिको ने बडे धीरज और परिश्रम से प्रयोग का काम जारी रक्खा और सच्ची और नई-नई बाते मालूम करके उन्हे जमा किया। खासतौर पर इंग्लैण्ड और फ्रास में, और आगे चलकर जर्मनी और अमेरिका में, यह काम अच्छा हुआ। इस प्रकार वैज्ञानिक जानकारी की मात्रा बढ़ती गई। तुम्हे याद होगा कि अठारहवी सदी में ही योरप के शिक्षितवर्ग में बुद्धिवाद (Rationalism) का प्रचार हुआ था। इसी सदी में रूसो, वॉल्टेयर और कई दूसरे काबिल फ्रांसीसी हुए थे, जिन्होने तरह-तरह की किताबें लिखकर लोगो के दिमाग में उथल-पुथल मचादी। इसी सदी के गर्भ में फ्रास की महान् राज्य-क्रांति की तैयारी हो रही थी। इस बुद्धिवादी दृष्टिकोण का वैज्ञानिक दृष्टिबिन्दु से मेल बैठ गया और दोनो में एक बात समान थी। वह यह कि दोनो धर्म-संस्था के कट्टर दृष्टिकोण के विरोधी थे।

मैं और बातों के साथ तुम्हे यह भी बता चुका हूँ कि उन्नीसवी सदी विज्ञान की सदी थी। औद्योगिक क्रान्ति, कलो-सम्बंधी कायापलट और ढुलाई के तरीको में जो जबर्दस्त तब्दीलियाँ हुई थी उन सबका कारण विज्ञान था। बेशुमार कारखानों के उत्पत्ति के साधन बदल गये थे; भाफ से चलनेवाली रेलगाड़ियों और जहाजो ने एकाएक दुनिया को छोटा बना दिया था और बिजली का तार तो और भी बडे ताज्जुब की चीज था। इंग्लैण्ड की दूर-दराज सल्तनत के कोने-कोने से उसके यहाँ दौलत का दरिया बहने लगा। इससे पुराने ख़यालात को भारी धक्का लगना स्वाभाविक था और मजहब का असर अपनेआप कम होगया। खेती छोड़-छोड़कर लोग कारखानो में काम करने लगे और जमीन जोतने-बोने की देहाती जिन्दगी के खिलाफ कारखानों की जिन्दगी ने लोगों को मजबूर किया कि वे मजहबी मसलो की बनिस्बत आर्थिक मामलों पर ज्यादा गौर करे।

उन्नीसवीं सदी के बीच में, यानी १८५९ ई० में, इंग्लैंड में एक किताब छपी, जिससे कट्टरता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की कशमकश खूब बढ़ गई । यह किताब चार्ल्स डार्विन की 'प्राणी-समूहो की उत्पत्ति' (Origin of Species) थी । डार्विन की गिनती बहुत बडे वैज्ञानिको में नहीं है । उसने जो कुछ लिखा उसमें कोई बहुत नई बात नहीं है । डार्विन से पहले दूसरे भूगर्भ-विद्या-विशारदो और पदार्थविज्ञानियो ने भी काम किया था और बहुत-सी सामग्री जमा कर रक्खी थी । फिर भी डार्विन का ग्रथ युग-प्रवर्तक था । इसका गहरा असर पड़ा और किसी दूसरी वैज्ञानिक पुस्तक की बनिस्बत इससे सामाजिक दृष्टिकोण बदलने में ज्यादा मदद मिली । इससे लोगो के दिमाग में एक तरह का जलजला आगया और डार्विन मशहूर होगया ।

पदार्थ-विद्या का अध्ययन करते हुए डार्विन दक्षिण अमेरिका और प्रशान्त महासागर में इधर-उधर खूब भटका था और सामग्री और प्रमाण भी उसने बडी तादाद में इकट्ठे कर लिये थे । उनका इस्तेमाल करके उसने यह दिखाया कि हरेक पशु-जाति एक-दूसरे में क़ुदरती तौर पर मिलकर किस तरह परिवर्तन और विकास कर चुकी है । उस समय तक बहुत लोगो का यह ख़याल था कि इनसान और दूसरे सब तरह के प्राणियों को ईश्वर ने अलग-अलग बनाया है । और सृष्टि के शुरू से ही वे अलग-अलग रहे हैं और उनमें कोई तब्दीली नहीं हुई है । कहने का मतलब यह है कि एक प्राणी-समूह दूसरा नहीं बन सकता । डार्विन ने ढेर-की-ढेर सच्ची मिसालें देकर साबित कर दिया कि ये समूह आपस में अवश्य बदलते हैं और विकास का यही साधारण ढग है । ये तब्दीलियाँ क़ुदरती तौर पर एक-दूसरे से मिल जाने की प्रवृत्ति से होती है । अगर किसी छोटे-से परिवर्त्तन से किसी समूह को कुछ भी लाभ हो गया या दूसरों के मुक़ाबिले में जीवित रहने से मदद मिल गई तो वह परिवर्त्तन धीरे-धीरे स्थायी हो जायगा, क्योंकि यह जाहिर है कि इस बदले हुए समूह के प्राणी ज्यादा जियेंगे । कुछ समय बाद इस बदले हुए समूह की अधिकता हो जायगी और वह दूसरे समूह का सफाया कर देगा । इस तरीके से एक के बाद दूसरे परिवर्तन होते चले जायेंगे और थोडे समय बाद लगभग नया समूह बन जायगा । समय पाकर कुदरती तौर से मिलने के नियम के अनुसार अपेक्षाकृत बलवान समूह जीवित रहते जायेंगे और कमजोरों का नाश होता जायगा और इस क्रिया के कारण बहुत-से नये-नये समूह पैदा होते रहेंगे । यह नियम पौधो, जानवरों और आदमियो तक पर लागू होगा । इस उसूल के मुताबिक मुमकिन है जो तरह-तरह के वनस्पति और प्राणी-समूह आज दिखाई दे रहे हैं उन सबका कोई एक ही पुरखा रहा हो ।

कुछ ही वर्ष बाद डार्विन की दूसरी पुस्तक 'मनुष्य का वंश' (The Descent

of Man) के नाम से प्रकाशित हुई। उसमें उसने यही उसूल इनसान पर लागू करके दिखाया। विकास और प्राकृतिक चुनाव का यह विचार अब ज्यादातर लोगों ने मान लिया है, हालांकि ठीक उसी तरह तो नही माना है जिस तरह डार्विन और उसके अनुयायियों ने पेश किया है। असल में तो चुनाव के इस उसूल का इस्तेमाल करना लोगो के लिए बिलकुल मामूली बात है। इन्ही बनावटी उपायो से जानवरो की नस्ल का सुधार किया जाता है। आजकल के बहुत से बढ़िया-से-बढ़िया जानवर और पौधे बनावटी उपायो से पैदा की हुई नई जातियां ही तो है। अगर इनसान थोडे-से वक्त में इस तरह की तब्दीलियाँ और नई-नई जातियाँ पैदा कर सकता है तो लाखों और करोडो वर्ष के दरमियान क़ुदरत क्या-क्या नहीं कर सकी होगी ? लन्दन के दक्षिण केनसिंगटन के संग्रहालय जैसे किसी अजायबघर को देखने से पता चलता है कि किस तरह वनस्पति और प्राणी लगातार अपनेको प्रकृति के अनुकूल बनाते जा रहे है।

हमें चूंकि ऐसे विचारो की आदत-सी पड़ गई है, इसलिए हमें कोई प्रमाण देने की जरूरत दिखाई नहीं देती। लेकिन ७० वर्ष पहले ये विचार इतने स्वयं-सिद्ध नहीं थे। उस वक़्त ज्यादातर लोगो का यही विश्वास था कि बाइबिल में लिखे मुताबिक दुनिया की उत्पत्ति को ईसामसीह से पहले पूरे चार हज़ार चार वर्ष हुए थे और हरेक पेड़ और जानवर अलग-अलग पैदा किया गया था और सबसे अंत में मनुष्य बनाया गया था। वे मानते थे कि बाढ़ आई थी और नूह की नाव में सारे जानवरों के जोडे इसलिए रक्खे गये थे कि किसी भी जाति का लोप न हो जाय। ये सब बातें डार्विन के सिद्धान्त से मेल नहीं खाती। डार्विन और भूगर्भ-विद्या-विशारद लोग जब पृथ्वी की उम्र का जिक्र करते थे तो ६,००० वर्ष के अल्पकाल के बजाय लाखों वर्ष की बात करते थे। इस तरह लोगों के दिमाग़ में एक जबरदस्त उथल-पुथल मची हुई थी और बहुतसे भले आदमियों को यह नहीं जान पड़ता था कि क्या करे। उनकी पुरानी श्रद्धा उन्हें एक बात मानने को कहती थी और उनकी बुद्धि दूसरी। जब इनसान कुछ उसूलों में अन्ध-विश्वास रखने लग जाते है और उन विश्वासों को धक्का लगता है तो वे अपनेआपको दुःखी और असहाय समझ बैठते है और खडे होने को उन्हे कहीं पक्की धरती दिखाई नहीं देती। मगर जिस धक्के से हमें सत्य का ज्ञान हो, वह अच्छा ही है। हम हिन्दुस्तानियो को भी ऐसे धक्के की जरूरत है।

यों इंग्लैण्ड और योरप के दूसरे देशों में विज्ञान और धर्म के बीच बडी हुज्जत और कशमकश हुई। इसका नतीजा क्या होता, इसमें तो शुबहा ही नहीं हो सकता था। उद्योग और मशीन की नई दुनिया का दारोमदार विज्ञान पर था। इस कारण

विज्ञान तो निकम्मी चीज़ समझकर फेंका नहीं जा सकता था। विज्ञान की बराबर जीत होती चली गई। प्राणियों के एक-दूसरे में अपने-आप मिल जाने और दूसरो के मुकाबिले में योग्यतम जीवों के बच रहने की बाते आम लोगों की ज़बान पर हो गईं, भले ही वे पूरी तरह यह न समझते हो कि जो लफ़्ज़ वे इस्तेमाल कर रहे हैं उनका क्या अर्थ है। डार्विन ने अपनी 'मनुष्य के वंश' (Descent of Man) नाम की किताब में यह बताया था कि शायद इनसान और कुछ बन्दर जातियो का पूर्वज एक ही हुआ होगा। यह बात विकास-क्रिया की बीच की अलग-अलग मंज़िलें दिखा-कर कई मिसालो से साबित नहीं की जा सकी। इसीसे बन्दर की शकल के आदमि-यो को 'खोई हुई कडी' कहकर आम लोगों में मज़ाक चल पड़ा। और ताज्जुब की बात तो यह हुई कि शासकवर्ग नें भी डार्विन के उसूल को तोड़-मरोड़कर उससे अपनी सुविधा का अर्थ निकाल लिया। उनका पक्का विश्वास होगया कि इस उसूल से उनके बड़प्पन या उच्चता का एक प्रमाण और मिल गया। यह साबित हो गया कि ज़िन्दगी की लड़ाई में वे सबसे काबिल थे,ः इसीलिए बच रहे और इस तरह 'प्राकृतिक चुनाव' से वे ऊपर आगये और शासकवर्ग बन गये ! एक वर्ग के दूसरे वर्ग पर और एक जाति के दूसरी जाति पर प्रभुता रखने के पक्ष में यह एक दलील बन गई। साम्राज्यवाद और गोरी जातियो के सबसे ऊँचे होने के अधिकार की यह आख़िरी दलील होगई। और पश्चिम के बहुत लोग सोचने लगे कि वे दूसरों पर जितनी धौंस रक्खेंगे और जितने बेरहम और ताकतवर बनकर रहेगे उतनी ही मनुष्य के रूप में उनकी कीमत और इज़्ज़त बढ़ेगी। यह कोई सुहावना तत्त्वज्ञान नहीं है, मगर इससे एशिया और अफ़रीका में पश्चिम की साम्राज्यवादी कौमो ने जैसे शर्मनाक काम किये हैं उनका अर्थ कुछ-कुछ समझ में आजाता है। डार्विन के उसूल का साम्राज्यवादियो ने जो मतलब किया है उसके मुताबिक तो चंगेज़ख़ाँ को उसके ज़माने की संस्कृति का बढ़िया-से-बढ़िया नमूना मानना होगा, क्योंकि उसनें एशिया और योरप को कब्ज़े में करके उनका ख़ासा हिस्सा बर्बाद कर दिया था; अथवा यूँ कहो कि अटिला के हूण अनुयायी अपने ज़माने के आदर्श लोग थे ! आज भी पश्चिम के कुछ लोग इन मुकाबिलों को मानकर उनपर अमल करने को तैयार है।

आगे चलकर दूसरे वैज्ञानिको ने डार्विन के उसूलो की टीका की है, लेकिन उसके सामान्य विचार आज भी मानें जाते हैं। उसके उसूलो को आम तौर पर मान लेने का एक नतीजा यह हुआ कि लोगो का प्रगति के विचार में विश्वास होगया। इस विचार का यह अर्थ था कि सारा संसार या मनुष्य और समाज पूर्णता की ओर तेज़ी से बढ़ रहे हैं और दिन-दिन सुधरते जा रहे हैं। प्रगति की यह कल्पना डार्विन

के सिद्धान्त का ही नतीजा था। वैज्ञानिक आविष्कार के सारे प्रवाह और औद्योगिक क्रान्ति के जरिये और उसके बाद होनेवाली तब्दीलियों ने लोगों को इसके लिए मन-ही-मन तैयार कर दिया था। डार्विन के उसूल से इस मामले पर सबका ध्यान खिंच गया और लोग ऐसी कल्पना करने लगे कि मानवीय पूर्णता का ध्येय कुछ भी हो, मगर वे विजय-पर-विजय हासिल करते हुए ऊँचा सिर करके उसकी तरफ तेजी से बढ़ रहे हैं। यह मजे की बात है कि तरक़्क़ी की यह कल्पना नई थी। गुजरे हुए जमाने में योरप, एशिया या पुरानी किसी सभ्यता में भी ऐसी कोई कल्पना नहीं हो, यह नहीं दीखता। योरप में ठेठ औद्योगिक क्रान्ति के वक्त तक लोग भूतकाल को यों ही आदर्श काल समझते थे। बाद के युगों से प्राचीन यूनान और रोम का जमाना अधिक बढ़िया, उन्नत और सभ्य माना जाता था। जाति दिन-दिन बिगड़ती और नष्ट होती जा रही थी, ऐसा लोगों ने समझ लिया, या, कम-से-कम कोई स्पष्ट परिवर्तन नहीं हुआ।

हिन्दुस्तान में भी बहुत-कुछ यही ख़याल है कि पुराने जमाने में 'राम-राज' था और फिर बिगड़ते-बिगड़ते आज की हालत होगई है। भारतीय पुराण भी भूगर्भ-विद्या की भांति समय की गिनती लाखों वर्ष के युगों से करते हैं। परन्तु वे हमेशा सत-युग के महान् काल से शुरू करके वर्तमान बुरे जमाने कलियुग में समाप्त करते हैं।

तो हमने देख लिया कि इनसानी तरक्की का ख़याल बिलकुल नया ख़याल है। प्राचीन इतिहास का हमें जैसा कुछ ज्ञान है उससे हमें इस ख़याल में यकीन होता है। लेकिन हमारा इल्म अभी बहुत महदूद है और मुमकिन है हमारा ज्ञान बढ़ने पर हमारा दृष्टिकोण बदल जाय। उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में इस 'प्रगति' की बाबत जितना उत्साह था उतना तो आज भी नहीं रहा है। अगर प्रगति का नतीजा यही हो कि पिछले महायुद्ध की तरह हम-एक दूसरे को बरबाद करें तब तो ऐसी प्रगति में कोई-न-कोई ख़राबी है। दूसरी बात याद रखने की यह है कि डार्विन के योग्यतमय प्राणी के बच रहने के उसूल का मतलब यही नहीं है कि अच्छे-से-अच्छे जीव जिन्दगी की कशमकश में कामयाब होते हैं। ये सब तो पण्डितों के अनुमान की बातें हैं। हमारे ध्यान में रखने की बात सिर्फ यह है कि संसार के स्थिर रहने, उसमें कोई तब्दीली न होने या समाज के बिगड़ते जाने का जो पुराना और व्यापक विचार था उसे उन्नीसवीं सदी में आधुनिक विज्ञान ने एक तरफ़ धकेल दिया और उसकी जगह पर यह ख़याल फैल गया कि समाज में तेजी की हरकत होती है और वह बराबर बदलता रहता है। समाज बराबर प्रगति कर रहा है, यह ख़याल भी फैल गया।

बेशक इस ज़माने में समाज में तब्दीली भी इतनी होगई है कि पहचान नही सकते।

जब मै तुम्हे प्राणी-समूहो की पैदाइश का डार्विन का उसूल बता रहा हूँ तो तुम्हे यह जानकर भी खुशी होगी कि इस बारे में एक चीनी ने १,५०० वर्ष पहले क्या लिखा था। उसका नाम सोन-ले था और उसनें ईसा के छ सौ वर्ष पहले, बुद्धकाल के आसपास, लिखा था—"सब जीवो की उत्पत्ति एक ही जाति से हुई है। इस अकेली जाति में बहुत-से धीरे-धीरे और लगातार परिवर्तन हुए और फिर अलग-अलग प्रकार के सारे जीव पैदा हुए। इन जीवो में तुरंत भिन्नता नहीं हुई थी, बल्कि इसके खिलाफ़ उनमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी धीरे-धीरे परिवर्तन होकर भेद हुए थे।" यह सिद्धान्त डार्विन के सिद्धान्त से काफी मिलता-जुलता है और ताज्जुब की बात है कि इस पुराने चीनी जीव-शास्त्री नें ऐसा नतीजा निकाल लिया था जिसकी फिर से खोज करने में संसार को ढाई हज़ार साल लगे।

जैसे-जैसे उन्नीसवी सदी बीतती गई, वैसे-वैसे तब्दीलियो की रफ्तार भी खूब तेज होती गई। विज्ञान नें एक-से-एक हैरतअंगेज़ बात की और मुख्तलिफ खोजो और ईजादो का कभी खतम न होनेवाला सिलसिला देखकर लोगों की आँखो में चकाचौंध होगई। इनमें से तार, टेलिफ़ोन, मोटर और आख़िर हवाई जहाज़ जैसी कितनी ही ईजादो से लोगो की जिन्दगी में बडी तब्दीली होगई है। विज्ञान ने दूर-से-दूर आकाश, अदृश्य परमाणु और उसके भी छोटे हिस्सो को नापने की हिम्मत की। विज्ञान से मनुष्यो की एक ही तरह की मेहनत में कमी होगई और जिन्दगी में लाखों को थोड़ा-बहुत आराम मिलने लग गया। विज्ञान के कारण दुनिया की, खासकर औद्योगिक देशो की, आबादी खूब बढ़ गई। साथ ही, विज्ञान से सम्पूर्ण नाश के साधनो का भी विकास हुआ। मगर इसमें विज्ञान का दोष नहीं था। इसका काम प्रकृति पर मनुष्य की प्रभुता बढ़ाते जाना था। वह काम यह करता रहा। मगर आदमी कुदरत पर काबू पाकर अपनेपर काबू रखना भूल गया। इसलिए वह अकसर भूल करता और विज्ञान की देन को बरबाद करता रहा। लेकिन विज्ञान विजयी होकर बराबर तेज़ी से आगे बढ़ता गया और उसने डेढ़सौ साल के भीतर दुनिया की पहले के हज़ारो वर्ष से भी ज्यादा कायापलट कर दी। सचमुच विज्ञान ने दुनिया की जिन्दगी की हर दिशा और हर हिस्सों में क्रान्ति करदी है।

अब भी विज्ञान की कूच जारी है और इसकी रफ़्तार दिन-दिन तेज़ दिखाई देती है। इसे कोई चैन नहीं है। एक रेलवे बनती है, मगर जबतक उसके चालू होने का वक़्त आता है तबतक वह पुरानी भी पड़ जाती है! एक मशीन खरीद कर खडी करते है कि एक-दो साल में ही उसी तरह की उससे बढ़िया और ज्यादा काम

देनेवाली दूसरी मशीने बनने लगती हैं। इस तरह यह पागलों की-सी दौड़ चल रही है। अब हमारे जमाने में तो भाफ की जगह बिजली लेती जारही है और इस तरह उतनी ही बडी क्रान्ति कर रही है जितनी डेढ़ सदी पहले औद्योगिक क्रान्ति हुई थी।

विज्ञान के बेशुमार राजमार्ग और गली-कूचे होगये है और उनमें बेशुमार वैज्ञानिक और विशेषज्ञ बराबर काम कर रहे हैं। आज इनमें सबसे बडे का नाम एल्बर्ट आइंस्टीन है। इस महापुरुष ने कुछ हदतक न्यूटन के मशहूर उसूल में भी संशोधन कर डाला है।

हाल ही में विज्ञान में इतनी जबरदस्त तरक्की हुई है और वैज्ञानिक उसूलों में इतनी जबरदस्त तब्दीलियाँ और सुधार हुए है कि खुद वैज्ञानिक भी हैरतज़दा होगये। अपनी बात के पक्की होने का उनका सारा पुराना आत्म-विश्वास और घमण्ड जाता रहा। अब वे अपने नतीजो के बारे में और भविष्य-वाणी करने में हिचकते हैं।

मगर यह बात बीसवी सदी और हमारे अपने वक्त में पैदा हुई है। उन्नीसवीं सदी में पूरा-पूरा आत्म-विश्वास था। और विज्ञान अपनी असंख्य विजयो के गर्व में लोगो के सिर पर जा बैठा था और उन्होने इसे देवता समझकर इसके सामने सिर झुका दिया था।

: १३१ :

लोकतंत्र की प्रगति

१० फरवरी, १९३३

पिछले खत में मैंने तुम्हे उन्नीसवीं सदी की वैज्ञानिक उन्नति की झलक दिखाने की कोशिश की थी। अब हम इस सदी के दूसरे पहलू—लोकसत्तात्मक विचारों के विकास—को देखें।

तुम्हें याद होगा कि मै तुम्हे अठारहवीं सदी के फ्रांस के ख़यालात की कशमकश का हाल बता रहा था। उस वक्त के सबसे बडे विचारक और लेखक वाल्टेयर और दूसरे फ्रांसीसी महापुरुषो ने धर्म और समाज के कितने ही पुराने ख़यालात को चुनौती दी थी और साहस के साथ नये उसूलों को साबित किया था। उस वक़्त इस तरह राजनैतिक विचार करने का काम ज्यादातर फ्रांस में महदूद था। जर्मनी में तत्त्वेत्ता थे, मगर उनकी दिलचस्पी तत्त्वज्ञान के गहरे सवालो में ज्यादा थी। इंग्लैण्ड में व्यवसाय और व्यापार बढ़ रहा था और ज्यादातर लोगों को परिस्थिति से मजबूर हुए बिना सोचने का शौक़ नहीं था। हाँ, अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में इंग्लैण्ड में एक

मार्क की किताब जरूर छपी। यह एडम स्मिथ की 'राष्ट्रो की सम्पत्ति' (Wealth of Nations) नाम की किताब थी। यह खालिस राजनैतिक किताब नहीं थी, बल्कि राजनैतिक अर्थशास्त्र की किताब थी। उस वक्त और सब विषयो की तरह इस विषय के साथ भी धर्म और नीति मिले हुए थे और इससे बडी गड़बड़ मची हुई थी। एडम स्मिथ ने इस विषय का खुलासा वैज्ञानिक ढंग से किया। उसने सारी नैतिक पेचीदगियो की उपेक्षा करके अर्थशास्त्र पर असर डालनेवाले कुदरती कायदों को खोजने की कोशिश की। शायद तुम जानती होगी कि अर्थशास्त्र इस बात का विवेचन करता है कि समूचे मानव-समाज या किसी देश के आमद-खर्च का इन्तजाम कैसे किया जाता है, वे क्या पैदा और क्या खर्च करते है और उनके आपस में और दूसरे मुल्कों और कौमो के साथ क्या ताल्लुकात होते है। एडम स्मिथ का विश्वास था कि ये सारी पेचीदा बातें कुछ निश्चित कुदरती कायदों के मुताबिक होती है। अपनी किताब में उसने इन्हीं क़ायदो के बारे में लिखा है। उसका यह भी विश्वास था कि उद्योगधंधो की तरक्की के लिए पूरी तरह आजादी होनी चाहिए, जिससे इन नियमो में दस्तंदाजी न हो। 'जैसा हो वैसा होने देने' का उसूल यहींसे चला। इसका कुछ जिक्र मैं तुमसे पहले ही कर चुका हूँ। उस वक्त फ्रांस में जो नये लोकसत्तात्मक खयाल पैदा हो रहे थे उनसे एडम स्मिथ की किताब का कोई वास्ता न था। परन्तु उसने इनसानों और कौमो से ताल्लुक रखनेवाली एक बडी महत्वपूर्ण पहेली को वैज्ञानिक ढंग से निरूपण करने की कोशिश जरूर की। इससे जाहिर होता है कि लोग हर चीज को पुरानी मजहबी दृष्टि से देखना छोड़कर एक नई दिशा में जा रहे थे। एडम स्मिथ को अर्थशास्त्र का पिता समझा जाता है और उन्नीसवीं सदी के कितनी ही अंग्रेज अर्थशास्त्रियो को उससे प्रेरणा मिली।

नया अर्थशास्त्र थोडे-से अच्छे पढ़े-लिखे आदमियो और प्रोफेसरो तक महदूद रहा। लेकिन इस बीच में नये लोकसत्तात्मक खयाल फैल रहे थे और उन्हे अमेरिका और फ्रांस की राज्य-क्रान्तियों से बडी भारी मदद और शोहरत हासिल हुई। अमेरिका की आजादी के ऐलान और फ्रांस के अधिकारो की घोषणा के दिलचस्प लफ्जो और जुमलो से लोगो के दिलों पर गहरा असर पड़ता था। जो करोडों आदमी कुचले हुए पडे थे और जिनको चूसा जा रहा था उनके दिल इस दिव्यवाणी से फड़क उठे और उन्हे उसमें अपने उद्धार का संदेश मिला। दोनो ऐलानों में आजादी, बराबरी और सबके सुखी रहने के हक का जिक्र था। इन कीमती हको के जोरदार ऐलान से ही लोगों को ये हक नहीं मिल गये। आज इन घोषणाओ के डेढ़सौ वर्ष बाद भी बहुत कम लोगो के लिए कहा जा सकता है कि वे ये अधिकार भोग रहे है।

लेकिन इन उसूलो का ऐलान भी एक गैर-मामूली और जीवन देनेवाली बात थी। ऐसी बात पहले कभी नहीं हुई थी।

योरप में, और दूसरे देशो में भी, ईसाई और दूसरे मजहबो के मुताबिक पुरानी कल्पना यह थी कि पाप और दुःख सभी इनसानों की किस्मत में लाजिमी तौर से लिखा है। ऐसा मालूम होता था कि मजहब ने दुनिया में ग़रीबी और मुसीबत को सदा के लिए बरकरार कर दिया है और इज्जत की जगह पर रख दिया है। धर्म ने जिन पुरस्कारो और अच्छी बातो का वादा किया वे सब किसी दूसरी दुनिया में मिलने वाले थे। इस जन्म में तो हमें किस्मत के भरोसे जो हो उसीको बर्दाश्त कर लेनें का और कोई मौलिक तब्दीली न चाहने का ही उपदेश दिया गया। दान-पुण्य यानी ग़रीबो को टुकडे डाल देने की वृत्ति को बढ़ाया गया, मगर गरीबी या गरीबी को पैदा करनेवाले तरीके को मिटाने की कोई कल्पना नही थी। बराबरी और आजादी के ख़याल ही धर्मसंस्था और समाज के अधिकारवादी दृष्टिकोण के खिलाफ थे।

लोकसत्ता का यह तो कहना नहीं था कि सब इनसान दरअसल बराबर हैं। वह ऐसा कह भी नही सकती थी, क्योंकि इनसान-इनसान में फ़र्क साफ दिखाई देता है। शारीरिक असमानता के कारण ही कुछ इनसान दूसरो से ताकतवर होते हैं। मानसिक भेद का सबूत यह मिलता है कि कुछ इनसान दूसरों से काबिल यानी अक़्लमन्द होते है। नैतिक अन्तर चन्द आदमियो को खुदगर्ज और दूसरो को खुदगर्जी से दूर रखता है। यह बिलकुल मुमकिन है कि इनमें से बहुतसे भेद अलग-अलग तरह से परवरिश और तालीम होने की वजह से हों या तालीम न मिलने से होते हो। दो बराबर काबलियतवाले लड़कों या लड़कियो में से एक को अच्छी तालीम देदो और दूसरे को बिलकुल न दो तो कुछ वर्ष बाद दोनो में जबर्दस्त फर्क हो जायगा। या एक को तंदुरुस्ती बढ़ाने वाला खाना दो और दूसरे को ख़राब और नाकाफी खूराक खिलाओ तो पहले का ठीक-ठीक विकास हो जायगा और दूसरा कमजोर, रोगी और अविकसित रहेगा। इस तरह परवरिश, वातावरण और तालीम से भारी अन्तर हो जाता है और मुमकिन है कि अगर सबको एक ही तरह की तालीम और सुविधायें मिलें तो असमानता आज से कही कम हो जाय। यह असल में बिलकुल मुमकिन है। लेकिन जहाँतक लोकसत्ता का ताल्लुक है, वह मानती है कि असल में इनसान असमान होते है, और फिर भी वह कहती है कि सबकी बराबर की सामाजिक और राजनैतिक क़ीमत समझकर बर्ताव करना चाहिए। यदि इस लोकसत्तात्मक सिद्धान्त यानी जम्हूरी उसूल को पूरी तरह मान लेतो हमें तरह-तरह के क्रान्तिकारी नतीजो पर पहुँच जाते है। यहाँ हमें इनकी चर्चा करने की जरूरत नहीं, लेकिन इस उसूल का एक

साफ़ नतीजा यह निकला कि शासन-सभा या पार्लमेण्ट के चुनाव में हर शख़्स को राय देने का हक होना चाहिए। राय देने का हक राजनैतिक ताकत की निशानी है और यह मान लिया गया है कि अगर हर आदमी को राय देने का हक़ है तो उसे राजनैतिक ताकत में बराबर का हिस्सा मिल जायगा। सारी १९वीं सदी में लोकसत्ता की एक ख़ास माँग यह थी कि राय देने का हक़ ज्यादा-से-ज्यादा लोगो को दिया जाय। जब हरेक बालिग औरत-मर्द को राय देने का हक़ मिल जाता है तो उसे बालिग-मताधिकार कहते हैं। बहुत ज़माने तक औरतो को राय देने का हक नही मिला था और बहुत अरसा नहीं हुआ जब ख़ास तौर पर ब्रिटेन में स्त्रियो ने इस बारे में भारी आन्दोलन किया था। ज्यादा-तर सभ्य देशो में आजकल स्त्री और पुरुष दोनो को बालिग़-मताधिकार हासिल है।

मगर दिल्लगी क्या हुई कि जब ज्यादातर लोगो को राय देने का हक मिल गया, तब उन्हें मालूम हुआ कि इससे हालत में कोई बड़ा फर्क नहीं पड़ा। राय देने का हक मिल जाने पर भी हुकूमत में उन्हे या तो कुछ भी अधिकार नही मिला या बहुत थोड़ा मिला। भूखे को मताधिकार किस काम का ? सच्ची ताकत उन लोगो के हाथ में रही जो उसकी भूख से फायदा उठाकर उससे काम ले या अपने फ़ायदे की कोई और बात उससे करा सकते थे। इस तरह राय देने के हक से जिस राजनैतिक ताकत के मिलने का ख़याल था वह बिना असलियत की एक परछाई साबित हुई। उससे माली ताकत नहीं मिली और शुरू के लोकसत्तावादियो ने मताधिकार से बराबरी कायम करने के जो बढ़-बढ़कर सपने देखे थे वे झूठे साबित हुए।

मगर यह बात तो बहुत आगे चलकर पैदा हुई। शुरू के दिनो में यानी अठारह-वीं सदी के अख़ीर और उन्नीसवी के शुरू में लोकसत्तावादियो में बड़ा जोश था कि लोकसत्ता सबको आज़ाद और समान नागरिक बना देगी और हुकूमत सबके सुख का उपाय करेगी! अठारहवी सदी के राजाओ और सरकारो ने जिस मनमानी से काम लिया था और अपनी निरंकुश सत्ता का जैसा बुरा इस्तेमाल किया था उसके खिलाफ बडी प्रतिक्रिया हुई, इससे लोगो को अपनी घोषणाओ में मनुष्यो के अधिकारों का भी ऐलान करना पड़ा। शायद अमेरिका और फ़्रांस की घोषणाओ में मनुष्यो के अधिकारों का इस तरह ज़िक्र करके दूसरी तरफ कुछ भूल की गई। आपस में गुंथे हुए समाज में मनुष्यो को अलग करके उन्हे पूरी आज़ादी दे सकना आसान काम नही है। ऐसे मनुष्यो और समाज के हित आपस में टक्कर खा सकते है और खाते है। ख़ैर, कुछ भी हो, लोकसत्ता व्यक्तियो को काफ़ी आज़ादी देने की तरफदार है।

इंग्लैण्ड अठारहवी सदी में तो राजनैतिक ख़यालात में पिछड़ा हुआ था, लेकिन अमेरिका और फ़्रांस की राज्यक्रान्तियो से उसका हिल उठना स्वाभाविक था। उस-

पर पहला असर तो इस भय का हुआ कि कहीं नये लोकसत्तात्मक विचारो से देश मे सामाजिक क्रान्ति तो नही होजायगी। शासक-वर्ग पहले से भी ज्यादा कट्टर और दकियानूसी होगये। फिर भी पढ़े-लिखे लोगो में नये ख़याल फैलते गये। इस समय टामस पेन नामक एक मजेदार अंग्रेज हुआ। आजादी की लड़ाई के वक्त वह अमेरिका में था और उसने अमेरिकावासियो की मदद की थी। अमेरिकन लोगो का ख़याल पूर्ण स्वाधीनता के पक्ष में बदल देने के लिए वह भी कुछ जिम्मेदार मालूम होता है। इंग्लैण्ड लौटने पर उसने फ़ास की राज्य-क्रान्ति के समर्थन में 'मनुष्य के अधिकार' (The Rights of Man') नाम की एक किताब लिखी। यह क्रान्ति उस वक्त शुरू हुई ही थी। इस किताब में उसने एकतंत्री शासन-पद्धति पर हमला और लोकसत्ता की हिमायत की थी। इस कारण ब्रिटिश सरकार ने उसे बाग़ी क़रार देदिया और उसे भागकर फ़ांस चले जाना पड़ा। पेरिस में वह बहुत जल्द राष्ट्रपरिषद् का सदस्य बन गया, मगर १७९३ ई० में जैकोबिन सम्प्रदाय वालो ने उसे क़ैद कर दिया, क्योकि उसने राजा सोलहवे लुई को फाँसी देने की मुख़ालफ़त की थी। पेरिस के जेलखाने में उसने 'तर्क-युग' (The Age of Reason) नाम की दूसरी किताब लिखी। इसमें उसने धार्मिक दृष्टिकोण की आलोचना की। रोब्सपियर के मरने के बाद पेरिस-जेल से वह छोड़ दिया गया। इधर पेन अंग्रेज़ी अदालतो की पहुँच के बाहर था, इसलिए इस किताब को छापने के जुर्म में उसके अंग्रेज प्रकाशक को क़ैद की सजा देदी गई। ऐसी किताब समाज के लिए खतरनाक समझी गई, क्योकि ग़रीबों को अपनी जगह पर रखने के लिए धर्म ज़रूरी माना जाता था। पेन को किताब के कई प्रकाशक जेल भेजे गये। इनमें औरते भी थीं। यह दिलचस्प बात हुई कि कवि शेली ने जज को इस सजा के विरोध में एक पत्र लिखा था।

उन्नीसवीं सदी के सारे पहले आधे हिस्से में जो लोकसत्तात्मक विचार फैले, योरप में उनको पैदा करनेवाली फ़ांस की राज्य-क्रान्ति थी। असल में हालात जल्दी-जल्दी बदल रहे थे, फिर भी क्राति के विचार वे ही रहे। ये लोकसत्तात्मक विचार राजाओ और निरंकुश शासन-प्रणाली के खिलाफ बौद्धिक प्रतिक्रिया थे। इन विचारो की जड़ उद्योगवाद के पहले की स्थिति में थी। लेकिन भाफ और बडी-बडी मशीनो का नया उद्योग पुरानी व्यवस्था को पूरी तरह उलट रहा था। फिर भी ताज्जुब की बात यह थी कि शुरू उन्नीसवी सदी के उग्र सुधारक और लोकसत्तावादी इन तब्दीलियों की परवा न करके क्रान्ति और इनसान के हक़ों के ऐलान की दिलचस्प जबान में ही बात करते रहे। शायद उनके लिए ये तब्दीलियाँ निरी भौतिक थी और उनका लोकसत्ता की आध्यात्मिक, नैतिक और राजनैतिक ऊँची माँगों पर कोई असर नही पड़ा।

मगर दुनियावी चीजो का कुछ अजीब हाल है कि उनकी अपेक्षा नही की जा सकती। यह बडी दिल्लगी की बात है कि लोगो के लिए पुराने खयालात छोड़कर नये इख्तियार करना कितना गैरमामूली तौर पर मुश्किल काम है। वे अपनी आँखें और दिमाग बन्द करके देखने से ही इनकार कर देते है और पुरानी बातो से नुकसान होता हो तो भी उनसे चिपटे रहते है और उनके लिए लड़ते है। वे और सब-कुछ कर लेते है, लेकिन नये खयालात को मंजूर नही करते और हालत के मुताबिक नहीं बन जाते। कट्टरता की ताकत बडी जबरदस्त होती है। उग्र सुधारक भले ही अपनेको बहुत आगे बढ़े हुए समझें, मगर वे भी अकसर पुराने और गलत साबित हो चुके विचारों को पकडे रहते है और बदलते हुए हालात की तरफ आँखें बन्द कर लेते है। कोई ताज्जुब नहीं कि प्रगति की चाल धीमी होती है और अकसर असली हालात और लोगो के खयालात में बड़ा फर्क पड़ जाता है, जिसका नतीजा यह होता है कि क्रान्तिकारी परिस्थिति पैदा होजाती है।

इस तरह कई युगो तक लोकसत्ता का काम सिर्फ फ्रास की राज्य-क्रान्ति के विचारो और परम्पराओ को जारी रखना ही रहा। नई हालतो में अनुकूल न बन सकने के कारण लोकसत्ता कमजोर पड़ गई। यह उन्नीसवी सदी के अखीर की बात है, आगे चलकर बीसवी सदी में तो बहुत लोगो ने लोकसत्ता के खयालात ही छोड़ दिये। हिन्दुस्तान में आज भी हमारे बहुत-से आगे बढ़े हुए राजनीतिज्ञ फ्रांस की राज्यक्रान्ति और मनुष्य के अधिकारो की ही बात करते है। उस वक्त से अबतक क्या-क्या हो चुका है, इसका उनके लिए कोई महत्त्व नहीं।

शुरू के लोकसत्तावादियो का बुद्धिवादी बन जाना स्वाभाविक था। रीति-रिवाजो और कट्टरता में जकडे हुए धर्म के साथ उनकी विचार और वाणी की आजादी की माँग का समझौता होना मुश्किल था। इस तरह लोकसत्ता और विज्ञान ने मिलकर मजहबी कट्टरता का असर कम किया। लोग, यह समझकर कि बाइबिल मामूली किताब है और शंका किये बिना मान लेने जैसी चीज नहीं है, उसकी जाँच करने का साहस करने लगे। बाइबिल की इस आलोचना को वे 'ऊँचे दर्जे की आलो-चना' कहते थे। इन आलोचको ने यह नतीजा निकाला कि बाइबिल को अलग-अलग जमानों में अलग-अलग आदमियो ने लिखा है। उनकी यह भी राय हुई कि ईसा का कोई धर्म चलाने का इरादा नहीं था। इस आलोचना से कई पुराने विश्वास हिल गये।

जैसे-जैसे विज्ञान और लोकसत्तात्मक विचारो के कारण पुरानी धर्म की जड़ें कमजोर होती गई, वैसे-वैसे पुराने धर्म की जगह किसी-न-किसी चीज को बिठाने की कोशिशें भी हुई। ऐसी ही एक कोशिश आगस्टे कॉम्टे नाम के फ्रांसीसी दार्शनिक

ने की थी। वह १७९८ से १८५७ ई० के बीच में हुआ था। कॉम्टे को ऐसा लगता था कि पुराने कट्टर धर्म का समय चला गया, मगर समाज को किसी-न-किसी धर्म की आवश्यकता जरूर है। इसलिए उसने 'मानव-धर्म' का प्रस्ताव किया और उसका नाम 'वास्तविकतावाद' (Positivism) रक्खा। इसके आधार प्रेम, व्यवस्था और उन्नति रक्खे गये। इसमें कोई बात अलौकिक नहीं थी, जो कुछ था वह विज्ञान के अनुसार था। उन्नीसवी सदी के और सब प्रचलित विचारों की तरह इस खयाल के पीछे भी मनुष्य-जाति की तरक्की का खयाल था। कॉम्टे का चलाया हुआ धर्म मुट्ठी-भर पढ़े-लिखो के विश्वास की ही चीज रहा, मगर योरप के विचारों पर उसका खूब असर पड़ा। उसने, व्यवहार में, समाजशास्त्र के अध्ययन की शुरुआत की। यह शास्त्र मानवीय समाज और संस्कृति से ताल्लुक रखता है।

अंग्रेज दार्शनिक और अर्थशास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल (१८०६–१८७३) कॉम्टे का समकालीन था, मगर वह उसके बाद भी बहुत वर्ष जिया। मिल पर कॉम्टे की शिक्षा का भी असर था और समाजवादी विचारो का भी। एडम स्मिथ की शिक्षाओ के कारण अंग्रेज अर्थशास्त्रियों की एक विचार-धारा बन गई थी। मिल ने उसे नई दिशा में लेजाने की कोशिश की और आर्थिक विचारो में थोडे समाजवादी उसूलो का प्रवेश कराया। मगर उसकी सबसे ज्यादा शोहरत 'उपयोगितावाद' (Utilitarianism) के आचार्य के रूप में है। उपयोगितावाद का उसूल नया था। वह इंग्लैण्ड में चल तो पड़ा था कुछ समय पहले ही, मगर उसे महत्व मिला जॉन स्टुअर्ट मिल के कारण। जैसा कि इसके नाम से पता चलता है, इसका खास तत्वज्ञान उपयोग था। उपयोगिता-वादियो का खास उसूल यह था कि ज्यादा-से-ज्यादा लोगो को ज्यादा-से-ज्यादा सुख मिले। भलाई-बुराई की यही कसौटी थी। जो काम जितना ज्यादा सुख बढ़ाने-वाला होता वह उतना ही अच्छा कहा जाता और जो जितना दुःख पहुँचाता वह उतना ही बुरा माना जाता। समाज और सरकार का संगठन ज्यादा-से-ज्यादा लोगो को ज्यादा-से-ज्यादा सुख पहुँचाने की दृष्टि से होना चाहिए। यह दृष्टिकोण और सबके बराबर अधिकार का पहलेवाला लोकसत्तात्मक उसूल एक चीज नही थे। ज्यादा-से-ज्यादा लोगों को ज्यादा-से-ज्यादा सुख पहुँचाने के लिए कुछ लोगो को कुर्बान करने या दुःख देने की जरूरत भी हो सकती है। मै तुम्हे सिर्फ़ यह फ़र्क बता रहा हूँ, उसकी चर्चा करने की यहाँ जरूरत नही। इस तरह लोकसत्ता का मतलब ज्यादातर लोगो का अधिकार होगया।

जॉन स्टुअर्ट मिल व्यक्ति की आजादी के लोकसत्तात्मक विचार का जोरदार हिमायती था। उसने 'स्वतंत्रता पर' (On Liberty) नाम की एक छोटी-सी किताब

लिखी। वह मशहूर हो गई। मैं तुम्हारे लिए इस किताब में से बोलने और विचार की आजादी पर एक उद्धरण देता हूँ :—

"किसी राय को जाहिर होने से रोक देने में खास बुराई यह है कि उससे मानव जाति वंचित रह जाती है। मौजूदा पीढी ही नहीं, आनेवाली पीढ़ियाँ भी, उस राय को माननेवाले ही नही, उनसे भी ज्यादा उसे न माननेवाले उससे वंचित रहते है। अगर वह राय ठीक हुई तो असत्य के बदले मे सत्य को जान लेने का मौका चला जाता है। वह गलत है, तो वे उतना ही बडा लाभ यह खो देते है कि असत्य के साथ टक्कर खाकर सत्य की जो ज्यादा जानदार छाप पडती और उसकी अधिक स्पष्ट कल्पना होती वह नही हो पाती। हम जोर देकर कभी नही कह सकते कि जिस राय को हम दबा देने की कोशिश कर रहे है वह झूठी राय ही है। हमे ऐसा विश्वास हो तो भी उस राय का दबा देना बुराई ही है।"

ऐसे दृष्टिकोण का मजहबी कट्टरता या निरकुशता से मेल नहीं बैठ सकता था। यह तो दार्शनिक का या सत्य की खोज का रवैया था।

मैने तुम्हे उन्नीसवी सदी के पश्चिमी योरप के थोडे-से बडे-बडे विचारको के नाम इसलिए बता दिये है कि तुम्हे विचारो के विकास की दिशा और ख़यालात की दुनिया की खास-खास मंजिलो का इल्म होजाय। मगर इन लोगो का और आम तौर पर शुरू के लोकसत्तावादियो का असर थोड़ा या बहुत पढ़े-लिखे वर्ग पर ही हो पाया था। वह असर छन-छनाकर पढ़े-लिखो के ज़रिये और लोगो तक भी थोड़ा-सा पहुँचा। हाँ, इस लोकसत्तात्मक विचार-धारा का सीधा असर आम लोगो पर भले ही बहुत थोड़ा हुआ, लेकिन अप्रत्यक्ष नतीजा खूब हुआ। मताधिकार की माँग जैसे कुछ मामलो में तो सीधा असर भी बहुत पडा।

जैसे-जैसे उन्नीसवी सदी बीतती गई वैसे-वैसे मजदूर-आन्दोलन और समाजवाद-जैसे दूसरे आन्दोलन और विचार भी तरक़्की करने लगे। कुछ लोग समाजवाद को लोकसत्ता का स्थान लेनेवाली अलग चीज समझने लगे और कुछ उसीका एक जरूरी हिस्सा। हम देख चुके है कि लोकसत्तावादियो के दिमाग़ में आजादी, बराबरी और और सबके समान सुख के हक के विचार भरे हुए थे। मगर जल्दी ही उनकी आँखें खुल गई कि सुख को एक मौलिक अधिकार मान लेने से ही वह चला नहीं आता है। और बातो को छोड़दें तो भी, एक खास हद तक, शारीरिक सुख जरूर मिलना चाहिए। जो भूखा मर रहा है वह सुखी नहीं हो सकता। इससे यह ख़याल पैदा हुआ कि सुख इस बात पर मुनहसर है कि धन का बँटवारा लोगो में ठीक तरह से हो। इससे हम समाजवाद में चले जाते है, पर उसका हाल तो अगले खत में ही बताया जा सकता है।

उन्नीसवीं सदी के पहले आधे हिस्से में जहां-जहां गुलाम कौमें आज़ादी के लिए लड़ रही थीं वहां-वहां लोकसत्ता और राष्ट्रीयता का मेल होगया था। इस तरह के लोकसत्तात्मक देश-प्रेम का एक नमूना इटली का मैज़िनी था। आगे चलकर उसी सदी में राष्ट्रीयता का यह लोकसत्तात्मक रूप धीरे-धीरे जाता रहा और वह ज्यादा-से-ज्यादा आक्रमणकारी और अधिकारवादी बनता गया। राज्य एक ऐसा देवता बनगया जिसकी पूजा करना सबके लिए लाज़िमी होगया।

नये उद्योगों के नेता अंग्रेज सौदागर थे। उन्हें ऊँचे-ऊँचे लोकसत्तात्मक उसूलों और आज़ादी के सार्वजनिक अधिकार के साथ बहुत दिलचस्पी नहीं थी। मगर उन्होंने देख लिया कि लोगों की ज्यादा आज़ादी तिजारत के लिए अच्छी चीज़ है। इससे मजदूरों का रहन-सहन ऊँचे दर्जे का होगया, उनमें थोड़ी-सी आजादी मिल जाने का भ्रम फैल गया और वे काम में ज्यादा होशियार होगये। औद्योगिक कामयाबी के लिए भी सार्वजनिक शिक्षा जरूरी थी। सौदागरों और कारखानों के मालिकों को इन सब बातों का इस्तेमाल मालूम हुआ तो वे बड़े परोपकारी बनकर जनता पर इन कृपाओं की वर्षा करने को राज़ी होगये। उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में इंग्लैण्ड और पश्चिमी योरप में एक ख़ास तरह की शिक्षा का तेज़ी से प्रचार हुआ।

॥ पहला खण्ड समाप्त ॥

सस्ता साहित्य मण्डल के

प्रकाशन